कार्यालयीन नया पता

श्री जैन संस्कृति संरक्षक संघ

(जीवराज जैन ग्रंथमाला)

T.P.4 , प्लॉट नं. 56/10, बुधवार पेठ, जुना पुणे नाका, (गॅस पंप के पीछे), सोलापुर – 2 फोन – (0217) - 2320007, मोबा. – 9890967706, 9421040022

समय - सुबह १० से शाम. ६ बजे तक

COPYRIGHT RESERVED

इस गथ के सभी अधिकार प्रकाशकने स्वाधीन रखे हैं। प्रकाशक की लिखित अनुमित के बिना इस गथ को या इसके किसी अश को, मृल रूप में या अनुवादित रूप में; या वेबसाईट के रूप में; तथा इस गंथ के मुदित चित्रपटों को छापने या छपवाने का काम कोई व्यक्ति या संरथा आदि नहीं कर सकते।

इस गंथका पूफ संशोधन पूर्ण सावधानीसे किया गया है। उसमें भी कहीं कुछ गलतियां रह सकती है। इसलिये विद्वतजन गलतियोंको सुधारकर पढे, तथा शुद्धिपत्रक प्रकाशकके पास भेजे तो उसका उपयोग फिरसे प्रकाशित होनेवाले ग्रंथमें हम कर सकते हैं।

प्रकाशन कार्यके लिए संस्थाको आर्थिक सहयोगकी आवश्यकता है । यथा शक्ती दान देकर अनुग्रहीत करे ।



श्री आचार्य कुंयुसागर ग्रंथमाला पुष्प ४५.

श्रीविद्यानंदि-स्वामिविरवितः तत्वार्थङ्खोकवार्तिकालंकारः

(भाषाटीकासमन्वितः)

(पञ्चमखण्डः)



-- टीकाकार --

तकंरत्न, सिद्धांतमहोदधि, न्यायदिवाकर, स्याद्वादवारिधि, बार्शनिक्शिरोमणि श्री एं. माणिकचंदजी कोंदेयन्यायाचार्य

-- संपादक व प्रकाशक ---

पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

(विद्यावाचस्पति व्या. के. समाजरतन, धर्मालंकार, न्यायकाव्यतीर्घ) ऑ. मंत्री आचार्य कुंयुसागर ग्रंथमाला सोलापूर.

All Rights are Reserved by the Society

-- मुद्रक --

वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री

कल्याण पाँवर प्रिटिंग प्रेस, कल्याणभवन, सोलापूर.

जैन संस्कृति संरक्षक संघ संशोधित मूल्य रु० 150

9 " NUV "

-= श्रीतत्वार्थश्लोकवार्त्तिकका मूलाधार =-

-

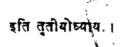
पंचम खंड.

अथ द्वितीयोध्यायः।

औपश्चमिक्षायिको भावो मिश्रद्व जीवस्य स्वतत्त्वमोदयिकपारिणःमिको च ॥ १ ॥ द्विनवाष्टादशैकविदातित्रिमेदा यथाक्रमम् ॥ २ ॥ सम्यक्त्ववारित्रे ॥ ३ ॥ ज्ञानदर्शनदानलाम-भोगोपभोगबीर्याण च ॥ ४ ॥ ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्यपश्चनुस्त्रित्रपञ्चभेदाः सम्यन्त्वचारित्र-संयमासंयमारच ।।५।। गतिकवायसिङ्गमिश्यादर्शनाऽसंयताऽसिद्धलेश्यारचतुरचतुरत्र्यकैकैकैकवड्-भेदाः ॥ ६ ॥ जीवमध्याऽमध्यत्वानि च ॥ ७ ॥ उपयोगो लक्षणम् ॥८॥ स द्विविधोऽष्टचतुर्भेदः ॥ ९ ॥ संसारिणो मुक्ताइच ॥१०॥ समनस्काऽमनस्काः ॥११॥ संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥ पृथ्वपत्तेजो रायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥ द्वीन्द्रियावयस्त्रसाः ॥ १४ ॥ पंचेन्द्रियाणि ॥१५॥ द्विविद्यानि ।। १६ ।। निर्वृत्यु स्करणे द्रव्येन्द्रियम् ।। १७ ।। लब्ब्युपयोगौ मावेन्द्रियम् ।। १८ ।। स्पर्शन रसन्धाणचक्षुःश्रोत्राणि ॥ १९ ॥ स्वशंरसगन्त्रवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥२०॥ श्रुतमनिन्द्रियस्य ॥ २१ ॥ वनस्वत्यन्तानामेकम् ॥ २२ ॥ कृमिविवीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥२३॥ संजितः समनत्काः ॥ २४ ॥ विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥ २५ ॥ अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥ अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥ विग्रहवती च संसारिणः प्राक्त चतुभ्यः ॥ २८ ॥ एकसमयाः वि. प्रहा ।। २९ । एकं द्वी श्रीन्नानाहारकः ।। ३० ।। सम्मूछंनगर्भोपपादा जन्म ।। ३१ ॥ सचित्तक्षीतसंबुताः सेतरा निश्रादचैकशस्तद्योनयः ॥ ३२ ॥ जरायुजाण्डजपोताना गर्मः ॥ :३ ॥ देवनारकाणामुपपादः ।। ३४ ।। शेषाणां सम्पूच्छंनम् ॥ ३५ ॥ औदारिकवंक्रियिकाहारकतंज्ञस-कार्मणानि शरीराणि॥ ३६ ॥ परं परं सूक्ष्मम् ॥ ३७॥ प्रवेशतोऽतस्ययगुणं प्राकृतैजसात् ॥३८॥ अनन्तगुणे परे ॥ ३९ ॥ अप्रतीघाते ॥ ४० ॥ अनाविसम्बन्धे च ॥ ४१ ॥ सर्वस्य ॥ ४२ ॥ तदावीनि भाज्यानि युगपवेकस्मिन्ना चतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥ निरुपभोगमन्त्यम् ॥ ४४ ॥ गर्मसम् च्छंनजमाद्यम् ।। ४५ ।। औपपादिकं वैकियिकम् ।। ४६ ।। लब्धिप्रत्ययं च । ४७ ।। तैजसमिप ॥ ४८ ॥ शुर्म विशुद्धमव्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥ ४९ ॥ नारकसम्मूच्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥ न देवाः ॥ ५१ ॥ जोषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥ औपपादिकचरमोत्तमदेहाः संख्येयवर्षायुषोऽनवतस्यायुषः ॥ ५३ ॥

अथ तृतीयोध्यायः।

रत्नज्ञकराबालुकापञ्चभूमतमोमहातमःप्रभाभूमयो घनाम्बुदाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ता-प्रधोधः ॥ १ ॥ तासु त्रिशत्पंचविशतिपंचदशदशत्रिपंचोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव य**णा**॰ कमम् ॥ २॥ नारका नित्याशुभतरलेश्यापरिणामबेहवेदनाविक्रियाः ॥ ३॥ परस्परोदीरितः बुःखाः ॥ ४ ॥ संविल्लष्टासुरोवीरितदुःखाञ्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥ तेव्वेकत्रिसप्तदशसप्तदशः हार्विश्वतित्रयस्त्रिशत्सागरोपमा सस्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥ जम्बूद्वीपस्रवणोदादयः शुमनामानौ होपसमुद्राः ॥ ७ ॥ हिर्दिविष्कम्भाः पूर्वपूर्वपरिक्षेषिणो वलयाकृतयः ॥ ८ ॥ तस्मध्ये मेरनाः भिवृत्तो योजनशतसहस्रविष्कम्मो जम्बूद्वीयः ॥ ९ ॥ भरतहैमधतहरिविवेहरम्यकहैरण्यवतरावत-वर्षाः क्षेत्राणि ॥ १० ॥ तद्विमाजितः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवज्ञिषत्रनीलक्षमज्ञिसरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥ हेमार्जुनतपनीयवैद्स्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥ मणिविवित्रपार्वा उपरि म् ले च तुल्यविस्ताराः ॥ १३ ॥ पद्ममहापद्मितिगञ्छकेसिरमहापुण्डरीकपुण्डरीका हुवास्तेषामुपरि ॥ १४ ॥ प्रथमो योजनसहस्रायामस्तरद्वविष्कम्भो हुवः ॥ १५ ॥ दशयोजनावगाहः ॥ १६ ॥ तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १७ ॥ तद्द्विगुणद्विगुणा हुदाः पुष्कराणि च ॥ १८ ॥ तन्निवासिन्यो बेव्यः श्री-हीधृतिकोतिबुद्धिलस्म्यः पत्योपमस्यितयः सतामानिकपरिचश्काः ॥ १९ ॥ गंगासिम्यु-रोहिब्रोहितास्याहरिद्धरिकान्तासीतासीतोदानारीनरकान्तासुत्रणंरूव्यकूलारक्तारक्तोदाः स्तन्मध्यमाः ॥ २० ॥ द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वमाः ॥ २१ ॥ श्रोबास्स्वपरमाः ॥ २२ ॥ चतुर्वशनदी-सहस्रपरिवृता गंगासिन्ध्वादयो नद्यः ॥२३॥ भरतः षड्विश्वतिपंचयोजनशतविस्तारः षट्चैकोन विश्वतिभागा योजनस्य ॥ २४ ॥ तद्द्विगुणद्विगुणविस्तारा वर्षेत्रस्वर्षा विदेहान्ताः ॥ २५ ॥ उत्तरा वक्षिणतुल्याः ॥ २६ ॥ भरतरावतयोर्वृद्धिःहासौ षट्समय भ्यामुत्सप्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ॥ २७ ॥ ताम्यामवरा भूमयोऽवस्थिताः ॥ २८ ॥ एकद्वित्रियस्योगमन्थितयो हैमवतकहारिवर्षे-कर्ववकु'वकाः ।। २९ ।। तथोत्तराः ।। ३० ॥ विदेहेषु संख्येयकालाः ।। ३१ ॥ मरतस्य विष्कम्मो जम्बूद्वीपस्य नबत्तिज्ञतभागः॥ ३२ ॥ द्विद्वितिकीखण्डे ॥ ३-३ ॥ पुष्करार्द्धे च ॥३४॥ प्राङ्मानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३५ ॥ आर्या म्लेच्छाइच ॥ ३६ ॥ भरतैरावतिबदेहाः कर्मभूमयोऽ न्यत्र देवकुरूत्तरकुरुधः ॥ ३७॥ नृस्थिती परावरे जिपल्योपनान्तर्मृहूर्ते ॥ ३८॥ तिर्यंग्यो-निजानां च ॥ ३९॥



अथ चतुर्थोऽध्यायः।

देवाञ्चतुर्णिकायाः ॥ १ ॥ आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः ॥ २ ॥ दशाष्ट्रपञ्चद्वादश-विकल्पाः कल्पोपपञ्चपर्यंन्ताः ॥ ३ ॥ इन्द्रसामानिकत्रार्योस्त्रज्ञपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्यकिविबधिक। इचैकशः ॥ ४॥ त्रायस्त्रिशस्लोकपालवरुर्या व्यन्तरुयोतिष्काः ॥ ५ ॥ पूर्वयोर्ज्ञीन्द्राः ॥ ६ ॥ कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ॥ ७ ॥ शेषाः स्पर्शकपशब्दमनः प्रवीचाराः ॥ ८ ॥ परेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥ भवनवासिनोऽसुरनागविद्युस्सूपणीग्निवातस्तिनितोद-धिद्वीपदिषकुमाराः ॥ १० ॥ व्यन्तराः किन्नरिकम्पुरुषमहोरगगन्धर्वयक्षराञ्चसमूतपिक्षाचाः 1। ११।। ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीणंकतारकाश्च ।। १२।। मेदप्रदक्षिणा नित्यगतयो नूलोके ॥ १३ ॥ सत्कृतः कालविभागः ॥ १४ ॥ बहिरवस्थिताः ॥ १५ ॥ बैमानिकाः ॥ १६ ॥ कल्योपपन्नाः कल्पातीतास्य ॥१७॥ उपर्युपरि ॥१८॥ सौधम्मॅशानतानत्कु-मारमाहेन्द्रब्रह्मात्तरलान्तवकापिष्टशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्न-वसु ग्रंवेयकेषु विजयवंजयन्तजयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ चा। १९॥ स्थितित्रमावसुलच्चितिः छेश्याविज्ञुर्द्धः न्त्रियाविधिविषयतोऽधिकाः ॥ २० ॥ गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतो हीनाः ॥ २१ ॥ पोतपद्मशुक्ललेक्या द्वित्रिक्षेषेषु ।। २२ ॥ प्राग्पेत्रेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥ ब्रह्मलोकालमा लौकान्तिकाः ॥ २४ ॥ सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाघारिष्टास्च विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥ औषपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः ॥ २७ ॥ स्थिति-रसुरनागसुवर्णद्वीवशेषाणां सागरोषमत्रिवत्योषमार्द्धहोनमिता ॥ २८॥ सौधर्मशानयोः सागरोषम अधिके ॥ २९ ॥ सानःकुमारमाहेन्द्रयोः सप्त ॥ ३० ॥ त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपञ्चदशनिरधिन कानि तु ॥ ३१ ॥ आरणाच्युत।दूध्वंमेकँकेन नवसु ग्रंवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ व ॥ ३२ ॥ अपरा पत्योपममधिकम् ॥ ३३ ॥ परत.परतः पूर्वापूर्वानन्तरः ॥ ३४ ॥ नारकाणां च द्वितीया-दिवु ॥ ३५ ॥ दशवर्षतहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥ भवनेषु च ॥ ३७ ॥ व्यन्तराणां च ॥ ३८ ॥ परा पत्योपममधिक ॥ ३९ ॥ ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥ तदण्डमागोऽपरा ॥ ४१ ॥ लौकान्तिकानामध्टी सागरोपमाणि सर्वेषाम् ॥ ४२॥

इति चतुर्योध्यायः।

इति पञ्चमखण्डः समाप्तः।

--0--

संपादकीय वक्तव्य



इस वक्तव्यके साथ तत्वार्यक्लोकवः तिकका पंचम खंड आपके सामने उपस्थित करने में हमें परमहर्ष होता है। यद्मपि अन्य खंडों की अपेक्षा इस खंडके प्रकाशनमें आशातीत विलंब हो गया है। हमारे इस पुनीत प्रकाशन कार्यमें अने क प्रकार के विचन उपस्थित हुए। कुछ दैविक, कुछ प्रमादजनित, कुछ सामाजिक, कुछ गाहुँ स्थिक, और कुछ वैयक्तिक। किसे अधिक प्राधान्य दिया जाय, इसकी चर्याकी अपेक्षा अने क कारणों से हम इस कार्यकों द्वारातिसे चलाने में असमर्थ रहे, इसके छिए स्वाध्यायप्रेमी बंबू भोंसे एवं हमारे सदस्यों से क्षमा याचना करना ही अधिक श्रेयस्कर है।

प्रस्तुत खंड--

गत चार खंडोमें तःवार्यसूत्रके केवल प्रथम अध्यायपर वार्तिक और टीका आई है। अब इस प्रस्तुत पांचवें खंडमें तत्वायंसूत्रके द्वितीय अध्याय, तृतीय अध्याय और चतुर्व अध्यायके प्रमेय अञ्चुके हैं। भगवदुपास्वामिविरचित तत्वार्यसूत्रमें तत्वज्ञानकी कितनी महिमा भरी हुई है, इस बातवा सहज अनुमान महिष विद्यानिवस्तामीके द्वारा प्रतिपादित इस महान् दार्शिक सरिणसे किया जासकता है। महिंग विद्यानंदि स्वामीने मूल ग्रन्थकारके अभिप्रायको सुरक्षित रखते हुए विषयका स्पष्टीकरण सर्वक्ष क्ष्मसे किया है।

द्वितीय अध्याय: --

तत्रार्णश्लोकव विकालकारके द्विनीय अध्यायमें जीवके स्वतत्वका निरूपण करते हुए औपश-मिका द जीवके प्रधान भावोंका निरूपण आचार्यने किया है। ये भाव जीवके ही हैं। प्रधान आदिके नहीं, मोक्षमें भी कुछ भाव पाये जाते हैं। जीवके मेदोंका निरूपण करते हुए संसारी, सयोगकेवली, जयोगकेवली, एवं मुक्त जीव आदि सभीका संग्रह किया गया है। जात्माके ध्यापकत्वका खंडन कर आचार्यने एकें द्विय जीवोंको युक्ति आगमसे सिद्ध किया है। इसी प्रकार इंद्रियोंके विषयको सिद्ध करते हुए इद्रियोंके अधाति जीवको युक्तिसे सिद्ध किया है।

इस अध्यायके दिनीय आन्हिकमे आत्माके व्यापकत्वको निशंकरण कर आत्माके इतस्ततः गमनको समर्थन किया है। जीवोंका आकाश प्रदेशमें यथाश्रीणगति, अनाहारक अवस्था, जन्म व योनिका प्रकार, शरीरोंको रवनाका प्रकार, अन्य संख्योंके द्वारा कल्पित शरीरका निरास करते हुए तैजस और कार्मणका धाराप्रवाह रूपसे अनादिसंबंध सिद्ध कर दिया गया है। अंतमें आयुकी अनावत्यं और अपवर्त्यदशाको युक्ति और आगमसे सिद्ध कर अन्य वादियोंके कथनका निवारण किया गया है।

तृतीय अध्याय:---

प्रस्तुत अध्यायमें जीवोंके निवासस्थानका वर्णन करते हुए अघोलोकका वर्णन सबं प्रथम किया गया है, और तदनंतर इस पृथ्कीके आकारके संबंधमे ऊश्पोह करते हुए भूष्रमण वादि-योंकी युक्तियोंका सुन्दर तर्कपढ़ित्से निराकरण किया है। आजके भौगोलिक-विज्ञानवादी पृथ्वोंके आकार और उनके भ्राणमें जिन युक्तियों का प्रयोग करते हैं, उनको अकाट्घ युक्ति और आगम प्रमाणोंसे आचार्यनें निराकरण किया है। एवं स्पष्टतः सिद्ध किया है कि इस अवला पृथ्वीका कियी भी तरह ध्रमण नहीं हो सकता है। भूष्यमणवादियोंके साथ २ अन्य तरसम-वादियोंका भी निराकरण करते हुए आचार्यने बहुन स्पष्ट रूपसे सूर्य चन्द्रमाके ध्रमणको समर्थन किया है। तदनंतर मध्यलोकका वर्णन कर तत्रस्थ द्वीप समुद्र, पर्वत, क्षेत्र, नदी सरोवर आदि-योंका यथागम विवेचन किया है।

इसी प्रकार भरत आदि क्षेत्रों में कर्मभूमि, भोगभूमिका विधान करते हुए मनुष्य और तियांचोंकी जघन्य व उन्कृष्ट आयुका निरूगण किया है। जीवोंके आधारस्थानों का निरूपण करते हुए आचार्यने अधोलोक और मध्यलोकका सविस्तर वर्णन किया है। साथ ही यथा प्रकरण आचार्य विद्यानन्दस्त्रामीने बहुत बड़ी विद्यत्ताके साथ सृष्टिकर्नृ व्वादका खंडन किया है। जगन्नियंता ईश्वरको माननेसे अनेक दोषों का आपात स्वयं हो जाता है.इस बातको अञ्चलपूर्व युक्तियोंके द्वारा बहुत विस्तारके साथ समर्थन किया है। जगरकर्तृ वक्ता निगस इस प्रकरणमें बहुत सफलताके साथ किया गया है। इस प्रकार इप वीसरे अध्यायमें अधोलोक व मध्यलोक स्थित जीवों के स्थान, स्थित, परिस्थितिका सुन्दर विवेचन किया गया है।

चतुर्थं अध्याय.---

प्रस्तुत अध्यायमें ऊर्ध्व लोकका वर्णन करते हुए ग्रंथकारने ऊर्ध्वलोकिस्थित देवोका निवास दर्शाया है। भवनवासी व्यतर देवोंका निवास इस मध्यभूमिमें होनेपर भी ज्योतिरक और कल्य-वासियोंका निवास इस समय पृथ्वीसे ऊररले भागमें है। इस विषयका निरूपण करते हुए उन देवोंकी लेक्या, आयु, परिणाम. गति, आदिका यथागम वर्णन किया है। साथमें ज्योतिरक देवोंके प्रकरणमें मेठप्रदक्षिणा कर निश्यगमन करनेवाले ज्योतिरक देवोंका सुन्दर विचार अःचार्य देवने किया है। आधुनिक भौगोलिक विद्वानोंका इन प्रकरणमें भी आचार्य श्रीते खबर लिया है। पृथ्वी नारंग के समान गोल नहीं है, और सर्व स्थानोमें एकसी चपटी भी नहीं है। उसका भ्रमण भी युक्ति आगमसे विरुद्ध है, सूर्य चन्द्रमाका भ्रमण सनत होता है, सूर्य चन्द्रमाके भ्रमणसे ही दिन राजका विभाग होता है। अन्य प्रशेंके भ्रमणसे सूर्यग्रहण चन्द्रपहण आदि होते हैं। इत्यादि बातोंको बहुत ही सुन्दरपद्धतिसे विद्यानन्द रवामीने सुस्तब्द सिद्ध किया है व भूभ्रमण बादियोंको निरुत्तर कर बिया है।

इस प्रकार इन पंत्रम खंडने दूपरे, तीसरे व चौथे अध्यायतकका प्रकरण आचुका है। अब सागे छठ भागमें पौतवा और छठा अध्याय, सातवे भागमें सातवें अध्वक्तें, नववें, और दसमें अध्यायके विषय जाजायें में अर्थान् अर्थ दो संडोमें यह प्रंथराध्य समाप्त हो जावेगा। इस संबके प्रकाशनमें संस्थाने भारी व्यय उठाया है। ऐसे प्रचोंका एक बार प्रकाशित होना ही कठिन है, बार ब र होना तो असंभव ही है। और यह जैन तन्त्रज्ञानका महान् दार्शनिक ग्रंथ है। स्वाध्याय प्रेमियोंका बल हमें मिला तो हम शीध ही अविधिष्ट भागोंका भी प्रकाशन करेंगे।

संस्थाने यह महान् कार्य अपने हाथ में लिया है। ऐसे प्रंथराओं का संपादन और प्रकाशन महान् साहसका विषय है। संस्थाकी विपुल धनराधि इस कार्यमें प्रयुक्त हो रही है। संस्थाका संकल्प है कि परमपूज्य प्रातःस्मरणीय विश्ववंच आचायत्रीकी पूण्यस्मृतिमें प्रतिवर्ष कोई न कोई प्रथ प्रकाशमें आकार हमारे स्वाध्यायत्रीमयों को ज्ञानलाम हो। इस एक ही ग्रंथ के प्रकानमें यदि शक्ति कीण हो गई तो निष्माहका वातावरण निर्माण हो सकता है। इसमें भी विशेष बात यह है कि यह महान् ग्रंथराज भी हमारे करीब ५०० स्थायी सदस्यों को विनामूस्य भेंट में दिया आगहा है। करीब पांच सो प्रतियों के इस प्रकार समाजप्रमुख व्यक्तियों के हाथ पहुंचने के बाद अवशिष्ट प्रतियों को मूल्य में खरीदकर स्वाध्याय करने वालों की संस्था बहुत कम एवं जानी है। बतः साध मीं बंबु वोसे निवेदन है कि वे हमारे इस महान् कार्यमें निम्नलिखत प्रकार से मदत करें।

- (१) स्वाध्यायके लिए मंदिर, श्रुतमंडार, शिक्षा संस्थायें, महाविद्यालय आदिमें इस ग्रंयराजके-सर्व भागोंको मंगाकर विराजमान 'करें। और जैन, जैनेतर विद्वानोंको अध्ययनार्ष इसकी प्रतियोंको भेंड करें।
 - (२) ६स ग्रंवके प्रकाशनके लिए अानी ओरसे यथेष्ट द्रश्यकी सहायता करें।
- (३) १०१) प्रदान कर ग्रंथमास्त्र के स्थायी सदस्य बर्ने । स्थायीसदस्योंको ग्रंथमास्त्रासे प्रकाशित सर्व ग्रंथ-सस्वार्थेङलोकवर्शनकालंकारके सर्व वंडमहित भेटमें दिये जाते हैं।

जैनतत्वज्ञानका अत्यंत सूक्ष्मताके साथ तलस्पर्शी विवेचन करनेवाला यह अमूत पूर्व ग्रंथ है। इनका अधिकसे अधिक प्रचारका अर्थ स्याद्वाद र्श्वनका उद्योत है। अधिक साकिक विद्वान् न्यायिदवाकर पं. माणिकचंदजी न्यायाचार्यकी सुविस्तृत टीकासे विद्यानन्द स्वामीके अंतः स्पश्चिमी मीमांसाको सुवर्णके बीच रत्नकी शोभा आगई है। सर्वसाधारण स्वाब्यायप्रेमीकी समझमें अवि इतना सरल प्रचक्ता प्रमेष बन गया है। हर एक ज्ञानपिपासुको इसका साम उठाना चाहिये।

इस ग्रंथका समर्पेण

स्री परमपूज्य आचार्य कुंचुसागरत्री महाराज परमपूज्य प्रातःस्मरणीय चारित्रचक्रवित् साचार्य शांतिसागर महाराजके अन्यतम शिष्य थे। श्री साचार्य शांतिसागर महाराजने इस युगमें दिगंबर तपिस्वयों के मार्गको प्रशस्त करते हुए ध्वपणपरंपराकी विन्छित्र कडीको पुन्-इज्जीवित किया है। उन्होंने अनेक विद्वाम् संयमी शिष्योंको निर्माण किया। उनके संघर्षे िनतने भी साधु हुए वे सभी तयोनिधि, चारित्रशील और आगर्मोके वेला, ज्ञानाभ्यासी देश-कालके ज्ञाता सिद्ध हुए हैं।

बाचार्यश्रीने बपनी यमसल्केखनाके समय अरने उत्तराधिकार पट्टको ज्ञानवृद्ध वयो-वृद्ध एवं बनुभववृद्ध तपस्वीं श्री परमपूज्य आचार्य वीरसागर महाराजको सोंप दिया। परन्तु गुरु-चरणोंके स्वर्ग सिधारनेके बाद आचार्य वीरसागरजीका भी कुछ ही समयमें स्वर्गारोहण हुआ। उस पट्टमें अधिकारी शिष्य परमशांत साधु ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध श्री आचार्य शिवसागरजी महा-राज आसीत हुए। परमपूज्य आचार्यश्री भी अपने गुरुजनोंके समान ही ध्यानाध्ययनमें रत, विषय कषायादिसे दूर, स्वपर हितमें अनुग्रह करनेवाले संत हैं। उनके द्वारा विशाल संवका संचालन ययापूर्व हो रहा है। आपके ही करकमलों में बड़ी नग्नताके साथ यह ग्रंथ समर्गित किया बा रहा है। अभीतकके सर्व भाग परमाज्ञय संत आचार्यों के करकमलों ही हम समर्पत करते हुए आ रहे हैं। यह आचार्यको कृति है, आचार्यके करकमलमें ही हम समर्पण करते हैं। इसके गुणदोषका निरीक्षण वे ही विद्वान् संत कर सकते हैं। स्वदीयं वस्तु गोविंद तुम्पनेव समर्पते।

अपनी बात

श्री परमपूज्य प्रातः स्मरणीय विश्ववंद्य स्व. आचार्यं कुंधुमागर महारात्र उनके युगके प्रभावक मनोज्ञ साधु थे। उनकी लोकेषणा वृत्ति, सर्वजनप्रियता, मृदु व सरल परिणति, अगाध विद्वता आदि गुणोंसे सभी क्षेत्रकी जनता प्रभावित थी। जैन समाज ही नहीं जैनेतर समाजमें भी उनके अगणित भक्त थे। उनकी सदमावनाके अनुमार उनकी स्मृतिमें यह ग्रंथमाला चालू है। हमारा संकल्प है कि प्रति वर्ष हमारे सदस्योंको कमसे कम एक ग्रंथ स्शब्धायार्थं प्रदान किया जावे। परन्तु संस्थाने इस महान् ग्रंथके प्रकाशनका कार्य हाथमें ले जिया है। अतः उनमें थोडासा व्यवधान होनेगर भी आगे हम प्रतिवर्ष एक एक ग्रंथ हमारे सदस्योंको भेट करनेका निश्चित प्रयत्न करेंगे।

इस विषयमें हम हमारे माननीय सदस्योंसे भी प्रार्थना करेंगे कि वे भी हमें सिकय सहयोग देवे । क्योंकि यह कार्य संपूर्णतः अधिक बलपर ही निर्भर है। यदि हमारे सदस्य अपनी सस्थाको पल्लवित करनेकी कामनासे अधिकबल प्रदान करनेकी कृपा करें तो संस्था आश्वास-नके अनुसार आपकी सेवा निश्चित रूपसे कर सकेगी। अतः कमसे कम सदस्य संख्या बढानेके प्रति हाथ बटावे यह सादर निवेदन है।

सोलापूर हैं भाद्रपद शु. ५ हैं मोर सं. २४९० हैं वर्धमान पार्श्वनाय शास्त्री ऑ मंत्री आचार्य कुंबुसागर ग्रंथमाला कल्याण भवन, सोलापुर



श्री विश्ववंद्य तयीनिधि आचार्य स्व. कुंथुसागर महाराज जिन्होने अपने जीवन कालमे धर्मकी अभूतपूर्व प्रभावना की जैत-उद्योत शासनका किया, जैनतत्वज्ञानका प्रकाश सर्वत्र फैलाया, विश्वके कोने कोनेमें सार्व-धर्मको पहुंचाकर विश्वबंधु-स्वकी भावना निर्माण की. उन्ही की चिरंतन स्मृतिमे इस ग्रंथ माला द्वारा अनेक अनध्ये ग्रंथोंका प्रकाशन सतत किया जा रहा है।



सविनय समर्पण

श्री परमपूज्य प्रातःस्मरणीय चारित्रचक्रवर्ति स्व.
आचार्य शांतिसागर स्वामीके पट्टमें अधिष्ठित
चारित्रचूडामणि श्री स्व. माचार्य वीरसागर
महाराजके पट्टमें स्थित होकर सफलतापूर्वक
विशाल संधका संचालन, सामु मार्गका
उद्योत,रत्नत्रय समेकी अपूर्व प्रभावना
करनेवाले

श्री १०८ आचार्य ज्ञिवस।गर महाराजके करकमलोमें



श्रीविद्यानंद्-स्वामिविरचितः

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारः

तत्त्वार्थितामणिटीकामहितः

(पञ्चमखंडः)

अथ द्वितीयोऽध्यायः।

नानावस्तुस्वभावश्चमकलितवपुः स्यात्स्वतस्वाप्यवीवि-रस्माना अप्यगाधे गणधरमुनयः स्नान्ति यद्दोधतीये । सिद्धार्थापत्यवीरोद्धव नकलजगत्तारि सावर्थ्यजुष्ट-ब्राह्मीगंगा पुनीतादुरितनिरसनी चिद्दद्दा भव्यद्दंसान् ॥

अय श्री विद्यानन्द आचार्य तस्वार्थम् प्रसंबंधी दितीय अध्याय के स्रोकनिर्मित बार्त्तिकी दार। अस्त्रकार करनेका प्रारम्भ करते हैं।

सम्यद्दरगोवरो जीवस्तस्यौपशमिकादयः। स्वं तत्त्वं पंच भावाः स्युः सप्तसूत्र्या निरूपिताः॥ १॥

सम्बन्ध्यांन का विषयभूल होरहा जीव पदार्थ है, उसके औपरामिक, शायिक आदिक पांच भाष स्व आस्वक तस्व हो रहे हैं, वे इस दिनीय अध्याय के प्रथमवर्ती सात सुत्रोंके समुदाय करके श्री उपास्वामी महाराज द्वारा पहिले निरूपण किये जाचुके हैं। इस कथन करके श्री विधानन्दस्वामीन प्रथम अध्यायके प्रकरणों की दिनीय अध्याय सम्बन्धी प्रकरणों के साथ हो रही संगति को प्रदर्शित किया है अत: सुत्रकारके उपर असंगत प्रकाष दोष तम जाने का खटका नहीं रहा। सम्यम्हक्तचार्यश्रद्धानं तस्याः गोचरो विषयो जीवो निरूपितस्तावदजीवादिवत् तस्य स्वमसाधारणं तच्चमौपन्नमिकादयः पंच भावाः स्युनं पुनः पारिणामिक एव भावश्रैतन्यमात्रं, यतश्रैतन्यं पुरुषस्य स्वं रूपमिति दर्शनं केषांचिव्यवतिष्ठते । बुध्यादयो नवैवात्मनो विशेषग्रणा इति वा, आनंदमात्रं ब्रह्मरूपमिति वा प्रभास्वरमेवेदं चिक्तमिति वा प्रमाणाभावात् । प्रमाणोप-पक्षास्तु जीवस्यासाधारणाः स्वभावाः पंचीपन्नमिकादयस्ते सप्तसूत्र्या निरूपिताः सूत्रकारेण लक्षणतः संख्यातः प्रभेदतश्च ।

सम्यग्दर्शन शहुकी निरुक्ति कर देनेसे अभीष्ट अर्थ प्राप्त नहीं होता था । अतः सम्यग्दर्शनका पारिभापिक अर्थ तत्त्रार्थोंका श्रद्धान करना कहा गया है। उस श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनका अजीव आदिके समान विषयभूत हो रहा जीवपदार्थ तो पहिले अध्यायमें कहा जा चुका है। अब उस जीवके विशेष अंशोंका निरूपण करनेके लिये प्रकरण चलाते हैं। उस जीवके निजआत्मम्बरूप हो रहे औपशमिक आदिक पांचभाव तो स्वकीय असाधारणतत्त्व है। जो अन्य अजीव माने गये पुरुल आदिमें नहीं पाये जाकर केवल जीवमें ही पांय जांय वे जीवके असावारणभाव हो मर्केस । प्रतिपक्षा कमींक उपरामसे होनेवाले या कमींके क्षयसे होनेवाले अथवा उदय, उपराम, आदिकी नहीं अपेक्षा कर जीवद्रव्यके केवल आत्मलाभसे अनादि सिद्ध हो रहे पारणामिक ये तीन भाव तो जीवके निज स्वरूप हैं ही । साथमें गुण या स्वभावोंके प्रतिपक्षी द्वये कमीकी सर्वचाति प्रकृतियों हा उदयक्षय, और उपराम होनेपर तथा देशघाति प्रकृतियोंके उदय होनेपर हो जानेवाले बुद्धान, मतिज्ञान, चक्षुदर्शन, आदि क्षायोपशमिकभाव तथा कलिपय कर्मीका उदय होनेपर उपजनेबाले मनुष्यगति, क्रोध, पंजेद परिणाम, मिथ्यात्व आदिक औदस्यकभाव भी आत्माके निज तत्त्व हैं। क्योंकि क्षायोपदामिक और औदायिक भावों का भी उपादान कारण आत्मा ही है। कर्मों के क्षयोपशम या उदयको निमित्त पाकर आत्मा ही मतिज्ञान, क्रोब, आदिरूप परिणत हो जाता है। आत्माके चेतनागुणकी पर्याय मतिज्ञान. कुमतिज्ञान आदि है और आत्माके चारित्र गुणका विभाव परिणाम क्रोध आदि है। केवल निश्चयनय द्वारा शुद्ध द्रव्यके प्रतिपादक समयसार आदि प्रन्थोंमें भन्ने ही मतिज्ञान, क्रोध आदिको प्रभाव कह दिया गया होय. किन्तु प्रमाणोंद्वारा तत्त्वोंकी प्रतिपत्ति करानेवाले या अशुद्ध द्रव्यका निरूपण करने वाले क्षीकवार्त्तिक, अष्टसहस्री, गोमदृसार, राजवार्त्तिक, आदि प्रन्योंमें क्रोध, वेद आदिकी आत्माका स्व--आत्मकभाव माना गया दै । अतः पांचौं ही भाव जीवके स्वकीय असाधारण तत्त्व है । उन पांचीं भात्रोंके साथ तदात्मक हो रहा जीव तस्त्र बास्तविक है। किन्तु फिर केवल परिणामिक भाव अकेले चैतन्य स्वरूप ही जीव नहीं है, जिससे कि केवल चैतन्य ही पुरुषका निज स्वरूप है, झान, सुख, वीर्य, कोच, अवधिज्ञान, उपशम, चारित्र, आदिक भाव तो जीवके निजस्बरूप नहीं है, किंत त्रिगुणआ मक प्रकृतिके विवर्त हैं, इस प्रकार किन्हीं किन्हीं साख्योंका माना गया सिद्धान्त व्यवस्थित

हो सके अथवा बुद्धिको आदि छेकर सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना ये नौ ही आत्माको विशेष गुण हैं, संख्या, परिमाण, पृथक्त, संयोग, विभाव ये पांच गुण आत्माको सामान्य हैं, इस प्रकार नी और पांच मिलकर चौदह ही गुण आत्माक न्यवस्थित हो सकें, अन्य अस्तित्व, द्रव्यत्व, चारित्र, वीर्य, आदि अनन्त गुणोंका वैशेषिक सिद्धान्त अनुसार निषेध कर दिया जाय, अथवा केवल आनन्द ही एक गुण ब्रह्मका स्वरूप है, यह ब्रह्मवादियोंका सिद्धान्त व्यवस्थित हो सके. अथवा यह चित्त स्वरूप आत्मा केवल चमक रहा, प्रभास्वर गुणवाला ही है, इस प्रकार मीमांसक, बौद्ध आदि दार्शनिकोंके मन्तव्य व्यवस्थित ठहर सकें । जब कि स्वसन्वेदन प्रत्यक्षसे पांच भावोंके साथ आत्माका उपजीन्य, उपजीवक स्वरूप तादाल्य प्रतीत हो रहा है, ऐसी दशामें केवल चैतन्य ही या नौ विशेष गुण ही अथवा केवल आनंद गुण ही तथा प्रभास्वर गुण ही का आत्माके साथ उप-जीःय उपजीवक भाव साधनेका कोई प्रमाण नहीं है । जिन गुण या स्वमावों करके पदार्थ आत्म लाभ कियें हुये हैं. वे उपजावक माने जाते हैं और उन करके आत्मलाम कर रहा पदार्थ उपजान्य समझा जाता है। पांच माव जीवके उपजीवक हैं। अनादि और सादि सहभावी क्रमभावी पर्यायोंकी धारनेवाला जीव तत्त्व है। शुद्ध परमात्मा द्रव्य हो रहे सिद्ध भगवानोंमें यद्यपि औपशमिक, क्षायोप-शमिक और औदियिक ये तीन प्रकारके भाव नहीं है । सिद्धोंमें पारिणामिक और क्षायिकभाव ही हैं । तथा बहुमाग अनंतानंत संसारी जीबोंमें भायिकभाव या औपशमिक भाव नहीं पाये जाते हैं, तो भी जिन जीवोंमें पांचों भावोंमें से यथायोग्य दो ही तीन ही चारो ही अथवा क्षायिकसम्यग्दृष्टि पंचेंद्रियपुरुष जीवके ग्यारहवें गुणस्थानमें पांचों, यों जितने भी सम्भव पाये जाते हैं. सब जीवके तदात्मक हो रहे असाधारण स्वभाव है । अतः प्रमाणोंसे युक्तिसिद्ध हो रहें, पांच औपशमिक आदिक स्वभाव तो जीवके असाधारण स्वभाव हैं। दूसरे अध्यायमें सूत्रकार श्री उमास्त्रामी महाराज करके पहिले सात सूत्रोंके समुदाय करके पांच भाव कहे गये हैं। दितीय अध्यायके पहिछे सूत्रदारा निरुक्तिपूर्वक लक्षणसे पांच भावोंको कहा गया है। दूसरे सूत्रमें संख्या निरूपण करनेसे पांच भावोंका कथन किया है । तथा द्वितीय अध्यायके तीसरे, चौथे, पांचवें, छहे, सातवें सूत्रमें उन पांचों भावोंका प्रभेद दिग्वला देनेसे निरूपण किया गया है।

तत्र तेषां रुक्षणतो निरूपणार्थमिद्याद्यं सूत्रमुपलक्ष्यते ।

अब लक्षण, संख्या, और प्रमेद उन तीनों प्रक्रपणोंमें प्रथम उन भावोंका लक्षणम्बपसे कथन करनेके छिये द्वितीय अन्यायके आदिमें होनेवाळा सूत्र श्री उमास्वामी महाराज करके उपलक्षणपूर्वक कहा जाता है।

औपशमिकशायिको भागो मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्व-मौद्यिकपारिणामिको च॥१॥

सम्मिक उपरामसे होनेवाला औपरामिकमाव और कर्मोका क्षय होनेपर अनन्तकालतकके लिये सम्भव जानेवाला क्षायिकमाव तथा उपराम, क्षय, दोनों या उदय मिलाकर तीनों अवस्थानोंका मिश्रण होजानेपर उपजरहा क्षायोपरामिकमान एवं कर्मोदयसे सम्पाध औदियिकमान और उदय आदि की नहीं अपेक्षा रखनेवाले पारिणामिकमान ये पांच मान जीवके नदान्मक स्वस्वरूप तस्त्र हैं। अर्थात्—मानव शरीरके जैसे दो हाथ दो पांच नितम्ब, पीठ, उरःस्थल, शिर ये आठ अंग निजतस्त्र हैं, अथना हुश्चके स्कंध, शाखा, पुष्प, पत्र, फल ये पांच तदानमभून तस्त्र हैं, उसी प्रकार औपरामिक आदिक पांच मान जीवके स्य-आत्मभूत निजतस्त्र हैं।

अभीपसमिकादिसन्दिनिरुक्तित एवीपसमिकादिभावनां लक्षणधुपःशितं तस्यास्तदस्य-भिचारात् । तथा हि—

यहां सूर्ज़ने कह गये औपशमिक, क्षायिक आदि शद्भौकी प्रकृतिप्रत्यय द्वारा निरिक्त करदेनेमें ही औपशमिक, क्षापिक आदि भाषोंका छक्षण ठीक दिखछा दिया गया है। क्योंकि उस निरुक्तिका उनके निर्देश अनुसार छक्षण करके व्यभिचार नहीं आता है। जहां शद्धनिरुक्तिका छक्षणके साथ व्यभिचार नहीं आता होय वहां ही पारिभाषिक छक्षण कण्ठोक्त किया जाता है। अन्यत्र नहीं। औपशमिक आदिक शद्दोंकी छक्षण गर्मित निरुक्तिको स्वयं प्रत्यकार वार्त्तिको द्वारा प्रसिद्ध कर दिखाने हैं। भाषोंके ये पांचों नाम अन्वर्थ हैं।

अनुद्भृतस्वसामार्थ्यवृत्तितोपशमो ॥तः । कर्भणां पुरित्र तोयादावधःप्रापितः इवत् ॥ २ ॥

आत्मामें कर्मोंका अपनी सामर्थको प्रकट नहीं करते हुये यों ही सत्तारूप वर्तते रहना उपराम माना गया है जैसे कि जल, बक्लर, आदिमें कतकपल, दूध आदिके सम्बन्धसे नीचे प्रदेशमें कीच प्राप्त करा दी जानी है । अर्थात् विश्वाण और क्षणयोंके बश हो रहा आत्मा हानावरण आदि कर्मोका बन्ध करना है । आवाधाकाल और अचल आविलक कोई भी कर्मफल देनेके लिये अभिमुख नहीं होता है । स्वयोग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकं नहीं मिलनेपर भी कर्म उदयमें नहीं आते हैं । यदि उनकी स्थित पूरी होगई होय तो विना ही फल दिये हुये भले ही स्वर्जाय । एक ही समय बांधे हुये अनन्त परमाणु पिण्ड हो रहे कर्मोंमें आवाधा काल पीछे कुछ कर्मोंके उदयावकी स्रोतमें प्रविष्ट हो चुकनंपर भी उन्हों कर्मोंमेंने गुणहानि कम अनुसार जिम कर्मोंका उदय चिर भविष्यकालमें आनेवाला है तबनक पूर्व समयमं उनका भी उपशम बना रहना है । अन्तरकरण और सदबस्था रूप ये उपशमके दो मेद है । गुणको विधाननेवाल कर्मोंको कुछ पहिले समर्थोंमें उदय प्राप्त करलेना और कुछ कर्मोंको उक्कर्षण द्वारा पीछे समयोंमें उदय योग्य वनालेना, इस अबुद्धि

पूर्वक कार्योपयोगी आत्मीय परिणामोंके प्रयत्नसे अन्तर्मृहूर्त कालतक लिये कर्मोंके उदयको टालदेना अन्तरकरण उपशम कहा जाता है और बांधेहुये कर्मोंकी फलप्राप्तितक यों है। सत्तामें उनका पढ़े रहना सदक्षण उपशम है। उपशम करने लिये भी आत्माको चला कर प्रयत्न करना पढ़ता है, जिससे कि उदीरणाका कारण उपस्थित होकर कर्म उदयमें नहीं आसके। जलमें पड़ी हुई फिटिकिरीको कि दवानेके लिये सतत उद्यत रहना पढ़ता है। तभी तो चाहे जब जलमें कीच धुलने नहीं पाती है। तीव वायुके झकीरों हारा या जलपात्रके उथल पुथल कर देनसे यदि फिटिकिरीके उद्यमको व्यर्थ करदिया जाय तो जलमें कीचकी सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। उसी प्रकार आत्मामें भी तीव उदीरणाके कारण मिल जानेपर आत्माका उपशमार्थ किया गया प्रयत्न व्यर्थ होकर कर्मोंकी सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। जबतक क्यांको सामर्थ्य प्रकट हो जाती है। जबतक उपशम माना जाता है। जीवियों हारा रोगोंका प्रकट नहीं होना प्रसिद्ध है। कर्मोंका उपशम आत्माकी विद्युद्धिक परिणाम माना गया है कीचका दवा रहना जलकी विश्वता ही तो है।

तेषामात्यंतिकी हानिः क्षयस्तदुभयात्मकः। क्षयोपराम उद्गीतः क्षीणाक्षीणबलस्वतः॥ ३॥

उन प्रतिपक्षी कर्मोंकी अत्यन्त कालतकके लिये हानि हो जाना क्षय माना गया है, जैसे कि दनी कीचवाले पानीको दूसरे स्वच्छ पात्रमें वृद्धेल लेनेपर कीचका अत्यन्तामाव हो जाता है । कर्मोंकी अनन्तकालतकके लिये हानि हो जानेपर हुआ आत्माका सुविशुद्ध परिणाम ही क्षय पढ़ता है । जैनोंके यहां तुच्छ अभाव कोई पदार्थ नहीं माना गया है । रोगके उपरामसे और रागके क्षयसे हो जानेवाली आत्माकी विशुद्धिमें भारी अन्तर है । तथा क्षय और उपराम उन दोनोंका तदात्मक हो रहा परिणाम तो कर्मोंकी कुछ क्षीण और कुछ अक्षीण सामर्थ्य हो जानेसे क्षयोपराम भाव मिश्र कहा गया है । सर्वन्याति प्रकृतियोंका उदयाभावक्ष क्षय और उन्हींका सदवस्थारूप उपराम तथा प्रतिपक्षी कर्मोंकी गुणको एक देशसे वातनेवाली देशवाति प्रकृतियोंका उदय होनेपर क्षयोपराम परिणाम होता है, जैसे कि कोदो या मांगपत्तीको विशेष प्रकार द्वारा घोनसे उनकी मद (नशा) उत्पादक शक्तियां क्षीण अक्षीण हो जाती है । यहां क्षयोपराममें पढ़े हुये क्षयका अर्थ अत्यन्त निष्टुचि नहीं है । किन्तु उपराम शद्धका साहचर्य होनेसे क्षयका अर्थ पढ़ नहीं देकर कर्मोका प्रदेशोदय होजाना स्वस्त्य उदयामाव है ।

उदयः फलकारित्वं द्रव्यादिमत्ययद्वयात् । द्रव्यास्मलःभहेतुः स्यात् परिणामोनपेक्षिणः ॥ ४ ॥

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, इन विहरंग और अन्तरंग दोनों निमित्त कारणोंसे विपानमें प्राप्त हो रहे कमीका पाछ देना रूप कार्य करना उदय है। अर्थात्-द्रव्य, क्षेत्र, कालको बहिरंग कारण मानकर और भावको अन्तरंग निमित्त मानकर जो कमींके फलकी प्राप्त होना है, वह उदय है। जैसे कि द्रव्य, क्षेत्र, आदिका प्रसंग मिल जानेपर आग्न बीज या धान्य बीजसे फल प्राप्ति हो जाती है, याबत कमींमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंको निमित्त माना गया है। बीजके विना वृक्ष नहीं होता है। योग्य खेतके विना नंगे पत्थरपर आग्न, गेहूं आदिके पेड उगते नहीं हैं। उचित अवसरके विना अनियत ऋतुओं में वृक्ष, फल, फूल नहीं उपजते हैं। बीज या शाखाओं का उपयोगी परिणाम हुये विना वृक्ष, फल, फूल नहीं आते है। अध्ययन, अर्थोपार्जन, काम पुरुषार्थ, देवार्चन, मोक्ष, इन सब कमींके लिये द्रव्य आदि चतुष्ट्य आकांक्षणीय है। इसी प्रकार कमींके फल प्राप्त करानेमें भी द्रव्य आदि चारों कारण आवश्यक है। तथा जिसका हेतु केवल द्रव्यका आफ्लाम ही है, वह अन्य किसीकी नहीं अपेक्षा रखनेवाले पदार्थका भाव तो परिणाम कहा जायगा। अर्थात्—अनादिकालीन द्रव्यका आत्मलाभ हो रहा ही जिसका हेतु है, जिसके अन्य कोई कर्मीके उदय उपश्चम आदिक निमित्त नहीं है, वह इस प्रकरणमें परिणाम कहा जाता है।

एतत्प्रयोजना भावाः सर्वीपशमिकादयः । इत्योमश्रमिकादीनां शब्दानामुख्वर्णिता ॥ ५ ॥ निरुक्तिस्थिसामध्यद्ज्ञातुमव्यभिचारिणी । ततोन्यत्रामवृत्तत्वात् ज्ञानचारित्रशब्दवत् ॥ ६ ॥

जिन सभी औपशिमिक क्षायिक भावों के पूर्वोक्त उपशाम, क्षय, क्षयोपशाम, उदय, परिष्णाम ये भाव प्रयोजन है, वे भाव औपशिमिक आदिक है। इस प्रकार "तदस्य प्रयोजनं " इस अर्थमं ठब् प्रस्यय कर औपशिमिक आदि शब्दोंकी व्याकरण शास्त्र अनुसार निरुक्ति कह दी गथी है। शब्द निष्ठ अर्थकी सामर्थ्यसे जाननेके लिये निरुक्तिमें कोई व्याभिचार दोप नहीं आता है। क्योंकि धातु, प्रकृति, प्रस्यय, इनके अनुसार बने हुथे उस शब्दके यौगिक अर्थसे अिरिक्त अन्य अर्थोमें वे शब्द महीं प्रवर्तते हैं। जैसे कि एहिले मूत्रमें कहे गये ज्ञान और चारित्र शब्दकी निरुक्ति कर देनेसे ही अध्यमिचारी अभिप्रेत अर्थ प्राप्त हो जाता है। हां, सम्यग्दर्शनका शद्धनिरुक्ति द्वारा अर्थ करनेपर व्यभिचार दोष आता है। तभी तो श्रीउमास्वामी महाराजने सम्यग्दर्शनका अभीष्ट अर्थ करनेके लिये त्यारा सूत्र "तत्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं " वहा है और सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रका निरुक्तियोंसे ही अर्थ निकाला है। व्यवहारमें लाखों, करोडों, शद्धोंका प्रयोग होता है। वहांनक सर्व शद्धोंके परिमाणिक अर्थ करते फिरें। बहुभाग यौगिक अर्थोसे ही शद्धों द्वारा वाष्यार्थकी सिद्धि कर ली जानी है। जहां निरुक्तिका व्यभिचार होता है, वहां गो, व्याप्त, कुशल, आदि शद्धोंको यौगिक नहीं मानकर स्रिक्तिका व्यभिचार होता है, वहां गो, व्याप्त, कुशल, आदि शद्धोंको यौगिक नहीं मानकर स्रिक्तिका व्यभिचार होता है। अतः उपशमः प्रभोजनमस्य इत्यादि प्रकारसे निरुक्ति कर आपश्यमिक

आदि शहाँको अन्वर्थ साथ छेना चाहिये। चुरादिगणकी " मिश्र सम्पर्के" धातुसे अच् प्रत्यय कर मिश्र शहको बना छेना चाहिये। दिरेफ शहसे छक्षणा द्वारा दो रफारवाछा जैसे अमर शह कह दिया जाता है, वैसे मिश्र शह द्वारा क्षायोपशमिक शहकी उपस्थिनि करते हुये क्षयोपशम शहसे ठच् प्रत्यय कर क्षायोपशमिक शहकी निरुक्ति साथ छेनी चाहिये।

प्रशोपशमिकस्योक्तिर्भव्यस्यानादिसंसृतौ । वर्तमानस्य सम्यक्त्वप्रहणे तस्य संभवात् ॥ ७ ॥

सभी संसारी जीवोंमें साधारण रूपसे पाये जाते हैं, अतः औदियक और पारिणामिकका सूत्रमें पहिले प्रहण होना चाहिये, ऐसी आशंकाकी सम्भावना होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी प्रथम ही समाधान कर देते हैं कि यह प्रन्थ मोक्षकी शिक्षा देनेवाला मोक्षशास्त्र है। मोक्षका प्रधान कारण सम्यग्दर्शन है, अनादिकालके संसारमें परिश्रमण कर वर्त रहे भन्न्य जीवके आदिम सम्यक्त प्रहण करनेपर मोक्षोपयोगी सम्पूर्ण भावोंके प्रथम उस औपशमिक सम्यक्त्वपरिणामका होना सम्भवता है। अतः आदिम सम्यक्त्वकी अपेक्षा सम्पूर्ण भावोमें पहिले औपशमिकका कथन सूत्रकारने किया है।

स्तोकत्वात्सर्वभावेभ्यः स्तोककालत्वतोषि व। । शेषभ्यः क्षायिकादिभ्यः कथंचित्र विरुध्यते ॥ ८ ॥ ततस्तु क्षायिकस्योक्तिरसंस्येयगुणत्वतः । भव्यजीवस्वभावत्वस्यापनार्थत्वतोषि च ॥ ९ ॥ क्षायोपशमिकस्यातो या संस्वेयगुणत्वतः । युक्तास्ति तद्द्वयात्मत्वाद्भव्येतरसमत्वतः ॥ १० ॥ उक्तिरौद्यकस्यातस्तेन जीवावबोधतः । पारिणामिकभावस्य ततीते सर्वनृस्थितेः ॥ ११ ॥

दूमरी बात यह है कि गुणवान् पदार्थीका अल्पपना भी छोकमें आदर प्राप्तिका हेतु है। आदरणीय पदार्थका सबसे पहिले उत्तरण हो जाता है। क्षायिक, क्षायोपशिक आदि सम्पूर्ण भावोंसे औपशिकभाव अल्पल्प हैं। अथवा क्षायिक आदि भावोंसे युक्त हो रहे जीवोंकी अपेक्षा औपशिक भावोंको धारनेवाछे जीव असेल्यातों भाग या अनन्तवें भाग पाये जा रहे, थोडे हैं। काचित, कराचित् ही पाये जांय ऐसे पदार्थ अद्भुतागार (अजायबघर) में प्रथम शोभा स्थानपर विराजमान

कर दिये जाते हैं । अधवा तीसरी बान यह भी है कि देख बच रहे क्षायिक, क्षायोपशमिक आदि चार भावोंसे औपरामिक भावोंका काल थोडा है। बहुत कालतक (निद्रीक होकर) ठहरनेवाडे पदार्थींसे थोडी देर ठहरनेवाल (लजालु) पदार्थ पिले नाम पा जाने हैं। इस कारणसे भी चार भावोंसे पहिले औपगमिकभावका कथन करना कैमे भी विरोधको प्राप नहीं होता है। अर्थात्---उपराम सम्यादर्शनका। उत्कृष्ट काल अन्तर्भृहर्त्त है। अन्तर्भृहर्त्तमे अमेल्यात समय होने हैं। उत्तने समयों होनेवाले चारों गतियोंके उपरामसम्बग्द्रिश जीव यदि एकत्रित कर लिये जांय तो पल्यके असंख्यातवें भाग प्रमाण इतने असंख्याते जीव उपग्रम सम्यग्दिष्ट पाये जायेगे । किन्तु उपशम-सम्यग्दृष्टियोंसे आवलीका असंख्यातवां भागरूप असंख्यातसे गुणे हुये क्षायिकसम्यग्दृष्टि जीव बहुत है। क्योंकि संसारमे स्थितिकी अपेक्षा क्षायिकसम्यग्दर्शनका काल अन्तर्महर्त्तसहित आठ वर्ष कमती दो कोटि पूर्वसे अधिक तेतीस सागर है। अतः असंख्यातगणे अपने कालमें चारी गतियोंके शायिक-सम्यन्दृष्टि असंस्यात गुणे हैं । तथा क्षायिकभाववाले जीवोंने क्षायोपगमिक भाववाले जीव असंख्यात-गणे हैं। जीवद्रज्योंकी संख्या गिननेकी अपेक्षा उक्त ज्यवस्था है। विशादिक भावोंकी गिनती करने पर तो क्षायोंपर्शामकभावोंसे क्षायिकभाव ही अनन्त गुणे है । औदियक, पारिणामिक भाववाले तो इनसे अनन्त गुणे है । अनन्त निगोदिया जीवोके कुमतिज्ञान, कुश्रुतज्ञान, अचक्षुदर्शन, लिब्बयां, ये भाष क्षायोपशमिक है। इस अपेक्षासे विचारनेपर तो क्षायोपशमिक और औदायिक भाववालोंकी संख्या समान है। जीवत्व, अस्तित्व, नित्यत्व, आदि कुछ पारिणामिक भावोको सिद्ध परमात्माओंमे भी स्वीकार कर छेनेपर औदियिक भाववाटोंसे पारिणामिक भाववान जीवोकी संख्या बढ जाती है। अनः इन कारिकाओंका यह अभिप्राय है कि शेष भागोंसे अन्य और अल्पकाट स्थितवाला होनेसे औपशिम-कका सबसे प्रथम कथन है। और उस औपशमिककी अपेक्षा असंख्यात गुणा होनेसे क्षायिकभावका तो उसके पश्चात कथन है। एक बात यह और भी है कि पांच भावोमें ओपरामिक और क्षायिक-भाव ये दो जातिके भाव तो भव्य जीवोंके ही स्वभाव है। अभव्य जीवोंने कथमपि नहीं पाये जाते हैं। इस बातको प्रसिद्ध करना रूप प्रयोजन साधनेके लिये भी औपशमिकके पीछे लगे हाथ क्षायि-कका कथन है। तथा इसके पीछे इन क्षायिकोसे असंख्यात गुणा होनेसे क्षायीपरामिकका जो सूत्र-कारने अथन किया है वह युक्त है । उन औपशामिक, क्षायिक दोनों भावींका सम्मेरन आत्रक होनेसे भी उस क्षायं पशमिकका झट उनके पीछे कथन करना समुचित है । भव्य और अभव्य जीबोंमे क्षायोपशामिक भाव भूमानरूपसे निवास करते हैं | इस कारण भी भन्योंमें ही पाये जानेवाले दो भावोको पीछे शांत्र भन्य, अभन्य दोनोंमे पाये जानेवाले क्षायोपशमिक भावका कथन करना अनिवार्य हो जाता है। तथा इन तीनके पश्चात् औदियक भावका कथन करना आवस्यक पढ जाता है। क्यों कि औदयिकभायों में गिनाया गर्य। गतिसे अधातिकमें द्यजनित सभी रोष भागोंका ग्रहण हो उत्मा है। अतः भनुष्यगति, तिर्यगाति, शरीरचेष्टा, उच्चरण, नाहा फडराना.

श्वास्तीच्छ्वास चलना, उष्णस्पर्स, लावण्य, क्रीय, लेश्या, आदि उन औदियेक भावोसे जीवका पिकान हो जाता है, या करा दिया जाता है। उन चारोंके अन्तमें पुनः पारिणामिक भावका सूत्रकारने उपादान किया है। क्योंकि सम्पूर्ण मनुष्य आदि संसारी जीवों और मुक्त जीवोंमें भी पारिणामिकभाव स्थित हो रहे है। चैतन्य, जीवन, इन्याव, अस्तित्व आदि पारिणामिक भावोंसे भी जीवका ज्ञान होता है। अनः पहिला हेतु भी यहां कथंचित् लागू हो जाता है।

न चैषां द्वन्द्वनिदंशः सर्वेषां सृरिणा कृतः । क्षायोपशमिकस्येव मिश्रस्य प्रतिपत्तये ॥ १२ ॥ नानर्थकश्च शद्धोसौ मध्ये सूत्रस्य रुक्ष्यते । नाष्यंते द्यादिसंयोगजन्मभावोपसंप्रहात् ॥ १३ ॥ क्षायोपशमिकं चांते नोक्तं मध्येत्र युज्यते । प्रनथस्य गौरवाभावादन्यथा तत्प्रसंगतः ॥ १४ ॥ निरवद्यमतः सूत्रं भावपंचकरुक्षणम् । प्रस्थापयति निःशेषदुरारेकाविवेकतः ॥ १५ ॥

यहां किसीका आरेका है कि इस सूत्रमें ' औपशमिकक्षायिको मिश्र:—औदियकपारिणामिको ' यों पदोंके दुकड़े नहीं कहकर '' चार्थ इन्द्र '' इस सूत्र करके पांचों पदोंका इन्द्र करते हुये श्रं उमास्वामी महाराजको औपशमिकक्षायिकमिश्रोदियकपारिणामिका इस प्रकार छचुनिर्देश करना चाहिये था। यों कहनेसे दो बार च शद्ध नहीं करना पढता है। इसके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वार्म कहते है कि औपशमिक और क्षायिक इन दो भावोंसे आतिरिक्त अन्य भावके हाथ मिश्रपना न क बैठे, किन्तु क्षय और उपशमका ही मिश्र होकर क्षायोपशमिक बने इसकी प्रतिपत्तिके छिये श्रं उमास्वामी आचार्यने इन सब पांचों पदोंका एक साथ इन्ह्यनिर्देश नहीं किया है। अतः एव सूत्रवं मध्यमें पढ़ा हुआ वह च शद्ध भी व्यर्थ नहीं दोखता है। क्योंकि च शद्ध होते संते ही मिश्र शद्ध करके पूर्वमें कहे गये क्षय और उपशमका अनुकर्षण हो जाता है। अन्तमें पढ़ा हुआ दूसर च शद्ध भी व्यर्थ नहीं है। क्योंकि उस च का अर्थ कण्णोक्त नहीं कहे गये इतर भावोंका समुक्त करना है। जिससे कि दो, तीन, आदि भावोंके संयोगसे उत्पन्न हुये साक्रिपातिक मान्नेका यथायोक संग्रह हो जाता है। छच्चीस, छचीस, इक्तालीस, इन्प्रादिक दो आदिक संयोगसे होनेवाले भाव कर्ण कान्नाय अनुसार माने गये हैं। जैसे कि मनुष्यगित कर्मके उदयसे मनुष्य होता हुआ जीवत्व परिणामक आन्नाय अनुसार माने गये हैं। जैसे कि मनुष्यगित कर्मके उदयसे मनुष्य होता हुआ जीवत्व परिणामक

धारनेवाला मनुष्य जीव औद्यिक पारिणामिक द्विसंयोगीमाव है या श्नायिक सम्यग्दिष्ट, श्रुतज्ञानी, यह दिसंयोगी भाव क्षायिक क्षायोपशमिक का सिलपात है। अध्या उपशांतमोह, क्षायिक सम्यग्दिष्ट, मनुष्य
यह त्रिसंयोगी औपशमिक, क्षायिक, जादियक, इन तीन भावों के समुदायसे जन्य है। तथा क्षीणकषाय, मितज्ञानी, भन्य, मनुष्य, यह चनुःसंयोगी भाव क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक, औदयिक, इन चार भावों के समुदायसे उपन हुआ है। इसी प्रकार पांचवां क्षायिक सम्यग्दिष्ट, उपशांतमोह, पंचेन्द्रिय, मनुष्य, जीव, यह पंच संयोगभाव क्षायिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदियक,
पारिणामिक पांचों भावों के सिलपातसे उपजा है। इन सब सम्पूर्ण भावोका च शद्व से संग्रह कर लिया
जाता है। पिहले च शद्वकों नहीं कह कर क्षायोपशमिक शद्व के कह देनेसे प्रन्थका गौरव हो जाता
है। मिश्रश्च इन तीन वर्णों के स्थानपर क्षायोपशमिक ये छह सस्तर वर्ण कहने पड़ते है। अतः प्रथके
गौरव दोपका अभाव हो जानेसे औपशमिक और क्षायेक्क अन्तमे और इम सूत्र के मध्यमें क्षायोपशमिक शद्व नहीं कहना यक्त है। अन्यस्मा यानी क्षायोपशमिक शद्व को कंठोक्त करनेपर उम प्रन्थ
गौरव दोपका प्रसंग वना रहेगा। अतः यह सूत्र पांचों भावों के छक्षण को निर्दोष होकर बढ़िया बखान
रहा है। क्यों के समस्त खोटी शंकाओका प्रथम्भाव कर दिया जाता है। अथवा सम्पूर्ण खोटी शंकाओके विवेचनका अवसर ही नहीं रह पाता है।

अथौपशमिकादिभेदसंख्याख्यापनार्थे द्वितीयं सूत्रम्—

अब औपरामिक, क्षायिक, आदि मार्चोके भेदोंकी संख्याकी प्रसिद्ध करानेके लिये श्री उमा-स्वामी महाराज दूसरे सूत्रको कहते हैं।

द्विनवाष्टादशैकविंशतित्रिभेदा यथाक्रमम् ॥ २॥

पूर्व उक्त औपशमिक आदि भावोंके यथाक्रमसे दो, नी, अठारह, इक्कीम, और तीन भेद हैं। स्वपदार्थप्रधान समास करनेपर और अर्थके वशसे पूर्वस्त्रोक्त प्रथमान्त पदाको पृष्टी विभक्ति अन्तकर देनेसे अर्थ हो जाता है। किन्तु '' न कर्मधारयः स्यान्मत्वर्धीयो बहुब्रोहिश्चेदर्थप्रतिपृत्तिकरः '' इस नियम अनुसार बहुर्ब्वाहि समासको प्रथम अवसर मिलनेपर तो दो भेदवाला औपशमिक है। नी भेद बाला क्षायिक है, इत्यादि यह अर्थ सुन्दर है। अन्यपदार्थप्रधान समास बृत्ति करनेपर तो प्रथमान्त पदोंक साथ ही इस सूत्रका सम्बन्ध कर लेना चाहिये।

द्यादीनां भेदशद्वेन वृत्तिरन्यपदार्थिका । द्वंद्वभाजां भवेदत्र स्वाभिषेतार्थसिद्धितः ॥ १॥

यहां हो च नव च अष्टादश च एकविंदातिश्च त्रयश्च '' द्विनवाष्टादशौर्विशतित्रयः '' इस प्रकार द्वन्द्व समास वृत्तिको धारनेवाले द्वि नव आदि शब्दोंकी भेद शब्दके साथ अन्य पदार्थको प्रधान सम- शानेवाली बहुशीहि समासवृत्ति हो जाय तभी निजको अभीष्ट हो रहे अर्थकी सिद्धि हो सकेगी। अर्थात् पूर्वसूत्रोक्त प्रथमान्त पदोंके साथ इस सूत्रके प्रथमान्त " भेदा " पदका सामानाधिकरण्य बनकर कम अनुसार भेदसंख्या गिना दी जाती है।

प्रत्येकं भेदशद्वस्य समाप्तिर्भुजिवन्मता । यथाक्रममिति रूयातेष्यक्रमस्य निराक्रिया ॥ २ ॥

जैसे प्राममें अधिक द्वित कीच कूडा इकडा होनेपर " प्रामीण शतेन दण्ड्यन्तां " इस राजा-ज्ञांक अनुसार प्रामिनवासी सम्पूर्ण मनुष्पोंपर मिलाकर मी रुपयेका दण्ड किया गया है। एक एक मनुष्यको सी सी रुपयेसे दण्डित नहीं किया गया है, तथा " देवदत्तजिनदत्तागुरुदत्ता मोज्यन्तां " यहां एक व्यक्तिकी उदर तृति कराने योग्य मोजनको तीनोंमें बांट दो यह अर्थ अमीष्ट नहीं है। किन्तु तीनोंको न्यारे न्यारे तृतिपूर्वक भरपेट मोजन कराना अर्थ अमीष्ट हो रहा है। अतः मोजनके समान यहां सूत्रमें द्वि, नव, आदि शद्धोंमेमे प्रत्येक संख्येय वाचक शब्दके साथ मेद शब्दकी परिपूर्ण-रूपसे प्राप्ति हो जाना मानी गयी है। " इन्दादी इन्द्रनते च श्रूयमाणपदं प्रत्येकमिसम्बद्धयते " इस नियम अनुसार भेद शब्द मत्रके साथ लग जाता है। तथा इस सूत्रमें " यथाक्रमम् " इस प्रकार स्पष्ट कथन करनेपर तो अक्रमका निराकरण भी हो जाता है। अर्थात्-पूर्वमें उच्चारे गये औपशमि-कके दो भेद आदि कम अनुसार समझे जायेगे। व्यतिक्रमसे औपशमिकके नौ या अठारह भेद अथश क्षायिकके तीन या इककीम भेद नहीं समझे जा सकेंगे।

तथा च सत्येतदुक्तं भवति औपश्रमिको भावो दिभेदः शायिको नवभेदः मिश्रोष्टादशभेदः औदयिक एकविंशतिभेदः पारिणामिकक्षिभेद इति ॥

एवं निम प्रकार वृत्ति और प्रत्येक के साथ भेद शद्ध की समाप्ति कर देने पर तथा यथाक्रम कह देने पर सूत्रकार द्वारा यह मन्तन्य कहा जा चुका होजाता है कि औपशमिक भाव दो भेदबाल्य है, नौ भेदबाला क्षायिक है, अहारह भेदों को धारनेवाला मिश्रभाव है, इक्कीस भेदों को लिये हुवे औदियक भाव है, तीन भेद युक्त पारिणामिक है। यहांतक सूत्रका सन्दर्भिन अर्थ श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा संगति प्राप्त कर दिया है।

तत्रीपत्रविकभेदद्वयमचिख्यापयिषया तृतीयसूत्रमाह ।

उन द्वितीय अध्यायके सात सूत्रोंमेंसे अब औपशामिक भावके दोनों मेदोंको अच्छा प्रसिद्ध करानेकी अभिलापासे श्री उमाध्वामी महाराज अब तीसरे सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

सम्यक्तवचारित्रे ॥ ३ ॥

अनन्तानुसन्धी क्रींच, मान, माया, छोभ ४ मिध्यात्व ५ सम्याङ्मध्यात्व ६ सम्यक्त ७ इन प्रांत छह या सातों प्रकृतियोंका उपराम होजानेपर औपरामिक सम्यक्त्व भाव उपजता हैं और चारिक मोहनीय कर्मकी इनकीस प्रकृतियोंका उपराम कर देनेपर उपराम चारित्र होता है। औपरामिक भावके ये दो भेद हैं। एक उपराम सम्यक्त्व दूसरा उपरामचारित्र।

श्रीपश्रमिकस्य द्वी भेदाबित्यभिसंबंधः सामर्थ्यात् । तत्र दर्शनमोहस्योपश्रमादौपश्रमिक-सम्बन्ध्यं, चारित्रमोहोपश्रमादौपश्रमिकचारित्रं ।

सूत्रमें यद्यपि " हो मेदो " ऐसा कहा नहीं है। तो भी यथात्रमके अन्ययकी सामर्थ्यसे औपशिमक मार्थक ये दो भेद हैं यो उदेश्य विधेयदछका दोनों ओरसे सम्बन्ध होजाता है। उन दोनों भेदों में अनन्तानुबन्धी चार कथायोंको साथ रखते हुये दर्शन मोहनीय कर्मके उपशम हो जानेसे औपशिमक सम्यक्त्य होता है और स्वकीय पुरुषार्थजन्य परिणामोंद्वारा चारित्र मोहनीय कर्मका अन्तरकरण उपशम होजानेपर उपशम प्रयोजनवाला चारित्र प्रकट हो जाता है। प्रथमोपशमसम्यक्त्यके लिए दर्शन मोहनीयकर्मकी प्रकृतियोंका प्रशस्त उपशम और अनन्तानुबन्धी कथायोंका अप्रशस्त उपशम होता है। जहां विवक्षित पौद्रलिक प्रकृति उदय होने भोग्य नहीं होती हुई स्थिति, अनुभाग, शाक्तियोंके उरक्रपण, अपकर्षणके अयोग्य होकर संक्रमण होने योग्य भी नहीं होय, वहां उस प्रकृतिका प्रशस्त उपशम माना जाता है, और जो प्रकृति उदय आने योग्य तो नहीं होय, किन्तु उसका स्थिति या अनुभाग घट बढ जाय अथवा संक्रमण आदि हो सके, वहां उस प्रकृतिका अप्रशस्त उपशम कहा जाता है। सर्वघाती अनन्तानुबन्धीकी चार प्रकृतियोंमें स्वरूपाचरण चारित्र और सम्यक्त्य इन दोनों गुणोंके विघातनेकी शक्ति है।

y दर्शनमोहस्य चारित्रमोहस्य खोपश्चमः कथं कविदात्मनि सिद्ध इति चेदुच्यते ।

यहां कोई पण्डित पूर्वपक्ष उठाता है कि किसी किसी आत्मामें दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्र-मोहनीय कर्मका उपशम हो जाना किस प्रमाणसे किस प्रकार सिद्ध है ? बताओ, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य करके अनुमान प्रमाण द्वारा उपशमकी सिद्धि कही जाती है ।

पुंसि सम्यक्त्वचारित्रमोहस्योपशमः कचित्। शांतप्रसत्तिसंसिद्धेया पंकस्य वारिणि॥१॥

किसी एक विवादापन आत्मामें (पक्ष) सम्यक्त्यमोहनीयकर्म और चारित्रमोहनीय कर्मका उपशम हो रहा है। (साध्य)। क्योंकि शान्तिको प्राप्त होकर होनेवाली प्रसन्तताकी भले प्रकार सिद्धि हो रहीं है। (हेतु)। जैसे समलजलमें मलके दब जानेपर कीचका उपशम हो रहा है। (अन्वयदृष्टान्त)। भावार्थ—रोग या दरिद्रतासे बिर जानेपर चित्तमें व्याकुलता उपजती है। किन्तु उनके प्रतिपक्ष औषधि मंत्र-प्रयोग, धनशिस आदि कारणोंसे रोग या दरिद्रताका उपशम होते हुये चित्त प्रसन हो जाता है। उसी

प्रकार मोहनीयकर्मके उदय होनेपर आत्मामें सन्पर्व्हान और चारित्र नहीं हो पाते हैं। जलमें की चवे दक्ताने समान उक्त कर्मोंका उपश्रम हो जानेपर देव, शाल, गुरु श्रद्धान या तत्त्वार्धश्रद्धान अधर्म स्वानुभूतिस्वरूप सन्यादर्शन हो रहा प्रतीत हो जाता है। तथा भोगोंमें उपेक्षा, स्वरूपाचरण, इत धारण और बहिरंग अन्तरंग सांसारिक किया निरोधरूप चारित्र हो रहा अनुभूत हो जाता है। इर प्रकार प्रकृत साध्यक साथ प्रकृत हेतुकी व्यापिको अपनी आत्मामें निर्णात कर विवादप्राप्त पुरुषमें साम को साथ लिया काता है।

यवैत्र हि जले सपंके इतिश्वसम्बता सा च साध्यमाना पंकस्योपश्चमे सति अवि नानुपश्चमे कालुष्यप्रतीतेः, नापि क्षये, शांतत्विरोषात् । तथात्मिन सम्यक्तवचारित्रलक्षण प्रसम्भता सत्येव दर्शनचारित्रमोइस्योपश्चमे भवति, नानुपश्चमे, मिध्यात्वासंयमलक्षणकालुष्यो पर्कष्यः, । न क्षये, तस्याः शांतत्वविरोषादिति युक्तं पश्यामः ।

कारण कि जिस ही प्रकार कीचसे सहित हो रहे जलमें किसी भी कारणसे स्वच्छता हो जार है और वह निर्मलता साध्य कोटिपर यदि लाई जाय तो कीचके उपराम (नीचे दव) हो जानेपर । जाती है। कीचके नहीं उपशम होनेपर तो जलकी प्रस्मता नहीं साधी (बनाई) जा सकती है क्योंकि कीचके घुल जानेपर तो जलमें मलमिश्रणरूप कल्लवताकी प्रतीति हो रही है तथा कीचका समूळचूळ क्षय हो जानेपर भी वह उपराशम हो जानेपर उपजनेवाळी प्रसन्तता ना संघपाती है। क्योंकि शांतपनेका विरोध होगा। अर्थात्—प्रतिपक्षका क्षय हो जानेपर क्षायिकमा भले ही हो जाय, किंतु औपरामिकभाव नहीं हो सकता है। एक मनुष्यका धन सर्वधा निवट गर है। भविष्यकालमें भी धन आनेकी आशा नहीं है। दूसरे मनुष्यके पास धन विद्यमान तो है कि वर्तमानमें उस धनका कोई उपयोग नहीं हो रहा है। सम्भवतः भविष्यमें उस धनका उपभोग किर जा सके, यहां पहिले मनुष्यसे दूसरे पुरुषके परिणामोंमें महान अंतर है। पहिलेमें क्षीणता है। दूसरे चित्तको शांति है। क्षय दशामें शांति होनेका विरोध है। तिस ही प्रकार किसी आत्मामें सम्यक स्वरूप और चारिक्सवरूप प्रसन्तता हो रही है. वह दर्शनमोहनीयकर्म और चारित्र मोहनीय पौर लिक कर्मके उपराम होनेपर ही होती है। जबतक उन कर्मीका फल देनेकी सामर्ध्यका प्रकट ना होना रूप उपराम नहीं होगा, तबतक आत्मामें वह श्रद्धाम और स्वात्मश्थितिरूप प्रसन्नता ना प्रगटती है। क्योंका उपराम नहीं होनेपर यानी उदय हो जानेपर तो मिध्यादर्शन और असंयमरू कळ्वपने [पाप] का सन्वेदन होता रहता है । दर्शनमोहनीय या चारित्र मोहनीयके क्षय होनेपर व उपराम साप्य प्रसनता नहीं बन सकती है। क्योंकि उपराम प्रयोजनको धारनेवाली जीवकी प्रसनता शांतिका अनुभव है किंतु कमीका अप ही जानेपर उपजनेवाली जीवकी स्वच्छतामें शांतपनेका विरो है। क्षापिक मानमें शांतिका अनुभव नहीं होता है। अतः इस उक्त कथनको हम युक्तियोंसे ल्बाल पूर्ण हो रहा देख रहे हैं। कोई कोर कसर नहीं है।

क्तः चुनः मसजला ताहशी मसिद्धात्मन इति चेदिमे हमहे ।

श्री विद्यानन्द स्मामीके प्रति किसी पंडितका प्रश्न है कि पूर्व में कह गये अनुमानका हेता मिला प्रश्नों कैसे वर्तता है! बताओ । पक्षों हेतुके वर्तनेसे वह हेतु असिद्ध हेत्वाभास हो जाता है। असाः बहां पृष्ठच्य है कि आत्मामें उस प्रकार शान्तिपूर्वक होनेवाड़ी प्रसन्तता पुनः किस प्रमाणसे प्रतिक्ष कर छी गयी है! जिससे कि हेतुकी सिद्धी होचुकी होय, इस प्रकारकी जिज्ञासा होनेपर प्रतिवादिभयंकर हम ये विद्यानन्द स्वामी उसके समाधानको कहते हैं। अभिमानी दूसरे कुतर्कीका सक्तादिभयंकर हम ये विद्यानन्द स्वामी उसके समाधानको कहते हैं। अभिमानी दूसरे कुतर्कीका सक्तादिभयंकर बहु बचनान्त इदं शद्धके साथ अस्पद् शद्धका सामानाधिकरण्य कर दिया जाता है तभी निरिधमान होता हुआ प्रतिवादी उत्तर सुननेके लिये सादर अभिमुख होकर वादिके गाम्भीय और अपनी तुच्छ्यतिका अनुभव कर पाता है। अन्यथा नहीं। जैसे माता और पुत्रके बचन व्यवहार या दाता और अतिथिका वाक्ष्प्रवात्तिका अनुपम प्रेम या सभाक्ते आदरके साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बध है, उसी प्रकार प्रवक्तावों सगौरव सारोप वक्तव्यका प्रतिपादकी प्रबुद्धि होनेके साथ अचिन्त्य कार्यकारणभाव नियत है। इसमें विनय, शिष्टाचार, नीचर्यति इन गुणोंकी क्षति होजानेकी सम्भावना नहीं है। हम क्या करें परिणामिपरिणाम सम्बध अटल है।

यो यत्कालुष्यहेतुः स्यात्स कुतश्चित प्रशाम्यति । तत्र तोये यथा पंकः कतकादिनिमित्ततः ॥ २ ॥

जो पदार्थ जिस किसी पारणामके कलुषता यानी साकुलता (गंदलापन) का हेतु होगा, वह किसी न किसी अनिर्वचनीय विरोधी कारणसे वहां उपशान्त (दव) होजाता है, जैसे कि कीच, घुले हुये उस मैले जलेमें कतक फल, निर्मली, फिटकिरी, आदिक निमित्त कारणोंसे घुला हुआ कीचड मले प्रकार नीचे दबकर बैठ जाता है इस प्रकार अन्ययव्यासिपूर्वक हुये, अनुमानद्वारा सम्यक्त या चारित्रके प्रतिपक्षी कमीकी निजशक्तिका व्यक्त न होना रूप उपशम साध दिया गया है।

न चाभव्यादिकालुष्यहेतुना व्यभिचारिता। कुतिश्रित्कारणात्तस्य प्रश्नमः साध्यते यथा॥ ३॥ न च तत्प्रशमे किंचिदभव्यस्यास्ति कारणं। तद्भावे तस्य भव्यत्वप्रसंगादिवपक्षता॥ ४॥

यहां कोई उक्त व्याप्तिमें व्याभिचार दोषको उठाता है कि अभव्य अथवा दूर भव्य इस प्रकारके सर्वदा मिथ्यादृष्टि बने रहनेवाले जीवोंकी कल्लुक्ताके कारणसे व्याभिचार हुआ। अर्थात्

अनायनन्त मिथ्यादृष्टि जीवीकी कञ्चवताके कारणभूत अनन्तानुबन्धी और दर्शनमोहनीय प्रकृतियाका भी उपराम हो जाना चाहिये। कोई भी किचडेला जल होय, फिटिकिरी आंदिके निमित्तसे उसकी कीचढ दब ही जाती है। हेतदल रह गया और साध्य दल नहीं रहा अतः व्यमिचार हुआ, अब ? आचार्य समाधान करते हैं कि यह तो दोष नहीं उठाना । जिस कारणसे कि हमने किसी न किसी प्रतिपक्ष कारणसे उस कल्लपताके हेतुका प्रशम होना साध्य कोटिमें रखा है, अनाधनन्त कालतक मिथ्यादर्शनको धारनेवाले जीवींके उन मन्यत्व, अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण, काल्लिक आदिक निमित्तोंकी प्राप्ति ही नहीं हो पाती है। अभन्य जीवमें भन्यत्व परिणाम, करणत्रय, नहीं हैं। दूर भन्यको निमित्तोंकी प्राप्तिका अवसर हाथ नहीं छग पाता है। जिन भन्योंका भी संसार अवस्थान काल अर्द्ध पदल परिवर्तनसे अधिक अवशिष्ट है उनकी भी आजतक कल्लपताके उपशामक निमित्तोंकी प्राप्ति नहीं हुई है। निमित्तप्राप्ति हो जानेपर कल्लपताके कारणोंका उपराम हो जानेको हमने ज्यातिके पेटमें डाला है। अतः हेतुके नहीं ठहरनेपर साध्यका भी नहीं ठहरना यहां घटित हो जाता है। अतः व्यभिचार दोष नहीं आता है। कितनी ही भूमि, पोखर, सरोबर, पर्वत-कन्दराओं आदि अनेक स्थानोंपर किचरैले जल भरे हुये हैं। निमित्तकारणोंकी प्राप्तिका अवसर नहीं मिलनेसे वे सपह ही बने रहते हैं। अतः प्रतिकृत कारणोंकी प्राप्ति हो जानेपर कल्लपताका उपराम हो जाना हम साथ रहे हैं। अभव्य जीवके पास उन कल्लावतके हेत हो रहे कर्मीके प्रशम करनेमें निमित्तभूत कोई कारण नहीं है। यदि अभव्यको भी उन कारणोंके सद्भावकी प्राप्ति मानी जायगी तब तो उसको भन्यपनेका प्रसंग्र हो जायगा। ऐसी दशामें वह अभन्य जीव तो प्रकृत न्यासिका विपक्ष नहीं ठहर सकता है अर्थात् अभन्यरूप त्रिपक्षमें साध्यके बिना हेतुके ठहर जानेसे व्यभिन्नार दोष उपारेथत किया गया था '' विपक्षवृत्तिरनैकान्तिकः '' यदि अभव्यके भी पांच या सात प्रकृतियोंका उपशम होने उमे तब तो व्यभिचार स्थळ माने गये अभव्यकी, विपक्षपना न होकर सपक्षता आ ही जाती है। अतः व्यभिचारदोष उठाना ही असंगत होजायगा।

स्वयं संविद्यमाना वा सम्यक्त्वादिशसन्नता । सिद्धात्र साधयत्येव तन्मोहस्योपशांतताम् ॥ ५ ॥

अथवा कर्मों उपरामको साधनेका सरख उपाय यह है कि वह सम्यग्दर्शन स्वरूप या उपरामचारित्र रूप इस ढंगकी प्रसन्नता स्वयं हमारी आत्मामें स्वसम्वेदन प्रत्यक्षद्वारा जानी जारही सिद्ध है, वही प्रसन्नता यहां किसी विवक्षित अत्मामें उस मोहनीय कर्मके उपराम होजानेको अनुमान-द्वारा सिद्ध कर ही देती है। मानार्थ-ज्यर, अर्जाणदोष या मळके दूर होजानेपर आत्मामें जो प्रसन्नता अनुमान होती है उसीके अनुसार दूसरोमें मी दोषोंके उपराम होनेपर हुई प्रसन्नताका अनुमान कर लिया जाता है। वैसे ही तत्वार्थअद्धानरूप सम्यग्दर्शन अथवा स्वात्मनिष्ठारूप चारित्रका प्रतिपक्षी कार्यके उपराम होनेपर उपजनेवाले स्वसंवेदन कर अन्य जीवोंमें भी दर्शन मोहनीय और चारित्र मोह-नीयके उपरामको साध लिया जाता है।

वती युक्तिमानीपशमिको भावो द्विभदतः।

तिसं कारणसे सम्यक्त्व और चारित्र इन दो भेदोंसे औपशमिकमात्र युक्तिपूर्ण होता हुआ समझा दिया गया है।

तथा भायिको नवभेदः।

तथा दूसरा क्षाथिकभाव नी भेदवाला है।

कथामेति प्रतिपादनार्थे चतुर्थे सूत्रमाह ।

बह क्षायिक्र भाव किस प्रकार नी भेदोंकी धारण कर रहा है ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज शिष्यको समीचीन प्रतिपत्ति करानेके छिये द्वितीय अध्यायमें चौथे सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं | उसको समझिये |

ज्ञानदर्शनदानलामभोगोपभोगवीर्याणि च ॥ ४ ॥

क्कान १ दर्शन २ दान ३ लाभ ४ भोग ५ उपमोग ६ वीर्थ ७ और सम्यक्त्व ८ चारित्र ९ इस प्रकार ये क्षायिकमात्रके नौ प्रकार हैं ।

च शक्केन सम्यक्त्वचारित्रे समुचीयते । ज्ञानावरणक्षयात् क्षायिकक्कानं केवलं, दर्शना-वरणक्षयात्केवकदर्शनं, दानान्तरायक्षयादभयदानं, लाभांतरायक्षयाल्लाभः, परमञ्जभपुद्गलादा-नलक्षणः परमीदारिकशरीरास्थितिहेतुः, भोगांतरायक्षयाद्रोगः, जपभोगांतरायक्षयादुपभोगः, वीर्यीतरायक्षयादनंतर्वार्ये, दर्शनमाहक्षयात्सम्यक्त्वं, चारित्रमोहक्षयाचारित्रमिति नवैते क्षायिकभावस्य भेदाः ।

च अन्ययके कई अयोंमेंसे यहां प्रकरण अनुसार समुचय अर्थ लिया गया है। इस सूत्रमें कहे गथे च शद्ध करके पूर्वस्त्रमें कहे जा चुके सम्यक्त्य और चारित्रका समुचय (इकड़ा करना) किया जाता है। अतः सात और दो नो भेद क्षायिक मात्रके हो जाते हैं। तेरहवें गुणस्थानके आदिमें ज्ञानावरण कर्मोंका क्षय हो जानेसे क्षय इस प्रयोजनको धारनेवाला सर्वज्ञ मगवान्के केवलज्ञान उत्पन्न हो जाता है। बारहमें गुणस्थानके अन्तमें ज्ञानावरणका उदय विधमान है। उस समय अवशिष्ट धाती कर्मोंको क्षय करनेवाली पर्यायशक्ति प्रकट हो जाती है। वह उत्तर क्षण यानी तेरहवें गुणस्थानके आदि समयमें कर्मोंका नाश कर क्षायिकलिश्योंको जन्म देती है। दर्शनावरण कर्मके आत्यन्तिक क्षयसे सत्ताका आलोचन करनेवाला केवलदर्शनभाव उपजता है र। दानान्तराय कर्मके क्षयसे अनंत

प्राणियोंका अनुमह करनेवाळा अभयदान भाव होता है ३ । लामान्तरायके अन्यन्त क्षयसे धायिक लाम होता है, जिसका कि स्वकर्तव्य प्रसीदारिक शरीरकी स्थितिके कारणभूत परमञ्जूभ सूक्ष्म अनन्त पद्मछोंका प्रहण करना है, अर्थात - केवल आहारको छोड चुके भेवली भगवानके शारीरिक सम्पत्तिके उपादान कारण असाधारण पहल वर्गणाओंकी प्राप्ति होते रहना क्षापिक लाभ है। बात यह है कि श्वानावरण, दर्शनावरण, दानान्तराय, छाभान्तराय, भोगान्तराय थे कर्म आत्माकी पर्यायोंका आवरण करनेवाले हैं। आत्मामें अनाधनन्त जडे हुये अन्वयी गुण हो रहे चेतना और वीर्य इन दो गुणोंकी ये उपर्धिक पर्याय हैं। अतः सूर्यप्रकाशमें गतार्थ हो रहे तारागणोंके प्रकाश समान केवलदर्शनका परिणमन भी युगपत् केवलज्ञान आत्मक हो रहा है, जैसे कि सिद्ध अवस्था हो जानेपर एक वीर्य गुणकी शुद्ध एक अनन्तवीर्य नामक पर्यायमें अनन्तदान, लाम, भौग, उपभोग इनका अन्तर्माव या चित्र आत्मक परिणति हो जाती है। कोधी, मानी, शोकी, अरतिमस्त संसारी जीवोंके भी एक चारित्र गुणकी चितकबरी विभाव परिणाति होती रहती है। एक ज्ञानकी अनेक विकल्पनाओंके समान एक गुणकी चित्रात्मक परिणतियां हो जातीं हैं। अनन्त प्राणियोंकी अनुप्रह देना, शरीर बलाधायक पुरुळोंका लाभ होना, पुष्पवृधि, सिंहासन आदिका भोगोपभाग होना ये तो सब आनुषंगिक फल हैं। सिद्ध अवस्थामें नहीं भी पाये जांय तो भी क्षायिक भागोंका अनुदस्त चित्र परिणाम होना अनिवार्य है ४ । तथा भोगान्तराय कर्मोंके क्षयसे भगनानके क्षायिक भोगनामक तत्त्व उपजता है ५ । परिपूर्ण उपभोगान्तरायके क्षयसे उपभोग भाव प्राप्त होता है ६ । वीर्यान्तरायके क्षयसे अनन्तवीर्य नामक पर्याय शक्ति उपजती है ७ । दर्शन मोहनीयके क्षयसे क्षायिक सम्यन्दर्शन ८ और चारित्र मोहनीयके क्षयसे क्षायिक चारित्र बन जाता है ९ । यद्यपि चौथेसे सातवेंतक किसी भी गुणस्थानमें क्षायिक सम्यन्दर्शन तथा बारहमेंके आदिमें क्षायिक चारित्र अनन्तकालतकके लिये हो चुका है, फिर भी उक्त दो गुणोंमें अन्य चातिया कमीं के उदयकी सहचरतासे कुछ प्रासंगिक अपरिपर्णतायें रहीं आती ह तथा उक्त दो गुणोंमें अघाति कर्मीके सम्बंधसे भी त्रुटियां उपज जाती हैं। अतः सम्यन्दर्शन और चारित्रकी परिपूर्णता चौदहवें गुणस्थानके अन्त समयमें मानी गयी है। हां इन दो गुणोंके सिवाय शेष केवल क्रान, अनन्त वीर्य, सख, आदि गुण जब व्यक्त उपजते हैं तमीसे उनकी परिपूर्ण अवस्था हो चकी रहती है। उत्कृष्ट अन-तानन्त प्रमाण केवल्ज्ञानके अविभाग प्रतिच्छेद एक बार उपजकर पुनः घटते बढते नहीं हैं। अगुरुलव गुणें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी हानि इद्वियां होती हैं । उसके द्वारा अन्य तदात्मक गुणोंमें भी उत्पाद, व्यय, ध्रीव्य, ध्वरूप सत्त्व माना जाता है सर्वत्र कह राण हानि और इद्विमां होती रहें ऐसा कोई नियम नहीं है। इसी प्रकार अपने नियत संख्याबाठे अविसाग प्रतिष्ठेदोंको धारनेवाछे वीर्य, सर्व आदिसे समझ छेना । इस प्रकार थे नी क्षायिक भावके भेद बहा दिये गये हैं।

ः 🕆 😘 द्वाः पुनर्हाचावरणादीनां इसः सिद्धः स्टबाहः।

किसीका प्रश्न है कि ज्ञानायरण, दर्शनायरण, दानान्तराय, आदि कमीका क्षय भला किस कारणसे अध्या किस प्रमाणसे सिद्ध किया जायगा ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वासी समाधानको कहते हैं।

> आत्यंतिकः क्षयो ज्ञानदर्शनावरणस्य च । सांतरायप्रवंचस्यानंतशुद्धिप्रसिद्धितः ॥ १ ॥

अन्तराय कर्मके मेद प्रभेदके त्रिस्तारसे सिहत होरहे ज्ञानावरण कर्म और दर्शनावरण कर्मका आत्मितिक क्षय होरहा है। क्योंकि अनन्तान्त अविभाग प्रतिच्छेदोंको धारनेवाली आत्मिवशुद्धिकी प्रमाणोद्धारा सिद्धी होरही है अर्थात्—आत्मों अनन्त शुद्धिके प्रसिद्ध होजानेसे उसके प्रतिपक्षभृत ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मोंका कालद्वय संसर्गाविच्छित्र सम्कृत्वलनाश होजाता है। वर्तमान कालमें भी इन कर्मोंका एक अवयव भी शेष नहीं रहता है और भविष्य कालमें भी उक्त धातिया कर्मोंका लवमात्र संसर्ग नहीं हो पाता है, जैसे किसी अन्तुक औद्यावसे प्रतिपक्षी रोगका वर्तमान और भविष्य कालमें अंशमात्र भी शेष नहीं रहता है।

ज्ञानावरणस्य दर्शनावरणस्य च शद्धाद्दर्शनमोद्दस्य चारित्रमोद्दस्य चांतरायपंचकसहित-स्पात्यंतः क्षयः कचिदस्ति अनंतद्युद्धिप्रसिद्धेः।

किसी विवक्षित आत्मामें [पक्ष] पांच भेदवाले अन्तराय कर्मसे सहित हो रहे ज्ञानावरण कर्म दर्शनावरण कर्म तथा इस सूत्र या कारिकामें पडे हुये च शद्धसे ग्रहण करिलये गये दर्शनमोहनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म इनका अत्यन्त क्षय विद्यमान है। (साध्य)। अनन्तानन्तशुद्धिके अंशोंकी प्रमाणों द्वारा सिद्धि हो जानेसे (हेतु) अर्थात्—इस अनुमानसे किसी तेरहवे गुगस्थानक्ती आत्मामें या अयोगी गुणस्थानमें अथवा सिद्धपरमेष्ठीमें वातियाकर्मीका क्षय साध दिया जाता है। क्षय किसी विद्यक्षित समयमें प्रारम्भ होकर अनन्तकालतक स्थिर रहता है। मृत्यु, ध्वंस, या नाशका एक ही अर्थ है। "सादिरनन्तो ध्वंस"। तिन कर्मोमेसे अनन्तानुबन्धी चार और दर्शन मोहनीय तीन इन सात प्रकृतियोंका क्षय तो क्षायिक सम्यग्दर्शन होनेके पूर्व समयमें ही किसी चौथे, पांचवें, छटवें, या सातवें गुणस्थानमें हो चुकता है। करणत्रय विधानद्वारा अनन्तानुबन्धी कोध, मान, माया लोभोंको अन्नत्याख्यानावरण आदि बारह कत्राय या नोकत्रायरूप परिणमनस्वरूप विसंयोजन करके पश्चात् आत्म पुरुषार्थकी सामर्थ्यसे अनिवृत्तिकरण कालके संस्थात्वें भागमें कमसे मिध्यात्व, मिन्न, सम्यक्त, प्रकृतियोंका क्षय करं दिया जाता है तथा चारित्रमोहनीय कर्मकी अन्नत्याख्यावरण चार, प्रत्याख्यानावरण चार; नपुंसक वेद, खिवेद, हास्यादि छह नो कत्राय, पुरुषवेद, संज्वलन क्रोध, मान, माया, इन बीस प्रकृतियोंका तो नवमें गुणस्थानमें ही क्षय हो चुकता है। दसेंत्र गुणस्थानमें छोभ संग्वलनका क्षय हो जाता है। अतः मोहनीयकी अर्डाइसों प्रकृतियों दशकें गुणस्थानके अन्ततक

क्षय को प्राप्त हो चुकी । नवमें गुणस्थानके पहिले मागमें ही दर्शनावरणकी स्त्यानगृद्धि, निद्रानिद्धा, प्रचलप्रचला, इन तीन प्रकृतियोंका क्षय हो चुकता है । बारहवें गुणस्थानके अन्त समयमें ज्ञानावरणकी पांच, दर्शनावरणकी शेष छह, अन्तरायकी पांच, इस प्रकार सोल्ड प्रकृतियोंका श्वंस होता है । (साध्य) । क्योंकि अनन्त कालतक हो रही छादि की प्रमाणों द्वारा सिद्धी की जाचुकी है "सम्यग्दर्शनज्ञानचारिजाणि मोक्षमार्गः" इस सूत्रकी नवासी, नन्त्रेमी वार्तिकों के विवरणमें भी इस हेतुदलका रपिशकरण किया है ।

त्रशहि--

इस अनुमानमें कहे गये अनन्त शुद्धि की प्रसिद्धिरूप हेतुको पुष्ट करनेके छिये प्रन्थकार अनुमानद्वारा उसीको पुनः साःय कोटिपर छाकर सिद्ध करते हैं जो कि यों प्रसिद्ध ही है। उसको स्पष्ट समझिये।

शुद्धिः प्रकर्षम।याति परमं किचिदात्मिनि ।
प्रकृष्यमाणवृद्धित्वात्कनकादिविशुद्धिवत् ॥ २ ॥
शुद्धिर्ज्ञानिदिकस्यात्र जीवस्यास्त्यतिशायिनी ।
भव्यस्य वाधकाभावादिति सिद्धान्तसाधना ॥ ३ ॥
नानैकांतिकमण्येतत्तदशुष्ट्या विभाव्यते ।
तस्या अपि कवचित्सिद्धेः प्रकर्षस्य परस्य च ॥ ४ ॥
प्राक्साधितात्र सर्वज्ञ्ञानवृद्धिः प्रमाणतः ।
दर्शनस्य विशुद्धिर्वा तत एवाविनाभुवः ॥ ५ ॥

किसी एक आत्मामें हो रही ज्ञान, दर्शन, वीर्य, चारित्र, सम्यक्त्व गुणोंकी शुद्धि (पक्ष) उत्कृष्ट कोटिके प्रकर्षको प्राप्त हो जाती है। (साध्य)। प्रकर्षको प्राप्त हो रही चृद्धिको धारनेवाली होनेसे (हेतु)। सुवर्ण, चारी, रत्न, आदिकी विश्वद्धिके समान (अन्वय दृष्टान्त)। मावार्थ—जैसे अग्नि संताप या तेजान अथवा शाण, छेनी आदि कारणोंसे सोना, मोती, हीरा आदिमें बढ रही शुद्धि किसी अवस्थामें उद्ध प्रकर्षको पहुंच जाती है, उती प्रकार संसारी आत्माओंमें अम्यास, व्यायाम, आचरणसम्पत्ति, क्षयोपतम, मानसिक पित्रेत्रता आहि कारणोंसे ज्ञानकी, चारित्रकी उत्तरोत्तर बृद्धि हो रही अनुमृत की जाती है। आकाशमें परिमाणके समान वह किसी न किसी जीवमें परमप्रकर्ष पर्यत बढ जाती है। उत्ती जीवमें प्रतिपन्नी कर्मोका आत्यन्तिक क्षय हो जाता है। इस अनुमानमें दिये गये हेत्रको यो पृष्ठ कर छेना चाहिये कि किसी निकट भव्य जीवके ज्ञान, दर्शन आदिक गुणोंकी शुद्धि

(पर्च) हाई होनेंक वमकारकों धारनेवाली है। (सांध्य)। वाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेंसे, (हेतु)। आत्मीय अनुमूल हो रहें सुख या दुःखके समान (दृष्टान्त) इस प्रकार यहां साधनवर्षकी सिद्धि हो जाती है। बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेंसे ही अतीन्द्रिय गहन सिद्धांतोंकी साधना कर की जाती है। बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेंसे ही अतीन्द्रिय गहन सिद्धांतोंकी साधना कर की जाती है। प्रकर्षताको प्राप्त हो रही है, वह कहीं न कहीं जाकर पूर्ण प्रकर्षको प्राप्त हो जाती है। इस ब्यासिम पड़े हुये हेनुका उसकी अशुद्धि करके व्यभिचार देनेका विचार भी नहीं करना वाहिये। क्योंकि उस अशुद्धिके भी परम प्रकर्षकी किसी आत्मामें मले प्रकार सिद्धि हो रही है। तीव विवार पर्वा कार्ति निगोद अवस्थामें ज्ञानादिककी अशुद्धि बढ़ते बढ़ते जवन्यज्ञान, जवन्यवीर, और अचारित्रपर पहुंच जाती है। क्षायोपशामिक मित्रशनकी अतिशयवती हानि केवल्ज्ञान अवस्थामें पायी जाती है। हमने इस प्रन्थके पूर्व प्रकरणमें ही सर्वज्ञके ज्ञानकी इई दृद्धिको प्रमाणोंसे सिद्ध करा दिया है। अथ्या तिस ही कारणसे उस ज्ञानके अविनामात्री दर्शनकी विग्रुद्धिका भी साधन हो चुका समझो। " स्कावर्योपरेशो हि " इस कारिकासे लेकर कितनी ही कारिकाओं तक पाहिले प्रन्थमें हम विवरण लिख चुके हैं। अष्टसहर्तीमें " दोषावरणयोः हानि " इस सामन्तमद्री कारिकाके विवरणमें भी अच्छा व्याख्यान कर दिया गया है। यों हेतुमालासे कर्मोंका क्षय सिद्ध हो जाता है।

ततो युक्तः श्लायिको मौकी नवभेदः।

तिस कारणसे अनुमानक् प्यक्तियोंसे साथ दिया गया क्षायिकभाव नौ प्रकारका समुचित है। यद्यपि जैसे असिद्धत्व औदियकभाव है, उस प्रकार सभी एक सौ अडतालीसों प्रकृतिओंके क्षयसे उत्पन्न हुआ सिद्धत्वभाव भी क्षायिक है, तथापि साधारण होनेसे सिद्धत्वभावको कण्ठोक्त नहीं गिनाया है। विशेषोंका कथन कर देनेपर उनमें साधारणक्ष्पसे ठहरा हुआ सामान्य तो विना कहे ही आ टपकता है।

क्षायोपश्चमिकां छादसभेदः कथमिति तत्मतिषादनार्थे पंचमं सूत्रमाह ।

तिसरे क्षायोपशामिकभावके अंठारह भेद किस प्रकार हैं ? इस प्रकार शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर उन क्षयोपशम प्रयोजनको धारनेवाले जीवतत्त्वोंकी शिष्योके प्रति प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज दितीयाध्यायमें पांचवें सूत्रका परिभाषण कर रहे हैं।

ज्ञानाज्ञानदर्शनलब्धयश्चतुस्त्रित्रिपंचमेदाः सम्यक्त्व-चारित्रसंयमासयमाश्च ॥ ५ ॥

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये चार ज्ञान और कुमति, कुश्रुत, विमंग ये तीन अज्ञान तथा चश्रुदर्शन, अचश्रुदर्शन, अवश्रि दर्शन ये तीन प्रकारके दर्शन एवं दान, लाम, मोग, उपमोग, वीर्ष ये पांच छिन्धयां इस ढंगसे विण्ड भागोंके पन्तह मेट हुये तथा देशकाति सम्यक्त प्रकृतिका उदय होंनेपर चौथेसे सातवें गुणस्थानतक पाया जानेवाळा बेटक सम्यक्त तथा संव्वळनकी चौकडीमेंसे किसी एकका और नो कपायोंमेंसे यथासम्भव तीन, चार, पांच प्रकृतियोंका उदय होनेपर क्षायोपशमिक चारित्र होता है। एवं पांचवें गुणस्थानमें पाया जानेवाळा संयमासंयमरूप भाव है, इस प्रकार पन्दह और तीन यों अठाएह भेद क्षायोपशमिक भावके हैं।

वत्वारश्च त्रवश्च त्रवश्च पंच व इति चतुन्तिविषंच एते भेदा वासां ताश्चतुन्तिविषंचभेदाः। कास्ताः श्वानाज्ञानदर्भनलक्ष्यः। यथाक्रमित्यतुवर्तते तेनैवमिभसंबंधः कर्तव्यः। क्षानं चतुर्भेदं, अक्वानं विभेदं दर्शनं विभेदं, लिक्षः पंचभेदा, सम्यत्वचारित्र संबंधासंबद्धात्र त्रयः भाषापद्मिकभावस्याष्ट्रदन्नभेदा इति ।

क्रान, अक्रान, दर्शन, छिन्ध, इनका इतरेतर योग समासकर पुनः चार और तीन तथा तीन पुनस पांच इन संख्याबाचक पदोंका द्वन्द करले हुये भेद पदके साथ बहुनीहि समासद्वारा यथाकम सम्बन्ध करिना चाहिये। उसका अर्थ यह होता है कि जिन ज्ञान, अज्ञान, दर्शन, छिन्ध्यों के चार, तीन, पांच, इस प्रकार भेद हैं वे यथाकमसे चार भेदवाला ज्ञान, तीन भेदवाला अज्ञान, तीन भेदवाला दर्शन, और पांच भेदवाली छिन्ध्यां हैं। वे भेदवाले पदार्थ कीन हैं है इसका उत्तर पूर्व उदेश्य दलमें पड़ी हुयी ज्ञान, अज्ञान, दर्शन और छिन्ध्यां हैं। दूसरे सूत्रमें से यथाकम इस पद की अनुहाति कर ली जाती है। तिस करके पदोंका अन्वय कर इस प्रकार उदेश्य विधेय दलोंका दोनों ओरसे यों सम्बन्ध करलेना चाहिये कि जिसके चार भेद हैं ऐसा ज्ञानतत्त्व क्षायोपशामिक है, तीन भेदवाला अज्ञान क्षायोपशामिक है, मिश्रमावदर्शन तीन भेदोंको बारता है, लिन्ध्यां पांच भेदोंको धार रही हैं और वेदकरम्यक्त और छटे, सातवें, गुणस्थानोंमें वर्तरहा क्षयोपशम चारित्र तथा क्रस्त्रधत्यागरूप संयम और स्थानस्वधत्यागरूप संयम और स्थानस्वधका अत्यागरूप असंयम इस प्रकार कातिपय मनुष्य और तिर्यच सम्यन्दिक्षोंके पांचवें गुणस्थानमें हो रहा संयमासंयम मान है। ये पिछले तीन भाव अपिण्ड हैं। इस प्रकार कारायोपशामिक भावके अठारह मेद हो जाते हैं।

मत्यादिज्ञानावरणचतुष्ट्रयस्य मत्यज्ञानाद्यावरणत्रयस्य चधुर्दर्जनाद्यावरणत्रयस्य च दानांतरा-यादिपंचकस्य दर्शनमोहस्य चारित्रमोहस्य संयमासंयमंगोहस्य च सयोपत्रमाहुपजायमानत्वात् ।

मित आदि चार ज्ञानींका जावरण करनेवाले मितिज्ञानारवण, श्रुतज्ञानावरण, अवाधि-ज्ञानावरण, मनःपर्ययज्ञानावरण इन चारों कर्मोके क्षयोपश्चमसे उपज रहे होनेके कारण चार भेदबाला ज्ञान है और कुमित आहि जीवमावोंको रोकनेवाले कुमितिज्ञानावरण, कुश्रुतज्ञानावरण, विभेगज्ञानावरण, इन तीन अवयववाली कर्म प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे उत्पन्न हो रहा होनेके कारण अञ्चानके तीन मेद हैं। यहां जज्ञानमें नव्का अर्थ पर्युदास है। ज्ञान वानी समीचीन ज्ञानोंसे मिन्न होते हुये उन प्रमाणात्कक पांचा ज्ञानोंके सहशा हो रहे भाव आत्मक तीन मिथ्याङ्गान भाव तो कुज्ञान हैं। यद्यपि सुमति या दुमतिको रोकनेवाला मतिज्ञानावरण एक ही है। फिर भी सम्यक्त और मिध्यात्वके सह वर मावसे उनमें भेद पड जाता है। तथा चक्षुर्दर्शन आदि भावोंको निवारनेवाले चक्षुर्दर्शनावरण, अवक्षुर्दर्शनावरण, अविध्दर्शनावरण इन तीन उत्तर प्रकृतियोंके क्षयोपशमसे उपज रहा अदर्शनमाव क्षायोपशमिक है। विशेष यह है कि अविविज्ञानके पहिले अविधिदर्शन होता है। विभंगज्ञानके पूर्वमें तो मतिज्ञान या श्रुतज्ञान है। हां, उन ज्ञानोंके पूर्व या पूर्व पूर्वमें अचक्षुर्दर्शन है। मनःप्रथम्बन्नन और विभंगज्ञान दोनोंके अव्यवहित पूर्वमें दर्शन नहीं है। हां दोनोंके पूर्ववर्ती ज्ञानके पहिले
अचक्षुर्दर्शन पाया जाता है। अतः विभंग और मनःपर्ययको भी परम्परासे दर्शनपूर्वक मान लेते हैं।
जैसे कि मतिज्ञानपूर्वक हुये श्रुतज्ञानके अव्यवहित पूर्वमें कोई दर्शन नहीं है। यहां भी परम्परासे दर्शनको पूर्ववर्ती इष्ट किया गया है। श्रुतपूर्वक हुये श्रुतज्ञानमें या उसकी धाराओंमें तो तीन, चार, दश,
बीस, कोटिके व्यवधानको लिये हुये पूर्ववर्त्ती दर्शन माना गया है। तथा दानान्तराय, लाभान्तराय
आदि पांच कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रहीं लिध्यां क्षायोपशमिक हैं। दर्शनमोहनीय, चारित्र मोहनीय
और संयमासंयम मोहनीय कर्मोंके क्षयोपशमसे उपज रही होनेके कारण अंतके तीनभाव क्षायोपशमिक हैं।

कुतः पुनरयं मिश्रो भावः स्यादिति चेत् मतिज्ञानावरणादिसर्वघातिस्पर्धकानाग्रुदयक्षया-तेषामवं सद्दपञ्चमात्तदेशघातिस्पर्धकानाग्रुदयात् क्षायोपशमिको भावः।

फिर यह तीसरा भाव मिश्र यानी दो, तीनका मिला हुआ परिणाम किस ढंगसे हैं ? इस प्रकार जिल्लासा होनेपर तो हम जैनोंका यह उत्तर है कि सर्वघातिस्पर्धकोंका उदय क्षय अर्थात्-द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुसार उदयमें आकर आत्माके अव्यक्त पुरुषार्थ द्वारा आत्माको फल दिये बिना ही प्रदेशोदय हो जानारूप क्षय है, अथवा द्रव्यादि चतुष्टयकी योग्यता न मिलनेसे प्रतिपक्षी कर्मीके उदयका अभाव हो जान। ही यहां क्षय शहरे अभिभेत है। क्षयोपशम भावमें आत्यन्तिक निवृत्त हो जानारूप क्षय नहीं पकडा गया है। क्षयोपशमें पडे हुये उपशम शहसे इस समय उदयमें नहीं प्राप्त हो रहे किन्तु भविष्यकालमें उदय कोटिपर आनेवाले सर्वघातिस्पर्दकोंका वहांका वहीं सत्तारूपसे अवस्थित पडे रहना रूप उपशम लिया गया है। अन्यथा उदीरणाका कारण मिल जानेसे भत्रिष्यमें उदय आनेवाली प्रकृतियोंका उदय हो जाना सम्भवता है, ऐसी दशामें " सब गुड गोबर न हो जाय '' इसिंखेये पारिणामिक पुरुषार्थं बळसे उनका उपशम बनाये रहना आवश्यक पड गया है। क्षयोपशम शद्भमें यद्यपि उदय नहीं कहा गया है। फिर भी " तन्मध्यपतितस्तद्गहणेन गृह्यते " इस परिभाषाके अनुसार देशचातिप्रकृतियोंका उदय भी इस गुणमें माना जाता है। अतः विवक्षित गुणकी सर्वधातिप्रकृतियोंके उदयक्षय और भविष्यमें उदय आनेवाली उन्होंके सदवस्थारूप उपराम तथा देशचातिके उदय ऐसी सामग्रीके मिळनेपर आत्मामें अन्यक्तपुरुषार्थजन्य क्षायोपशमिकभाव उपजता है । क्षायोपशमिकभावका स्वतंत्र कर्ता आत्मा . तो उपादान कारण है, और क्षय, उपशम, उदय, ये कर्मोकी अवस्थायें निमित्त हैं। " पुग्गळकम्मादीणं कत्ता व्यवहारदो " इस सिद्धान्त अनुसार आत्माके

बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक पुरुषार्थसे उत्त्पन हुये सम्पूर्ण मार्वोमें आत्माको कर्तापन प्राप्त है । चौदहवें ग्रणस्थानके अन्त समयके पश्चात हुई सिद्ध अवस्थामें तो सर्वदा शुद्ध पुरुषार्थजन्य केवलकान, सिद्धत्व, सम्यक्त, अनन्तवीर्य, जीवन आदिक मात्रोंका कर्ता आत्मा है, सिद्ध अवस्थावाठी मोक्ष तो चारों पुरुषार्थीमें सबसे बडा परम पुरुषार्थ माना गया है । न्यायपूर्वक मोगोंका भोगनारूप कामपुरुषार्थ, समुचित आजीविकाके उपायों द्वारा धन उपार्जन करनारूप अर्धपुरुषार्थ और दान, पूजन, अध्ययन, ध्यान, क्षमा, ब्रह्मचर्य, अंहिंसा, गुप्ति, समिति, सामायिक, आदि कियाओं या परिणामोंको करनारूप धर्मपुरुषार्थ इनसे अत्यधिक पुरुषार्थपूर्वकभाव सिद्ध भगवान्के हो रहे हैं। संसारी जीवोंके दशवें गुणस्थानतक कतिपयभाव इच्छापूर्वक पाये जाते हैं । उनका दृष्टान्त पाकर सभी आत्माके परिस्पन्द और अपरिस्पन्द आत्मक परिणामोंमें भी इच्छाको कारण माननेकी सम्भावना करना मृहता है। भोजन किये गये अन्न, दुग्व आदिमें आहार वर्गणायें बहुभाग पायी जाती हैं। स्वतंत्र या कुछ कुछ कर्मोंके अधीन हो रहा यह आत्मा पुरुषार्य द्वारा उनका रस, रुधिर, मांस आदि बनता है। उनको शरीरके यथोचित भागोंमें भेजता है। बाळोंको उगाता है, फोडा होनेपर औषधिके निमित्तसे अथवा छोटी छोटी फुंसियां या मक्की, खटमलोंके घार्वोको यों ही विना औषधियोंके पूर देता है। हंसना, छींकना, स्त्रास लेना, रक्तसंचार करना आदि सभी कियायें पुरुषार्थजन्य हैं। सभी सुयत्नोंमें इच्छायें कारण नहीं हैं। शरीरसे बद्धत परिश्रम करनेवाले किसानकी अपेक्षा यदि बढिया किसानकी करनेवाला पण्डित अधिक पुरुषार्थी है और उस न्याख्याताकी अपेक्षा मुक्तदमा जितानेके लिये अत्यित्रिक मानासिक परिश्रम कर रहा वकील यदि अति पुरुषार्थी माना जाता है तो उपशमक्षपक श्रेणियोंमें प्रयत्न कर बनाये जारहे सातिशय विचार आत्मक श्रुतज्ञानोंकी धारा प्रवाहस्वरूप शुक्रभ्यानमें चित्तको लगानेवाले जीव बडे भारी पुरुषार्थी कहना चाहिये। अतः मोक्षके साधन या संवरनिर्जराके कारण हो रहे आठवें, नक्वें, दशवें, ग्यारहवें, बारहवें गुणस्थानोंके परिणामोंमें जितना पुरुषार्थ आवश्यक है उससे भी कहीं अधिक तेरहवें गुणस्थानमें चलते, उपदेश देते और अन्तमें सूक्ष्मिकया करते समय पुरुषार्थ करना अनिवार्य है। इससे भी कहीं अधिक चौदहवें गुणस्थानमें प्रयत्न करना पडता है तभी पिचासी प्रकृतियोंका नाहा हो पाता है। यहां इच्छायें सर्वधा नहीं हैं। सिद्ध अवस्थामें तो अनन्त कालतक के लिये परमपुरुषार्थ करना अत्यावस्यक हो जाता है। इच्छाके साथ पुरुषार्थका कार्यकारणभाव माननेपर अन्ययन्यभिचार हो रहे देखे जाते हैं । चक्कू या कांचके गढ जानेसे शरीरमें रक्तके बहनेपर अथवा बळात्कारकी मळमूत्रबाधा उपस्थित हो जानेपर या न्त्ररकी अवस्थामें अथवा पांव रपट जाने या गोत्रस्खळम होनेपर हुये कितने ही इच्छापूर्वक पुरुषार्थीको शरीरप्रकृति अनुसार परतंत्र परिस्थितियश हुये अनिक्क्रपूर्वक पुरुषार्थ नष्ट कर अनचीते कार्योको साथ देते हैं। अर्थात्---रकको रोकने अथवा अवर (बुखार) के रोकनेवाले इच्छापूर्वक पुरुषार्थीका व्यापार नहीं हो पाता है, और आत्माके अनिच्छापूर्वक पुरुषार्थीसे मछ निकछ जाता है, ज्यर चढ आता है, रक्त बहता रहता

है, पांच स्पट जाता है। किसी विवक्षित शहके बोलनेकी इच्छा होनेफर दूसरा है। अविवक्षित सह मुखसे निकल पडता है। कर्मफलचेतना की अवस्थामें भी एकविय, द्वीन्त्रिय आदि जीनेंको पुरुषार्थ करना अनिवार्य है। मले ही उस पुरुषार्थको करनेमें कर्मोद्वारा होनेवाली पराधीनता धेरक होय. किन्त प्रयत्न ती आत्माको ही करना पडता है। घोडके अनुसार अञ्चलारको जो प्रयत्न करने पडते हैं। उनका प्रेरक निमित्त घोडा है, किन्तु पुरुषार्थीका कर्ता अञ्चवार है एवं अञ्चवरके निमित्तसे घोडेको जो प्रयत्न करने पडते हैं उन पुरुषार्थोंको सम्पादन करनेवाला स्वतंत्र कत्ती घोडा है। " देवदत्तः दान्नेण खुनाति " देवदत्त हैंसियासे फलको छेदता है, यहां कारण या कारणोंकी उपस्थिती होनेपर मी देवदत्तका स्वतंत्र कर्त्तापन तो निमित्त कारणों करके नहीं छीन लिया जाता है। बात यह है कि स्ववंत्र हो या परतंत्र हो आत्माको स्वकीय संपूर्ण परिणामोंको बनानेमें पुरुषार्थ करना पड़ता है। इसी प्रकार जड पटार्थ भी जगतेंम बहुतसे कार्यीको करता है। आत्माके बैसे परिणामोंको प्रकार्थ या प्रयत्न कहते हैं और पुद्रल या अन्य द्रव्योंके तादश परिणामोंको वीर्य, शक्ति, आदिसे व्यवहार करते हैं। सूर्यकी घाम, चन्द्रमाकी चांदनी, ऋतुऐं मेघ जल ये अनेक कार्यीको कर रहे हैं। भींत या सोटें छतको डाट रही हैं, खाट या काष्टासन ऊपर बैठे हुये मनुष्यको साध रहा है, जमाल गोटा पेटके मलको खुरच रहा के कीचलिपिटी त्वीमेंसे भीरे भीरे कीचको छुडाकर जल तुंबीको ऊपर जलप्रदेशमें उछाल रहे जल नावको सरका रहा है, आदि कार्य भी द्रव्योंके निजवीर्य द्वारा सम्पादित हो रहे हैं । जिन जड दर्जोमें कि कथमपि इच्छा की सम्भावना नहीं है, यहां प्रकः रणमें क्षयोपराम भावको बनानेमें आत्माका पुरुषार्थ होना आवश्यक है । हां, आत्माको अपनी प्रकृति अनुसार फल देनेके लिये ह्रये कमोंके पक्त परिणामके सम्पादक तो कर्म ही हैं। आत्मकृत निज भार्त्रोके निमित्त कारण कर्म हो जाते हैं । और कर्मकृत उन कर्मीके परिणामोंके निमित्तकारण आत्मीय भाव हो जाते हैं । क्षायोपशामिक भावोंको बनानेमें आत्मा तो पुरुषार्थ करता ही है । किन्तु साथमें द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव, या आत्मपरिणामको निमित्त पाकर जब कर्मीकी क्षयोपशम भावको बनानेके अनुक्रल बिशेष अवस्था होगी तभी वे कर्म क्षायोपशमिक भार्त्रोंके निमित्त हो सकते हैं । पेटमें जाकर हुई औषधिकी विशेष अवस्था ही उदररोगनिवृत्तिका निमित्त है। यहां मतिकानावरण, श्रुतज्ञानावरण, चक्षदर्शनावरण, दानान्तराय आदि कर्मीके सर्वघातिस्पर्दकोंका उदयक्षय होजानेसे और उनहींके भविष्यमें उदय आनेवाले सर्वघातिस्पर्वकोंका समामें बने रहने रूप उपशम होजानेसे तथा देशघाति स्पर्द्धकोंके उदयसे आत्माकें क्षायोपरामिक भाव निपजता है। यद्यपि मतिकाचावरण आदि प्रकृतियां देशधाति हैं । फिर भी देशधातिओंमें सर्वधातिस्पर्दक पाये जाते हैं । अतः आत्मीयगुणको पूर्व रूपसे घातनेवाले कर्मीकी उदय, उदीरणायें, नहीं होनी चाहिये, तभी क्षायोपशमिक भाव निष्पन होगा।

र्षि पुनः स्पर्धका नाम ? अविभागपरिच्छिक्षकर्मभदेशस्यागप्रवयपंत्तेः अवशृद्धिः अभशृद्धिः अभश्यिकः स्पर्धकः कर्मस्कंपश्चतिः ।

क्षित यह बताओं कि स्पर्धक मंत्रां क्या पदार्थ है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज जिल्लर कहते हैं कि शक्ति या पर्यायके अंशोंको अविभाग प्रतिच्छेद कहते हैं। " अविभागपिडच्छेओ अहण्या उन्हों पएसाणं " ऐसा गोम्मटसारमें कहा है। रूप, रस, झान, सुख, आदिक वस्तुमिचिपर अंशोंकी कल्पना कर पूरी संख्याओंमें गिननेका उपाय अविभाग प्रतिष्केद है। पीद्रलिक कर्मीमें आत्माको रस देनेकी शक्तिके अंश भी अविभाग प्रतिच्छेरोद्वारा त्यारे न्यारे पंक्तियोंमें विभाजित किये जाते हैं। अविभाग प्रतिच्छेदोंसे युक्त होरहे कर्यपरमाणुओंके रसभागकी प्रचयपंडिका क्रमसे बढना या क्रमसे घटना जिन पिण्डोंमें पाया जाता है वह कार्मण स्कन्जेंका यथानाम शक्तिविशेषोंको धारस्हा कर्म समदाय स्पर्दक कहा जाता है। मोटी मिरचकी अपेक्षा छोटी मिरचमें अल्प परिमाण होते हुये मी चिरपिरे रसके शक्ति अंश अधिक माने गये हैं । अपनी अपनी आत्मामें सर्वांग व्यापरहे निगोदिया जीवको ज्ञानसे संज्ञी जीवके ज्ञानमें प्रतिभासक अंश अनन्त गुणे हैं। हाथीकी अपेक्षा सिंहमें साहसके अंश बढ़े हुये हैं। इसी प्रकार संसारी जीवोंके प्रतिक्षण उदयमें आरहे कर्मीकी फलदानशक्तिओंके मी अंशकपायानुसार न्यून, अधिक, संख्यामें नियत होरहे हैं। छोटेसे छोटे भी संसारी जीवके अभन्योंसे अनन्तराणे कर्मप्रदेश प्रतिक्षण उदयमें आते हैं और बडीसे बडी अवग्रहनावाले बत्स्यके भी सिद्ध राशिके अनन्तमें भाग कर्मप्रदेश उदय प्राप्त होते हैं। जयन्य और उत्कृष्ट मध्यवती अनन्त भेदींको धारनेवाले अनन्तातन्त जीव हैं । अभन्य राशिसे अनन्त गुणी इस संख्यासे सिद्ध राशिका अनन्तवां भाग यह संख्या वडी है। कारणोंके वरा अविभाग प्रतिन्छेदोंमें छह स्थानवाली हानिवृद्धियां होती रहतीं हैं। ज्ञानके अविभाग प्रतिष्छेदोंकी हानि या बाह्य करते समय संख्यात पदसे उत्क्रतसंख्यात और असंख्यात संख्यासे जिनदृष्ट असंख्यात गुणे छोकप्रदेश तथा अनन्त शहरे जीवराशिक्षप अनन्तानन्त पकडा गया है। किसी गुणमें उक्त संख्यासे न्यून या अधिक संख्याको छेकर भी हानिवृद्धियां सम्भावित हैं। रसके अंशोंमें जितनी अविभाग प्रतिष्छेदोंकी संख्याका न्यूनाधिकपना है उतना तारतम्य गन्धमें नहीं पाया जाता है । बान गुणमें जितना जक्य अंशोंकी बृद्धिस्वरूप अविभाग प्रतिन्छेदोंका हानिबृद्धि भाव है उतना सुख या अस्तित्व गुणमें नहीं पाया जाता है। अन्तरंग कारण कपायोंके तीन, मन्द, हात, अहात परिणामोंकी अपेक्षा और बहिरंग कारण द्रव्य, क्षेत्र, काल, अधिकारी जीव, वीर्य, आदि परिस्थितीके अनुसार एक जातिके कर्मोंने फल्टान शक्तिके अंशोंकी विचित्रतायें मानली जाती हैं। जैसे कि लञ्चपर्यासक निगोदियासम्बन्धी सबसे छोटी श्रेणीक जधन्य ब्रानमें आकाश प्रदेशोंसे मी अनन्तानन्त गुणे इतने अनन्तानन्त अविभागप्रतिष्ठेद माने गये हैं। क्योंकि उसी छन्यपर्याप्तक निगोदियाके जनाके प्रथम समयमें होनेवाके जक्षन्यकानसे हितीयसमयमें कानकी वृद्धि उस बानके अनन्तवें भागरूप हैं। अतः परी संख्याओं में कथन करनेकी विवक्षा होनेपर उस इदिके अंशको यदि एक मानलिया तो पहिले समयका मुख्यान उससे अनन्तानन्तगुमा होता हुआ, अनन्तानन्त अविभाग प्रतिन्छेदेंकि धारने-मांका कहा जावगा और दूसरे समयके शामके एक अधिक अनन्तानन्त अविधाणप्रतिन्छेद माने

. 4

कारी है। इसी प्रकार सबसे छोटी बार्मोंकी फलदानशक्तिके अविमागप्रतिच्छेद भी अनन्त है। यचपि उतनी संस्था कभी कम नहीं होती है। फिर भी ऊपरकी श्रेणियोंने शाक्ति अंशोंकी एकि श्लामी बीहा है कि उसकी एक मान छेनेपर सबसे कम अनुभागशक्तिको धारनेवाले कमीमें रसशक्तिको अबि-कार्गप्रतिकेंद्र जनन्तानन्त ही गिने जा सकते हैं । सबसे न्यून जबन्य गुणोंको धारमेत्राले प्रदेशको प्रकृतको, उसके अनुभाग अंशोंको बुद्धिके द्वारा छेद करते करते उतने बार दुकडे कर डालो, जिससे कि पुन: छोटा विभाग न हो सके । वे अधिभाग प्रतिच्छेद जीकाशिसे अनन्तगुणी संख्यामें बैठेंगे । खतनी उतनी संख्याको भारनेवाले प्रदेशोंकी एकराशि कर ली जाय, इन सब परमाप्रभोंके समदायको विश्वा कहते हैं। इसके आगे अविसाग प्रतिच्छेदोंको बढाते हुये राशिको बनाकर उत्तरोत्तर कीणायें बना किमी चाहिथे । इस प्रकार कमहाद्वे और कम हानिसे युक्त हो रही बर्गण।पंक्तियोंका समुदाय स्पर्धक कहा जाता है। समगुणवाके परमाणुओं समदायको वर्गणा कहते हैं। और वर्गणाओं के समदायको क्षपर्वक कहते हैं । एक जीवके एक समयमें अनन्तरपर्वकोंका उदय हो जाता है । पिंडकी अपेक्षा जैसे एक स्पर्धिक भी कह सकते हैं। अर्थात-अनन्त अविभाग प्रतिच्छेशेंको धारनेवाले परमाण की कहे जाते हैं। अनन्तवर्गीकी एक वर्गणा होती है। अनन्तवर्गणाओंका एक स्पर्धक होता है। जीर अनन्तरपर्वक एक समयमें उदय आते हैं। किये हुये भोजनका भी प्रतिक्षण उदराग्निके द्वारा एक मीटा स्कन्च उदयमें आता रहता है। अष्टमी या चौदसकी उपनास करना केवल मुखहारसे क्व-सिंहारका त्याग करना मात्र है। अन्तरंगकी उदराप्तिके लिये तो भोज्य, पान, की सतत आवस्यकता कें। केर्न और नोकर्मीका सर्वदा एक समयप्रवद्ध बन्धको प्राप्त होता रहता है। और एक निषेक उटयमें प्राप्त होता रहता है। पुद्रलके कार्योंकी अनेक प्रकार जातियां हैं। मति ज्ञानावरण कार्यका क्षांबीपराम या उदय अथवा क्षय होता है । सदवस्थारूप उपराम होते हुवे भी इनका औपरामिक मान मही क्न सकता है। क्योंकि बारहमें गुणस्थानतक ज्ञानावरणकी देशधातिओंका उदय सर्वदा विवासन हैं भें जैसे कि नाकराक ट्रंसकर जीम छेनेपर भी पान, सुपारी, पाचनचूर्ण, स्वासोळ्वास छेनेक छिपे रिक्तंता [गुंजाहरा] बनी रहती है । अतः ज्ञानावरणके उदय, क्षयोपक्षम और क्षाय ये तील आध 🖥 । हा, मोहमीयके उपरामको मिळाकर चारों मात्र हो सकते हैं। शक्ति विशेषोंको धार रहे कार्य-क्किन्धींके स्पर्धक आत्मामें अनेक जातियांछे हैं । ऐसे पीइकिक फिन्होंको यहां ग्रकरणमें स्पर्धक मामा गया है।

चंत्रित्वसम्यम्भिण्यात्वयोगानां ज्ञानसम्यक्त्वक्षन्यिक्षंत्रभीकाकं गृवशुपादावं ।

मनको धारनेवाले संजीजीविक पाया जानेवाका संजित्यमान और तीसरे गुणस्थानमें पाया जानेवाला सम्यक्मिध्यात्वभाव तथा कायवाक्मनःकमेरूप योग इन तीन भावीका तो ज्ञान, सम्यक्त और लिखगोंमें अंतर्भाव हो जानेसे श्री उनास्वामी महाराजने सूत्रमें कण्डोक्त पृथक् महण नहीं किया है अर्थात् नोई-देवावरणकर्मके श्रोपशम्मी हुये संजीपनका मतिज्ञानमें अन्तर्भाव हो जाता है।

विकास करतीता के व्यक्ति या उपयोग कर मामस मितानस्वरूपमांव ही तो संबोधन है | 4 जोइन्दिय आंतरणांतको संस्कृतेक्षण सम्मा, सा जास सो दु सम्मी इरेचे केसिर अन्तोही ?' तथा जासकतर सर्वेद्याती सम्बन्धियोग्यात प्रकृतिके उदय होनेपर हुआ सन्यन्तियागालभाव तो सम्यन्त्व परिणामसे वार्तिकः हो जाता है। देखिये छतामान परा और दारुमानका करानावां मान इतना तो देशवादी प्रकृतिका दान केहा जाता है। देल दाक्के कान्त बहुमाग और अस्थिता, शैक्टमाग, ये सर्ववादी स्पर्देश हैं। निर्दे दारुतानों रे बने दुपे बहुमागके अनन्तर्वे माग प्रमाण न्यारी जातिको मिश्र प्रकारिके सर्विक व्यक्ती अपर्देक हैं । अतः वैशावाती सम्यक्त प्रकृतिक व्यति निकटनची होनेसे तज्जन्य सम्यक्तिय्यांक मानाम सम्पन्न भावमें अन्तर्भाव कारकेना समुचित है। गोमाठसार क्रमंकाण्यमें किया है। "देसोचिन हवे सम्में तत्तो दाव्ह अणंतिमे मिस्से, सेसा अणन्यामामा अडिसिकाफ्रहरा मिन्हे " इसी प्रकार-अल्बासके आसेप्रसमको निर्मित पाका आत्माके पुरुषार्थ हारा वीर्यमात्र उपजवा है। और मन बचान कायके अवलन्त्रके आत्माका सकम्प होना भी एक पुरुषार्थ है। बीर्थ और होरा आत्माकी दोनों शक्तियां हैं । इतना अक्य है कि सिद्ध अवस्थामें क्षायोपश्मिक बीर्यका नाश होता हुआ भी श्वापिक बीर्य बना रहता है, किन्तु सकस्थपना रूप योग चीदहंवें गुणस्थान और सिद्ध अवस्थामें सर्वथा नहीं है। योगस्वरूपभाव क्षायिक नहीं हो सकता है । क्रिसी अंशमें '' पुमालविवाइदेहोदयेण मणवयण कामजुत्तस्स, जीवस्स जाउ सत्ती कम्मागम कारण जोगो " इस गाथाक अनुसार माक्योगको भले ही औदियक कह दिया जाय । किन्त मोध अवस्थामें कोई सा भी योग नहीं रहता है। अतः उक्त अठारह मेदोंसे कथेचित मिन्न हो गये भी संद्वित, सम्यम्मिय्यात्व, योग, इन तीन भात्रोंका यथाक्रमसे श्रान, सम्यक्त, और रुव्धियोंमें अन्तर्भव कर छेता चाहिये. संक्षेपसे सूत्र रचना करनेवाले उमारवामी महाराजको इतने थोडे थोडे अन्तरसे न्यारे न्यारे भावोंकी गणना करना अमीष्ट नहीं है।

कृतः पुनः क्षयोपन्नमः कर्मणां सिद्ध इत्याइ ।

कोई शिष्य पूंछता है कि महाराज फिर यह बताओं कि कर्मीका क्षयोपशम होना भठा किस प्रमाणसे सिद्ध हो चुका है ! जिससे कि श्रापीपशमकों भारतेवाला भाव अठारह प्रकारका निर्णात किया जाय, ऐसी जिज्ञासा होनेपर औ श्रियालन्द आचार्य स्पष्ट उत्तर कहते हैं ।

श्रीणाश्रीणात्मनां पात्तिकर्मणामनसीयते । शुद्धाश्रद्धात्मतासिद्धिरन्यसानुप्रपतितः ॥ १ ॥

जैसे कि विशेष दंगसे जरुद्वारा प्रकादन करते हुये कोटों या मांगपतीकी महस्रकि श्रीण भीर क्षश्रीण हो जाती है, अभिक थो देनेसे तो मदशकि सर्वया नष्ट हो जाती है, या बहुमाग श्रीण हो जाती है, तथा अस्तर्य थी देनेसे सरशोध नह नहीं होती है, अपना स्वमान ही नष्ट होती है। हां, कुछ देश्सक हाने: शने: कोदों या भागको छनामें भीचकर घो देनसे उसकी अधिक उप्यताको अरपस करनेवाली मदजननशक्ति तो नष्ट होजाती है और मध्यम मद (गुलाबी नशा)को अपनावाली मदशक्ति नष्ट नहीं होती है। इसी प्रकार सर्वधाति स्पर्धकशक्तिरूपसे श्रीणस्वरूप और देखाति स्पर्धकशक्तिरूपसे श्रीणस्वरूप और देखाति स्पर्धकरूपसे अश्रीण आत्मक घातिकमीका शुद्धात्मकपना और अश्रुद्धात्मकपना सिद्ध हो । अपन्या पानी घाति कर्मोके श्रीण अश्रीण स्वरूप हुये किना शुद्धअशुद्ध आत्मकपनकी सिद्धी नहीं स्किमी ।भावार्थ-पेटमेंसे कुछ अजीर्ण दोषोंके नष्ट हो जानेपर और कुछ दोषोंका कार्य होते किना स्वरूपता, अस्वर्थात्मक मध्यमकोटिकी प्रसन्नता होती है। उसी प्रकार अन्तरंगञ्चल, किना अपने अपने अपने श्री कुछ श्रुद्धि और कुछ अश्रुद्धि अनुभूत होरही है। वह ज्ञापकिंग चाति किनोकी क्षयोपशम अवस्थाका अनुमान करा देता है।

स्वसंवेदनादेवात्मनः शृद्धाश्रद्धात्मतायाः सिद्धिरमितवंशा सती घातिकर्भणां शीणापशांत-स्वभावतां साथवित तदभावे तद्भुपपत्तेःः पयसि पंकस्य श्रीणापशांततामंतरेण शृद्धाश्रद्धात्म-ताञ्चपपत्तिवत् ।

स्वसम्बेदन प्रत्यक्षसे ही आत्माके ग्रुद्ध, अग्रुद्ध, आत्मकपनेकी बाधारहित सिद्धि होरही सन्ती चार घातिया कमाँके क्षीण स्वभाव और कुछ अक्षीणस्वभावपनको साध देती है। इसका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। क्योंकि इस कुछ अंशोंमें क्षीण और कुछ अंशोंमें उपशान्त होरहे तथा कतिपय कंशोंमें उदय प्राप्त होकर अक्षीण स्वभावसाहितपनके बिना उस ग्रुद्धाग्रुद्धात्मकपनेकी उपपत्ति नहीं हो सकती है, जैसे कि जळमें कविके क्षीण और उपशान्त तथा कुछ थुलेपन अवस्थाके बिना ग्रुद्धअग्रुद्ध आत्मकपन अर्थात्—बहुभाग स्वच्छता और अतीव मन्द गंदलेपनकी सिद्धि नहीं होपाती है। औषधि या शरीरप्रकृतिहारा चिकित्सा होनेपर यदि शेगका सीमा भाग अवशिष्ट रह जाय अथवा धोवते कोवते कक्षमें अत्यत्प मल या रंग शेष रहजाय इत्यादि अवस्थाओंमें भी प्रतिपक्षी पुद्धलोंका क्षयोपशम होना उदाहरण बनाया जासकता है।

ततो मत्यादिविज्ञानचतुष्टयमिह स्मृतं ।

शुद्धाशुद्धात्मकं छिंगं तदावरणकर्मणाम् ॥ २ ॥

श्वयोपशमसद्भावे मत्यज्ञानादि च त्रयं ।
दर्शनत्रितयं चापि निजावरणकर्मणा ॥ ३ ॥

रुष्यः पंच तादृश्यः स्वांतरायस्य कर्मणः ।

सम्यक्तं दृष्टिभोहस्य वृत्तं वृत्तसुहस्तथा ॥ २ ॥

संयमासंयमोऽपीति घातिश्वीणोपशांतता। सिद्धा तद्भवभावानां तथाभावं प्रसाधयेत्॥ ५ ॥

तिस कारणसे यहां मति, श्रुत, आदिक चारों विकान ञुद्दअञ्चद आत्मका स्वरूप होरहे लिंग माने गये पूर्व आम्नायसे चले आरहे हैं, उन मति आदिकको आवरण करनेवाले मतिक्वानावरण, श्रुतहानावरण अवधिहानावरण और मनःपर्ययहानावरण कर्मोके क्षयोपशमकी सत्ताको साधनेमें वह ग्रुदाश्चदात्मकपना झापक लिंग है । इसी प्रकार कुमतिज्ञान, कुश्चतक्कान और विभंगज्ञान ये तीन कुझानमात्र भी ख़ुद्ध अध्यक्ष आत्मक हो रहे संते उनके प्रतिपक्षी कर्मोंके क्षयोपरामको साध-नेमें श्रापक हेतु हैं । तथा चक्षुर्दर्शन, अचक्षुर्दर्शन और अवधिदर्शन ये शुद्ध, अशुद्ध, आत्मक तीन दर्शन भी अपने आवरण करनेवाले कर्मीके क्षयोपशमकी सत्ताको साधनेमें ज्ञापक लिंग है। इसी प्रकार वैसी शुद्ध अशुद्ध आत्मक दान, लाम, भोग, उपमोग, वीर्य, ये पांच लिख्यां भी अपनेमें अंत-रायको ढालनेवाले पांच अंतरायकमीके क्षमोपशमकी विद्यमानताको साधनेमें व्यास हेत हैं। तथा आत्मामें अनुभूत हो रहा तिस प्रकार शुद्ध, अशुद्ध आत्मक वेदक सम्यक्त परिणाम तो दर्शनमोहनी-यके क्षयोपरामका साधक लिंग है। तथा शुद्ध अशुद्ध आत्मक हो रहा कृत यानी क्षायोपरामिक चारित्र भी आत्मामें चारित्रमोहनीयके क्षयोपशमका श्वापक लिंग माना गया है। एवं संयमासंयमभाव भी अनुभूत हो रहा संता अपने बातक कर्मोंकी क्षीणवृत्ति और उपशान्त वृत्तिको आत्मामें साध देता है । चारित्रमोहनीय कर्मकी पद्मीस प्रकृतिओंमें अनन्तानुबन्धी चौकडी, अप्रत्याख्यानावरण चतुष्टय, और प्रत्याख्यानावरण कोध, मान, माया, लोभ, ये बारह प्रकृतियां सर्वधाती हैं । शेष प्रकृतियां देश-भाती है। यद्यपि संज्वलनमें भी कुछ पिण्ड ऐसे हैं, जिनका कि छठवें सातवें गुणस्थानमें उदय नहीं, है। किन्हीं मिथ्यात्वके सहभावियोंका तो पहिलेमें ही उदय है। अचारित्रके सहभावी कतिप्योंक चौथे गुणस्थानतक ही उदय है । इसी प्रकार कुछ प्रत्याख्यानावरण अप्रत्याख्यानावरण प्रकृतिओंका भी चौथे गुणस्थानमें उदय नहीं है । पहिलेमें ही है । फिर भी उन उन गुणोंका सम्पूर्ण रूपसे घात नहीं करनेकी अपेक्षा उनके सिरपर बुराई नहीं लादी गयी है । बुराईको झेलनेवाली वहां दूसरी प्रकृ-तियां राश्रुकी समान आपत्तिको छे रही हैं । उपशम श्रेणीमें उपशम चारित्र और क्षपक श्रेणीमें कायिक चारित्र है। यहां देशधातीके उदयकी आवश्यकता नहीं है। विवक्षा भी नहीं है। सम्यक्त गुणके लिये अनन्तानुबन्धी चतुष्टय, मिय्याल, सम्याङ्गिय्यात्व ये छह प्रकृतियां सर्वधाती हैं। और सम्यक्त प्रकृति देशचाति है, सम्यक्त गुण आत्माका अनुजीवी गुण है । और सम्यक्त प्रकृति पह-क्वी बनी हुई दर्शनमोहनीयका तीसरा मेद है। जो कि उपशम सन्यक्तरूप परिमाणों करके मिथ्याल क्रम्यके तीन दुकडे होकर चनकीमें पिसे इसे कोदोंकी सुसीके समान मन्दतम अनुमागको लिये हुये है। क्ष्मकल नामक सहका एकता होनेपर भी अर्थ त्यारा न्यारा समझना चाहिये। तथा संयमासंयम

मानके छिये प्रत्यात्मानावरण भी देशकाती कलिया क्या है। इस प्रकार अनुमान द्वारा उक्त कठारह भागोंक सम्पादक क्षयोपशमको साथ दिया है। उक्त हेतुओंमें अन्वयन्याप्ति पायी जाती है। जब बाती कर्मका वीणपना और उपशित्यना सिंद है। युक्त तो वह उसके क्षेत्रेयर होनेजिए भागोंका तिस प्रकार हो रहे क्योपशम भावको भन्ने प्रकार संयम रहित साथ ही देवेगा।

एवं व तिदीष्टादयभेदी निश्री पानः।

और इस प्रकार व्यासिको बनाकर सिद्ध कर दिये गये अनुमान द्वारा अठारह भेदोंको धारने-बाला क्षेत्र, उपराम, और उदयक्षा मिला हुआ मिश्रमान सिद्ध कर दिया गया है।

यः पुनरीदियको भाव एकविकातिभेदोशोहिष्टस्तस्य निर्देशार्थे वर्ष्टमिदं सुप्रम्

मिश्रभावके पश्चात् जो फिर इक्क्स भेदबाले औद्रयिकमावका नाम निर्देश किया था, उसका कथन करनेके लिये श्री उमास्त्रामी महाराजका यह द्वितीयाध्यायमें छठा सूत्र है। जो कि इस प्रकार है उसको सुनी—

गतिकषायिलिंगमिथ्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्ध-लेक्याश्चतुश्चतुरूच्येकैकेकेकषड्भेदाः ॥ ६ ॥

आत्माको नरक सम्बन्धी, तिर्यक्सम्बन्धी, आदि भावोंकी प्राप्ति करानेवाली आत्मीय परिणाम रूप गति औदियिकभाव है। चारित्रमोहके उदयसे कलुषताभाव होना कषाय है, वेदत्रयके उदयसे हुआ अभिलाषाविशेष लिंगभाव औदियिक है, तत्त्वार्थीका अश्रद्धानरूप परिणाम मिथ्यादर्शन है, ज्ञानावरणके उदयसे अन्धकारके सदश झानाभाव बना रहना अज्ञानमाव है। यहां नज्ञका अर्थ प्रसच्य है, इन्द्रिय संयम और प्राणिसंयमको नहीं पालना असंयतभाव है, सिद्ध अवस्था नहीं हो सकना असिद्धत्वभाव है, कषायमिश्रित आत्माके सकम्प परिणाम लेक्याभाव है, इनके यथात्रमसे चार, चार, तीन, एक, एक, एक, एक, एक, छह, भेद हैं। इस प्रकार औदायिक भावके इकईस भेद समझ लेने चाहिये।

चतुरादीनां कृतदृंद्दानां भेद्रशक्तेनान्यपदार्था कृतिः पूर्ववत् । वयाक्रममिति चातुर्वतते तेनैकमिर्संबंधः क्रियते—गतिश्रतुर्भेदा कथावश्रतुर्भेदो किंगं त्रिभेदं मिध्यादर्शनमेकभेद्रश्चन्त्रक तेनेवातर्भागतः, अक्षानमेकभेदं असंयतत्त्रमेकभेदं किंगे द्दास्यरत्याधातर्भानः सहस्रारि-त्वात् । मतिग्रद्यममधात्युवलक्षणमिति न कस्यचिद्रीद्धिक भेदस्यासंग्रहः ।

मति और समाम तथा लिंग और मिध्यावर्शन एवं अझम और असेयत तथा असिद्ध और केरपा इस प्रमार मति आदिकोका इतरेलर योगनामक इन्द्र समास कारकेमा काहिये तथा संस्थानाचक चार, बार, तीन, एक, एक, एक, एक, एक, छह, इने परीका पाईके इतस्तर द्वन्द्र कर प्रधान भेद सबके साथ अन्य परार्थिको प्रभात रखनेवाछी बहुबीहि समास मामकहति करने लेनी चाहिये, वेसे कि पहिलेके पूर्व सत्तोंमें इतरेतर समास करते हुये बहुबाहि समास विन्य गया है, बैसा ही यहां करखेना । पूर्व अक्रके समान सहां भी बच्चे प्रजांके ''मामकामर'' इस पहली करावृत्ति क्रेजाती है लिस कारण उदेश्य विशेष प्रतेका दोतों ओरसे सम्बन्ध कालिया जाता है कि गतिके बार मेद हैं, चार मेदकली क्याय है लिंग तीन भेदोंको भारता है, मिथ्यादर्शनका एक प्रकार है, यहां अदर्शनभाषको न्यारा नहीं कहा है, क्योंकि दर्शनावरणके उदय होनेपर हुये अन्धकल्प अदर्शनभावका उस मिथ्यादर्शनमें ही अन्तर्भाव होजाता है तथा अज्ञानका मेद एक ही है, असंयतपना एक मेदको लिये हुये है, असिद्धत्व एक प्रकारका है। लेक्याके छह भेद हैं, क्यापि कवाय माबसे सीलह कवाय और लिंगसे तीन बेद पकडे जासकते हैं। जतः हास्य आदिक छह मोकामयके उदयमे होनेवाले औदियिक मांग शेष बच जाते हैं। फिर भी 'सर्हचारीपना हीनेसे हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुन्सा, इन औदयिक मार्बोका अन्तर्माव छिंगमें करळेना सूत्रकारको विवसित है। अतः सक्ष्म कथनकप सुत्रमें विस्तार मही किया गवा है, ज्ञानावरण नार्म और अन्तर्राप नार्मिका अधिकाभाग होनेसे अक्कियोंका आतान मानमें ही अन्तर्भाव होजायरा जैसे कि " नाकेल्यो दिव स्वयत्ताम् " यहां काकपद समी दिवि उपचातक परापियोंका उपलक्षात है। कसी अकार जीवतिषांकी जातिकारिक अदयसे होनेवाडे वा अस. स्थावर उप्रेमोंक, मृत्यस्य: सत्त, असात, लीविकारत, असेर अधारिया कर्मोंनी महतियोंके उदयसे होनेवाले औदियक सार्वोका गरीत प्रसंगते उपकक्षक होजाता है। इस कारण जीवविपाकी बाती या अवादी किसी भी कर्मके उद्यारे होतेवाके औदाविक भेदना असंगत नहीं हुआ। इन ही इन्हेंस भेदोंमें सब ही औदविक भाषोंका अन्समीत हो जाता है।

श्वतः चुनगैतिनायादियार्गणाञ्चद्वः सिक्षाः पतीः श्रीपाणकवित्रतियायाणागौद्यिकत्वं सिध्यतीस्याइ ।

किसी विनीत शिष्यका प्रश्न है कि महाराजजी, किर यह बताओ कि आत्माओं में गतिनामकर्म चारित्रमीहर्नीय, पुनद आदिक कर्मीका उदय किस प्रमाणसे सिद्ध है! जिससे कि उन गति, कवाय, आदिक इसईस मार्चाका औरियकपना सिद्ध ही जाता है। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विचान्द स्वामी जीत्मगिरवसहित उत्तरको कहते हैं।

अन्यशासाबहेत्नां केषांतिहृद्यः स्थितः। कासुष्पनितिकातहद्विनामास्यम्स् ते ॥ १ ॥

जाराणि द्वार स्थामाविक मिरियामीको जन्म ग्रमार मिरियान करामके हेतुभूत हो रहे किर्हा जिनीयमा बदार्यका समय होता जान्यामें स्थामिकत है। (प्रतिक्षानाक) क्योंकि संसारी जात्साओंक के वही कार्यक्षणिरोक्की समिति हो वही है। स्थीक स्थाम दूसरे दूसरे स्थामाविक परियामोंका जन्मकाम बार्यकार किसी अधिवादित बहुर्यका उदय भी जार्यका अधाप हारा नियति हो वहा है। अतः सर्वनाम किस् शहके बाच्य हो रहे वे अन्यया भावके हेतु ही तो गतिनाम, कपाय वेदनीय, अकाषय वेदनीय, आदिक विशेष कर्म हैं।

स्वयमगतिस्वभावस्य पुंसो नरकादिगतिपरिणामविश्वेषः कालुज्यमन्यथामावादेषते तद्ददक्षायिकामिध्यादर्शनाज्ञानासंयतासिद्धलेश्यास्वभावस्य सतस्तस्य कषायादिपरिणाम-कालुज्यभाव एव तद्दितिरेव वात्मनोन्यथाभावहेत्नां केषांचिदुद्यं साध्यति, तद्भावे सर्वथा-सुप्ययमानत्वाद् परिदृष्टहेत्नां तत्र व्यभिचारात् । तथा सति येषाप्तद्याद्वयः परिणाम-विश्वेषाः कादाचित्कास्ते गतिनामादयः कर्ममकृतिभेदा इति परिशेषादवसीयते ।

जो परद्रव्यके बन्धसे विविक्त हो रही सिद्ध अवस्थाके परिणाम है, वे ही आत्माके स्वतः अनन्त काळतक ठहरनेवाळे स्वभाव माने जाते हैं। रोष अन्यथा स्वरूप हो रहे परिणाम तो विभाव अवस्था है। आत्मा स्वयं अपने डीलसे तो जाना आना स्वास, उच्छ्रासके साथ घटना बढना, देव पर्यायमें जाना, इत्यादिक गमन परिणामोंसे रीता है। उसको कोई लढनेकी, मोठे होनेकी, यहां वहां जानेकी आकुछता नहीं है। तो भी स्वयं अगमन स्वभाववाछे हो रहे आत्माके नरकगतिमें गमन, तिर्येच आदि गतियोंमें गमन ऐसे विशेष परिणमन स्वरूप कल्लषतायें हुई स्वभावोंका अन्ययाभाव हो जानेसे स्वसंविदित हो रही हैं। उसीके समान स्वभावतः कषायरहित स्वभाववाले चारित्र स्वरूप आत्माके कषायरूप कलुषतायें अनुभूत हो रहीं हैं। तथा निश्चयनयसे मिथ्यादर्शन रहित श्रद्ध सम्यग्दर्शनस्त्रभाववाले आत्माके मिध्यात्वभाव वेदा जा रहा है। और अन्नानरहित न्नान स्वभाववाले आत्माके किसी पराधीनतावश अन्यप्रकारसे होरही अञ्चानरूप कळूवता प्रतीत की जारही है तथा असंयतपना स्वभावसे खाली संयमीस्वरूप आत्माके परतंत्र होकर असंयत परिणाम रूप कल्प्यताकी वित्ती होरही है। इसी प्रकार असिद्ध अवस्थासे रहित सिद्धस्वभाववाले आत्माके असिद्धत, रूप कलुषताका सद्भाव है। द्रव्यार्थिक दृष्टिसे लेश्यारहित शुद्ध अलेश्य स्त्रभाववाले आत्माके संसार अवस्थामें कषायसंयुक्त योगप्रवृत्तिरूप कल्लुषता परिणाम होरहे हैं। वे कल्लुषताभाव ही आत्माके स्वभाव अवस्थासे अन्ययाभाव हो जानेकी अवस्थाके कारण होरहे किन्हीं परद्रव्यरूप हेतुओंके उदयको साध देते हैं अथवा उन गति, कषाय, आदि अन्यथामृत अस्वाभाविक परिणामोंका संवेतन होना ही आत्माके अन्यथा परिणामोंको करानेवाले किन्हीं हेतुओंके उदयको साव देता है। क्योंकि परतंत्र करनेवाळे उन हेतुओं के न होनेपर शुद्ध आत्माके समी प्रकारसे गति, क्षाय आदि परिणामोंकी उपपात्ति नहीं हो पाती है। अदृष्ट कर्मीके सिवाय किन्हीं दूसरे परिष्ट पदार्थीको यदि आत्माके उन गति, कषाय आदि भाव करानेमें कारण माना जायगा तो व्यभिचार दोष आता है। अर्थात्-गति आदिक भावोंका सूक्ष्म कमीको कारण माननेमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों बनजाते हैं। किन्तु अन्य उत्साह, शरीर, इच्छायें, इष्टपदार्थ, बी, पुरुष, कुदेव, कुगुरु आदिक इष्टपदार्थीको ही जन

भावींका कारण माननेपर तो अन्वयन्यभिचार और स्मृतिकेक न्यूमिचार दोष आते हैं। उत्साह, रच्छा होनेपर मी अपनी राजीसे कोई देवगति या मनुष्यगतिको प्राप्त नहीं हो जाता है। कोई वीतरागमुनि इच्छा न होनेपर भी बाजकल देवगतिको प्रयुद्ध हो बाते हैं। कीई प्रवृक्त हार्यक्षी बहुद्धिको धारनेवाला मोटा होना चाहता है। किन्तु ध्यूलकान कर्त है पान कि कि के कि कारण शारिताला अतिस्थूल मनुष्य न चाहने पर भी ठईका गड़ा बना जारहा है। कमायक परिद्रष्ट कारण गाली, कुकचन, अनिष्ट पदार्थकी प्राप्ति, होनेषर भी क्षेमानान्। सत्तीषी सांधु पुरुषके कषाय कलुकताये सही उपजती हैं । साधारें किसी अकारण कोशी पुरुषो गाड़ी, अपयान आहि बहुए न सिक्ने पर भी कोच ईर्घा. गर्व ये निमान परिणाम उपन जाते हैं। इसी, को कं, भय, ग्लानिक बहिरंग कारण, न मिलनेपर भी बहुतसे जीव का साउँसे फंसे हुने हैं। और अलेक राम्बीर, आवश्यानी, सजब इनके कारण पिल-तेपर भी उक्त विपतियोंने बचे हुये हैं । एकान्तमें कीयुहण या श्वेगाव रस वर्धकः कार्योंके होनेपर भी अनेक जीव अपने ब्रह्मचर्थकी रहा करहेते हैं। तथा व्यक्ती जीव कारणोंके विका ही संकला, निकल्प, करते हुये ही मैशून परिणामोंको करहेते हैं । सम्पादर्शनके बहिरंग कारण जट जानेपर सी ब्रन्यिंगी मुनि मिय्याल परिणामोंको बनाबे एखता है। साथमें श्री समन्त्रमुक्तस्वासी या अक्तरंक देव प्रसृति पावन पुरुष अनायतनोमें भी अपने सुरुप्तदर्शनको परिप्रशः बनाये रखते हैं। इसी प्रकार सर्दे-यमी, असिद्ध, छेश्या, परिणामोंका भी बहिरंग हेतुओंके साध कार्यकारणमात्र माननेमें अन्वय नायी-चार या व्यतिरेक व्यभिचार आता है । हां अनुतरंग सूक्ष्म गतिनाम, मुविज्ञानाकरण मिथ्याल, हास्य, आदि, कर्मोको इनका कारण मानना निर्देश है। अतः तैसा होनेपर जिन पराधीनता सन्पादक प्रदा-थोंके उदयसे आत्मामें कभी कभी क्षेत्रमाने निर्मात क्षेत्रमान अद्भिष्ट परिणाम विशेष हिंदी है, वे गति-नाम, चारित्रमोहनीय, पुनेद, आदिक कर्म प्रकृतियोंके विशेष भेद हो यह कर्पटन्य हैं। यह "परिशेष" न्यायसे निर्णय कर लिया जाता है। अर्थात् जो कार्य कभी कभी होता है, वह आलाइव्यका स्वमाव तो है नहीं । हा परहच्यके सम्बन्धि होनेवाल विमाद परिणाम है। मेरे कि तीव काम व्यक्ता का हो रहा भोतिय बाद्यण अपने कुमानका अतिकस्था कर नेक्ष्यागृह प्रति ग्रमन करता है। अथवा मशीकरण मंत्र या चूर्णकी परामीनताले नोई कुळकामिनी परप्रवाकी वाकामिनी हो जाती है। इसी अकर तिकाय नयसे शहरानोंको हार एक भी आत्मा किनकी प्राचीनतारो है क कारण अपन इ.स्वरुप हो वही क्याय, अवात, अताक पहिल, आदि असुराओंको आसुदाद करलेता है, वे ही जैनारिसांतमें पौद्रकिककर्र हैं। उनका उदय अनेपर जीव स्वभावोंको कोदकर विभाव परिप्रावि-मोंको प्राप्त कर केला है। जैसे कि उस क्षेणपहिल भी कीनित आहिर कर्ती कमी स्थल, तीच, कह, रोषोका प्रकोप होतेपा असी या कारी हो जाता है। इस प्रकार असिनासकी हेत्रसे अनुसान दारा क्लीका उदम साथ दिया जाता है। असा माल्या लिश्य का जनकेपा बचे इसे का बान कराने-कामा परिकेश न्याम है। '' प्रस्तक प्रतिशेषे शिल्पमाण संबन्धरपेद्धः प्रविशेषः ''।

गतिनामोदयादेव गतिरोदयिकी मता। तिहिसेपोदयात्सेव चतुर्था तु विशिष्यते॥ २॥ तयोपलक्षिताघातिकमोदयनिवंधनं। सुखाद्यौदयिकं सर्वमेतेनेवोपवर्णितम्॥ ३॥

मामकर्म का बिशेष भेद हो रहे गतिनाम कमके उदयसे ही आत्माकी हो रही गतिनामक मिरिणित औदियकभाव मानी गयी है। उस गतिनाम पिण्डप्रकृतिक भेद विशेष हो रहे नरकगति, विश्वेगिति, मनुष्यगति, और देवगति इन चार कमोंके उदयसे तो वही आत्माका गतिपरिणाम चार फ्रक्तारोंसे भेदयुक्त कर दिया जाता है। श्री उमास्वामी महाराजने अघातियों प्रधान हो रहे नामकर्म और उसमें भी प्रधान हो रहे गतिकर्मका कण्ठोक्त निरूपण करिया है। शेष रहे संपूर्ण अघातिया कर्मोंका उस गतिसे ही उपलक्षण कर दिया जाता है। अतः उस गतिसे उपलक्षित हो रहे जाति आदिक और वेदनीय, आयुः, गोत्र, कर्मोंके उदयको कारण मानकर इये आत्माके सुख, मनुष्य बारीरमें दुसा रहना, उच्च आचरण, नीच आचरण आदिक भाव भी औदियिक है। यह सब इस उक्त क्यनसे ही निरूपण करिया गया समझलेना चाहिये।

तथा कोधादिभेदस्य कषायस्योदयान्तृणाम् । चतुर्भेदः कषायः स्यादन्यथाभावसाधनः ॥ ४ ॥ लिंगं वेदोदयात्त्रेधा द्दास्याद्युदयतोपि च । द्दास्यादिस्तेन जीवस्य मुनिना प्रतिवर्णितः ॥ ५ ॥

तिसी प्रकार कोध, मान आदिको धारनेवाले पुद्रल निर्मित कषायवेदनीय नामक चारित्र मोहनायके उदयसे जीवोंके कोध, मान, माया, लोम, चार मेदोंको धारनेवाले कषायभाव होते हैं। अध्या अनन्तरंसारके कारण मिध्यात्वका अनुबन्ध करनेवाले या स्वरूपाचरणको बिगाइनेवाले परिणाम और देशचारित्रको रोकनेवाले तथा सकलचारित्रका घात करनेवाले एवं यथाएयात चारित्रको कसनेवाले ये चार प्रकार विभावमाय जीवोंके हो जाते हैं। स्वाभाविक परिणामोंसे हटाकर आत्माकी अन्यथामाव विराणिति ही कषायभावका झापक हेतु है। पुंवेद, कविद, नपुंसकवेद इन तीनों वेदोंके उदयसे आत्मामें तीन प्रकारका लिंगपरिणाम होता है, जिससे कीरमण, पुरुषरमण, या उभयरमणके कलुषतारूप परिणाम होते रहते हैं। तथा हास्य, रति, आदि कर्मोके उदयसे भी हंसना था देश, उपवन, गायन, उत्यक्ल, आदिके लिये उत्सक रहना, अथवा इनमें अनुस्सक रहना, शोकमें रहना, इरना, इरना,

करना इन विमावपरिणामोंका अनुभव होता है। श्री उमास्त्रामी मुनिमहाराजने जीवके हास्यादिभाव मी उपाटकाणवाके उस किंग करके ही प्रतिष्ठित कर कह दिये हैं।

हिमोहोदयात्षुंसी मिथ्यादर्शनमिष्यते । हगावरणसामान्योदयाचादर्शनं तथा ॥ ६ ॥ सासादनं च सम्यक्तं यदनंतानुवंधिनः । कषायस्योदयाजातं तद्य्येतेन वर्णितम् ॥ ७ ॥ सम्यग्मिथ्यात्वमेकेषां तत्कर्मोदयजन्मकं । मतमोदयिकं केश्रित्क्षायोपशमिकं स्मृतम् ॥ ८ ॥

इनके आंगेका सूत्रोक्तमान मिध्यादर्शन है, जो कि दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे जीवके ही रहा माना जाता है। तिसी प्रकार मिध्यादर्शनमें अदर्शनमानका अवरोध हो जाता है। निहानिद्या आदिक विभावपरिणामोंका भी उस मिध्यादर्शनमें ही अन्तर्मान कर छेना चाहिये। नौ प्रकारके दर्शनावरण कर्मका सामान्य उदय हो जानेसे तिस प्रकार अदर्शनभान हो जाता है। जो कि मिध्या दर्शन शहसे उपलक्षित कर दिया जाता है। और दूसरे गुणस्थानमें जो चारित्रमोहनीयके उदयसे हुआ सासादनसम्यक्तकए विभावपरिणाम भी अनन्तानुकन्धी काषायके उदयसे उत्पन्न हो रहा सन्ता औदियिकमान है। वह भी इस मिध्यादर्शन करके ही वर्णना युक्त कर दिया गया है। अर्थात्—मिध्यादर्शनको उपलक्षण मान कर उसके मित्र सासादन सम्यक्तका भी औदियक भावोंमें संग्रह कर छेना चाहिये। एक प्रसिद्ध आचार्यके मतमें जो मिश्रमोहनीय कर्मके उदयसे हुआ सम्यग्निध्यात्वभान है। वह इमारी सम्यिक्मध्यात्व नाम कर्मके उदयसे जन्म छेता हुआ औदियक माना गया है। यह हमारी सम्यिक्मध्यात्व नाम कर्मके उदयसे जन्म छेता हुआ औदियक माना गया है। यह हमारी सम्यिक्मध्यात्व नाम कर्मके उदयसे जन्म छेता हुआ औदियक माना गया है। उनकी गुरु परिक्तियों वैसा ही सर्वक्षधारा अनुसार स्मरण किया गया चला आ रहा है। उसको हम पहिछे पांचवें सूतके निवरणमें क्षायोपशमिक सम्यक्त द्वारा संग्रह कर चुके हैं। अपेक्षासे सम्यक्तिस्थात्व भावको क्षायो प्रश्निक साथोपक दोनों प्रकार मानना हमको अभीष्ट है। दोनोंकी युक्तियां भी कही जा चुकी है।

ज्ञानावरणसामान्यस्योदयादुपवर्णितं । जीवस्याज्ञानसामान्यमन्ययानुपपत्तितः ॥ ९ ॥ दृत्तमोद्दोदयात्पुंसोऽसंयतत्वं प्रचक्ष्यते । कर्ममात्रोदयादेवासिद्धत्वं प्रणिगम्यते ॥ १० ॥

क्यायीदयता योगप्रवृत्तिरुपदक्षिता । लेखा जीवस्य कृष्णप्रदिः वद्येदा भावकोन्धेः ॥ ११ ॥

सामान्य रूपसे शानावरण कर्नका उदय हो जानेसे प्रदार्पीका अनक्बोध होना जीवके अञ्चानरूप सामान्यमात्र कहा गया है। अन्यथा बानी ज्ञानावरणका उदय हुये विना सर्वधाति रपद्रकार्क उदयजन्य होनेवाले अहानमायकी असिद्धि है। शैक्षिय अधिक मोसिकाबानावरणके सर्वधारी स्पद्धकोंका उदय हो जानेसे गन्धविषयकः अहानभाव है । अधिकारको प्रभूष्योंके मनः वर्षय ज्ञानावर्णका उदय हो जानेसे मनःपर्यय ज्ञान न होना रूप अङ्गानभाव है। बारहवें गुणस्थानतक केक्छज्ञान नहीं होना रूप अञ्चान-मान है तथा चारित्रमोहनीयसम्बन्धी संवैधातिस्पेद्रक प्रकृतियोंकै उदयसे आत्मकि असंपर्ममाव होता 🖁 । पहिलेसे प्रारंभ कर स्वीचे गुणेस्प्रामेलक इंडियासबँभ और प्राणासंयमरूप औदपिकमान हो रहा अके अबार कहा जाता है तथा अभेदकी विवक्षा 'सभी एकसी बाईस प्रकृतियोंका और भेदकी विवक्षा समूर्ण कर्ममात्र एकसी अडताब्येसों प्रकृतियोंका उदय हो जानेसे ही असिद्धपनाभाव प्रकृष्ट रूपसे नियत हो रहा हुआ कहा जाता है । एकसी अडतालीस प्रकृतिओं में से किसी भी एकका बाद उदय होगा तबतक आसिद्धपना ही है। कुषायोंके उदयसे विशेषित हो रही योगोंकी प्रवृत्ति तो जीवका क्रियाभाव समझाई गयी है । अर्थात् जैसे रामके आवेशसे हंसीसहित अशिष्ट वचन बोळना यदि दुषित शरीरचेथासे. युक्त हो जाय उतने समुदितभावको कौत्कृष्य कहते हैं। उसी प्रकार आत्माके कुमायभावोंसे रंगा हुआ आत्मप्रदेश परिस्पन्दकर परिणाम तो औदयिक होता हुआ भावछेल्या है । स्थूछ रूपसे क्षुधा आदि अठाएह और स्थमरूपसे अनन्त दोषों करके रीते हो रहे निर्दोष सर्वह देवने छैक्याके आव अपेक्षा कृष्ण, नीख, कापोत, पीत, पग्न, श्रुक्र, इस प्रकार छह भेद बतलाये हैं, भावकेरया आत्माका औदियक परिणाम है। आत्माके भावोंका निरूपण करते समय वर्णनाम कर्मके उदयसे हुये शरीरके ऊपरी रंगान्यरूप उच्यछेश्याका यहां कोई प्रकरण नहीं है। यहांतक गति आदिक क्राईस औद्यिक भावीका वितरण करदिया गया है।

अय पारिणामिकभदमतिपादनार्थ सप्तममिदं सूत्रमाह ।

अब औदर्यिक भावाँके अनन्तर अति पारिणाभिक भावाँके भेदोंकी प्रतिपत्तिको करानेके छिय श्री उमास्त्रामी महाराज दितीयाच्यायमें सात्वें सूर्विका कण्ठोक्त निसंपण करते हैं।

जीवभव्यामव्यत्वानि च ॥ ७ ॥

जीवत्व, मञ्चत्व और अमञ्चत्व य तीन जीवके असावारण हो रहे पारिणामिकमान हैं। च सहके हारा अस्तित्व आदि सीभारण मोर्थाकी संग्रह मी कर सकते हो । जीव और मञ्च तथा अमन्य सी प्रकार सोरितर एन समास कर पुनः बाब अधीन लोक्सरम्बन्धा के प्रति हुन जीवल, क्रियाल, क्रमध्याल, यह अधि निवांड आता है।

पौरिणाविकस्य वातस्य भयोऽसाधारणा भेदा इत्यभिसंवधः। च श्रहसद्वितास्तु साधारणाः असाधारणाव्यस्तित्वान्यत्वकर्तृत्वभीक्षृत्वपर्याच्यक्तासर्वगतत्वामादिसंतिर्वधम-बद्धत्वभिदशक्तास्वत्वमित्यत्वादयः।

पूर्व सुत्रसे भेदराह्नकी अनुकृति कर परिणाकक्ष प्रयोजनकी धारनेवाले पारिणामिकमावके असाधारण मेद तीन है। इस प्रकार दोनों उदेन्य, विभेय, दहीका अन्वय कर दोनों औरसे सम्बन्ध हीना बन जाता है। हां, समुखय अर्थकी कहनेवांछे सुत्रोक्त च शहरी तो अन्य दर्ज्योंने पाये जाय बीर जीव द्रव्यमें भी पाये जांग ऐसे साधारण तथा कतिपय असाधारण हो रहे इन अस्तित आदि मार्षीका संग्रह कर छिया जाता है । वे मात्र अस्तित्व, अन्यत्व, कर्त्तृत्व, भोकतृत्व, पर्यापवत्व, असर्व-गतत्व, अनादिसंततिकथनषञ्चत्व, प्रदेशत्रत्व, अरूपत्व, नित्यत्व, अर्जगतित्व, द्रध्यत्व, आकर्षेकत्व, आदि हैं। अर्थात्—वस्तुकी तीनों कालतक स्थिर रखनेबाला अस्तित गुण छहों द्रव्योंमें पाया जाता है। अतः जीवका साधारण भाव है। सम्पूर्ण द्रव्योंको परस्पर भिन्न करनेवाला अन्यत्वमाय भी साधा-रण है, जो कि कमेंकि उदय, उपराम, क्षय, क्षयोपशमकी, अपेक्षा नहीं रखता हुआ पारिमामिक है । कत्तिपन मी सावारण माय है । " नेघो वर्षति, आकाशमबगाहते, धर्मद्रव्य गमयति, कालो वर्त-वति " आदि कियाओंको उपजावनेमें संपूर्ण ब्रव्योंको स्वाधिकार अनुसार स्वतंत्रता प्राप्त है। " स्वतंत्रः कर्ता " यह कर्ताका सिद्धांत एक्षण है । स्वकीय वीर्यकी प्रकर्णतासे परद्रव्यकी शिक्ति वाँके प्रहण करनेकी सामर्थ्य ही भोकापन है, यह भोक्तृत्व भी अन्य द्रव्योंमें पाया जाता है। अतः साधारण भाव है। वर्षपि स्थूल्ट्रिसे करांचिन और भोतापन अकेले जीवका ही परिणाम प्रसीत हो रहा है। फिर भी सुक्षाविचार करनेपर वह साधारण भाव समझा जाता है। गृहस्य सम्बन्धी अनेक कार्यीक कर्ता और भोका अपुरुष दोनों ही है, क्य और वन्धका फल दोनोंके गुणींका खुत ही जाना तथा। मोक्ष इनके कर्ती और मोत्ता जीव पुद्रल दीनों हैं । बुमुसित पारंट सुवर्णका मक्षण कर रासका भोरत वन जाता है । सामरकी बीरू काठ, वर्षरा, बड़ी, खादिको खा वाली है । अपने बीर्य प्रकरित उनका स्वण कर देती है। उदरकी अप्ति, अन, जल, दुग्न, आदिका और मुल्हेकी अप्ति लकडीका भीग करते हैं : बेरान्य न होंगसे पुत्रककी भीगी न कहा जाय, इसमें स्वार्थी जीवका पक्षापातपूर्वक स्तर्वशेसा करना ही आरण है। ओका पुरुषके समान की भी पुरुषकी भोनती हीती है। जो क्वेंची कींद्रा करा रहा है, वह स्वयं भी उसके साथ खेल रहा है। जतः सूत्मदृष्टिको विचारमेवाले पद्मितारहित पुरुष मोकृत्स्वको साधारणयात स्थाकार करते हैं। यह जीवके भोग, उपभाग, मानीस न्यारा उदयादि की नहीं अपेक्षा रखता हुआ पारिणामिकभाव है। तथा पर्यापसहितपमा भी पारिणामिक है। सभी प्राप्त अपनी आपनी नियत्त्रपत्नियोंको धारते हैं। इस पार्थको करनेमें उनकी किसी जर्मक

उदयादिककी अपेक्षा तहीं है। असर्कातपना भी आकाशको छोडकर सम्पूर्ण द्रव्योंमें पाया जानेवाल मान है। आकाश संबंगत है, इसका अर्थ मध्यम अनन्तानन्त इस बीसनी नियत संख्याबाछे प्रदेशोंको भारना मात्र है । सर्व शहरो अस्तित्वभाववाछे जगत् स्थित अनन्तानन्त नियत पदार्थ पकडे जाते हैं, अकोनाकाराकी चौकीर प्रदेशमित्तिके बाहर फिर कोई भी छहऊ ओर पदार्थ नहीं है.। अनन्तानन्त आकाशोंको जाननेकी शक्ति रखनेवाला केवलज्ञान पुनः आकाशके बाहर किसी पदार्थको वहीं जान रहा है। वहां कोई पदार्थ सम्भव होता तो उसको विषय कर छेता। सरल बुद्धिवाले शिष्योंकी समझानेके छिये सर्वगतकी अपेक्षा आकाशको अनन्तगत कह देना व्युत्पत्ति सम्पादक है। वैरोषिक या पौराणिकोंके यहां ईश्वर सर्वशक्तिमान् माना गया है। सर्वशक्तिका " कर्चुमकर्त्तुमन्यधाकर्त्तुम् " समर्थ है ऐसा मानते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि ईश्वर चाहे तो मछलीसे मनुष्य पैदा हो जाता है, देशी और पुरुष या देव और मनुष्यिणी या तियीचिनीके सम्बन्धसे भी अपत्य उत्पन्न हो जाता है। मुसल्यानोंका खुदा तो जडको चेतन बना सकता है। चाहें जब आत्मायें बना छेता है, और चेतन इच्योंको नास्तित्व (नेस्तनाबूद) कर देता है। असत्का उत्पाद सत् इन्यका तिनाश होना इष्ट कर लिया है, इत्रादि असम्भव कार्योका सम्पादन कर देना भी सर्वशक्तिका अर्थ कर लिया है। किन्तु जैनसिद्धान्त अनुसार असम्भव कार्य किसीके द्वारा भी हुये नहीं माने गये हैं । जैनसिद्धान्तमें सर्वज्ञको या सिद्धजीवोंको अनन्त शक्तिमान् स्वीकार किया है, सर्वशक्तिमान् नहीं । अतः सर्वशक्तिमान्के समान सर्वगत आकाशके सर्वशद्धका दुरुपयोग नहीं करना चाहिये । यदि कोई दुरुपयोग करना चाहे तो सर्वगतत्वाभावको आकाशका भी परिणाम हम माननेको उचुक्त हैं। कर्मके उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम इन निमित्तोंकी अपेक्षा नहीं होनेसे असर्वगतत्त्वभाव परिणामिक है। तथा अनादि संतातिबन्धनबद्धस्व माव भी साधारण पारिणामिक भाव है। क्योंकि एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाश, असंख्याते काळह्व्य, अनन्तानन्त जीवहव्य और इनसे अनन्तान्त गुणे पुद्रलद्रव्य ये नियत हो रहे सम्पूर्णद्रव्य अपनी अपनी अनादि अनन्त पर्यायोंके सन्तानस्वरूप बन्धनमें बंध रहे हैं । क्योंकि जीव पुत्रबद्दन्योंकी गति करनेमें उदासीन हेतुपन या सम्पूर्ण द्रन्योंमें उदासीन स्थापकत्व अथवा सम्पूर्ण द्रव्योंको अवकाश देना तथा वर्तना कराना एवं स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण चैतन्य, सुख आदि इन सहभावी, क्रमभावी, पर्यायोंकी सन्तान अपने अपने इव्यमें तदात्मक हो रही बांधी जानुकी है, शुद्ध इन्यमें भी यह परिणाम पाया जाता है, अतः कर्मीके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं होनेसे अनादि-बन्धनबद्धत्य नामका पारिणामिक भाव है । प्रदेशकत्व परिणाम भी सम्पूर्ण द्रव्योंका साधारण भाव है। सभी व्रव्य किसी न किसी चौकोर, गृष्टीतशरीर आकार, छोकिन्यास, पंडशचौकीर, बरफीसमाब आदिसे स्थानोंको धार रहे व्यंजन पर्यात्रयाले हैं । वे उचितसंख्यात, असंख्यात या अनन्त प्रदेशोंको घरकर बैठे हुये हैं। रूप, रस, आदि गुणोंके न होनेसे गुद्ध जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, कालमें पाया

जनिवाल अरूपाव धर्म मी कर्मके उदय आदिकी अपेक्षा नहीं रखनेके कारण पारिणामिक भाव है। यश्रपि पुद्रेल द्रव्योंने कथमपि अरूपत्रभाव नहीं हैं। फिर भी अन्य चार द्रव्योंने भी पाया जाना होनेसे अरूपत्वमात्र जीवका साधारण परिणाम ही गिना जायगा, तथा नित्यद्रव्य अर्थको प्रहण करनेकी अपेक्षा संपूर्ण द्रव्योंमें उत्पाद, व्यय, न होनेसे कर्मके उदयादिक की अपेक्षा न रखनेवाला नित्यपना भी पारिणामिक भाव है। एवं बहुतसी परमाणुर्य छोकपर्यन्त उपरको जानेकी देव रखती हैं। अपि उपरको जाती है। जलमें ड्रबोई हुई त्वी ऊपरको उछलती है। अतः कुछ पुद्रलोंमें भी प्राप्त हुआ होनेसे उर्घगतिपन स्वभाव भी जीवका साधारण भाव है। सभी द्रव्ये भविष्यकालमें होनेवाली पर्यायोंकी ओर बह रहीं है। अतः द्रव्यपना भी जीवका साधारण भाव है। चुम्बक, मीरपंख, अयोगोलक, अनुकुल गायन, मनोद्यारी रूप, खानि, आदि पुद्रलोंमें भी वर्तरहा होनेसे आकर्षकत्व भाव भी योगी जीवका साधारण परिणाम है, इत्यादि और भी पारिणामिकमाव समझ छेने चाहिये। इन साधारण मानोंमें कुछ तो षट्स्थानपतित हानि इद्दिको प्राप्त हो रहे अनुजीवी गुण हैं। जैसे कि अस्तित्व और अगुरुलघु दूसरे नामको धारनेत्राका अन्यत्व है । द्रव्यत्व, प्रदेशवत्व, भी अनुजीवी गुण हैं। तथा कर्तृत्व, आकर्षकत्व भोक्तृत्व ये पर्यायशक्तिरूप मात्र हैं। पर्यायवस्व, असर्वगतत्व, अनादि संततिबन्धनबद्धत्व, अरूपत्व, ये द्रव्योंके स्वभाव हैं। द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा नित्यत्व और पर्या-यार्थिक नयकी अपेक्षा अनित्यत्व अथवा स्वचतुष्टयकी अपेक्षा अस्तित्व और परचतुष्टयकी अपेक्षा नास्तित्व इत्यादिक मात्र तो वस्तुकी भित्तिपर सप्तभंगींके विषय हो रहे कल्पनाकान्त परिणाम हैं। विद-जन इसको और विराद रूपसे समझ सकते हैं। अथवा इन अस्तित्व आदि भावोंमें दो कर्तृत्व, भोक्तु-त्यको जीवका ही असावारण भाव समझो । असर्वगतत्वको आकाशर्भिक पांच द्रव्योंका परिणास समझ लो । अरूपत्वको पुद्रलरिहत पांच दर्जोका परिणाम मानो । अस्तित्व, अन्यत्व, पर्यायवत्त्व, प्रदेशवत्वको सभी छः ज द्रव्योंका स्वभाव गिन छो । अनादिबन्धनबद्धत्वको जीव पुद्रछ दो द्रव्योंका भाव विचार छो । तभी तो श्री विद्यानंद आचार्यने च राद्वकरके साधारण और असाधारण दोनों जातिके भावोंका समुद्यय किया कहा है । कभी साधारणका अर्थ छ:ऊ द्रव्योंमें ठहरना विवक्षित है । ऐसी दशामें जो भाव छः औमें नहीं ठहरता हुआ दो, तीन, चार, पांच, द्रव्योंमें ही पाया जायगा वह असाधारण भाना जायगा और कहीं जीवसहित दो तीन चार, या पांच क्रन्योंमें वर्त रहा भाव भी साधारण इआ विवक्षाप्राप्त है।

तक्वीदिग्रहणमत्र न्याय्यमिति वैश्व, त्रिविश्वपारिणायिकभावमतिज्ञाहाानेगसंगात् । सप्धश्च यार्थेपि व शक्के सति तुल्यो दोष इति वेश्व, प्रधानापेक्षत्वात्त्रित्वप्रतिज्ञायाः । सप्धश्चियमानास्तु विश्वकेनामघानभूता प्रचारितत्वादय इति न दोषः ।

जब कि च राह्न करके अस्तित्व, अन्यत्व आदिक पारिणामिक मावोंका समुच्चय किया जाता है, तब तो इस सूत्रमें " जीवमच्यामञ्चलादीनि " इस प्रकार आदि राह्नका प्रदण करना न्यायमार्गसे अत्तपेत (समुचित) है। आज्वार्य कहते हैं कि इस प्रकार तो रांका नहीं कान्य। क्योंकि "दिक्काना" इत्यादि सूत्र करके गिनाये गये तीन प्रकारके पारिणामिक भावक प्रतिहा करनेकी हानिका प्रसंप आता है। अतः सूत्रमें आदि शहको नहीं डाककर तीन प्रकार पारिणामिक भावोंको गिना दिया है। पुनः शंकाकार कहता है कि सूत्रमें समुच्चय अर्थको कहनेयाले च राष्ट्रका प्रह्मप करते सन्ते भी तो यही दोष समानक्रमसे लागू होता है। अर्थात्—न शह करके अस्तित्व आदि पारिणामिक भाव पकड़े जायेंगे तो भी तीन प्रकारके पारिणामिक भावोंकी प्रतिहा करनेकी हानि होय ही जावेगी, अतः प्रतिहामंग दोष तदवस्थ रहा। इसपर प्रन्थकार कहते हैं कि यह कटाक्ष तो नहीं कर सकते हो। क्योंकि पारिणामिक भावोंके तीन संख्याकी प्रतिहाको प्रधानक्रपकी अपेक्षा है। हां च शह करके उपरिष्ठात् एकत्र करिलये गये तो अप्रधान भूत है। अस्तित्व आदिक ले लिये जाते हैं। अर्थात्—जीवल आदि तीन प्रधानभूतमात्र हैं, और अस्तित्व आदि अप्रधानभूत हैं, जिनको कि कण्योक्त करनेकी कोई आवश्यकता नहीं। इस प्रकार कोई दोष नहीं हो पाता है।

कुतः पुनः पारिणामिका जीवत्वादयो भावा इति चेत्, कर्मोपश्रमक्षयक्षयोपश्रमोदयानपेक्ष-त्यात् । तस्य जीवितपूर्वकत्वाज्जीवत्वमिति चेम्, उपचारतो जीवत्वमसंगात् । मुख्यं तु जीवत्वं तस्येष्यते, ततो न ग्रीद्यिकं ।

आत्माक जीवल आदिक भावोंको भला फिर पारिणामिकप्रना किस ढंगसे नियत किया जाय, ऐसी जिल्लासा होनेपर श्री क्लिनन्दस्वामी कहते हैं कि कमोंके उपशाम, क्षय, क्षयोपशम, और उदय की नहीं अपेक्षा होनेसे जीवल आदि भाव पारिणामिक हैं। क्सोंक उपशामादिको निमित्त न मानकर केवल आत्मीय परिणामोंको अपेक्षासे होनेवाले स्वभाविकभाव पारिणामिक हैं। यहां कोई यों कहें कि म्वादिगणकी '' जीव प्राणधारणे '' धातुसे बनाया गया जीव शब्द है। अतः बहिरंग प्राण आयुष्य कर्मके उदयकी अपेक्षा रखते हुये जीवल मावको औदियक मानना चाहिये। उदय आदिकी नहीं अपेक्षा रखना, यह पारिणामिकका लक्षण तो उसमें घटता नहीं है। श्री विद्यानंदस्वामी कहते हैं कि यह आक्षेप हमारे ऊपर नहीं हो सकता है। क्योंकि आयुक्तमेंक उदयकी अपेक्षासे यदि जीवल माव माना जायगा तो सिद्ध महाराजके अजीवपनेका प्रसंग होगा। यदि कोई यों कहे कि अजीवीत, जीवित, जीवित्यति, इति जीवः इस प्रकार तीनों कालमें जीवन कियाकी अपेक्षा रखनेवाला जीव है। श्री सिद्ध-परमेष्ठी पहिले संसार अवस्थामें आयुक्तमेका उदय होता रहनेसे जीव रह चुके हैं। अतः मृतप्रकापन पननयकी अपेक्षा सिद्धोंको अपवारसे ही जीवपनेका प्रसंग हुआ। वास्तवमें देखा जाय तो उन सिद्धोंके सुख्य होता हुआ जीवल्बमाव इष्ट किया गया है। तिस कारण निर्मात हुआ कि जीवल्बमाव औदियेक हाई है। पारिणामिक ही है।

न्त्र त शानाहै र्यायापास्य वारणात् सिक्स्य क्षान्यं जीवत्यपित्य प्राप्त शायिक इत्यादनंत्रक्षान्यदेः शारिकत्वादिति हेत् नः अतिन्त्रीक्यायाः श्राद्धनिष्यक्यर्थस्तात् तदेकार्यस्र शास वीवादसायानसम्य जीवश्रद्धम्यतिनियित्रत्योपएतः । अपना न त्रिकास्तिवयजीवन ययमं जीवत्वं । किं तर्दि ! विकत्वं न म तदाशुस्त्यापेशं न जापि कर्मक्षणपेशं सर्वदाभावा

यहां और मी किसीकी शंका है कि सिद्धोंके पांच इन्दिय, तीन वल, आयु, जासीच्छ्रास, दश हुन्यप्राणोंका ज्ञारण नहीं है। फिर भी बान, सुख, नैतन्य, सत्ता इस प्रकारके भावप्राणोंका ध होनेसे सिद्धोंके भी मुख्य जीवल प्राप्त ही जाता है, इस प्रकार स्वीकार करने पर तो यह जीवल क्षाविक हो जायमा । क्योंकि अनन्तज्ञान आदिक तो क्रानाथरण आदि क्रमीके क्षयसे उत्पन क्षायिक हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि प्राणधारणरूप जीवन किय व्याकरण शास द्वारा जीव शद्भकी साधु सिद्धि करने मात्रके लिये हैं। जहां ही जीव द्रव्यमें धारण रूप जीवनिकया रहती है, वहां ही जीवत्व नामकी जाति रहती है, जो दो धर्म डम्बर्ने सम्बाय सम्बन्धरे ठहरते हैं। उनका रूप, रसके समान परस्पत्ने एकार्य सम्बाय स साता मुसा है। अतः जीवन नासक सामान्यको जीव शहकी प्रवृत्तिका निमित्तपना युक्तिसे नि हो हा है। जीवत्व जाति ही जीवत्वभाव है। रुदि शहोंमें धालार्घ कियाको केवल व्युत्पत्तिके ही माना गया है। उसका परिपूर्ण अर्थ घटित करना आक्रुपक नहीं, अथवा हम यह सिद्धांत हैं कि तीनों कालोंमें प्राणधारण या जीवत्व जाति इस नामके सद्भाव बने रहतेको हम जीवत्व मानते हैं, तो आप जैन जीवजका क्या अर्थ करते हैं ! इसका उत्तर यह है कि आत्माका कै गुण ही जीवत्व है। वह चेतना तो आयुष्य कर्मके उद्यकी अपेक्षा रखनेवाली नहीं है। और चतन्य कर्मीक क्षयकी अपेक्षाको भारनेवाले भी नहीं है। कारण कि अनादिस अनन्तकालतक नि अवस्थारे हेकर सिद्धोतकमें वह बैतल्यभाव सदा पाया जाता है। औदयिकमात्र या शायिकमा ·सर्वदा नहीं याने जाते हैं । अमादिकाछसे अनम्तकाछतक बच्च मुझकर परिणाम करता हुआ के मुण ही जीवल शहूसे लिया जाता है। औदियकभाग भागावाही रूपसे मलें ही किसी अनादि उ ्रसेसारी जीवके सदा पाये जांय किन्तु व्यक्ति क्रमसे वे सारिसान्त हैं। हां चैतन्य तो व्यक्तिक्रमें अनिदि अनन्त है। भड़े ही घटता बढ़ता रहे साथिकभाव तो सादि अनन्त प्रसिद्ध ही है।

ष्रतेन सम्बन्दर्शनद्वानपारित्रपरिणामेन सिद्धमबनयोग्यत्वं भन्यत्वं तद्विपरीतप्रमा इतः वारिणानिकश्चितं सहस्रापि वर्णोक्षप्रयन्धेशस्यविदेः सर्वदा भाषात् । अनादिपरि

का कार कान कार्य का भी की दिया गया अपरिकाद उक्षण समझ हेना चाहि। सन्यायकोत कार्यकार, सामग्रहारिकाय क्रीड्रायकारके अविषयमें सिद्धपर्याय होनेकी वर्त्तमानर वर्ते ही पोम्पता तो भन्यत्वभात्र है। और उससे विपरीत जो रत्नत्रय रूप करके परिणाम नहीं हो सक्ति योग्यता अभन्यत्व है। ये दोनों भाव पारिणामिक जान छेने चाहिये। क्योंकि उन भन्यत्व, जानकात्व, दोनोंको भी कर्मके उदय, उपराम, आरिकी नहीं अपेक्षा रखनेवालेपनकी सिंख हो जानेसे भिन्न हो प्रकार जातिवाले जीवोंको उन दो की असंकररूपसे सर्त्रदा सत्ता पर्ध जाती है। अर्थात्— क्रकानन्त प्रमाण अभन्य जीवोंकी रिहामें सर्वदा अभन्यत्व परिणाम होता रहता है, तथा मध्यम अर्न-तानन्त प्रमाण अक्षय भन्य रिहामें बहुभाग भन्योंके सिद्ध अत्रस्था होनेतक भन्यत्वभाव बना रहता है। मोक्ष होनेपर भन्यत्वभाव बिगड जाता है। जैसे कि मृत्तिकामें घट बन जानेपर घट परिणाम योग्यता विनश जाती है। हां दूरभन्योंमें भन्यता सर्वदा बनी रहती है, भन्यपना भनिष्यकालकी अपेक्षासे है। कार्य निष्पत्ति हो जानेपर तो भन्यताके स्थानको भूतता घर लेती है। सुवर्णपाषाण और अन्धपाषाणके समान अनादि कालसे चल आ रहे केवलभन्यत्व या अभन्यत्वरूप परिणामोंके निमित्तसे भन्यपना और अभन्यपना निर्णात कर दिया जाता है।

कुतः पुनरनादिः परिणामः कर्मोदयाश्चपाधिनिरपेक्षो जीवस्य सिद्ध इत्यारेकात्रामाह ।

कर्मोंके उदय, उपराम, आदि झगडोंकी नहीं अपेक्षा रखता हुआ जीवका परिणाम मंद्रा अनादि है यह किस प्रमाणसे सिद्ध किया जाय ? वताओ, इस प्रकार शिष्यमें संशयका उत्थान होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको स्पष्ट कहते हैं ।

अनादिपरिणामोस्ति तत्रोपाधिपराङ्गुखः। सोपाधिपरिणामानामन्यथा तत्त्वहानितः ॥ १ ॥

उस जीवमें कर्म, नोकर्म, आदिक उपाधियोंसे सर्वधा पराङ्मुख हो रहा कोई अनादि काछीन परिणाम अवश्य है, क्योंकि पश्चात् उपाधिसहित परिणामोंकी अन्यथा यानी मूळ पारिणामिक क्लुको माने बिना उस उपाधिसहित परिणामपनकी हानि हो जावेगी | मूळ है तो शाखा कळ सकती है "मूळं नास्ति कुतः शाखा" मूळमें कपडा है तो उसपर कोई भी रंग रंगा जा सकता है, आकाशको या आकाशके फळको कोई रंग (रिज्जितकर) नहीं सकता है | इस अन्वय व्यतिरेक बाळे हेतुसे जीवका निजगांठका ढीळ पारिणामिकभाव है यह साथ दिया गया है |

नहि स्फटिकादेरसित स्वाभाविकपरिणामे स्वच्छत्वे जपाङ्कृतुमापुपाधिसाधिध्यभावाद्धु-जन्मा रक्तत्वादिपरिणामः मतीयते तद्भदात्मनोप्यौपाधिकाः परिणामा औपक्रधिकाद्भे सावादि-परिणाममंतरेणोपपर्यते शशविषाणादेरपि स्वाभाविकपरिणामरहितस्यौपाधिकपरिणामप्रसंगात् । ततोस्ति जीवस्यानादिनिरुपाधिकः परिणामः कर्मोपश्चमादिपरिणामसत् । तथा सति। देखो, स्पिटिक, काच, आदिके मांठकी स्थामाविक परिणाम हो रही स्वच्छताने नहीं मानले पुनः क्यापुण, हरापता, आदि उपाधियोंक सिनकट मानसे उत्पन्न हुआ छाड़ रंग, हरापन आदि परिणाम होये नहीं प्रतीत होते हैं। किन्तु मूटमें स्वच्छ स्पिटिक द्रव्य है, तभी उसमें जपापुण्य सिन्धान अर्थिक छाड़िमा जानछी जाती है। वन्थ्या पुत्रको गहने या कपडोंसे नहीं सजाया र सकता है और न उसके शरीरसे कुछ या पूरा मैठ ही निकाला जा सकता है। उसी प्रकार आत्माविक सम्पत्ति हो रहे अनादि काठीन पारिणामिक भागों के बिना उपाधिजन्य औपशिमक, क्षायोपशिमक ऐसे सम्बन्ध, ज्ञान, आदिक परिणाम होना तो नहीं बन सकता है। यदि मूळभित्तीको माने बिना क्षिण जा सके तो स्वाभाविक परिणाम होना तो नहीं बन सकता है। यदि मूळभित्तीको माने बिना क्षिण खींचा जा सके तो स्वाभाविक परिणाम होना तो नहीं बन सकता है। यदि मूळभित्तीको माने बिना क्षिण खींचा जा सके तो स्वाभाविक परिणाम होने उपाया, जो कि किसीको इष्ट नहीं है तिस कारण यह सिद्धान्त बन जाता है कि जैसे जीवके कर्मोकी उपशान्ति, श्लीणता, उदय, आ निमित्तोंसे सादि या धारावाहि अनादिकालसे हो रहे औपशामिक, औदियक आदि परिणाम साधे ज्ञाने हैं, उसी प्रकार जीवके उपाधियोंके विना ही गांठके अनादि कालसे उपज रहे परिणाम सिद्ध जाते हैं अर्थात्—जीवोंके पांचों प्रकारके परिणामोंको इमने प्रमाणसे सिद्ध कर दिया है। अं तैसी व्यवस्था कर चुक्तेपर—

एतत्समुद्भवा भावा द्यादिभेदा यथाक्रमम्। जीवस्यैवोपपद्यंते चित्स्वभावतमन्वयात्।। २।।

इन उपराम, क्षय, आदिसे भछ प्रकार उत्पन्न हो रहे भाव तो यथाक्रमसे दो, नी, आ भेदोंको धार रहे हैं। ये भाव सब जीवद्रव्यके ही निजतत्व सिद्ध हो जाते हैं (प्रतिज्ञा वाक्य क्योंकि जीवकी आत्मा बन रहे चैतन्य स्वभावका सम्पूर्ण भावोंमें भछे प्रकार अन्वय हो रहा अनुश् हो रहा है। अर्थात्—हां धारण, दव, उच्णता, ईरण, या रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, आदिका अन्यदि भावोंमें पाया जाता तब तो इनको पुद्रव्यक्ता निजतत्व कह देते, किन्तु उक्त त्रेपन भावोंमें पुद्र आत्मकपना नहीं देखा जाता है, अतः ये भाव जीवके ही समझ केने चाहिये। कोई समयसाररि पण्डितमन्य यदि निश्चयनयका अवलम्ब केकर औदिविक, क्षायोपशमिक और औपशमिक भावोंसे पुद्रव्यका कह देवे तो यह उसका आपेक्षिक कथन प्रमाण ज्ञान करनेके लिये आदरणीय नहीं है।

क्रमणाञ्चपस्रमसपस्योपस्योदयमयोजना औषस्मिकसायिकसायोपसियसेद्यिका भाव क्रमण प्रदेशित न मन्तरूपं, क्रमोपस्रमादिसिः मयुज्यमानादीपस्मिकादीनां जीवपरिणायत्वोपपं पेतनसंबंधात्वास

- श्रीपशामिस शादि राष्ट्रीमें प्रयोजन या भव अर्थ में ठण् प्रत्यय करनेपर यो अर्थ किया ज विकासिक उपस्ता, अर्थ असीपशम, और उदय, प्रयोजनको भारनेवाले औपशमिक, श्रायिक बीपारामिक, औदियंक ये पंचास भाग ती कामीके ही हैं, इस प्रकार नहीं मानमा चाहिये। क्योंकि जीपरामिक आदिका स्वतंत्र कर्ता आसी ही हैं। प्रयोजक हेतु मेंछे ही कर्मीका उदर्व, उपराक, जादि अवस्थाको मान लिया जाय, कर्मीके उपराम, आदिकी करके प्रयोजित किये जा रहे जीपकानक आदि सानाको जीवका परिणामपमा युक्तिसिंद है। मंबार्थ—युद्धका या क्रूपका वज रहा बाजा उदरा नाचता नहीं है। ये सब क्रियाय योद्धा या नर्तककी स्वालीय कार्य (करततें) है। निक्रिय कारणाको आदर करना वहांतक ही शीमा देता है, जहांतक कि उपादानकारणोंकी निज सम्बत्तिक होका न डाठा जाय। एक वर्षका बाबा एक दालकी चनों मरी हजार मनकी खत्तिमें डाठ देनेसे पूर्व वर्षोगेसे औथ पांचसी मन चनोंका दांचा करना अनीति मार्ग है। दूसरी बात यह है कि अधिवानिक आदि भागोंमें अन्यत्करपते चेतनाका सम्बन्ध हो जानेसे भी वे सम्यन्दर्शन, गति, आदिक मान सम्बन्ध की है। पुत्रल कर्मके उपादेय नहीं हैं।

प्रधानस्येवैतं परिणामा, इत्यप्यमार्कीचिताभिषानं तत एव । न हि व्यदिभेदेषु वर्षान्त्रमाणिकापिकादिषु भावेषु चित्तमन्त्रयौऽसिद्धस्तपामहेकारास्यद्रतेन प्रतितरात्मोपनीगंबत । न चाहेकारोपि प्रधानपरिणामः पुरुषतादात्मिन स्वयं संवदनात् । स्रति तत्त्रया संवदनिपिति चैत् न, बाधकामानात् । अहंकाराद्योऽचेतना एवानित्यत्वात् कल्यादिवत्येतद्रद्वमानं वाधकामिति चेष, पुरुषानुपवनानेकांतिकत्वात् तस्यापि पर्रापितितया कादाचित्कत्वानित्वत्वसिद्धिरित्युक्तत्वादुपयोगसिद्धौ । कि च—

कपिछ मतानुयायी कहते हैं कि ये ज्ञान, कोथ, आदिक परिणाम तो प्रकृतिक ही परिणाम हैं। सत्यगुण, रजोगुण,तमीगुण, इनकी साम्य अवस्था स्वरूप प्रधान ही परिणाम करता है। आतमा तो कुटस्थ अपरिणामी है। आचार्य कहते हैं कि यह साल्यमतियोंका क्यन भी उस ही कारण वार्यात कार्यात कार्यात की उस ही कारण वार्यात कार्यात कार्यात कार्यात कार्यात है। साल्योंने वेतन्यका सम्बन्ध औत पोत छगा रहनेसे ही अविचारित है। साल्योंने वेतन्यका सम्बन्ध अति पोत छगा रहनेसे ही अविचारित है। साल्योंने वेतन्यका सम्बन्ध यथाकमते दो, जी आदि भेदीको धार रहे, अविधारिक, आदिक भागोंने वेतन्यका समन्यय असित है, यह तो नहीं कह सकते ही। वर्योंकि उन त्रेपन भी मार्योकी चिदालाका उद्देश करनेषाछ अहंकारक प्रतिष्ठित स्थानपन करके प्रतिति हो रही है। जैसे कि में मौका हूं, अहं दक्ष, अहं वर्तायता, इनमें आत्मिका प्रतिति हो रही है। मार्याच प्रकृतिकर पूर्वाची कार्यात कार्याय गये, आत्मिक उपमोगमें वैसे अहं उपमोक्ता असित अहंकार अहंकारका साम्यक्त कार्याय गये, आत्मिक उपमोगमें वैसे अहं उपमोक्ता असित अहंकार अहंकारका साम्यक्त कार्याय हो रहा है, उसी प्रकार औपरामिक, औदियक, मार्वोमें चेतनात्मक अहंकारका सामरका जाम रहा है। कपिछ मतानुयायी यों तो नहीं कह सकते हैं कि " प्रकृतिहासको कार्यकार कार्यका

भी अन्यस प्रकृतिका अव्य वरिणानं है । देशी यह शहनां यो जीक नहीं है कि आलाके सदात्मकपूने करके वहनामा स्वयोग सर्वेदन हो तह है। वह श्रीता, वह चेतन, यहां अहना आसामे साम तकामक सामामाविकारण है। पुनः वदि साविक वी कहें कि अहे और, अहं स्पृतः, के गीरा है, मैं लेखें हैं। उसे गोषापमः, मोठापनं शरीरका अनुविधान करते हैं। उसमें आहेका सम्बन्धः जीवकर व्यापाना समिक्ष्याहार करना जैसे भान्त है, उसी प्रकार आत्माके साथ तदासकाने साके व्यक्तिमार्गा तिस प्रवारः सन्पर्म करना मी अन्त है। आचार्य करते हैं कि यह तो न कंत्रना । क्योंकि वह गौरं:, अहं स्पूढ:, इन प्रतितियोंका बाधकप्रमाण विश्वमान है । आत्मा गोरा या मोटा मार्की है। प्रक्रफ निर्मित शरीर ही गोरा या मोटा होता है। इस प्रकार माध्य प्रमाण उत्पन हो जानेसे " अहं गीरः, अहं स्यूखः " यह सम्बेदन आता कहा जा सकता है। किंद्य आई नोची, अहं श्रानयान् , अहं आत्मा, अहं चेतनः, इन प्रतीतियोंका कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः अहंकारका पुरुषके तदात्मकपने करके सम्बदन होना अजान्त है। यदि साल्य उस सम्बदनकी बाधा देनेवाले इस अनुमानको उठावें कि अहंकार, दुवि, इकिंक, आदिक पदार्थ (पह) अचेतन ही है। (सान्य) अनित्य होनेसे (हेंद्व,) बट, पट, अग्नर्दके समान (अन्त्रयद्यान्त) प्रन्थ-कार कहते हैं कि यह बाधक अनुमान ती समीचीन नहीं है। पुरुषके अनुमव करके व्यभिचार दोष उपस्थित हो जाता है । क दुर्भाव्यवसितवर्थ पुरुषकोतायत । हारा निर्णीत किये गये अर्थको पुरुष चेतमा करता है। उपभोग करता है। इस प्रकार करा पुरुषके अनुभवको भी परकी अपेक्षा होनेसे कभी कभी उत्पत्ति होनेके कारण अनित्यपना सिद्ध है। अतः अनुमन या उपमीगर्मे अनित्यत्व हेर्तु रह गर्वा और अवस्तात्व साध्य म रहा । अतः व्यभिचारी होनामासंसे उत्पन्न हुआ वह अनुमान समीचीन नहीं है । तुत्र सांस्पोंका प्रमाण हान कथक होता है, कीर अध्याणहान काव्य होता है। किन्दु यहां प्रकारणमें तो विवरीत प्रस्ताव ही विदेश हो रहा है। विसंबी जांप सार्थ वाधक कह से है, यह अप्रमाणकाल है, और जिसकी आप बाज्य कह रहे हैं। यह अहंकांओं पुरुषके तदालकापने करके संबंदन होना तो प्रमाणकान है। आत्मा उपनींग संकर्त है, अहंचार स्वक्रप हैं, इस सिद्धानंतको इम इस अन्यके आदिमें ही दो सी प्रधीसवी वार्तिकारे केकर ही सी वावाकीस्त्री वार्तिकतक संख्यमतका निराम करते हुये आत्माकी उपयोगालक शिव कारते समय विवादकायों कह जुने हैं। दूसरी कार यह की है कि-

वारिक विभावः सुः पुरुष्टेव स्त्वतः। वार्यक्रमण्या तस्य सिद्धत्वीयति विभावः ॥ ३॥ कर्णक्रमण्यामस्य सिद्धत्व शायिकं मत्। वार्यक्रमण्यामस्य क्रमणियः व सामनव् ॥ ३॥ जिस प्रकार कि एकसी अदतालीस भी कमींसे रहित हो जानेपर हुआ सिद्धलमान उस् आत्माका है पुहलका या प्रधानका नहीं है, इस प्रकार निश्चय है। नैयायिक, मीमांसका साईया स्वाने आत्माकी ही मोक्ष मानी है। उसी सिद्धल्य भावके समान ज्ञान, दर्शन, आदिक नौ क्षायिक भाव भी वास्तानिक क्रूपेसे आत्माके ही हो सकते हैं। देखिये, सबसे पहिले दशांत रूपकर कहा गवा सम्पूर्ण क्रूपेस अत्माके ही हो सकते हैं। देखिये, सबसे पहिले दशांत रूपकर कहा गवा सम्पूर्ण क्रूपेस अत्माके ही हो सकते हैं। देखिये प्रसन्तापूर्वक मान लिया गया है। क्षायिकमांव (पक्ष) आत्माके ही हो सकते हैं (साध्य) क्षायिक होने से (हेतु) सिद्धलके समान (अन्वय दक्षन्त) हमारे इस अनुमान में दिया गया हेतु अप्रसिद्ध नहीं है। अर्थात् अन्वयद्धान्त में हेतु की साध्यके साथ व्याति प्रसिद्ध हो रही है।

> द्वावोपशमिको भावो जीवस्य भवतो ध्रुवं । मोक्षदेतुत्वतः कर्मक्षयजनम्हगादिवत् ॥ ५ ॥ क्षायोपशमिका दृष्टिज्ञानचारित्रलक्षणाः । भावाः पुंसोऽत एव स्युरन्यथानुपपत्तितः ॥ ६ ॥ प्रधानाद्यात्मका होषा सम्यग्हण्ट्यादिभावना । न पुंसो मोक्षदेतुः स्यास्सर्वथातिप्रसंगतः ॥ ७ ॥

अनुमान द्वारा क्षायिक भावोंको आत्माका ही परिणाम साधकर अब औपश्मिक भावोंको भी जीवको तदात्मक परिणामका अनुमान बनाते हैं। उपशम सम्यक्त और उपशम चारित्र ये दो औपश्मिक भाव (पक्ष) निश्चित (अवधारित) रूपसे जीवके होते हैं। (साध्य) मोक्षका हेतु होनेसे (हेतु) कर्मके क्षयसे उत्पन्न हुये दर्शन, ज्ञान, आदिके समान (अन्वयद्धान्त) अर्थात्—"सम्परं सणणाणं चरणं मोक्खस्स कारणं जाणे ववहारा णिच्चयदो तत्तिय मह्यो णिओ अप्पा" इस युक्तियूणं सिद्धांत अनुसार मोक्षके हेतु बन रहे परिणाम तो जीवके ही तदात्मकभाव माने जाते हैं। अतः जो जो मोक्षका हेतु है, वह जीवनिष्ठ उपादान कारणता निरूपित उपादेयतावान् होता हुआ तदात्मक जीवका परिणाम है। यह ज्यानि बन जाती है। तथा इस ही कारणसे वानी बोक्षका हेतु होनेसे (हेतु) तीसरे दर्शन, ज्ञान, चारित्रसरूप, श्वायोपशिमकभाव भी (पक्ष) जीवके ही हो सकेंगे (साध्य) अन्वधा थानी जीव आत्मक परिणाम हुये विना दर्शन, ज्ञान, आदिकीकी कारिक्र है। अतः अन्यधानुपपति प्राणको धारनेवाले हेतुसे साध्यकी सिद्धि वन बैठती है। यदि कापल सिद्धांत अनुसार ये सम्यदर्शन आदिक पचासः या त्रेपमभाव महन प्रधानक्रप होते या कार्यक अनुसार होत प्रवृत्ता या त्रेपमभाव महन प्रधानकर्प होते या कार्यक अनुसार होता प्रवृत्ता प्रवृत्ता अप्रवृत्तार ये सम्यदर्शन आदिक पचासः या त्रेपमभाव महन प्रधानकर्प होते या कार्यक अनुसार होता प्रवृत्ता प्रवृत्ता प्रवृत्ता प्रवृत्ता अनुसार वे सम्यदर्शन आदिक पचासः या त्रेपमभाव महन प्रधानकर्प होते या कार्यक अनुसार होता प्रवृत्ता प्रवृत्ता अप्रवृत्ता प्रवृत्ता अनुसार वे सम्यदर्शन आदिक पचासः या त्रेपमभाव महन प्रधानकर्प होते या कार्यक अनुसार होते प्रवृत्ता प्रवृत्ता प्रवृत्ता वार्यक कार्यक स्वता वार्यक स्वता कार्यक स्वता वार्यक स्वता

बिवर्स होते तो ये मान आत्माक बोधसम्पादक हेतु सर्वया नहीं हो सकते थे । क्योंकि किसी विवक्षित परार्थिक भाव यदि अविवक्षित अर्थको सुक्किक सम्पादक कन बैठे तो अतिप्रसंग हो जायगा । धर्मात्मा जिनदस्तकी शुभ परिणितयां चोर, व्यभिचारी, यहादसको कारागृह (जेळखाना) से मुक्ति करादेनेकी कारण बन बैठेंगी । इन्द्रदस्का अभ्यास या ब्युत्पत्ति भी महानूर्ख भवदस्को परीक्षामें उत्तीर्ण करा देवेगी । सिद्धान्त यह है कि औपश्मिक और क्षाधिकमान आल्माको मुक्तिक सम्पादक हैं । अतः ये जीवके ही, तदात्मक परिणाम है । अन्य किसीके विवर्त्त नहीं हैं।

श्वायोपशिकाः शेषा भाषाः पुंजन्मतामृतः । श्वायोपशिकत्वात्स्यः सम्यग्द्दग्बोधवृत्तवत् ॥ ८ ॥ जीवस्योदयिकाः सर्वे भाषा गत्यादयः स्मृताः । जीवे सत्येव सद्भावादसत्यनुपपत्तितः ॥ ९ ॥ कमोदये च तस्येव तथा परिणमत्वतः । तथां तत्परिणामत्वं कथंविक विरुध्यते ॥ १० ॥

मन्यामन्यत्वयोर्जीवस्वभावत्वं विमान्यते । पारिणामिकतायोगाचेतनत्त्वविवर्तवत् ॥ ११ ॥ चेतनत्वस्वभावत्वमात्मनोऽसिद्धमित्यसत् । स्वोपयोगस्वभावत्वसिद्धेः पामभिभावतः ॥ १२ ॥

पांचवे पारिणामिक मावोंमें पहे हुये मन्यत्व, अभव्यत्व, मानोंमें (पक्ष) खीवस्थाप्याचा विचार लिया जाता है (सान्य), पारिष्णामिकपनेका ताद्यम सम्बन्ध होनेसे (केष्ठ) चेतनत्व (जीवत्व) नामक विवर्त्तके समान (अन्वयद्द्यान्त)। यहां यदि कोई चार्वाक या वैशोषिक यों कहें कि आत्माका चैतन्यस्वमावपना तो असिद है, आचार्य कहते हैं कि यह उनका कहना असय है। न्योंकि प्रमानी आदिके एड्डिके अवद्याणमें आत्माद्दे निज कार्योग स्वाबन्यनकी सिद्धिका क्यन हो चुका है। अभी आयोपशमिक भानोंको गिनाते समय पांचवे सुनका निवरण करते हुये भाषाभाष्यमें इस बातपर बहुत बल दिया जा चुका है कि वे औपशमिक आदि त्रेपन माव सब जीवके ही तदात्मक परिणाम है।

नन्वीपशिवकादीनां स्थामभेतिर्वतात्मनः। निश्वनभावत्वमासकं नेरात्म्यं सर्वया ततः॥ १३॥ तद्रत्यागे तु मोश्वस्याभावः स्यादात्मनः सदा। तत्तो न तत्त्वभावत्वं जीवस्यत्यपरे विदः॥ १४॥

्विद्धाना अवशारण करते हुये किसीका यहां पूर्वपक्ष है कि मोक्षको साम हो जुके आवाके किदि '' औपराक्षिकादि अवश्वान कि '' इस सिरान्त अनुसार मोक्ष समस्यामें औपराक्षिक, अदिविक, अविदिक्ष, अविद्धान किद्यान कि स्वान कि स्वन कि स्वान कि स्वान कि स्वान कि स्वान कि स्वान कि स्वान कि स्वान

आदि स्वभावसाहितपना ठीक नहीं जन्मता है। क्षाती जीवने तहात्वक स्वभाव भीपशमिक आदिक भाव नहीं है। इस प्रकार कोई नैग्नायिक या बौद्ध दूसरे ब्रिड्सन् सक्का नैठे हैं। अब आचार्य उत्तरपक्ष कहते हैं उसको छुनो।

तदसंगतमहिंशवननादेव देहिन । अपि देन तेषां तद्वपतां भीष्टरत्यागांच कथंचन ॥ १५॥ वित्त्वभावतयां तांवजेषां त्यागः कथंचन । शायोपशमिकत्वीपशमिकत्वन तत्क्षये॥ १६॥ तेषामोदियकत्वन नेव स्थानिः स्वभावतः । मोक्षामावोपि न पुंसः क्षायिकाद्यविनाशतः ॥ १७॥

उन पण्डितोंका वह कथन अस्मात है । क्योंकि अपेक्षावर्वक वचनसे ही हम भावोंका त्याग और कथंचित उन भावोंका अत्याग दोनों बातोंको स्वीकार करते 🖁 🕽 स्वभावपने करके कथंचित् उन भावोंका त्याग नहीं होता है। अर्थात्-जन्वित होनेवारे चित भावका सर्वदा सद्भाव है। अतः जीवके उन परिणामोंके साथ तद्भूपपना इनको अभीष्ठ है। शिल्पक नहीं पढाते समय भी गुरुका गुरुपना सदा अवस्थित रहता है । सेवाकार्य न कराते हुये मी स्वामी सेवकका आभिपत्य अक्षण्ण बना रहता है। उसी प्रकार जो ही चैतन्य परिणाम पहिल निमित्रकन्य भावों में ओत पोत दुस रहा था वह सिद्ध अवस्थामें भी चैतन्यभाव शुद्ध होकर दमक रहा है। अक चैतन्य स्वभावपनेसे तो इनका किसी भी ढंगसे त्याम नहीं है, हां क्षायोपशमिकपन या औपक्रमिकपन करके उन बान बादि या सम्यक्त आदि भार्चोका क्षय हो जानेपर तथा औदियकपन करके उन गति आदिक भावोंका मोक्ष अवस्थामें नाश हो जानेपर तो आत्माका स्वभावरहितपना नहीं प्रसंग प्रहा होगा तथा दितीय विकल्प अनुसार पुरुषके मोक्षका अभाव भी नहीं होगा । क्योंकि श्वायिक या पारि-णामिक हो रहे केनलज्ञान, जीवल, अस्तिल, आदि भावाँका विनाश नहीं हुआ है। कराडेका बना हुआ चोळा उतार देनेसे मतुष्य गर नहीं जाता है । औपशासिक, श्वायोपशामिक, और औदयिकमान मके ही अपने तपरिष्ठात् रंगे हुये रूपसे नष्ट हो जांय, किन्तु शायिक और पारिष्यामिकमान अधुरुष् तदास्य हैं। आतः जीव सर्वधा स्वभावींसे रहित नहीं हुआ और व्यर्थका टण्टा बसेदा इट जानेहे मोक्ष थी नहीं असंबतापूर्वक हो जाती है।

न नीयशिकादीनां नाशाकीवास्त्रभावता । प्रतिसमित्वपतीर्गा तत्स्त्रभाषत्वद्दानितः ॥ १८ ॥ कृटस्थात्मकतापत्तेः सर्वतार्थिकियाक्षतेः । वस्तुत्वहानितो जीवतत्त्वाभावप्रसंगतः ॥ १९ ॥ तथा च नाशिनो भावाः स्वभावा नात्मनस्तथा । अनात्मनोऽपि ते न स्युरिति तद्वग्तुता कृतः ॥ २० ॥ एवं निःशेषतत्त्वानामभावः केन वार्यते । नास्तिभावस्वभावत्वाभावसाधनवादिनाम् ॥ २१ ॥ ततः स्याद्वादिनां सिद्धः शाश्वतोऽशाश्वतोपि च । स्वभावः सर्ववस्तूनामिति नुस्तत्स्वभावता ॥ २२ ॥

कोई आक्षेप करता है कि आप जैन औपशामिकभाव और आदिपदसे प्रहण किये गये क्षायोपरामिक, औदियक भावोंका नारा मीक्ष अवस्थामें मानते है। ऐसा होनेसे तो औपरामिक आदि भार्योको जीवका स्वभावपना नहीं आया । क्योंकि जिसका स्वभाव है वह स्वभाववान्के नष्ट होनेपर भछे नष्ट हो जाय, किन्तु स्वभाववानके नहीं नष्ट होनेपर तो उसका वह स्वभाव नष्ट नहीं होता है। जबतक अग्नि है उसका उष्णतास्यभाव मदा स्थिर रहता है। कस्त्ररी कभी गन्धरहित नहीं रहती है । अतः औपरामिक आदिकोंका आत्माके विद्यमान होनेपर भी यदि नारा मान लिया जायगा तो. वे जीवका स्त्रमाव नहीं ठहा सकते हैं। अब आचार्य महाराज कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकी यों तो प्रत्येक क्षणमें नवीन नवीन हो रहे पर्यायोंको भी उस पर्यायीके स्वभाव होनेकी हानि हो जायगी । अर्थात-प्रत्येक द्रव्यके पूर्वक्षणभावी पर्यायोंका नारा होकर उत्तर क्षणीं नवीन नवीन पर्याय उपज रहे हैं । अतः आप आक्षेपकारके विचार अनुसार वे क्षणिक पर्याय उस पर्यायीके स्वभाव नहीं ठहर पायेंगे। अञ्चद्ध द्रव्य अग्निकी भी तो उष्णता पर्याय प्रति क्षणमें बदल रही है। मध्य अवस्थामें या मध्यान्ह कालमें अग्निकी जितनी तीन उष्णता है उतनी प्रातःकालमें वा आध-अवस्थामें नहीं है । ज्येष्ठ मासका ताप माघ मासमें दुर्लभ हो जाता है । प्रतिक्षण होनेवाले पर्यायोंको यदि उस पर्यायीके स्वभाव नहीं माना जायगा, तब तो पदार्थीके कूटस्थ आत्मकपनेकी आपत्ति बन बैठेगी, इस ढंगसे सभी प्रकारों करके अर्थिकयाकी क्षति हो जानेसे वस्तुत्वकी हानि हो जाती है। और ऐसा हो जानेसे जीव नत्त्वके अभावका प्रसंग हो जायगा, और तिस प्रकारकी अवस्थामें आत्माके हो रहे तिस प्रकार नारा होनेवाले प्रतिक्षणवर्ती परिणाम तो आत्माके नहीं कहे जा सकते हैं, तथा आत्मासे भिन्न पुद्रछ तस्त्र, धर्म द्रम्य, आदिके भी वे क्षाणिक विवर्त उनके स्वभाव न हो सर्केंगे । ऐसी दशामें जीव और अजीव पदार्थीको भला वस्तुपना कैसे रक्षित रह सकता है ! इस

प्रकार अन्यवस्था मच जानेसे नास्ति हो जानेवाले भावको उसके स्वभावपनके अभावका साधन कर रहे बादियोंके यहां सम्पूर्ण तत्त्वोंका अभाव हो जाना किस करके रोका जा सकता है ? अर्थात-प्रतिक्षणके विवर्तीको द्रव्यका स्वभाव न माननेपर कृटस्थपनका प्रसंग होगा । वस्तुका लक्षण अर्थिकयाकारित्व है. अर्थिकया न होनेसे वस्तुत्वकी हानि होते हुये जीवतत्त्वका ही अभाव हो जायगा । नाशशील भाव जैसे आत्माके नहीं माने जाते हैं, उसी प्रकार अजीव तत्त्रोंके भी नाश होनेवाले विवर्त्त तो स्वभाव न हो सकेंगे । तब तो जीव, अजीव, सबके वस्तुत्वकी क्षांति हो जानेसे शन्यवाद आगया । किन्त वह तो आक्षेपकारको इष्ट नहीं पढेगा । तिस कारणसे स्याद्वादियोंके यहां यह सिद्ध हो जाता है कि चाहे सर्वदा स्थित रहनेवाला शाश्वत परिणाम हो अथवा कदाचित स्थिर रहनेवाला अशास्त्रत परिणाम होवे सब सभी वस्तुओंके तदात्मक स्वमाव माने जाते हैं। इसी ढंगसे कदाचित होनेवाले उन औपरामिक आदि मार्वोको भी आत्माका स्वभावपना सिद्ध हो जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तको माननेवाले जैनोंके यहां वस्तुके अनेक स्वभाव तो एक क्षणस्यायी ही है। और कितने ही स्वभाव बहुत क्षणोंतक उहरनेवाले हैं तथा अनन्त स्वभाव सर्वदा नित्य स्थित रहते हैं। देवदत्तकी बाल्य, कुमार, युवा, अबस्थायें तदात्मक स्वभाव होती हुई नष्ट रहती हैं। फिर भी जन्मसे छेकर मरण पर्यंत ही देवदत्त स्थिर कोई भी द्रव्य, कूटत्थ नित्य नहीं है। प्रतिक्षण अनेक उत्पाद, व्यय, ध्रीव्य, पाये जाते हैं, तभी वह सत् बना रह सकता है। मञ्जमिक्क्योंके समुदाय प्राप्त छत्तेमेंसे अनेक मध्म-क्खियां आतीं जातीं रहतीं हैं। उसी प्रकार द्रव्यमें अनेक स्वभावोंके उत्पाद, विनाश, होते रहते हैं। संसार अवस्थामें तदात्मक रूपसे हो जा चुके औपशमिक, क्षायोपशमिक, औदयिक, माबोंका नाश हो चुका है। फिर भी मोक्ष अवस्थामें उन भावोंका अवस्थाता नित्य द्रव्य आत्मा या चेतना आदि गुण विश्वमान हैं। क्षायिकभाव, पारिणामिकभाव, शास्त्रत गुण इनके बने रहनेसे परिशुद्ध हो रहा जीव द्रव्य अनन्तकालतकके लिये सिद्ध हो जाता है। सुरमतासे विचारो तो प्रतिक्षण पर्याय रूप हो रहे क्षायिकभाव और पारिणामिक भावोंका भी परिवर्तन हो रहा है । पतावता इन्यस्थिति और भी सदढ हो जाती है। चर्म या छोहपत्ती अथवा डोरीको छपछपाते रहनेसे वे अत्यधिक काळान्तरस्थायी होते हुये पष्ट बन रहते हैं। यहांतक जीवके तदात्मक हो रहे नेपन भावोंकी सिद्धि कर दी गयी है। विशेष यह कहना है। कि जैसे कर्म शरीरके अनुसार आत्माके औपशमिक आदि माव होते हैं, उसी प्रकार नोकर्मशरीर अनुसारके भी यथासम्भव औपशमिक आदि मात्र लगाये जा सकते हैं। इत्य क्षेत्र काल भाव भी स्वतंत्र रूपसे अथवा कर्म, नोकर्मोंकी विभिन्न परिणामित शक्तियों द्वारा जीवोंके अनेक परिणामोंक सम्पादक हैं। माबार्थ कमौंके उदय आदि समान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, अथवा नोकर्मका वातावरण भी जीवोंके सुखद:ख मोक्ष आदि कार्योंके निमित्त कारण हैं।

एवं जीवस्य स्वतस्वं क्यांख्याय लक्षणं ज्याचिख्यासुरिदं सूत्रमाह।

इस प्रकार जीवके अनुजीवक निज तत्त्वोंका व्यास्थान कर अब बीवके व्यक्षणकी व्यास्था कर-केचे असिकाइक श्री तमास्त्रामी महाराज इस अप्रिम सूत्रको स्वतंत्रतायूर्वक दूसरोंके लिये स्पष्ट कह रहे हैं।

उपयोगो लक्षणम् ॥ ८॥

अन्तरंग, बहिरंग, कारण पिलतेपर बाता, दृष्टा, आत्माके चैतन्य अंशका अनुविधान करने-बाह्य उपसेग परिणाम तो जीवका उक्षण है।

जीवस्थरवञ्चवति । कः पुनः स्वतन्त्वलक्षणयोविशेषः ? स्वतन्त्वं लक्ष्यं स्याङ्गक्षणं व

दितीयाच्यायके पहिले सूत्रसे जीवस्य इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। तैसा होनेपर जीवका लक्षण उपयोग है। ऐसा बान्य अर्थ वन जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि पूर्व सूत्रमें जीवका लक्षण उपयोग है। ऐसा बान्य अर्थ वन जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि पूर्व सूत्रमें जीवका लक्षण कहा गया है। अतः क्षाको कि फिर स्वतन्त्र और लक्षणमें क्या विशेषता (अन्तर) है ? अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि स्वतन्त्र तो लक्षण करने योग्य हो रहा स्यात् लक्ष्य भी हो जाता है। और कर्याचित् क्षाण भी हो जाता है। किन्तु लक्षण तो लक्षण ही रहेगा, कथमपि लक्ष्य नहीं हो सकता है। इस ब्रांग के क्षा क्षा है। किन्तु लक्षण तो लक्षण ही रहेगा, कथमपि लक्ष्य नहीं हो सकता है। इस ब्रांग किन लक्ष्य है, तो वे स्वतन्त्र भी लक्ष्य है। स्वतन्त्र कराचित् जीवकी ही आता है। क्षा क्षा स्वतन्त्र के तो वे स्वतन्त्र भी लक्ष्य है। स्वतन्त्र कराचित् जीवकी ही भाव जीव लक्ष्य के समान व्यतिकीर्ण हो रहे हैं। वे स्वयं लिपे हुये हैं। किन्तु क्षाण तो व्यावर्तक हो रहा व्यक्त होना चाहिये, अतः लक्षण तो लक्षण ही है। स्वतन्त्रोंमें कर्म क्षा होना चाहिये, अतः लक्षण तो लक्षण ही है। स्वतन्त्रोंमें कर्म क्षा क्षा होना चाहिये, अतः लक्षण तो लक्षण ही है। स्वतन्त्रोंमें कर्म क्षा होना चाहिये, अतः लक्षण तो लक्षण ही है। स्वतन्त्रोंमें कर्म क्षा क्षा होना वो जीवके लक्षण भी हो जाते हैं।

यदेवं किमत्र जीवस्य स्वतन्त्वं लक्षणित्याह ।

प्रश्नकर्ता कहता है कि यदि स्वतन्त्र और छक्षणकी इस प्रकार न्यवस्था है तो बताओ, त्रेषन स्वतन्त्रोंमें कौनसा स्वतन्त्र जीवका स्वछक्षण माना जाय ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी सिद्धांतमार्गको बताते हुये कहते हैं।

तत्र क्षयोद्भवो भावः क्षयोपशमजश्र यः । तद्यक्तिव्यापि सामान्यसुपयोगोस्य लक्षणं ॥ १ ॥ कन स्वत्यकोंने को कर्तिक शायरे उत्पन्न हुआ भाव है और जो कर्तिक क्षयोपशामसे उत्पन्न हुआ विशेष भाव है, इनके अकार हो रही कन कारह व्यक्तियोंने सामान्य क्ष्यसे व्याप रहा उपयोग तो इस जीवका रुक्षण है।

सयोज्ञवो भावः शायिको भावस्तस्य व्यक्ती केवस्त्रानद्र्यने पृक्षेते, शयोपश्यमणो विश्वस्तस्य च व्यक्तमो गत्यादिशानानि चत्वारि गत्यश्चानादीनि त्रीणि वश्चर्दर्शनादीनि च पृष्ठंते तत्रैवीपयोगसामान्त्रस्य वृत्तर्त्यत्रावर्तनात् । तत्र्यापि सामान्यश्चपयोगोस्य जीवस्य स्वसणिति विवक्षितत्वात्, तत्र्यक्तिर्रक्षणत्वे स्वसणस्याच्याहिमसंगात् । वत्र्याप्र्यंतरहेतुद्वयसिष्धाने यथासं-भवश्चपरुष्युवित्रयाज्ञविषायी परिणाय उपयोग इति वचनात् ।

क्षय से उत्पन्न हुआ भाव क्षायिक कहा जाता है। नौ क्षायिक भावोंमें यहां उसके विशेष व्यक्तिरूप केवलज्ञान और केवलदर्शन दो भाव शहण किये जाते हैं। तथा कर्मीके क्षयोपराम से उत्पन्न हुआ मिश्रभाव सामान्यरूप से अठारह व्यक्तियोंमें न्याप रहा है। किन्तु यहां प्रकरण अनुसार उस क्षायोपरामिककी मतिक्वान आदि चार व्यक्तियां और कुमतिक्वानं आदि तीन व्यक्तियां तथा चक्षदर्शन आदि तीन व्यक्तिविशेष इस प्रकार दश मिश्रभाव पकडे जाते हैं। उन दो क्षायिक भाव और दश क्षायोपशामिक भाव इस प्रकार बारह व्यक्तिविशेषोंमें ही उपयोग सामान्यकी इति ही रही है। अन्य दान, सम्यक्त्व, संयमासंयम आदिमें उपयोग सामान्य नहीं वर्तता है। अतः उन बारह व्यक्तियों में व्यापनेवाला सामान्यरूप उपयोग इस प्रकरणप्राप्त जीव तत्त्वका लक्षण है, ऐसा अर्थ संत्र-कारको विवक्षित हो रहा है। यदि सामान्य उपयोगको लक्षण नहीं कर उस उपयोगको विशेष न्यक्ति हो रहे मतिहान या कुश्रुतज्ञान अथवा चक्षुदर्शन आदिमें से किसी एक व्यक्तिको जीवका छक्षण होना माना जायगा तो लक्षणके अव्याप्ति दोष हो जानेका प्रसंग होगा, जैसे कि गौका लक्षण कपिलपना करनेसे अन्याप्ति आती है उसी प्रकार मतिशानको जीवका रुक्षण बनानेसे पाइले तीन गणस्थानीतिकके जीवोंमें या केवल ज्ञानियोंमें लक्षण घटित नहीं होगा, चक्षुदर्शनको ही जीवका लक्षण कह दैने से एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, जीवोंमें तथा तेरवे चौदहवें गुणस्थानवाले आत्माओं या सिद्धोंमें लक्षण समन्वय नहीं होनेसे लक्षण अन्यात हो जायगा । श्री अकलंक देवकृत राजवार्तिक नामक आकर प्रन्थमें इस प्रकार कथन किया गया है कि आत्मभूत और अनात्मभूत दो बहिरंग कारण और असारमत, आसमत दो अन्तरंग कारणके यथायोग्य सिन्धान होनेपर बाताहरा, आत्मके चैतन्यका अन्त्रम रसानेत्राखा परिमाम विशेष उपयोग है। इस प्रकार सामान्य उपयोगको जीवका उसाग आम्नायसे माना गया जला आ रहा है।

अत्र हि न वैतन्यमात्रभुपयोगो यतस्तदेव जीवस्य रुक्षणं स्यात् । कि तर्हि १ चैत-न्याञ्जविभाषी परिणायः स चीपलम्थुरात्मतो न दुनः त्रधानादेः चैतन्याञ्जविभायित्वाभाव- त्रसंगात् । न चासाबहेतुको बाह्यस्याभ्यंतरस्य च हेतोर्द्रयस्योपात्तानुपात्तविकल्पस्य सिष्धाने सति भावात् । न चैवं परिणामविश्लेष उपयोगो मतिज्ञानादिष्यक्तिरूपः प्रतिपादितो भवति वयासंभवमिति बचनात् । ततो दर्शनज्ञानसामान्यष्टुपयोग इति सूक्तं ।

अकलंक सिद्धान्त अनुसार श्रीविद्यानन्द स्वाभी कहते हैं कि यहां सूत्रमें प्राह्म, अप्राह्म, संपूर्ण ही चैतन्य या मात्र चेतना नामका अतीन्द्रिय गुण तो उपयोग शब्दसे नहीं पकडे गथे हैं। जिससे कि वह सामान्य चैतन्य ही जीवका ळक्षण हो जाय तो कीनसा चैतन्य विशेष उपयोग है ! इसका उत्तर तो यह है कि जैसे खड़ुआ, वाजू, कुण्डल, हंसुली, आदि परिणामोंमें सुवर्णपनेका अन्त्रय लग रहा है, उसीं प्रकार चैतन्यका अन्त्रय रख रहा परिणामविशेष इस प्रकरणमें उपयोग लिया जाता है, और वह उपयोग परिणाम तो आत्माका है। किन्तु फिर प्रकृति या पृथ्वी आदिक तत्त्रोंका नहीं है। क्योंकि जडह्रव्योंका परिणाम माननेसे उपयोगको चैतन्यका अनुविधान रखनेवालेपनके अभावका प्रसंग होगा तथा वह चैतन्यानुविधायी परिणाम अहेतुक भी नहीं है। उसके हेतु विद्यमान हो रहे हैं। देखिये, उपात्त और अनुपात्त विकल्पोंको धार रहे बहिरंग कारणके द्वय तथा अभ्यंतर कारणके इयका सिन्धान होनेपर वह उपयोग उपजता है। उपयोगके बिहरंगकारण आत्मभूत और अनात्म-भूत दो प्रकार हैं। वनांगुलके संख्यातर्वे भाग या असंख्यातवें भाग क्षेत्रको घेर रही पुद्रल निर्मित स्पर्शन रसना, आदि और मन ये इन्द्रियां तो आत्मभूत हैं। प्रदीप, अंजन, उपनेत्र (चरमा) आदि अनात्मभूत हैं। तथा अन्तरंग कारणोंमें उपयोग त्यानिका उपयोगी द्वययोग तो अनात्मभूत जाता है। और भावयोग या क्षयोपरामजन्य लब्धि तो आत्मभूत अभ्यंतर हेतु है। कितने ही प्रदीप आदि कारण तो उपात्त हैं, और लिध आदिक कारण अनुपात्त हैं। एक बात यह भी है कि इस प्रकारका परिणामविशेष उपयोग केवल मतिज्ञान या अवधिज्ञान, आदि अकेळी व्यक्तिस्वरूप नहीं कह दिया गया है। क्योंकि पुग्य श्री अकलंकदेवने उपयोगके लक्षणमें " यथासम्भवम् " इस ग्रकार पदप्रयोग किया है। तिस लक्षणके घटक अवयव पदसे सामान्यरूप करके सभी दर्शन और याकन्मात्र ज्ञान व्यस्तरूपसे उपयोग हो जाते हैं। यह ढंग बहुत अन्छ। कहा गया है। यहांतक सूत्रके उदेश्य दलका अकलंकलक्षणपूर्वक अच्छा निरूपण कर दिया गया है। सामान्य उपयोगको जीवका रुक्षण कहना बहुत अच्छा है।

कि पुनर्रक्षणं १ परस्परव्यतिकरे सित येनान्यत्वं रुक्ष्यते तल्लक्षणं । हेमझ्यामिकयो-र्वणादिविश्वेषवत् । तद्विविधं आत्मभूतानात्मभूतविकल्पात् । तत्रात्मभूतं रुक्षणमभ्रक्षणगुणवत्, अनात्मभूतं देवदत्तस्य दंडवत् । तत्रेहात्मभूतं रुक्षणग्रुपयोगो जीवस्येति मतिपत्तव्यं ।

किसीका प्रश्न है कि विधेय दलमें पढ़े हुये लक्षणका किर क्या लक्षण है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी उत्तर करते हैं कि परश्परमें एक दूसरेसे बन्धरूप या अबन्ध रूप सम्मिश्रण हो जानेपर विविद्यंत पदार्थका जिस धर्म या धर्मी पदार्थकरके भिन्नपना प्रदर्शित कराया जाता है, वह कक्षण है। जैसे कि सुवर्ण और कालिमाका वर्ण गुरुत्व, कान्ति, आदिकी विशेषतायें कक्षण हैं। भावार्थ सोनेमें चांदी, तांचा, या किह, कालिमा, मिल रही है, ऐसी दशामें न्यारिया विशेष रंग या कसना अथवा तापजन्यकान्ति आदि लक्षणोंसे सुवर्णके माग और कालिमाके भागकी परीक्षा कर लेता है। ज्ञान या सूर्यप्रकाशके पहिले सभी पदार्थ अज्ञान अन्धकारकी अवस्थामें धुल मिल रहे हैं। उनमेंसे लक्षण द्वारा ही नियत पदार्थोंका परिज्ञान किया जा सकता है। वह लक्षण आत्मभूत और अनात्मभूत विकल्पसे दो प्रकारका है। उन दो प्रकारोंमें अप्रिके उच्चात्व गुण (पर्याय) के समान जो वस्तुके शरीरमें तदात्मक होकर प्रविष्ट हा रहा है वह तो आत्मभूत लक्षण है और जो देवदत्तके लक्षण दण्डसमान वस्तुमें तादात्म्य रखकर ओपपोत नहीं हो रहा है, वह अनात्मभूत लक्षण है। तिन आत्मभूत, अनात्मभूत, लक्षणोंमें यहां जीवका उपयोग लक्षण तो आत्मभूत है ऐसा समझना चाहिये।

नात्मभूतो जीवस्योपयोगो गुणत्वादंग्ररूणविदिति चेन्न, एकांतभेदनिराकरणस्योक्तत्वा-द्वणगुणिनोः, गुणिनः कथंचिद्भिन्नस्यैन गुणत्वोपपत्तरन्यथा गुणगुणिभावविरोधात् घटपटा-दिवत् । सर्वथा भिन्नमेव छक्ष्याञ्चस्रणं दंडादिवत् इति चेन्न, अनवस्थामसंगात् । स्रसणादिभिनं स्रक्ष्यं कृतः सिध्येत् १ स्रमणांतराचेत्रतोऽपि यदि तक्रिनं तदा स्रमणांतरादेव सिध्येदित्य-नवस्था । सुदूरमपि गत्वा यद्यभिनाञ्चसणात्कृतश्चित्तत्विध्येत् तदा न सर्वे स्रसणं स्रभ्याद्विन्नमेव ।

नहीं है। (प्रतिका नान्य) गुण होनेसे (हेतु) अग्निक उष्ण गुणसमान (अन्यय दृष्टान्त) अर्थात्—गुणीसे गुण सर्वथा भिन्न होता है। तभी तो आध्यक्षणमें द्रव्यके रहते हुये भी गुण नहीं उपजने पाते हैं। अग्नि द्रव्यसे उष्ण गुण भिन्न है। उसी प्रकार आत्मासे ज्ञानोपयोग, दर्शनोपयोग, मिन्न होते हुये अनात्मभूत हैं। कोई लक्षण आत्मभूत नहीं हो सकता है। घटका लक्षण घट या कलश करना व्यर्थ है। अब आचार्य कहते हैं कि यों बेशेषिकोंको नहीं कहना चाहिये। क्योंकि गुण और गुणीके एकान्त रूपसे भेद होनेके निराकरणको हम कह चुके हैं। गुणी द्रव्यसे कथंचित् अभेदको प्राप्त हो रहे पदार्थको गुणपना व्यवस्थित होगा। अन्यथा यानी दूसरे प्रकारोंसे गुणगुणीमावका निरोध है। जैसे घटका लक्षण पट नहीं हो सकता है, अथना सहाका लक्षण सर्वथा भिन्न पड़ा हुआ विन्थ्य पर्वत नहीं हो सकता है। घटका गुण सर्वथा भिन्न पट नहीं है। सहाका गुण निन्ध्य पर्वत मी नहीं है। सर्वथा भेद तो जह पदार्थ और चैतन्यका है। किन्तु इनमें लक्ष्यल्यामाव या गुणगुणीमाव नहीं माना गया है। इसपर नैयायिक या वैशेषिक यदि यों कहें कि जैसे पुरुषसे दण्ड न्यारा है, देवदत्तरी कुण्डल भिन्न है, इन्दरत्तका कालीटोपीक साथ सर्वथा भेद है, किन्तु इनमें लक्ष्य-यारा है, देवदत्तरी कुण्डल भिन्न है, इन्दरत्तका कालीटोपीक साथ सर्वथा भेद है, किन्तु इनमें लक्ष्य-यारा है, देवदत्तरी कुण्डल भिन्न है, इन्दरत्तका कालीटोपीक साथ सर्वथा भेद है, किन्तु इनमें लक्ष्य-यारा है, देवदत्तरी कुण्डल भिन्न है, इन्दरत्तका कालीटोपीक साथ सर्वथा भेद है, किन्तु इनमें लक्ष्य-

पदार्थ स्वयं अपना ही परिशापक क्या होगा ? प्रत्यकार कहते हैं कि यह तो न कहना । कारण कि अनवस्था दोष हो जानेका प्रसंग आता है। देखिये, लक्षणसे विशेष रूपकार कि अनवस्था दोष हो जानेका प्रसंग आता है। देखिये, लक्षणसे विशेष रूपकार कि प्रदार कि पहा हुआ लक्ष्य भला बैसे सिद्ध होगा ? बताओ, भिन्न लक्षणसे जानोगे ? और प्रकृत लक्ष्यके न्यारे लक्षणको यदि न्यारे अन्य लक्षणों से जानोगे तब तो वह लक्षण भी अपने लक्ष्यकर लक्षणसे भिन्न ही होगा, भिर उसको भी तीसरे, चौथे, आदि लक्षणोंसे ही सिद्ध कर पाकोगे। वही तो अनवस्था दोष है। भिन्नभिन्न पडते चले जा रहे पदार्थों से प्रकरण प्राप्त लक्षणोंकी इति करना असम्भव वन बैदेगा। हां, बहुत दूर भी जाकर यदि किसी अभिन्न हो रहे लक्षण से उस अभिसद लक्षणकर लक्ष्यको साधोगे तब तो सभी लक्षण लक्ष्यसे भिन्न ही होते हैं, यह तब बैदियिकोंका एकान्त आग्रह नहीं व्यवस्थित हुआ। दूर जाकर जैसे लक्ष्यलक्षणों अभेद मानना अनिवार्य पड गया, उसी प्रकार प्रथम ही से क्यों नहीं कथांचित् भेदाभेदका आश्रय पकड लिया जाता है। दीर्घदिशितासे काम लो, दीर्घदिशिता से नहीं।

तथा यदि प्रसिद्धं तल्लक्षणं स्थ्यस्य प्रज्ञायकं तदा कुतस्तत्मसिद्धं ? स्वस्थणातसिदिति चेलात्तिः स्वलक्षणांतरक्षदित्यनवस्था । सुद्द्रमप्यनुसत्य यदि लक्षणं स्वस्थतः एव प्रसिध्धेचादाः न सम्बद्धः भिष्यमेव स्थाणं सभागस्य स्वात्मभूतसभागत्वात् । न चाऽप्रसिद्धं किचित्कस्यचिल्लभागितिः प्रयोगातः

दूसरी बात यह है कि सर्वथा भेद पक्षमें उस्य भी उक्षण हो जाय और उक्षण मी उक्ष्य बन बैठे इसको कौन रोक सकता है : स्वतंत्र हो रहे उदासीन पत्कजांकी स्वच्छन्दप्रशृति रोके रुकती भी तो नहीं है । यदि यह स्थूज सिद्धान्त माना जाय कि वह प्रसिद्ध पदार्थ ही उस अप्रसिद्ध उक्षयका उक्षण हो रहा संता उसका प्रकृष्ट ज्ञान करा देता है, तब तो हम जैन पूछेंगे कि उस उक्षणकी सिद्धी कैसे करोगे ! बताओ, यदि उस उक्षणके स्वकीय उक्षणान्तर से उसको प्रसिद्ध माना जायगा, तब तो वह उक्षणान्तर भी अपने न्यारे उक्षणान्तर से प्रसिद्ध होगा और उस बौधी कोछिक उक्षणकी प्रसिद्धि भी पांचवे आदि उक्षणोंसे होगी, इस तरह जिज्ञासा बढते बढते अनक्ष्यका, बन बैठेगी । अत्यधिक दूर भी चलते चलते अनक्ष्यके निवारणार्थ यदि उक्षणको निजस्वरूपसे ही प्रसिद्ध कर लिया जायगा तब तो सम्पूर्ण ही उक्षण मिन्न ही होते हैं, यह आपह नहीं चला। दसवी, बीसवी कोटिपर जाकर उक्षणका स्वास्पर्त धर्म ही उक्षण हो गया। जो पदार्थ अन्यवधि किस्सिक यहां प्रसिद्ध नहीं है, वह तो कोई भी किसीका मी उक्षण नहीं हो सकता है। इस प्रकार सब कोई कह रहे हैं । अतः कोई उक्षण भले ही उक्षण में उक्षण में उक्षण नहीं हो सकता है। इस प्रकार सब कोई कह रहे हैं । अतः कोई उक्षण भले ही उक्षण में हो उक्षण में उक्षण से उत्थि निज्ञ नहीं है।

तक्षीयज्ञमेव रूक्ष्याञ्चल्यादिवदिति चेत्र, विचर्ययमसंगात् । तादात्स्यावि-शेषण्यात्मीषयोगयोगस्म्योण्जयोगीपयोगादिरेव रुक्षणयात्मदिः न पुनरात्मादिरुपयोगादेरिति नियमहेत्वभावात् । मसिद्धत्वादुपयोगादिर्रुक्षणयिति चेत् , किं पुनरात्मादिरमसिद्धः तथीपयी-गमैकं कथमात्मोपयोगमोरम्युण्णयोषी तादारम्यं मसिद्धामसिद्धयोः सर्वथा तादारम्यविरोजात् ।

कोई अभेद एकांतवादी कहता है कि सर्वधा भेदवादमें दोष जाता है, तब तो लक्ष्यसे लक्षण अभिन ही माम लिया जाय। जैसे कि अप्रिक्षे उच्ण, दाहकत्व, पाचन, आदि उक्षण अभिन हैं, जैस जन आत्मासे उपयोगको कथंचित अभिन मानते ही हैं, हमारे कहनेसे सर्वथा अभेद मानलेवें। अब आचार्व कहते हैं, यह तो न कहना । क्योंकि सर्वया अभेद पक्षमें विपरीत होनेका प्रसंग हो जायगा। लक्य भी लक्षण बन बैठेगा। जब कि दोनों एक ही हैं, आत्मा और उपयोग अथवा अब्रि और उच्चताके तादात्म्यका कोई अन्तर न रहते हुथे भी उपयोग, उष्णता आदिक है। आत्मा, अग्नि, आदिकके लक्षण हो जांय, किन्तु फिर उपयोग, उष्णता, आदिके लक्षण आत्मा, अग्नि, आदि न होय इस तुम्हारी बातका नियम करानेवाला तुम्हारे पास कोई हेतु नहीं है। यदि तुम यों कही कि अभिन्न हो जानेसे क्या हुआ ! प्रसिद्ध होनेसे उपयोग, उच्चता, आदिक ही उक्षण है। और अप्रसिद्ध हुये आत्मा, अप्रि, ये छक्य हैं। यों कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि क्योंजी, फिर आत्मा अदिक क्या अप्रसिद्ध हैं ? उस उपयोग के अनुसार तो वे एक ही हैं। जब कि आपने उपयोग और आत्माका अभेद मान लिया है, तो दोनों ही प्रसिद्ध या दोनों ही अप्रसिद्ध हो सकेंगे । तदात्मक दो पदार्थीमें एक प्रसिद्ध और दूसरा अप्रसिद्ध यह तो हो नहीं सकता है। दूसरी बात यह है कि प्रसिद्ध हो रहे उपयोग और अप्रसिद्ध हो रहे आत्मा अथवा अप्रसिद्ध हो रही अप्रि और प्रसिद्ध हो रहे उच्च गुणका भला तादाल्य भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि प्रसिद्ध अप्रसिद्ध दो पदार्थीमें सर्वधा तादाल्य होनेका विरोध है। तमको स्वयं कण्ठोक्त उनका कथंचित भेद मानना पडा।

न वैकातेनामसिद्धस्य छह्यत्वं सर्विषाणवत् । नापि मसिद्धस्येव छक्षणवत् कथेचित्मसिद्धस्येष छह्यत्वोषपत्तेः द्रष्यत्वेन मसिद्धस्य हि चन्द्ररिक्षत्वनामसिद्धस्य छह्यत्वमुप्छध्यं
द्रष्यस्य प सत्त्वेन मसिद्धस्य द्रष्यत्वेनामसिद्धस्य छह्यत्वमुप्पधते सत्तोषि वस्तुत्वेन मसिद्धस्यासंत्रव्यतिरेकेणामसिद्धस्य छह्यत्वमुपछ्ह्यते नान्यया । न वैक्मनवस्या कस्यविक्किचिनर्णवापछन्यः । सर्वमानिर्णयस्य व्याद्वतत्वात् तस्यैव स्वरूपेण निर्णयात् । तदनिर्णये वा कयं
सर्वभागिषपदिद्धिः ।

एक बात यह भी है कि तुमने अप्रसिद्धको छत्य और प्रसिद्धको छक्षण कहा था, वह तो ठीक नहीं देखता है। कारण कि जो पदार्थ एकांत रूपसे यांनी संत्रींग स्वरूपसे अप्रसिद्ध है वह तो खर्मियाणके समान छक्ष्य नहीं बन संकता है तथा सर्वथा एकान्त रूपसे प्रसिद्ध हो रहे ही पदार्थको खर्मियाणके समान छक्ष्य नहीं बन संकता है तथा सर्वथा एकान्त रूपसे प्रसिद्ध हो रहे ही पदार्थको

छ स नहीं माना जाता है। हां कथंचित् अप्रसिद्ध और किसी अपेक्षा प्रसिद्ध हो रहे ही अर्थको छ स्पपना बनता है। देखिये, अग्नि उष्ण है इस प्रकार विशेष व्यक्तियों स्वरूप बह्रिका अज्ञान रखनेवाले किसी अन्युत्पन के सन्मुख किसी ज्ञानीने अग्निका उष्णत्व लक्षण कहा, यहां द्रव्यपनेसे प्रसिद्ध हो रहे और अग्निपनेसे नहीं प्रसिद्ध हो रहे ही अनलको लक्ष्यपना देखा गया है। पशुपनेसे प्रसिद्ध हो रही गायका रुक्षण श्रृंगसास्त्रावत्त्व कर दिया जाता है । अग्निको द्रव्य समझ रहे या गायको सामान्यरूपसे पशु या जीव समझ रहे मुम्बके प्रति वक्ता द्वारा उष्णपना या सींग, सासनासहितपना, रुक्षण करना सार्थक है । जो द्रव्यरूपसे या वस्तुरूपसे भी उक्त पदार्थीको नहीं समझता है उसकी चिकित्सा न्यारी है। ऐसी दशामें अग्निका द्रव्यपना प्रथम समझाने योग्य है। वहां भी सत्पने करके प्रसिद्ध हो रहे और द्रव्यपने करके अप्रसिद्ध हो रहे द्रव्यको छक्ष्यपना बन रहा है। तभी " सद्द्रव्यलक्षणम् " कहना समुचित प्रतीत होगा । यदि उत्पाद, व्यय, धौव्यसे सत्त्व भी किसीको ज्ञात न होय तो फिर उस सत्को ही छश्य बनाओ । किन्तु वस्तुपने करके प्रसिद्ध हो रहे और असतपनकी भिनता करके अप्रसिद्ध हो रहे ऐसे सत्को छक्ष्यपना देखा जा रहा है। अन्य प्रकारों से लक्ष्यपना नहीं वनता है। अर्थात्—उद्दिष्ट पदार्थका ही लक्षण किया जा सकता है और नामनिर्देश तो किसी न किसी निर्णीत धर्म से युक्त हो रहे पदार्थका किया जायगा। द्रव्यत्व धर्म से प्रसिद्ध हो रही अग्निका लक्षण उष्णत्व हो सकता है। यदि किसीको अग्निमें उष्णपनके समान द्रव्यत्व भी अप्रसिद्ध होय तो दश्यमान या सम्भाव्यमान अग्निका सतुपने करके प्रसिद्ध हो चुकना आवश्यक है। जो उस अग्निरूप पदार्थको खरविषाण आदि असत् पदार्थी से भिन्न समझता हुआ सत् समझ रहा है उस सामान्य सत् अर्थको द्रव्यपने करके छक्षित किया जा सकता है। यदि सत्पनेका भी वहां निर्णय नहीं है तो कमसे कम उसमें वस्तुपनेकी प्रसिद्धी तो अवस्य हो चक्रनी चाहिये । अवस्तुमें सत्पना नहीं दिखाया जागगा । वस्तुपना भी यदि निर्णात न होय तो अर्थ किया-कारित्व लक्षण करके उस सर्वनाम वाच्य अर्थकी प्रसिद्धि हो चुकना आवश्यक है। उत्तरोत्तर दस्वी, बीसवीं, कोटिपर पहुंचते हुये अप्रसिद्धि बनी रहेगी तो ऐसी दशामें उस लक्ष्यका लक्षण नहीं बनना चाहिये । सौमीं कोटिपर जाकर भी यदि छक्य किसी अंशसे प्रसिद्ध होगया है तो उससे उरछी आरेके निन्यानेवे छक्ष्योंको सुरूभतासे कथांचित् प्रसिद्ध बनाया जा सकता है। असंख्य कोटिपर पहुं-चकर भी कथमपि नहीं प्रसिद्ध द्वयेको तो किन्हीं भी अन्य उपायों करके छक्ष्यपना नहीं बन पाता है। यदि कोई यों कटाक्ष करे कि इस प्रकार चौथी, बीसकीं, सौमी, आदि कोटियोंतक पहुंचते पहुंचते कहीं भी आगे चलकर ठहरना नहीं होने से अनवस्था हो जायगी, आचार्य कहते हैं कि यों तो न कहना । क्योंकि किसी न किसीको आगे चलते हुये कहीं न कहीं तो निर्णय होना देखा जा रहा हैं। पौंगा मनुष्य बहुत दूर चलकर भी धर्मीके किसी अंशको नहीं जान पाया है, ऐसा कहनेवाले उस निजलोपी शून्यवादीके गुप्त चरके सन्मुख लक्षणवाक्य बोलना

अरण्यरोदन के समान व्यर्थ है। योडीसी भी बुद्धिको रखनेवाला जिन्नास पुरुष वीसवीं, पंचासवीं, तो क्या चौथी, पांचवी, कोटिपर ही द्रव्यपन, सत्व, वस्तुत्व, इन सामान्य धर्मी करके लक्ष्य धर्मीका निर्णय कर चुका प्रतीत हो जाता है। छश्यणीय पदार्थको सत्, द्रव्य, या वस्तु समझ रहे बुभुत्सुके लिये उपकारी वक्ता द्वारा लक्षण वाक्य करके विशेष अंशोंकी व्युत्पत्ति करा दी जाती है। ल यळक्षणभावको स्वीकार करनेवाळोंके यहां सभी पदार्थ, द्रव्य, वस्तु, आदिमें भी अनिर्णय बना रहे यह व्याघात दोषयुक्त वचन है। सबको मानकर पुनः उसमें नहीं निर्णय होनेको कह रहा पुरुष कहीं न कहीं निर्णयको अवस्य स्वीकार करता है। अतः हमको किसीका भी निर्णय नहीं है यों कहनेवाला पुरुष " माता मे बन्ध्या " के समान स्ववचनका विघात कर रहा है। उस पुरुषको उस सर्वत्र अनिर्णयका ही अपने अनिर्णयस्वरूप करके निर्णय हो रहा है। यदि उस अनिर्णयका अपने अनिर्णय डील करके भी निर्णय होना नहीं माना जायगा तो सर्वत्र अनिर्णयकी सिद्धि कैसे हो सकती है ? अर्थात् -- सेयमुभयतः पाशारज्जुः, अनिर्णयका अनिर्णय माना जाय तो भी कहीं न कहीं निर्णय होना बन जाता है। अनिर्णयका अनिर्णय ही तो निर्णय है। दो नञ् लगा देनेसे उसका सद्भाव आ जाता है और यदि अनिर्णयका निर्णय माना जाय तब तो स्रूलभतासे कहीं न कहीं निर्णय हो रहा सध जाता है। अतः सर्वत्र अनिर्णय कहना व्याघात दोषयक्त होता हुआ उसी प्रकार छलपूर्ण वचन है जैसे कि कोई मीमांसक या बौद्ध विद्वान् वीतराग पुरुषका निषेध करनेके लिये यह युक्ति देता है कि बहुतसे सराग, ढोंगी, बकभक्त, पुरुष भी वीतराग सज्जनके समान चेष्टा करते हैं और बीतराग पुरुष भी कदाचित पढाते, प्रायश्वित देते, प्रमीद भावना पावते हुये, सराग पुरुषोके समान चेष्टा करते हैं। बात यह है कि यह केवल कपटमात्र है। वह विद्वान् अवस्थ ही बीतराग और सरागके अन्तस्तलपर पहुंचकर उनके लक्षणोंको पहिचानता है तभी तो बीतराग भी सरागके समान चेष्टा करते हैं। यह सादश्य मूलक वाक्यको कहता है। मूलम्मा सोनेके समान दीखता है, चांदी सीप के समान भासती है। कृत्रिम, अकृत्रिम, मुक्ताफल एकसे दीखते हैं, यों बलाननेवाला पुरुष असली, नकलीकी परख करना अवश्य जानता है । सिद्धान्त कि सर्वथा अप्रसिद्ध ही लक्ष्य नहीं है। कथंचित् प्रसिद्ध और कथंचित् अप्रसिद्धको लक्ष्य कहना यक्तिपूर्ण जचता है।

सर्वथा मसिद्धं लक्षणित्यप्ययुक्तं, वृत्तद्राघिमादिना मसिद्धस्य दंडस्य कैश्चिदुरुपलक्ष्यै-विश्वेषरमसिद्धस्यापि देवदत्तलक्षणत्वमतीतेः । न हि मतिक्षणपरिणामः स्वर्गमापणशक्त्यादि सर्वथा सर्वस्य केनिचदुपलक्षयितुं शक्यते ।

आक्षेप नारने पहिले यह बात कही थी कि एकान्त रूप से अप्रसिद्ध हो रहा पदार्थ लक्ष्य होता है और सभी प्रकारों से प्रसिद्ध हो रहा पदार्थ लक्षण हुआ करता है। हम पहिले लक्ष्यक सर्वथा अप्रसिद्ध एकान्तवादका निराकरण कर चुके हैं। कथांचित (बहुभाग) अप्रसिद्ध और कथांचित्

(एकभास) प्रसिद्ध पदार्थ है। कक्ष्य हो सकता है। कहीं कहीं पदार्थके एक भागको भी लक्ष्य बनाया जा सकता है तथा सभी प्रकारोंसे प्रसिद्ध हो रहे पदार्थको रुक्षण कहना इस प्रकार उनका दूसरा आगह भी युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि गोळ आकार, लम्बाई, कठोरता, सुन्दरता आदि धर्मी करके प्रसिद्ध हो रहे फिर भी कठिनता से देखनेमें आवें ऐसे किन्हीं छपलपापन, सारभाग (जीहर) मूल्य, बांसकी जाति, आदिक विशेषताओं करके अप्रसिद्ध भी हो रहे दण्डको देवदत्तका छक्षणपना मतीत हो रहा है। तभी तो कक्षण कर चुकनेपर भी परीक्षा करना आवश्यक हो जाता है। देसदत्तका डण्डा कितने मूल्यका है ? किस देशका है ? ठोस है या पोळा है ? डण्डेकी इन सभी बातोंको प्रसिद्ध रूपसे जान देना कठिन कार्य है । बौद्ध मतानुसार सम्पूर्ण पदार्थीको क्षाणिक माना गया है, जैन भी ऋजुसूत्रनयसे सर्वको क्षणवतीं मानते हैं। दान, पूजन, आदि करनेवाछे जीवमें स्वर्ग प्राप्त करनेकी राक्ति मानी गयी है। बीजमें हजारों, लाखों, असंख्य, पीडियोंतक संतान प्रति-संतानरूपसे अंकुरको उत्पन्न करनेकी कुर्बद्धपत्न शक्ति मानी गयी है। सभी देखे जा रहे सम्बक्तिस्व इत्यमान स्कन्नोंको बींग्रोंने यथार्थरूपसे परमाण स्वरूप स्वीकार किया है। भावार्थ सभी बदार्थीमें एकान्तरूपसे विशेषतार्थे घुसी हुई हैं। संसारमे अनेक मायाचारी जीवदयाका ٌ । न जाने किन किन असंख्य अवक्तव्य अभिप्रायोंको छेकर जीव श्रमण कर रहे हैं । कोई कपडा दो वर्षतक चलता है तैसे ही कोई वस दो, चार, दस, बीस दिनतक कमती बढ़ती टिकाऊ होते हैं। कई हुए, बह, शरीरवाले पुरुषोंकी मृत्युयें सुनी जाती हैं। और दुर्वल, पतले, चिररोगी, अद्धांगप्रस्त लंगडे, कुष्टी पुरुष बीसों वर्षतक जीवित बने रहते देखे जा रहे हैं। कितनी ही घडियोंको दस, बीस वर्षतक नहीं समरवाना पडता है । साधमें बैसी ही घडियोंको एक एक महीनेमें ठीक कराना पडता है । बनारसका ज़क किसी किसी व्यक्तिको प्रकृतिके अनुकूछ नहीं पडता है। साधमें अन्य व्यक्तिको हृष्ट, पृष्ट, बिक्ट, बना देता है। बात यह है कि सम्पूर्ण परार्थों के अन्तरंग क्षणस्थायीपन, स्त्रर्गप्रापणशक्ति, आहि स्वभाव मा प्रकार सभी जीवोंमें किसी भी जीव करके जाननेके छिये सामर्थ्य नहीं है। अतः सर्वधा प्रसिद्ध हो रहे पदार्थको ही लक्षण कहना उचित नहीं है। सर्वज्ञ देवके सन्मुख तो लक्षण कर-नेकी आवश्यकता ही नहीं है। जिनको लक्षणके द्वारा लक्ष्यका बोध कराया जाता है वे प्रतिपाद और प्रतिपादक दोनों भी लक्षणके सम्पूर्ण स्वभावोंका निर्णय कर चुकनवाले नहीं होते हैं। अतः कक्षण भी बहुतसे सूवम अंशोंमें अप्रसिद्ध है, फिर भी स्थूळ अंशोंकी प्रसिद्धिके अनुसार बक्ता, श्रोताओंके यहां प्रसिद्ध ही रहा उक्षण मान लिया जाता है। उत्परसे सदृढ दीख रहे शरीरमें भी कोई रोग या निर्वेखताका अंश छिपा हुआ है। अथवा शक्तिशाली प्रबल कारण जुट जानेपर उसी समय परिस्थिति अनुसार बन जाता है। रोगी कोढी जीवोंमें भी आयुष्य कर्म या नियत हिंडिओंका दढपना वर्त रहा है। काशीके जलवायुमें भी किसी प्रकृतिवाले शरीरको पोषण करनेके अंश विद्यमान है और दूसरे शरीरको सरोग ब्सानेके शाकीभाग उसमें पाये जाते हैं। सर्वक्षके अतिरिक्त किसी भी जीवको किसी भी पदार्थके संपूर्ण

केंद्रोंका परिकार नहीं हो पासा है। न जाने किस सिमिनसे कहां क्या नैसिनिक भाव क्रमज बैठे। जमाता शीतवाका मिश्रण विशेष होनेपर किसीको शीव इटेप्प (जुकाम) हो जाता है । जिससे कि मेरों रस, इधिर, आदिको नासिका द्वारसे निकालने योग्य वक्खर सारिखे कमको बनातेके लिये उपयोगी पंत्रालय (कारखाना) शरीरमें बन जाता है। सर्वथा दृष्टपुष्ट नीरोग शरीरमें प्लेग हैजा, आदि छत बीमारियोंका प्रसंग मिलनेपर उसी समय शरीरमें महारोग उत्पादक अंश उपज जाते हैं। शुद्ध द्रव्योंके अतिरिक्त अनन्तानन्त शेष रहे जीव और शरीर, अन्न, जल आदिक पदार्थ तो निमित्तोंके मिलते हैं। इद नैमित्तिक परिणामोंको बनानेके लिये मुंह बांऐं बैठे रहते हैं। जैसे कि लोकमें नाईको धोबीकी, धोबीको कोरियाकी, कोरियाको बढईकी, बढईको किसानकी, किसानको साहकारकी, साहकारको राजाकी, राजाको अध्यापककी, अध्यापकको दुकानदानदारकी, दुकानदारको न्यायालयकी, न्यायालयको अपरा-धियोंकी, इत्यादिक रूपसे परस्परमें एक दूसरेकी आवश्यकतार्ये पढ रहीं है, उसी प्रकार जड पदार्थ पुद्रलोंमें भी परश्परकी अपेक्षा रखते हुये अनेक परिणाम हो रहे हैं। बादल आना, वृष्टि होना, बिजली चमकना, ऋतुयें बदलना, सूर्यका एकसी चौरासी गलियोंपर चुमना, चन्द्रोदय होना, पृथ्वीके गर्भेमें विकार होना आंधी, गगनध्रि, कूडा, कचरा, मल मूत्रका सडना इत्यादिक परिणाम अनेक स्कन्धोंको भिन्न मिन्न परिणाम बनानेके उपयोगी निमित्त कारण बना देते हैं । उन निमित्तकारण स्कन्धोंसे जीव या शरीर अथवा जड पदार्थोंमें विभिन्न परिणितियां वर्त्तती रहती हैं जो कि किसी बृक्षके पृथ्पेंका उद्गम कराती हैं, कहीं फल लगाती हैं, कहीं पत्तोंको झाडती हैं, ऋतुओंके योग्य कुत्ता, गधा, भैंसा, कामविकारोंको उत्पन्न कराती हैं। आम, खरबूजा, ककडी, अमरूद, छकाट, आङ्बुखारे, अनार, आदि फलोंको उगाती हैं। कहीं दक्षिण देशमें चैत्रमासमें ज्वार पकती है, जब कि उत्तर प्रान्तमें अगहन मासमें ही पक जाती है। गिरनारजी प्रान्तमें माघ महीनेमें ही खरबूजाका फलकाल (फसळ) आ जाता है, किन्तु आगरा, सहारनपूरकी ओर जेठमें और ळखनऊमें वैसाख महीनेमें उनका फलकाल है। कितने ही प्रान्तोंमें आधफल चैत्र बैसाख में ही फालित ही जाता है। अनेक स्थानोंपर आषाढ सावनमें उनका पक्ता प्रारम्भ होता है। कुछ आम्र बृक्षोंकी ऐसी जातियां हैं, जिनमें भादोंमें बीर आकर कार्तिकमें पकना प्रारम्भ होता है। कोई कोई आम पूष माहमें भी पकते हैं । इत्यादिक सम्पूर्ण कार्यकारणमाव निमित्त नैमित्तिकोंकी योग्यता मिळनेपर व्यवस्थित हो रहे हैं। जीव या पुहलोंमें वही शक्ति है। " काले कल्पशतेऽपि च गते शिवानां न विकिया उक्या. उत्पालीअप्रे यदि स्वात्त्रिकोमसम्भात्तिकरणगर्दः " इस वाक्यरे अतित होता है कि एक छोडासा स्वस्थ भी मनकता तीन लोकतो और पीट करनेकी समर्थ रखता है। यह दन्योंके अतिरिक्त अवस्तातना इन्सोंको नह उसक पुषक कर सकता है। पदार्थीमें प्रसिद्ध, अप्रसिद्ध, कार्यकारी, अकार्यकारी अनेक स्वभाव भरे हुये हैं। अतः लक्षणको सर्वथा प्रसिद्ध ही और लक्ष्मको सर्वथा अवस्थित ही कहना न्यासोचित नहीं है।

यदि पुनर्येन रूपेण प्रसिद्धो दंडादिस्तेन छक्षणं, देवदत्तश्च येन रूपेणाप्रसिद्धस्तेन छक्ष्य इति प्रतीतेः प्रसिद्धस्य छक्षणत्वपप्रसिद्धस्य द्व छक्ष्यत्विमिति मतं, तदा कयं छक्ष्य- छक्षणयोस्तादात्म्येकांतः स्याद्विरुद्धभर्माध्यासात् । ततः कयंचिद्धिस्ययोरिभस्योश्च छक्ष्य- छक्षणभावः प्रतीतिसद्भावात् सर्वथा विरोधाभावात्, अन्यथा छक्ष्यछक्षणश्चन्यतापत्तेः।

यदि फिर आक्षेप करनेवाले तुम्हारा यह मन्तव्य होय कि जिस स्वरूप करके दण्ड, टोपी, कुण्डल, आदिक प्रसिद्ध हो रहे हैं, उस प्रसिद्ध स्वरूप करके वे दण्ड आदिक लक्षण हैं, अपने अप-सिद्ध स्वरूपों करके दण्ड आदिक रूक्षण नहीं हैं तथा उसी प्रकार जिस स्वरूपकरके देवदत्त अप्र-सिद्ध हो रहा है उस अप्रसिद्ध स्वभावकरके ही देवदत्त लक्ष्य माना गया है, अपने प्रसिद्ध हो रहे स्वमावों करके देवदत्त लक्ष्य नहीं है । क्योंकि इस प्रकार लोकमें बालक, बालिकाओंतकको प्रतीति हो रही है। सम्पूर्ण जन प्रसिद्ध हो रहेको लक्षणपना इष्ट करते हैं और अप्रसिद्ध हो रहेको तो लक्ष्य-पना समझा जा रहा है। ऐसा मन्तन्य होनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो आप अच्छा कह रहे हैं, किन्तु ऐसी अभेदकी दशामें अप्रसिद्ध लक्ष्य और प्रसिद्ध लक्षणका एकान्तरूपसे तादाल्य भला कैसे होगा है क्योंकि प्रसिद्धि और अप्रसिद्धिकी अपेक्षा लक्षण और लक्ष्यमें विरुद्धधर्मीका अधिकार जम रहा है। तिस कारणसे जैसे प्रसिद्धि अप्रसिद्धिक एकान्तको आपने लक्षण और लक्ष्यमें से उठा लिया है, उसी प्रकार अभेद एकान्तको भी निकाल दीजियेगा । तैसा होजानेसे कथंचित् भिन्न और अभिन होरहे दो पदार्थीमें लक्ष्यलक्षणभाव बनेगा । कथंचित् भिन्न अभिन अथवा कथंचित् प्रसिद्ध अप्रसिद्ध पदार्थीमें ही लक्ष्यलक्षणभावको प्रमाणोंसे सिद्ध करनेवाली प्रतीतियां विद्यमान हैं। इस सिद्धान्तमें सभी प्रकारोंमेंसे किसी भी प्रकारसे विरोध दोषका अभाव है, अन्यथा यानी उक्त " कथंचित स्वरूप जीवन रसायनका अतिक्रमण कर दूसरे प्रकारोंसे लक्ष्यलक्षणभाव माना जायगा तब तो लक्ष्य और **उक्षण दोनों**के शून्यपनका प्रसंग हो जायगा। जैसे कि अग्नि और उष्णताका भेद माननेपर नैयायिकोंके यहां अग्निस्वरूप आधारके विना निराधार होरही उच्चता तो मर जायगी और उच्चतासे रीती अग्नि भी स्वभावोंसे रहित होरही शून्य हो जायगी । सर्वथा अभेद पक्षमें भी ज्ञानका नाश हो जानेस आत्माका नाश अवस्यम्भावी है। ऐसी दशामें जगत्से छक्ष्यलक्षणभाव सर्वथा उठ जायगा।

संवृत्या लक्ष्यलक्षणभाव इति चेक, संवृत्तेरूपचारत्वे युख्याभावेऽनुपपचेः। मृषात्वे न संवृत्तिर्गाम यया तद्भावः सिध्येत्। विचारतोनुपपद्यमाना विकल्पबुद्धः संवृतिरिति चेत्, क्यं तया लक्ष्यलक्षणभावस्तस्य तत्रावभासनादिति चेत् सिद्धस्तिर्दि बौद्धो लक्ष्यलक्षणभावः तद्दर्वोद्धोपि कि न सिध्येत् । विकल्पाद्धिर्भूतस्यासंभवात् इति चेक्, तस्यासंभुवे विकल्पविषय-त्वायोगात्। न च सर्वो विकल्पविषयोऽसंभवक्षेत्र ,सम्भवतोऽपि विकल्पविषद्वोपपतेः प्रत्यक्ष-विषयवत् सर्वो विकल्पविष्योऽसंभवदेवयः किकल्पत्वान्यनोराज्यादिविकल्पविदिति चेत्, सर्वे प्रत्यक्ष-

मसंभवद्भिषयं मत्यक्षत्वात् केञ्चोडुकमत्यक्षवदिति किं न स्यात् । मत्यक्षाभासोऽसंभवद्भिषयो इष्टो न मत्यक्षमिति चेत् तर्हि विकल्याभासोसंभवद्भिषयो न विकल्प इति समानः परिहारः ।

बीद कहते हैं कि जगत्में से वास्तविक छक्ष्यलक्षणभाव उठजाय कोई क्षांति नहीं है। आपत्ति जितनी शीघ टले उतनी अच्छी है । स्थूलबुद्धिवाले जीवोंने कल्पना करके लक्ष्यलक्षणमाव गढिलिया है। देखी, कभी देवदत्त भी दण्डका लक्षण हो जाता है। देवदत्तको जाननेवाला पुरुष कदाचित अज्ञात अप्रसिद्ध डण्डेको देवदत्तदारा चीन्ह लेता है। अप्रि करके भी अज्ञात उष्णता लक्ष्य हो जाती है। " कहीं नाव छढा पर और कहीं छढा नाव पर " इस नीतिके अनुसार रत्नसे राजा और राजासे रत्नका छक्ष्य कर अथवा गुणसे गुणी और गुणीसे गुणका छक्षण कर छिया जाता है। वचनसे वक्ताकी और वक्तासे वचनकी या पुस्तकनिर्मातासे पुस्तककी और पुस्तकसे पुस्तक निर्माताकी जांच हो जाती है। अतः उक्त्य या उक्षण कोई नियत पदार्थ नहीं है। व्यवहारमें कल्पना चाहे जैसी करलो, कोई बालक अपने काठके खिलौनेको या उपडेको घोडा कहे एतावता क्या वह वस्तुभूत घोडा होकर अपने ऊपर चढाता हुआ अश्रवारको अभीष्ट स्थानपर छ जा सकता है ! कभी नहीं । अब आचार्य कहते हैं कि यह तो बौदोंको नहीं कहना चाहिये । क्योंकि संवृत्ति यदि उपचार स्वरूप मानी जायगी तब तो मुख्यपदार्थको स्वीकार किये विना व्यवहार बनता नहीं है। अतः व्यवहार से लक्ष्यलक्षणभाव मानने वालेको मुख्य लक्ष्यलक्षणभाव भी मान पडेगा। मुख्य घोडा या सिंह जीत्रोंके होने पर ही बालक बिलीनेंमें घोडा, सिंह, हाथी, की कल्पना कर लेता है। सर्वथा असत् खरविषाणका उपचार होता हुआ नहीं देखा गया है। यदि संवृत्तिका अर्थ बौद्ध झूंठा, असत् पदार्थ करेंगे तब तो वह संवृत्तिकल्पना नाममात्रको भी नहीं हुई, जिस संवृत्तिसे कि वह लक्ष्यलक्षणभाव साध दिया जाय । परमार्थभूत पदार्थेसे विपरीत पड जानेके कारण झूंठी संवृत्ति कुछ भी नहीं हो सकती है । यदि बौद्ध निचारींसे नहीं सिद्ध हो रही निकल्पबुद्धिको संश्वति कहेंगे तब तो हम जैन प्छेंगे कि वैसी वस्तुको नहीं विषय करनेवाली उस विकल्पबुद्धिरूप संवृत्तिसे भटा छश्यलक्षणभाव कैसे सिद्ध हो सकेगा ! तुम्ही विचारो । आकाशमें कल्पित भूमिपर उपवन नहीं खडा किया जा सकता है। पुनरिप बौद्ध यदि यों कहें कि हम क्या करें उस विकल्पबुद्धिमें उस छश्यलक्षणमावका व्यवहारी जीवींको प्रतिभास हो रहा है, यों कहनेपर तो हम जैनोंको कहना पडेगा कि तब तो अन्तरंग बृद्धिमें आरुद्ध हो रहा लक्ष्यलक्षणभाव सिद्ध हो चुका । बस, उसी दृष्टान्तके अनुसार विकल्पबुद्धिसे अतिरिक्त बहिरंग वस्तुभृत भी छस्य छक्षणभाव क्यों नहीं सिद्ध हो जायगा ! फिर भी बौद्ध यदि यों कहें कि न्यवहार विकल्पनाओंसे बहिर्भूत छक्ष्यछक्षणभावका असम्भव हो जानेसे अबौद्ध छक्ष्यछक्षणभाव कोई नहीं है। प्रन्थकार यों कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि ज्ञापक विकल्पज्ञानसे वहिर्भत हो रहे उस उक्ष्यउद्धाणभाव हेयका असम्भव मानोगे तब तो उसको विकल्प झानकी विषयताका

अयोग हो जीवना । श्रेयके विना जान किलको जानेगा । बीहजन विकल्प जानके विषयभूत पराचीको असम्बन मोम बैठ हैं, उसपर हमारा यह कहना है कि विकल्पनानीक विषय बन रहे सभी विषय असम्मन रहे ही हैं, यह तो नहीं समझना । क्योंकि नास्तविक सम्भन रहे भी पदार्थको निकल्प क्रांनीकी विषयता बन रही है, जैसे कि प्रत्यक्षकानका विषयभूत पंदार्थ परमार्थरूपसे सन्मव रहा है, इसंपर बौद्ध अनुमान बनाकर आक्षेप करते हैं कि सम्पूर्ण विकल्पज्ञान (पक्ष) असम्भव हो रहे विषयोंकी जान बैठे हैं (साध्य) विकल्पना होनेस (हेतु) मनमें राजापना, इन्ह्रपन, आदिकी विकर्णनाओंके समान (अन्वय दंशन्त) यो करनेपर तो आचार्य महाराज भी कटाक्ष करते हैं कि संबर्ण प्रत्यक्ष (पक्ष) असम्भव हो रहे विषयींकी जान रहे हैं (साध्य) प्रत्यक्षपना डोनेसे (हेतु) सीपमें इथे चाँदीके क्षान या मृगतुष्णामें हुथे जलकान आदि आन्त प्रत्यक्षीके समाम (अन्वियद्ष्युन्ति) यह व्यवस्था भी क्यीं नहीं बंग जावेगी ? अर्थात् एक झेठे विकल्पको लेकर यदि सभी विकल्प ज्ञानको अपरमार्थभूत माना जायगा तब तो कुछ मिथ्या प्रत्यक्षोंको दृष्टान्त बनाकर समी सबै, झुँठे, प्रत्यक्षोंको निरालम्ब साध दिया जायगा । एक कंनैटाके सदश सभी प्राणी कनैटा ही जायों ? यदि बीद यों कहे कि प्रत्यक्षके समान दील रहा झंठा प्रत्यक्षामास तो असम्भव रहें विषयको जान रहा देखा गया है, किन्तु समीचीन प्रत्यक्ष तो असम्भव विषयकोछा नहीं है। उसका विषय तो बस्तुभूत स्वलक्षण है, तब तो हम जैन भी कह देंगे कि शुंठा विकल्प बानामांस तो असम्भव रहे विषयका प्राहक है। हां, समीचीन विकल्पनान नहीं। प्रमाणात्मक विकल्प-ज्ञानका विषय तो परमार्थभूत सम्मव रहा है। इस प्रकार तुम्हारा प्रत्यक्ष ज्ञानके छिये जो परिहार है वैसा ही हमारा विकल्पज्ञानोंके असम्भव विषयीपनके आरोपका परिहार समान कोटिका है. रेफ मात्र अन्तर नहीं । अतः समीचीन विकल्पज्ञानसे हुआ लक्ष्यलक्षणभाव वास्तविक ठहर जाता है।

कः पुनः सत्यो विकल्पः मत्यसं कि सत्यमिति समः पर्यनुयोगः । यतः मवर्तमानीर्थ-क्रियायां न विसंवाद्यते तत्सम्यक् मत्यसमिति चेत्, यतो विकल्पाद्ये परिछिद्य मवर्तमानीर्थ-क्रियायां न विसंवाद्यते स सत्यमिति कि नाजुमन्यसे ?

बौद्ध विद्वान् आचार्योके प्रति सकटाक्ष प्रश्न करते हैं कि आप जैनोंने समीचीन विकल्पज्ञानका विषय परमार्थम्त कहा है, अतः यह बतलाओ कि जगत्में यह विकल्पज्ञान फिर संस्य
कौनंसा है ! यों पूछनेपर तो हम जैन भी बौद्धोंस पूछेंगे कि तुम्हारे यहां वह कौनंसा प्रत्यक्षणान
सस्य माना गया है जिसका कि विषय वस्तुमृत होय । इस प्रकार तुम्हारे उठाये हुये चौचके समान
हमारा भी चौच तुम्हारे ऊपर समान रूपसे वैसाका वैसा ही छग बैठता है । उक्त चौचका बाद बौद्ध
पह उत्तर कहें कि जिस प्रत्यक्षप्रमाणसे अर्थको जानंता हुआ पुरुष अर्थिकियांकी करनेमें पूछ चूक
नहीं करता है, वह प्रत्यक्ष समीचीन बौका जाता है । अर्थात जैसे अलकी जानंकर यदि कान,
पान, अवगोहनक्ष्य किया ठीक ठीक उत्तरे ती वह जलका प्रत्यक्ष समीचीन सम्बा आया। और

जलको जानकर बाह्य रेत हाथमें आवे या चांदीको जानकर सीपकी अर्थ कियायें होने लगे तो वह प्रत्यक्ष असत्य है। बीद्रोंके यों कहने पर तो हम जैन भी उनके चोधका उत्तर यों दे सकते हैं कि जिस विकल्प ज्ञानसे अर्थकी परिच्छिति कर प्रवृत्ति कर रहा ज्ञाता यदि अर्थ किया करनेमें विसंवाद (चीका) को प्राप्त नहीं होता है वह विकल्प सत्य है। रोष विसंवाद करानेवाले विकल्पज्ञान असत्य हैं, इस हमारी बातको भी क्यों नहीं मान लेते हो ! अर्थात्—अपने हाथके पामरेको बड़ा भारी श्रमोत्पादक कहना और दूसरेके हाथमें धनरहे पामरेको बीजनाक समान हलका समझना अनुचित है। अतः विकल्पज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानको जपर किये गये आक्षेप और समाधान दोनों वादी, प्रतिवादियोंके यहां तुल्य हैं।

कि पुनर्विकल्पस्यार्थपरिच्छेदकर्तं ? मत्यक्षस्य कि ? अविचलितस्पष्टार्थावभासित्वमिति चेत्, कस्यचिद्विकल्पस्यापि तदेव, कस्यचित्तु वापकविधुरास्पष्टार्थावभासित्वमपीति मन्यामहे । अस्पष्टार्थ एव न भवतीति चेत् कृतस्तस्यानर्थत्वं ? पुनरस्पष्टतयानवभासनादिति चेत्, स्पष्टाप्ये-वमनर्थः स्पात् पुनः स्पष्टतयानवभासनात् । यथैव हि दूरात्पादपादिसामान्यमस्पष्टतया मतिभातं पुनर्निकटदेशवर्तितायां तदेवास्पष्टं न मतिभाति तदिशेषस्य तदा मतिभासनात् । तथैव हि सिक्व-हितस्य पादपादिविश्विष्टं रूपं स्पष्टतया मतिभातं पुनर्द्रतरदेश्वचर्तितायां न तदेव स्पष्टं मतिभासते ।

बीद्ध पूंछते हैं कि आप जैन यह बताओ कि तुम्हारे यहां माने गये प्रमाण आत्मक विकल्प-**बानका अर्थ परिच्छेदकपना क्या है ? इस प्रकार बीद्रोंके आक्षेप करनेपर हम जैन भी बीद्रोंसे पृंछते** हैं कि तुम्हारे यहां भी प्रमाण माने गये प्रत्यक्षज्ञानकी अर्थ परिच्छेदकता भळा फिर क्या मानी गयी है ! इसका उत्तर यदि बौद्ध यों कहें कि चलायमान न होकर अर्थका स्पष्टरूपमे प्रकाशकपना ही प्रत्यक्षज्ञानकी अर्थपरिच्छेदकता है, यों कहनेपर तो इम जैन भी वही उत्तर कहेंगे कि किसी किसी साकार प्रत्यक्ष आत्मक विकल्पका भी वह चलनरहित स्पष्ट अर्थका प्रकाशकपना ही अर्थपरिच्छेद-कता मान की जाओ । हां, किसी किसी अनुमान, तर्कज्ञान, आगम, रूप विकल्प ज्ञानोंको तो बाधा रहित होकर अस्पष्ट अर्थका प्रकाशकपना भी उनकी अर्थपरिन्छिति मानी गयी है। स्पष्ट, अस्पष्ट, दोनें प्रकारके विकल्प झानोंको निर्वाध होकर अर्थप्रकाशकपन है । ऐसा हम जैन स्वीकार कर मान रहे हैं. यदि अकेल प्रत्यक्ष द्वारा ही वस्तुभूत स्पष्ट अर्थका विषय होना माननेवाले बौद्ध यों कहें कि जगतुमें अस्पष्ट अर्थ तों कोई ही नहीं है। जगत्में जो कुछ है वह स्पष्ट हो रहा प्रत्यक्षज्ञानसे ही विषय कर छिया जाता है। अस्पष्ट सामान्यको जाननेवाछे अनुमानका या आगम आदि ज्ञानोंका विषय वस्तुभृत ही नहीं है। अपरमार्थ हैं, को बौदाने कहनेपर जैन कहते हैं कि तुमने उस अस्पष्टका वास्तविक अर्थपना कैसे नहीं समझा है ! अर्थात् --- अस्पष्ट पदार्थ परमार्थभृत न होकर अनर्थ है यह तुमने कैसे जाना ! बताओ ! इसके उत्तरमें फिर भी तम यो कही कि निज स्वरूप माने गये अस्पष्टपने करके उसका प्रतिभास ही नहीं होता है। अतः वह अस्पष्ट अर्थ अवास्तविक है। जैसे कि बन्ध्यापुत्रका बन्ध्या े पुत्रपने करके

प्रतिभासना नहीं होनेसे वह अनर्थ समझा जाता है। अर्थको तो स्पष्ट रूपसे प्रकाशना चाहिये था। बीदों के यों कहनेपर तो हम (जैन) भी कटाक्ष करते हैं कि इस प्रकार तो तुम्हारा माना हुआ स्पष्ट अर्थ भी अनर्थ होजाओ । क्योंकि उसका भी फिर दूर हो जानेपर स्पष्टरूपसे प्रतिभास नहीं होता है। देखो, जिस प्रकार आप बौद्ध अस्परको अनर्थपना सिद्ध करनेके छिए यों कुतर्क देवेंगे कि जिस ही प्रकार दूरते देखनेपर वृक्ष, प्राम, आदिक समान्य धर्म अस्पष्टपने करके जाने जा खुके हैं. किन्तु फिर चलते चलते निकट देशमें वर्त जाना होनेपर वही सामान्य अस्पष्ट नहीं दीखता है। क्योंकि निकट चर्छ जानेपर तो उस समय उन बृक्ष, ग्राम, आदिके विशेष धर्मीका स्पष्ट प्रातिभास होने छग जाता है। अतः अस्पष्ट अर्थ कोई वास्तविक नहीं है। यदि अस्पष्ट अर्थ कोई वास्तविक होता तो समीप जानेपर विशेषोंके समान और भी बढिया ढंगसे अस्पष्ट दीवने छग जाता । किन्त इसके विपरीत निकट देश हो जानेपर उस अत्पष्ट अर्थका खोज ही मिट जाता है । अतः अस्पष्ट अर्थ कोई वास्तविक नहीं है। आचार्य ही कह रहे हैं कि जैसे बौद्र यह कटाक्ष करते हैं, उस ही प्रकार हम जैन भी कह देंगे कि देखिये निकटवत्ती हो रहे पुरुषको बृक्ष, हवेली, सुवर्ण, आदिका विशेपोंसे घिरा हुआ स्वरूप तो स्पष्टपने करके प्रतिभास चुका है। पुनः ज्ञाता या ज्ञेयके अधिक दूर देशमें वर्त्त जाने.पर फिर वहीं स्पष्टरूप नहीं प्रतिभासता है। एतावता स्पष्ट अर्थ भी अनर्थ बन बैठेगा । कारण वहीं है कि एपष्ट अर्थ यदि वास्तविक होता तो दूर देशवर्ती हो जानेपर भी रपष्ट ही दीखता रहता, जैसे कि चन्द्रमा चन्द्रस्वरूप करके ही दीखता रहता है। देशकी परावृत्ति हो जानेसे अर्थ अपने स्वरूपको नहीं परावृत कर सकता (बदल सकता) है। मूंसल यदि स्वर्गमें चला जाय तो वहां भी कूटेगा ही, चण्टा, घडियालों, पर स्वर्गमें भी मौंगरोंकी चोटें पडती हैं। बात यह है कि घोड़ा दूरसे या पाससे देखनेपर हाथी या ऊंट नहीं हो जाता है। तभी तो जैनोंने स्पष्टता या अस्पष्टताको अर्थके धर्म नहीं मानकर ज्ञानका धर्म इष्ट किया है।

यदि पुनः सिम्निहितज्ञानग्राद्यमेव तद्द्पं विशिष्टिमिति मितः तदा दिविष्टादिज्ञानग्राद्यमेव तद्द्पं सामान्यमिति किं न मतं । यथा विशिष्टं पादपादिरूपं स्वामर्थिकियां निवर्तयित तथा पादपादिसामान्यरूपमि । प्रतिपचुः परितोषकरणं हि यद्यर्थिकया तदा तत्सामान्यस्थापि सास्त्येव कस्यिचित्तावता परितोषात् । अय स्वविषयक्षानजनकत्वं तद्दिष सामान्यस्थास्ति ।

यदि १पष्टको ही वास्तिवक अर्थ कहनेवाले बौद्ध फिर यों कहें कि अधिक निकट अवस्थामें हुये ज्ञानके द्वारा प्रहण करने योग्य वह १पष्ट रूप ही तो बिशेषाक्रान्त हो रहा यथार्थ है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार बौद्धोंकी बुद्धि होगी तब तो जैनोंका भी यह मत क्यों नहीं मान लिया जाय कि दूरवर्ती दशा या विशेषके अप्रत्यक्षकी अवस्था अथवा असाधारण धर्मोंका अदर्शन आदि अवस्थाओं हुये ज्ञान द्वारा प्रहण किया जा रहा ही वह अस्पष्टरूप सामान्य पदार्थ वस्तुमृत है। जिस प्रकार कि तुम बौद्धोंके यहां विशेषाक्रान्त हो रहे वृक्ष, जल, आदिके विशेषरूप अपनी अपनी

बोग्य अर्थिकियाओंको सम्पादन कराते हैं, उस ही प्रकार हमारे यहां वृक्ष, प्राम, आदि सामान्यरूप भी पदार्थ अपनी योग्य अर्थिकियाको बनाते रहते हैं। अर्थात्—सभी स्थलोंपर बढिया विद्वान् नहीं पाये जाते हैं। किन्त अनेक धनपति या मण्डलियां छोटे छोटे पण्डितोंसे ही अपने अपने रिक्त स्थानकी पूर्ति कर छेते हैं। सूक्ष्म गवेषणं करनेपर यदि यों कहा कि विशेष विद्वान द्वारा होनेवाछे कार्यको सामान्य बिद्धान नहीं कर सकता है तो हमें भी साथमें कहना पडता है कि " पीर बबर्ची भिक्ती खर " की नीति अनुसार सामान्य विद्वानक द्वारा सम्हाल लिये गये कार्योको विशेष विद्वान भी नहीं सम्हाल सकता है। नौकरानीके कार्यको रानी नहीं कर सकती है। यदि बौद्ध यों कहें कि बाता पुरुषंको परितोष करानेवाला पदार्थ तो स्पष्टरूप विशेष ही है। सामान्य गाय, घोडे, द्वभ देनेमें या असवारी करनेमें उपयोगी नहीं हैं। अतः अच्छा संतोप करा देना ही वस्तुमूत पदार्थकी अर्थिकिया है जो कि स्पष्ट विशेषसे ही साध्य है, तब तो इस जैन कहेंगे कि वह प्रति-पत्ताको पूर्ण सन्तोषित कर देना रूप अर्थिकया तो अस्पष्ट हो रहे सामान्य अर्थकी भी विद्यमान है। मावार्थ-किसी किसी अल्पसन्तोषीको उतने सामान्यमात्रसे ही परितोष होना देखा जाता है। जो अल्प-आरम्भ परिप्रहको धारते हैं वे उदर पार्तिके लिये रूखासूखा सामान्य मोजन पाकर या मोटा, थोथा, कैसा भी वस पाकर भरण, आच्छादन, कर प्रसन्न बने रहते हैं। कैसा भी काळा, गोरा, मोटा, पतला, मूर्ज, पण्डित, लडका हो माताको वही सामान्य पुत्र प्रसन्तताका हेत है। गृहकी या अर्जवि-काकी क्रेश करनेवाली पराधीनताको सुगत रहे पुरुषके लिये जो कुछ भी छोटासा अपना गृह स्वतंत्रवृत्तिका साधन प्राप्त हो जातः है वही परितोष उत्पादक है। बात यह है कि अधिक परिचय हो जाने से विशेष पदार्थ ही सामान्य हो जाता है । दुर्लभ अवस्थाओं में सामान्य पदार्थ ही विशेष बन जाता है। रूपको निरखनेवाली कामुक पुरुषोंकी मण्डलीमें अन्य गुण, अवगुणोंकी अपेक्षा नहीं कर जिस सौन्दर्यपर विशेष दृष्टि रखी जाती है, सदगृहस्थके यहां उसी सौन्दर्य या असुन्दरतापर विशेष छक्ष्य रखते हुये उस व्यक्तिके गुण अवगुणों, की ओर विशेष छक्ष्य रखा जाता है। विद्वानोंके लिये जो सामान्य बातें हैं वही स्थूल बुद्धित्राले समाजके लिये तिरोष हो जाती हैं। कदाचित बहुत से विशेष पदार्थीका मिल जाना उल्टा टंटा, बखेडा, खडा कर देता है। कहीं कहीं तो विशेषकी अपेक्षा सामान्यसे अधिक सन्तोष होता है। जो बृद्ध पुरुप घोडेपर चढना नहीं जानता है उसके लिये साधारण टहू, सन्तोषकारक है। नटखटा, बढिया, घोडा तो उस बृद्धको हिला देगा | दुकानदारको सीधासाधा साधारण प्राहक लाभ देकर जैसा सन्तोष उत्पन्न कर देता है वैसा चंचल (चलता पुरजा) प्राहक लाभदायक नहीं है। " घर घर चल मटियारी है " यह परि-भाषा सामान्यवादको पुष्ट कर रही है। तभी तो जैनोंने वास्तविक अर्थको सामान्य, विशेष, आत्मक स्वीकार किया है। अब बीद यदि यों कहैं कि अपने विषयमें ज्ञानको उत्पन्न करा देना ही वस्तुभूत अर्थ की अर्थिकिया है, आचार्य कहते हैं कि अपने निषयमें शानको पैदा करा देना वह अर्थिकया तो

विशेष पदार्थके समान सामान्य पदार्थकी भी विद्यमान है। जो भोला मनुष्य परीक्षक नहीं है वह सभी प्रकारके घोडोंको सामान्य रूपसे घोडा समझ रहा है। आश्रफल, चावल, मनुष्य, रत्न, परया, सबको एकसा समझ बैठता है, अथवा सभी पदार्थोंके ज्ञानमें विशेषके साथ उसी समय सामान्यका ज्ञान हो रहा देखा जाता है, विशेष घोडेके गुणोंको समझ रहा पुरुष भी उस घोडेको जीव या पशु तो समझ ही रहा है। घोडाको हाथी या जड समझ रहा पुरुष परीक्षक तो क्या अनुत्मत्त कहलानेके योग्य भी नहीं है। यथार्थ बात यह है कि वस्तुके सामान्य और विशेष दोनों अंश वास्तिक होते हुये अपना ज्ञान कराते रहते हैं।

सजातीयार्थकरणमर्थिकियेति चेत्, सापि सहशपरिणामस्यास्ति विसहशपरिणामस्येव सहश्वेतरपरिणामात्मकाद्धि बालपादपात् सहशेतरपरिणामात्मक एव तरुणपादपः प्रादुर्भावश्चप-रूम्यते । तत्र यथा विसहशपरिणामाद्विशेषादा विसहशपरिणामस्तथा सहशपरिणामात्सामा-न्यात् सहशपरिणाम इति सजातीयार्थकरणमर्थिकिया सिद्धा सामान्यस्य । एतेन विजातीयार्थ-करणमर्थिकिया सामान्यस्य प्रतिपादिता पादपविशेषस्येव पादपसामान्यस्यापि तद्व्यापारात् ।

बीद कहते हैं कि उत्तरोत्तर क्षणोंमें अपने समान जातिवाले अर्थको कर देना ही क्लुभूत अर्थकी अर्थकिया है। घट, पट, गाय, घोडा, आदि अपनी जातिवाले उत्तर क्षणोंको उत्पन्न करते रहते हैं. तभी तो उत्तरोत्तर क्षण दूसरे विजातीय पदार्थीसे विलक्षण परिणामवाले बने रहते हैं। यों बौदोंक कहनेपर हम जैन कहते हैं कि वह सजातीय अर्थ का सम्पादन करनारूप अर्थकिया तो सदश परि-णाम रूप सामान्य अर्थिक भी वर्त्त रही है, जैसे कि विसदश परिणामरूप विदेशको वह अर्थिकया हो रही है। विचार कर देखा जाय तो विसदश परिणामसे सजातीय अर्थका करना रूप अर्थ किया वैसी नहीं होती है जैसी कि सदशपरिणामसे होती है। अर्थिक्यामें सजातीयता लाना सदश परिणामक ही कार्य है । विशेष तो विजातीय या विलक्षण अर्थोंको करनेका बीज है । सजातीय अर्थ कहते हुये विशेषेकांतवादी बौद्धोंको इस अवसरपर बहुत झेंपना पडा है। गम्भीर विद्वत्ताको धारनेवाछ आचार्य कहते हैं कि सदश और उससे न्यारे विसदश परिणामस्वरूप हो रहे ही बाल वृक्षसे सदश, विसदश परिणाम स्वरूप हो रहे तरुणवृक्षकी उत्पत्ति हो रही देखी जा रही है। आमका पीदा बदते बदते ऊंट नहीं हो जाता है, बुक्षत्व जातिका सदृश परिणाम उत्तरोत्तर पर्यायोंमें सदा उपजता रहेगा, वह **इक्षमें** जिस प्रकार विसदृश परिणामरूप विशेषसे भिन्न भिन्न जातिका विलक्षण परिणाम होता रहता है, उसी प्रकार पूर्ववर्त्ती सदशपरिणामरूप सामान्यसे उत्तर क्षणमें सदशपरिणाम उपजता रहता है । व्यक्तिमुद्रासे विशेष परिणामके समान सामान्य परिणाम भी पूर्व पूर्वपर्यायोंको नाशकर उत्तरोत्तर पर्यायोंको धारता रहता है इस कारण सजातीय अर्थको करना यह अर्थिकिया तो सामान्यके भी हो रही सिद्ध हो चुकी है। इस उक्त कथन करके कुछ कुछ विजातीय अर्थको कर देना या सर्वधा विजातीय अर्थका सम्पादन सहीं होने देना यह अर्थिकिया भी सामान्यके हो रही कही जा चुकी है। जैसे कि बुक्षिकिक कुछ

विजातीय अर्थको करते हुये सर्वथा विजातीय अर्थको उत्पत्तिको रोक रहे हैं, उसी प्रकार हुछ सामान्यका भी उस कियाको करनेमें व्यापार हो रहा है। अर्थात् गोसामान्य भी गायको मस्पान्यका गोयका रिक्त रखता हुआ बोडा, हाथी, आदि बननेसे रोकता रहता है। सामान्यमनुष्य ही कालान्तरमें अन्यास करते हुथे नामचारी हो जाते हैं। वस्तुके आत्मभूत हो रहे सामान्यको विसद्धा अर्थके सम्पादनका अनुपयोगी मत समझो। उपरसे साधारण या उदासीन दीख रहे कारण समयप्र बढे बढे कामोंको साधते हैं।

एकत्र वादपञ्चक्तौ सहसपरिणामः कथं तस्य दिष्ठत्वादिति चेत्, किं पुनर्विसहशपरि-णावी न दिष्ठः । दितीयाचपैक्षमात्रादेकत्रैव विसहशपरिणामः इति चेत्, किं पुनर्व सहसपरि-णावीप । सस्येवपापेक्षिकत्वाद्वस्तुत्विमिति चेत् न, विसहशपरिणामस्याप्यवस्तुत्वत्रसंगात् ।

आप जैनियोंने कहा था कि ससान, असमान, परिणामस्वरूप बाल्ड्झसे सदश और विसदश परिणाम आत्मक ही तरुणवृक्ष उपजता है। इसपर हम बौद्रोंका प्रश्न है कि एक ही वृक्षव्यक्तिमें भला सहज्ञ परिणाम कैसे ठहर सकता है ! वह साहत्य तो दो आदिमें पाया जाता है 📑 अन्यथा अनन्वय अलंकार या दोष लग बैठेगा, जो कि कवियोंके अतिरिक्त दांशीनकोंके यहां अमीष्ट नहीं किया गया है। तद्विनमें तद्गत अनेक सहश धर्मीके पाये जानेसे सादश्य आरोपा जाता है। एक हा व्यक्तिमें रहनेवाले सादश्यका तो एक किनारेवाली नदीके समान असम्भव है, इस प्रकार बोह्रोंके कहते-पर इम जैन मी बौद्रों से पूंछते हैं कि तुम्हारा माना गया विसददा, परिणाम क्या दों से ठहरनेवाला नहीं है ? फिर वह विशेष मला एक व्यक्तिमें कैसे ठहर गया ? बताओं ! साहत्य जैसे दो आदिमें रहता है उसी प्रकार वैसाहत्य भी दो आदिमें ही पाया जाता है। अकेलेमें विसमानता नहीं है। गाय से विलक्षण भैसा है। एक परमाणु दूसरे परमाणुसे विलक्षण है। मनुष्य मनुष्यमें या बुद्धि बुद्धिमें भेद पड़ा हुआ है। " मुण्डे मुण्डे मतिर्भिना " । बात यह है कि पदार्थ या पदार्थीमें ठहरनेकी अपेक्षा सहरापरिणाम और विसहरा परिणाम समान है। यदि बीद यो कहें कि दितीय, तृतीय, आदिकी तो केवल अपेक्षा ही है क्स्तुतः विसहश परिणाम एक ही व्यक्तिमें ठहर जाता है, जैसे कि थैरेषिकों के यहां दूसरे तीसरे पदार्थकी केवल अपेक्षा कर दित्व, त्रित्व, आदि संख्यायें समनायसम्बन्धसे एक ही व्यक्तिमें ठहरतीं मानी गयी हैं। इस पर आचार्य कहते हैं कि यों तो फिर सदशपरिणाम मी क्यों नहीं दितीय आदिकी अपेक्षा रखने मात्र से केवल एकमें ही ठहर रहा मान लिया जाय । यदि केंद्र यों कहें कि इस प्रकार द्वितीय आदि व्यक्तियोंकी अपेक्षाको धारने-बाला होने से उस सहेश परिणामको अक्स्तुपना हो जायगा । क्योंकि दूरवर्तीपन, निकटवर्तीपन, उरसीपार, परसीपार, आदिक पदार्थीके समानं आपेक्षिक: पदार्थ अवस्त होते हैं। बस्तुमृत पदार्थीसे तो परिवर्तन नहीं होता है। किन्तु अपेक्षासे होरहे उरलीपार परलीपार आदि धर्म तो इधर उधरके सनुष्योंकी अपेक्षा कट कदल जाते हैं। अतः आपेक्षिक धर्मोंको हम वस्तुमूल नहीं मानते हैं। आजार्य

कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो विसदृश परिणामको भी अवस्तुपनेका प्रसंग होगा। वैसादृश्य भी तो दूसरोंकी अपेक्षासे व्यवहृत हो रहा आपेक्षिक है। पुद्रव्यके रूप, रस, या जीवके झान, सुखके तुल्य अपरिवर्त्तनीय नहीं है। दूसरी बात यह है कि यह व्याप्ति किसने बना दी है! कि जो आपेक्षिक है वह अवस्तु है। देखों, नील नीलतर, मधुर मधुरतर, उच्चाचार, नीचाचार, अल्यदु:ख महादु:ख, ये आपेक्षिक पदार्थ भी वस्तुभूत हैं। अतः दितीय आदिककी अपेक्षा रखते हुये भी दोनों सादृश्य, वैसादृश्य, परमार्थ है।

मत्यसबुद्धौ मतिभासमानो विसद्यपरिणामो नापेसिक इति चेत्, सद्यपरिणामोपि तत्र मतिभासमानः परापेसिको माभूत् । सद्यपरिणामः मत्यसे मतिभातीति कुतो ज्यवस्था-प्यते इति चेत्, विसद्यपरिणामस्तत्र मतिभातीति कुतः १ मत्यसपृष्ठभाविनो विसद्यविक-स्पादिति चेत् तथाविधात्सद्यविकन्यात्साद्ययमितभासञ्यवस्थास्तु कथमन्यथा यत्रैव जनयदेनां तत्रैवास्य ममाणतेति घटते ।

बौद कहते हैं कि प्रत्यक्षबुद्धिमें स्पष्ट प्रतिभास रहा विसहश परिणाम तो अन्योंकी अपेक्षास हुआ नहीं है। अविचारक प्रत्यक्ष द्वारा जान लिया गया जो पदार्थ होगा वह वस्तुभूत होगा। नीळनीळतर या मधुरमधुरतरका प्रकरण होनेपर प्रत्यक्षत्नान उसको मीठा या अधिक नीळा जान रहा है इससे यह अधिक मीठा है, उससे यह न्यून मीठा है। यह पीछे होनेवाली कल्पनायें हैं, किन्तु यह इससे विसदृश है इस बातको प्रत्यक्षज्ञान निरंपेक्ष होकर विशदरूपसे जान रहा है। यों कहनेपर तो आचार्य महाराज कहते हैं कि उसी प्रकार उस प्रत्यक्ष बुद्धिमें स्पष्ट प्रतिभास रहा सहशपिरणाम भी परकी अपेक्षा रखनेवाला नहीं होवे । स्थाणु और पुरुषमें ठहरनेवाली ऊर्व्वता जैसे प्रत्यक्षसे ही दीख जाती है उसी प्रकार मनुष्यपन, पशुपन, द्रव्यपन, आदिके सदश परिणाम भी वस्तुके दीख जानेपर ही प्रत्यक्ष द्वारा उसी समय जान छिये जाते हैं। वस्तुके किसी धर्ममें यदि अन्यकी भी अपेक्षा रही आवे तो भी उसका वस्तुभूतपना छींड लिया नहीं जाता है। अग्निकी अपेक्षासे हुआ घटका लाल रंग या पक्कापन उस घटकी वस्तुभूत सम्पत्ति है। परापेक्ष हो जानंसे क्या कोई मर जाता है, तिसपर भी सहश परिणाम परापेक्ष तो नहीं है अतः परमार्थभूत है। बौद्ध कहते हैं कि अभी जैनोंने यह कहा है कि प्रत्यक्षज्ञानमें सहशापरिणाम प्रतिभास जाता है, इस पूछते हैं कि इस प्रकार किस प्रमाणसे **म्यवस्था कराई** जाती है ! अर्थात्—परमायग्राही प्रत्यक्षमें सहशपरिणाम देखा जा चुका है यह कैसे निर्णीत किया जाय ! कलको कोई यों भी कह देगा कि घोडेके सिरपर सींग भी प्रत्यक्ष द्वारा दीख रहे हैं। बौद्धोंके यों कड्नेपर तो आचार्य सकटाक्ष प्रश्न करते हैं कि तुम बौद्धोंक कथन अनुसार उस क्रत्यक्ष ज्ञानमें विसदश परिणाम प्रतिभास रहा है यह कैसे जाना जाय ! क्ताओ । इसपर बौद्ध यदि यों उत्तर कहैं कि प्रत्यक्षके पीछे होनेवाले और उतने ही प्रत्यक्षगृहीत अंशका निर्णय करनेवाले क्सरमाप्राही विकल्पहानसे यह निर्णय कर छिया जाता है कि पूर्ववसी निर्विकल्पक

प्रत्यक्षने सहशपिरणामको अवश्य विषय किया है। तमी तो उसके पश्चाद्मावी विकल्पने विसहश परिणामका अध्यवसाय किया है। प्रामीण परिभाषा है कि "जों गेंडू खायगा वह गेंडू हंगेगा," " बोवे बीज बम्रके जाम कहांसे होय ?" यों करनेपर तो जाचार्य भी कहते हैं कि तिस ही प्रकार अविचारक प्रत्यक्षके पीछे होनेवाछे विचारक सहशग्राही विकल्पनास्वरूप श्रुत-हानसे साहश्यके प्रतिभासकी व्यवस्था बन जाओ। अर्थात्—मीठे, अधिक मीठेका विचार कर रहे पीछे होनेवाछे श्रुतहानोंसे जैसे यह जान छिया जाता है कि मीठेपनको जाननेवाछा पूर्वमें प्रत्यक्ष हान हो चुका है, उसी प्रकार सहश परिणामोंकी भी पीछे अनेक कल्पनायें उठती हैं। अतः उनके मूछ कारण सहश परिणामको प्रत्यक्ष हानने अवश्य जान छिया है, यह प्रतीत हो जाता है। अन्यथा यानी प्रत्यक्ष हारा गृहीत नहीं किये गये विषयमें यदि कल्पनायें उठा छी जावेंगी तो तुम बौद्धोंका यह सिद्धान्त वचन किस प्रकार घटित हो सकेगा कि निर्विकल्पक बुद्धि जिस ही प्रत्यक्ष गृहीत विषयमें इस सिविकल्पक बुद्धि जेस ही प्रत्यक्ष गृहीत विषयमें इस सिविकल्पक बुद्धि जेस ही प्रत्यक्ष गृहीत विषयमें इस सिविकल्पक बुद्धिको उत्पक्ष करायेगी उस ही अंशमें इस निर्विकल्पक ज्ञानको प्रमाणपना व्यवस्थित होता है। भावार्य-इस तुम्हारे सिद्धान्त वचन से पुष्ट होता है कि प्रत्यक्ष हारा विसहश परिणामके समान सहश परिणाम भी गृहीत हो चुका है। तभी तो तदनुसार दोनोंको विषय कर रहे पीछे विकल्पज्ञान उपजते हैं।

नन्ववमध्यससंविदि मतिभासमानः सद्द्रपरिणामो विश्लेष एव स्यात् स्पष्टमतिभास-विषयस्य विश्लेषत्वादिति चेत् तिर्दं मत्यसे मतिभासमानो विश्लेषः सद्दश्लपरिणाम एव स्यात् स्पष्टा-वभासगोचरस्य सद्दश्लपरिणामत्वादित्यपि द्वषाणः कृतो निषिध्यते १ मतीतिविरोधादिति चेत्, तत एव सामान्यस्य विश्लेषतामापादयभिषिध्यतां ।

बौद्ध अपने पक्षका अवधारण करते हुये झुंझला कर कहते हैं कि इस प्रकार प्रत्यक्ष झानमें ब्रितिभास रहा सर्वश्रापरिणाम तो विशेष हैं। बन बैठेगा । क्योंकि स्पष्ट हो रहे झानके विषयको विशेष-पना निर्णात हो रहा है । अर्थात—प्रत्यक्षप्रमाणका विषय विशेष पदार्थ ही है । जो कुछ भी छुआ, चाटा, संचा, देखा, सुना, जाता है या मन इन्द्रिय द्वारा संवेदा जाता है, वह विशेषक्ष्य ही पदार्थ है । साहत्र्य या सामान्यको छुआ, संघा, या देखा नहीं जा सकता है । अतः सहशपरिणाम भी विशेष पदार्थ बन बैठा । बौद्धोंके यों कहनेपर तब सो हम यों कहेंगे कि प्रत्यक्षमें प्रतिभास रहा विशेष तो सरशपरिणाम ही हो जावेगा । क्योंकि स्पष्ट प्रतिभासको विषय हो रहे पदार्थको सहशपरिणामपना है । सरशपरिणामसे आकान्त हो रहे ही पदार्थका छुना, देखना, सुनना, होता है । सभी प्रकारोंसे दूसरोंके साहश्यको नहीं पकड रहे खरविषाणके समान पदार्थका अधावि सर्वझको भी प्रत्यक्ष नहीं हो सका है । तिर्थक् सामान्य सभी पदार्थीमें ओत पोत भरा हुआ है । सजातीयता वस्तुकी गांठकी सम्पत्ति है । इस प्रकार भी कह रहा स्पादादी मका किस शक्क हसे रीका जा सकता है ? बात यह है कि पदार्थीको सर्वथा अनित्य ही कहनेवाले बौद्धोंके प्रति हमारा नित्यक्को सिद्ध करनेवाला अञ्चर्य है कि पदार्थीको सर्वथा अनित्य ही कहनेवाले बौद्धोंके प्रति हमारा नित्यक्को सिद्ध करनेवाला अञ्चर्य

अस्त्र खंडा है जब कि प्रत्यक्षमें सहशपिणाम और विसदश परिणाम दोनोंसे कि रही वस्तुका मन्यक्ष हो रहा है तो एक हो के प्रत्यक्ष होनेकी चाल दिखाना बौद्धोंका अपनी सदातन टेक्के अनुसार अनु-चित कार्य है। यदि बौद्ध यों कहैं कि सदश परिणामको ही विशेष कहना या सदशपरिणामका प्रत्यक्ष मानना ती प्रतीतियोंसे विरुद्ध पडता है। जिसमें प्रतीतियोंसे विरोध आवे ऐसा अस स्माहादि-योंको नहीं उठाना चाहिये, हम स्याहादियोंको रोक देंगे। इस प्रकार कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी प्रतीतियों करके विरोध हो जानेके कारण ही सामान्यको विशेषपनेका आपादन करा रहा बौद्ध भी निषध दिया जाय। प्रत्यक्षमें प्रतिमास जानेसे सामान्य भी विशेष पदार्य हो जायगा ऐसा कहनेमें भी प्रतीतियोंसे विरोध आता है। क्योंजी, प्रत्यक्षमें प्रतिमास जानेसे हाथ क्या पाँव हो जायगा ? अर्थात्—नहीं।

प्रत्यक्षे सहभपरिणामस्यामतीतेः सकलजनमनोधिष्ठानत्वात् भ्रांताध्यक्षे साहश्यप्रतीति-बीधकसद्भावादिति चेत्, किं तद्वाधकं । युत्तिविकल्पादिद्षणमिति चेन्न, तस्यानेकच्यक्तिच्यापि सामान्यविषयत्वात् । न हि वयं सहभपरिणाममनेकच्यक्तिच्यापिनं युगपदुपगच्छामोन्यत्रोप-चारात् । यतस्तस्य स्वच्यक्तिष्वेकदेशेन वृत्ती सावयवत्वं, स्वावयवेषु चेन्नदेशांतरेण वृत्तेरनव-स्वानं बत्तव्य प्रत्येकपरिसमाप्त्या वृत्ती च्यक्त्यंतराणां निःसामान्यत्वमेनत्र व्यक्ती कात्स्चर्यन परिक्रमाम्नत्वात् सर्वगतत्वाच तस्य व्यक्त्यंतराणे स्वप्रत्यपकर्तृत्वापात्तिरन्यथा कर्तृत्वाकर्तृत्वयो-धर्मयोः परस्यरविरुद्धयोरध्यासाद्देकशवस्थानं स्वच्यक्तिदेशोभिच्यक्ती तदंतराले चानाभिच्यक्ती तस्याभिच्यक्तेतराकारमसिकः सर्वया नित्यस्यार्थिकयाविरोधादयश्च दोषुः प्रसुद्धेरन् ।

प्रत्यक्ष ज्ञानमें सहरा परिणामकी प्रतीति नहीं होती रहनेसे पुनरिप प्रत्यक्षमें सहरापनकी प्रतीति होना मानना आन्तियुक्त है। क्योंकि बायक प्रमाणोंका सद्भाव है। जिन विपरीत ज्ञानोंके बायक प्रमाण विद्यमान हैं, वे बाय्य होते हुए आन्त ज्ञान हैं। मले ही संपूर्ण जनोंके मानसिक विचारोंमें अधिष्ठित बने रहनेसे सहरा परिणामोंकी कल्पना हो जाय। किन्तु प्रत्यक्षप्रमाणमें साहस्य नहीं दीखता है। जब कि वस्तु स्वकीय डीलसे असाधारण या विसहरा है तो विशेष बस्तुमें साहस्यका प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है शिपमें चांदीको जाननेवाले हुये प्रत्यक्षके समान विसहरोंको सहरा जानने वाला प्रत्यक्ष मी अध्यन्त नहीं है। यों बौद्धोंके कहनेपर आचार्य पूछते हैं कि भाइयो। वह मौनसा बायक प्रमाण उस सहरापरिणामकी प्रतीतिका बायक हो रहा है बताओ तो सही। यदि आप बौद्ध यों कहें कि सहरा पदार्थोंमें भला साहस्य कैसे वर्तेगा श्वितके विकल्प या सर्वगत, असर्कात्यमेंके पक्ष उठानेपर अथवा विरुद्ध धर्मोका आरोप हो जानेसे विरोध हो जाना आदिक अमेक दूषण जानाना ही साहस्य प्रतीतिका बायक है। आप जैनजन विचारिये तो सही कि अनेक घट, पट, घोटे, गाव, आदिक विशोधोंमें व्याप रहा वह सहशपरिणाम भला अपनी आश्रय हो रही व्यक्तियोंमें यदि एक

Ĭ

देशसे वर्तेगा तब तो सावयव हो जायगा जैसे कि अनेक क्यों या टोडोंपर छप्पर छादनेके छिये रखा हुआ बांस एक एक देशसे ठहरता सन्ता सावया है। सहश परिणाममें गांठके पहिलेसे यदि निज अवयव होंगें तभी तो वह अपने एक एक अपने अनेकोंमें वर्त जायगा। तथा उन पहिलेको निज अवयवींमें भी वह सदृश परिणाम दूसहे अपने एक एक देशींसे वर्तेगा और पुनः अपने उन भागोंमें तीसरे निज भागोंसे ठहरेगा । कहीं भी दूरतक आकांक्षाकी शान्ति न होनेसे अनवस्था हो जायगी तथा अनेकोंमें रहनेवाले सादक्यको बादि प्रत्येकमें ही परिपूर्ण रूपसे ठहरा दिया जायगा तो अन्य व्यक्तियोंको सादश्यसे रहितपनेका प्रस्ना होगा। क्योंकि एक ही व्यक्तिमें पूर्ण रूपसे साहस्य भर चुका है फिर भी प्रत्येक सहश पद्वार्थमें यदि परिपूर्ण रूपसे साहस्यकी वृत्ति मानी जायगी तो सादश्य अनेक हो जायेंगे तथा यदिः सादश्यको सर्वगत माना जायगा तो न्यारे न्यारे स्थानोंपर धरी ह्रयीं सहरा व्यक्तियोंके मध्यवर्ती अन्तरालमें ठहर रहे साहस्थको अपना ज्ञान करा देनेका प्रसंग आवेगा जैसे कि यहां से वहांतक दो मनुष्यों के कन्वें।पर रखी द्वयी पालकी मध्यमें भी अपना न्नान कराती है। अन्यथा व्यक्तियोंमें ज्ञान कराना और अन्तराख्में ज्ञान न कराना थे दो विरुद्ध धर्म एक सादृश्यमें मानने पड़ेंगे। एकमें तो दो बिरुद्ध धर्म ठहरते नहीं हैं। सादृश्यको नित्य माननेपर भी व्यक्ति देशमें अभिव्यक्ती और रीते स्थान अन्तरालमें अनाभिव्यक्ति इस ढंगसे विरुद्ध धर्मीका समावेश हो जानेसे फिर भी विरोध दोष आता है। कहे जानुके अनवस्था या विरोध दोषोंके समान संकर. व्यतिकर, आदिक दोष भी जैनोंके साहस्यमें लग बैठेंगे, अब आचार्य कहते हैं कि बौद्धांको इस प्रकार हमारे माने गये साइस्यमें दूषण नहीं उठाने चाहिये क्योंकि '' नित्यमेकमनेकानगतं सामान्यं " वैशेषिकों द्वारा माने गये एक होकर अनेक, व्यक्तियोंमें व्यापनेवाले सामान्य (जाति) में वे दूषण आते हैं (विषयत्वं सप्तम्यर्थः) हमारे सादृत्यमें नहीं | हम जैन उस सदृशपरिणामको एक ही कालमें अनेक व्यक्तियोंमें व्यापनेवाला नहीं स्वीकार करते हैं, उपचारके अतिरिक्त अर्थात्— वैशेषिक जैसे त्रित्व चतुष्टव आदिक संख्याकी समयवायसम्बन्धसे एक ही व्यक्तिमें वृत्ति मानते हैं। पर्याप्त सम्बंधकी न्यारी बात है, उसी प्रकार हम जैन भी सहशपरिणामको एक कालमें एक ही व्यक्तिमें ठहरता हुआ मानते ह । वस्तुभृत धर्म एक वस्तुमें ही ठहरते हैं । अनन्ताशनन्त वस्तुओंमेंसे किन्हीं भी दो तीन आदि वस्तुओंका द्रव्यरूपसे साझा नहीं है। कल्पना या व्यवहारसे भले ही साहराक दो, तीन, चार आदि पदार्थीका धर्म कह दिया जाय, कोई तुमको रोकता नहीं। अपने अपने नियत हो रहे अनन्तानन्त अंशोंमें तदात्मक होकर व्याप रही वस्तु कर्याचित् विशेष रूप ही है । कोई भी वस्तु किसीके भी रोम मात्रको स्वायत्त नहीं कर सकती है । नैयायिकोंके अभिमत सामान्यमें उक्त दोष अवस्य आते हैं. अत्रयवेंमें अवयविकी वृत्ति या व्यक्तियोंमें जातिकी वृत्तिके विकल्प उठा कर नैयायकोंके सिद्धान्तका निराकरण किया जा सकता है। हम जैनोंके यहां माने गये अवयंत्री या साहत्य परिणामस्त्ररूप सामान्यमें ये दोष नहीं आते हैं। सर्वधा

एक पदार्थका एक ही समय अनेक व्यक्तियोग न्यापक होकर वर्तना हम नहीं मानते हैं, जिससे कि उस साहत्यका अपने आधार व्यक्तिसमि क्यारेश करके वर्तना माननेपर साक्यवपना आहा हो जाय और फिर उन अपने मित्र पूर्व अवयोगि औं दूसरे अपने एक देशोंसे वृत्ति माननेकी आकांका बढ़ती रहनेसे अनवस्था दोष हो जाता तथा जिस कारणसे कि प्रत्येक आश्रयमें सहशपरिणामरूप सामान्यकी परिपूर्णरूपसे बृति हो चुकनेपर अन्य व्यक्तियोंको सामान्यरहितपनेका प्रसंग होता। क्योंकि एक ही व्यक्तिमें पूर्ण स्वकीय अंशों बोर्र के वह सामान्य परिसमार होकर वर्त चुका है। उसका बारुप्र भी अवशेष नहीं बचा है। तथा बैहोषिकोंके विचार अनुसार उस साहस्यरूप सामान्यको सर्वगतपना हो जानेसे आश्रय व्यक्तियोंसे रित वीचके अन्तरालमें सामन्यको अपना हान करा देशे-पनकी आपत्ति आवेगी, अन्यथा यानी अन्तरालमें वह सामान्य ठहर रहा भी यदि अपना भान नहीं करा धाता है तब तो व्यक्ति देशोंमें ज्ञानका कर्तापन और अन्तरालमें ज्ञानका अकर्तापन इन परस्पर विरुद्ध दो धर्मीका युगपत आक्रमण हो जानेसे एक पदार्थमें अवस्थान मानना पढेगा, जो कि विरोध दोषकी जड है। सर्वथा नित्य हो रहे सामान्यका अपनी आश्रय व्यक्तियोंके देशमें प्रकट हीना माना जाय और उन व्यक्तियोंके दस हाथ, सी हाथ, दश कोस, पांचसी कोस मध्यक्ती अन्तराख देशमें नित्य साइस्थको प्रकट हुआ न माना जाय तब ते उस सामान्यके अभिन्यक्त और उससे न्यारे अनिभन्यक्त इन दो विरुद्ध आकारोंका प्रसंग आता है। सर्वथा कूटस्थ नित्य पहार्थके अर्थकिया होनेका निरोध है। वैयधिकरण्य, संशय, आदिक दीषोंका प्रसंग भी जैनोंके ऊपर तभी छागू होता, अन्यथा नहीं । बात यह है कि सर्वथा भेषवादियोंके जपर लागू होनेवाले दोष कथेचित् पक्षका आदर करनेवाले हम स्यादादियोंके उत्पर नहीं आते हैं। ऐसी दशामें प्रत्यक्षजानके विषय हो रहे साहस्थरूप सामान्यको जाननेवाळी प्रतीतिका कोई बाधकप्रमाण नहीं है, जिससे कि वह अश्वान्त सिद्ध न होय । अतः सिद्ध हुआ कि विशेषके समान एक एक व्यक्तिमें तदात्मक हो रहा सहश परिणाम स्पष्ट जाना जा रहा है।

नतु च सद्द्यपरिणामोपि मतिन्यक्तिनियते स्याद्वादिनाभ्युपगम्यमाने तद्वस्वापिक्राव-ध्यकी तस्यां च सत्यां स्वसमानपरिणामेष्वप्यक्तैकव्यक्तिनिष्ठेषु समानमत्ययोत्पक्तेः सद्द्यपरि-णामांतराजुषंगादनवस्था तेषु समानपरिणामांतरमंतरेण समानमत्ययोत्पक्ती स्वद्वादिव्यक्तिष्वपि समानमत्ययोत्पक्तिस्तमंतरेण स्याक्ततः सद्द्यपरिणामकल्पनमयुक्तमेवेति काश्चित् । तस्यापि विसद्ध्यपरिणामकल्पनाजुपपचिरतदोषाञ्चपंगात् । वैसाद्द्यपेष्विम हि मतिन्यक्तिनियतेषु बहुतु विसद्ध्यपरिणामकल्पनाद्वेसद्द्यांतरकल्पनायामनवस्थानमक्द्यंभावि तेषु वैसाद्द्यपंतरमंतरेण विसद्ध्यपरिणामे कल्पनीयपदीत ।

क्रमः पूर्वपक्षीका स्वासिदान्स अवधारण है कि जब कैनोंने सहश प्रियमको प्रत्येक क नियत मान लिया है तो स्यादादी विद्वान करके सहर्ष स्वीकार किये गये प्रत्येक न्यक्तियोंमें क्रिया सहें सहस्र परिकासमें भी पुनः उस सहश्र परिणामधे सहिद्धपर्यमधी प्राप्ति होना आवश्यक पड अधाद - जैसे व्यक्तियोंसे सहज्ञपरिणाम ठहर रहा माना गया है, यो सहज्ञ परिणाम भी । व्यक्तिरूप जब हो गया तो लहरा परिणामरूप व्यक्तिमें भी पुनः साहस्य धरना चाहिये और होनेपर वे द्वारा ठहरे हुये सदश परिणाम भी घट, पटके, संमान व्यक्तिस्वरूप कन बैठेंगे। पुनः तीसरे सहश परिणामीसे सिंहतपना धरना आवश्यक हो जायगा । ऐसी दशामें एक एक व्य ठहर रहे अपने अपने उन समान परिणामोंमें भी यह साहत्य इस साहत्यके समान है, इस व साहस्य ज्ञान उपजानेके कारण पुनरपि अन्य अन्य सहरा परिणामोंके सद्भावका प्रसंग आनेसे अन दोष होगा । यदि जैन जन उन दुबाराके सदृश परिणामोंमें तीसरे समान परिणामोंके विना भी इसके समान है इस प्रकार समान ज्ञानकी उत्पत्ति होना मान छेंगे, तब खण्ड, मुण्ड, शावलेय, हैय, आदिक गौकी विशेष व्यक्तियोंमें भी उस साहत्य परिणामके बिना ही " समान " समान है, " इस आकारवाले ज्ञानकी उत्पत्ति हो जायगी। तैसा हो जानेसे ही सदश परिणामकी कल्पना करना अनुचित ही पडता है, इस प्रकार बौद्धका पक्ष कीई एकदेशी कह रहा है। अब आचार्य कहते हैं कि उस किसी बौद्धके यहां वैसा सा परिणामकी कल्पना करना भी असिद्ध हो जायगा । क्योंकि उनको भी इसी दोषका प्रसंग आता कारण कि प्रत्येक व्यक्तियों में नियत हो रहे बहुत वैसाइस्यों में भी " यह इससे विरुक्षण '' यह इससे विसदश है '' इत्याकारक विसदशज्ञानोंकी उत्पत्ति हो जानेसे अन्य दूसरे वैसादः कल्पना करते हुये अनवस्था दोष अवस्य होगा । भावार्थ —बीद्रोंने व्यक्तियोंमें जैसे वैसाहस्य करानेका उपयोगी वैसादश्य धर्म मान लिया है उस व्यक्तिरूप वैसादश्यमें भी पुनः विसदशताका करानेके लिये व्यक्तिरूप वैसाद्ध्योंकी उत्तरोत्तर कल्पना बढती रहनेसे कहीं भी अवस्थान नह संकेगा । यदि अनवस्था दोषको इटानेके छिये आप बौद्ध उन बहुतसी उत्तरोत्तर भावी न्यारी वैसादस्य न्यक्तियोंमें अन्य वैसादस्योंके विना ही विख्क्षणपने या विसदशपनेका ज्ञान उपजालोगे फिर मूळसे हो सभी व्यक्तियोंमें वैसादायकी कल्पना करना व्यर्थ है। क्योंकि जब वैसादायोंमें उन वैसादृश्योंके विना भी विसदृश ज्ञान सिद्ध हो रहा है तो मूल्में वैसादृश्यका बोझ क्यों बद्धा जाता है। इस प्रक्रम सट्टा परिणानके समान विसद्दा परिणानमें भी कैसे विसद्दापनकी कल्पन संबोगी ? विचारी तो सही । बात यह है कि साहत्य और वैसाहत्यके साथ वस्तुका कथांचित अमेदा होने पुन: सारह्य और वैसारह्योंकी धारा नहीं बढानी पहती है। हां, विहेपैकान्तवादी अका पा भेदकारी मैकेभिकान बरामें अनवस्था होगी । जैनसिद्धान्त अनुसार सहश परिणाम मितारा अस्यामासदा समान्य, विरोध आत्मक वस्तावा आवालकत विदित प्रत्यक्ष हो रहा है

1

सहरापीरणामका अपलाप किया जायगा तो विसहरा परिणाम भी जगत्से उठ जायगा। जहां राग नहीं वहां द्रेष भी नहीं है।

अत एव सहन्नेतरपरिणामिकलमा विलं स्वलक्षणमिन देश्यं सर्वयेति वेत् कथमेवम-साद्द्रयं न स्यात् । न हि किंचित्तवा पश्यामा यथा क्षीकियते परैः सहन्नेतरपरिणामात्मनोन्त-विहिन्नी वस्तुनो ज्ञुभवात् ।

बौद्ध कहते हैं कि इस ही कारणसे अर्थात्—सादस्य, वैसादस्य कल्पनाका अंसट अवास्तविक है, ऐसा होनेसे ही हम बौद्ध सम्पूर्ण वस्तुभूत स्वलक्षणोंको सदश परिणाम और विसदश सर्वथा रीते हो रहे अवक्तन्य स्वीकार करते हैं। मावार्थ-स्वलक्षण तत्त्व सम्पूर्ण धर्मीसे रहित हो रहा किसी भी शब्दसे नहीं कहा जाता है, निर्विकल्प वस्तुमें सभी प्रकारोंसे शब्द योजना नहीं होती है। स्वलक्षणमें विसदश परिणाम है सदश परिणाम नहीं है, ये भी सब असत्य कल्पनायें हैं। बहुत बाढिया पदार्थकी प्रशंसा नहीं हुआ करती है । चप रहकर उसके गुणोंका मनन करना ही उसकी तहपर पहुं-चना है। मध्यम श्रेणींके सौन्दर्य, विद्वत्ता, तपस्या, बल, आदिकी प्रशंसाके चाहे जितने बढे पुल बांध छो ठछुआ बैठेको कौन रोके । अतः परमार्थभूत स्वलक्षण तो सादस्य वैसादस्यसे रहित होता हुआ परिशेषमें स्वलक्षण शद्भंसे भी अवक्तव्य हो जाता है। इस प्रकार बौद्धोंके कहनेपर प्रन्थकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो भला सदशपना या विसदशपना कैसे नहीं हो जायगा ? स्वलक्षण पदार्थ क्साहै क्रिके समान एक तो है नहीं, अनेक ही हैं । स्वलक्षणपने करके या अनिर्देश्यपने करके अथवा साहरय वैसाहरुयसे रहितपने करके तो उन स्वलक्षणोंमें सहराता मानी ही जन्यगी तथा अनेकोंमें विस-दुशपना तो विना परिश्रम ही सध जाता है। तभी अनेकपनकी रक्षा हो सकती है। बात यह है कि जिस प्रकार दूसरे निदान् बौद्रों करके वस्तुका स्वरूप अनक्तव्य या सदृशविसदृश परिणामरिहतपना अपना स्वलक्षण अंगीकार किया जाता है, उस प्रकार किसी भी स्वलक्षणको हम नहीं देख रहे हैं। यथार्थमें सहश और क्सिट्श परिणाम आत्मक हो रही ही अन्तरंग अथवा बहिरंग वस्तुका अनुमव हो रहा है। ज्ञान, सुख, इच्छा, दु:ख, बेदना, चित्तवृत्ति, ब्रह्मचर्य, श्रोध, शक्ति, प्रयत्न, पुरुषार्थ आदि अन्तरंग और घट, पट, पुस्तक, गृह, रूपया, पैसा, आदि बहिरंग पदार्थीमें सदुश परिणाम और विसद्श परिणतियां हो रहीं सबके अनुभवमें आती हैं।

यदि पुनर्शेसादृश्यं वस्तुस्तरूपं तत्र तिसद्श्रप्तत्ययो वस्तुन्येव न वस्तुन्यतिरिक्ते वैस-दृश्ये तस्याभावात् कल्पनया तु ततोषोध्दृतेरर्थान्तरतया वैसादृश्ये विसदृश्यप्तयय श्रीपचारिक एव न गुल्यो यतो वैसादृश्यांतरकल्पनप्रसंग इति मतं, तदा सादृश्यपि वस्तुस्वरूपं तत्र सदृश्यत्ययो वस्तुन्येत्र न वस्तुन्यतिरिक्ते सादृश्ये तस्याऽभावाद्यीन्तरतयापोद्धृते सदृश्यपि-णामे सदृश्यत्ययो भाक्त एव न गुल्यो यतः सादृश्यांतरकल्पनाद्नवस्थामसिक्तिरिति समा-३५न्थ थानं वादिमतिवादिनोः समानमाभेषवृद्धप्रकृत्यते । ततो वस्तुसत्सामान्यं विशेषवत्तत्र च प्रव-र्तमानो विकल्पो वस्तुनिर्भासं संबद्धितंत्वादतुर्प्पके एव पत्यभवत् ताद्याच विकल्पाह्यस्य-स्रभणभावो व्यवस्थाप्यमानो न बुध्धास्य एव यतः सांवृतः स्यात् । पारपार्थिकथ स्वस्य-स्रभणभावः सिद्धः सम्बयं जीवीपयोगयोः क्षयंचित्तादात्स्यादुष्पद्यते अन्युष्णवत् ।

यदि फिर बीदोंका यह मन्तव्य होय कि विसदशपना कोई वस्तुका औपाधिक धर्म नहीं है, बह विसद्शपना तो वस्तुका स्वकीय निजरूप है उस वस्तुके स्वरूप माने गये वैसादश्यमें हो रहा विसद्दशपनेका ज्ञान तो वस्तुमें ही होरहा है। वस्तुके अतिरिक्त किसी वैसादश्य नामके भिन धर्मको विषय करनेवाला वह झान नहीं है। क्योंकि वस्तुसे आतिरिक्त शरीरवाले उन वैसादृश्य धर्मीका अभाव है। अर्थात्—स्वलक्षण या अनिदेश्य जो कुछ भी बस्तु है वह असाधारण, विशेष, या विसदृश परिणाम स्वरूप ही तो है। हां फल्पना करके तो मले ही उस वस्तुसे भिन्न अर्थपने करके न्यारे लिये गये वैसादृश्यमें विसदृशपनेका धर्ममूलक ज्ञान उठालो । किन्तु वह ज्ञान उपचारसे किया ही है, मुख्य नहीं है जिससे कि उस वैसादृत्यमें भी विसदृश्यनेका ज्ञान करानेके छिये अन्य वैसादृ-स्योंकी फिर उन वैसादृश्योंमें भी बिलक्षणपनेका ज्ञान करानेके छिये न्यारे अनेक वैसादश्योंकी कल्पना करते रहनेसे अनवस्था दोषका प्रसंग हो जाय । " राहोः शिरः " ऐसी अपोद्धार कल्पना करनेसे राहुसे शिर व्यतिरिक्त समझा जाता है, उसी प्रकार वैसादस्य कोई बस्तुसे न्यारा धर्म नहीं है । आचार्य कहते हैं कि बौद्धोंका यह मत है तब तो इम कहेंगे कि साइस्य भी वस्तुका स्वरूप है। उस साइस्पमें सदस्यपनेका ज्ञान होना वस्तुके निज डील्में ही ज्ञान होना है। वस्तुसे व्यतिरिक्त हो रहे सादस्यमें वह सादृश प्रत्यय नहीं है। क्योंकि वस्तुसे सादृश्य न्यारा नहीं है। भले ही अर्थान्तरपनेसे न्यारा कल्पित कर उस सहरा परिणाममें " यह इसके सहरा है " " वह इसके समान है " ऐसे सहरापनेको प्र**ह**ण करनेवाळे ज्ञान उठाळो, किन्तु वे ज्ञान गौण ही हैं, मुख्य " शिळापुत्रकस्य शरीरं " केतुका धड है, सोनेका फासा है, यह भेदका ज्ञान गौण है। जिससे कि व्यक्तिरूप न्यारे सादृश्योंमें भी अन्य सादृश्योंकी कल्पना करते रहनेसे हम जैनोंके ऊपर अनवस्था दोषका प्रसंग होता, इस प्रकार वादी जैन और प्रतिवादी बीद दोनोंका समाधान करना समान दीखता है । जैसे कि पहिले दोनों ओरसे किये गये आक्षेप समान देखे जा चुके हैं हम तो बहुत पहिलेसे ही वस्तुको सामान्य विशेष आत्मक कहते चले आ रहे हैं। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि विशेषके, समान सादृश्य या सामान्य भी वस्तुभूत होता हुआ सद्रूप है । उस वस्तुभूत सामान्यमें प्रवर्त रहा विकल्पज्ञान (पक्ष) वस्तुका ही यथार्थ प्रतिमास करनेवाला है (साध्य) बाधारहितपन या सकलप्रवृत्तिजनकत्वरूप सम्बाद करानेवाला होनेसे (हेतु) प्रत्यक्षके समान (दृष्टान्त)। च्युत नहीं होता हुआ परमार्थभूत चस्तुका प्राहक है और तैसे वस्तुप्राही विकल्पज्ञानसे छक्ष्यछक्षणभाव व्यवस्थापित किया जाता है। वह वस्तुको स्पर्श नहीं कर केवल कल्पना बुद्धियोंमें ही आरूढ़ हो

मा है। यह कोलेको नहीं सन केटना चाहिये, जिस्से कि वह काराव्याताला न्यनहाराकात संहतिने की कोण यह विद्या समा माना कार १ अतः तुस कोहोंने जो बहुत पहिले आहेए किया बा कि कारावित कारावित है। स्वानित कारावित है। स्वानित कारावित है। यह तुस्तारा मन्तव्य व्यवस्थित करा रहा। यह व्यवस्थान भारमार्थिक सिद्ध हो रहा होता जीव और तप्योग का कार्यिका तादालगतालय हो जानेसे का जाता है। जैसे कि "अगिः उपाः" यह अगि और तप्योका कथेकित तादालगतालय हो जानेसे कर जाता है। जैसे कि "अगिः उपाः" यह अगि और तप्योका कथेकित तादालगतालय हो जानेसे कथ्यव्यापमान जातत्मित हो रहा है।

कश्चिदाइ—नोपयोग्रकक्षणो जीवस्तदात्मकत्वात् विपर्भयप्रसंगादिति, तं प्रत्याहः। जात-कात्सिक्धेः। जनवयापि स्वद्वजनासिक्धेः स्वसमयविरोधात् केनचिद्विद्यानात्मकत्वात् तदात्मकस्य केनेवः परिणामदर्शनात् धीर्यास्वद् । निःपरिणावे त्वतिपसंगार्थस्वभावसंकराविति । स जायमाक्षेपसमानानविधिर्जीक्षययोगयोस्तादात्त्रयैकाताश्चयो वयाश्चयश्च प्रतिपत्तव्यः।

कोई बादी पूर्वपक्ष कह रहा है कि जीवका कक्षण उपयोग नहीं हो सकता है। क्योंकि उपयोग और जीवका तदस्मकप्रना हो वहा है, घट घट ही से उपयुक्त नहीं हो सकता है। तथैव जीव आपने तदात्मक उपयोगाहे उपयुज्यमान नहीं बन सकता है । जैनों द्वारा जीव और पुद्रलका अभेद माननेपर विभिन्न हो जानेका प्रसंग हो जायगा. अर्थात-अभेद पक्षमें उपयोगका उक्षण जीव ही क्यों न 📭 बैठे। जीवकी 🚅 उपयोग परिणातिके समान उपयोगकी ही जीवस्वरूप परिणति क्यों न हो जाय. इस प्रकार कहनेवाले उस बादकि प्रति श्री विचानन्दस्वामी समाधानको कहते हैं कि उक्त आक्षेप ठीक बहीं है। क्योंकि इस ही से उस उपयोगको उक्षणपनेकी खिद्धि हो जाती है। अर्थात - जिस ही बारामसे तुम अभेदको सह रहे हो इसी कारणसे उपयोग सिद्ध हो जाता है। सर्वश्रा अभेद पक्षमें जैसे आवाराकी रूपके साथ उपग्रकता नहीं होती है, उसी प्रकार सर्वधा भेद मानतेपर जीव भी जान दर्शन उपयोगोंसे उपयुक्त नहीं हो सकेमा । देखो, घास, पानी, खळ, विनोजा, दरिया, जीरा, आदि सारणोंसे दूध बननेके अभिमुख हो रही दुख शक्ति है। तो उत्तर क्षणमें दूधस्वरूपसे परिणम जाती। है। उसी प्रकार आला भी हान दर्शन स्वमावशाकियोंके वशसे घटहान, पटहान, स्वरूप उपयोग करके परिपक्ति कर केता है, इस प्रकार कर्पाकित मिन अभिन हो रहा उपयोग उस जीवका स्थाप कन जाता है। दूसरी बात यह है कि दोनों प्रकारोंसे भी तुम्हारे बन्कनकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अर्थात अनेनात्त प्रक्रियाको नहीं समझ कर तुमने जो यह कहा था कि जो जिस स्वरूप है वह असी करके परिणाम नहीं घार सकता है। इसपर तुम यह विचारों कि तुन्हारे वनक स्वपक्षके साधक और परपक्षके दूषक स्वरूप है। स्वपक्ष सामन और परपक्ष दूषण यदि उनका स्वसाह मानो तो तुम्हारा पहिला एकान्त वचन हायसे निकल गया और हमारा जैतिसदान्त पुष्ट हो गया और तहस परिणति कहीं मातो तो भी तुम्हारा वचन असिद्ध हो जाता है। जो प्रतिपक्षमें दूषण नहीं दे सके वह नहीं कहा गमा सारिया है । सर्वत्र सर्वदा सर्वती सदा साधनेमें क्या प्रयोजन रक्ता है ! तीसरी बात यह है कि

तमकी अपने सिद्धान्ती विसेश की जायमा । आपने स्वयं इस बातकी इष्ट विका है कि क्यी. अप. तेणा बाय ये महाभूत बार तत्व गीव, रस. १एए, स्पर्श, आत्मक होते हुवे शुक्लस्प आदिक परिण-तियोंको धारते हैं। जंत: तुम '' जो जिस स्वकृष है यह उस करके ही उपयुक्त नहीं हो सकता है '' इस बाटाक्षकी छोटा हो । आत्मा यदि क्रानसम्बद्ध नहीं होगा तो क्या प्रत्यत्की परिणति ज्ञान होगी ! देखें वाखंकी रोटी बना ती हो । सीची बात यह है कि जिसके यहां आत्मा सर्वेद्या शाम आरमक है उसके यहां धाराक्ष्यमे ज्ञानस्वरूप परिजतियां नहीं अनुसार किसी अंशसे आत्मा झानांसाना है तथा अन्य अंशीसे सुख आस्मा इच्छा आत्मक, भी है। अतः अन्य आत्मक हो रहे आत्माका ज्ञानस्वरूप परिणाम होना उमित है। बार एकाना करके आत्माकी क्षानआतमा या सन्य इच्छा आरि ही मान दिया जागहा। तो तिस भावका कभी किराम मही होगा। उसका जिराम मानमेक आत्मा इच्यके किएम क्षेत्रिका भी प्रस्ति जाजानेगा जो कि इस नहीं है। असः जात्मा किसी भी विवासित स्वक्रप्रसे उपयोगालक है और अन्य स्वक्रपेल अन्य आवक है। ऐसे सर्वनित उपयोगालक आत्माका उपयोग धर्म करके उपयुक्तपना बन सकता है। पांचवी बाद सके हैं कि उस अक्रिक ही रहे पदार्थका ही उस करके परिणाम हो रहा देखा जाता है। जैसे कि दूध, पामीका उस ही रूपसे परिणाम होता है। देखिये, मीलापंस, बीठा, आदि अपने स्वयांबानी नहीं छोडता हुआ हुआ, पुरुह, बूस, वा जलके सम्बन्धसे मीठा दूध, लस्सी, आदि अन्य परिणामोंको प्राप्त हो। जाता है । गौके स्तनंसे निकलते ही द्वार पालेका एईता है थीडी देरमें दूध कीतक हो जाता है। यून: अग्रिके सम्बन्धसे उच्च या रवडी, खोका, मलाई, बन जाता है। अतः दूधके दूधकर विवर्त हैं। दूधका परिणाम चट, पट, नहीं हो सकता है। जल भी शीतल जेंक अधना हिम (बरफ) आंत्रक होता हुआ उस रूपने परिणम जाता है। बुद्धिमान् शिधु ही मविष्यमें उत्तम कोटिका विद्रम्न हो जाता है। कड़े सक्द्रप होने योग्य सुवर्ण की खबुआ परिणामको धारता है। चूनकी रीटिया बनती हैं। म्बंडका बेडा बंगता है। असका नहीं। तिस है। प्रकार उपयोगस्थकप आत्मा अपने उपयोग स्वभावकी महीं छोड़रह हुआ जानस्करण करके परिणर्मरी स्हता है। छटी कृत यह है कि एक पदार्चका दूसरे पदासीके सकस्य करके तो परिणास होता ही नहीं है। यदि तुम्हरि कथन अनुसार किंग आंकामा प्रतिपामों नारके भी पदार्थकी परिणासियां नहीं मानी जावेगी ती पदार्थ सभी वरिणामोरे रहित होता हुआ। कुठला अपरिकासी, हो जायमा । सर्वता मित्य पदार्कके समन्त्रपर किया, कारक, प्रसाण, फर्ड अर्दि स्मवदंशस्या खेंग हो जासमा । यदि निज परिणामोंके सिर्वाय अन्य अयंकि परिणाम करके विक्रक्षितः पर्दार्थकी परिकाल कामोगे तो सम्बर्ण पद्मश्योके स्वभावींका संकर हो जानगा । जस अपने शीराविष्णप्रणेसे तो परिवास बारेगा बहीं पेशी देशामें जंडका बान, सुन्त, रूपसे परिवास होता वर्त बैठेक र अध्यान समाय सत् मा मी को जायेंगे । सेह भी अपने निज स्वभावोंकी रक्षा नहीं रख सकेगा। यदि अपरिणामीपन और स्वभाव सांकर्यको इष्ट नहीं करना चाहते हो तो अपने अपने स्वरूपसे ही अपनी अपनी अपनी परिणाति होना इष्ट करना चाहिये। बात यह है कि हम जैन इन जीव और उपयोगका एकान्तरूपसे तादाल्य सम्बन्ध नहीं मानते हैं। किन्तु द्रव्यार्थिक नयसे अमेद और पर्यायार्थिक सबसे जीव तथा उपयोगका भेद स्वीकार करते हैं। अतः पूर्व प्रकरणोंमें वह आक्षेपकी विधि तो जीव और उपयोगके एकान्तरूपसे तादाल्यका आश्रय कर उठाई गयी है। तथा द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिक नयका अवलम्ब लेकर आचार्य महाराजने समाधानका विधान कर दिया है। यह शिष्योंको मले प्रकार समझ लेना चाहिये।

अत्रापरः प्राह-उपयोगस्य लक्षणत्वाजुपपत्तिर्लक्ष्यस्यात्मनोसन्वात् । तथाहि । नास्त्या-त् त्याजुप्लंभादकारणत्वादकार्यत्वात् त्वरिवषाणादिवदिति । तदयुक्तं । साधनदोषदर्भनात् । अजुपलंभादयो हि हेतवस्ताबदिसद्धाः मत्यक्षाजुमानागमैरात्मनोऽनाद्यनंतस्योपलंभात् । योगि-प्रत्यक्षस्य तदुपलंभकस्यागमस्य च प्रमाणभूतस्य निर्णयात्तद्जुपलंभोसिद्ध एव वा अनेकांति कश्च चार्वाकस्य परचेतोष्टत्तिविशेषेः ।

यहां कोई चार्वाकमतानुयायी दूसरा बिद्धान् सगर्व पूर्वपक्ष कहता है कि उपयोगको जीवका लक्षणपना बन नहीं सकता है। क्योंकि उपयोग नामका लक्षणके लक्ष्य माने जा रहे, आत्माका सद्भाव नहीं है। सद्भूत देवदत्तका लक्षण दण्ड हो सकता है। असत् आकाशपुष्पका कोई भी पदार्थ लक्षण नहीं बन सकता है। जब आत्मा पदार्थ है। कोई नहीं है तो फिर लक्षण किसका किया जारहा है? दुल्हांके विना यह किसका विवाह रचा जा रहा है ? देखिये, उस आत्माके अभावको हम अनुमान द्वारा यों साभते हैं कि आत्मा (पक्ष) नहीं है (साध्य) उपलब्ध नहीं होनेसे (पहिला हेतु) निजका पूर्ववर्त्ती उत्पादक कारण नहीं होनेसे (दूसरा हेतु) निजका उत्पाद्य उत्तरवर्त्ती कोई कार्य नहीं होनेसे (तीसरा हेतु) खरविषाण, वन्थ्या पुत्र, आदिके समान (अन्वयद्यांत), इस प्रकार आत्माका अभाव सिद्ध है। अब आचार्य कहते हैं कि वह भूतवादियोंका कथन युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि उनके कहे हुये हेतुओंमें अनेक दोष देखे जाते हैं। अनुपलम्भ, अकारणत्व, आदिक हेतु तो सबसे पहिले असिद्ध हेत्वाभास हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, प्रमाणों करके अनादि, अनन्त, आत्मा द्रव्यका उपलम्म हो रहा है। उस आत्माका उपलम्भ करनेवाले प्रमाणभूत सर्वज्ञ प्रत्यक्षका निर्णय हो रहा है। स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष भी सबके पास विद्यमान है तथा आत्माको जाननेवाले प्रमाणभूत अनुमान और आगम का निर्णय हो रहा है। अतः उसका अनुपलम्भ संज्ञक हेतु अपने पक्षमें नहीं ठहरनेसे असिद्ध हेत्वाभास ही है तथा (अथवा) चार्त्राककी ओरसे दिया गया अनुपळम्भ हेतु दूसरे पुरुषोंकी विशेष चित्तवृत्तियों करके व्यभिचार दोषयुक्त भी है, अर्थात् अभे हम अपनी अपनी स्यूलचित्त वृत्तियोंका प्रत्यक्ष भी करलें किन्तु दूसरोंके मनमें या आत्मामें क्या वर्त रहा है, इसका सर्वक्रके सिवाय

किसीको उपलम्भ होता नहीं । अनुमान या आगमसे मुळे ही उनको जानलो । सर्वज्ञका निषेध करने बाले और इन्द्रियप्रत्यक्षको ही प्रमाण माननेवाले चार्यक्रको तो दूसरेकी चित्तवृत्तियोंका कथर्मा प्रस्यक्ष नहीं हो सकता है । किन्तु वे हैं तो सही, चाहे उन्हें भूतकदम्ब कहो या सादि चैतन्य मान मर्ले ही अनित्य आत्मा कहते फिरो । अकेले चार्याकसे अतिरिक्त उसके माता, पिता, गुरु, अधक संसारके अन्य प्राणी और उनकी आत्मीय वृत्तियां सभी मर तो नहीं गयी हैं । अतः नास्तित्व साध्यक्ष नहीं रहते हुये अनुपलम्भ हेतुके वर्तजानेसे अनैकान्तिक दोष लग जाता है ।

तथा पर्यायार्थादेशात् पूर्वपूर्वपर्यायहेतुकत्वादुत्तरोत्तरात्मपर्यायस्याकारणत्वादित्ययमप्य सिद्धो हेतुः ।

तथा आत्मा बाल म होकर युवा होता है युवा अवस्थाको छोडकर अर्द्ध होता है, अध बूद अवस्थाको कारण मानकर पीछे बृद्ध हो जाता है, अतृप्त आत्मा मोजन कर छेनेपर तृप्त हो जाता है मूर्ख पुरुष अभ्यास करते करते पण्डित बन जाता है, रोगी जीव औषध सेवन करता हुआ नीरो बन बैठता है। मनुष्य मरकर देव हो जाता है। देव पुनः तिर्यंच हो जाता है। इस प्रकार पर्यायार्थिं नयकी अपेक्षा कथन करनेसे पिहली पिहली पर्यायोंको हेतु मानकर उत्तर उत्तरवर्ती आत्माकी पर्य योका उत्पाद होता रहता है। इस कारण चार्याककी ओरसे दिया गया कारणरहितपना यों य हेतु भी पक्षमें नहीं वर्तनेसे असिद्ध हेत्वामास है, अर्थात्—पर्याय दृष्टिसे देखनेपर आत्माकी सभी बाल्य कुमार, देव, मनुष्य, संसारी मुक्त, आदि पर्याये हीं तो दीख रहीं है। उन पर्यायोंकी पूर्व समयवर पर्यायें कारण हैं अतः आत्मा कारणोंसे सहित होगया। कारणरहितपना हेतु पक्षमें नहीं रहा।

द्रव्यार्थादेशाद्विरुद्धः । तथाहि । अस्त्यात्मा अनाद्यनंतोऽकारणत्वात् पृथिवीत्वादिवत् मानभावेन व्यभिचार इति चेक्, तस्य द्रव्यार्थादेशेऽनुपपद्यमानत्वादनुत्पादव्ययात्मकत्वात् सर्वे द्रव्यस्य । पृथिवीद्रव्यादिभ्योऽतीतरभूतस्तु मागभावः परस्याप्यसिद्ध एवान्यथा तस्य तस्व तरस्वमसंनात् ।

चार्वाकों के अकारणत्य हेतुको असिद्ध बताकर अब उसे विरुद्ध दोषयुक्त भी बताते हैं दिव्यार्थिक नयकी अपेक्षा कथन करनेसे यह अकारणत्व हेतु विरुद्ध भी है। इसी बातको प्रन्थक तैसा प्रसिद्ध करते हुये कहते हैं कि आत्मा (पक्ष) अनादि कालसे अनन्त कालतक ठहरनेवाद प्रव्य है (साच्य) अकारणपना होनेसे (हेतु) पृथ्वीत्व या पृथिवी तत्त्व, जलतत्त्व, आदिके समा (अन्वयद्धान्त) अर्थात् —पृथिवीत्व जाति या चार्वाकोंके यहां माने गये पृथिवीतत्व, जलतत्त्व, तेव स्ताव, बायुक्तव, वे चार तत्त्व अनादि अनन्त नित्य हैं । उन्हींके समान चेतन आत्मा तत्त्व नित्य है इस अनुमान द्वारा अकारणत्व हेतुसे आत्माका नित्यपना साध दिया है । घहिले चार्वाकोंके अनुमा द्वारा आत्माक नास्तित्व साधनेमें प्रयुक्त किया गया अकारणत्व हेतु तो नास्तित्व साध्यसे विपरीत । रहे नित्यत्व या अनाधनन्त अस्तित्वके साथ व्याप्तिको रखता है । अतः विरुद्ध हेत्वाभास हुआ । या

किसीकी शंका है कि कारणरहित तो खरिवणण भी है। किन्तु वह नित्य नहीं है। अतः नित्यके **छक्षणमें "** सदकारणविन्तयं " कहकर सत् विशेषण छगाया गया है। तिससे खरित्रपाणमें अति न्याप्तिका बारण हो जाता है। वह सत् नहीं है, असत् है। यदि सत् विशेषण न लगाकर केवल अका-रणत्य ही कहा जायगा तो वैशेषिकोंके यहां माने गये प्रागभावसे भी व्यभिचार होता है। देखिये, अनादि कालसे चले आये हुये प्रागमायका कोई कारण नहीं है। किन्तु वह अनन्तानन्त नहीं है " अनादिः सान्तः प्रागभावः "। हां, सत् विशेषण छगा देनेसे प्रागभावका निवारण हो सकता था, '' न कारणं यस्य '' ऐसी निरुक्ति कर पक्ष पर्युदासका अवलम्ब लेनेसे ही अथवा अकारण शहूसे मतुप प्रत्यय करते हुथे अकारणवत्त्र हेतु कह देनेसे ही खरिश्याण आदि सर्श्या असत् हो रहे पदा-र्थीका निराकरण भले ही हो जाय, असत्तमें अकारण उपाधिसे सहितपना नहीं है, किन्तु प्रागभाव करके हुआ व्यक्तिचार तदवस्थ रहेगा । अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि नित्य हो रहे द्रव्य अर्थ का कथन करनेपर सम्पूर्ण द्रव्योंको उत्पाद, व्ययोंसे रहित आत्मकपना है। भावार्थ - इन्य नित्य है किसी द्रव्यमें उत्पाद, व्यय, नहीं होते है । इन्यका उत्पाद होता तो उसकी उत्पत्तिके पहिले प्रागभाव माना जाता, और दृज्यका नाश होने लगता तो दृज्यके पीछे उसका ध्वंस माना जाता । पर्यायोका ही उत्पाद व्यय होता हुआ प्रागमात्र और ध्वंस माना जाता है । द्रव्योंका नहीं । " नैवासतो जन्म सतो न नाशो दीपस्तमः पुद्रलभावतोस्ति । (बृहत्स्वयम्भू) " । तभी तो द्रव्य अर्थकी अपेक्षा हमने अकारणत्य हेत्को विरुद्ध कहा है। अतः प्रागमात्र करके व्यभिचार नहीं हो पाता है। दूसरी बात यह है कि वैशेपिकोंने भावोंसे मिन प्रागभाव परार्थ माना है। किन्तु दूसरे चार्वाकोंके यहां तो पृथियो द्रव्य, जलतत्त्र आदिकोंसे भिन्न हो रहा प्रागमाव सिद्ध ही नहीं है। अन्यथा यानी चार तत्त्वोंसे भिन्न प्रकारका प्रागमावतत्त्व यदि माना जायगा तव तो उस प्रागमावकी चार तत्त्वोंसे निराले पांचर्ने तत्त्वका प्रसंग चार्वाकोंके ऊपर आता है, जो उन्हें इष्ट नहीं है। अतः चार्वाकोंका अकारणत्व हेतु विरुद्ध ही रहा । यहां अकारण शद्ध ी साधु हैं । " न कर्मधारयः स्यानमत्वर्थीयो बह्मीहि श्रेद्धप्रतिपत्तिकरः " ऐसा नियम है । हां " सदकारणविन्तर्य " इस प्राचीन ऋषिवाक्यकी न्यारी बात है।

यश्राकार्यत्वादिति हेतुः सोप्यसिद्धः मुखोदरात्मकार्यस्य पर्यायार्थापेणात् प्रसिद्धः कादा-चित्कार्यविशेषस्याभावादकार्यत्वमनैकांतिकं मुर्भुराद्यवस्थेन।प्रिना, कार्यत्वाभावोऽकार्यत्वं विरुद्धं । तथाहि—सर्वदास्त्यात्माऽकार्यत्वात् पृथिवीत्वादिवत् । न मागभावेतरेतराभावात्यन्ताभावेरनै-कांतस्तेषां द्रव्यार्थाश्रयणेनुपपत्तः । पर्यायार्थाश्रयणे कार्यत्वात् । कुटुस्य हि मागभावः कुश्रस्रः स च कोश्रकार्य कोशस्य च शिवकः स च स्थासांतरकार्यमिति । पिन्।

और आत्माके नात्तित्वकां सिद्ध करनेके लिये चार्वाकोंने तीसरा हेतु जो अकार्यत्व ऐसा दिया था, आचार्य कहते हैं कि वह भी अकार्यत्व हेतु असिद्ध है। क्योंकि पर्यायार्थिक नयकी विवक्षा कर

नेसे आत्माके कार्य हो रहे सुखज्ञान, वेदना, पुरुषार्थ, इच्छा या रक्त, वीर्य, उत्पन्न कराना आदि कार्योकी प्रसिद्धि हो रही है। अतः कार्यरिहतपना हेत आत्मा स्वरूप पक्षमें नहीं ठहरनेसे असिद्ध हेत्वाभास है। पूर्वमें जैसे आत्माक कारणोंको साध दिया था। अब आत्माके उत्तरवर्ती कार्योंको प्रसिद्धकर दिखा दिया है। सन्तानरूपी नदी दोनों ओर अनादि, अनन्त, किनारोंसे घिरी हुई है तथा आत्माके नास्तित्वको सिद्ध करनेके छिये प्रयुक्त किया गया चार्वाकोंका अकार्यत्व हेत् व्यक्तिचारी हेत्वामास भी है। मुरमुर या भूभड आदि अवस्थामें पडी हुई अग्नि मित्रियमें किसी भी कार्यको नहीं कर रही है। अतः कभी कभी विशेष कार्यके नहीं करनेसें अकार्यत्व हेतु उस अग्नि करके अनैकान्तिक हो जाता है। जैनसिद्धान्त अनुसार सभी पर्यायें भविष्यमें किसी किसी पर्यायको उत्पन्न कर तब नष्ट होती है। इसकी आग या फुलिंगा भी कुछ कार्योंको करते हैं। हुई या बारूदमें फुलिंगा आग लगा देता है। शरीरको थोडा भुरसा देता है, कुछ देर उच्णता रखता है, उससे बैसी ही छम्बी चौडी ज्वाला या फुलिंगा ही भविष्यमें सदा उपजता रहे, ऐसा हम जैनोंको एकान्त अभीष्ट नहीं | हां, इंसक दाह हो च रुनेपर पीछ री बच रही आग कुछ भी कार्य नहीं कर रही है. ऐसा चार्याक मानते हैं। तृणोसे रहित बादू रेतमें पड़ी हुई अग्नि भी जलाना प्रकाना फ्रोडा डाल्ना, सोखना, आदि कार्यीको नहीं कर रही मानी है। जैसे कि नैयायिकोने अन्तके चरम अवयर्शका पुनः कोई अवयवीको उत्पन्न कराना कार्य नहीं माना है। अतः चार्याकों के अकार्यत्व हेतुको उन्हीं के "मन्तव्य अनुसार मुरमर फुलिंगा, आदिकी अभिने व्यभिचारी कर दिया है। इस अभिमें उत्तरवर्ती कार्यको करनेने रहितपना है । किन्तु असल्व मध्य वहां नहीं है, तथा चार्वाकोंका कार्यत्वके अभावस्वरूप अकार्यत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास भी है । उत्तीको प्रक्षिद्ध कर दिखाते हैं । आत्मा (पक्ष) सदा विद्यमान रहता है, (साध्य) अकार्यपना होनेसे (हेतु) पृथिवीत्व या पृथिवीतत्त्व आदिके समान (अन्वयद्दशन्त) घट, पट, आदि प्रथियी पर्यायोंका नाश हो जानेपर भी चार्त्राक प्रथियी तत्त्रका नाश हो जाना नहीं मानते हैं। अतः इस अनुमान द्वारा आत्माको नित्यत्व सिद्ध करनेवाला अकार्यत्व हेत तो चार्वाकोंके उक्त साध्य नास्तित्वसे विरुद्ध हो रहे सदा अस्तित्वके साथ अविनामान रखता है। अतः साध्यसे विपरीत हो रहे के साथ व्याप्तिको रखनेवाला अकार्यत्व हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है। आत्माका सदा अस्तित्व साधनेवाले इमारे अकार्यत्व हेतुका प्रागमाव, इतरेतरामाव या उत्पन्न हुआ अमाव याने व्वंस, अथवा अत्यन्तामाव करके व्यभिचार नहीं आता है । क्योंकि द्रव्य अर्थका आश्रय करनेपर उन प्रागमाव आदि अभावोंकी सिद्धि नहीं है। पाती है। सर्वदा नित्य द्रव्य विद्यमान रहता है। द्रव्यरूपसे किसीका कोई नहीं है। हां, पर्यायरूप अर्थमा आश्रय करनेपर तो वे प्रागभाव, प्रश्नंस, अन्यो-न्याभाव, अत्यन्ताभाव, कार्य ही हैं । अतः अकार्यत्व हेतुके न रहते हुये असत्त्व साध्य महीं भी रहा तो कोई क्षति नहीं है । धंस अभावको सभी वादी कार्य मानते हैं । अतः अकार्यत्व हेत्का धंस करके व्यभिचार होना कथमपि सम्भावित नहीं है। अतः उत्पन्नाभावके

स्थानपर अलन्तामाव पाठ अच्छा है। दोखिये, पर्याय अर्थीका अवलम्ब छेनेपर घटकी पूर्वक्सी कुराइ पर्याय ही घटका प्रागभाव है और वह कुशूल तो उस कुशूलके पूर्ववर्ती कोष पर्यायका कार्य है। अतः कुरुङ्का प्रागभावं कोष हुआ तथा कोषका प्रागभाव उसकी पूर्व पर्याय शिवक हुआ और वह शिवक दूसरे स्थासका कार्य है। इस ढंगसे पूर्ववर्ती पर्यायोंको ही हम उत्तरवर्ती पर्यायोंका प्रागमाव मानते हैं । इसपर प्रागमावको अनादि माननेवाले वैशेषिक यदि यो कटाक्ष करें कि हमारे यहां तो प्राममात्र माना गया है। अतः अनादिकाल्प्से अवतक कार्यकी उत्पत्तिको रोकता हुआ बैठा है। किन्तु जैनोंके यहां जब पूर्वपर्याय ही का नाम प्रागमाव है तो उस पूर्वपर्यायकी पूर्व अवस्थाओंमें घटकी उत्पत्ति हो जानी चाहिये । क्योंकि घटकी उत्पत्तिका प्रतिबन्धक अभी प्रागमात्र तो उपजा ही नहीं है। ध्वंस तो घटके उपज जानेपर पीछे होनेत्राला अभाव है। इतरेतराभाव और अत्यन्ताभाव भी घटके उपज चुकनेपर व्यवहार प्राप्त होते हैं। अतः किसी भी प्रतिबन्धक अभावके विवासन नहीं होनेसे उम्बी अनादिकाछीन पर्यायसन्तितमे घटकार्यके सद्भावका प्रसंग आता है। अब आचार्य समाधान करते हैं कि वैशेषिकोंका उक्त आक्षेप ठीक नहीं है। क्योंकि प्रागभावके विनाशको ही हम कार्यरूप करके स्वीकार करते हैं। अनादि पूर्वपर्यायकी सन्तानमें अभीतक जब प्रागमान उत्पन्न ही नहीं हुआ है तो भला उसका व्यंस कहांसे होय ? अतः प्रागभावके व्यंसरूप कार्यका पूर्व अवस्थाओंमें सद्भाव हो जानेका प्रसंग नहीं उठा सकते ही । जैसे कि उत्तर अवस्थारूप व्यंसका व्यंस हो जानेपर पुनः कार्येके उजीवनका प्रसंग नहीं दे सकते हो । भावार्थ-पूर्व अवस्थारूप प्रागभावका श्रांस हो जाना कार्य सद्भाव है। " कार्योत्पादः क्षयो हेतोः " और कार्यकी उत्तर अवस्थारूप श्वंसका प्रागभावस्वरूप कार्य सद्भाव है। अतः कार्यसद्भावके आगे पीछेकी पर्यायोंके समयोंमें कार्यसद्भावका आपादन करना उचित नहीं है। ध्वंस और प्रागभावको हम तुन्छ पदार्थ नहीं मानते हैं। किन्तु मीमांसकों के समान हमारे यहां रिकामाव ही अभाव माना गया है ।

कुटपटयोरितरेतराभावः कुटपटात्मकत्वात्कार्यः चेतनाचेतनयोरत्यंताभावोपि चेतना-चेतनात्मकत्वात् कार्य इति । परस्य तु पृथिव्यादिभ्योर्थातरभूताः मागभावादयो न संत्येवा-न्यथा तेषां तत्त्वांतरत्वप्रसंगात् । तथेतरेतराभावात्यंताभावयोः सर्वदास्तीति मत्ययविषय-त्वात् न ताभ्यामनेकांतः ।

आत्माका सदा अस्तित्व साधनेके छिये दिये गये जैनोके अकार्यत्व हेतुका ही निर्दोषपना दिखाया जा रहा है कि घट और पटमें परस्पर ठहर रहा उनका अन्योन्यामाय तो घट और पट स्वरूप ही है। अतः जब घट, पट कार्य हैं तो उनका तदात्मक अन्योन्यामाव भी कार्य हुआ। अतः अकार्यत्वहेतु अन्योन्यामावमें नहीं ठहरा। ऐसी दशामें साध्य भी नहीं रहे तो हमारे अकार्यत्व हेतुमें (न कि चार्वाकीं के अकार्यत्व हेतुमें) व्यमिचारदोप नहीं चढ बैठेगा। जो पुद्रछ या जीवकी पर्याय वर्तमानमें तद्रूप नहीं है, किन्तु आगे पीछे कालोंमें तद्रूप हो सके ऐसी देव, मनुष्य, घोडा,

हाची, आदि अथवा घट, पट, जौकी, पुस्तक, आदिक सीत्र या पुक्रको पर्यास्त्रेता सर्वाकाका अन्योन्याभाव माना गया है । तथा कीनों काछमें जो पर्याय या जल्य तक्ष म हो सके ऐसी लाइ, नेतन, या धर्मत्रन्य त्या अधर्मद्रव्यका एक दूसरेमें अत्यन्तामान सामा गया है, जो कि नैकालिक-संस्कृतिका है। वैशेषिकोंको भी इसी मार्गका अनुसरण करनेपर विराक्तकता निष्ठ सक्सी है। प्रकरणमें हमारे अकार्यत्वहेतुका अल्कतामाव करके व्यक्तिकार वहीं आता है। वसेंकि चेवन, अचेतन. पदार्थीका परस्वर अवन्तामाय भी चेतम, अचेतनपर्यायसम्प हो जानेसे सार्थ ही दे इस कारण अकार्यत्व हेतके न रहनेपर साध्य नहीं भी रहा कोई श्रुटि नहीं है। हेतुक स्वहते हुने वहां साध्य नहीं ठहरता तो व्यभिचार दोष उठाया जा सकता था । दूसरी बात यह है कि अभागिक अपन्हत्र करनेवाळे उन परपक्षमृत चार्त्राक्षोंके यहां तो प्रथिवी आदिक चार तत्त्वोंसे कोई अवस्थित मूत हो रहे प्रागभाव आदिक माने ही नहीं गये हैं। अन्यथा उन प्रागभाव, अन्योन्याभाव, अधिकांको चार तत्त्वोंसे अतिरिक्त तत्त्वान्तरपनेका प्रसंग हो जायगा। तथा तीक्षरा उपाय ग्रह भी है कि व्यक्षिकार उठानेवाले चार्वाक यदि इतरेतराभाव और अत्यन्ताभावमें किसी इंगरे अकार्यनहेतको एव देना चाहते हैं तो अच्छी बात है, उन इतरेतग्राभाव और अत्यन्ताभाषमें सदा अस्तियनके झानकी विकास हो जानेसे उन करके व्यभिचार नहीं हुआ, अकार्यत्व हेत रह गया तो साथमें सर्वदा अस्तियन वह साध्य भी वहां ठहर गया । कुछीन पतिपत्नीके समान साध्य हेतुओंसे आवेनाभाव वर्ष जानेसे व्याधी-चारकी शंका भी नहीं रहती हैं। विषमव्याप्ति न होकर यदि हेत साध्योंमें अहां समव्याप्ति हो राही है, वहां हेतु तो क्या, एकपत्नीक्त पतिके समान साध्य भी व्यभिचारी नहीं हो प्राता है।

लरविषाणादिख्छांतश्च साध्यसाधनविकसः, सरविषाणादेरप्यकांतेन मास्तित्वासुपस्तम्य मानत्वाद्यसिद्धेः । गोमस्तकसमवायित्वेन दि यदस्तीति मसिद्धं विषाणं तत्व्वरादिवस्तक-समवायित्वेन नास्तीति निश्चीयते, मेषादिसमवायित्वेन च मसिद्धानि रोधाणि, कूर्यसमवायित्वेन च न संति, नोपस्त्रभ्वते च वनस्पतिसमवायित्वेन पसिद्धान्तित्वोषस्त्रंभं कुसुमं गणनसम्वायित्वेन नास्तित्वासुपस्त्रभ्यमानत्वयमोधिकरणं दृष्टं न पुनः सर्वत्र सर्वदा सर्वथा किष्य-धानित्वासुपस्त्रभाविकरणं मसिद्धं निरोधात् । ततो नास्मनः सर्वथा सर्वत्र सर्वदा नास्तित्वे साध्य स्थानुपस्त्रभाविकरणं मसिद्धं निरोधात् । ततो नास्मनः सर्वथा सर्वत्र सर्वदा नास्तित्वे साध्य स्थानुपस्त्रभाविकरणं नादिक्तेनाचात् ।

चार्नाकोंने अनुपरूचम, अकारणत्य, अकार्यत्य, इन तीन हेतुओंसे आत्माके नास्तित्वको साधते हुये जो कि खरविषाण, कच्छपरोम, आदि अन्वयदृष्टान्त कहे थे वे दृष्टान्त मी नास्तित्व साध्य और अनुपरूचम आदि हेतुओंसे रहित हैं। क्योंकि खरविषाण, वन्ध्यापुत्र, आदि दृष्टान्तोंका एकान्त करके (सर्वथा) नास्तिपन और अनुपरूच्यमानत्व (अनुरूचम) आदिनी लिहि नहीं हो सकी है। देखिये अवयवी गीके मस्तकमें समतायसम्बन्धसे कर्त्तरहेपन करके जो ही सींग प्रसिद्ध हो: रहा है, बही सींग तो गथा, घोडा, हाथी, आदिके उत्तमांगों (हिरोमान) में समनायसम्बन्धसे वर्तमान्धने करके नहीं है । इस प्रकार निश्चय किया जाता है तथा मेंढा, छिरिया, बन्दर, आदिके अवयवी शरीरमें अवयव होकर समवायसहितपने करके प्रासिद्ध हो रहे रोम ही तो कछवेमें समवायीपने करके नहीं है, और नहीं देखे जा रहे हैं। इस ढंगसे तो नास्तित्व साध्य और अनुपलम्म हेतुको कूर्म रोम धार सकता है, तथा वनस्पतिमें समवायी होकरके प्रसिद्ध हो रहा है अस्तित्व और उपकम्भ जिसका, ऐसा पुष्प ही गगनके समवायीपने करके नास्तित्व (साध्य) और अनुपछभ्यमानत्व (हेतु) धर्मका अधिकरण हो रहा देखा गया है। किन्तु फिर सब ही स्थानोंपर सदा सभी प्रकारोंसे जगत्का कोई भी पदार्थ नास्तिपन और अनुपलम्भका अधिकरण हो रहा ते। अद्याविध प्रसिद्ध नहीं है। क्योंकि विरोध दोष आता है। अर्थात्—जो नास्तिपन या अनुपलम्भ धर्मीका आश्रय होगा वह सत्रूपसे 🛍 प्रसिद्ध होगा । धर्म तो सद्भूपधर्मीमें रहते हैं और जो सत् पदार्थ है उसमें नास्तिपन, अनुपलम्भ, कारणरहितपन, कार्यरहितपन, ये धर्म नहीं ठहर सकते हैं। " संज्ञिनः प्रतिषेधो न प्रतिषेध्यादते कचित् '' अखण्डपदकी संक्षावाळे पदार्थका प्रतिषेध करना प्रतिषेध्यकी सत्ता माने विना असम्भव है। एक स्थानपर प्रतिषेष्यकी सत्ता सिद्ध होनेपर अन्य स्थानोंपर उसका निषेश किया जा सकता है। अष्ट-सहसी प्रन्थमें " अद्वैत शद्धः स्वाभिधेयप्रत्यनीकपरमधापेक्षो नञ् पूर्वाखण्डपदत्वादहेत्वभित्रानवत् " इस अनुमानसे द्वैत, आत्मा, आदि शद्बोंके सद्भावरूप वाच्य अर्थ साध दिये गये हैं। जब कि अस-भाव कहे जा रहे खरविषाण आदि समसित पदोंके वाच्य अर्थकी भी सिद्धि करते हुये उनमें सर्वथा नास्तिपन और अनुपलम्म नहीं साधे जा सकते हैं तो आत्मा या चैतन्यका अस्तित्व साधना तो स्राज्यसाच्य है। वैशेषिकमत अनुसार अवयवेंामं अवयवी समन्नाय सम्बन्धसे रहता है। अतः सींग या बाळस्वरूप अवयवोंमें भैंसा, मेढा, गाय, आदि अवयंत्री समवाय सम्बन्धसे वर्त्त रहे सन्ते समवेत कहे जाते हैं। अवयवीके समवायको धार रहे अवयव समवायी माने जाते हैं। किन्तु जैनसिद्धांत अनुसार मडी हुई चूनकी छंडमें थे।डा अता और मिला देनेसे पुनः एक अवयवी बन जाता है। उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त अवयवीमें भी कुछ अवयव मिला देनेसे द्वितीय अवयवी उत्पन्न हो जाता है। यानी अव-यवीमें भी अवयवका रहना जैनिसिद्रान्त अनुसार अभीष्ट है। यहां वैशोषिक यों मान रहे हैं कि मनभर दूधमें छटांक मर दूध मिळानेपर अथवा दश सेर आटे की छंडमें छटांकमर आटा या न्यारे छटांक भर आटेकी छंडको मिला देनेसे एवं चालीस गज लम्बे वस्रमें एक सूत मिलाने या निकालनेसे अव-यवीका नाश हो जाता है ! अत्रयवी पुनः अवयव उसके भी अवयव आदि पञ्चाणक, चतुरणक, त्र्यणुक, बणुक, इस विनाश क्रमसे परमाणु हो जाते हैं। यों पूर्व अवयवीका नाश होकर पुनः सम्मिलित हुये दूसरे अवयवोंके साथ बणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक, पञ्चाणुक, षडणुक, सप्ताणुक, इस क्रमसे अवयव, अवयवी, महावयवी, चरमावयवी, द्रव्यकी पुनः सृष्टि होती है। दो अणुओंसे एक बागुक बनता है । तीन बागुकोंसे एक त्र्यागुक बनता है । चार त्र्यागुकोंसे एक चतुरणुक बनता है । पांच चतुरणुकोंसे एक पंचाणुक बनता है। यही ढ़ंग अवयवी पर्यन्त चला जाता है। यह सब

वैशिषिकों की उत्पाद विनाश प्रक्रियाका दिखलाना तो बकना मात्र है। इसमें प्रत्यक्षसे ही विरोध आता है। पांच हार इक्षरसमें छटाकमर दूसरा इक्षरस मिला देनेसे तत्काल नवीन अवययी बन जाता है। '' भेदसंघाताभ्यामु:पद्यन्ते '' जैन सिद्धान्तमें भेद और संघात तथा कुछका भेद कुछका संघात इन तीनों प्रकारोंस अवयवीकी उत्पत्ति मानी गयी है। अतः वैशेषिकोंका कहना प्रत्यक्षविरुद्ध पडता है। अवयवीमें भी अवयधों के समवेत हो जानेका कोई विरोध नहीं है। वैशेषिकोंने तीन सणुकोंसे एक त्रयणक और चार त्रयणकोंसे एक चतुरणक इत्यादि जो सृष्टिप्रक्रिया मानी है वह भी ठीक नहीं है। तीन अणुओसे या एक बणुक और एक अणुसे ही त्र्यणुक पैदा होता है। दो बणुक या एक त्र्यणुक और एक अणु अथवा चार अणुओंसे ही चतुरणुक स्कन्ध उपजता है। बात यह है कि चतरणुकमें चार ही अणुयें होनी चाहिये। पंचाणुक्रमें द्रव्यरूपसे पांच अणुयें ही पर्याप्त हैं, न्यून अधिक नहीं। शब्दके वाष्य अर्थपर भी दृष्टि डालनी चाहिये । यो चाहे जहां मन चाहा अंडगा लगा देना शोभा नहीं देता । वैशेषिकोंके मतानुसार एक सी वीस अणुओंका पंचाणुक स्कन्ध और सातसीवीस परमाणु द्रव्योंका बना हुआ एक पडणुक स्कन्ध हम जैनोंको अभीष्ट नहीं है । वैशाधकोंको यह इर छगा हुआ है कि सृष्टिकी आदिमें ईश्वर इच्छा या अन्यदा अग्निसंयोग, ईश्वर, आदि कारणोंसे जब सभी परमाणुओं के बणुक बन गये तो अब त्र्यणुक बननेके लिये बणुकका साथी अकेला परमाणु आवे ? अथवा वहां रखे हुये सब बणुकोंके जब त्र्यणुक बन गये तो जैन मतानुसार चतुरणुको बना-नेके लिये वहां बणुक और परमाणुयें कहां रखे हुये हैं ! जिनसे कि चार परमाणु या दो बणुकोंसे झट एक चतुरणुक बना लिया जाय । इसपर हम जैनोंका यह कहना है कि जगत्में अनन्तानन्त द्यापुक या परमाणुयें ठसाठस भरे हुये हैं । अनन्ताअनन्त परमाणुयें तो ऐसी पडी हुई हैं जो अधापि स्कन्धस्त्ररूप नहीं हुयीं और होंगी भी नहीं। जहां घट, पट, षडणुक, पंचाणुक, चतुरणुक बन रहे हैं वहां भी अनेक परमाणुयें, अनन्ते चणुक, विद्यमान हैं । वहां रखी हुयी सभी परमाणुयें बाणुक नहीं बन जातीं हैं । बणुक सभी त्र्यणुक नहीं बन जाते हैं । दूरसे भी परमाणुयें खेंची जा सकती हैं। या कारणवशसे वे चली आतीं हैं । अपनी अपनी योग्यता अनुसार ही ।नेयत पुद्रलेंकी नियमित परिणितियां होती हैं, आगे चलकर भी तो वैशेषिकोंने दो कपालिकाओंसे एक कपाल और दो कपा-लोंसे एक घट अवयथीकी उत्पत्ति स्त्रीकार की है । फिर पहेले पडणुक, सताणुक, स्कन्धोंमें यह अनाचित (बेह्रदेपनका) क्रम क्यों बना रखा है ! इस बातको जगतमें डेड बुद्धिको मानकर अपने ही एक पूरी बुद्धिको समझ बैठे औद्धक्य मतानुयायी वैशेषिक ही जानें प्रकरणमें यह कड़ना है कि खरविषाण भी नास्ति और अनुपलम्यमान नहीं है । चार पांत्रवाला गथा पद्म प्रसिद्ध है। सींग भी गाय, भसामें प्रसिद्ध होरहे केवल गधा और सींगका समनाय हो जाना धर्म ही नहीं देखा जा रहा है। तब तो खरविषाणका एक छोटासा धर्ममात्र ही अप्रसिद्ध हुआ । सर्वत्र, सर्वदा, सर्वधा, खरविषाण पदार्थ तो नास्ति और अनुपलम्भका अधिकरण नहीं है। इसी प्रकार कल्लेके रोम या आकाशका फूल भी सर्वया अप्रसिद्ध

नहीं है। मण्डुकाशिकण्डक भी अस्ति होकर जाना जा रहा एक ढंगसे प्रसिद्ध है। देखों, कर्यांकित असत् हो रहे पदार्थको ही अस्तित्व और उपलम्भ धर्म हैं तथा क्यंचित् सत् पदार्थके ही नास्तिषक और अनुपरम्य काने गये हैं। न तो सभी प्रकारोंने सत् हो रहे पदार्थक ही अस्तित्व और उपरम्भ धर्म हैं। क्योंकि यों तो घटका पट रूपसे या जीवरूपसे भी सद्भाव वन बैठेगा। यों चाहे जो पदार्थ चाहे जिस पदार्थस्वरूप होता हुआ सर्वसैकरहोष प्रस्त हो जायमा । यदि सर्वथा असत्के वे नास्तित्व या असुबर्गम धर्म माने जायंगे तब तो सर्वशृत्यवादमें बोळने, सुनने, समझने, समझने, का व्यवहार ही नह हो जस्पमा । " स्यादादो विजयतेतरां " । संचितकर्मीकी पराधीनतासे चौरासी लाख योनियोंमें अक्रम करते हुये जीवको मञ्चल (मैहका) भवकी प्राप्ति हो चुकनेपर पुनः वह जीव मनुष्य गतिमें क्षमारी अवस्थाको थारण करता है, उस समय उस स्रीके जो कौआके पंख समान केश रचना विशेष है वह कुमारी लडकीकी चोटी या वेंनी पूर्वमण्डककी कही जा सकती है। देवदत्तकी दुकान निक जानेकर भी किसी अपेक्षा देक्दत्तकी कही जा सकती है। पार्श्वनाथके पहिले भनों के कर्त्तन्योंको पार्वमायकी कृति बखाना जाता है। जब प्रलक्षी आकाश अवगाह दे रहा है तो आकाशका पुण्प वास्त्रीमें क्या आति है ? देख्ते कुश्तमें जितमी देर या जितने अंशते पुष्प संवुक्त हो रहा है, उससे वाहीं अधिक देखतक सर्वोमन्हपसे आकाशके साथ पुष्पका संबोग वन रहा है। इक्षसे वियुक्त हो गया भी कुछ कभी आकारांसे प्रच्युत नहीं होता है। इस प्रकार जन्नतक पुष्प विद्यमान रहेगा आकाशकी साथ उसका सम्बन्ध नहीं छूट सकता है। थोडा मातः, पिताका पुत्रके साथ हुये सम्बन्धको अथवा देषदत्तका धन या खेत अथवा शत्रुसे हुये सम्बन्धको निरख छो । जब ऐसे स्तोक स्मकाबालें स्थलोंमें पष्टी विमक्ति आसका होकर उत्तर आती है तो शशविषाण, वन्ध्यापुत्र, मृगतुष्णा-जल आदिमें किंचारशाली वैयाकरणोंके द्वारा समासके प्रथम उतार ही जा चुकी सम्बन्धवाचक पहीं निभक्तिको निर्मूछ क्यों कहते हो ! बात यह है कि " सिद्धिरनेकान्सात्" अनेकान्ससे पदार्थोंकी 'सिद्धि हो रही है । सरविषाण आदिमें भी नास्तित्व साच्य और अनुपलम्भ आहे हेत विचमान नहीं हैं। तिस कारणसे चार्वाकों द्वारा आत्मद्रव्यका सभी प्रकारोंसे सर्वत्र सदी मास्तिपम सान्य करते सन्ते लिस प्रकार अनुमानमें कहे गये अनुपटम्भ, अकारणल, अकार्यत्व, सम्भवद्वाधकात्व, आवि हेतुओंका जगत्वतीं कोई पदार्थ अन्ववदृष्टान्त नहीं है । जो चार्वान कोंने खरबियाण आदि रहान्त उपात्त किये थे, ने तो साध्य और साधन दोनोंसे रहित हो रहे सिद्ध कर दिये गये हैं । जो साध्य और साधनसे विकल है (खाली है) वह अन्यपद्रशन्त नहीं हुआ करता है, अन्वपर्ष्टान्तमें ही हेत और साध्यकी व्यातिका प्रदर्शन कर ही चार्वक अपना आत्मके नास्तित्व सिद्धिका प्रकोजन साथ सकते थे। अब तो उन चार्वाकोंके पास कोई उपाय दोष नहीं है। जमानि प्रत्यक्षा अनुमार्ग और मासकाक्यसे आत्माका धासितव प्रसीत हो रहा है, तो ऐसी दशाने आक्षाका नास्तित्व सिद्धं करना चार्वाकोंका स्वयं अपनेको अवस्तु साधनेका निन्य प्रयस्त है।

तमात्मा नास्त्रीति पश्च अत्यक्षानुपानागमवावितोवगम्यत इति साधने दोषदर्शनात् नातः साचनादात्मनिन्द्वसिद्धिर्वतोस्य नोपयोगो छन्नणं स्यात् ।

तथा चार्यकांने आत्माक अभावको साधनेक िये जो अनुमान बनाया था, उस अनुमानका आत्मा नहीं है। इस प्रकार पक्ष (प्रतिक्षा) भी तो प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणांसे बाधित हो रहा जाना गया है। पूर्व प्रकरणोंमें साध दिये गये केवळ्कानसे संपूर्ण मुक्त, संसारी, आत्माओंका प्रत्यक्ष हो रहा है। अवधिक्षान और मनःपर्ययक्षान द्वारा भी संसारी बद्ध आत्माका विकळ प्रत्यक्ष हो जाता है, तथा स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे में मुखी हूं, में दुःखी हूं, क हूं, आदि आकारोंका उल्लेख करते हुये आत्माका स्वतः प्रत्यक्ष हो रहा है। एवं बाधकोंका असम्भव या हित, अहितके प्राप्तिपरिहारकी किया आदि हेतुद्वारा आत्माका अनुमान हो जाता है, सर्वक्रकी आम्नायसे चले आ रहे '' जीवाध्य, जीवो उपओगमओ, गुणजीवा पञ्जत्ती, इत्यादि आगमवाक्योंसे आत्माका अस्तत्व निर्णीत है। अतः प्रमाणोंसे बाधित होकर जाने जा रहे साध्यके निर्देश अनन्तर प्रयुक्त हो जानेसे चार्वाकोंका हेतु काख्यत्वपापदिष्ठ है। इस प्रकार चार्वाकोंद्वारा कहे गये अनुपल्यम आदि हेतुओंमें असिद्ध व्याभिचार विरुद्ध, बाधित, इन दोघोंके दीख जानेके कारण इन हेतुओंसे आत्माके अपलाप (होती हुई वस्तुके लिये मुकर जाना) की सिद्धि नहीं हो सकती है। जिससे कि इस आत्माका लक्षण उपयोग न हो सकते। अर्थात् चार्वाकोंने पहिले जो थे कहा था कि लक्ष्य बनाये जा रहे आत्माका असरव होनेसे उसका लक्षण उपयोग नहीं घटित होता है, यह उनका कहना ठीक नहीं पडा। आत्मतत्त्वकी सिद्धि कर दी गयी है। अतः उपयोग उसका लक्षण बन सकता है। कोई आपत्ति नहीं है।

किं च, स एवाई द्रष्टा, स्पृष्टा, स्वादियता, घाता, श्रोताज्ञुस्पृता, वेत्यज्ञुसंधानमत्ययो प्रशिवकृतः करणजिवज्ञानेषु चाऽसंभान्यमानत्वात् तेषां स्वविषयनियतत्वात् पर्स्परविषय-संक्रमाभावात् ।

आत्मतत्त्वकी सिद्धि करनेका एक तिचार यह भी है कि जो ही मैं चशुसे देखनेवाला हूं, वहीं में हा रहा हूं वहीं में स्वाद ले रहा हूं, सूंच रहा हूं, अथवा सुननेवाला हूं, इन्द्रियों या मनसे अनुसब कर चुक्तनेपर धारणा झानदारा वही में स्मरण करनेवाला हूं। इस प्रकारके अनुसंधान करनेवाले झान (पक्ष) मृहीता आत्मा करके बनाये गये हैं (साच्य) क्योंकि इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुये अविचारक विद्यानोंमें उक्त प्रकारके अनुसंधान होनेका असम्भव हो रहा है (हेतु) वे स्पर्शन आदिक इन्द्रियां अपने लियत नियत नियत नियत स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ध, राब्द, सञ्चेतना, को जानकर विद्यां अपने लियत नियत नियत कोटा क्या या, असंझी या चौइन्द्रिय जीव दर्पणमें अपने प्रति विकारों चश्चसे देख लेता है, किन्तु यह मेरी छाया है इसके अनुसार मुझे अपने मुखका धव्चा मिटा कालता चाहिये इन्यादि विचार नहीं कर पाता है। चश्च केवल रूपको देख लेगी। रसना रसकी

चाट लेगी। किन्तु ये इन्द्रियां ऐसे प्रत्यवसर्वोंको नहीं कर सकती हैं कि यह वही सूंचा जा रहा है जो कि पापड पहिले देखा या खाया था यह उससे अधिक भुरभुरा है, यह उससे न्यून लक्षणवान है। यह शब्द उस शब्दसे गम्भीर है, तिल्पा है, कर्कश है। जैसे कि टेलिफीनोंके यहां वहां जाने, आने, सम्बन्ध मिलाने का संयोजक एक प्रधान कार्यालय होता है, उसी प्रकार इन्द्रियों इन्स आगे पीछे हुथे झानोंका अधिकारी एक दिमर्षक आत्मा ही उपयोग लगाकर उनका अनुसंधान कर सकता है। इन्द्रियां इस कार्यको कालत्रयमें नहीं कर सकतीं हैं। क्योंकि उनके द्वारा प्रहण किये जा चुके विषयोंका परस्परमें संक्रमण नहीं हो पाता है। रूपया स्वयं अपना परिवर्तन (एक्सचेंज) नहीं कर लेता है। इस कार्यके लिये चारों ओर का भाव निरख कर ठीक ठीक व्यस्था कर देने वाले कोषाध्यक्ष (बैंकर) की आवश्यकता है। इससे इन्द्रियज्ञानों या विचारक ज्ञानोंका अनुसंधान रखनेवाला गृहीता आत्मा सिद्ध हो जाता है।

गर्भादिमरणपर्यतो महांश्रीतन्यविवर्तो दर्शनस्पर्शनास्त्रादनाघाणश्रवणानुस्मरणलक्षणचैत-न्यविशेषाश्रयो गृहीता तद्धेतुरिति चेत्र, तस्यैवात्मत्वेन साधितत्वादनाद्यनंतत्वापपत्तेः। न चार्य निर्हेत्कः कादाचित्कत्वादिति परिशेषादात्मसिद्धेश्च नात्मनोभावो युक्तः।

चार्वाक कहते हैं कि आत्मा तत्त्व अनादि अनन्त नहीं है । गर्भसे आदि लेकर मरण पर्यन्त लम्बा चौडा महान् चैतन्य परिणाम ही देखना, छूना, चाखना, सूंचना, धुनना, पीछे स्मरण करना, ऐसे लक्षणवाले विशेष चैतन्योंका आश्रय है वही गृहीता है और गर्भसे मरणतक है। ठहरनेवाला आत्मा उस अनुसंधान ज्ञान करनेका हेतु है। गर्भसे प्रथम और मरणके पश्चात् भी उसका अन्वय मानते जाना उचित नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस महान चैतन्य विवर्तको ही आत्मपने करके साथ दिया गया है, उस चैतन्यका अनादि कालसे हेकर अनन्त कालतक द्रव्यक्रपमे ठहरना बन जाता है। यह चैतन्य विशेष या अनुसंधानज्ञान भला हेत् औंसे रहित नहीं है। क्योंकि कभी कभी होता है। जो कार्य कभी कभी होते हैं उनका कोई नियत हेत अवस्य है। विशेष चैतन्यका हेतु यह शरीर तो नहीं है। मृत शरीरमें व्यभिचार ही जायगा। इन्द्रियां भी चैतन्यका हेत् नहीं हैं । क्योंकि चक्ष या श्रवण इन्द्रियका घात हो जानेपर भी देखे सुने हओंका स्मरण हो रहा देखा जाता है । शरीर, इन्द्रिय, नोइन्द्रिय, थे जड पदार्थ तो घट, पट, समान विचार नहीं कर सकते हैं। चार्वाकों द्वारा माने गये पृथिवि, जल, तेज, वायु, चार तत्त्वोंके बते उक्त कार्य करना अशक्य है। अतः परिशेष न्यायसे चैतन्यविशेषका हेतु आत्माद्रव्य सिद्ध हो जाता है। इस कारण चार्वाकोंको आत्माका अभाव कर देना समुचित नहीं है। गर्भसे प्रारम्भ कर चैतन्य विशेषकी जो उत्पत्ति मानी गयी है वह उपादान कारणसे हैं। संघ सकती है। उपादानके बिना किसीकी उत्पत्ति नहीं होती है। शब्द, बिजली, आदिके मी अदृश्य उपादान वर्त्त रहे हैं तथा मरण के पश्चात किसी उपादेयको उत्पन्न कर ही चैतन्य ट्रष्ट सकता है। उत्तर अधिकारीको नहीं

उत्पन्न कर किसी भी गुणगरिष्ठको नष्ट होनेका अधिकार नहीं है। आध्य प्रकरणमें विस्तारके साथ आत्माके अनादि अनन्तपनकी सिद्धि की जा चुकी है। अछं विस्तरेण।

किंच, अस्मदादेरात्मास्तीति मत्ययः संज्ञयो विषयेयो यथार्थनिश्चयो वा स्यात् १ संज्ञयश्चत् सिद्धः मागात्मा अन्यया तत्संज्ञयायोगात् । कदाचिदमसिदस्थाणुपुरुषस्य मतिपचु-स्तत्संज्ञयायोगवत् । विपर्ययश्चत्तयाप्यात्मसिद्धिः कदाचिदात्मनि विपर्ययस्य तिषर्णयपूर्वकत्वात् । ततो यथार्थनिर्णय प्वायमात्मसिद्धिः ।

चार्वाकोंके प्रति आचार्य महाराज प्रश्न करते हैं कि क्योंजी, हम जैन या मीमांसक, नैयायिक आदिकोंके यहां हो रहा '' आत्मा है '' इस प्रकारका ज्ञान क्या संशयकान स्वरूप है ? या विपर्ययक्कान स्वरूप है ! अथना क्या यथार्थ वस्तुका निर्णय समझा जाय ! बताओ । प्रथम पक्ष अनुसार आत्मा तत्त्व विद्यमान है, इस ज्ञानको यदि संशय माना जायगा तब तो चार्वाकोंके यहां पहिले आत्मा तत्त्व सिद्ध हो चुका कहना चाहिये। अन्यथा यानी आत्माक्का कहीं न कहीं अस्तित्व माने विना अन्यत्र उसके संशय होनेका अयोग है। जैसे कि तलघरमें उपजकर पर्छ ह्रये जिस प्रतिपत्ताको आजतक कभी ठूंठ और पुरुषकी यदि प्रसिद्धि नहीं हो सकी है, उस पुरुषको उन स्थाणु जीर पुरुषको विषय करनेवाले संशय ज्ञान होनेका अयोग है। अर्थात् - जो जिसका संशय करता है वह उसका कही न कहीं निश्चय अत्रश्य कर चुका है। साधारण धर्मोंका दर्शन और विशेष अंशोंकी स्मृति हो जानेपर संशय ज्ञानकी उत्पत्ति सत्रने मानी है । अवस्तुको विषय करनेवाळा संशय नहीं होता है । तथा आत्मा है इस ज्ञानको चार्वाक द्वितीय विकल्प अनुसार यदि विपर्यय ज्ञान मानेंगे तिस प्रकार होनेपर भी आत्मतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। क्योंकि कभी कमी आत्मामें उसका निपर्यय ज्ञान तभी होगा, जब कि करीं न कहीं पूर्वमें उस आत्माका निर्णय किया जा चुका होगा। सीपमें रजतकी आन्ति उसी पुरुषको उपजती है जो कि कभी कही यथार्थ चांदीका सम्यन्ज्ञान कर चुका है। इससे भी न्यारे आत्मतत्त्वकी सिद्धि हो जाती है। तिस कारणसे तृतीय विकल्प अनुसार " आत्मा है " यह ज्ञान यथार्थ निर्णय स्त्ररूपी है। यों बढी सुलभतासे सभी विकल्पोंमें आत्मा द्रव्यकी सिद्धि हो जाती है।

नन्ववं सर्वस्य स्वष्टिसिद्धिः स्यात् प्रधानादिपत्ययस्यापि सर्वविकल्पेषु प्रधानाद्यस्ति-त्वसाधनात्। तस्यैतदसाधनत्वे कथमात्मास्तीति पत्ययस्यात्मास्तित्वसाधनत्विमितं कश्चित्। तदसत्। प्रधानस्य सत्वरज्ञस्तमोरूपस्याविरुद्धत्वात् तद्धर्मस्यैव नित्यैकत्वादेनिराकरणात्। एवमीश्वरस्यात्मविश्ववस्य ब्रह्मादेवीभिमतत्वा । तद्धर्मस्य जगत्कर्तृत्वादेरपाकरणात् सर्वर्थकात-स्यापि सर्ववैकांतकात्या कदाचित्त्रसिद्धस्तस्य सम्यज्ञत्वेन श्रद्धानस्य निराचिकीपितत्वात्। सर्ववा सर्वस्य सर्वत्र संश्रयविषयीन्तुपपत्तेः।

चार्काकोंका स्वपक्ष अवधारणके लिये आचार्योंके ऊपर कटाक्ष है कि इस प्रकार विकल्प उठानेपर तो सभी प्रवादियाँके यहां अपने अपने अमीष्ट तत्त्रोंकी सिद्धि हो जायगी सांख्योंकी मानी हुई प्रकृति, या नैवायिकोंका ईश्वर, अथवा एकान्त, वैकेषिकोंका सालवां पदार्थ अभाव, अद्देलवादियोंका ब्रह्मतस्त्र, आदि पदार्थीकी भी सिद्धी वन नैकेगीः। क्योंकि " प्रधान है " " ईश्वर है " इत्याकारक ज्ञानको संशय या विपर्वय अथवा ययार्थ निर्णय माननेपर सभी विकल्पोंमें सिद्ध कर छिये आत्मतस्वके समान प्रधान आदिके अस्तित्वका भी साधन हो जाता है। प्रधानके ज्ञानको संशय होनेपर भी प्रधानका कहीं सद्भाव बन चुकता है। या विपर्यय माननेपर भी कचित् अस्तित्व मानना आवश्यक हो जाता है। यथार्थ निर्णय तो उनकी सिद्धीका सर्वमान्य प्रयत्न है। यदि जैन उन विकल्पोंके अनुसार उस प्रधान आदिके ज्ञानको उन प्रधान, ईश्वर, आदिका साधन करनेवाला नहीं मानोगे तब तो " आत्मा है " इस ज्ञानको भी कैसे सर्व विकल्पोंमें आ माने अस्तित्वका साधकपना बन सकता है ? यो यहांतक कोई चार्वाक मतानुयायी कह रहा है। आचार्य कहते हैं कि उसका वह कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि प्रधान, ईश्वर, आदिको हम जैन स्त्रीकार करते हैं। सत्त्रगुण, रजागुण, तमागुण, स्वरूप प्रधानके साथ हमारा कोई विरोध नहीं है। हां, कापिलोंके यहां उस प्रधानके मान लिये गये नित्यल, एकपन, बुद्धि, सुख, दुःख, आदि धर्मीका ही इम निराक्तरण करते हैं । छत्रपना, प्रकाशपना, प्रेरकपना, साफियपना, भारीपन, प्रतिबन्धकपन, आदि स्वरूपोंसे तदात्मक हो रहे पुद्रल नामधारी प्रधानका खंडन इम थोंडे ही करते हैं ? इसी प्रकार एक विशेष आत्मा ईश्वरको अथवा ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सुगत, अद्भैत, (अनुपम) आत्मा, खुदा, हुसैन, ईसा, आदि त्रिशेष व्यक्तियोंको हम जैन स्वीकार करते हैं। हां केवल उन पौराणिक, अद्दैतवादी, यवन, आदि द्वारा माने गये उन ईश्वर आदिके जगत्कर्तापन, व्यापकपन आदि धर्मोका निराकरण करते हैं। ख़ुदा असत् द्रव्योंका उत्पाद नहीं कर सकता है। ईश्वर असम्भवको सम्भव नहीं कर सकता है। वृक्षपर फल क्रूलके समान मनुष्य लगकर नहीं उपजते हैं । उपादान कारण या निमित्त कारणोंके विना कोई भी कार्य कोरे अतिशय, माया या ईश्वरकीडा-मात्रसे ही नहीं उत्पन्न हो सकते हैं। कोई भी आत्मा सर्वव्यापक नहीं हो सकता है। ब्रह्मा, सुगत, सात्यकि, ये अपने माता पिताओंके रजोवीर्यसे उत्पन्न हये हैं। तपश्चरण कर इन्होंने कार्यकारणसावका अतिक्रमण नहीं करते हुये अनेक ऋदियां, सिद्धियां प्राप्त की हैं। किन्त ऐसी सृष्टि प्रक्रिया युक्तिओंसे बाधित है कि विष्युकी नामिसे उत्पन्न हुये कमलसे बहाकी उत्पत्ति है और बहाने सबसे पहिले (सर्गत्यादात्रपोऽमुजत् या सृष्टिः सृष्ट्रराषा) जलको बनाया पीछे पृथिती, सूर्य, चन्द्रमाः आदिका निर्माण किया । क्योंजी, पृथिवी या आकाशके बिना ब्रह्माने कहां बैठकर जल बनाया? समुद्र जलमें विराजमान विष्णु भगवान् और कसल तो ब्रह्मके जन्मसे प्रथम ही बन चुके होंगे इत्यादिक अनेक प्रकारोंसे दूषणगण आते हैं । इस कारण ईश्वर या अहसका जगत् कर्रापन आदिका धर्म नहीं स्थ पाते हैं। तथा बीद, सांस्य, मीमांसक, आदि द्वारा सर्वधा क्षणिकषन, निरापन, आदि एकान्तांके भी सर्वधा एकान्तरवरूप करके कभी कभी हम प्रसिद्धि मानते हैं। हां, केवल उन एकान्तंका ही समी कितान करके श्रद्धान करने के निराकरणकी अभिलाधा हमारे हो चुकी है। ऋजुस्त्रनयामास, संप्रहाभास नयों करके सर्वधा क्षणिकपन और सर्वधा निरापन धर्म आत्तक्रामों द्वारा कदाचित् जाने जाते हैं। तभी तो उनका समीचीन रूपसे श्रद्धान करनेका निराकरण हमें अभीक्ष हो रहा है। बात यह है कि सभी प्रकारोंसे सभी स्थलोंपर सम्पूर्ण प्राणियोंको किसी मी विषयका संशय, विपर्यय होना नहीं बन सकता है। कहीं प्रसिद्ध हो रहे ही धर्मका अन्यत्र, अन्यदा, संशयक्रान, विपर्यक्रान, होना सम्भवता है। अतः आत्मतत्त्वका सद्भाव विना खटके मान लेना चाहिये।

नन्वेबमात्मनि सत्यपि नोपयोगस्य स्वक्षणत्वमनबस्यानादिति चेन्न, उपयोगसामान्य-स्याबस्यापितत्वाद् । परापरोपयोगविश्वेषस्य चाद्वपरमात्तस्य स्वक्षणत्वोपपचेः सर्वयोपरमे पुनर्त्वस्याप्यभावमसक्तेः ।

यहां आत्मद्रव्यको न माननेवाछे चार्वाक या किसी बीद्धकी शंका है कि इस प्रकार युक्ति-पूर्वक आत्माका सद्भाव सिद्ध हो जानेपर भी तो उपयोगको लक्षणपना नहीं बन पाता है। क्योंकि बानस्वरूप या दर्शनस्वरूप उपयोग क्षाणिक है। क्षणस्थायी पदार्थ तो काळान्तरतक ठहरता नहीं है। प्रतिपादक वक्ताके बताये अनुसार शिष्य जबतक आत्माको पहिचाननेके छिये छपकेगा तबतक क्षामस्थायी उपयोग बिगड जायगा । दौडती हुई डांक गाडीमें तीर या बन्दूकका चिन्ह साधना अतीव कठिन हैं। देवदत्तके घरको कीआकी स्थितिसे चीन्ह्रमा नहीं बनेगा। कारण कि कौंआके उड जानेपर वह लक्षणयुक्त घर ही एक प्रकारसे बिगड जाता है। अत: अस्पादी पदार्यको किसीका उक्षण बनाना ठीक नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह शंका तो नहीं करका। क्योंकि सामान्यरूपसे कोई न कोई उपयोग आत्मामें सदा उपस्थित रहता साथ दिया गया है। एक उपयोगके बिगड जानेपर भी उत्तरोत्तर सन्तानरूपसे होनेबाडे अन्य विशेष उपयोगोंका कमी विराम नहीं हो पाता है । उपयोगकी परम्परा बनी रहती है । इस कारण उस उपयोगको लक्षणपना बन जाता है। यदि सभी प्रकारोंसे पर, अधर, सभी विशेष उपयोगोंका आस्पामें अभाव मान होगे फिर तो पश्चात् स्मरणः, प्रत्यमिक्कान, इष्ट, साधनताक्कान, कृतिसाध्यता ज्ञान आदि होनेके अभावका प्रसंग की: जायना । जसे कि विशेष न्यत्तियोंके मर जानेपर मारतवर्षमें यदि उत्तरोत्तर जन्म धार रहे अन्य विशेष मनुष्योंका भी अभाव मान किया जायमा तो ऐसी दशामें भारतवर्ष सर्वथा मनुष्योंसे खाली हो जामगा । किन्तु ऐसा होना अळीक हैं। आत्माके मी उपयोगका सर्वथा अभाव मान छिया। जाय तो जहः आत्मा पीछिते स्मरण नहीं कर सकेता । स्मरण तो उपयोगअवस्थामें किसी विशेष उपयोगका ही होता है। अञ्चल जब पदार्थको अनुपयोगं दशामें स्मरण नहीं हो पाता है। जो आत्मा पूर्व कारुमें

अनुमन कर चुका है, वही पीछे अनुभूत अर्थका स्मरण कर सकता है। दूसेर व्यक्तिसे अनुभूत अर्थका स्मरण नहीं कर पाता है।

संतानैकत्वादनुस्मरणादिरिति चेश्व, तस्यात्मनिन्हवे ,संष्ट्रतिसतोनुस्मरणादि हेतुत्वाघो-गात् । परमार्थसत्त्वे वा नामपात्रभेदात् ।

यदि शंकाकार यों कहें कि उपयोगोंको क्षाणिक मानते हुये मी उपयोगोंकी लडी बंधजानारूप सन्तानका एकपना होनेसे अनुस्मरण, परामर्श, आदिक हो जांयगे। लोहेकी सांकलमें अनेक काडियोंके न्यारे न्यारे होते हुये भी एक दूसरेका सम्बन्ध बना रहता है। एक कडीके खींचनेपर पूरी सांकल खिचती, लटकती, बंधी, रहती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि तुम बौदोंने अन्वयी आत्म द्रव्यको लिपाया है, माना नहीं है, और सन्तानको संवृत्ति यानी व्यवहारसे सत् माना है। वस्तुतः संवृत्तिको असत् पदार्थ बतलाया है। ऐसी दशामें आत्मतत्त्वका अपलाप करनेपर केवल व्यवहारसे सत् हो रही, उस सन्तानको अनुस्मरण आदिका हेतुपना घटित नहीं होता है। हां, यदि बौद्ध उस संतानका परमार्थरूपसे सद्भाव स्त्रीकार कर ले, तब तो हमारे आत्मतत्त्व और तुम्हारे वस्तुमृत सन्तानमें केवल नामका ही भेद हो रहा कहना चाहिये। अर्थमें कोई भेद या विवाद नहीं रहा। सम्पूर्ण उपयोग विशेषोंमें आत्मद्रव्य अन्वित हो रहा है, जैसे कि सांकलकी कडीमें कडी सन्तानरूपसे पुत्र रही है। उपयोगका सर्वथा विनाश नहीं हो पाया है। किन्तु कथंचित् विनाश और कथंचित् स्थिति है, इस बातको हम अनेक बार कह चुके हैं।

उपयोगसंबंधो लक्षणं जीवस्य नोपयोग इति चेत्, स तर्हि जीवस्यार्थीतरभूतेनोपयो-गेन स संबंधो यदि जीवादन्यस्तदा न लक्षणमर्थीतरवत्, अन्यथोपयोगस्यापि लक्षणत्वसि-देरिविश्वेषात् । अर्थीतरभूतेन संबंधेनाप्यपरः संबंधो लक्षणिमिति मतं, कथमनवस्थापरिहारः ? सुद्रमिपि गत्वा यदि संबंधः संबंधिनः कथंचिदनन्यत्वालक्षणिम्यते ;तदोपयोग एवात्मनो लक्षणिम्यतां तस्य कथंचित्तादात्म्योपपत्तेः ।

यहां वैशेषिकका कटाक्ष है कि उपयोगके सम्बन्ध हो जानेको जीवका उक्षण कहना चाहिये। उपयोग तो जीवका उक्षण नहीं सम्भवता है। जिस चिन्ह करके उक्ष व्यावृत्त कर छिया जाय वह चिन्ह उक्षण कहा जाता है। कौनेमें रखा हुआ दण्ड तो देवदत्तका उक्षण नहीं है, किन्तु पुरुषके साथ दंडका संयोग सम्बन्ध हो जाना पुरुषका उक्षण है। तभी वह संसर्ग ही दण्डरहित पुरुषके दण्डी पुरुषकी व्यावृत्ति कराता हुआ ज्ञापक उक्षण हो जाता है। उसी प्रकार मिन्न पडे हुये उपयोगको जीवका उक्षण नहीं कहकर उपयोगके समन्नायसम्बन्धको जीवका ज्ञापक उक्षण मानना चाहिये। भोज्य पदार्थका उदरमें संसर्ग हो जाना उत्तिका हेतु है, थाठीमें रखा हुआ मोज्य पदार्थ नहीं। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार यदि वैशेषिक कहेंगे तब तो हमारा यह विचार

है कि तुम्हारे मन्तव्य अनुसार जीवसे सर्वधा भिन्न हो रहे उपयोगके साथ जीवका हो रहा सम्बन्ध यदि जीवसे भिन्न है तब तो वह सर्वथा भिन्न हो रहें पदार्थके समान वह सम्बन्ध भी लक्षण नहीं हो सकता है। अन्यथा यानी भिन्न हो रहे भी सम्बन्ध को यदि लक्षण मान लिया जाय. तब तो विचारे उपयोगको भी लक्षणपनकी सिद्धि हो जायगी, कोई अन्तर नहीं है। अर्थात-भेदबादी वैशेषिकीक यहां दण्डद्रव्यका पुरुषके साथ हो रहा संयोग तो गुण पदार्थ माना गया है और संयोगका दण्डमें न्यारा हो रहा समैत्रायसम्बन्ध तो छठवां स्वतंत्र पदार्थ माना गया है। उसी प्रकार उपयोगका समवाय सम्बन्ध भी तो जीवसे अर्थान्तरभूत ही पढेगा। अतः जिस भेद हो जानके डरसे तुम वैशेषिकोने उपयोगको छोडकर उपयोग सम्बन्धकी शरण ही थी. तदबस्य है। है । उपयोगके न्यारे समवाय सम्बन्धको जोडनेके लिये स्वरूप सम्बन्धको और पनः न्यारे स्वरूप सम्बन्धका योग करनेके छिये अन्य सम्बन्धकी आवश्यकता होती जाती है। फिर भी सर्वथा भिन्न हो रहे सम्बन्धके साथ भी उसका न्यारा सम्बन्ध लक्षण माना जायगा तब तो उस न्यारे सम्बन्धका भी मिलाप करनेके लिये अन्य सम्बन्धोंकी आकांक्षा बढ़ती चली जायेगी। यों भेदबादियोंके मतमें अनवस्था दोषका परिहार कैसे हो सकता है ? सो तुम्ही जानो । हां, यदि उपयोगको भी मानते हुये उपयोगके सम्बन्धको वैशेषिक अभिन्न मान छेते होते तब तो यह उनका कटाक्ष करना हमको और उनको दोनोंको लाभदायक होता । किन्तु वे तो सम्बन्ध और सम्बन्धियोंका सर्वधा भेद माननेकी सीगन्ध छे चुके हैं। अनवस्थाके निचारणार्थ यदि बहुत कुछ दूर भी दशवीं, पचास्वीं, कोटिपर जाकर स्वसम्बन्धिके साथ कथंचित अमेद हो जानेसे सम्बन्धको लक्षण अमीष्ट किया जायगा तब तो उपयोग ही आत्माका छक्षण अभीष्ट कर छिया जाओ। क्योंकि जैन सिद्धान्तमें उस उपयोगका अपने सम्बन्धी लक्ष्यभूत आत्माके साथ कथाँचित् तदात्मकपना युक्तियोंसे सिद्ध हो रहा है। अतः जीवका आत्मभूत हो रहा उपयोग समीचीन लक्षण है, कोई दोष नहीं है।

तस्योपयोगस्य भेदमतिपादनार्थमाइ।

जीवके लक्षण उस उपयोगके भेदोंकी प्रतिपत्ति व रानेके लिये जिन्नासु शिष्यके प्रति श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

स द्विविधोष्टचतुर्भेदः ॥ ९॥

बह प्रिद्ध हो रहा उपयोग दो प्रकारका है एक क्वानोपयोग, दूसरा दर्शनोपयोग, तिनमें पहिला क्वानोपयोग आठ मेदवाला है, और दूसरे दर्शनोपयोगके चार भेद हैं।

स उपयोगो द्विविधस्तावत्, साकारो झानोपयोगः सविशेषार्थविषयत्वात्, निराकारो दर्शनोपयोगः सामान्यविषयत्वात् । तत्राद्योऽद्वभेदश्चतुर्भेदोन्य इति संख्याविश्वेषोपादानात्यूर्वे झानक्षकं अभ्यहितत्वाभिश्वीयते । पतत्त्वूत्रवचनादेव ।

सुत्रके अर्थको श्री विद्यानन्द स्वामी यो कहते हैं कि वह उपयोग दो प्रकारकाल है। सबसे प्रथम तो आकारसहित होरहा जानोपयोग है। ब्रिशेष अंशोंस सहित हो रहे अर्थको विषय करनेवाल होनेसे ज्ञानोपयोग साकार कहा जाता है। यहां आकारका अर्थ प्रतिबिंव पडना नहीं है। किन्तु हैय अर्थकी विकल्पना करना है । " ज्ञानाद्विना गुणाः सर्वे प्रोक्ताः सळक्षणाङ्किताः । सामान्याद्वा विस्रोक्ताः सर्वे नाकारमातुकाः । आकारोधीवकल्पस्त्यादर्थः स्वपरगोचरः । स्रोपयोगो विकल्पो व ब्रानस्यैत-द्धिलक्षणम् '' बत्सामान्यमनाकारं साकारं यद्विशेषभाक् '' इत्यादि पंचाध्यायीके वान्सांसे भी झानमें सविकल्पकपना ही आकार निर्णात किया गया है। ज्ञानके सिवाय अन्य गुणोंकी केवल खांशमें स्वसत्ता मात्र अनुभूति होती रहती है । ज्ञान ही स्व, परका विशेष रूपकरके उन्नेख करता है । अतः ज्ञानोपयोग साकार है तथा केवल महासत्ता सामान्यको विषय करनेवाला होनेसे दर्शनोपयोग निराकार या निर्विकल्पक माना जाता है। उन दो भेदवाले उपयोगोंमें आदिके उपात आनोपयोगके मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अत्रधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, केवल्ज्ञान, कुमति, कुश्रुत, विभंग, इस प्रकार आठ प्रभेद हैं। तथा ज्ञानोपयोगसे दूसरा भिन्न दर्शनोपयोग तो चक्षदर्शन, अचक्षदर्शन, अविधदर्शन, केबलदर्शन, इस प्रकार चार प्रभेदोंको भार रहा है। यद्यपि मूलसूत्रमें पहिले ज्ञान शह और चौछे दरीन राह्नका सूत्रकारने कण्ठोक्त प्रयोग नहीं किया है, तो भी विशेषसंख्यां आढका बाचक अष्ट शद्धका सूत्रमें उपादान करनेसे ज्ञानोपयोगका प्रथम प्रहण करना ही अक्षित हो जाता है। ज्ञानके ही आठ भेद हैं। आलोचन करना स्वरूप दर्शनसे अधिक पूज्य होनेके कारण सूत्रमें झान पहिले कहा गया है, ऐसा इस सूत्रके वचनसे ही निर्णीत हो रहा है। अन्यथा आठ और चार संख्याका इन्द्रसमास होनेपर " संख्याया अल्पीयस्याः" इस सूत्र अनुसार चतुर् शह्नका पूर्वमें निपात हो जाता । जब कि अष्टराद्भका प्रयोग पहिले दीख रहा है, तब तो पूज्य होनेसे ज्ञान ही पहिले कहा समा है, यह निर्णात है।

यथोक्तोपयोगन्यक्तिन्यापि सामान्यमुपयोगोऽस्य इक्षणमिति दर्शयति ।

यद्यपि सम्याज्ञान पांच ही हैं, फिर भी उपयोगक। प्रकरण होनेसे तीन विपरीतज्ञान भी पकड़ लिये जाते हैं। सम्यादिष्ट या मिथ्यादिष्ट जीव सदा ज्ञान करते समय आठ उपयोगोमेंसे किसी एक उपयोगसे उपयुक्त अवश्य होगा। इस प्रकार सर्वज्ञ आम्बाय अनुसार सूक्तें ठीक कहे जा चुके आठ उपयोग व्यक्तियों में व्याप रहा सामान्य उपयोग तो इस जीवका लक्षण है। इस बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक हारा शिष्योंके सन्मुख दिखलाते हैं।

स ब्रिविभोष्टचतुर्भेद इत्युक्तेः सूरिणा स्वयम् । 'शेषमावत्रयात्मत्वस्यैतलक्ष्यत्वसिद्धितः ॥ १ ॥ वह उपयोग आठ और चार प्रभेदोंके क्रमसे धार रहा दो प्रकार है, यों श्री उमास्वामी आचार्य करके स्वयं वण्डोक्त कथन कर देनेसे यह निर्णीत हुआ समझो कि रोष बचे तीनों भाव स्वरूप जीवको इस उपयोगका लक्ष्यपना सिंह हो जाता है। क्षायिक और क्षायोपशिमिकोंके शेष पन्दह और तीनोंके अन्य लन्दीस यों इकतालीसका पिण्ड हो रहा जीव लक्ष्य है। अर्थात्—दर्शनीपयोग और क्षानोपयोगके साथ जीवका तदात्मक सम्बन्ध मान लेनेपर प्रश्न उठ सकता है कि झानोपयोग और दर्शनीपयोगके अतिरिक्त आत्माका डील क्या बच रहता है, जिसको कि उपयोग नामक लक्षणका लक्ष्य बनाया जाय ! इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि अभिका लक्षण उच्चता करनेपर शेष रहे हूप, तेजस्वता, दाहकत्व, पाचकत्व, आदि गुणोंका पिण्ड हो रहा अग्नि लक्ष्य हो जाता है। शाखाके बोझसे इक्ष हूट पढ़ा है, देवदत्त दो पैरोसे चलता है, इन्द्रदत्त हाथों करके मुखमें खाता है, जिनदत्तको पण्डिताई शोभती है। यहां उन गुणों या अवयवोंसे शेष बचा हुआ पिण्ड जैसे उद्देश्य या लक्ष्य हो जाता है। उसी प्रकार कुछ क्षायोपशिमक और कुछ क्षायिक भावोंसे शेष बच रहे औपशिमक औदिक्ष पारणामिक भावोंसे तदात्मक हो रहे जिवको लक्ष्य समझ लिया जाता है।

जीवस्योपयोगसामान्यमिह छक्षणं निश्चीयते इति श्वेषः, स द्विषिष इत्यादिस्त्रेण तदि-शेषकयनात् । अष्टाभ्यो ज्ञानव्यक्तिभ्यश्चतसभ्यो दर्शनव्यक्तिभ्यश्चान्ये शेषा अष्टी श्वायोपश्च-मिकभेदाः सप्त च श्वायिकभेदाः परिगृशंते । भावत्रयं पुनरीपश्चमिकौदयिकपारिणामिकिनेकस्यं मत्ययं । शेषाश्च भावत्रयं च शेषभावत्रयं तदात्मा स्वभावो यस्य जीवस्य स श्रेषभावत्रयात्मा तस्य भावः शेषभावत्रयात्मत्वं तस्यैतछक्ष्यत्वसिद्धेः मितपादितोपयोगव्यक्तिगतसायान्येन सञ्च-णत्वोपपत्तेरित्यर्थः ।

उक्त कारिकामें " लक्ष्यत्व सिद्धितः, ऐसा हेतुपरक वाक्य होनसे जीवका उपयोग सामान्य यहां लक्षण निश्चित हो रहा है। इस प्रकार प्रतिक्षा वाक्य रोष रह गया है। अतः प्रतिक्षावाक्य और हेतुको मिलाकर वाक्यार्थ कर लेना चाहिये। "स हिनिधः " इत्यादि सूत्र करके उस उपयोगके विशेषोंका कथन हो जानेसे जान लिया जाता है कि इससे पूर्व सूत्रमें किया गया जीवका लक्षण उपयोग सामान्य है। वार्त्तिक पूर्वार्द्धका विवरण हो चुका। उत्तराईकी व्याख्या इस प्रकार है कि आठ संख्यावाली ज्ञान व्यक्तियोंसे और चारदर्शन व्यक्तियोंसे भिन्न रोष वच्च रहे शायोपशमिकके आठ भेद और क्षायिकमावके सात भेद पक्रडकर प्रहण कर लिये जाते हैं। अर्थाद् वारह प्रकारके उपयोगमें मित, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, कुमति, कुम्रत, विमंग, ये सात ज्ञान और चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन ये तीन दर्शन इस प्रकार दश भेद तो क्षायोपशमिक भावोंके हैं और केवलकान, केवलदर्शन ये दो उपयोग शायिक भावोंके गिनाये गये हैं। सम्पूर्ण अठारह क्षायोपशमिक भावोंके पूर्वोक्त दश मार्वोका उपयोगमें परि-प्रह कर लेनेसे रोष पांच लिक्श्यां, सम्यक्त चारित्र संयमासंयम ये आठ क्षायोपशमिकभाव वचे रह

जाते हैं। और नौ क्षायिक भावोंमेंसे केवलज्ञान और केवलदर्शन के लिये गये तो पांच लिक्स्यां, सम्यक्त, चारित्र ये सात क्षायिक भाव शेष रह जाते है। तथा पुनः दो भेदवाले औपशमिक, इक्कीस भेदवाल औदियक, और तीन या अनेक विकल्पोंको घार रहे पारिणामिकभाव ये तीनों भाव समझ छेने चाहिये । राष राज्य और भावत्रय राज्यों का समाहार द्वन्द्रकर जिस जीवके क्षयोपशिमक और क्षायिक आवोंमेंसे शेष बच रहे पन्द्रहभाव तथा औपशमिक, औदिय म, और पारिणामिक ये तीनों भाव तदात्मक होकर स्वभाव हो रहे हैं, वह शेष भावत्रयात्मा है, उसका भाव अर्थमें त्व प्रत्यय करने पर शेष भावत्रयात्मकपना अर्थ हो जाता है । वे शेप पन्द्रहमात्र और औपशमिक आदिके छन्दीस-भाव यो इकतालीस भावोंके साथ तदात्मक हो रहे उस जीवको इस उपयोग लक्षणका लक्ष्यपना सिद्ध हैं। भिन्न भिन्न समझा दिये गये बारह उपयोग व्यक्तियोंमें प्राप्त हो रहे सामन्य धर्भकरके उपयोगको स्थाणपना बन रहा है। यह वार्तिकका अर्थ है। भावार्थ-कारिकामें कहे गये शेष शब्दका भाव-त्रयके साथ कर्मधारय समास नहीं करना चाहिये। किन्तु इन्द्र समास कीजियेगा, यह श्रीविद्यानन्द-स्वामीका स्वीपन्न विवरण है। सम्यन्नान प्रमाण है, यह लक्ष्यलक्षणभाव एक ढंगका है, तथा अग्नि उचा है, सींग सासनावाली गौ होती है, यह लक्ष्यलक्षणभाव दूसरे ढंगका है। यहां अग्निका उच्ण-पंना लक्षण करनेपर अभिके रोष गुण या स्वभाव लक्ष्यभूत माने जाते हैं। सोंग और सासना (ंगलकंबल) को लक्षण मान लेनेपर शेष हाथ, पैर, पेट मस्तक पींठ, आदि अपयोंको धार रही गाय लक्ष्य हो जाती है। इसी प्रकार त्रेपन भावोंसे तन्मय होकर सद्भूत हो रहे जीव पदार्थके तदात्मक बारह भाव तो लक्षण हैं। और इकतालीस भावों का तदात्मक पिण्ड हो रहा जीव पदार्थ लक्ष्य 🖥 । एक बात यह भी प्रन्थकार कह रहे हैं कि सामान्यरूपसे बारह उपयोगको हमने जीवका लक्षण कहा है, जिस जीवके जितने उपयोग सम्भव होय वैसा लक्षण घटित कर लेना । वैसे तो छग्नस्थ जीवींके एक समयमें एक ही उपयोग सम्भवता है। हां, केवळबानीके एक साथ दो उपयोग सध जाते हैं। यह भी युगपत्पना ज्ञानावरण दर्शनावरणोंका क्षय हो जानेसे कह दिया जाता है। वस्तुतः सामान्य विशेषात्मक सम्पूर्ण पदार्थीको जान रहे केवल ज्ञानके चमकते रहनेपर महासत्ताका आलोचन करनेवाला केवलदर्शन नगण्य है। एक गुणकी एक समयमें एक ही पर्धाय होनेका नियम सर्वत्र सर्वदा सबके लिये लागू है, केवलज्ञानी जीवका चेतना गुण भी उसी नियम के अनुसार परिणमेगा। तथा इकताळीस भावोंके पिण्डस्वरूप जीवको छःयपना भी सामान्यरूपसे कहा गया है। विशेष रूप से तो इकतालीस भावोंमें जितना भी जिस जीव के सम्भवने योग्य है. उतने भावोंके समुदायात्मक जीवको छस्य बनाना चाहिये। जैसे बारहों उपयोगोंका एक जीवने एकदा सद्भाव पाया जाना असम्भव है. उसी प्रकार इकतालीसों भावोंका एकदा पिग्ड बन जाना भी असम्भव है। क्षायोपशामिक ब्रानका क्षायिक ज्ञानके राथ जैसा विरोध है, वैसे ही औपरामिक सम्यक्तवका क्षायिक र स्थक्तवके माथ या क्षायोपशमिक चारित्रका क्षायिक लिन्योंके साथ विरोध है। उपयोगमें गिनाये गये मनःपर्यय ज्ञानका छत्य जीवके अवयव हो रहे उपराम सम्यक्त्वके साथ विरोध है। अतः कथंचित् भेद, अभेदको स्वते हुये जीव और उपयोगका छत्यछक्षणभाव सिद्ध कर दिया है।

एवं सूत्रद्वयेनोक्तं लक्षणं लक्षयेत्ररं । कायाद्वेदेन संश्लेषमापनादिष तत्त्वतः ॥ २॥

इस प्रकार श्री उमास्त्रामी महाराजने " उपयोगो लक्षणं " और " स द्विविधोष्टचतुर्मेदः " इन दो सूत्रों करके जीवका लक्षण कह दिया है। परस्परमें संसर्गको प्राप्त हो रहे भी शरीरसे वह लक्षण वास्त्रविक रूपसे जीवका भित्रपने करके परिचय करा देवेगा। अर्थात्—पुद्गलतस्व और जीवतस्व दोनोंसे मिलकर बने हुथे शरीरधारी जीवमें अनुभूत हो रहा उपयोग उस जीवको तास्विक रूपसे न्यारा न्यारा चिन्हा देगा। जैसे कि न्यारिया टांका मिले हुये सोनेको विशेष लक्षण द्वारा सुवर्णपने करके न्यारा परन्व लेता है।

यथा जलानलयोः संश्लेषमापश्रयोरप्युष्णोदकावस्थायां द्रवोष्णस्वभावलक्षणं भिश्नं भेदं साधयति तथा कायात्मनोः संश्लेषमापश्रयोरपि सूत्रद्वयोक्तं लक्षणं भेदं लक्षयेत्सर्वत्र लक्षण-भेदस्यैव भेदच्यवस्थाहेतुत्वात् । तदभावे प्रतिभासभेदादेरभेदकत्वात् ।

जिस प्रकार कि अग्नि द्वारा उष्ण किये गये ततज्ककी अवस्थामें एकम एक संसर्गकी प्राप्त हो रहे जल और अग्निका बहने योग्य पतलापन स्वभाव और उष्णस्वभाव ये दो भिन्न भिन्न लक्षण उन जल अग्नियों के भेदको साथ देते हैं, तिसी प्रकार एकलबुद्धिजनक सम्बन्धरूप बन्धको प्राप्त हो रहे भी काय और आत्माका पूर्वोक्त दो सूत्रोंमें कहा गया उक्षण, उनके भेदको मान प्रेरणापूर्वक चिन्हा देवेगा । सभी दार्शनिकोंके यहां लक्षण द्वारा किये गये भेदकी ही भेदकी व्यवस्था करा देनेका हेतपना प्राप्त है। यदि किसीका वह छक्षण भिन्न भिन्न नहीं है तो ऐसी दशामें न्यारा न्यारा प्रतिभास होना या न्यारे देशमें रहना आदि तो छ स्य पदार्थी का भेद करानेवाले नहीं हो सकते हैं। बात यह है कि जैन सिद्धान्त अनुसार उष्ण जलमें कोई अप्नितन्त्र और जलतन्त्र दो न्यारे न्यारे मिल रहे पदार्थ नहीं हैं । पौद्रिकित अग्निका निमित्त मिलनेपर जल ही उच्चा स्पर्शवाला बन जाता है । निमित्तके इट जानेपर कुछ देर पश्चातः अपेक्षाकृत शीतल हो जाता है। किन्तु चार्वाक या वैशेषिकके सिद्धान्त अनु-सार आचार्य महाराजने उनके सन्मुख उन्हींका दृष्टान्त धर दिया है। हां, दूधमें घुले हुये पानीके समान अग्निके कण तो जलमें घुल नहीं सकते हैं । क्योंकि जल और ईंधनकी अग्नि दोनोंमें क्य घातक बिरोध है। देखी समदकी अपने बढवानलकी जाति न्यारी है। बढ भी योग्य परिमाणमें जलकी जलाती रहती है। और जल भी उसको बुझाता रहता है। पेटकी आग उदराप्रिकी भी ऐसी अवस्था है। पदार्थीके नैमितिक परिणमनों की विचित्र पद्धति है। बहुमाग न्यक्तियों को उचित पानी पी छेनेपर ही उदरामिद्वारा अन्नका अच्छा परिपाक होता है। दाल भी पानी डालनेपर सीझती है, सूखी दाल नहीं

पकती है। किसी अवसरपर विवादापन विषयको शीघ्र निवटानेके लिये आचार्य महाराज प्रतिकादियों में प्रतिद्ध हो रहे दृष्टान्तिसे ही उनके सन्मुख अपने अभीष्ट तत्त्वको साध्य देते हैं। लक्षणके भेदि ही लक्ष्यका भेद सनकाना न्यायमार्ग है। प्रतिभासके भेदि लक्ष्योंका भेद नहीं हो सकता है। देखिये, दूरसे, निकटसे, आतिनिकटसे, देखनेपर एक ही वृक्षके अनेक प्रतिभास (क्षान) हो जाते हैं। एक ही अधिको आगम, अभुमान, प्रत्यक्ष ब्रानोंसे जाना जा सकता है। साहत्यक्श या आन्तिकश अनेक अववा आकारमेद भी अतिसास कभी कभी भेदरहित हो जाता है। ऐसे ही देशभेद या कालभेद अथवा आकारमेदसे भी लक्ष्योंका भेद नहीं सब पाता है। एक देशमें वात, आतप, के समान अनेक पदार्थ उहर जाते हैं। एक बांस या लन्ना विद्यार्थी कई काष्ट्रासनोंको घेर सकता है। एक कालमें अनेक भदार्थ वर्त्त रहे हैं। एक पदार्थ भी कालान्तरतक स्थायी रह जाता है। आकारोंके भेदको लक्ष्यका भ्यावर्तक माननेपर भी ऐसे ही अन्वयन्यभिचार और व्यतिरेक न्यभिचार आते हैं। अतः प्रकरणमें जीवका लक्षण उपयोग साथ दिया गया है।

के पुनर्जीवस्य भेदा इत्याह।

अब आगेके सूत्रका अवतार दिखानेके लिये श्री विद्यानन्द स्त्रामी संगतिको समझाते हैं। किसी शिष्यका प्रश्न है कि फिर यह क्ताओं कि उपयोग लक्षणको धारनेवाले जीवके भेद कितने हैं। ऐसी निक्कासाको प्रकट कर रहे प्रतिपायके प्रति श्री उमास्त्रामी महाराज समाधानके वचन कहते हैं।

संसारिणो मुक्ताश्च ॥ १० ॥

द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, काळ परिवर्तन, भवपरिवर्तन, और भावपरिवर्तन, इन पांच प्रकारके संसारको धार रहे संसारी जीव और पांचो प्रकारके संसारसे छूट चुके मुक्त जीव इस प्रकार सामान्यरूपसे जीव दो भेदोंमें विभक्त हैं। अर्थात्—जीवके संसारी और मुक्त दो भेद हैं। संसारी जीव बहुत यानी अक्षय अनन्तानन्त हैं तथा मुक्तजीव उन संसारिओंसे यद्यपि अनन्तवे भाग स्वल्प है. फिर भी अनन्तानन्त गिनाये गये हैं।

जीवस्येत्यतुवर्तनाझेदा भवंतीत्यध्याहारः । आत्मोपचितकर्भवश्चादात्मनो भवांतरा-वाप्तिः संसारः तत्संबंधात् संसारिणो जीवविश्वेषाः । निरस्तद्रव्यभाववंधा युक्तास्ते जीवस्य सामान्यतोभिष्टितस्य भेदा भवंतीति सूत्रार्थः । ततो नोपयोगेन छक्षणेनैक एव जीवो सस्य इत्यावेदयति ।

दितीय अध्यायके प्रथम सूत्रमेंसे " जीवस्य " इस शद्धकी अनुवृत्ति कर छेनेसे संसारी और मुक्त ये दो मेद जीवके हो जाते हैं। इस प्रकार " भेदा " और " भवन्ति " इन शद्धोंका अध्याहार करते हुये अर्थ बन जाता है। अपने ही द्वारा उपार्जित किये आठ प्रकारके कर्मोंकी अधीनतासे आत्माकी अन्य अन्य भवोंमें प्राप्ति होना संसार कहा जाता है। उस संसारका सम्बन्ध हो जानेसे

अनन्तानन्त जीवविशेष संसारी बन रहे हैं तथा जिन जीवोंका पौद्रलिक द्रन्यवन्त्र और राग, हेष, अझान, मृति, गुरु, लघुपना, आदि भाववन्ध अपने पुरुषार्थद्वारा अनन्तकालतक लिये निरस्त कर दिया गया है, वे मुक्त हैं। इस प्रकार सामान्यरूपसे कह दिये गये जीवके ये दो भेद संसारी और मुक्त हो जाते हैं। यों सूत्रका अर्थ घटित हो जाता है, तिस कारणसे सिद्ध हुआ कि उपयोग नामके लक्षण करके एक अद्देत जीव ही लक्ष्य नहीं है, किन्तु द्रव्यरूपकरके अनन्तानन्त संख्याको धार रहे जीव ही उपयोगकरके चीन्हे जाते हैं। इसी बातको श्रीविद्यानन्दस्वामी सम्पूर्ण विद्वानोंके सन्मुख निवेदन करें देते हैं, उसको समझ लीजियेगा।

लक्ष्याः संसारिणो जीवा मुक्ताश्च बहवोन्यथा। तदेकत्वप्रवादः स्यात्स च दृष्टेष्टवाधितः ॥ १ ॥

इस उपयोगके प्रकरणमें मुक्तेंसे अनन्त गुणे बहुतसे संसारी जीव और बहुत अनन्तानन्त मुक्त जीव इस उपयोगके लक्ष्य हो रहे हैं। अन्यधा यानी उपयोग लक्षणसे व्यास हो रहे वहुत जीव न माने जाकर दूसरे प्रकारसे अदैत ब्रह्म ही माना जायगा तब तो उस जीव तत्त्वके एकपनका प्रवाद फैल जायगा, और वह ब्रह्मादैत वादियों द्वारा ढोल पीटकर प्रसिद्ध कर दिया गया आत्माके एकपनका प्रवाद तो दृष्टपमाण यानी प्रत्यक्षप्रमाण और इष्टप्रमाण अनुमान आदिसे बाधित हो रहा है।

संसारिण इति बहुत्वनिर्देशाद्धह्वो जीवा छक्षणीयास्तथा ग्रुक्ताश्रेति वचनाचतो न दूँद्र-निर्देशो युक्तः संसारिग्रुक्ताविति । तिभिर्देशे हि संसार्येक एव ग्रुक्तश्रेकः परमात्मेति ववादः मसज्येत । न चासौ श्रेयान् दृष्टेष्टवाधितत्वात् ।

इस कारिकाका विवरण यों है कि गुरूणां गुरु श्री उमास्त्रामी महाराजने इस सूत्रमें संसारिणः ऐसा बहुत्व संख्याको कहनेवाळी जिस विभक्तिको धार रहे " संसारिणः " इस प्रकार बहुवचन शह स्वरूपका कथन किया है। इससे प्रतीत होता है कि एक नहीं किन्तु बहुतसे जीव इस उपयोग ळक्ष-णसे ळक्ष्य बनाने पोग्य हैं। तथा " मुक्ताः " इस प्रकार बहुवचनान्त मुक्त शहका कथन करनेसे बहुतसे मुक्त जीव उस उपयोगके ळक्ष्य हैं, यह निर्णीत हो जाता है। तिस ही कारणसे छाघव गुणका विचार कर " संसारि च मुक्ताश्च " यों इंद्र समास कर " संसारि मुक्ती " ऐसा सूत्र कथन करना श्री उमास्त्रामी महाराजको समुचित नहीं जचा। यदि अर्थको विचात करनेवाळी कोरी ळघुताका बिचार कर वह संसारी एक और मुक्त एक यों उन दो ही जीवोंका निर्देश किया जाता, तब तो नियमसे संसारी जीव एक ही है और मुक्त जीव परमात्मा एक ही है, इस प्रकारके प्रवादका प्रसंग प्राप्त हो जाता। किन्तु वह प्रवाद तो श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि उस सिदान्तमें प्रत्यक्ष, अनुमान, आदि प्रमाणोंसे अनेक बाधायें प्राप्त हो रही है। उन्हीं बाधाओंको दिखाते हैं।

संसारिणस्ताबदेकत्वे जननमरणकरणादिमतिनियमो नोपपद्यते । श्रांतोसाविति चेन्न, भवत इव सर्वस्य तद्श्रांतत्वनिश्रयप्रसंगात् । ममैव तिनश्रयस्तद्विद्यापश्चयादिति चेन्न, सर्वस्य तद्विद्यापश्चयप्रसंगात् । अन्यथा त्वत्तो भेदमसिकविरुद्धधर्माध्यासात् ।

देखो, पहिले कहे गये संसारी जीवको यदि एक ही माना जायगा तो जन्म लेना मरण करना, आदिका प्रत्येक आत्मामें नियम हो रहा नहीं वम सकता है । अर्थात्—देयदत्तका जन्म हुआ है भवदत्तने मरण किया है, इन्द्रदत्त अपनी आंखोंसे देखता है, जयचन्द्र अपने मनमें विचारता है, एक पण्डित है, दूसरा मूर्ख है, तीसरा नीरोग है, चौथा सुखी है, इत्यादिक प्रत्येक जीवकी नियत हो रहीं व्यवस्थायें नहीं वन सकती हैं । जैसे कि आकाशको सर्वथा एक माननेपर अनेक द्रव्योंमें सम्भवनेवाले अनेक विरुद्धधर्म उसमें नहीं ठहर पाने हैं । संसारी जीवोंको एक ही जीव मान छेनेपर एकके उपज जानेपर सबका जन्म हो जायगा और एकके मर नानेपर सब मर जायेंगे । एकके पण्डित, सुखी, पुर्ह्निंग, त्रोधी, तत्त्रज्ञानी, बन जानेपर सभी पण्डित आदि बन बैठेंगे । भेदभाव मिट जायगा । यदि एक ही संसारी जीवको भाननेवाला पण्डित यों कहे कि वह जन्म, मरण, आदिका प्रतिनियम करना तो भानत है, जैसे कि स्वप्नके व्यवहार आन्त है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि वह प्रतिनियम यदि भान्त है तो आपके समान सभी जीबोंको उसकी भ्रान्तताका निश्चय हो जाना चाहिये। जैसे कि सूर्यविमान या चन्द्रविमानके अल्पपरिमाणको विषय करनेवाले ज्ञानका भ्रान्तपना सबको निर्णीत हो रहा है। स्वप्नकी विकल्पनाओंको सभी जीव भ्रान्त माननेके छिये उद्युक्त हैं। किन्तु जन्म, मरण, बढापा, युवावस्था, मनुष्य, पञ्च, आदि प्रतिनियत अवस्थाओंको आप अद्वेतवादी भले ही श्रान्त कहते फिरें, किन्तु सभी विद्वान् तो उसके भ्रान्तपनका अनुभव नहीं कर रहे हैं। यदि तुम अद्वैतवादी यों कही कि सभी विद्वानोंको उस प्रति नियमके आन्तपनके निश्चयका प्रसंग यों नहीं आता है कि उनको अविद्या लगी दुई है। सभी बालक अपने अपने डण्डेमें घोडा जाननेकी स्नान्तिको असम जान बैठे हैं। हां, अविद्याका प्रकृष्ट क्षय हो जानेसे मुझे अदैतवादीको ही उन विशेष व्यवस्थाओंके भांतपनका निश्चय हो सका है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना, जब कि आत्मा एक ही है तो तुम्हारे समान सभी जीवोंको उसमें हो रही अविद्याके प्रकर्षम्ह्रपसे क्षय हो जानेका प्रसंग हो जायगा । अन्यथा यानी तुम अपनेमें तो अविधाका क्षय मानो और दूसरोंके अविधाका प्रक्षय न मानो इस अन्य ढंगसे तो तुमसे उन अन्य जीवोंको भिन्न हो जानेका प्रसंग आया। क्योंकि विरुद्ध धर्मीका अधिकार हो जानेसे भेद होना ही चाहिये । तुममें अविधाका प्रत्यक्ष है और अन्य सब जीवोंमें अधिया धुस रही है। यह रपष्टक्ष्मे विरुद्धधर्म अधिकार किये बैठे हैं । जो अनेक आत्माओंका भिन्नपना साथ देंगे। तुम बालक नहीं हो. इस बातको स्त्रयं विचार सकते हो।

ममाविद्यामक्षयो नान्येषामित्यप्यविद्याविल्लिसितमैवित चेत्, सर्वोप्येवं संप्रतिपद्यते तवैव इत्यं प्रतिपत्तौ परेषामप्रतिपत्तौ तु न कदाचिद्विरुद्धधर्माध्यासान्ध्रुच्यते । ततोयं प्रत्यात्म- इष्टेनात्मभेदेन वाधितः संसार्थात्मैकत्ववादः ।

यदि अदेतवादी यों कहें कि मैं जो यह मान रहा हूं कि मेरे ही अविद्याका प्रक्षय हो रहा है, अन्य जीवों के अविद्याका प्रक्षय नहीं है, सच पूछो तो वह भी अविद्याका विरुप्त ही हुआ कहना चाहिये। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि क्योंजी, जब कि सभी संसारी जीव एक ही है तो सभी जीव इस प्रकार भछा समझ बैठों कि मुझे ही अविद्याका प्रक्षय हो गया है। अन्योंके नहीं। यह अविद्याकी चेटा है। किन्तु हम देखते हैं कि तुम्हारे विचार अनुसार कोई भी जीव ऐसा नहीं समझ बैठा है, और जब कि तुमको ही इस प्रकारकी प्रतिपत्ति हो रही है, अन्य जीवोंके तो ऐसा विद्यास नहीं हो रहा है, तब तो आप कभी भी विरुद्ध धर्मोंके आरूढ हो जानेसे नहीं छुड़ी पा सकते हैं। भावार्थ—तुम्हारी आत्मामें ही यह श्रद्धा जम गयी है कि किसी जीवके अविद्याका क्षय और किसी जीवके अविद्याका क्षय नहीं, यह सब भेदव्यवहार अविद्याका ही नम्रनृत्य है। बास्तविक नहीं है। किन्तु फिर दूसरी आत्माओं ऐसी अन्यश्रद्धा हो रही नहीं देखी जाती है। अत: यही तो आत्माओं परस्पर भेदके सायक हो रहे विरुद्ध धर्मोंका अधिकार जमा लेना है। तिस कारणसे प्रत्येक आन्मामें स्वसन्वेदन प्रत्यक्ष द्वारा देखे जा रहे आत्माके विभिन्नपनेकरके यह सम्पूर्ण संसारी आत्माओं एकपनका पक्ष परिग्रह करना बाधाग्रसित हो जाता है। यहांतक कारिकामें कहे गये '' इप्टवाधित '' अंशका व्याख्यान कर दिया जा चुका है। अब उस एकत्वके प्रवादको '' इप्ट '' प्रमाणोंसे बाधित बना रहे हैं।

तथेष्टेनापि मतिपाद्यमतिपादकभावादिनेति मदर्शितमायं ।

तिसी प्रकार अद्वेतवादियोंका यह संसारी आत्माओंके एकपनका सिद्धान्त इष्ट हो रहे प्रतिपाध प्रतिपादक भाव, पितृपुत्रभाव, आदि करके भी बाधा प्राप्त हो जाता है। इस बातको कई बार बढिया ढंगसे पिहले प्रकरणोंमें हम दिखला चुके हैं। अर्थात्—कोई समझाये जाने योग्य शिष्य है, दूसरा समझानेवाला गुरु है, एक राजा है, दूसरा प्रजा है, संसारमें एक जीव न्याय करनेका अधिकारी है, दूसरा अपराध करनेवाला अभिगुक्त है, इत्यादिक रूपसे इष्ट हो रहे मेदभावसे वह संसारी जीवोंके एकपनका कदाग्रह माधित हो जाता है। अनेक अनुमान या युक्तियोंसे भी उक्त एकपनेमें बाधार्य प्राप्त हो जाती हैं।

तथा मुक्तात्मनीप्येकत्वे मोक्षसाधनाभ्यासवैकल्यं, ततोन्यस्य मुक्तस्यासंभवात् । संभवे वा मुक्तानेकत्वसिद्धिः । यो यः संसारी निर्वाति स स परमात्मन्येकत्र स्त्रीयतः इत्यप्ययुक्तं, तस्यानित्यत्वपसंगात् । तथा च कृत्सनस्तदेकत्वप्रवादः इत्यसाविष दृष्टेष्टवाधितः ।

जैसे संसारी जीवोंके एकपनका पक्ष पकड छेना प्रमाणीसे बाधित है, तिसी प्रकार मुक्त आत्माका एकपमा मानने पर भी मोक्षके कारणोंका अभ्यास करना विफल पडेगा। क्योंकि उस अभ्यास करनेवाले जीवसे अन्य हो रहे मुक्तात्माका असम्भव है। वह विचारा किसके लिये व्यर्थ परिश्रम उठावे। जो बम्बईमें बैठा है वह बम्बई जानेका कष्ट क्यों उठाने छगा ? फिर भी मुमुख जीवसे मुक्त जीवको यदि न्यारे होनेकी सम्भावना करोगे तो अनेक मुक्तात्माओंकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात्-मुक्तात्मा जब एक ही है और दूसरा कोई मुक्त हो नहीं सकता है तो ऐसी दशामें कोई उदासीन जीव मोक्षके स्रधन बन रहे स्वाध्याय, दीक्षा, तपस्या, ध्यान, आदिका अन्यास क्यों करेगा ! यदि श्रवण, मनन, आदि द्वारा चाहे किसी जीवके मुक्तिके साधनोंका अभ्यास करना मान लिया जायगा तो ऐसी दशामें असंख्य जीव मुक्तिके साधनोंको साधते हुये मुक्त हो जायंगे और यही मुक्तोंकी अनंतसंख्या मानना जैन सिद्धान्त है। कितनी ही कठिन परीक्षा क्यों न हो, यदि उसका पठनक्रम बना हुआ है और अम्यापक, विद्यालय, आदिका समुचित प्रवन्ध है, तब वर्षमें एक सहस्र या बारहसी सोलहसी विद्यार्थी तो परीक्षा देकर उत्तर्णि हो ही जायंगे । अभ्यासी, ज्ञानवानुके लिये कोई काम असम्भव नहीं है । यदि अद्भेतवादी यों कहें कि जो जो संसारी जीव मुक्तिके साधनोंका अभ्यास करता हुआ निर्वाणको हो जाता है वह वह जीव परमन्नहा एक अद्वेत आत्मामें लीन हो जाता है, जैसे कि घट उपाधिके फूट जानेपर घटाकारा महान् आकाशमें लयको प्राप्त हो जाता है । आचार्य कहते हैं कि यह कहना युक्तियोंसे रीता है। क्योंकि यों तो उस मुक्त जीवके अनित्यपनका प्रसंग आयेगा। अनादि कालसे चले आरहे अध्माका मुक्त हो जानेपर खोज मिट जायगा, अतः आत्माके मुक्त अवस्थामें सर्वथा नष्ट हो जानेसे अनित्यपनकी आपत्ति हुई । इससे तो पहिले सुख, दु:ख, कैसी भी अवस्थामें जीवित बना रहना कहीं अच्छा था । कीन विचारशील पुरुष अपना खोज खो देनेके छिये ऐसी प्रलयकारिणी मुक्तिकी अभिलाषा करेगा ? करोडों, असंख्यों, रुपयोंका पारितोषिक देनेपर भी कोई दरिद्रातिदरिद्र जीव भी अपना जीवन अपण करनेके छिये उचक नहीं होता है। क्योंकि पारितोषिकका भोग भोगनेके लिये उसका जीवन ही नहीं रहा। तिस कारणसे संपूर्ण मुक्त जीवोंके उस एकपनका प्रवाद बकते रहना यों वह भी सिद्धान्त विचारा दृष्ट और इष्ट प्रमाणीसे बाधित हो जाता है।

यदि पुनः संसारिम्रका इति द्वन्द्रो निर्दिश्यते तदाप्यर्थीतरत्रतिपत्तिः त्रसञ्येत संसारिण एव मुक्ताः संसारिम्रका इति, तथा संसारिम्रकेकत्वपवादः स्यात् स च द्रष्टेष्टवाधितः, संसारिणां मुक्तस्वभावानाश्रयसंवदनात् संसारित्वेनैवानुभवात् मुक्तिसाधनाभ्युपगमविरोधाच मुक्तस्यापि संसार्थात्मकत्वापच्युतेः।

यदि फिर कोई यों कहे कि " संसारिमुक्ती " यों इन्ह करनेपर तो सभी संसारी जीव एक और सभी मुक्त जीवेंकि एक हो जानेका प्रसंग आता है। किन्तु " संसारिमुक्ताः " ऐसा सूत्र कर

देनेपर तो संसारी और मुक्त जीवोंका बहुपना रक्षित हो जाता है। ऐसी दशामें पांच स्वरक्षें वर्णीका सूत्र न बनाकर श्री उमास्त्रामी महाराजने सात स्वरीवार्छ वर्णीका बडा सूत्र क्यों बनाया ! सूत्रकारको न्यूनसे न्यून शब्दोंके कथनका सर्वदा विचार रखना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि " संसारिण । मुक्ताश्व इति संसारिमुक्ताः " अनेक संसारी और अनेक मुक्त जितने मी अनन्तानन्त जीव है वे संब " संसारिमुक्ताः" कहे जाते हैं। इस प्रकार यदि द्वन्द्वसमासका निर्देश किया जायगा तो भी एक निराष्टे अर्थकी प्रतिपत्ति हो जानेपर प्रसंग बन बैठेगा । संसारी ही मुक्त हैं यों कर्मधारय समास द्वारा एक विलक्षण अर्थ ही निकल सकता था जो कि सिद्धान्तमुद्दासे अनिष्ट है। संसारी ही जीव तो उसी समय मुक्त नहीं हैं । विद्यार्थी मण्डलको गुरुसंघ कहना या पशुसम्बन्ध नरेशमण्डल कहना जैसे अलीक है, उसी प्रकार संसारी जीवोंको ही मुक्तजीव कहना अनिष्ट पड़ेगा। और तिस प्रकार दीनोंको एक मान छेनेपर शुद्धाद्वेत बादियोंका संसारी और मुक्त जीवोंके एकपनका पक्ष पकडना का बेठेगा ! किन्तु वह एकत्वका प्रवाद तो दृष्ट और इष्ट प्रमाणोंसे बाधा प्राप्त हो रहा साधा जा चुका है। फिर भी उस बाधाको सुन लीजियेगा । घोडा, गाय, स्त्री, पुरुष, आदिक संसारी जीवोंको अपनी अपनी आत्मामें मुक्तस्वभावके आश्रवरहितपनेका स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष हो रहा है, जैसे किसी रोगी या दरिद्रको स्वयं स्वस्थपने या, सेठपने का अनुभव नहीं है। यह प्रत्यक्ष प्रमाणसे बांघा 🔣 । संसारी जीवोंको ही यदि मुक्त मान लिया जायगा तो मोक्षके उपाय हो रहें अवण, मनम, तालकान, संन्यास आदिके स्वीकार करनेका विरोध हो जायगा । पाठशालामें प्रवेश करते ही विवार्थी यदि महान पण्डित हो जाता है तो परदेशनिवास, कुट्म्बी जनोंका परित्यान, धोषण, अनुमनन, जागरण, भोगोपभोगमें उदासीनता आदि साधनोंका मिळाना भला कौन चाहेगा ? यह इक्ष्मिरोध हुआ । दूसरी बात यह है कि संसारी और मुक्तोंके एकपनके सिद्धान्तमें मुक्तजीबोंका भी संसारी आत्मकपना कवनपि छट नहीं सकता है, जैसे कि विद्यार्थी और पण्डितके सर्वथा एक हो जानेपर महान् पण्डितीका भी अ आ इई पढना या " अ इ उ ण् " " अचिकीयण् " की रटन्त लगानेसे पिण्ड नहीं छूट सकता है। नमस्करणीय आचार्य महाराज महान् उपकारी पुरुष हैं। शिष्योंको विव्रक्रम न होकर सुरूभतासे सुखपूर्वक स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाय इसक्रिये उन्होंने समास**ह**त्तिको न**हीं कर '' संसारिजो** मुक्ताश्व " ऐसा असन्देहार्थ सूत्र कह दिया है । कण्टकाकीर्ण और हिंसक प्राणियुक्त मार्गको एक दिनमें पूरा कर छेनेकी अपेक्षा सुखपूर्वक निरुषदव मार्ग द्वारा दो दिनमें इष्ट स्थानपर पहुँचना बहुत अच्छा है। ानिरापद पद्धतिका अन्वेषण करो ।

संसारिम्रक्तमिति इंद्रनिर्देशिपि संसार्येव ग्रुक्तं जीवतस्वमित्यनिष्टार्थमतीतिमसंगात् तदेशत्व-मवाद एव स्थातः, स च दृष्टेष्टवाधित इस्युक्तं ।

संसारी और मुक्त इन दो पदोंका सभाहार बन्द कर देनेसे " संसारिमुक्ते " इस प्रकार बन्द-समास द्वारा कथम करनेपर भी संसारी जीव ही मुक्त जीवस्वरूप तत्त्व है, इस प्रकार नहीं अभीष्ट हो रहे अर्थकी प्रतीति हो जानेका प्रसंग आजानेसे वह का वही दोनों जीवोंके एकपनका कुत्सित आपह ही पुन: उपस्थित हो जायगा और वह एकत्व पक्ष तो दृष्ट और इष्टसे बाधित है, इस बातको हम दो, तीन, वार कह चुके हैं। ठाघवका विचार कर यदि संसारी और मुक्त इन दो पदोंका दृंद िया जाता तो अल्पअक्षर और पूज्यपना होनेसे मुक्त राद्धका पूर्व निपात हो जानेपर " मुक्तसंसारिणः " ऐसा पद बन जाता। और ऐसी दशामें छोड़ दिया है संसार जिसने वह मुक्त संसार स्वरूपभाव है, और तिद्दिश्च मुक्त जीवोंको ही उपयोग सहितपना प्रान होता। शेष उन मुक्तोंसे अनन्त गुणे संसारी जीव छूट जाते। अतः " स्पष्टवक्ता न वंचकः " इस नीतिके आधारपर श्री उमास्वामी महाराजने इष्ट अर्थकी होड़ी जलानेवाले समासके झगडेमें न पडकर न्यारे न्यारे पदोंवाला सूत्र रच दिया है।

च शद्वोनर्थक इति चेन्न, इष्टविशेषसमुचयार्थत्वात् । नासंसारिणः सयोगकेविलनः संसारिनोसंसार्यसंसारित्वन्यपेतास्त्वयोगकेविलनोभीष्टास्ते येन समुचीयंते । नोसंसारिणः संसारिण एवेति चेन्न, तेनां संसारिवैधर्म्याद्भवांतरावाप्तेरभावात् । मिथ्यादर्शनाविरितिममाद कषायाणां संसारकारणानामभावात् । न चवमसंसारिण एव ते, योगमात्रस्य संसारकारणस्य कर्मागमनहेतोः सद्भावात् । क्षीणकषायाः संयोगकेविलवन्नासंसारिण एवेति चन्न किंचिदिनिष्टं ।

किसीको शंका है कि इस सुत्रमें च शद्ध व्यर्थ है। क्योंकि प्रथमित्रमक्तिवाले बहुवचनान्त दो पदोंका प्रयोग कर देनेसे ही संसारी और मुक्त जीवोंमें अर्थभेद सिद्ध हो जाता है। अब आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । कारण कि इप्र हो रहे त्रिशेष आत्माओंका समुख्य करनेके छिये सन्न-कारने च शद्धका प्रयोग किया है। सनुचय, अन्याचय, इतरेतरयोग, समाहार, इस प्रकार चकारकी अर्थचौकडीमेंसे यहां च का अर्थ समुचय प्रतडा गया है। जिन जीवोंका संसारमें निवास अत्यन्प शेष रह गया है, अन्तर्भुहूर्त्त अधिक आठ वर्षसे कमती एक कोटि पूर्व वर्ष इतना अधिकसे अधिक संसार रोप है, ऐसे तेखें गुणस्थानवर्त्ती सयोग केवली भगवान् नोसंसारी जीव हैं। गर्भके नो मास मिलाकर आठ वर्षका अर्थ पीने नो वर्ष करना चाहिये । भोगभूमियोंमें मनुष्योंके उनंचास दिनमें सम्यक्त हो सकता है और भोग शूमिक तिर्थचों के सात आठ दिनमें सम्यक्त हो सकता है । इसमें भी गर्भवास के दिन और जोड़ छेने चाहिये । इसी प्रकार कर्मभूमिके तिंधीचमें छह महींने पश्चात् सम्यक्त्व या व्रतधारण करनेकी योग्यता हो जाती है । यहां भी गर्भके दिनोंको अधिक जोड छेना चाहिये। कई प्रन्थोमें मनुष्य तिंथेचों के आठ वर्ष या उनंचास दिन और छह महीने या सात आठ दिन लिख दिये हैं। उनमें गर्मके दिनोंको जोडनेकी विवक्षा नहीं की गयी है। किन्तु उनका जोडना आवश्यक है । तथा पहिले गुणस्थानसे लेकर ग्यारहवें गुणस्थान या बारहवें गुणस्थानतक संसारी जीव और तेरहर्वे गुणन्यानवर्ता नोसंसारी जीव तथा संसारीपनेसे सर्वथा छूट गये सिद्धजीव इन तीनों प्रकारके जीवोंसे रहित हो रहे चौदहवें गुणस्थानवर्ती अयोगकेवळी जीव भी तो हमें अभीष्ट

हैं। वे तेरहवें, चौदहवें, गुणस्थानवर्ती जीव जिस च शब्द करके समुचय प्रस्त कर छिये जाते है। अतः वह " च " शब्द सार्थक है। यहां कोई कहे कि ईपत् संसारको धारनेवाले तेरहवें गुणस्थान वर्ती नोसंसारी जीव तो संसारी ही हैं। जबतक कोई जीव संसारमें ठहरेगा उसका संसारी जीवोंमें अन्तर्भाव किया जायगा, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन सयोगकेविलयोंका पैच-परिवर्तन करनेवाले संसारीजीयोंसे विधर्मपना है। कारण कि संसारीजीव तो अनेक दूसरे दूसरे भवोंको प्राप्त होते रहते हैं। किन्तु सयोगकेवली जीवोंको पुनः दूसरे भवकी प्राप्ति होना रूप संसारका अभाव है। ऐसी दशामें उनको संसारी कहनेमें जी हिचकिचाता है। खात, चने, ठड़ं हूं, सब एक कोटिमें नहीं गिने जाते हैं। संसारके कारण हो रहे मिथ्यादर्शन, अविरित, प्रमाद, कषाय, इनका सयोग केविलयोंमें अभाव है। इन चारोंकी सहायताके विना केवल योग विचारा एक समय स्थितिको रखनेवाले सातावेदनीय कर्म मात्रका आसत्र करता है, जो कि अकिंचित्कर है। यदि यहां कोई यों कह बैठे कि जब सयोग केवलीके अन्य भवोंकी प्राप्तिरूप संसार नहीं है और संसारके मिथ्या-दर्शन, अविरति, प्रमाद, और कषाय ये चार कारण भी नहीं हैं, तब तो इस प्रकार वे सयोगंकेवली असंसारी ही हो गये । प्रत्यकार कहते हैं कि यह प्रसंग नहीं उठाना चाहिये । क्योंकि विशेषक्षपमे संसारका कारण हो रहे और कर्मों के आगमनका हेतु बन रहे केवल योगका सद्भाव सयोगकेवलीके पाया जाता है। उस योगके द्वारा शरीर, भाषा और मनको बनानेके उपयोगी नोकर्मद्रव्यका और साता वेदनीयकर्म रा प्रतिक्षण आगमन होता रहता है । अतः संसारी और असंसार (सिद्ध) दोनों प्रकारके जीवोंसे रहित तेरवें गुणस्थानकछ जीव नोसंसारी हैं। यहां पुनः किसीका कटाक्ष है कि क्षपक श्रेणीवालोंको छोडकर ग्यारहवें गुणस्थानतक के जीव भल्ने ही संसार परिश्रमण करते हुये संसारी कहे जांय, किन्तु जिनकी कषायें क्षयको प्राप्त हो चुकी हैं, ऐसे बारहवें गुणस्थानवर्ती जीव तो सयोगकेविष्टियोंके समान नोसंसारी ही कहे जांयगे। तुम जैनोंको अभीष्ट हो रहे नोसंसारीपनके **उक्षणका क्षीणकवाय जीवोंमें सद्भाव है। संसारके चार** प्रधान कारणों और अन्य भवोंकी प्रातिका उनके अभाव है। आचार्य कहते हैं कि यों कहनेपर तो हमकी कुछ अनिए नहीं पड़ता है। भन्ने ही बारहवें गुणस्थानवालोंको भी नोसंसारी कइ दो । उनका भी च शब्द करके समुचय कर लिया जायगा । " बालादिप हितं प्राह्यं युक्तियुक्तं मनीषिभिः " इत नीतिके अनुसार किसीकी भी युक्तिपूर्ण बातको माननेके छिवे हम समद्ध हैं।

अयोगकेविलनो मुक्ता एवेति चैम, तेषां पंचाक्यीतिकर्ममकृतिसद्भावात्, कृत्स्तकर्म-विममोक्षाभावादसंसारित्वायोगात् । न चैवं ते नोसंसारिणः केविलनः संसारिनोसंसार्य-संसारित्वव्यपेताश्रायोगकेविलनो दीष्टास्ते संसारकारणस्य योगमात्रस्याप्यभावात् तत एव न संसारिणस्तित्वव्यपेतास्तु निश्रीयंते ।

कोई प्रिष्टत यहां आक्षेप करता है कि चौदहवें गुणस्थानवत्ती अयोगकेवली भगवान तो मुक्त ही हैं। अ इ उ क ल इन पांच लघु अक्षरों का जितने कालमें उचारण क्षेत्र उतने ही कालतक संसारमें ठहरना तो कोई ठहरना नहीं है। अतः अयोगकेवलीयोंका मुक्तोंमें ही अन्तर्भाव . करकेना चाहिये । पंचपिवर्त्वनरूप संसारका और संसारके कारण योगतक का भी उनके अभाव है । श्री विचानन्द स्वामी महते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उन अयोगकेविट्योंके पिचासी कर्म प्रकृति-योका सुद्धाव है। अतः सम्पूर्ण कर्मीका विप्रमोक्ष हो जाना रूप मुक्तिका अभी अभाव हो जानेसे बीद्रहवें गुणस्थानवाळोंको असंसारीपन यानी मुक्तपनका अयोग है । सम्पूर्ण प्रकृतियां एकसी अहता-कैंस हैं। उनमें आश्रीसे अधिक प्रकृतियां चौदहवें गुणस्थानमें आत्माको परतंत्र कर रही हैं। बातिया कर्मोंकी सेंतालीस प्रकृतियां तो बारहवें गुणस्थानके अन्ततक नष्ट हो चुकी हैं। तिनमें क्षायिक सम्यक्तको प्रहण करते समय चौथेसे सातत्रं गुणस्थानतक कहीं भी चार अनन्तानुबन्धियोंका विसंयो-जन और तीन दर्शनमोहनीयका क्षय हो जाता है और नवमें गुणस्थानमें स्यानगृद्धित्रिक, अप्रत्या-रम्यानाबरण चार, प्रत्यारन्यानावरण चार, नपुंसकवेद, कीवेद, हास्यादि छह नो कषाय, पुरुषवेद, और संन्वलन तीनका क्षय हो जाता है। दशवेंमें लोग नष्ट हो जाता है। बारहवेंमें **इम्बानरण पांच, दर्शनावरण चार, अ**न्तराय पांच, निद्रा, प्रचला, इन सोलह प्रकृ-तियोंका क्षय हो जाता है। चरमशरीरी जीवके नरक आयु, तिर्य-ायु और देवायुका सदान ही नहीं है। नामकर्मकी तेरह प्रकृतियां नवमें गुणस्थानके पहिले भागमें क्षयको प्राप्त हो जाती है। अतः नामकर्मकी शेषप्रकृतियां पांच शरीर, पांच वंधन, पांच संघात, छई संस्थान, छह संदनन, तीन अंगोपांग, आठ स्पर्श, पांच रस, दो गंध, पांचवर्ण, स्थिरद्विक, शुभद्रिक, स्वरद्विक, देवगति, देवगत्यानुपूर्व्य, प्रशस्त विह्ययोगति, अप्रशस्त विह्ययोगति, दुर्भग, निर्माण, अयशस्कीर्ति, अनादेय, प्रत्येक, अपर्यात, अगुरुल्यु, उपचात, परचात, उच्छास, इस प्रकार य सत्तर प्रकृतियां और वेदनीयकर्मकी दोनोंमेंसे असुदय रूप एक, तथा नीचगोत्र ये बहत्तर प्रकृतियां अयोगकेवलीके उपान्य सम्बर्धे नष्ट शोतीं हैं और अयोग केवलीके अन्त समयमें वेदनीयकी कोई एक तथा नाम कर्मकी मनुष्यगति, पंचेन्द्रियजाति, सुभग, त्रस, बादर, पर्याप्ति, आदेय, यशस्भीर्ति, तीर्थक्षर, मनुष्यगत्यानु-पूनर्य, ये दस प्रकृतियां, आयुओंमें मनुष्य आयु तथा उच्चगोत्र इस प्रकार तेरह प्रकृतियां अन्त समयमें छूटतीं है। इस ढंगसे अयोगियोंके पिचासी प्रकृतियोंका सद्भाव माना गया है। अतः वे मुक्त जीवोंमें नहीं गिने जा सकते हैं। फिर भी कोई यों कहे कि इस प्रकार होनेपर तो सयोगकेवालियोंके समान के अयोगकेन भी तो संसारी गिन किये जांय। चौथी जातिके जीवोंको माननेकी क्या आवश्यकता है ! आचार्य कहते हैं कि यह विश्लेप नहीं डाल सकते हो । क्योंकि संसारीपन, नोसंसारीपन और असंसादीपन, (सिद्दत्व) इन तीन जातियोंसे रहित हो रहे चौथी जातिवाले वे अयोगकेवली मग-पानं अमीष्ट किये गये हैं। संसारके कारण हो रहे के वळ योगका भी अभाव हो जानेसे वे तेरहनें

युजस्थानवर्सी भगवान् नोसंसारी जीवोमें नहीं गिमे जा सकते हैं। तथा तिस ही कारणेंस यानी संसार और संसारके पांचों कारणका अभाव हो जानेसे वे अयोगी महाराज संसारी भी नहीं हैं। हां, उन संसारी, नोसंसारी और असंसारी इन तीनों जातिके जीवोंसे पृथग्भृत हो रहे तो वे निश्चय किये जा रहे हैं। अतः च शहू करके विशेष रूपसे इष्ट हो रहे तेरहवें गुणस्थानवर्त्ती (बारहवें गुणस्थानवर्त्ती भी) और चौदहवें गुणस्थानवर्त्ती जीवोंका समुख्य हो जाता है। "न कर्मधारयः स्थानमत्त्वर्धीयो बहुनीहिश्चेदर्थप्रतिपत्तिकरः " यह परिभाषा आनित्य है। अतः असंसारी और नोसंसारी ये शहू भी साधु समझे जाय। "

तथान्ये वर्णयंति-ग्रुक्तानां परिणामांतरसंक्रमाभाबादुपयोगस्य ग्रुणभावपदर्श्वनार्थे च मक्रोपादानमिति, तम्र बुध्धामहे तेषां नित्योपयोगसिद्धेः पुनरुपसंहारप्रादुर्भावाभावात् । तत्रोपयोगव्यवहाराभावात् गुणीभूतोत्र तूपयोग इति चेति ।

तथा श्री अक्रङंकदेवके सिद्धान्त अनुसार अन्य दूसरे पण्डित यो वर्णन करते हैं कि मुक्त जीवोंके अन्य दूसरे दूसरे परिणामोंका संक्रमण होता नहीं है। इस कारण उन मुक्तोंके गीणरूपसे उपयोगका सद्भाव बढिया दिखलानेके लिये श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रमें च शहका प्रहण किया है। अर्थात् संसारी जीवोंके तो दर्शनीपयोगके पश्चात् ज्ञानोपयोग या चाञ्चषप्रत्यक्षके पीछे रासनप्रत्यक्ष और उसके भी पीछे श्रुतज्ञान इत्यादिरूपसे एक उपयोगको बदल कर दूसरे उपयोगके लग जाना घटित हो जाता है । तभी तो मेरा इस पदार्थमें उपयोग लगा हुआ है, अमुक पदार्थमें उपयोग नहीं लगता है, मुनिजन आत्मतत्त्रमें बहुत देरतक उपयोग लगाये रहते हैं, आखें ख़ुली रहते हुये भी उसकी ओर उपयोग न होनेसे मैं उस पुरुषको नहीं देख सका, न्याय प्रन्थोंक पढनेमें उपयोग लगाओ, इत्यादिक व्यवहार प्रसिद्ध हो। रहे देखे जाते हैं। किन्तु केवलबानी मक्त जीवोंके किसी उपयुक्त दशाको छोडकर अन्य दूसरे पदार्थमें उपयोग लगता नहीं है। त्रिलोक त्रिकाल-वर्ती पदार्थ सर्वदा उनके ज्ञानमें झळकते रहते हैं। ऐसी दशामें कहांसे इट कर उपयोग कहां दूसरे विषयमें छो ? विद्यमान स्थानोंपर सर्वत्र व्याप रहा आकाश यदि जावे भी तो कहांसे खिसक कर कहां जाते ! इसी प्रकार एक त्रिषयको छोडकर दूसरे विषयको पकडनेवाला मुख्य उपयोग केवल-**इ**ग्रानियोंमें नहीं माना गया है। अतः मुक्तजीवोंके उपयोगकी गौणता दिखलानेके लिये व्यवच्छेदक च शह सूत्रमें डालना आवस्यक है, यों कह चुकनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि उस अकलंकदेवके रहस्यको हम नहीं समझ रहे हैं। उन मुक्तजीवोंके नित्य ही उपयोगकी सिद्धि हो रही है । पुनः पुनः न्यारी जातिके उपयोगोंका निकटवर्ती संहार या प्रादुर्भाव नहीं होता है । एकसा सदा चमक रहा केवळ्ड्यान वर्त्त रहा है। उसमें छोकप्रसिद्ध हो रहे उपयोग के व्यवहारका अभाव है। अतः इन मुक्त जीवोंमें तो उपयोग अप्रधानभूत बना बनाया है। इसके लिये च शहकी आवश्यकता नहीं दीखती | व्यर्थ होकर भी च राज्द इस अप्रकृत अर्थका श्रापन नहीं कर सकता है । जैसे कि एक अर्थमें अपनी चित्तवृत्तिका निरोध कर लेना व्यान है। छग्रस्थ जीवोंमें यह व्यान मुख्यरूपसे घट जाता है। इधर उधर अनेक स्थानोंपर चिन्ताको फैंकनेवाला जीव पुरुषार्थद्वारा कुछ देरतक मानसिक प्रवृत्तिको यहां इहांसे हटा कर वहीं एक पदार्थमें मनको ठहरा सकता है। किन्तु सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, जीवन्मुक्तको व्यान मानना उपचार मात्र है। तिस ही प्रकार उपयोगकी प्रवृत्ति भी मुक्तीमें गीणरूप मानी गयी है। इस विषयकी व्याख्यान द्वारा विशेष प्रतिपत्ति हो जाती है। च शद्भ तो अपने चार अर्थीमेंसे किसी एक अर्थवा बोतक हो जाता है।

संसारिग्रहणमादौ कुत इति चेत् , संसारिणां बहुविकल्पत्वात्तरपूर्वकत्वान्ध्रक्तेः । स्वयं-वेद्यत्वाचेत्येके, उत्तरत्र प्रथमं संसारिपपंचप्रतिपादनार्थे चेत्यन्ये ।

यहां किसीकी शंका है कि बताओ, सूत्रमें संप्तारी जीवोंका प्रहण आदिमें किस कारणसे किया गया है ! इन्द्र समास न होते हुये भी न्यारे न्यारे परोंका उच्चारण करो तो भी पूज्यजीव माने गये मुक्तोंका पहिले निर्देश करना उचित था। यों कहनेपर तो कोई एक आचार्य यह समाधान करते हैं कि संसारी जीवोंके बहुत भेद प्रभेद हैं तथा मोक्षको संभारपूर्वकपना है। पहिले संसार है पीछे मोक्ष होती है। अतः बाच्यकी प्रवृत्ति अनुसार बाचक शद्ध कहने चाहिये। तीसरी बात यह है कि प्रन्थकार श्री उमास्त्रामी महाराज स्वयं संसारी जीव हैं, जिसका दिन रात सम्बेदन होता रहता है, उसकी बिना बुलाये शीव उपस्थिति हो जाती है। संसारीपनका उनको स्वयं सम्बेदन होता रहता है। संसारी जीव ही प्रन्थोंके निर्माता, श्रोता, प्रचारक, हैं। अतः एक अपेक्षा यहां संसारियोंकी मान्यता है। कृतकृत्य हो चुके मुक्तजीव अपनी स्वात्मिक्षिद्धेमें पगे हुये है, वे यहां अत्यन्त परोक्ष होनेसे गीण विवक्षित किये गये हैं। दूसरे अन्य आचार्य उक्त शंकाका समाधान यों करते हैं कि उत्तरवर्ती प्रन्थमें सबसे प्रथम संसारी जीवोंके भेद, प्रभेद, जन्म, शरीर, आदिक प्रपंचका प्रतिपादन करनेके लिये मूत्रमें पहिले संसारी शद्धका प्रहण है। श्री विद्यानन्द स्वामीको एक आचार्य और दूसरे अन्य आचार्य दोनोंका मन्तव्य अभीव हो रहा दीखता है।

यद्येवं किं विशिष्टाः संसारिण इत्याह सूत्रं ।

किसीका प्रश्न है कि यदि इस प्रकार बहुत विकल्पत्राले संसारी जीव हैं तो बताओ, वे संसारी जीव किन किन विशेषणोंसे घिरे हुये हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिम सूत्रको स्पष्ट कर रहे हैं |

समनस्कामनस्काः ॥ ११ ॥

उन संसारी जीवांमें कुछ जीव तो मनसे सिहत हो रहे समनस्क हैं और शेव एकेन्द्रियसे छेकर असै-क्रिपेचेन्द्रिय पर्यन्त गिनाये जा रहे संसारी जीव अमनस्क हैं, यों संसारी जीवोंकी दो बडी मण्डिलयां हैं। मनसो द्रव्यभावभेदस्य सिक्यानात्समनस्काः तदसंनिधानादमनस्काः । समनस्काश्र मनस्काश्र समनस्कामनस्का इति समनस्कग्रहणमादौ युक्तमभ्यिहितत्वात् । संसारिधुक्तमक णात् यथासंख्यप्रसंग इति चेत् तथेष्टं संसारिणामेव समनस्कत्वान्युक्तानाममनस्कत्व।दित्येके तद्युक्तं । सर्वसंसारिणां समनस्कत्वमसंगात् ।

आठ पत्रवाले कमलको समान ब्रव्यमन तो संज्ञी जीवको हृदयस्थलमें होता है । पांच पौद्रलि इन्दियोंके समान वह मन भी अतीन्द्रिय है, जो कि अंगोपांग नामकर्मका उदय होनेपर मनोवर्गणा निष्पन्न होता है । तथा वीर्यान्तराय कर्म और नोइन्द्रियावरण नामक मित्रज्ञानावरण कर्मके क्षयोग रामकी अपेक्षा रखनेवाली जीवकी विशुद्धि तो भावमन है । इन द्रव्य, भाव, दो भेदोंको धार र मनकी सिन्नकटतासे जीव समनस्क माने जाते हैं और उन दोनों मनोंके सिन्धान नहीं होनेसे अने जीव अमनस्क कहे जाते हैं । समनस्क जीव अमनस्क जीव यों इतरेतर इन्द्र करनेपर " समनस्व मनस्का" ऐमा वाक्य बन जाता है । स्त्रकारद्वारा समनस्क जीवोंका सूत्रके आदिमें प्रहण कर पूज्य होनेसे समुचित ही है । यहां कोई आक्षेप करता है कि पूर्व सूत्र अनुसार संसारी और मुरु जीवोंका प्रकरण होनेसे इस सूत्रमें यथाकम दो संख्याके अनुसार संसारी समनस्क होते हैं और मुरु अमनस्क हैं ऐसे अर्थ करनेका प्रसंग हो जायगा । यों प्रसंग उठानेपर कोई एक पण्डित उत्त देनेके लिये बांचमें अनाधिकार कूद बैठते हैं कि तिस प्रकार अर्थ करना इप्ट है । वयोंकि संसा जीवोंको ही मनसहितपना है और मुक्तोंको अमनस्कपना है । पूर्वसूत्रका इस सूत्रके साथ यथासंख अन्वय करनेमें कोई क्षति नहीं दीखती है । अब श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि उन एक पण्डितजीव कहना युक्तियोंसे रीता है । क्योंकि यों तो सम्पूर्ण एकेन्द्रिय, दिइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रय, और असीं पंचेन्द्रिय इन संसारीजीवोंको भी मनसहितपना बन बैठेगा, जो कि इष्ट नहीं है ।

कुतस्तर्हि यथासंख्या असंगः, पृथग्योगकरणात् । यथासंख्यं तदिभसंबंधेष्टौ संसारिण प्रकाश्च समनस्कामनस्का इत्येकयोगः क्रियेत उपिर संसारिवचनप्रत्यासत्तेश्च । संसारिणक्षर स्थावरा इत्यत्र हि संसारिण इति वचनं समनस्कामनस्का इत्यत्र संबध्यते त्रसस्थावरा इत्य च मध्यस्थत्वात् ततो न यथासंख्यसंप्रत्ययः।

किसीका प्रश्न है कि यों है तब तो बताओं कि यहां यथासंख्यका प्रसंग कैसे नहीं हुआ कोरा मनमाना सिद्धान्त इष्ट कर ठेनेसे किसी न्यायप्राप्त प्रसंगका निवारण नहीं हो सकता है। इस उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि पृथक् पृथक् योग करनेसे यानी न्यारा सूत्र बनानेसे वह प्रसंग नहीं। पाता है। इस सूत्रमें संसारी जीवका ही सम्बन्ध हो रहा है। यदि सूत्रकारको आक्षेपकारके विचार अनु सार यथासंख्य रूपसे उन पूर्व सूत्रोक्त उद्देश्योका और इस सूत्रमें कहे गये विधेयोंका सम्बन्ध अभी

होता तो " संसारिणो मुक्ताश्च समनस्कामनस्का " इस प्रकार दोनों सूत्र मिळ,कर एक योग कर दिया जाता। यों कर देनेपर बडी सरळतासे आक्षेपकारको अभिप्रत हो रहे संसारी जीव समनस्क हैं और मुक्त जीव अमनस्क हैं, इस अर्थकी प्राप्ति हो सकती थी। इस सूत्रमें संसारी जीवोंका ही सम्बन्ध है, इसके लिये दूसरी बात यह है कि अगळे वक्ष्यमाण उपरक्षे सूत्रमें संसारी शहकी निकटता हो रही है। भविष्यके " संमारिणस्त्रसस्थावरा, " ऐसे इस सूत्रमें नियमसे संसारिणः ऐसा शह प्रयोग हो रहा है। वही " संसारिणः " यह शह " समनस्कामनस्काः " इत्याकारक इस सूत्रमें और त्रसस्थावरा इस उत्तरवर्त्ती सूत्रमें मध्यस्थ होनेके कारण सम्बन्धको प्राप्त हो जाता है। " देहळी दीपक " न्यायसे " संसारिणः " शहका दोनों ओर अन्वय है। तिस कारणसे यथासंख्यका भळे प्रकार प्रसंग या ज्ञान हो जाना नहीं बन पाता है।

अथवा संसारिणो मुक्ताश्चेत्यत्र संसारिण इति वचनमनेन संबध्यते न मुक्ता इति तेषां प्रधानशिष्टत्वान्मुक्तानामप्रधानशिष्टत्वात् । तथा सित समनस्कामनस्काः त्रसस्थावरा इति यथासंख्याप्रयोगः, सर्वत्रसानां समनस्कत्वासिद्धेः मध्यस्थसंसारिग्रहणामिसंबंधेपि वा पृथग्योगकरणाच त्रसस्थावरयथासंख्याभिसंबंधः स्यात् अन्ययेकमेव योगं कुर्वीत, तथा च दिःसंसारिग्रहणं न स्यात् । ततः संसारिण एव केचित्समनस्काः केचिदमनस्का इति सूत्रार्थो व्यवतिष्ठते ।

अथवा एक बात यह भी है कि " संसारिणो मुक्ताश्च " इस पूर्ववर्ती सूत्रमें से " संसारिणः " ये बचन ही इस समनस्कामनस्ताः इस सूत्र साथ सम्बन्धित हो जाता है । " मुक्ता " इस राद्धका इस सूत्रके साथ सम्बन्ध नहीं है । क्योंकि " प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने सम्प्रत्ययः " प्रधान और अप्रधानका अवसर आनेपर प्रधान अर्थमें ही सुलभतासे ज्ञान उपज बैठता है । इस प्रकरणमें प्रधान हो एहे उन संसारी जीवोंको प्रधान रूपसे शिष्टपना है तथा मुक्तोंको अप्रधान रूपसे परिशेष न्याय हारा शिष्टपना है अर्थात्—विधेयप्रतिपादक उत्तरवर्ती न्यारे सूत्रमें पूर्व सूत्रोक्त उद्देश्योंका उद्देश्योंका उद्देश्योंका उद्देश्यके रिते स्थानको भरनेके लिये " अवशेष न्याय " करके ही सम्मेलन हो सकता था। अतः प्रधानरूपसे अवशिष्ट हो रहे उद्देश्योंका ही अन्वय इस सूत्रमें माना जायगा। तैसा होनेपर " स्मनस्कामनस्काः" इस सूत्रका उत्तरवर्ती " त्रसस्थावराः " इस सूत्रके साथ भी यथासंख्यसे प्रयोग नहीं हो सकता है। यानी त्रस समनस्क हैं और स्थावर जीव मनोरहित हैं, ऐसा यथासंख्य भी सिद्धान्तसे बाधित है। सम्मूर्ण दीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि त्रसोंको समनस्कपना असिद्ध है केवल संक्षी पंचीन्द्रिय त्रस ही मनसे सहित्त हैं। इस्लाको वशसे सम्बन्ध हुआ करता है। इस सूत्रमें उत्तरसूत्रके संसारी पदका ही सम्बन्ध करना, त्रस स्थावरका नहीं। मध्यमें स्थित हो रहे संसारी शब्दके प्रहणका ठीक सम्बन्ध होनेपर भी पृथक्सपूत्र योसको करसेसे त्रस और स्थावरके साथ इस सूत्रमा यथासंख्यक्यकरके पूरा सम्बन्ध होनेपर भी पृथक्सपूत्र योसको करसेसे त्रस और स्थावरके साथ इस सूत्रमा यथासंख्यक्यकरके पूरा सम्बन्ध नहीं हो सकेगा

अन्यथा यानी सूत्रकारको त्रसस्यावर ग्रहणके साथ मी यदि इस सूत्रका सम्बन्ध अमिष्ट होता तो वे दोनों सूत्रोंको मिळाकर एक योग कर देते। और तैसा " समनस्कामनस्काः संसारिणकसस्थावराः " यों एक योग कर देनेपर दो बार संसारिका ग्रहण नहीं करना पडता। ठाघव हो जाता। किन्तु ऐसा एकयोग नहीं किया है। अतः सिद्ध है कि पहिछे कहे जाचुके संसारी मुक्त प्रहणका और भविष्यके त्रसस्थावर ग्रहणका इस सूत्रके साथ सम्बन्ध नहीं जुडता है। तिस कारणसे सिद्ध है कि संसारी ही कोई कोई समनस्क हैं और बहुभाग कितने ही संसारी जीव अमनस्क हैं, इस प्रकार सूत्रका अर्थ व्यवस्थित हो जाता है।

कुतस्ते तथा मता इत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि किस कारणसे वे संसारी जीव तिस प्रकार मनसहित अथवा मनरहित दो प्रकारके माने गये हैं शिक्षण होता कि वैशेषिक मत अनुसार सभी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, आदि प्रत्येक जीवोंमें एक एक मन मान लिया जाता अथवा चार्वाक मत अनुसार किसी भी जीवके एक अतीन्द्रिय मनकी कल्पना न की जाय। जैनोंने भी तो मुक्त जीवोंके मन नहीं माना है । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

समनस्कामनस्कास्ते मताः संसारिणो द्विधा । तद्वेदनस्य कार्यस्य सिद्धेरिष्टविशेषतः ॥ १ ॥

वे संसारी जीव कुछ मन इन्द्रियसे सिहत हैं और शेष मन इन्द्रियसे रिहत हैं, यों दो प्रकार माने गये हैं। क्योंकि इस विचारशाली मनके द्वारा बनाये गये विशेष ज्ञानरूप कार्यकी किन्हीं जीवोंमें प्रसिद्धि हो रही है। या मनसे रिहत दशामें होनेवाले विलक्षण ज्ञान यानी अविचारक बुद्धि रूप कार्यकी किन्हीं जीवोंमें प्रसिद्धि हो रही है। तथा विशेष रूपसे इष्ट हो रहे आगमप्रमाणसे भी मनसे सिहत और मनोरहित दो प्रकारके संसारी जीवोंकी व्यवस्था बन रही है।

समनस्काः केचित्संसारिणः शिक्षाकियालापग्रहणसंवेदनस्य कार्यस्य सिद्धरन्यथातु-पपत्तेः, केचित्पुनरमनस्काः श्विक्षाद्यग्राहिबेदनकार्यस्य सिद्धरन्यथानुपपत्तेः। इत्येतावता द्विविधाः सेसारिणः सिद्धाः।

कोई तोता, मैना, घोडा, हाथी, मनुष्य, की, देव, देवी, आदिक संसारी जीव (पक्ष) नो इन्द्रिय मनसे सहित हैं (साध्य)। क्योंकि शिक्षापूर्वक क्रिया करना, आठाप करना, कथन अनुसार समझकर उठाना, घरना, इत्यादिक इानस्वरूप कार्यकी सिद्धि होना अन्यथा यानी मनको माने विना वन नहीं सकता है। अर्थात् —घोडा, हाथी, बैठ, कुता, विषाधी, कन्या, ये जीव कहे हुये को सीख केते हैं। इनका कोई विशेष नाम थर देनेपर तद्दनुसार आ जाते हैं, चले जाते हैं, उठाते, धरते हैं, उपदेश सुनते हैं, इस प्रकार विचारपूर्व क ज्ञान और उसके अन्य भी कार्य अन्तरंग मन इन्द्रियको माने विना अन्य प्रकारोंसे नहीं हो पाते हैं। अतः अतीन्द्रिय मनकी उसके कार्य द्वारा सिद्धि कर दी जाती है। तथा वृक्ष, चींटी, मक्खी, आदि कितने ही जीव (पश्च) फिर अमनस्क हैं (साध्य) शिक्षा आदिको नहीं ग्रहण करनेवाले साधारण ज्ञान होना स्वरूप कार्यकी सिद्धि अन्यथा यानी अमनस्क हुये विना दूसरे ढंगों करके नहीं बन सकती है। मक्खी या चींटीको कोई शिक्षा दी जाय उसको वह नहीं समझ पाती है। कल्पित नाम रखनेपर तदनुसार आती जाती नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि वर्र आदि जीवोंके विचारकपन नहीं है। इस प्रकार इतनेसे इन दो हेतुओं करके दो प्रकारके संसारी जीव सिद्ध हो जाते हैं।

इष्टिविशेषतश्च । इहेष्टं हि प्रवचनं तस्य विशेषः समनस्केतरजीवप्रवचनं तस्य विशेषः समनस्केतरजीवप्रकाशि वाक्यं, संति संक्षिनो जीवाः संत्यसंक्षिन इति । ततश्च ते व्यवतिष्ठंते सर्वया बाधकाभावात् ।

तथा इष्टिविशेषसे भी दो प्रकारके जीवोंकी सिद्धे हो जाती है। यहां प्रकरणमें इष्टपदसे प्रकृष्ट वचन यानी आगम लिया जाता है। सर्वज्ञकी आम्नायसे चले आ रहे उस आगमका विशेष हो रहा समनस्त और अमनस्त जीवोंको कहनेवाला शास है । उस शासका भी विशेष हो रहा समनस्त और उससे न्यारे अमनस्क जीवोंको प्रकाश रहा एक वाक्य है। जो कि इस प्रकार है कि संस्थरमें संज्ञी जीव हैं और असंज्ञी जीव भी हैं। जयचवला सिद्धांत आदि प्राचीन प्रन्थोंमें अनेक वाक्य हैं। गोम्मदसारमें भी लिखा है " सिक्खाितरियुत्रदेसालात्रगााही मणीत्रलंबेण, जो जीवो सो सण्णी तन्त्र-वरीओ असण्णी दु ॥ १ ॥ " मीमंसदि जो पुत्रं कज्जबकज्जं च तच्चमिदरं च । सिक्खदि णामेणेदिय समणो अमणो य विवरीदो ॥ २ ॥ द्रव्यसंप्रहमें कहा गया है कि समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सब्वे ''। अतः तिस आगम रमाणसे भी वे संज्ञी, असंज्ञी जीव व्यवस्थित हो रहे हैं। सभी प्रकारोंसे कोई बाधक प्रमाण नहीं हैं । जगत्में अनन्तानन्त पदार्थ हैं । तिनमें बहुभाग हम छोगोंके स्थूछ ज्ञानसे छिप पड़े इसे हैं। उनकी सिद्धिका सरल उपाय बाधक प्रमाणोंका असम्भव ही ठीक पहला है। किस को इतना अवकाश या सूक्त्म योग्यता प्राप्त है जो कि सबको बिशेष विशेष रूपसे देखता फिरे । संजी. असंजी, जीवोंकी सिद्धिका बाधक कोई प्रमाण नहीं है । " असम्भवद्वाधकप्रमाणत्व " हेत्से चाहे किसी भी पदार्थकी सिद्धि हो जाती है। धनिकोंके रुपयोंको सभी मनुष्य नहीं गिन पाते हैं। फिर भी उनको सेठजी कहते हैं। ठोस विद्वान्की गम्भीर पन्डिताईको कौन उटोलता फिरता है, तप-स्विओंकी साधनाओंको कौन परखै, कुल, जातिका सूक्ष्म गवषेण कौन कर पाता है. केवल वाधाओंका असङ्ख्ये उनका अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

अत्र त्रसा एव संसारिणः समनस्कामनस्का इति केचीचिदाकृतं, तव्यसार्रणायाहे ।

यहां किन्हीं विद्यानोंकी ऐसी चेष्टा हो रही है कि त्रस जीव ही संसारी जीव हैं, संसारवर्ती क्योंके ही समनस्क और अमनस्क ये दो भेद हैं। पृथ्वी, जल, तेज, बायु, वनस्पति, इन शरिरोंको आस्नेवाला कोई जीव संसारमें नहीं है। इस कुचेष्टाका निराकरण करनेके लिये श्री उमाखामी महाराज स्पष्टकराते अग्रिम स्त्रको कहते हैं।

संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥ १२ ॥

संसारी जीव दूसरे ढंगसे श्रस और स्थावर इन दो बढे भेदोंको धार रहे हैं। अर्थात्— समनस्क और अमनस्क इन दो भेदोंमें सभी संसारी जीव गर्भित हो जाते हैं, उसी प्रकार श्रस और स्थावर दो भेदोंमें भी संसारी जीव अन्तः प्रविष्ट हो जाते हैं। छोक या शास्त्रमें जिस प्रकार संसारी जीवोंके भेद प्रसिद्ध हैं उस ढंगसे यहां भेदव्यवस्था कर दी गयी है।

त्रसनामकर्मोदयापादितवृत्तयस्ताः मत्येतन्त्राः न पुनस्तर्यतीति त्रसाः पवनादीनां त्रसत्त्वप्रसंगात् गर्भोदिष्वत्रसत्वाद्भुषंगाच, स्थावरनामकर्मोदयोपजनितविशेषाः स्थावराः। स्थानशीलाः स्थावरा इति चेन्न, वाय्वादीनामस्यावरत्त्रप्रसंगात्। इष्टमेवेति चेन्न, समयार्थानवनेषात्। न हि वाय्वादयस्ता इति समयार्थः।

कितने ही मोटी बुद्धियां चलने फिरनेयां जीवोंको त्रस और एक स्थानपर टहरनेवाले जीवोंको स्थावर कह देते हैं किन्तु यह मन्तन्य सिद्धान्तिवरुद्ध है। जिन जीवोंको आत्मसम्बन्धी या हारीरसम्बन्धी प्रवृत्तियां त्रस नामक नामकर्मके उदयसे सम्पादित की गयी हैं, वे जीव त्रस समझ केने चाहिये। फिर जो उद्देगको प्राप्त होते रहते हैं भागते दौडते हैं इस निरुक्ति द्वारा प्राप्त हुये अर्थ करके त्रस नहीं विस्वस्त कर लेने चाहिये। यों यौगिक अर्थका आदर किया जायगा तो चलते, फिरते, पवनको या बहते हुये जल अथवा रेलगाडी, मोटर कार, आदि पदार्थोंको भी त्रसपनेका प्रसंग होगा। यह अतिव्याप्ति या आपत्ति हुई और साथसें अन्याप्ति या अनुपपत्ति भी है कि गर्भ अपस्था, मूर्चित अवस्था, अण्डदशा आदिमें त्रस जीवोंको भी त्रससहितपनेका प्रसंग हो जायगा। त्रसकर्मका उदय होनेपर मनुष्य या तिर्थचकी आत्मामें रक्त, मांस, हुडी, चर्म, मज्जा आदि धातुओंको उत्पन्न करनेके लिये व्यक्त, अन्यक्त, पुरुषार्थ हो जाते हैं। देव नारिक्योंके धातुरहित वैकियिक शरीरके सम्पादक प्रयत्न हो जाते हैं। केन्तु स्थावर जीवोमें तादश पुरुषार्थ नहीं हो पाते हैं। स्थावरोंका शरीर रक्त, मांस, हुडीमय नहीं है। तथा नाम कर्मकी विशेष हो रही जीवमें स्वकीय अनुभव देनेवाली स्थावर प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुथे विशेष जीव तो स्थावर कड़े जाते हैं। किन्तु तिहादित इति स्थावरः इस प्रकृति उदयसे उत्पन्न हुथे विशेष जीव तो स्थावर कड़े जाते हैं। किन्तु तिहादित इति स्थावरः इस प्रकृति उदयसे उत्पन्न हुथे विशेष जीव तो स्थावर कड़े जाते हैं। किन्तु तिहादित इति स्थावरः इस प्रकृति इत्रार्थों विश्वति तर लहानाले व्यव्याप्त कड़े जाते हैं। किन्तु तिहादित इति स्थावरः इस प्रकृत शब्द मार्गों इथर उधर तिरक्षा बहनेवाले

वायु जीव, नीचे प्रदेशकी और हुलक जानेवाले जल जीव, ज्वालारूप अग्नि अवस्थामें उन्नं ज्वलन करनेवाले अग्निकायिक इत्यादि जीवोंको स्थावर रहितपनेका प्रसंग हो जावेगा। यदि कोई स्थूल बुद्धि-वाला प्रामीण पंडित यों कह देवे कि इस प्रकार तो हमको इह ही है। अर्थात्—वायु जलके जीव मले ही स्थावर न होकर त्रस हो जाओ, पृथिवी कायिक वनस्पति कायिक जीव स्थावर वने रहेंगे। स्थावर भी तेज और वायुको त्रस मान बैठे हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि आम्नायसे चले आरहे सर्वक्रप्रतिपादित शास्त्रोंके अर्थको तुम नहीं समझते हो। व्याकरणके चक्रमें पहकर व्याह्म, कुशल, सम्यग्दर्शन आदि शहोंके समान स्थावर शब्दकी भी निरुक्ति कर देनेसे ही पारिभाविक अर्थ प्राप्त नहीं हो। जाता है। यायु, जल, आदिके बीव त्रस हैं, ऐसा ऋषिप्रोक्त शासोंका अर्थ नहीं है। दिइन्द्रिय जीवोंसे लेकर चौदहवें गुणस्थानतकके जीव त्रस माने गये हैं। अतः त्रस और स्थावर कर्मके उदयसे ही त्रस स्थावर जीवोंको लक्षण युक्त करना ठीक पढ़ेगा, चलने और नहीं चलनेकी अपेक्षा त्रसस्थावरपना नहीं है। यौगिक अर्थसे कृदि अर्थ और ततोपि पारिभाविक अर्थ बलवान होता है।

त्रसाश्च स्थावराश्च त्रसस्थावराः । त्रसग्रहणमादावल्पाक्षरत्वादभ्यहितत्वाञ्च । संसारिण एव त्रसस्थावरा इत्यवधारणान्मुक्तानां तद्भावच्युदासः, त्रसस्थावरा एव संसारिण इत्यवधारणाद्विकल्पांतरिनश्चित्तः ।

त्रस और स्थावर अथवा स्थावर और त्रस भी चाहे कैसा भी विग्रह करो, दोनों पदोंका समास हो जानेपर " त्रसस्थावराः " पद बन जायगा। अल्प अक्षर होनेके कारण और पूज्यपना होनेसे राज्दशक्तिद्वारा त्रसका ग्रहण आदिमें आजाता है। संसारी इस उद्देश्य दलके साथ अन्ययोग व्यवच्छे-दक एवकार लगा देनेसे संसारीजीव ही त्रस और स्थावर दो भेदवाले हैं। अतः पूर्वोक्त दूसरे मुक्त जीवोंके त्रसपन और स्थावरपनका व्यवच्छेद हो जाता है तथा संसारी जीव तो त्रस स्थावर ही है। इस प्रकार विधेय दलमें अयोग व्यवच्छेदक एवकार द्वारा अवधारण कर देनेसे अन्य विकल्पों यानी भेदोंकी निष्ठति हो जाती है। अर्थात्—सभी संसारी जीव त्रस और स्थावर दो भेदोंमें ही गर्भित हो जाते हैं। अन्य विकल्पोंकी आकांक्षा नहीं रहती है।

कुत पुनरेवं प्रकाराः संसारिणो व्यवतिष्ठंत इत्याह ।

किसी शिष्यकी जिज्ञासा है कि यों ऋस और स्थानर यों दी प्रकारोंको धार रहे संसारी जीव मळा किस प्रमाणसे व्यवस्थित हो रहे हैं १ बताओ, ऐसी विनीत प्रतिपाधकी प्रतिपित्सा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

> त्रसास्ते स्थावराश्चापि तदन्यतरनिन्हवे । जीवतत्त्वभभेदानां व्यवस्थानाप्रसिद्धितः॥ १ ॥

वे संसारी जीव त्रस हैं और स्थावर भी हैं। यदि उन दोनोंमेंसे किसी भी एकका अविश्वास या अपकाप किया जायगा तब वो जीवतत्त्रके प्रभेदोंकी व्यवस्था करना अप्रसिद्ध हो जायगा । भावार्थ-जीवतत्त्व आकाशतत्त्वके समान अकेला नहीं है। किन्तु उसके संसारी और मुक्त दो भेद हैं। संसारी जीवोंके अस और स्थावर एवं असोंके भी दिइन्दिद, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तथा स्थावरोंके पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदि प्रभेद हैं। इन प्रभेदोंकी प्रमाणों द्वारा सिद्धि हो रही है। हिताहित पूर्वक किया, जन्म, मरण, स्मरण, पुरुषार्थ, आदिक कार्योको कर रहे त्रस जीव त्यारे न्यारे अनेक प्रसिद्ध ही हैं। तथा पृथिवी या कृक्ष आदि वनस्पतियोंमें भी युक्तियोंसे जीवसिद्धि कर दी जाती है। कोई कोई वैज्ञानिक कृक्षोंमें स्पर्शन, रसन, ब्राण, चक्षुः, श्रोतृ, इन पांची इन्द्रियोंको सिद्ध करनेका प्रयत्न कर रहे हैं । किन्तु उनका यह प्रयत्न न्यर्थ पड़ेगा । भले ही वनस्पति जीवोंमें चक्षः, कर्ण, आदि इन्द्रियों द्वारा होनेवाले कार्यसारिक परिणाम पाये जांय । चींटियां, मक्ली, आदि छोटे छोटे कीट पतंग भी मेघ बरसनेके पहिले बिळोंमें या घरोंमें घुसकर अपनी रक्षाका उपाय कर छेते हैं, सहर, काक, कितनी ही देर पहिलेसे आंधी आनेका अन्यर्थ, अचूक, ज्ञान कर छेते हैं ! एतावता वे कीट पतंग या पशपक्षी विचारे ज्योतिषशास्त्र या निमित्तशास्त्रोंके ज्ञाता नहीं कहे जा सकते हैं। बात यह है कि जगत्के पदार्थीमें प्रतिक्षण अनेक परिणाम होते रहते हैं। बृष्टिके पाईले वायु या पृथिशीमें ऐसी परिणतियां हो जाती हैं जिनको कि अपनी प्रात एक या दो तीन इन्द्रियों द्वारा अनुभव कर वे जीव अहित मार्गसे अपनी रक्षा कर छेते हैं। वक्षकी जड गीले स्थल या पानी अथवा गढे हुये धन की ओर अधिक जाती है। इतनेसे ही वह आंखवाला नहीं कहा जा सकता है। छूई मुई नामक बनस्पतिको छू छेनेसे कुछ देखे छिये मुस्ता जाती है, एतावता उसको छज्जाशील कुलीन की के समान मनइन्दियवाली नहीं कह सकते हैं। जीव पदार्थ तो क्या. जड पदार्थ भी निमि-त्तोंके मिछ जानेपर नाना परिणतियोंको धार छेते हैं। जो कि चेतन जीवोंको भी विस्मयकारक हो रंही है। पृक्षमें मद्दी, खात या जलसे बन गया रस यहां वहां वृक्षसम्बन्धी आत्माके अञ्यक्त अस्व-संत्रेच पुरुषार्यहारा फल, पत्ते, शाखार्ये, छाल आदिके उपयोगी होकर भेजा जा रहा है । किन्तु वहां आंखे नहीं हैं । चक्षण्मान् मनुष्य या पशुओंके पेटमैंसे भी अन्य शरीरके अवयवींकी पृष्टिके लिये रस रुधिर, आदि रवाने किये जाते हैं, किन्तु वहां पेटके भीतर चक्कुंका व्यापार नहीं है। वैज्ञानिकांके धरमें रक्खे हुये यंत्र भी वृष्टि, भूकम्प, प्रहगतिको बता देते हैं, किन्तु देवे जड पदार्थ अष्टाङ्ग निमि-त्तके ज्ञाता विद्वान् नहीं हैं । घडी, धर्मामेटर, आदि विशेष यंत्रों करके समयका परिज्ञान या उष्णता (गर्मी) शीतता (सदीं) का ज्ञान हो जाता है । तराजू या कांटा अथवा पुटा जितना ठीक पदार्थको तील देते हैं, बडा मारी नैयायिक या सिद्धान्तशास्त्री भी उतनी ठीक ठीक तील या नापको नहीं बता सकता है। छोटे बचेके अण्डकोषोंकी सिकुडन या ढीलेपनसे ठंड और उष्णताकी परीक्षा हो जाती है। हाथीकी ठीक लीख कर की जाती है। नदीमें वहा देनेसे ठीक गोल डण्डेके

काठका ऊपरला, नीचला भाग जान लिया जाता है। बात यह है कि जगत्वर्ती सम्पूर्ण पदार्थ प्रतिक्षण आश्चर्यकारक परिणितयोंका सम्पादन कर रहे हैं। न जाने किस परिणितसे आचिन्त्य निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धद्वारा कहां जड या चेतनद्वारा कैसा कैसा भाव उपज बैठे हैं। यह परका सिद्धान्त है कि कारणके त्रिना कार्य नहीं होता है। साइन्स, न्याय, और गणित इसी राह्यान्तपर अवलम्बित हैं। जिनशासनमें कार्यकारणभावकी पोल नहीं चलती है। अतः उन ज्ञान हो जानेरूप कार्योंमें मात्र तत्त्वींके परिणाम कारण हैं, इन्द्रियां नहीं । माताके उदरमें बच्चा बन जाता है, इतने ही से उस पेटको विश्वकर्मा नहीं कह दिया जाता है। इसी प्रकार वृक्षोंमें अन्तरंग, बहिरंग, कारणी द्वारा हुये परिणामोंके कार्योंको चक्षः, रसना, कान, इन इन्द्रियोंका कर्त्तव्य नहीं गढ-लेना चाहिये । पांच स्थावर काय जीवोंके एक ही स्पर्शन इन्द्रिय है. अधिक नहीं । गिडार आदि त्रसोंमें दो आदिक इन्द्रियां हैं। गिडारे, दीमकें अपने रहनेके स्थानोंको बनां छेती हैं। चीटियां योग्य ऋतुओंमें धान्योंका संग्रह कर लेती हैं। संचित धान्य बिगडे नहीं इसलिये वे धान्यको बाहर निकाल-कर उचित घाम, बाय, चिन्द्रिस, लगा देती है। पुनः भीतर धर देती हैं। बर्रे, भीरी, मधु, मन्खी, ये अपने छतोंको बनाती हैं। बचोंके शरीरके उपयोगी पद्गल पिण्ड या झींग्रर, लटों को लाकर स्वकीय जातिके श्राणियोंको बनालेती हैं। भिन्न भिन्न ऋतुओंमें एक स्थानको छोड कर अन्य उपयोगी स्थानपर पहुंच जाती हैं। पुनः उसी स्थानपर आजातीं हैं। मकडी चालाकीसे जीवोंको फसानेके लिये जाला परती है। एक प्रकारका छोटासा कीट रेतमें चारों ओरसे छढ़ काऊ गोल गड़ढा बनाकर उसमें किया रहता है और रपटकर खन्नेमें गिर पड़े, चीटियां, गुबरीले, आदिको मक्षण कर लेता है। बनकी झाडियोंमें या किन्ही किन्ही ज्यार, बाजरा या मेंदिके बृक्षोंपर एक मायाचारी, भयाछ कीट विशेष अपने चारों ओर गाढे चेंपवाले फस्कुरु को फैलाकर मध्यमें बैठ जाता है। और यहां वहांसे आकर फसूकुरुमें चुपटकर फंसगये कीट पतंगोंको खाजाता है। कोई बृक्ष भी कीट, पतंग, या पक्षियोंको पकडकर पता छेते हैं। ये सब कार्य विचारनेवाछे मनके द्वारा होनेवाछे कार्यसारिले दिलते हैं। किन्तु उक्त कीट पतंगोंके मन नहीं माना गया है। बात यह है कि ज्ञान भी बहुत बड़े बड़े कार्योको साधता है। कीट पतंगोंके ज्ञान, इच्छा, राग, देव, कषायें विद्यमान हैं। उनके द्वारा उक्त कार्य क्या इनसे भी अत्यधिक विस्मयकारक कार्य हो सकते हैं। जैन न्यायशास्त्रमें ' हिताहितप्राप्तिपरिहार-समर्थ हि प्रमाणं तती ज्ञानमेत्र तत्" इस सत्र अनुसार हित्तकी प्राप्ति कर छेना और अहितका परिहार करते रहना ज्ञानका ही कार्य बताया गया है। जड कर्म भी बहुत कार्य कर देते हैं। शरीरमें प्रविष्ट होकर औषि वहां जधम मचा देती है। आम्र रस रेचक है। दूध भी रेचक है। किन्तु आम खाकर दूध पीलिया जाय तो मल थंब जाता है। खरवूजा रचन करता है, सरबत भी मलको पतला कर देता है। हां, खरबूजा खाकर बूरेका सरवत पीलेनेसे पाचन हो जाता है। आत्माकी अनेक कियाओं में जडकर्मका भी हाथ है। यहां प्रकरणमें इतना है। कहना है कि अनेक प्रकारके त्रस और स्थातर जीवोंकी व्यवस्था प्रसिद्ध हो रही है।

स्यापराः एव सर्वे जीवाः परममहत्त्वेन निष्क्रियाणां चलनासंभवात्त्रसत्वानुषपत्तिति नसनिन्हबस्तावश्व युक्तः, स्वयमिष्टानां जीवतत्वप्रभेदानां व्यवस्थानाप्रसिद्धिप्रसंगात् सर्वगतात्म-न्येकत्रैव नानात्मकार्यपरिसमाप्तिः । सकुत्रानात्मनः संयोगो हि नानात्मकार्ये तश्चकत्रापि प्रयुज्यते नभसि नानाघटादिसंयोगवत् । एतेन युगपन्नानाशरीरेद्रियसंयोगः प्रतिपादितः ।

वैशेषिक या किसी अन्य विद्वानका कुलित पक्ष है कि जगत्के सम्पूर्ण जीव स्थावर ही हैं। क्योंकि परम महा परिणाम होनेके कारण कियारहित हो रहे व्यापक जीवोंका देश देशान्तरमें चलाय मान होना असम्भव है। जो जीव यहां, वहां, नहीं चल सकता है, उसको त्रसपना नहीं बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार त्रसजीवींका अपलाप (निषेध) कर देना तो युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि यों तो स्वयं उनको अभीष्ट हो रहे जीवतत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्थाके अप्रसिद्ध हो जानेका प्रसंग आवेगा. जो कि इप्ट नहीं पड़ेगा। अर्थात-अत्माको व्यापक मान लेनेपर फिर अनेक जीवोंके मान-नेकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। सर्वस्थानोंपर प्राप्त होकर व्याप्त हो रहे एक ही आत्मामें अनेक आत्माके कार्यीकी परिपूर्ण रूपसे समाप्ति हो जायगी । अतः अनेक आत्माओंकी कल्पना करना व्यर्थ पडेगा । देखिय एक ही त्रारमें अनेक आत्माओंका संयोग हो जाना ही तो अनेक आत्माओंका कार्य माना गया है। किंत वह कार्य तो एक व्यापक आत्मामें भी प्रयुक्त किया जा सकता है। जैसे कि एक व्यापक आकाशमें अनेक घट, पट, आदि पदार्थीका संयोग होना युक्तिघटित हो जाता है, इस उक्त कथन करके प्रन्थकारने यह भी समझा दिया है कि न्यापक एक आत्मामें युगपत् अनेक शरीर और अनेक इन्द्रियोंका संयोग हो जाना भी बन जाता है, ताकि वैशेषिक यों न कह सके कि एक आत्माके माननेपर अनेक शरीर और नाना इन्द्रियोंका एक साथ संयोग कैसे हो सकेगा ?। सुदक्ष प्रन्थकार स्थावरजीवींका ही एकान्त माननेवाले पण्डितके सन्मुख व्यापक एक आत्माका ही आपादन कर अभीष्ट अर्थको मनवाना चाहते हैं । अन्य मतका खण्डन और अपने मतका स्थापन इसके कई मार्ग हैं । समी स्थलींपर एक ही औषधि कार्यको नहीं साधती है।

युगपनानाशरीरेष्वात्मसमवायिनां सुखदुःखादीनामनुपपत्तिविरोधात् इति चेत्, युग-पनानाभयादिष्वाकाशसमवायिनां विततादिशब्दानामनुपपत्तिपसंगात् तद्विरोधस्याविशेषात्। तथाविधश्रव्दकारणभेदान तदनुपपत्तिरिति चेत् सुखादिकारणभेदात्तदनुपपत्तिरप्येकशात्मनि माभूत् विशेषाभावात्। विरुद्धधर्माध्यासादात्मनो नानात्विमिति चेत्, तत एवाकाशनानात्व-मस्तु। मदेशभेदोपचाराददोष इति चेत्, तत एवात्मन्यदोषः। जननमरणादिनियमोपि सर्व-गणात्मवादिनां नात्मबहुत्वं साध्येत्, एकशापि तदुषपत्तिधटाकाशादिजननविनाश्चवत्। निह घटाकाश्रस्योत्यत्ती पद्मधाकाशस्योत्पत्तिरेव तदा विनाशस्यापिदर्शनात्। विनाशे वा न विनाश एव जनमस्यापि सदोपकंभात् स्थिती वा न स्थितिरेव विनाशोत्पादयोरिष तदा समीक्षणात्।

यदि अनेक व्यापक आत्माओंको माननेवाले नैयायिक यों कहें कि एक ही व्यापक आत्माके माननेपर तो नाना शरीररूपी उपाधियोंमें आमस्य होकर समग्राय सम्बन्धसे ठहर रहे सुख, द्रःख, द्वेष, प्रेम, शयन, जागरण, आदिकी युगपत् सिद्धि नहीं हो सकती है। क्योंकि विरोध है। अनेक आत्माओं के माननेपर तो किसीमें सुख है, अन्य जीवमें द:ख है, तीसरा सीता है, चौथा जागता है, इत्यादि अनेक कार्य सब जाते हैं । किन्तु एक ही आत्मामें व्यापक मान छेनेपर भी एक साथ विरुद्ध कार्य नहीं हो सकते हैं. यें। कडनेपर तो थोड़ी देरके छिये विनोदपूर्वक एक ही आत्माकी पृष्टि करने-वाले आचार्य कहते हैं कि तब तो अकेले आकाशमें भी एक ही साथ अनेक नगाडे, दोल, तुरई, आदि उपाधियोंमें अवछित्र हो रहे आकाशमें समनायको धारनेवाछे वितत, घन, सुषिर, निषाद, आदि शन्दोंकी असिद्धि हो जाने (सिद्धि नहीं हो सकने) का प्रसंग होगा। उस विरोध और इस विरोधका कोई अन्तर नहीं है। अर्थात्-एक आकाशमें यदि भिन्न जातिके मन्द, तीक्ष्ण, कर्करा, मृद, पंचम, मध्यम, आदि अनेक शब्दोंको मान छोगे तो उक्षी प्रकार एक ही आत्मामें शरीरोंकी उपाधिके मेदसे सुख, दु:ख, आदि होना बन जाएगा। यदि एक भिन्न जातिके सुख, दु:ख, आदिकी सिद्धिका विरोध मानो तो एक आकाशमें नाना, मृदंग, शतरंगी (सारंगी) आदि उपाधियों द्वारा वितत, घन, आदि शद्धोंकी सिद्धिका भी वैसा ही विरोध बन बैठेगा । यदि वैशेषिक या नैयायिक यों कहें कि तिस प्रकारके वितत आदि शहों के कारण हो रहे वादित्र, बाजे, तार, चर्म, आदि पदार्थों भेदसे हुये नाना शहों को अकेला आकाश धार लेता है। अतः उन अनेक राद्वोंकी आकारामें असिद्धि नहीं है। यों कहनेपर आचार्य कहते हैं कि सुख, दु:ख, आदिके न्यारे न्यारे कारण बन रहे पदार्थींके भेदसे एक साथ एक आत्मामें भी सुख, दु:ख, आदि हो जायेंगे, उनकी भी असिद्धि नहीं होने पाने । उपाधिभेदसे एक साथ अनेक समनेत गुणोंको धार छेनेकी अपेक्षा आकाश और आत्मामें कोई विशेषता नहीं है। यदि तुम वैशेषिक यों कही कि कोई पण्डित है, अन्य प्रामीण मूर्व है, एक नागरिक धनिक है, चौथा अपन्ययी दिख हो गया है, एक सराग है, दूसरा वीतराग है, कोई शृंगार रसका अनुरागी है, दूसरा शांतिरसमें निमप्त है, एक दाता है, दूमरा पात्र है, कोई सुखी है, कोई दुःखी है, इत्यादिक विरुद्ध धर्मीके आरूढ हो जाने से जीव तत्त्वको अने अपना साध दिया जाता है। या कहनेपर तो आक्षेपकार हम जैन भी कह देंगे कि तिस ही कारणसे आकाश द्रव्य भी नाना हो जाओ । आकाशमें भी अनेक विरुद्ध धर्मीका अध्यास हो रहा है। कहीं मन्द शद्ध है, कहीं तीत्र शद्ध है, कचित् छोटा, बडा, शद्ध गूंज रहा है। यदि वैशेषिक यों कहे कि एक अखण्ड आकाश की उपचारत भिन्न भिन्न प्रदेश मान लिये जाते हैं। अतः आकाशके किसी प्रदेशमें ढोलका शद्ध है अन्य प्रदेशमें तृतीका शद्ध है। तीसरे प्रदेशमें घन हैं । चौथे प्रदेशमें बितत है । यो बाहनेपर तो हम जैन कह देंगे कि तिस ही कारणसे आत्मामें भी कोई देश नहीं आता है, अर्थात् सर्वच्यापक एक ही अखण्ड आत्माके उपचारमे

प्रदेश भेदोंको मानकर कहीं सुख, अन्यत्र दुःख, किचित् मूर्जता, कहीं कहीं पण्डिताई इन धर्मीका सम्बन्ध बन जाता है। आत्माको सर्वगत कहनेवाले वादियोंके यहां जन्म लेना, मरना, बंध जाना, मुक्त हो जाना, आदि नियम भी आत्माके बहुतपनको नहीं साध सकेंगे। क्योंकि एक भी आत्मामें उपाधिओंके भेदसे उन जन्म लेना, मरण करना, आदिकी सिद्धि बन जाती है, जैसे कि एक आत्मामें घटाकाशका उपज जाना और कपाल आकाश या पटाकाशका विनाश होना युगपत् सिद्ध हो जाता है। घट उपाधिसे नापे गये आकाशकी उत्पत्ति हो जानेपर पट उपाधिवाले आकाश या कपाल उपाधिवारी आकाशकी मी उत्पत्ति ही होवे, ऐसा कोई नियम नहीं है। उस समय एक उपाधिवाले आकाशकी उत्पत्ति होनेपर अन्य उपाधिवाले आकाशको विनाशका भी दर्शन हो रहा है अथवा किसी विशेषणसे अविच्छन हो रहे आकाशका विनाश हो जानेपर सभी विशेषणोवाले अन्य अन्य आकाशका भी विनाश ही हो जाय ऐसा नहीं है। किन्तु उस विनाश होनेक समय अन्य कार्यावच्छित्र आकाशकी उत्पत्ति भी देखी जा रही है। किसी उपाधिवारी आकाशकी स्थिति होनेपर सभी उपाधिवाले आकाशकी स्थिति ही नहीं होती रहती है। उस स्थितिके समयमें विनाश और उत्पादका भी मला दर्शन हो रहा होती रहती है। उस स्थितिके समयमें विनाश और उत्पादका भी मला दर्शन हो रहा है। बात यह है कि आकाशको एक माननेपर जीव तत्त्व भी एक ही मानना अनिवार्थ पढ़ेगा। यदि जीवतस्वको अनेक मानोगे तो आकाश तत्त्व भी अनेक मानने पढ़ेगे। न्यायमार्गमें किसीका पक्षपात नहीं चळता है।

सित बंधे न मोक्षः सित वा मोक्षे न बंधः स्यादेकत्रात्मिन विरोधादिति चेक, आका-शेपि सित घटवन्ते घटांतरमोक्षाभावमसंगात् । सित वा घटविश्लेषे घटांतरिवश्लिषमसंगात् । मदेशभेदोपचारात्र तत्मसंग इति चेत्, तत एवात्मिन न तत्मसंगः । कथमेक एवात्मा बद्धो मुक्तश्र विरोधादिति चेत्, कथमेकमाकाशं घटादिना बद्धं मुक्तं च युगपदिति समानमेतचोद्यम् । नभसः मदेशभेदोपगमे जीवस्याप्येकस्य मदेशभेदोस्त्वित कुतो जीवतत्त्वप्रभेदव्यवस्था । तत-स्तामिच्छता कियावंतो जीवाश्रस्त्वतो असर्वगता एवाभ्युपगंतव्या इति त्रससिद्धिः ।

यदि पूर्वपक्षी वैशोषिक यो कहें कि एक ही आत्माके स्वीकार करनेपर तो एक आत्माका बन्ध हो जानेपर मोक्ष न हो सकेगी अथवा मोक्ष हो जानेपर बन्ध नहीं हो सकेगा। क्योंकि एक ही आत्मामें विरुद्ध माने गये बन्ध या मोक्ष दोनोंके होनेका विरोध है। किन्तु जगत्में बहुतसी आत्माओंके बन्ध हो रहा है और अनेक आत्माओंको मुक्ति प्राप्त हो रही है। आचार्य व हते हैं कि यह उपाय तो नहीं रचना। क्योंकि यों तो एक आकाशके माननेपर भी आकाशको घटसहितपना होनेपर अन्य घटोंसे या पट आदिसे मोक्ष होनेके अभावका प्रसंग होवेगा। अथवा प्रकरणप्राप्त घटका आकाशके साथ विश्वेष हो जानेपर अन्य घटोंके साथ भी विश्वेषण हो जानेका प्रसंग बन बैठेगा। अर्थात् —जब आकाश एक ही है तो घटके साथ संयोग हो जानेपर सभी घटोंके साथ संयोग ही

बना रहना चाहिये या गृहमें आकाराके साथ घटका विभाग हो जानेपर अन्य घट, पट, आदिके साथ भी विभाग हो जायगा । एक अखण्ड आकाशमें किसीके साथ विश्लेष और अन्यके साथ संयोग मानना तो विरुद्ध पडेगा । यदि वैशेषिक उपचारसे आकाशके छोटे छोटे प्रदेशोंके भेदको मानकर उस प्रसंगका निवारण करेंगे तब तो उस ही कारणसे यानी अखण्ड, एक, व्यापक, आत्मामें उपचारसे श्रदेशमेदों की कल्पना कर उस बन्ध या मोक्ष के प्रसंग का भी निषेध हो जाता है तो फिर आत्माको आकाराके समान एक माननेमें अथवा अनेक आत्माओंके समान आकाराको भी अनेक माननेमें क्यों आपत्तियां उठाई जाती हैं ! । यदि पूर्वपक्षी यों कहे कि एक ही आत्मा भछा बद्ध और मुक्त भी कैसे हो सकता है ? क्योंकि सहानवस्थान नाम हा विरोध है । जिस आत्मामें बद्धपना है वहां मुक्ति नहीं और जहां मुक्तपना है वहां बद्धपना नहीं घटित हो पाता है । यों कहनेपर तो जैन भी कटाक्ष कर सकते हैं कि एक ही आकाश विचारा घट, पट, आदि करके बन्न रहा और उसी समय दूसरेंसि छूट रहा भला युगपत् किस ढंगसे साधा जा सकता है ? इस प्रकार एक आत्माका पक्ष के लेनेपर हमारे ऊपर उठाया गया यह आपत्ति या अनुपपतिरूप चोध आकाश को सर्वथा एक माननेवाले तुम्हारे ऊपर भी समान रूपसे छायू हो जाता है । इां, यदि तुम आकाशके प्रदेशींको भिन्न भिन्न स्वीकार कर लोगे तब तो हमारे यहां एक ही जीवके भी प्रदेशोका भेद हो जाओ । इस प्रकार जीव तत्त्वके भेद प्रमेदोंकी व्यवस्था भला कैसे हो सकेगी ! मनुष्य, पश्च, पक्षी, माता, पिता, गुरु, बहिन, बेटी, ये सब अनेक प्रकारको जीव तुम्हारे यहां माने गये हैं। तिस कारण उस जीव तत्त्वके प्रमेदीकी व्यवस्थाको चाहनेवाले तुम करके कियासिहत हो रहे जीव चलने, फिरनेकी अपेक्षासे असर्वगत ही स्वीकार कर छेने चाहिये। कीट, पतंग, पशु, पक्षी, सब चलते, घूमते, अन्यापक ही देखे जा रहे हैं। इस युक्तिसे त्रस जीवोंकी सिद्धि हो जाती है। "स्थावरा एव " यहांसे छेकर " त्रससिद्धिः " तक प्रकरण द्वारा स्थावर जीवोंके एकान्तका निराकरण कर त्रसजीवोंको भी साध दिया है।

त्रसा एव न स्थावरा इति स्थावरिन्हवोषि न श्रेयान्, जीवतत्त्वप्रमेदानां व्यवस्थाना-मसिद्धिप्रसंगात् । जीवतत्त्वसंतानांतराणि हि व्यवस्थापयम प्रत्यक्षाद्धवस्थापयिद्धमहिति तस्य तत्राप्रदृत्तेः । व्यापारव्याहारिलंगात्साध्यतीति चेत् न, सुपुप्तमूर्छिताण्डकाद्यवस्थानां संतानांत-राणामव्यवस्थानुपंगात्तत्र तदभावात् । आकारिवशेषात्तत्सिद्धिरिति चेत्, तत एव वनस्यति-कायिकादीनां स्थावराणां प्रसिद्धिरस्तु ।

कोई एकान्तवादी कह रहे हैं कि संसारमें सब जीव त्रस ही हैं। स्थावर जीव कोई भी नहीं है, मन्थकार कहते हैं कि यों अन्यायी राजाकी आज्ञाके समान स्थावरजीवोंका अपलाप करना (होते हुओंका निषेध करना) श्रेष्ठ नहीं है। हेतु हमारा वही है जोकि वार्तिकके उत्तरार्धमें कहा गया है। अर्थात्—जीव तत्त्वके प्रभेदोंकी व्यवस्थाके अप्रसिद्ध हो जानेका प्रसंग तुम्हारे ऊपर उठा दिया जावैगा।

देखिये, जीव तत्त्वके प्रमेद श्वरूप गुरु, माता, पिता, मित्र, पशु, पशी आदिकी भिन्न भिन्न सन्तानीके नियमसे व्यवस्था करा रहे आप या और कोई आपका मित्र मला प्रत्यक्षसे तो उनकी व्यवस्था करा-नेके लिये समर्थ नहीं हो सकता है। न्योंकि उस युष्पदादिकोंके प्रत्यक्ष प्रमाणकी उन अनेक सन्तानोंके जाननेमें प्रश्नित नहीं हो रही है। इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष तो जड पदार्थीने रूप, रस, आदिको ही जान पाता है। और मानस प्रत्यक्ष केवल अपनी आत्मा या उसके सुख, दु:ख, आदिकोंकी संबित्ति कर लेता है। अन्य आत्माओंकी व्यवस्था करानेमें प्रत्यक्षकी सामर्थ्य नहीं है। हां, यदि तुम शारीरिक न्यापार करना, बचन बोलना, हित अहित क्रिया करना, आदि झापक हेतुओंसे उन अन्य संतानोंकी सिद्धि कराओगे सो उस अनुमानका हेतु तो ठीक नहीं पड़ेगा । भागासिद्ध हेत्वाभास जायगा । क्योंकि यों गादरूपसे सोजानेकी या मुर्छी प्राप्त अवस्था अण्डेकी दशा आदिक अवस्थाओंको प्राप्त हो रहे सन्तानान्तरीकी अन्यवस्था. अथवा व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसंग होगा । क्योंकि उन सुप्त आदिक दशाओंमें जीव है, किन्तु उन दशाओंमें उन शरीरिक्रया, वचन, उचारण, आदिक ज्ञापक लिंगोंका अभाव है। यदि मागासिद्ध हेत्का परित्याग कर जीवित अवस्थामें होनेवाले आकारविशेषसे सुष्ठत आदि दशाओंमें भी उन सन्तानान्तरोंके जीविततत्त्रोंकी व्यवस्था करोगे तब तो उस ही आकार विशेषसे वनस्पतिकायिक. पृथिवीकायिक, आदिक स्थावर जीवोंकी भी प्रसिद्धि हो जाओ । मनुष्य, पश्च, पक्षी, पतंग, कीटके समान घास, मही, आदिमें भी चैतन्यका साधक आकार विशेष पाया जाता है। भग्नक्षत संरोहण हो रहा देखा जाता है।

कः पुनराकारिकोषो वनस्पतीनां आहारलाभालाभयोः पुष्टिग्लानलक्षणः ततो यदि वनस्पतीनामसिद्धिरात्मनां तदा संतानांतराणामपि मूर्छितादीनां कुतः सिद्धिरिति जीवतस्त्व-मभेदं व्यवस्थापयता त्रसस्यावरयोगरन्यतरिनन्दवो न विधेयः।

सन्भुख बैठा हुआ एकान्तवादी पूंछता है कि वनस्पति जीवोंके कीनसा आकार विशेष है, जो कि उनको जीवतत्वका प्रभेद साथ देगा ? इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि आहारके लाम और अलाम होने पर पुष्टि और ग्लानि हो जाना यही उनके आकार विशेषका लक्षण है। अर्थात्—वनत्पतियोंको खात, जल, मृत्तिका, वायु, आदिका आहार प्राप्त हो जाता है, तब तो वे हरे, मरे, पुष्ट, दीखते हैं और योग्य आहार नहीं मिलनेपर उनमें म्लानता आ जाती हैं, कोई कोई तो सूखकर मर जाते हैं। इस बातको वर्त्तमानके विज्ञानवेत्ताओंने भी युक्तियोंसे साथ दिया है। मेख, जल, सूर्यिकरणें, स्वच्छ वायु, इनका आहार करना समान होनेपर भी कई जातिकी वनस्पतियां भिन्न मिल प्रकार के खातों की अपेक्षा रखतीं हैं। कोई कोई वनस्पति तो रक्त, मांसका खात मिलनेपर परिपृष्ट होती हैं। कई वन पतियां अप्रि हारा तपानेपर शीतवाधाके मिट जानेसे पुष्ट होती हैं। शाखा, उपशास्त्राके टूट जानेपर पुनः प्ररोह हो जाता है। अतः हक्ष, वेल, घास, आदि वनस्पति-

योंमें अनुमान प्रमाण द्वारा जीव तत्त्वको साध छेना चाहिय । पर्वतों या खानोंमें भी आकार विशेष पाया जाता है । अग्नि, जल, वायुंम भी युक्ति और आगमसे जीव तत्त्वको साध छेना चाहिये । बिद्यान (साइन्स) के प्रयोगोंकी वृद्धि होनेपर इनमें भी जीवके साधक अनेक उपाय प्राप्त हो सकते हैं । तिस कारणसे यदि वनस्पति जीवोंकी उस आकारविशेषसे सिद्धि नहीं मानोंगे तब तो मूर्छित या गाढ सोरहे आदि जीवोंके न्यारी न्यारी चैतन्य सन्तानोंकी भी सिद्धि महा कैसे कर सकोंगे ! सन्तानान्तर या मूर्छित, गर्भस्थ, आदिके जीव तत्त्वोंकी व्यवस्थाका जो उपाय है वही स्थावर जीवोंका भी निर्णायक है । इस प्रकार जीव तत्त्वके प्रभेद हो रहे सन्तानान्तर या सुष्क्र भादिक प्रभेदोंकी व्यवस्था करानेवाले विद्यान करके त्रस और स्थावर दोनों प्रकारके जीवोंमेंसे किसी भी एकका निन्हव नहीं करना चाहिये । यहांतक त्रस और स्थावर दोनों प्रकारके जीवोंमेंसे किसी भी एकका निन्हव नहीं करना चाहिये । यहांतक त्रस और स्थावर दोनों अकारके जीवोंमेंसे किसी भी एकका निन्हव नहीं

कोत्र विशेष १ स्थावरा इत्याइ।

इन सामान्य रूपसे जान लिये गये त्रस, स्थावर जीवोमें कौन कौन विशेष प्रभेद हैं ! ऐसा प्रश्न होनेपर प्रथम ही स्थावरोंके विशेष हो रहे भिन्न भिन्न जातिके जो स्थावर हैं, इस बातको प्रन्थकार श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्र द्वारा स्पष्ट कह रहे हैं । त्रस जीवोंका व्याख्यान अधिक करना है । अतः आनुपूर्वीकी अपेक्षा नहीं कर " सूचीकटाह " न्याय अनुसार पिहले स्थावर जीव ही कहे जा रहे हैं । लुहारके पास एक मनुष्य पिहले करेह्या बनवाने आया । उसके पिछ दूसरा लड़का छुई बनवाने आया । यहां क्रमका उल्लब्धन कर लुहार पिहले छुईवालेको निवटा देता है । इस कियाका नाम " सूचीकटाह न्याय" है । छुई पाव घडीमें बनती है, करेह्या बनानेमें दिन भर लग जायगा ।

पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः स्थावराः ॥ १३ ॥

पृथिवी, जल, तेज, वायु, वनस्परित ये पांच प्रकारके स्थावर जीव हैं। यहां पृथिवीजीव, पृथिवीकायिक, जलजीव, जलकायिक, तेजोजीव, तेजस्कायिक, वायुजीव, वायुकायिक, वनस्पतिजीव, वनस्पतिकायिक, ये स्थावर जीव माने जाते हैं।

पृथिवीकायिकादिनामकर्मोदयवक्रात्यृथिच्यादयो जीवाः पृथिवीकायिकादयः स्थावराः प्रत्येतच्या न पुनरजीवास्तेषामप्रस्तुतत्वात् ।

मूल प्रकृति माने गये नामकर्मकी उत्तर प्रकृति स्थावर नामक कर्म है । उसके भेद हो रहे पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, आदि नामकर्मके उदयकी अधीनतासे अथवा असंख्याते उत्तरभेदोंको धारनेवाली गिन नामक प्रकृतिकी विशेष हो रही तिर्थगातिके अभेदोंके उदयसे पृथिवी आदिक जीव ही पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदिक स्थावर समझ छेने चाहिये। किन्तु फिर पृथिवी,

पृथिवीकाय, जल, जलकाय, आदि अजीव पदार्थ तो स्थावर नहीं हैं। क्योंकि जीव तत्त्वके भेद प्र दोंको गिनानेके अवसरपर उन अजीवों हा प्रस्ताव प्राप्त नहीं हैं। अर्थात्—ऋषिप्रोक्त शासोंमें प्रत्येकके पृथिती आदिक चार भेद कहे हैं। पृथिती, पृथितीकाय, पृथितीकायिक, पृथितीजीव, एवं ज जलकाय, जलकायिक, जलजीव, इत्यादि समझ लेना । मोटी, कठिनता, आदि गुण स्वरूप हो र अचेतन मिद्दी, पत्थर, खडी, गेरू, कंकड, रत्न ये तो सामान्य रूपसे पृथिवी हैं। पृथिवीकारि जीव द्वारा मरकर शीघ्र छोड दिया गया जडपिण्ड तो पृथिवीकाय बोळा जाता है। जैसे कि मन मरता हुआ अपने शबको छोड देता है। वर्तमानमें जिस जीवके प्रथिवीकाय वर्त रही है वह ज प्रधिवीकायिक है. जिसका कि अपनी आयुर्पयन्त उस कायसे सम्बन्ध बना रहता है। और वि जीवके प्रथिवीकायिक नामकर्मका उदय प्राप्त हो गया है, किन्त अभीतक विष्रह गतिमें पड़ा ह कार्मण काय योगमें स्थित है, जबतक वह प्रथिवीको नोकर्म शरीररूप करके प्रहण नहीं करता तबतक वह प्रथिवीजीव है। यही ढंग अन्य जल आदि चारों भेदोमे लगा लेना। पहिलेके प्रथिवी अं प्रधिवीकाय ये दो भेद तो अजीव स्वरूप हैं। और तीसरे चौथे ये दो भेद जीवतत्त्व हैं। अथवा पी दो भेदोंमें कोई विशेष अन्तर नहीं है, कुछ देर पहिले मरे हुये और बहुत दिन पहिले मरे हुये। इमशान भूमिमें गर्भित हो जाते हैं । अतः प्रथिशीको सामान्य मान कर उत्तरक्ती तीनों भेदोंमें उस अन्वय कर छेना चाहिये। प्रथिशीकाय और प्रथिवीकायिक, जलकाय और जलकायिक, तेजस्क और तेजस्कायिक, वायुकाय और वायुकायिक वनस्पतिकाय और वनस्पति कायिक ये स्थावर जीव व शेष पृथिवी या पृथिवीकाय आदि जडोंको यहां स्थावरोंमें गिनना नहीं चाहिये।

कुतस्ते अवोद्धच्या इत्याह ।

वे पृथित्रीकायिक आदिक जीत्र कैसे किस प्रमाणसे समझ छेने चाहिये हैं ऐसी जिज्ञासा होने श्री विद्यानन्द आचार्य समाधानको कहते हैं । उसको दत्तावधान होकर श्रवण करो ।

जीवाः पृथ्वीमुस्तास्तत्र स्थावरा परमागमात् । सुनिर्वाधात्प्रबोद्धव्या युक्त्या एकेंद्रिया हि ते ॥ १ ॥

उन जीवोंमें पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदिक जीव स्थावर हैं। ये सिद्धान्त प्रक्षित ज तो मले प्रकार वाधाओं से रहित हो रहे सर्वज्ञ उक्त, उत्कृष्ट, आगमसे अच्छे समझ लेने चाहिये। पृथिवीकायिक आदि जीव नियमसे युक्तियों करके भी एक स्पर्शन इन्द्रियवाले साध दिये जाते हैं अर्थात्—सर्वज्ञकी प्रवाह धारासे चले आ रहे आगम द्वारा स्थावरों की सिद्धि प्रधान रूपसे हो ज है तथा वैज्ञानिक प्रयोंगों द्वारा युक्ति करके भी पृथिवी, जल, आदि शरीरोंको धारनेवाले जीवों सिद्धि हो जाती है। सूक्ष्म यंत्रोंसे मही या जलमें छोटे छोटे रेंगते हुये जो कीट दीखते हैं वे सब : जीव हैं। किन्तु मिट्टी या जल ही जिन जीवोंका शरीर है वे स्थावर जीव हैं। एक मिट्टीकी छोटी देली कालों करोड़ों वस्तुत: असेल्याते जीवोंका औदारिक शरीर पिण्ड है। इसी प्रकार एक जलकी बूंद भी असेल्य जलकायके जीवोंके प्रहण किये हुये शरीर हैं। अप्रि, वायु, बनस्पतिके शरीरोंको भी अनेक एकेंद्रिय जीवोंने प्रहण कर रक्खा है। घनाङ्गुलके संख्यातवें भाग या असंख्यातवें भाग एक जीवकी अवगाहना है। हां, बनस्पतिजीव घास बक्ष आदि थोंडसे तो संख्यात घनाङ्गुल प्रमाण भी हैं। किन्तु बहुभाग चनाङ्गुलके असंख्यातवें या संख्यातवें भाग छोटी अथगाहनावाले हैं।

संति पृथिवीकायिकादयो जीवा इत्यागमात् पृथिवीकायिकादिसिद्धिः । कुतस्तदागमस्य मामाण्यनिश्चय इति चेत् , सर्वथा वाभकरहितत्वात् । न ह्यस्य प्रत्यक्षं वाथकं तदविषयत्वात् ।

उक्त कारिकाका विवरण यों है कि " पृथिवीकायिक, जलकायिक, आदि जीव विद्यमान हैं " इस प्रकारके आगमकाक्यसे पृथिवीकायिक, आदि जीवोंकी अच्छी सिद्धि हो जाती है। कोई प्रश्न करता है कि उस आगमको प्रमाणपनेका निश्चय कैसे किया जाय ? जिसमें कि पृथिवीकायिक आदि जीवोंका सद्भाव माना गया है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि सभी प्रकार बाधक प्रमाणोंका रहितपना होनेसे आत पुरुष करके उपज्ञ हो रहे आगमका प्रमाणपना जान लिया जाता है। देखिये, " सुद्वमणिवातेआभूवातेआपृणिपदिद्विदं इदरं। " " पुढविदगागणिमारुदसाहारणथूल सुहमपत्तेया" " पुढविआऊतेऊवाऊ कम्मोदयेण तत्थेव, णियवण्यच अक्क जुदो ताणं देहो हवे णियमा" इसादिक इन आगम वाक्यों या इनसे भी प्राचीन आर्ष प्रन्थोंको बाधा देनेवाला प्रस्यक्षप्रमाण तो नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण उन अतीन्द्रिय पदार्थोंको विषय नहीं करता है। जो प्रमाण जिस विषयमें नहीं चलता है वह उसका साधक या बाधक नहीं समझा जाता है। जो प्रामीण भोला किसान वैद्य विद्याको नहीं जानता है, उसमें उसका सपक्ष या विपक्ष क्रपसे टांग अहाना अनुचित है।

पृथिन्यादयो अचेतना एव न्यापारन्याहाररहितत्वाद्धस्मादिवत् इत्यतुमानं वाधकमिति चैक, अस्य सुपुप्तादिनानेकांतात् । तस्यापि पक्षीकरणमयुक्तं समाधिस्थेनानेकांतात्, पक्षस्य प्रमाणवाधानुषंगात् । सांख्यस्य सुक्तात्मना न्यभिचारात् ।

कोई कटाक्ष कर रहा है कि पृथिबी, जल, आदिक (पक्ष) अचेतन ही हैं (साध्य)। क्योंकि वे शारीरिक व्यापार करना, बोलना, विचारना, इष्टमें प्रवर्तना, अनिष्टसे निवृत्त हो जाना, आदि कियाओंसे रहित हैं, (हेतु) मस्म, रेता, उष्णजल, सूखा काठ, आदिके समान (अन्वयद्द्यान्त)। इस प्रकारका अनुमानप्रमाण तुम्हारे आगमका बाधक है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि इस अनुमानमें कहे गये हेतुका अंचेत सो रहे मनुष्य या मूर्छाप्राप्त जीव, अण्डस्थ जीव, आदि करके व्यभिचार दोष आता है। अर्थात् निर्भर सो रहे या मूर्च्छित मनुष्यके

कोई शारिरिक किया, वचनव्यवहार, आदिक नहीं हैं। किन्तु वे चैतन हैं। अतः हेतुके ठहर जानेपर साध्यकी स्थिति नहीं होतेसे तुम्हारा हेतु व्यभिचारी हो जाता है। उस सोते हुये या मूर्छित हो रहे को भी पक्ष कोटिमें कर ठेना तो उचित नहीं है। क्योंकि समाधि या ध्यानमें स्थित हो रहे जीवकरके व्यभिचार आ जावेगा। अतः प्रतिज्ञास्त्ररूप पक्षकी प्रमाणोंसे बाधा हो जानेका प्रसंग होना। ऐसी दशामें तुम्हारा हेतु बाधित भी बन बैठेगा। भानार्थ—सोते हुये या मूर्छित पुरुषको भी यदि व्यापार आदि नहीं होनेसे अचेतन मान छिया जायगा तो भी ध्यान छगाकर बैठे हुये पुरुषके व्यभिचार दोध तदवस्य रहेगा। सोते हुये पुरुषको भरा हुआ कहना बाधित है। दूसरी बात यह है कि सांख्यमतियोंके यहां प्रकृतिका संसर्ग छूट जानेसे व्यापार करना, बोछना, आदि कियाओंसे छूट चुके मुक्तजीव करके व्यभिचार आता है। अर्थात्—वैशिषक भछे ही मुक्त अकस्थामें जीवको अचेतन कह दे, किन्तु कपिछमतके अनुयायी तो मुक्तजीवोंको बहुत अच्छा चेतन कह कहे हैं। वहां हेतुके रह जानेपर भी अचेतनपना साध्य नहीं है। विपक्षमें हेतुका वर्तजाना व्यभिचार है।

प्रत्यागमो वाधक इति चेम्न, तस्याप्रमाणत्वापादनात् स्याद्वादस्य प्रमाणभूतस्य व्यव-स्थापनात् । तदेवमागमात्मुनिर्वाधात् पृथिवीममुखाः स्थावराः प्राणिनो बोद्धच्याः ।

यदि कोई यों कहे कि जैनोंके आगमसे प्रतिकृत हो रहा दूसरा चार्चाक आदिका आगम उस जिनागमका बाधक है, आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि उस स्थावर जीवोंका निषेध करनेयाले आगमको अप्रमाणताका अपादान किया गया है। अप्रमाणसे प्रमाणको कोई ठेस नहीं पहुंच पाती है। हां, स्यादाद सिद्धान्तको ही प्रमाणभूत होनेकी व्यवस्था पूर्वप्रकरणोंमें कर दी गई है। तिस कारण इस प्रकार मले ढंगपूर्वक बाधाओंसे रहित हो रहे आगमप्रमाणसे पृथिवी, आदिक स्थावर प्राणी समझ लेनी चाहिये। सुखपूर्वक प्रहणका हेतु होनेसे तथा मोटी मूर्ति होनेसे अथवा भोजन, गृह, बक्क, अलंकार, आदि कृप करके बहुत उपकार करनेवाली होनेसे पांचों स्थावरोंमें पृथिवीको प्रमुख माना गया है। उसके अनन्तर जल, तेज, वायु, और वनस्पतिका वचन करना मी साभिप्राय है।

युक्तेश्व, ज्ञानं कचिदात्मनि परमाऽपकर्षमायाति अपकृष्यमाणिविशेषत्वात् परिमाणव-दित्यतो यत्र तदपकर्षपर्यतस्तेऽस्माकमेकेदियः स्थावरा एव युक्त्या संभाविताः ।

तथा युक्तिसे भी स्थावर जीवोंको समझ लिया जाता है। सुन लीजिये। ज्ञान (पक्ष) किसी न किसी आत्मामें अत्याधिक अपकर्ष (हीनता) को प्राप्त हो जाता है (साध्य) विशेष रूपसे कमती कमती हो रहा होनेसे (हेतु) परिमाणके समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—आकाश, लोक, सुमेरुपर्वत, सम्मेदशिखर, गृह, घर, नारियल, वेल, वेर, कालीमिरच, पोस्त, आदिमें उत्तरीत्तर घट रहा परिमाण जैसे परमाणुमें पहुंचकर अन्तिम अपकर्षकी प्राप्त हो जाता है, उसी प्रकार केवलज्ञान, श्रुतज्ञान, आचा-पैका ज्ञान, शास्त्रीका ज्ञान, साधारण पण्डितका ज्ञान, पश्च, पश्ची, पतंग, कीट, इनका ज्ञान यों

उत्तरोत्तर घटते घटते ज्ञान भी कहीं न कहीं अन्तिम घटीको पहुंच जाता है। ऐसे इस अनुमानसे जहां कहीं जीवोंमें उस ज्ञानकी न्यूनताका अन्तिम आधार है। वे ही हम स्याद्वादियोंके यहां एक स्पर्शन इन्दियवाले स्थावर जीव माने गये हैं। इस प्रकार अनुमानस्वरूप युक्तिकरके स्थावर जीवोंके सद्भावकी सम्भावना की जा चुकी है।

नजु च भस्पादावनात्मन्येव विज्ञानस्यात्यंतिकापकर्षस्य सिद्धेर्नस्थावरसिद्धिरिति चेक, स्वाश्रय एव ज्ञानापकर्षदर्शनात् अनात्मिन तस्यासंभवादेव हान्यनुपपत्तः। प्रध्वंसी हि हानिः सत प्रोपपद्यते नासतोजुत्पक्षस्य वंध्यापुत्रवत् ।

उक्त अनुमान द्वारा स्थावर जीवोंकी सिद्धि कर रहे आचार्यके ऊपर स्थावर जीवोंको नहीं माननेवाले किसी पण्डितकी ओरसे पुनः स्वपक्षका अवधारण है कि जीवतत्त्वसे भिन्न हो रहे जड, भस्म, पीतल, ईट, आदि पदार्थमें ही विज्ञानके अत्यन्त रूपसे होनेवाले अपकर्षकी सिद्धि हो रही है। अतः स्थावर जीवोंकी सिद्धि न हो सकी। मन्दबुद्धि जीवोंमें ज्ञानकी कमी होते होते जड राखेंमें सर्वधा ज्ञानका अत्यन्त अभाव हो गया है। अपकर्षका बढिया आधार जब मिल गया है तो उस अनुमानसे मला स्थावर जीवोंकी सिद्धि कहां हुयी? आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि ज्ञानके निज आश्रयमें ही ज्ञानका अपकर्ष हो रहा देखा जाता है। आत्मतत्त्वसे सर्वधा भिन्न हो रहे जडमें उस ज्ञानका असम्भव हो जानेसे ही हानिकी सिद्धि नहीं बन सकती है। हानिका अर्थ यहां नियमसे अच्छा व्वंस हो जाना है। वह व्वंस तो प्रतियोगीकी सत्तावाले पदार्थका ही बन सकता है। जो असत् पदार्थ है या उत्पन्न ही नहीं हुआ है, वन्व्यापुत्रके समान, उस पदार्थकी हानि नहीं हो सकती है। रोगकी हानि जीवके बन सकती है, जडके नहीं। जहां प्रतियोगीका सद्भाव है वहां ही उसका व्वंस है। वैशेषिकोंने भी व्यंसका प्रतियोगिकि समवायी देशमें नियत होकर रहना माना है। घटका व्वंस कपालोंमें और पटका व्वंस तन्तुओंमें ठहरता है। मस्ममें तो ज्ञानका अत्यन्ताभाव है और हम ज्ञानके व्वंस या न्यूनपनको साथ रहे हैं। वह एकेन्द्रिय जीवोंमें ही पाया जावेगा। किसी मनुष्यको ही निर्धन या अपढ कहा जाता है, पत्थर या डेलको नहीं।

कचिदात्मन्यप्यत्यंतनाशो ज्ञानस्यास्तीति चेन्न, सतो वस्त्रन उत्यत्तिविनाशानुपपत्तेः।

पुनः कोई वैरोषिकका पक्ष लेकर कहता है कि भस्ममें नहीं सही, किन्तु किसी किसी आत्मा (मुक्तजीव) में भी तो ज्ञानका अत्यन्त रूपसे नाश विद्यमान है। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि अनादि अनन्त सद्भूप हो रही वस्तुके उत्पत्ति और विनाश बन नहीं सकते हैं। अर्थात्— " नासतो विद्यते भावो नामावो विद्यते सतः " " नैवासतो जन्म सतो न नाशो "। जैसे पुद्रल द्रव्यमें रूप, रस, आदि गुण अनादि कालसे अनन्त कालतक विद्यमान रहते हैं, कोई नया गुण उपजता नहीं है और न किसी सत् गुणका विनाश होता है। यदि नया गुण उपजने लगे तो जह

द्रव्यमें ज्ञान, सुख, गुण भी उपज जायेंगे। ऐसी दशामें जह और चेतनका विभाग करना अशक्य ही जायगा। तथा यदि विद्यमान गुणोंका विनाश होने छंगे तो किसी दिन संपूर्ण गुणोंका अभाव हो जानेसे वस्तुका है। अभाव हो जायगा। गुणोंका समुदाय ही तो द्रव्य है। हां, विद्यमान हो रहे गुणोंकी पर्यायोंमें अविभाग प्रतिच्छेदोंकी न्यूनता, अधिकता, या विभावपरिणाम होते रहते हैं। तभी तो ज्ञानगुणकी अत्यन्त हानि होते हुये भी सूक्ष्मिनगोदिया छन्त्रि अपर्याप्तक जीवमें अक्षरके अनन्तवें भाग नित्य प्रकाशनेवाछा निरावरण ज्ञान माना गया है। मनुष्य भी कितना ही पागछ, मूर्छित, मूर्ख, पींगा, दुःखित, क्यों न हो जावे, उसमें थोडा ज्ञान तो अवश्य ही बना रहता है। पण्डिताईके ज्ञानोंका , व्यंस मूर्खता पूर्वक हुये ज्ञानोंके विद्यमान होनेपर पाया जाता है। एकेन्द्रिय दशामें सामान्य अत्यल्पज्ञान होनेपर विशिष्ट ज्ञानोंकी हानि मानी जाती है, ज्ञानका सर्वथा नाश कहीं नहीं हो पाता है।

कर्मणां कथमत्यंतिनाश इति चेत्, क एनमाइ ? तेषामत्यंतिनाश इति । कर्मरूपाणां हि पुत्रलानामकर्मरूपतापत्तिर्वनाशः सुवर्णस्य कटकाकारस्याकटकरूपतापत्तिवत् । ततो गगन-परिमाणादारभ्यापकृष्यमाणिनश्चेषं परिमाणं यथा परमाणौ परमापकर्षपर्यतमाप्तं सिद्धं तथा बानमिप केवलादारभ्यापकृष्यमाणिनशेषमेकेंद्रियेषु परमापकर्षपर्यतमाप्तमवसीयते । इति युक्ति-मत्यथिनीकायिकादिस्थावरजीवमतिपादनं ।

पूर्वपक्षवाळा कहता है कि बताओ कर्मीका अत्यन्तरूपसे विनाश भला कैसे हो जाता है ! मुक्त जीवोंमें भी ज्ञानके समान थोडे, बहुत, कर्म विद्यमान रहे आवेंगे। आप जैनोंने अभी कहा था . कि सत्का विनाश नहीं हो पाता है । यों कहनेपर आचार्य उत्तर देते हैं (कि कौन अविचारी इस प्रकार कह रहा है कि उन कर्मोंका अत्यंतरूपसे विनाश हो जाता है कि कर्मस्वरूप हो रहे पुद्रलोंकी अकर्मस्वरूपपने करके प्राप्ति हो जाना ही विनाश है। जैसे कि कडोंके आकारको धारनेवाले सोनेकी कड़े रहित हो रहे कुन्डल, केयूर, आदि अलंकाररूपसे प्राप्ति हो जाना ही सोनेका जंस माना जाता है। सोनेका समूखच्छ नाश नहीं होता है। मैछे वस्त्रको निर्मूख कर देनेपर मळकी पानीमें कीचडरूप अवस्थासे स्थिति बनी रहती है । साबन, तेजाब, आग, किसीसे भी शुद्धि करो, जगत् से मल उठा दिया जाय. ऐसा मलका सत्यानाश कभी नहीं हो सकता है। आत्मासे सम्बन्ध छटकर कर्म भी अन्य पुद्रलकी अवस्थामें अन्यत्र बने रहते हैं। अर्थात्-मुक्तिके लक्षणमें कर्मीका देशसें देशान्तर हो जानारूप विभाग और कर्म अवस्थासे अकर्म अवस्था हो जाना अमीष्ट है । तिस कारण सबसे बढ़े आकाशके परिमाणसे प्रारम्भकर कमती कमती हो रही विशेषताको छिये हुये परिमाण जैसे परमाणुमें उत्कृष्टरूपसे अपकार्य पर्यतको प्राप्त हो चका सिद्ध है. उसी प्रकार ज्ञान भी केवळज्ञानसे प्रारम्भ कर विशेषविशेषरूपसे घट रहा संता एकेन्द्रिय जीवोंमें सबसे बढिया हीनताके पर्यन्तको प्राप्त हो चुका जान लिया जाता है। इस प्रकार पृथिनीकायिक, जलकायिक, आदि स्यावर जीवोंका सूत्रकार द्वारा प्रतिपादन करना यक्तियोंसे सहित है।

के पुनर्विशेषतस्त्रसा इत्याइ।

श्री उमात्वामी महाराजने संसारी जीवोंके त्रस और स्थावर ये दो भेद कहे थे, उनमेंसे स्थावर विशेषरूपसे त्रस जीव कौन कौन है। पुनः अब ये बताओ कि विशेषरूपसे त्रस जीव कौन कौन है। ऐसी जिक्कासा होनेपर सूत्रकार महाराज उत्तर वचन कहते हैं।

द्वीन्द्रियादयस्रमाः॥ १४॥

दो स्पर्शन, रसना, इन्द्रियोंको धारनेवाले और स्पर्शन, रसना, ब्राण, इन तीन इन्द्रियोंको धारनेवाले आदिक जीव त्रस हैं।

द्दै स्पर्शनरसमे इंद्रिये वेशां ते द्वीद्रियाः कुम्बाद्यस्ते आद्यो वेशां ते हमे झींद्रियादय इंति व्यवस्थावाचिनादिशक्केन तद्गुणसंविज्ञानलक्षणान्यपदार्था द्वत्तिरचयवेन वित्रहो संयुद्धसम्य इंत्यर्थत्वात् ।

जिन जीवोंके स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियां विद्यमान हैं, वे छट, जींक, गेंडुआ, संख, सीप, आदिक द्वीन्द्रिय जीव हैं। वे द्वीन्द्रिय जीव जिन जीवोंके आदिभत हैं वे जीव ये द्वीन्द्रिय आदिक 🖏 इस प्रकार आगममें हो रही व्यवस्थाको कहनेवाले आदि शहके साथ अन्य पदार्थको प्रधान रखने-बाली बहुवीहि समास नामकी बृत्ति है। समासमें पडे हुये उन शहुकि गुण (अर्थ) का अच्छ विकान करादेना जिस बृत्तिका स्वरूप है अथवा एक देश हो रहे अवयवके साथ समासका पूर्ववर्ती विग्रह कर किया जाता है और समासकृतिका अर्थ समुदाय हो जाता है। भावार्थ समासचंटित पदोंके अर्यसे अन्य अर्थको प्रधानरूपसे कहनेवाली बहुवीहि समास नामक हुति है जैसे कि '' दृष्टसागरमानय '' जिसने सुमुद्रको देखा है ऐसे पुरुषको लाओ, यहां समासमें पडा हुआ पर्दका अर्थ न समुद्र लाया जाता है न देखना लाया जाता है किन्तु जो मनुष्य पहिले कभी समुद्रको देख चुका है वह पुरुष लाया जाता है, जो कि इन दो पदोंमेंसे किसीका भी अर्थ नहीं है। ऐसी दशामें जिन जीवोंके आदिमें द्वीन्द्रिय जीव हैं ऐसी वृत्ति करनेपर त्रीन्द्रिय आदि जीव तो पकड लिये जावेंगे। किन्तु द्वीन्द्रिय जीवोंका प्रहण नहीं हो सकेगा, जैसे कि पर्वतसे आदि लेकर परली ओर देवदत्तके खेत 🗞 इस वाक्यमें खेतोंमें पर्वत नहीं गिन लिया जाता है । बात यह है कि " तद्युणसंविद्यान " और अतद्गुण संविज्ञान '' ये दो बहुवीहि समासके भेद हैं । जहां समासचितित पदौंका अर्थ भी वाष्य ही जाता है वह तद्गुण संविद्यान है, जैसे कि " लम्बकर्णमानय " जिसके लम्बे कान हैं उसकी छाओ, इस वाक्यके अनुसार लम्बे कानवाला मनुष्य लाया जाता है। यहां लम्बे कानका भी छे आना या महण हो जाता है। इसी प्रकार तद्गुण संविज्ञानसे (अनुसार) द्वीन्द्रथं जीवका भी अन्तर्भाव ही जाता है। द्वीन्द्रियको भी ग्रहण करनेका दूसरा उपाय यह है कि पूर्णरिशिमेंस एक अवयवंके साथ

बिमह करों और समासद्विका अर्थसमुदाय कर छो। जैसे कि " सर्व " आदि रुद्ध सर्ववाम मात्रे जाते हैं, यहां अकेछे सर्वको कहकर सभी विश्व, उभ, उभय, आदिका संग्रह हो जाता है। " सर्वपद" छोड नहीं दिया जाता है। " जम्बूदीप डक्कणोदादयः " इस सूत्रमें भी ये ही उपाय करने पढ़िंग।

ते च शमाणतः सिद्धा एवेत्याद ।

तथा वे त्रसंजीय तो प्रमाणोंसे सिद्ध ही हो रहे हैं, इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा कहते हैं।

त्रसाः पुनः समारव्याताः प्रसिद्धा द्वीन्द्रियादयः । इत्येवं पंचिभः सुत्रैः सर्वसंसारिसंब्रहः ॥ १ ॥

स्थावर जीकोंस न्यारे फिर ब्रस्तनीय तो भले प्रकार व्याख्यान किये जा चुके द्वीन्द्रिय, ब्रिस्टिय, आदिक प्रसिद्ध ही हैं। बालक, बालिका, भी दो इन्द्रियक्षले लट, सीप, जोंक, आदिको जान रहे हैं। स्पर्शन, रसना, घाण, इन तीन इन्द्रियोंको स्वनेवाले चीटी, बिच्लू, खटमल, लीखं, ज्रंआ, दीमक, आदि प्रासिद्ध हैं। स्पर्शन, रसना, नाक, आंखे इन चार इन्द्रियोंके धारी भोरा, पतंगा, मक्खी, बर्र, झींगुर, मकडी आदि विख्यात हैं। पशु, पक्षी, मनुष्य, देव, ये सन पांचों इन्द्रियोंको लिये हुये हैं। इनके कान भी विध्यान हैं। यहांत क "संग्रारिणो मुक्ताश्च "समनस्काऽमनस्काः, संसारिणक्रसस्थावराः, पृथिव्यतेजोवासुववस्पत्तयः स्थावराः, द्रीन्द्रियाद्यक्षसाः, इस प्रकार पांच सूत्रों करके सम्पूर्ण संसारी जीकोंका संब्रह सूत्रकारने कर लिया है। गुणस्थान वा मार्गणाओं द्वारा किये गये भेद, प्रभेदोंका इन्होंमें अन्तर्भाव हो जाता है।

विश्रहरात्यापणस्य संसारिणोञ्संग्रइ इति चेका, तस्यापि मसस्यावस्नामकर्मोद्ध्यस्तिः स्यासंभवात् तद्भ्यनेम संगृहीतस्यात् । सोपि नैकेंद्रियत्वं द्वीद्रियादित्वं वाक्रिकामति ग्रुक्तव्य-मसंगात् । ततो भवत्येव पंचभिः सूत्रैः सर्वसंसारिसंग्रहः ।

कोई शंका करता है कि एक शारिको छोडकर दूसरे कारिके प्रहण करनेके छिये हुयी किमहानिको प्राप्त हो रहे संसारी जीवका संप्रह नहीं हो पाया है। क्योंकि इन्त्रियोंकी शक्ति पूर्णता का चार, छह, आदि प्राणोंकी प्राप्ति तो दूसरा शरीर प्रहण कर जुकवेपर होगी। तभी त्रस या स्थानका व्यवहार शोभता है। आचार्य कहते हैं कि यों नहीं कहना। कारण कि उस नवीन शरीरको प्रहण करनेके छिये उद्यम कर रहे कार्मणकाय योगवाले जीवके भी त्रस नामकर्म और स्थावरनामकर्मका उदय विकासन है। पूर्व शरीरका सम्बन्ध छुटते ही जीवके उत्तरभवकी आयुके उदयके साथ त्रस या स्थावर नामकर्मके उदयहे स्थावर हो से किसी भी एक प्रकृतिका उदय अवश्य हो जाता है। त्रस और स्थावर नामकर्मके उदयहे स्थित हो रहे किसी भी संसारी जीवका जगत्में असम्भव है। अतः उस त्रस या स्थावरके बचन करके

बिगह गतिवाल जीवका संग्रह कर लिया जाता है। पहिला शरीर छूट चुका है और दूसरा नोकर्म शरीर अभीतक गृहीत नहीं हुआ है, ऐसी बीचकी विग्रहगतीमें ज्ञानावरणका क्षयोपशम विद्यमान होनेसे लिक्किप इन्द्रियां हैं। इन्द्रियजन्य मित, श्रुतज्ञान भी हैं। अतः वह जीव भी एक इन्द्रिय धारीपन या दो इन्द्रिय धारकपनका अतिक्रमण नहीं कर पाता है। यदि विग्रहगितमें इन्द्रियां न मानी जांचगी तो उस जीवको मुक्तपनेका प्रसंग हो जावेगा। '' णवि इन्द्रियकरण जुदा '' इन्द्रियोंसे रहित तो सिद्ध भगवान ही हैं। इन्द्रियसहितपन या त्रसस्थावरपनका ध्वन्स तो परमब्रह्म परमातमा सिद्धोंमें ही है। तिस कारणसे उक्त पांच सूत्रोंकरके यहां सम्पूर्ण संसारी जीवोंका संग्रह हो जाता ही है।

न कानिचिदिंदियाणि नियतानि संति यत्संबंधादेकेंद्रियादयो व्यवतिष्ठंत इत्याक्षंकां निराकर्तुकामः स्रिरिदमाह ।

किसीकी शंका है कि इन्द्रियां कितनी हैं ? यह कोई नियत व्यवस्था नहीं हैं। पांच, छह, ग्यारह, भी इन्द्रियां मानी जा रहीं हैं अथवा कोई भी इन्द्रियां क्रमसे नियत नहीं हैं। जिनके कि सम्बन्धि एक इन्द्रियवाळे या दो इन्द्रियवाळे आदिक जीव आगम अनुसार व्यवस्थित हो जावें ? इस प्रकार हुयी आशंकाका निराकरण करनेके ळिये अभिळाषा रख रहे श्री उमास्वामी महाराज इस अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

पंचेंद्रियाणि ॥ १५॥

इन्द्रियां पांच ही हैं अर्थात्—पहिले सूत्रमें द्वीन्द्रियको आदि लेकर त्रसजीवोंका निर्देश किया था। इन्द्रियोंकी अंतिम संख्या नहीं बतलाई थी जिनको कि अधिकसे अधिक धारण कर वहांतकके जीव "त्रस " समझ लिये जांय ! अतः इन्द्रियोंकी संख्याके परिमाणको नियत करते हुये श्री उमास्वामी आचार्य पांच इन्द्रियोंका निरूपण करते हैं। वे स्पर्शन आदिके कमसे व्यवस्थित हो रही पांच हैं।

संसारिणो जीवस्य संतीति वाक्यार्थः । कि पुनिरंद्रियं १ इंद्रेण कर्मणा सृष्टिमिद्रियं स्पर्शनादीद्रियनामकर्मोदयनिमित्तत्वात् । इंद्रस्यात्मनो लिंगमिद्रियं इति वा कर्ममहीमसस्यात्मनः स्वयमर्थानुपल्डधुमसमर्थस्य हि यदर्थोपल्डभौ लिंगं निमित्तं तदिद्रियमिति भाष्यते ।

" संसारिणः " इस पदकी अनुष्टाति कर संसारी जीवके पांच इन्द्रियां हो सकती हैं, इस प्रकार इस सूत्रके वाक्यका अर्थ हो जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि फिर इन्द्रिय पदार्थ क्या है ! बैदो- विकोने तो "शब्देतरोद् भूतविशेषगुणानानाश्रयत्वे सित ज्ञानकारणमनः संयोगाश्रयत्वम् इन्द्रियत्वम्" ऐसा कक्षण बांघा है। अब इस विषयमें जैन सिद्धान्त क्या है! सो बताओ। श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं कि परमशक्तिशाली इन्द्र अर्थात् पौद्रलिक कर्म करके जो रची जाय वह इन्द्रिय है। यह " तेन

निकृतं " इस सूत्र द्वारा घ प्रत्यय कर शद्धनिरुक्तिसे अर्थ निकलता है। गति नामकर्म या अंगोपांग नामकर्मकी उत्तरोत्तरभेदवाली विशेष प्रकृति हो रहीं स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियनामक नामकर्मके उदयको निमित्त पाकर स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियां बन जाती हैं। यहां नामकर्म निमित्त हेतु है और इन्द्रियां हेतुमान् कार्य हैं अथवा आत्मा ही अनन्त शक्तियोंको घार रहा परमेश्वर इंद्र है। उस आत्माका श्वापक लिंग इन्द्रिय है। इस निरुक्तिका भाष्य इस प्रकार है कि कर्म सम्बन्धसे मिलन हो रहे और इसी कारण स्वयं अकेले ही अर्थोको प्रहण करनेके लिये असमर्थ हो रहे आत्माको अर्थकी उपलब्ध करनेमें जो निमित्त हेतु है वह इन्द्रिय है, अर्थात्—उपभोक्ता आत्मा अनन्तशक्तियोंसे मरपूर है। स्वाभाविक अवस्था प्राप्त हो जानेपर पदार्थोके जाननेमें उसको किसी अन्य सहायककी अपेक्षा नहीं है। फिर भी कर्मोके आधात करके अधिक मालन हो रहा आत्मा स्वयं अकेला पदार्थोकी उपलब्ध नहीं कर सकता है। यों उसके सहायक कारणोंको इन्द्रिय कहते हैं। सम्भव है स्वामी समन्तमद्र आचार्यकृत गन्धहस्तिमहाभाष्यमें यों इन्द्रियशब्दका निवचन किया गया होय। " ऐतिह्यान्वेषका विद्वान्सो मार्गयन्तु"।

नन्ववमात्मनोर्थज्ञानमिदियिक्तंगादुपनायमानमनुमानं स्यात् । तवायुक्तं । क्लिंगस्या-परिज्ञानेनुमानानुद्यात् । तस्यानुमानांतरात्परिज्ञाने अनवस्यानुषंगादिति कश्चित्। तदसत् । भावें-द्रियस्योपयोगळक्षणस्य स्वसंविदितत्वात्तद्वलंबिनोर्यज्ञानस्य सिद्धेः । न चैतद्नुमानं परोक्ष-विशेषरूपं, विशदत्वेन देशतः प्रत्यक्षत्वविरोधात्. । परोक्षसामान्यमन्यचु द्वारूयतस्तदिष्टमेव परप्रत्ययापेक्षस्य परोक्षत्ववचनात् ।

यहां कोई शंका उठाता है कि इस प्रकार तो आत्माक उत्पन्न हो रहा पदार्थोंका हान तो इन्द्रिय नामक लिंगसे उत्पन्न होनेक कारण अनुमान हो जायगा । और वह मानना तो युक्त नहीं है । क्योंकि इन्द्रियां अतीन्द्रिय हैं । पौद्रलिक नाह्य निर्धित ही इन्द्रिय है जिसका कि इन्द्रियों हारा प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है । ज्ञापक हेतुका परिज्ञान नहीं होनेपर अनुमानकी उत्पत्ति नहीं होपाती है । यदि उस अतीन्द्रिय इन्द्रिय हेतुको पुनः साध्य बनाकर अनुमानान्तरसे परिज्ञान करोगे तब तो उस हेतुको भी जाननेक लिये तीसरे, चौथे आदि हेतुओंकी कल्पना करते करते अनवस्था दोषका प्रसंग होगा, यहांतक कोई कटाक्ष कर रहा है । आचार्य कहते हैं कि यह कथन प्रशंसनीय नहीं है । क्योंकि '' लब्स्युपयोगी भावेन्द्रियम '' उपयोगस्वरूप भावइन्द्रियां स्वसम्बद्दन प्रत्यक्ष हारा प्रत्यक्ष कर ली जा चुकी हैं । अतः उन प्रत्यक्ष की जाचुकी इन्द्रियोंका जनकपनेसे अवलम्ब लेनेवाले पदार्थज्ञानकी सिद्धि हो जाती है । आत्मा और मांवेन्द्रियां अभिन्न हैं । अतः पर्याय और पर्यायीकी भेद विवक्षा कर इन्द्रिय हारा हुआ अर्थज्ञान अनुमान नहीं कहा जा सकता है । वह विशद हो रहा प्रत्यक्ष है । जहां साध्यसे भिन्न मान लिये गये हेतुसे व्यातिस्मरणपूर्वक अविशद साध्य रहा प्रत्यक्ष है । जहां साध्यसे भिन्न मान लिये गये हेतुसे व्यातिस्मरणपूर्वक अविशद साध्य

कार होता है, वह अनुसान कहा जाता है, अर्थको जाननेमें इन्द्रियां निमित्त हो रहीं कारक हेत् हैं। सापक हेत् नहीं हैं। दूसरी बात यह है कि यह कोई कोई अनुमान जैनसिद्धान्त असुसार विशेषतया परोक्षक्षम स्वरूप ही नहीं है। एकदेशसे विशदपना होनेसे अनुमानको प्रत्यक्ष-प्रतेक्ष कोई विरोध नहीं है। अर्थसे अर्थान्तरको जान लेना रूप परार्थानुमान भले ही सर्वथा परोक्ष होने। किन्तु आमीनिबोधरूप खार्थानुमान तो सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी हो सकता है। हां, सामान्य-क्यसे परोक्ष हो रहे अन्य अनुमान झानोंको तो मुख्यरूपसे वह परोक्षपना हम स्याद्वादियोंके यहां वभीष्ट ही किया गया है। क्योंकि जो अपनी उत्पत्तिमें अन्य झानोंकी अपेक्षा स्वता है उस झानको परोक्षपना कहा गया है। पिहले प्रकरणोंमें भी इसका विचार हो चुका है।

कथं पुनः वंचैवेंद्रियाणि जीवस्यत्याह ।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि आचार्य महाराज ! फिर यह बताओं कि जीवके पांच ही इन्द्रियां है, यह सिद्धान्त किस प्रकार प्रमाणसिद्ध माना जावे १ ऐसी अभिलाषा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

पंचेंद्रियाणि जीवस्य मनसोनिंद्रियत्वतः।
बुद्ध्यहंकारयोरात्मरूपयोस्तत्फलत्वतः॥१॥
वागादीनामतो भेदासिद्धेर्धीसाधनत्वतः।
स्पर्शादिज्ञानकार्याणामेवंविधविनिर्णयात्॥२॥

संसारी जीवके इन्द्रियां पांच ही हैं। क्योंकि द्रव्यमन तो अनिन्द्रिय है तथा बुद्धि और '' अहं अहं '' मैं मैं इस प्रतीतिका उक्लेव करनेवाला अहंकार भी तो आत्मास्वरूप है। वे बुद्धि और अहंकार तो इन्द्रिय और मनके कार्य हो रहे फल हैं। हां, वचन बनानेवाले अवयव (जवां) ह्यथ, पांब, आदिक अवयवोंको इस स्पर्शन इन्द्रियसे भिन्न मानना असिद्ध है ज्ञानका साधन होनेसे रुस्पर्श, रस, आदिके ज्ञानोंको कार्य बना रहीं स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका ही इस प्रकार पांच भेद रूपसे दोषत्तया निर्णय किया गया है। कर्मेन्द्रियां मानीं गयीं वाक् आदिक मले ही क्रियाओंकी साधन हो जांख, किन्तु ज्ञानको करानेमें उन बाक् आदिका कोई उपयोग नहीं है। तभी तो ज्ञान इन्द्रियां पांच ही मानी गयीं है।

न हि मनः षष्ठमिद्वियं तस्येद्वियवैषम्यीदनिद्वियत्वसिद्धः । नियतविषयाणीद्विषाणि, मनः पुनरनियतविषयमिति तद्वेषम्ये मसिद्धमेव । करणत्वाद्विद्विल्गित्वादिद्वियं पन इति चेत् , तद्व भूमादिनानेकातात् । तद्पि हि करणमात्मनोर्थोपलब्धौ लिंगं च भवति न चेद्वियमिति । पुन्यदंकारकोरिद्वियत्वाम् पंचैवेदियाणीति चेत् न, तयोरात्मपरिणामयोरिद्वियानिद्वियकलत्वात् । सूत्रकार द्वारा स्पर्शन, रसना, प्राण, चक्षु, कान, इन पांच इन्द्रियोंका कथन कर चुकनेपर कोई विचारशाली पुरुष अपने मनमें खटका उत्पन्न करता है कि छई। इन्द्रिय मन भी तो है, आचार्य कहते हैं कि सो नहीं समझना। क्योंकि पांच इन्द्रियोंसे विध्रमापन होनेके कारण मनको इन्द्रिय मिंक अनिन्द्रियमान सिद्ध है। पांच इन्द्रियोंके जिपय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शद्ध ये नियत हो. रहे हैं। किन्द्र फिर मनका विषय कोई नियत नहीं है। सभी विषयोंमें मनकी प्रवृत्ति योग्यतानुसार मानी गयी है। इस कारण " नोइन्द्रियं अनिन्द्रियं, या न इन्द्रियं " यों इन्द्रियका ईश्वत् प्रतिषेध करनेसे उन इन्द्रियोंका विध्रमीपना मनमें प्रसिद्ध हो ही जाता है। यदि कोई यों कहे कि अर्थकी उपलब्धि करनेमें कर्ता आस्माक करण होनेसे मन छठा इन्द्रिय मान छेना चाहिये। आचार्य कहते हैं कि वह करणत्य या इन्द्रियांकि हेतु तो यहां धूम, शद्ध, आदिक करके व्यभिचार दोष हो जानेसे आदर नहीं पायेंगे। देखिये, वे धूम आदिक भी आत्माको अर्थकी उपलब्धि करनेमें साधकतम हो रहे करण हैं और ज्ञापक हेतु भी हैं। किन्तु वे इन्द्रिय नहीं हैं। हेतु रह गया साध्य नहीं रहा अतः व्यभिचारदोष आया। फिर भी कोर्म कहते हैं कि यों तो नहीं समझ बैठना। कारण कि आत्माक परिणाम हो रहे वे बुद्धि और अहंकार तो इन्द्रिय और अनिन्द्रियके फल हैं। विचारमें प्राप्त हो रहीं इन्द्रियां जड होती हुयाँ, करण हैं। यें महान् अन्तर है।

वाक्पाणिपादपायूपस्थानां कर्मेद्रियत्वात्र पंचैवत्यप्ययुक्तं, तेषां स्पर्शनांतर्भावात् । तश्रा' नंतर्भावतिमसंगात् ।

कपिल मतानुयायीकी शंका है कि वचनिक्रयाका निमित्त हो रही चाक् इन्द्रिय, हाथ, पांच, गुदास्थान, जननेन्द्रिय ये पांच कर्मेन्द्रिय भी हैं। अतः पांच ही इन्द्रियां नहीं हुयीं, ग्यारह हो गयीं। श्री विधानन्द आचार्य कहते हैं कि सांस्थीका यह कहना भी अयुक्त है। क्योंकि उन कर्मेन्द्रियोंका स्पर्शन इन्द्रियमें अन्तर्भाव हो जाता है। हाथ, पग, आदि सब त्वचाके अवयव हैं। यदि हाथ, पर, आदिका उस त्वचा इन्द्रियमें अन्तर्भाव नहीं करोगे तो अतिप्रसंग हो जायगा अर्थात्—कर्म थानी क्रियाओंको करनेवाले ओठ, अंगुली, नितंब, सिर, भोयें, ग्रीवा, आदिको भी पृथक इन्द्रियां मानमा पडेगा, जो कि हम तुम किसीको भी इष्ट नहीं है।

पंचानामेव बुद्धिसाधनत्वाचेंद्रियाणां पांचिवध्यनिर्णयः कर्तव्यः स्पर्भादिश्वानकार्याणि हि तानि । तथाहि—स्पर्भादिश्वानानि करणसाधनानि क्रियात्वादिद्रियक्रियावत् । स्वसंविधि-क्रिययानेकांत इति चेन्न, तस्या अपि समनस्कानामंतः करणकारणत्वात् परेषां स्वश्नाकिविश्वय-करणत्वात् । न चैकत्रात्मनि कर्तृकरणकपविरोधः प्रतीतिसिद्धत्वादिति निक्षपतं प्राष्ट्र । ततः स्पर्भादिश्वानभ्यः कार्यविश्वयभ्यः पंचभ्यः पंचिन्द्रयाणीति सामध्यति मनोनिद्रियं पष्टमिति सूभ-कारेण निवेदितं मवति । तैनैतैर्व्यवस्थितयांगी द्विश्वयद्वः पंचिद्रियाः संश्विमश्र चसाः इति निश्वयते ।

दूसरी बात यह है कि यहां उपयोगका प्रकरण है। अतः बुद्धिको साधनेवाली होनेसे पांच ही भानेन्द्रियां हैं । तुमको भी बुद्धि इन्द्रियोंके पांच प्रकारपनका निर्णय करना होगा वे पांच ही इन्द्रियां स्पर्श, आदि पांच विषयोंके क्रानस्वरूप कार्योको करती हैं। उसीको स्पष्ट कर यों कहा जाता है। स्पर्श, रस, आदिके ज्ञान (पक्ष) करणसे साधे गये कार्य हैं (साध्य) क्रिया होनेसे (हेत्) इन्द्रियोंकी कियाके समान (अन्ययदृष्टांत) । कोई इस अनुमानमें दोष उठाता है कि झानकी स्वयं अपने आप संवित्ति हो जाती है। किसी अन्य करणकी आवश्यकता नहीं है। यों स्वसंवित्ति क्रियामें कियात्व हेत तो रह गया, किन्तु करणसे साधन होना यह साध्य नहीं रहा । अतः हेतुका व्यभिचारदोष हुआ । आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि ज्ञान स्वयंको अपने आप जानता है। उस स्वसंबिति कियाकी भी मनवाले जीवोंके यहां अन्तरंग करण हो रहे मन इन्द्रिय को कारण मानकर उत्पत्ति हो रही है । हां, दूसरे मनरहित जीवों के अपनी शक्तिविशेषको करण मान कर ज्ञानका स्वयं सम्बेदन हो जाता है, अर्थात्—मनवाले जीवोंके ज्ञान, सुख, दु:ख, इच्छा आदि चेतनात्मक पदार्थोका ब्रान तो नोडान्द्रियमनसे होता है और एकेन्द्रियसे लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों-तक ज्ञान, सुख, वेदना, इच्छा आदिका ज्ञान उस अन्तरंग विशेष क्षयोपशमरूप करणशक्तिसे उपज जाता है। वह करणशक्ति आत्मासे अभिन हो रही आत्माका ही परिणाम है। एक आत्मामें कर्तापनका और करणस्वरूप इन दो धर्मीके ठहरनेकों विरोध नहीं है। क्योंकि प्रतीतियोंसे एकमें कई स्वभावोंका स्थित रहना सिद्ध होचुका है। अप्नि अपने दाहपरिणाम करके ईंधनको जलाती है, दीपक अपनी प्रमासे प्रकाश रहा है, कक्ष अपने बोझसे आप ही झुक गया है, यहां पारिणाम और परिणा-मीकी भेदिविवक्षासे कर्तापन और करणपनं एक ही पदार्थमें ठहर जाता है। इस बातको हम पहिले प्रकरणमें विस्तारपूर्वक कह चुके हैं। तिस कारणसे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके यह सिद्धांत निवेदन कर दिया गया हो जाता है कि इन्दियोंके त्रिशेषरूप करके कार्य हो रहे स्पर्श आदि सम्बन्धी पांच ज्ञानोंसे पांच इन्द्रियां जान ली जाती हैं तथा पूर्वापर सूत्रोंकी सामर्थ्यसे छठा अवस्थित होनेसे अनिन्दिय कहा जानेवाला मन भी इन्दिय है। तिस कारण जीवोंका इन व्यवस्थाको प्राप्त हो चुकी पांच इन्द्रियों करके सम्बन्ध हो जाता है । दो इन्द्रियों का योग हो जानेसे सीप, शंख आदि दो इन्द्रिय जीव जान लिये जाते हैं । स्पर्शन, रसना, घाण, तीन इन्द्रियोंके योगसे जुआं, खटमल आदि त्रीन्द्रिय जीव हैं। उक्त तीन इन्द्रियोंमें चक्षको मिला देनेसे भौरा, मक्खी, आदिक चत्रिरिन्द्रिय प्राणी हैं । लचा, जिह्ना, नाक, आंखें, कान, इन पांचों इन्द्रियोंके सम्बन्धसे कोटी छोटी मेंडकी, मंछेंछी, आदि असंबी पंचेंद्रियजीव हैं। पांचों वे और छटे मनको धार रहे बोहा, बैंड, तोता, मैना, मनुष्य आदि संही पंचेंद्रिय जीव हैं। ऐसा युक्ति, आगम, अनुभव और प्रत्यक्ष प्रमाणसे निश्चय किया जा रहा है।

तानि पुनिरिद्रियाणि पौद्रिलिकान्येकविधान्येवेति कस्याचिदाक्तमपाक्ववाह ।

वे पांच इन्द्रियां फिर जड पुद्रलसे ही निर्मित की गयां हैं। आत्म परिणामरूप नहीं हैं तथा वे एक प्रकार ही हैं, इस प्रकार हुये किसी वैद्योपिक या अन्य तदस्थ पण्डितकी कुचेष्टाका निराकरण कर रहे, सन्ते श्री उमास्वामी आचार्य आईत सिद्धान्तको अग्रिमसूत्र द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

द्विविधानि ॥ १६ ॥

वे पांचों भी इन्द्रियां द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय इन भेदोंसे प्रत्येक दो प्रकारवाली हैं।

द्विः प्रकाराणीत्यर्थः प्रकारवाचित्वाद्विधशद्धस्य । शक्तीद्वियाणि च्यक्तीद्वियाणि चेति द्विविधानि केचिन्मन्यते, मूर्तान्यमूर्तानि वेत्यपरे । सूत्रकारास्तु द्रव्येद्वियाणि भावेद्वियाणि चेति चेताले निधापैवमाहुः ।

विध शब्दके विधान, प्रकार, युक्त, गत ऐसे कई अर्थ होते हैं। किन्तु इस सूत्रमें प्रकार अर्थकों कहनेवाले विध शब्दका प्रहण किया गया है। अतः प्रत्येक इन्द्रयां दो दो प्रकारवाली हैं। यह वाक्यका अर्थ हो जाता है। कोई मीमांसक यों मान रहे हैं कि शक्तिरूप इन्द्रियां और व्यक्तिरूप इन्द्रियां इस ढंगसे इन्द्रियोंके दो प्रकार है अथवा दूसरे कोई पण्डित मूर्त इन्द्रियां और अमूर्त इन्द्रियां इस प्रकार इन्द्रियोंके दो प्रकार है अथवा दूसरे कोई पण्डित मूर्त इन्द्रियां और अमूर्त इन्द्रियां इस प्रकार इन्द्रियोंके दो भेद बखान रहे हैं। कान, आकाशस्वरूप होनेसे अमूर्त हैं शेष चार इन्द्रियां इन्प्र और मन मूर्त हैं, किन्तु यहां तत्वार्थसूत्रकों बनानेवाले श्री उमास्वामी महाराज तो प्रत्येक इन्द्रियां इन्प्र इन्द्रियस्वरूप और भाव इन्द्रिय स्वरूप हैं, इस प्रकार चित्तमें धारण कर इस " द्विविधानि " सूत्रकों कह रहे हैं। अर्थात्—किन्हीं वैशेषिक या अन्य विद्वानोंके मतका हम विरोध नहीं करते हैं। लिन्धिरूप शक्ति इन्द्रिय और व्यक्ति रूप उपयोग अथवा शक्तिरूप इन्द्रियाविष्ठल आतमप्रदेश और पौद्रलिक रचनास्वरूप व्यक्त इन्द्रिय हमकों भी अभीष्ठ हैं। इन्द्रियोंके मूर्त अमूर्त मेदोंका मी हम तिरस्कार नहीं करते हैं। लिन्तु उपयोग, ये भावेन्द्रियां और आत्म प्रदेशक्तप निर्वृत्तिकों जैन सिद्धान्तमें अमूर्त माना गया है। हां, उन आत्म प्रदेशोंपर रचे गये इन्द्रियाकार पौद्रलिक परिणामको मूर्त इन्द्रिय इष्ट किया है। किन्तु ये और इनसे न्यारे अन्य भी भेद, प्रभेद, इन्हीं दो इव्येन्द्रिय और मावेन्द्रिय भेदोंमें गतार्थ हो जाते हैं। सूत्रकारका यह अभिप्राय ध्वनित हो रहा है।

यद्येवं कानि द्रव्येद्रियाणीत्याह ।

कोई प्रश्न करता है कि यदि इस प्रकार द्रव्येद्रिय और भावेन्द्रिय दो भेद हैं, तो इन्द्रियोंक। पिहला भेद द्रव्येन्द्रियां कौन हैं ? बताओ । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज समाधान-कारक सूत्रको कहते हैं।

निर्वृत्त्युपकरणे द्रव्येंद्रियम् ॥ १७ ॥

पीद्रिक कर्मको धेरक निमित्त पाकर कर्जा आत्मा जिस आत्मसम्बन्धी या पुक्कसम्बन्धी परिणामको बनाटा है वह निर्वृत्ति है तथा निर्वृत्तिका उपकार करनेवाला उपकरण होता है। यो निर्वृत्ति और उपकरण यो दो दो मेदस्वरूप पांचों इन्येन्द्रियां हैं।

निर्वर्त्यत इति निर्वृत्तिः सा द्वेषा बाह्याभ्यंतरभेदाद्ध् । तत्र विशुद्धात्ममदेशवृत्तिरभ्यंतरा तस्यामेव कर्मोदयापादितावस्थाविश्वेषः पुद्रस्त्रमच्यो वाह्य ।

अंग्रहक विभिन्न हो रहे आत्मा कर्ताको परवश करनेकाले प्रेरक निमित्र नाम कर्क करके आत्म प्रक्रमार्थ, द्वारा को आत्मा या प्रद्वाककी परिणतियां बनवाई जातीं हैं वे निर्कृतिसक्त्र अधियां हैं। इस प्रकार अन्याप्ति, अतिन्याप्ति, असम्भव, दोषोंका निवारण कारनेवाले कई विशेषामेंको लगाका निवृद्धि शहकी निरुक्तिसे निर्दोष अर्थ निकाल लिया गया है। वह निवृत्ति बाद्य और अन्यंतर भेटोंसे दो प्रकार है। तिन दो प्रकारोंमें विश्वद्ध आत्माके प्रदेशोंका वर्त्तना तो अभ्यन्तर निर्वृत्ति है। और उन आस्मनदेश स्वरूप अभ्यन्तर निर्वृत्तिमें ही कभीके उदयसे विशेष अवस्थाको प्रांत कराया गया पद्रल पिन्ह तो बाह्यनिवृत्ति है। अर्थात अंगुलके असंख्यातवें माग या संख्यातवें भाग अथवा संख्यात धनागुरु परिमित बिशुद्ध आत्मप्रदेशोंकी चक्ष, श्रोत्र, घ्राण, जिह्ना, त्वचा, भ्वरूप रचना ही जाना अभ्यत्तर निर्वृत्ति है । यह जीवतत्त्व आत्मक पदार्घ है तथा योग द्वारा प्रहण आहारबर्गणाओंमेंसे शरीर और श्वासोच्छ्वासके उपयोगी द्रव्यसे शेष बंचे हुये स्बल्प बढिया पुद्रल द्रव्यकी मसूर, यवनाली, तिलपुष्प, (या धतूर पुष्प,) ख़ुरपा अथवा अपने अपने शरीर अनुसार अनेक प्रकार स्पर्शन इन्द्रिय आकृति ऐसी रचनाको धार स्हा पुक्रल प्रचय तो बाह्यनिर्वृत्ति है। यह पुद्गल तत्त्व है, जैसे कि आंखोंके भीतर इन्द्रिय आकारवाले अपनाके चेतन प्रदेश आंखहिदयकी अस्यन्तर निर्वति हैं। और उन आत्मप्रदेशीपर उपादान कारण आहारवर्गणाका इन्द्रिय पर्याप्तिस्वरूप आत्मपुरुपार्थ द्वारा बना दिया गया मसूर सारिखा अतीन्द्रिय पदल विवर्त तो आंवकी बाह्य निर्वृत्ति है। यह द्रव्येन्द्रिय अतीन्द्रिय है। अन्य दर्शनोंमं प्रायः यही इन्डिय बखानी गयी है । शेष इन्द्रिय भेदोंकी गहराईतक वे नहीं पहुंच पाय है ।

उपक्रियतेनेनेत्युपकरणं । तद्विष द्विविधं बाह्यभ्यंतरभेदात्। तस बाह्यं क्यपुटादि, कुण्ण-सारमंदलाद्यभ्यंतरं । निर्शृतिश्रोपकरणं च निर्शृत्युपकरणे द्रव्यद्वियमिति जात्युग्रेक्षयेक्ष्यननं ।

जिस अवस्य करके विशेष आत्म प्रदेश और विशेष पुद्रल स्वनास्वरूप निर्वृतिका उपकार किया जाता है वह उपकरण इन्द्रिय है। वह उपकरण भी बाह्य और अभ्यन्तर भेदसे दो प्रकारका है। उनमें बाह्य उपकरण तो नेत्रइन्द्रियके दोनों पलक, रोमावली, आदि हैं तथा नेत्रके भीतरका शुक्ल भाग और उसके भी बीचमें पड़ा हुआ गोल काला या तिल अंश ये सब नेत्र इन्द्रियके अभ्यन्तर उपकारण हैं। कृष्णसास्क्रा अभिचक्षुणोंलक किया जात । निर्वृत्ति और अभ्यास्क्रा यो क्रिकेर योग इन्द्र करने

पर निर्मा और उपकरण ये दो इज्येन्द्रिय है। यो जातिकी अपेक्षा इब्येन्द्रिय शब्दमें एक बचन कह दिया गया है। अन्यथा निर्मृति और उपकरण इस दिवचनान्त उदेश्य दलका सामानाधिकरण होमेसे हिक्चन क इब्वेन्द्रिय " कहना चाहिये या। अथवा पांची इन्द्रियोकी इब्येन्द्रियकी विधि करनेजी अपेक्षा इब्येन्द्रियोण यह बहुक्चनषद प्रयोग उपयोगी पढता। किन्तु जाति शब्द मानकर एक क्यम कह देनेसे सभी प्रयोजन सिद्ध होजाते हैं। गेंहू कन्दा है, चना तेज है, यहां जातिमें एक वचनका प्रयोग है। वैसा ही सूत्रमें जान छेना।

कुतः पुनस्तानि मतिपधंत इत्याह ।

वे निर्वृत्ति और उपकरणस्त्ररूप इन्द्रियां फिर किस प्रमाणसे जानली जातीं हैं ! बताइये, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री.विधानन्द आचार्य उत्तर कहते हैं।

द्विविधान्ये विश्वेतिस्वभावान्यनुमिन्वते । सिद्धोपकरणात्मानि सञ्ज्युतौ तद्विद्यञ्युतेः ॥ १ ॥

वाहा, अभ्यन्तर, निर्वृत्ति स्वरूप और प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे सिद्ध हो रहे बहिरंग अन्तरंग उप प्ररण स्वरूप दो अपनक्की की इफिलोंको विहास अगुमान हारा जान रहे हैं, यहां व्यक्तिक घट बाता है। यदि उन इन्द्रियोंकी चुति कर दी जायमी तो उन निर्वृत्ति और उपकरणसे उत्पन्न हुई संविधिकों-की भी खुति हो जायगी।

बाधा-मंतरोपकरणेदियाणि तानत्वसिद्धान्येव तव्यापाराम्बक्यतिरेकानुनिधक्कितां स्पर्धादिक्कानानागुष्कंभात् । बाधा-मंतर्गिर्ध्विक्षयावानि चेंद्रियाणि वत एवानुभीयंते व्यापार-वस्त्वप्युपकरणेद्वियेषु विषयास्रोकप्रनस्य व संनिद्दितेषु सत्यपि व भावेदिये कदाचित्स्पर्धादि-क्षानानुस्पर्वरम्ययानुवपनेस्तव्ययानेव तदिद्रम्प्युतिसिद्धेः ।

सबसे प्रथम बाह्य उपकरण और अम्यन्तर उपकरण स्वरूप इन्द्रियां तो बालक बालिकाओं, पशु पिक्षयों, तकको प्रसिद्ध हो ही रहीं हैं । क्योंकि उन बहिरंग, अन्तरंग, उपकरणोंके व्यापारके साथ अन्वय, व्यितरेकका अनुविधान करनेवाले स्पर्श, रस, आदि झानोंकी उपलब्ध हो रही है । कारणके होनेपर कार्यका होना अन्वय है और नियत किये जानेवाले कारणके विना कार्यका न होन व्यितरेक है । स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण, शद्धके झानोंका उपकरण इन्द्रियोंके साथ अन्वयव्यतिरेक बन रहा है । आत्माको अर्थकी उपलब्ध करनेमें जो निमित्तकारण पढ़ेगा वह इन्द्रिय है । यह लक्षण पहिले बांधा जा चुका है । तथा तिस ही हेत्रसे बानी स्पर्श, आदिक झानोंकी अन्यव्यानुपपत्ति होनेसे शि बाह्य विश्वरे, क्यापारको धार रहीं भी उपकरण इन्द्रियोंका भी अनुमान कर लिया जाता है । देखिये, क्यापारको धार रहीं भी उपकरण इन्द्रियोंके होनेपर और स्पर्श, स्पर्शवान, रस, रसवान

आदि विषयोंको जाननेके लिये उत्सुक हो रहे मनके सिनिहित होनेपर भी तथा लिश्चिरू भार्नेन्द्रियके होते हुये भी कभी कभी स्पर्श आदिके ज्ञान नहीं उपज पाते हैं। वह ज्ञानकी अनुस्पत्ति अन्यधा यानी निर्वृत्तिस्करूप इन्द्रियोंको माने विना नहीं बन पाती है। अतः निर्वृत्ति स्वरूप इन्द्रियोंको स्पृति होनेपर ही उन स्पर्श आदिके ज्ञानोंकी न्युति हो जाना सिद्ध है। इस प्रकार अविनामावी हेतुसे निर्वृत्ति इन्द्रियां सिद्ध कर दी गयी हैं। पांचों इन्द्रियोंमें और मनमें भी दोनों प्रकारके निर्वृत्ति और उपकरणोंको समझ लेना चाहिये।

कानि पुनर्भावेंन्द्रियाणीत्याह।

दो प्रकारकी इन्द्रियोंमें पिछलीं मावेन्द्रियां फिर कौन हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

लब्ध्युपयोगौ, भावेन्द्रियम् ॥ १८ ॥

लिय और उपयोग स्वरूप भावेंद्रियां हैं। भावार्थ-पांचों इन्द्रियां और छठे मनके भावेंद्रिय रूपसे प्रत्येकको लिय और उपयोग ये दो दो भेद हो रहे हैं।

इन्द्रियनिर्द्वतिहेतुः क्षयोपक्षमविश्वेषो लिन्धः तिश्विमित्तः परिणामविश्वेष उपयोगः लिश्व-श्रोपगोगश्च लन्ध्युपयोगौ भार्वेद्रियमिति जात्यपेक्षयैकवचनं ।

द्रव्य इन्द्रियों की निर्मृति (बनाने) का निमित्त कारण हो रहा क्षयोपराम विशेष तो छिन्ध है। अर्धात्—ज्ञानावरण कर्मों के क्षयोपरामसे हुयी विश्विद्ध हारा आत्मा द्रव्येद्वियों का सम्पादन करता है। जिस आत्माके पास स्पर्शन इन्द्रियावरण कर्मका क्षयोपराम होगा उस आत्माके केवल एक ही स्पर्शन द्रव्य इन्द्रिय बनेगी। मनुष्य जीवके विश्वहगतिमें छऊ इन्द्रियों का क्षयोपराम हो रहा है। अतः गर्भा-वस्थामें जन्म छेते ही छऊ द्रव्येद्वियों का बनना प्रारम्भ हो जाता है तथा उस छिन्धको निमित्त मानकर हुआ आत्माका परिणामविशेष तो उपयोग है। छिन्धि और उपयोग यों द्वन्द्व समास करनेपर छन्ध्यपयोगों " यह पद बन जाता है। ये दोनों भाव इन्द्रिय हैं, ऐसा वाक्यार्ध कर छिया जाता है। छह इन्द्रियों दो दो मेद हो कर बारह मार्चेद्वियां हैं। फिर भी जातिकी अपेक्षा करके "भावेद्वियम्" ऐसा वचन सूत्रमें कह दिया है। एकेंद्वियसे छेकर संज्ञी पञ्चेद्वियपर्यंत अनेक छन्ध्यप्यिसक जीवोंके भी द्रव्येद्वियोंका बनना प्रारम्भ हो जाता है। पूर्णता नहीं हो पाती है। तदनुसार उनके छन्धिकप इन्द्रियां मानी जाती है।

कुतः पुनस्तानि परीक्षका जानत इत्याह ।

परीक्षक विद्वाम् फिर उन भावेंद्रियोंको किस प्रमाणसे जानते हैं है ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानंद स्वामी उत्तर कहते हैं।

भावेन्द्रियाणि लब्प्यात्मोपयोगात्मानि जानते । स्वार्थसंविदिः योग्यत्वाद्यापृतत्वाचः संविदः ॥ १॥

छन्धिस्वरूप और उपयोगस्वरूप हो रहीं भावेंद्रियोंको पण्डितजन जान रहे हैं (प्रतिक्रा वाक्य) स्व और अर्थके ज्ञानमें योग्यता होनेसे तथा सम्वित्तिके न्यापार युक्त होनेसे (हेतु) अर्थात्—स्वार्यसम्वित्तिकी योग्यतासे छन्धिस्वरूप भावेंद्रियका अनुमान हो जाता है विशेष सम्वित्तिके न्यापारसे उपयोग आत्मक इन्द्रियोंका अनुमान कर छिया जाता है।

स्विध्सवभावानि तावद्भावेदियाणि स्वार्थसंवित्तौ योग्यत्वादात्मनः प्रतिपद्यंते । न हि तत्रायोग्यस्यात्मनस्तदुत्पत्तिराकाश्चवत् स्वार्थसंविद्योग्यतैव च स्विधिरितिः स्वधीदियसिद्धिः । रपयोगस्वभावानि पुनः स्वार्थसंविदो न्यापृतत्वािश्वाश्चित्वंति । न । श्रव्यापृतािन स्पर्शादिसंवद-नािन पुंसः स्पर्शादिपकाशकािन भवितुमदिति सुषुप्तादीनामपि तत्प्रकाशनप्रसंगात् ।

प्रथम ही लिक्स्वरूप छह भावेन्द्रियां तो स्वार्थोंकी संवित्त करनेमें योग्यतासे आत्माके हो रही समझ ली जातीं हैं या विद्वान् इन्द्रियोंको समझ लेते हैं। उस स्वार्थसम्बेदनमें अयोग्य हो रहे आत्माके उन विद्युद्धिस्वरूप लिक्स्योंकी उत्पत्ति नहीं हो पाती है। जैसे कि आकाश द्रव्यके क्षयोपशम विशेष नहीं उपजता है। और स्वार्थसम्बित्तिकी योग्यता ही तो लिक्स्य है। इस प्रकार, अनुमान प्रमाणसे लिक्स्य स्वरूप इन्द्रियोंकी सिद्धि हो जाती है तथा फिर उपयोगस्वरूप दूसरी भावेन्द्रियोंको स्वार्थसम्बित्तिका व्यापार करनेसे पण्डितजन निर्णीत कर लेते हैं। व्यापाररहितं हो रहे स्पर्श आदिके सम्बेदन तो आत्माको स्पर्श आदिके प्रकाशक नहीं हो सकते हैं। अन्यथा गांड सोती हुयी अवस्थावाले या मूर्जित हो रहे आदि पुरुषोंको भी उन स्पर्श आदिके प्रकाश जानेका प्रसंग हो जायगा। अतः व्यापार कर-स्पर्श आदिको प्रकाश रहे ज्ञान या दर्शन तो उपयोगस्वरूप भावेन्द्रियां हैं।

स्वार्थप्रकाशने व्यापृतस्य संवेदनस्योपयोगत्वे फलत्वादिद्वियत्वानुपपितिति चेन्न, कारण-धर्मस्य कार्यानुवृत्तेः । न हि पावकस्य प्रकाशकत्वे तत्कार्यस्य प्रदीपस्य प्रकाशकत्वं विरुध्यते । न च येनैव स्वभावेनोपयोगस्येद्वियत्वं तेनैव फल्लत्विष्यते यतो विरोधः स्यात्, साधकतमत्व-स्वभावेन हि तस्येद्वियव्यपदेशः क्रियारूपत्यां तु फल्लतं प्रदीपवत् । प्रदीपः प्रकाशात्मना मकाश्रमतीत्यत्र हि साधकतमः प्रकाशात्मा करणं क्रियात्मा फल्लं स्वतंत्रात्मा कर्तेति प्ररूपितमायं।

किसीकी शंका है कि स्वार्थोंके प्रकाशनेमें व्यापार युक्त हो रहे सम्वेदनेको उपयोगपना मान-नेपर फल होजानेके कारण इन्द्रियपना नहीं बन सकता है, अर्थात् इन्द्रियोंकों फल उपयोग है, वह भक्त करणस्वरूप इन्द्रिय कैसे हो सकता है ! आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि कारणोंके धर्मकी कार्योमें अनुवृत्ति हो जाती है। कार्यामें इन्तियपना हैं को उसके कार्य वन वहे उन्नयोगमें भी इन्तियपनेका न्यवहार हो जाता है। देखों, अभिको प्रकाशकपना माननेपर उस अभिके कार्य हो रहे दीपकको प्रकाशकपना विरुद्ध नहीं पढता है। एक बात यह है कि जिस हाँ स्वमाय करके उपयोगको कियाका कहा जाता है उस ही स्वमाय करके फल्ल्पमा इष्ट नहीं किया जाता है, जिससे कि विरोध दीव ही जाय है देखों, स्वार्यसम्बद्धित कियाको करमेमें प्रकृष्ट साधकपन स्वभाव करके ही उस उपयोगको कियाका नमस्त्र है और कियासकर होनेसे उपयोगको फल्पनेका निरूपण है। प्रदीपके समान पक पदार्थमें भी करणपना और फल्पना चित्र हो जाता है, अर्थात्—प्रदीप (कर्ता) अपने प्रकाश स्वभाव करके (करण) पदार्थोको या स्वयंको (कर्म) प्रकाश रहा है (किया)। यहां इस वाक्यमें प्रकाशक कियाका साधकतम हो रहा प्रकाशस्त्ररूप करण है और प्रकाशन कियासकर फल्ट है तथा स्वयंक्ष हो रहा प्रदीप आत्मक कर्ता है। इस बात को हम कई बार निरूपण कर चुके हैं। इन्द्रिय शब्द का अर्थ उपयोगमें प्रधानतासे विद्यमान है। कर्यचित् मेद, अभेद, होनेसे उपयोगमें कितने ही अनेक स्वभाव घटित हो जाते हैं।

किं व्यपदेशलक्षणानि तानीदियाणीत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि उन इन्द्रियोंका नाम निर्देश क्या है ? और किस लक्षणवाली वे इन्द्रियां है ! इस प्रकार बुमुत्सा होनेपर शिष्यके प्रति श्री उमास्त्रामी महाराज अग्रिम सूत्र द्वारा इन्द्रियोंके नाम कीर्चन, आनुपूर्वी और निरुक्तिपूर्वक लक्षणको कह रहे हैं।

स्पर्शनरसनद्राणचक्षुः श्रोत्राणि ॥ १९ ॥

जिससे झुआ जाय ऐसी स्पर्शन इन्द्रिय १ आत्मा जिससे रसको चाटे यानी पुद्रस्थके स्वादको जाने ऐसी रसना इन्द्रिय २ सूंघनेमें आत्माका हेतु वन रही वाण इन्द्रिय ३ अधींको देखनेमें आत्माका निमित्त हो रही चक्षुः ४ तथा आत्माको राह्न सुनानेवाला कान ५ इस प्रकार पांच इन्द्रियां हैं।

स्पर्धनादीनां करणसाधनत्वं पारतंत्र्यात् कर्तृसाधनत्वं च स्वातंत्र्याद्वहुलवचनात्। तैनान्वर्थसङ्गाकरणदिवैच्यपदेशान्येवंलक्षणानि च पंचेद्रियाणीत्यभिसंबंधः कर्तव्यः।

सूत्रमें कहे गये स्पर्श आदि राद्वोंको करणसाधनपना है। क्योंकि वे परतंत्र हैं और स्वतंत्रता होनेसे स्परीन आदि राद्व कर्तामें भी साध छिये जाते हैं। भावार्थ—तुदादि गणकी "स्पृश संस्पर्शने" भाति करणमें युद् प्रस्थय करनेपर स्पर्शन सद्ध साध छिया जाता है। चुरादि गणकी " रस आस्वादन-केशनोः" भातिस करणमें युद् प्रस्थय कर देनेपर रसन राद्व कन जाता है। स्वादि गणकी " आ गुन्धोपादाने " धातुसे युद् प्रस्थ करनेपर प्राण राद्व सथ जाता है। अदादि गणकी करनेपर माम्बोपादाने " धातुसे युद् प्रस्थ करनेपर प्राण राद्व सथ जाता है। अदादि गणकी करनेपर माम्बोपादाने युद् प्रस्थ करनेपर प्राण राद्व सथ जाता है। अदादि गणकी

मणीय " कु श्रवणे " धातुसे त्रक् प्रत्यय करनेतर श्रीत्र शहर सिद्ध हो जाती है। अनिकी उरपित्तमें इन्द्रियां करण हैं। अतः परंतत्रपनेकी विवधासे करणों युट् आदि प्रत्ययोंको कर लेका। हो, स्पर्शन इन्द्रिय छू रही है, रसना इन्द्रिय चाट रही है, यों स्वतंत्रताकी विवधा होनेपर कार्यों भी उक्त पांचों शहरोंको साथ लिया जाता है। " युक्त्या बहुल्म " वहां " बहुल्ल " वक्ताले कर्त्वमें भी युट् प्रत्ययकी विधि हो जाती है तिस कारण इन स्पर्शन आदिकींकी शह निरुक्ति अनुसार अर्थवाचक संका कर देनेसे इस प्रकार स्पर्शन, स्सन, आदि व्यपदेशको धारकेवाले हे इन्द्रियां हैं। यों शहर्य कर लिया जाय तथा निरुक्ति अनुसार निर्दोष सक्ता सम्बन्ध कर लेका कारकेवाले हे इन्द्रियां हैं। यों शहर्य कर लिया जाय तथा निरुक्ति अनुसार निर्दोष सक्ता सम्यन्य कर लेका कारकेवाले हैं। इस ढंगसे पूर्व सृत्योंको मिलाकर वाक्यार्थका सम्यन्य कर लेका कारकेवाले हैं।

स्पर्धनस्य प्रहणवादी शरीरच्यापित्यात्, वनस्यत्यंतानामेकवित्यवाभीष्टत्वात् सर्वसंसारिष्युलब्धेश्च । तते रसनद्राणचश्चर्षां कववचनशुक्तरोक्तराव्यत्यात्, श्रोत्रस्याते वयनं वर्ष्यकारित्वात् । रसनपि वच्हत्वेन वहूपकारीति चेत् न तेन श्रोत्रमणालिकापदितस्योपदेशस्यीवारणात् तत्यारतंत्र्यस्वीकरणात् । सर्वश्चे तदभाव इति चेक्न, इन्द्रियाधिकारात् । न दि
सर्वश्चर्य शब्दोचारणे रसनच्यापारोस्ति तीर्थकरत्वनामकर्मोदयोपजनितत्वात् यगवचीर्यकरावगमस्य करणव्यापारापेक्षत्वे कमपद्यक्तिप्रसंगात् । सक्छवीर्योतरायक्षयात्र अध्यमहत्तिह्यस्यीव
चेत्, तत एव करणापेक्षापि वा भृत् । ततः सक्तं श्रोत्रस्याते वचनं बहुपकारित्यादिति ।

श्रीन्द्रिय जीव और त्रीन्द्रियोंकी अपेक्षा चतुरिन्द्रियोंके घारी जीव भी थोडे थोडे हैं। सर्व इन्द्रियोंके अंतर्मे कर्ण इन्द्रियका कथन यों किया गया है कि सभी इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रोत्र इन्द्रिय इस जीवका बहुत उपकारी है। कानोंसे उपदेशको सुनकर अनेक जीव दितकी प्राप्ति और अहि-तका परिहार कर ठेते हैं। उत्कृष्ट ज्ञानी या तत्त्वज्ञानी बन जाना कानोंसे ही साध्य हो रहा कार्य है। सभी मोक्षगामी जीव कानोंसे उपदेशको सनकर देशनालिय द्वारा साक्षात या परम्परास मुक्तिलाम कर सके हैं। जीवकी विशेषक बनानेवाला श्रोत्र ही है। यहां किसीकी शंका है कि रसना इन्द्रिय भी तो वक्तापने करके बहुत उपकारी हो रही है। स्वर्ग या मोक्षके उपयोगी पर्दीका उचारण करना, अध्ययन करना, जाप्य देना, इनमें रसना इन्द्रिय कारण है। अतः रसना ही अन्तमें कहनी चाहिये । आचार्य कहते हैं यह तो न कहना । क्योंकि तुमने श्रोत्रको बहुत उपकारी स्वीकार कर पुनः रसनाका भी बहुत उपकारीयना आपादान किया है । अतः तुम्हारे मुखसे ही हमारी बातका समर्थन हो जाता है। एक बात यह भी है कि श्रोत्रकी प्रणालिकासे विषयको निर्णीत कर पुनः उस रसनासे उपदेशका उच्चारण होता है । अतः रसनाको श्रोत्रकी परतंत्रता तुमको स्वीकार करनी पडेगी। यहां रसन शन्दसे जिह्नाका खुरपाके समान लम्बा, चौडा, मोद्या उपकरण लेना, कर्मेन्द्रियोंको माननेत्राले जिसको कि वाक शब्दसे पकडते हैं। सच पूछी तो रसना केवल स्वाद लेनेमें चिरतार्थ हो रही है। हां, चर्मकी जिव्हा वक्तापनेमें व्यापार करती है। यों बोलनेमें उपकरण हो रही जिव्हाने श्रोत्र इन्द्रियकी पराधीनता अङगीकार कर रक्खी है। पुन: यहां कोई यों शंका करता है कि सर्वज्ञमें उस श्रोत्रकी परतंत्रताका अभाव है। अर्थात सर्वन्न भगवान तो श्रोत्रोन्द्रियके बळाधानसे अन्य वक्ताओंसे पदार्थका निर्णय कर पनः वक्तापन को प्राप्त नहीं होते हैं। किन्तु सर्वब्रदेव तो ज्ञानावरणका क्षय हो जानेसे केवलब्रानको उपजाकर वक्ता-पन करके सम्पूर्ण शास्त्रोंका उपदेश कर देते हैं । अतः रसना ही बहुत उपकारक प्रतीत होती है । ध्रन्थकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंकि यहां प्रकरणमें इन्द्रियोंका अधिकार चला आ रहा 🕯 । अतः जिन जीवोंमें इन्द्रियोंसे किया गया हित, अहित, उपदेश है, उन जीवोंके प्रति श्रोत्र इन्द्रिय अधिक उपकारी मानी गयी है। अतीन्द्रियज्ञानधारी सर्वज्ञ देवकी बात न्यारी है। सामान्य पुरुषोंमें देखी गयी टेवका विशिष्ट पुरुषोंमें भी आपादान नहीं करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि उच्चारण करनेमें सर्वब्रके रसना इन्द्रियका न्यापार नहीं है। नामकर्मकी विशेष प्रकृति तीर्थकरत्वके उदयसे भग-बान्के सर्व अंगोंसे निकल रही मेघगर्जनके समान दिव्यष्वनि भव्योंके भाग्यवश उपज जाती है। अतः सर्वन्नकी वक्तृत्व कलामें रसनाका कोई ज्यापार नहीं है। हां, अन्य वक्ताओंकी वचनकलामें रसना को श्रोत्रकी पराधीनता अनिवार्य है। वे वक्ता पहिले अपने गुरुओंसे स्वकीय श्रोत्र द्वारा वाष्यार्थका निर्णय कर पश्चात् जिन्हासे उपदेश देते हैं। भगवान् तीर्थकरके ज्ञानको यदि इन्द्रियोंके व्यापारकी अपेक्षा मानी जावेगी तो ज्ञानकी कम कमसे प्रवृत्ति होनेका प्रसंग होगा। जीकि किसी भी सर्वज्ञवादीको

इष्ट नहीं है। सर्वञ्च देव युगपत् श्रिलोक त्रिकालवर्सी पदार्थीका प्रत्यक्ष झान कर रहे हैं। यदि कोई यों कहें कि सम्पूर्ण वीर्यान्तराय कमीका क्षय हो जानेसे उस सर्वञ्चके ज्ञानकी क्रमसे प्रवृत्ति नहीं होगी। अवन्तशक्तिहारा सबका ज्ञान युगपत् हो जायगा। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तिस ही कारणसे अर्थात्—वीर्यान्तरायका क्षय हो जानेसे ही सर्वञ्चके ज्ञानको इन्द्रियोंकी अपेक्षा भी नहीं होवे। सर्वञ्चके ज्ञानको प्रथम इन्द्रियोंकी अपेक्षा मान कर पीछे अनन्त वीर्य होनेसे क्रम प्रवृत्तिका रोकना क्रिष्ट कल्पना है। तिस ही से तो हमने बहुत अच्छा यों कहा था कि बहुत उपकारी होनेसे उमास्वामी महाराजने सर्व इन्द्रियोंके अन्तमें श्रोत्रका कथन किया है। इस प्रकार प्रकरणको समास कर दो तो अच्छा है।

एकैकबुद्धिश्रापनार्थे वा स्पर्शनादिक्रमवचनं ।

अथवा यह सिद्धान्त उत्तर सबसे अच्छा है कि भविष्य चौथे सूत्रमें छट, चींटी, भोंरा, मनुष्य, आदिकोंके एक एक बढी हुयीं इन्द्रियां कहीं जावेंगी । अतः एक एक इन्द्रियकी योग्यतानुसार दृद्धिको समझानेके छिये स्पर्शन, रसन, आदि इन्द्रियोंका कमसे वचन किया गया है । अन्यथा इन्द्र करनेपर अलप अक्षरवाछी या पूज्य इन्द्रियका पिंहले प्रयोग हो जाता। बात यह है कि जीवोंके इन्द्रियोंकी दृद्धि जिस जिस कमसे हुई है, उसी ढंगसे सूत्रमें इन्द्रियोंका पाठकम है ।

कुतः पुनः स्पर्शनादीनि जीवस्य करणान्यर्थोपलब्धावित्याह ।

यहां कोई जिज्ञासु पुनः प्र्छत। है कि जीवके अर्थकी उपलब्धि करनेमें स्पर्शन आदिक इन्द्रियां करण हो रहीं हैं, यह किस प्रमाणसे निर्णय किया जाय ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं।

स्पर्शनादीनि तान्याहुः कर्तुः सांनिष्यवृत्तितः । क्रियायां करणानीह कर्मवैचित्र्यतस्तथा ॥ १॥

कत्ती आत्माके सिन्नेकट वर्तीपनसे प्रवृत्ति करनेसे आचार्य उन स्पर्शन आदिकोंको ज्ञिति कियामें करण कह रहे हैं तथा कमीकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां भावेद्रिय हो रहीं हैं, अर्थात्—नामकर्मकी विचित्रतासे उत्पन्न हुयीं द्वय इन्द्रियां तो ज्ञान करनेमें आत्माकी करण हो जाती हैं और ज्ञानावरण तथा बीर्यान्तरायके क्षयोपशमकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां भावेन्द्रिय हो जाती हैं।

स्पर्धनादीनि द्रव्यंद्रियाणि तावनामकर्मणो वैचित्र्याग्रुपलब्धेरात्मनः स्पर्धादिपरिच्छे-दनकियायां व्याप्रियमाणस्य सानिध्येन द्वत्तेः करणानि लोके प्रतीयंते । भावेद्रियाणि पुनस्त-दावस्णविर्षीतरायक्षयोषश्चमस्य वैचित्र्यादिति यंतव्यं ।

जगत्के विधाता नामकर्मकी विचित्रता, चमत्कृति, आदि देखी जा रही हैं। अतः स्पर्धन आदिक पांच ब्रच्येंद्रियां तो स्पर्श, रस, आदिकी परिच्छिति कियाको करनेमें साधकतम हो रहीं कर्त्या आरमाकी सहायक कारण हैं। क्योंकि परिच्छिति क्रियामें व्यापार कर रहे आत्मके निकंडकरीयने कारण वे इन्द्रियां लोकमें करण हो रही जानी जाती हैं। हां, फिर उन उन स्पर्देशान, रिस्त्रान, आदिका आवरण करनेवाले झानायरण और नीर्यान्तराय कर्नीके क्षयोपरामकी विचित्रतासे वे इन्द्रियां आत्मपरिणति स्वरूप मावेन्द्रियां हैं, ऐसा मान छेना चाहिये।

तेषां परस्परं तद्वतथ भेदाभेदं प्रत्यनेकांतोपपत्तः। न हि परस्परं ताषादिद्वियाणामभेदैकातः स्वर्भनेन स्वर्भस्येव रसादीनामपि प्रहणप्रसक्तिरिद्वियांतरप्रकल्पनानर्थक्यात् । कस्यचिद्वैकल्प साकल्य वा सर्वेषां वैकल्पस्य साकल्पस्य वा प्रसंगात्। नापि भेदेकांतस्तिषामकत्वसैकलन्द्वान-जनकत्वाभावपसंगात् । संतानांतरिद्वियवत् । पनस्तस्य जनकिमिति चेक्, हिंद्रियनिरिपक्षस्य तज्जनकत्वासंभवात् । इंद्रियापेक्षं मनोनुसंधानस्य जनकिमिति चेत्, संतानांतरिद्वियपिक्षं कृतो न जनकं ? प्रत्यासत्तेरभावादिति चेत्, अत्र का प्रत्यासत्तिः श्र अन्यत्रकात्मतादात्म्यादेशकालभाव-क्रियासत्तीनां व्यभिचारात् । ततः स्पर्शनादीनां परस्परं स्यादभेदो द्रव्यायदिशात्, स्यादेदः पर्यायार्थदेशात् ।

उन स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका परस्परमें और उस उस इन्द्रियवार्छ आत्माके साथ भेद तथा अभेदके प्रति अनेकान्त बन रहा है। अर्थात्-इन्द्रियोंका परस्परमें कर्थाचिद् भेद, अभेद है तथा इन्द्रिय बाले आत्माके साथ भी इन्द्रियोंका कथांचित् भेद अभेद है। सर्वथा भेद या सर्वथा अभेद नहीं है। देखिये, इन्द्रियोंका परस्परमें एक दूसरेके साथ एकान्त रूपसे अमेद मानना ती ठीक नहीं पढ़ेगा। क्योंके स्परीन इन्द्रियसे जैसे स्परीका प्रहण हो रहा है, वैसे ही अकेटी स्परीनसे रस, गन्ध, आदिकीं-के भी प्रहण हो जानेका प्रसंग होगा। जब स्पर्श, रसना, बाक, जांदि स्वी इतिस्पा अविक है तो ऐसी दशामें स्पर्शनके अतिरिक्त अन्य इन्द्रियोंकी कल्पना करना व्यर्थ महेगा । इदूसरी बात यह है कि किसी एक इन्दियकी विकलता या सकलता हो जानेपर सभी इन्द्रियोंकी विकलता या सफलता हो जाने-का प्रसंग होगा । आंख या कानके ट्रट जानेपर सभी इन्द्रियां नष्ट ऋह हो जायंगीं, एकेन्द्रिय जीवके भी पांचों इन्द्रियां वन बैढेंगी। अतः इन्द्रियोंका परस्परमें सर्वथा अभेद मानना उचित नहीं। तथा उन इन्द्रियोंका परस्परमें एकान्त रूपसे भेद भी नहीं मानना चाहिये। क्योंकि एकपन और सकळन रूपसे क्रानकी उत्पत्ति करानेके अभावका प्रसंग हो जायगा। जैसे कि अन्य सन्तान यानी दूसरी दूसरी आत्माओंकी इन्द्रियोंमें एकत्व रूपसे संकल्न ज्ञान नहीं हो पाता है। भावार्थ देवदत्तसे जिन दत्त सर्वथा मिन है। देवदत्तने अपनी चक्कसे घटको देखा, जिनदत्तने स्वकीय स्वरीन इन्द्रिवसे काटकी छुआ, ऐसी दशामें जिनदत्त यों नहीं कह सकता है कि की ही मैं देखनेका था वही में अपने छ रहा है। कारण कि सर्वथा मिन ज्ञाताओंमें या उनकी इन्द्रियों द्वारा हुए ज्ञानोंमें जीडनेवाला संकलन क्षाम नहीं बंनता है । उसी प्रकार इन्द्रियोंका भेद आनमेपर ओ ही मैं देख खुका है वही भें छ साह

١

हैं। वेका एकता प्राथमिकान नहीं हो स्त्रोता । यदि कोई यों नहें कि वहींना और स्वरूपकी आस्त्र मका कर हो। उस प्रविश्वासम् करन तो मन है। इन्द्रियोंका अभिक्षापक मत प्रत्पस्ती योजना का देता. है। आकार्य कहते हैं कि वह तो न कहना, क्योंकि इन्हियोकी कही अपेक्षा रखनेवाळे मनको उस प्रत्यमिश्चानका जनकपना असम्भव हैं । यदि यों कहें कि इन्द्रियोंकी अपेक्षा रख रहा मन तो प्रत्यभिज्ञानका जनक हो जायगा। यों कहनेपर तो इस जैन कहेंगे कि तब तो सर्वधा भेंद पक्षमें अन्य आत्माओं के इन्द्रियोंकी अपेक्षा रख रहा मन भरा क्यों नहीं प्रत्यभिद्धानका जनक हो जाय है अर्थात् देवदत्तके देखे हुयेका यहदत्तको अनुसन्धान हो जाना चाहिये । एक आत्माकी सिन्न भिन्न इन्द्रियोंके समान दूसरे आत्माओंकी इन्द्रियोंका अधिष्ठायक मन हो जाय । यदि भेदवादी वैशेषिक यों कहें कि सम्बन्ध विशेषके न होनिसे वह मन अन्य आत्माओंके इन्द्रियोंकी अपेक्षा नहीं रख सकता है। हां, प्रकरणप्राप्त आत्माकी पांची इन्द्रियोंके साधन इस मनका कोई विशेष नाता है। अतः उन इन्द्रियोंके विषयोंकों अन्वित कर देता है, अन्यके विषयोंकों नहीं, यों कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि भाई, एक आत्मद्रव्यके साथ तदात्मकपन हो जानेकै अतिरिक्त यहां प्रकरणमें दूसरी भला. क्या प्रत्यासित (नाता या सम्बन्ध) हो सकती है ै देशप्रत्यासित, काल प्रत्यासित, भावप्रत्यासित, इनका तो व्यभिचार देखा जाता है। अर्थात्—पांचों इन्द्रियोंकी एक द्रव्य (आलाः) प्रत्यासितः माननेपर तो देवदत्तकी पांचीं इन्द्रियोंमें अनुसंधान होता घट जाता हैं । साथमें सन्तानान्तरोंकी इन्द्रियोंमें परस्पर अनुसन्धान होनेका भी निराकरण हो जाता है। किन्तु देशप्रत्यासत्ति मान लेनेसे इष्टकी सिद्धि और अनिष्टका दूषण ये नहीं बन पाते हैं। एक परीक्षा भवनमें ौठे हुये एक देशवर्ती अनेक छात्रोंमें परस्पर अनुसन्धान हो रहा नहीं देखा गया है। हां, यदि सूक्षातासे विचार करोगे तब तो एक देवदत्तके शरीरमें आंख, कान, नाक, जीमका भी न्यारा न्यारा स्थान नियत है। उन्में अनुसंधान नहीं हो सकेगा । अतः देशप्रत्यासित द्वारा अनुसन्धान होना माननेमें अन्यय व्यक्ति-चार और व्यतिरेक व्यभिचारदोष आते हैं। कालप्रत्यासितमें भी उक्त दोष आते हैं। अर्थात् एक ही कालमें वर्त्र रहे अनेक जीवोंमें कालप्रत्यासित होते हुये भी परस्पर अनुसन्धान हान नहीं हो रहा है। साथमें उसी बालक, युवा, वृद्ध, देवदत्तमें कालप्रत्यासत्तिके विना भी संकलन इान हो जाता हैं। इसी प्रकार भावप्रत्यासात्तियों के भी व्यभिचार आते हैं। समान ज्ञान या सुख, दु:खको धारनेवाले जीवोंमें भाग प्रकाशिक होते हुये भी परस्पर देखें, सुते, हुये, बाटे, सूंधेका विषयगमन होकर अनुसन्धान नहीं हो रहा है। परिशेषमें द्रव्यप्रत्यासित ही निर्दोष ठहरती है। तिस कारण द्रव्याधिकनयदारा क्यन करनेसे स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका परस्परमें कथंचित् अभेद है और पर्यामार्थितकायकी विवासासे स्पर्धन आदिकांका कथंचित् भेद है।

प्रकेश तेषाः तहताः भदाभदेशांतीः गत्युक्ती । आत्मनः करणानामभदेशांते कर्तृत्वः मर्समानामात् । आत्माने वा करणस्वमसंगः, उभयोरभणस्यकत्मकांनी वा विशेषानाचार् । ततस्तेचां भेदेकांते चात्मनः करणत्वाभावः संतानांतरकरणवत् विपर्ययो वेत्यनेकांत प्राथयः जीयः, मतीतिसद्भावाद्धाधकाभावाच । तथा द्रव्यंद्रियाणामपि परस्परं स्वारंभकपुर्व्यव्याच भेदाभदं मत्यनेकांतीववोद्धव्यः पुद्रलद्भव्यार्थादेशादभेदोपपत्तः । भितिनियतपर्यायार्थादेशाचेचां भेदोपपत्तेथ ।

इस उक्त कथनकरके उन इन्द्रियोंका उस इन्द्रियवान् आत्माके साथ सर्वथा भेद और एकान्त अभेदका भी खण्डन कर दिया गया है। देखो, आत्माका इन्द्रियोंके साथ यदि एकान्तरूपसे अभेद माना जायगा तो आत्माके समान इन्द्रियोंको भी कत्तीपनका प्रसंग हो जायगा । ऐसी दशामें इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी अथवा आत्मा और इन्द्रियोंका अभेद माननेपर इन्द्रियोंके समान आत्माको भी करण बन जानेका प्रसंग होगा । तथा आत्मा, इन्द्रिय, दोनोंको कर्त्ता, करण, दोनों आत्मकपनका प्रसंग हो जावेगा । क्योंकि सर्वथा अभेदपक्षको पकड छेनेपर किसीमें कोई विशेष प्रकारका अन्तर नहीं है। तथा उन इन्द्रियोंका तहान उस आत्माके साथ यदि सर्वथा भेद माना जायगा तो अन्य आत्माओंकी इन्द्रियोंके समान प्रकरण प्राप्त आत्माकी भी ये इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी। अर्थात्-दूसरेकी इन्द्रियां सर्वथा भिन्न हो रहीं जैसे हमारे ज्ञानमें करण नहीं हो पाती हैं, उसी प्रकार भिन हो रहीं हमारी आत्मासे भी हमारी इन्द्रियां करण नहीं हो सकेंगी अथवा विपर्यय ही हो जावेगा । यानी हमारी भिन्न इन्द्रियोंके समान दूसरोंकी इन्द्रियां भी हमारे ज्ञानमें करण बन बैठेंगी। इस कारण कथंचित् भेद, अभेदरवरूप अनेकान्तका ही आश्रय प्रहण करना चाहिये। कथंचित भेद, अमेदके स्याद्वाद सिद्धांतमें प्रमाणिसद्ध प्रतीतियोंका सद्भाव है और बाधक प्रमाणीका अभाव है। तिसी प्रकार उक्त मार्वेद्रियोंके समान पांचों द्रव्येद्रियोंका भी परस्परमें और अपनेको बनानेवाळे पुद्गल द्रव्यसे हो रहे भेद अभेदके प्रति अनेकान्त समझ छेना चाहिये। द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नयका सर्वत्र अधिकार है। पुत्रल द्रव्यस्वरूप अर्थकी विशेष अपेक्षासे तो द्रव्येंद्रियोंका अभेद बन रहा है और स्पर्शन, रसना, आदि प्रत्येकके छिय नियत हो रही पर्यायस्यरूप अर्थकी अपेक्षा उन इच्येन्द्रियोंका मेद सिद्ध हो रहा है। सप्तभङ्गी अनुसार एकत्व और नानात्वसे अतिरिक्त आगेके पांच भंग भी लगा छेना। अम्यन्तरनिर्द्वति स्वरूप द्रव्येद्रियोंका परस्पर या उपादान कारण आत्माके साथ कथैचित् भेदाभेद है।

इतींद्रियाणि भेदेन व्याख्यातानि मतांतरं । व्यवचिच्छित्सुभिः पंचसूत्र्या युक्त्यागमान्वितैः ॥ २॥

यों यहांतक युक्ति और आगम प्रमाणसे अन्तित हो रहे तथा इन्द्रियोंकी एक, दो, ग्यारह, इन संख्याओंको माननेवाले अन्य मतोंके व्यवच्छेद करनेकी इच्छा रखनेवाले श्री उमास्वामी महाराजने पांच सूत्रोंके समुदाय द्वारा भिन्न भिन्न करके पांच इन्द्रियोंको बखान दिया है। अर्थात्—" पंचेंद्रियाणि".

दिविधानि, निर्श्तुपकरणे द्रव्येन्द्रियम्, लब्ल्युपयोगी मानेन्द्रियम्, स्पर्शनरसन्त्राणचक्षुःश्रोत्राणि ?' इन पांच सूत्रों करके नियत पांच इन्द्रियोंका व्याख्यान किया गया है।

इदानीमिद्रियानिद्रियनिषयपदर्शने कर्तव्ये, के तानदिद्रियनिषया इत्याह ।

अब इस समय इन्द्रियों और अनिन्द्रियके द्वारा जानने योग्य विषय अर्थका प्रदर्शन करना कर्तच्य होनेपर शिष्यकी '' इन्द्रियोंके विषय तो भला कीन है ? '' ऐसी जिक्कासा होनेपर श्री उमा-स्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

स्पर्शरसगंधवर्णशब्दास्तदर्थाः ॥ २० ॥

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द ये उनके इन्द्रियों द्वारा झातव्य विषय हैं। अर्धात्—स्पर्शन इन्द्रियसे पुद्रलका स्पर्श जाना जाता है, रसना इन्द्रियसे पुद्रलका रस चखा जाता है। बाण इन्द्रियसे पुद्रलका गंध सूंघा जाता है। चक्षुःइन्द्रियसे पुद्रलका रूप देखा जाता है और कर्ण इन्द्रिय द्वारा पुद्रलकी पर्याय हो रहा शब्द सुना जाता है। गुण, और गुणीका अमेद होनेसे स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा स्पर्शन वान् पुद्रल भी छूआ जाता है, रसनेंद्रिय द्वारा रसवान् पुद्रल भी चखा जाता है आदि।

स्पर्जादीनां कर्मभावसाधनत्वं द्रव्यपयीयविवक्षापपत्तः । तच्छन्दादिद्विपपरामर्ज्ञः तेषा-मयोस्तद्याः स्पर्जनादीनां कर्मविषयः स्पर्जादय इत्यर्थः । तद्यां इति पृत्यतुपपत्तिरसामध्यी-दिति चेत्, न चात्र गमकत्वात् नित्यसापेक्षेषु संबंधिक्षब्दवत् । य एव हि बाक्येर्यः संमतीयते । स एव पृत्ताविति गमकत्वं नित्यसापेक्षेषु संबंधिक्षब्देषु कथितं, यथा देवदत्तस्य गुरुकुछं देव-दत्तस्य गुरुषुत्रः देवदत्तस्य दासभार्येति । तथेहापि तच्छन्दस्य स्पर्जनादिसापेक्षत्वेपि गमक-त्वात् पृत्तिर्वेदितव्या ।

द्रव्य और पर्यायकी विवक्षा बन जानेसे स्पर्श, रस, आदिक शब्द तो कर्म और भाव अर्थमें साथ िये जाते हैं, अर्थात्—जब प्रधान रूपसे द्रव्य विवक्षित होता है, तब इन्द्रिय करके विषय हो रहा द्रव्य ही पकड़ा जाता है। इस पुद्रल द्रव्यसे न्यारे कोई स्पर्श आदिक नहीं हैं। इन्द्रिय करके जो छूआ जाय वह स्पर्श है, चखा जाय वह रस है, सूंघा जाय वह गंध है, देखा जाय सो वर्ण है, जो बोला जाय वह शब्द है, इस प्रकार स्पर्श आदिक शब्दोंकी कर्मसाधन निरुक्ति कर दी गयी है। किन्तु जब प्रधान रूपसे पर्याय विवक्षित है, तब मेद बन रहा है। उदासीनपनेसे अवस्थित हो रहे भावका कथन हो जाता है, तब छूना ही स्पर्श है, चखना रस है, सूंघना गंध है, देखना मात्र वर्ण है, उच्चारण या सुनना शब्द है, इस ढंगसे स्पर्श आदि शब्दोंकी भावमें प्रत्ययकर सिद्धि कर दी गयी है। सूत्रमें पढ़े हुये पूर्वका परामर्थ करनेवाले तत् शद्धसे इन्द्रियों ना परामर्श करलेना चाहिये। तब यों अर्थ हुआ कि उन इन्द्रियोंके विवय-मूत अर्थ यहां तदर्थ कहे जाते हैं। स्पर्शन, रसना, आदि इन्द्रियोंके झातव्य कनने योग्य विवय ये स्पर्श,

आदिका है। के अंक अवस्त वाक्योंका मिछाकर वाल्यार्थ हो जाता है । किसीकी यहां सेका है **बि: "** समर्थः पदाविधि: " समर्थ अन्त्रस्त्रोंकी समास्त्वाचि हो सकती है । यहां सामर्थ्य नहीं है, इसः कारण तेषां इन्द्रियाणां अर्थाः यो तद्रका यहां षष्टीतस्पुरुषसमास नहीं हो सकता है। पूर्व सूत्रोंमें इन्द्रि-योंका स्वतंत्र (प्रथमांत) निर्देश हैं, तद्धीः ऐसा समास कर वे इन्द्रियां गौण नहीं की जा सकती हैं। अतः " तैषा अर्थाः " यो व्यस्तपदकी ही बने रहेंगे । इस ढंगसे शंका करनेपर तो आचार्य कहते है कि यह दौंच इमारे ऊपर नहीं आता है। क्योंकि गमकपन होनेसे नित्य ही एक दूसरेकी अपेक्षा रखनेवाछे पदोमें समास हो जाता है। जैसे कि सम्बन्धी शद्धोंमें समास हो जाता है। देखो, जो ही अर्थ वाक्यमें भक्ते प्रकार जानाः जा रहा है वहीं अर्ध समासद्वत्ति करनेपर भी स्थिर रहता है । इस प्रकार नित्य अपेक्षासिंदत हो रहे संबंधी शद्धोंमें गमकपना कह दिया गया है। जैसे कि देवदत्तका गुरुकुछ है, इसका अर्थ देवदत्तके गुरुका यह कुछ है, इस प्रकार है। देवदत्तका गुरुकुछ है, यह अर्थ नहीं है। देक्दत्तका गुरुपुत्र इसका अर्थ देवदत्तके गुरुका यह लडका हो जाता है। " देवदत्तस्य दासभार्या " इसका अर्थ देवदत्तके दास की यह पत्नी हैं। यहां गुरु शद्ध नित्य ही शिष्य की अपेक्षा रखता है। अतः देवदत्तं शिष्य है उसके गुरुका कुछ अर्थ करना आवश्यक है। अन्यथा यह वाक्य ही अशुद्ध हो जायगा। दीक्षक आचार्यके अधीन हो रहा पाठक, शिष्य तथा अन्य कर्मचारियोंका समुदाय कुल कहा जाला है। समास पड़े हुए गुरुके साथ देक्दत्तका अभेद करना भी अनुचित है। तथैत्र दास शह भी स्वामीकी अपेक्षी रखता है। अतः देवदत्त स्वरूप स्वामीके दासकी स्वी यह अर्थ हो जाता है। ⁶⁶ **परोक्षपत्र पिराप्वं** नाजी तस्त्र काप्तापद्या '' यहां पटोलकी नाडी (नसे) कपा दोषको हरती हैं। यों संबंधीं शह अनुसार व्यवस्था की जाती हैं। तिसी प्रकार यहां भी स्पर्शन आदि इन्द्रियोंकी अपेक्षा धारते हुदे। भी तहा शहरों। गमकपमा है । अतः सामर्थः हो जानेसे " तदर्थाः " यहां षष्ठीतत्परुष्वतिः हसी समझ लेनी चाहिये।

स्पर्पादीनापातुपूर्व्येण निर्देशः इन्द्रियक्रमाभिसंबंधार्थः।

इस सूत्रमें स्परी, रैस, आदिकोंका आनुपूर्तीपने करके कथन करना तो इन्द्रियोंका कमपूर्वक एक एक विषयके साथ संबंध करानेके छिये हैं। अर्थात —पिहले कही गयी स्परीन इन्द्रियसे स्परी जाना जाता है, दूसरी रसना इन्द्रियसे रस जाना जाता है, दूसरी सम्पूर्ण इन्द्रियोंके ग्राह्म विषयोंमें लगा लेका चाहिये। तब तो द्विन्द्र समास किया जानेपर " अल्पाचतर, अम्यहिस, स्वंत आदि पदोंके पूर्वमें प्रयुक्त किये जानेका झंझट नहीं लगता हैं। शद्ध संबंधी न्यायसे अर्थसंबंधी न्याय प्रधान है।

कि पुनः स्पर्धादयो द्रव्यात्मका एव पर्यायात्मका एव चेति दुराशंकां निसकरोतिः।

क्याः स्पर्शः, रसः, आदिकः विषय ये द्रव्यास्त्ररूप ही हैं ! अथवाः क्याः पर्यायस्त्रकःप ही हैं ! ऐकि खेटी रांनाकाः निसंकरण श्री तिकानन्द वार्तिकोः दारों करते हैं ।

स्पर्शादयस्तदर्थाः स्युद्रेज्यपर्यायकात्मकाः । द्रव्यकाते क्रियापायात्सर्वथा कूर्मरोमवत् ॥ १ ॥ तथेव पर्ययेकांते भेदेकांते ज्ञयोरिष । अनेकांतात्मना तेषां निर्काधमुपल्धितः ॥ २ ॥

उन इन्द्रियों के विषय हो रहे स्पर्श आदिक अर्थ तो द्रव्य आत्मक और पर्यायआत्मक निशुक्त हैं वे स्पर्श आदिक न नेषल द्रव्यत्वरूप हैं और केवल पर्यायत्वरूप भी वे नहीं हैं। बंदि उनको संविधा द्रव्य होनेका एकांत माना जायगा तो कूमरोम (कलविक बाल) के समान असत् हो रहे निर्ध्य कूटस्य द्रव्यमें किया उपजना इष्ट हो जायगा। " नित्यत्वेकांतपक्षेपि विक्रिया केपप्रधते " (क्री-सर्नतमदः) तिस ही प्रकार स्पर्शादिकों को एकांत रूपसे यदि पर्याय ही माना जायगा तो भी द्रव्यके किया कल्क्यरोमक समान असत् हो रहे पर्यायक्ति विवर्ध मही हो सकेगा तथा इन द्रव्य और पर्याय दोनोंको एकांत रूपसे भेद माननेषर ही दोनोंका असत्व हो जाता है। अप्रिक्त विना अकेली उष्णता नहीं ठहरती हुयों असत् हो जाती है जीर उष्णता पर्यायके विना स्क्रिय अप्रिक्त असत्त हो जाता है। अप्रक्रिक्त विना अकेली उष्णता नहीं ठहरती हुयों असत्त हो जाती है जीर उष्णता पर्यायके विना स्क्रिय अप्रिक्त विना स्क्रिय अप्रिक्त विना स्क्रिय अप्रक्रिक्त स्वाय अप्रिक्त करित उप्रक्रिक्त हो जाता है। अतः अनेक अम्बास्थानक करके उम्पराश्चित आवादिकों शाक्षाव्यक्ति रहित उप्रलिख होजानेस स्पर्श आदिक द्रव्य पर्याय उभयात्मक हैं।

त्तरी अनेकात्मन एव स्पर्शाद्यः स्पर्शनादीमां विषयभावमनुभवंति नान्यभा असित्यवामाई।

तिस कारणंसे सिद्ध हुआ कि एकत्व, पृथक्त, या मेद, अभेद, अथवा द्रव्यपन, प्योधपम, आदिक अनेक धर्मोंके साथ तदात्मक एकरस हो रहे स्पर्श आदिक क्षेय ही स्पर्शम आदि इन्द्रियोंके क्षिय हो जानेका अनुभव करते हैं। अन्यया यानी इसरे प्रकारके एक ही धर्म आत्कक हो रहे स्पर्श आदिक उन स्मर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय नहीं हैं। क्योंकि पदार्थोंको द्रव्यस्करण ही या पर्यापकक्ष ही इस प्रकार एक ही धर्म आत्मक सिद्ध करनेवाठी प्रतीतियोंका अभाव है।

अयानिद्रियस्य को विषय इत्याह ।

बहिरंग मांच इन्द्रियोंका निषय कहा जा चुका है। अब अनिज्ञिय छटे अतका विषय क्याहै । इस प्रकार जिल्लासा कोनेपर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अभिम सूत्रको कहते हैं।

श्रुतमनिद्वियस्य ॥ २१ ॥

चक्क जादि इन्दियोंके समान नियत देश, तिषय, अनस्यान, नहीं होनेसे इन्द्रिय जान केंग्स् इन्द्रिय हो रहे मनका क्षेय विषय तो अतहानगम्य पदार्थ है। अर्थात् मतिहानसे पदार्थको जानका क्षाः अर्थीतरका विशेषतया अवधारण करना या विचार करना अंतरंग इन्द्रिय मनके द्वारा होता है। अन्यया नहीं । उक्त कार्य पांचों बहिरंग इन्द्रियोंसे साध्य नहीं है। शब्दको सुनकर उसके वाच्यार्थका ज्ञान करना, हिताहित विचारपूर्वक किया करना, शिक्षा या उपदेश ग्रहण करना, तथा कर्त्तव्य, अक्तिच्य या तस्व, अतस्वकी मीमांसा करना ये सब विचारक मन इन्द्रियके कार्य हैं।

अर्थ इत्यभिसंबंधः सामध्यति । नतु चाश्रूयमाणमनिद्रियमत्र तत्कयं तस्य विषयो विकृत्यते इत्याह ।

पूर्वसूत्रमें पड़े हुये " तदर्थाः " राद्धसे अकेले अर्थकी अनुवृत्ति कर लेना। पूर्वापर सम्बन्ध रखनेवाले वाक्यार्थकी सामर्थ्यसे " तत् " और बहुवचनांत " अर्थाः " की अनुवृत्ति नहीं कर कैवल अर्थ राद्धका ही अनुवर्तन किया जायगा। यहां रांका है कि अनीदिय मन तो यहां प्रकरणमें नहीं खुना जा रहा है तो फिर यहां कैसे उस अप्रकृत मनका विषयनिरूपण किया जाता है ? बताओ, ऐसी आरांका होनेपर श्री विद्यानंद आचार्य उत्तरको कहते हैं, सावधान होकर सुनिये।

सामर्थ्याद्गम्यमानस्यानिंद्रियस्येह सूत्रितः । श्वतमर्थः श्वतज्ञानगम्यं वस्तु तदुच्यते ॥ १ ॥

जब कि इन्द्रियोंके विषय प्रतिपादनका प्रकरण है पूर्वापार कथनकी सामर्थ्यसे जान लिये जा रहे मनका विषय श्रुत है, यों यहां सूत्र द्वारा निरूपण किया गया है। " मतिश्रुतावधिमनः पर्ययकेवल्यानि हानम् " इस सूत्रमें श्रुतका अर्थ श्रुतक्कान है। किंतु इस सूत्रमें श्रुतक्कानद्वारा जानी जा रही वस्तु वह श्रुत कही जा रही है।

पंचैवेंद्रियाणीति वदता मनोनिंद्रियमंतःकरणं सामर्थ्यादित्युक्तं भवति तस्य च विषयः श्रुतमितीइ सूत्रयतो न सूत्रकारस्य विरोधः । श्रुतं पुनः श्रुतज्ञानसमधिगम्यं वस्तूच्यते विषये विषयिण उपचारात् ।

" पंचेंद्रियाणि " इस सूत्र द्वारा पांच है। बहिरंग इन्द्रियोंको कह रहे सूत्रकार करके ईषत् इन्द्रिय हो रहा अंतरंग करण मन तो सामर्थ्यसे ही प्राप्त हुआ, यो कह दिया जाता है। अतः उस मनका विषय श्रुत है। इस प्रकार यहां स्वतंत्र सूत्र बनाकर कह रहे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजको कोई विरोध प्राप्त नहीं होता है। अर्थात्—पहिले अध्यायमें " तदिंद्रियानिर्द्रियनिमित्तम् " मनःपर्ययकानं, " न चक्षुर्रानिद्रियाम्याम् " ये कथन किये हैं। दूसरे अध्यायमें भी अभी " समनस्काऽभनस्काः" कहा है। एतावता अंतरंग करण तो मन इन्द्रिय है, ऐसा कह दिया गया प्राप्त हो जाता है। बहिरंग इन्द्रियांके प्रकरणमें मनको नहीं कहा तो क्या हुआ । मनके भी दोनों प्रकार निवृत्ति उपकरण और लिख

उपयोग ये भेद अभीष्ट हैं। हां, मनका त्रिषय अभीतक नहीं बताया था, प्रकरणकी सामध्येंसे भी नहीं जाना जा सकता है। उसके लिये विषय निक्षपण भे प्रकरणमें अन्य इन्दियों के साथ लगे हाय इस सूत्र द्वारा मनका विषय कण्ठोक्त किया है। सूत्रमें पढ़े हुये श्रुत शब्दका अर्थ फिर श्रुतज्ञान नहीं करना। किंतु श्रुतज्ञानसे भले प्रकार जान लिया गया पदार्थ कहा गया है। विषयमें विषयीका उपचार है। जैसे कि प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय हो रहे घटको प्रत्यक्ष कह देते हैं, वैसे यहां भी श्रुतज्ञानसे जानने योग्य विषयको श्रुत कह दिया है। विषयी हो रहे ज्ञानका धर्म श्रुतपना विषयमें धर दिया है।

मतिक्रानपरिच्छेद्यं वस्तु कथमनिन्द्रियस्य विषय इति चेक्न, तस्यापि श्रुतक्रानपरिच्छेद्य-त्वानतिक्रमात्। अविधमनःपर्ययकेवलक्षानपरिच्छेद्यमपि श्रुतक्षानपरिच्छेद्यत्वादनिद्रियस्य विषयः स्यादिति चेत्, न किंचिदनिष्टं। तथा हि—

यहां कोई शंका करता है किं जब श्रुतज्ञानका विषय ही मनसे जाना जायगा तो मितिज्ञानसे जान लिये गये दुःख, इच्छा, पीडा, आदिक पदार्थ मछा मनके विषय किस प्रकार हो सकेंगे ! बताओ । ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो न कहना । क्योंिक मितिज्ञानसे जाने हुये उस पदार्थको भी श्रुतज्ञान द्वारा जानने योग्यपनका अतिक्रमण नहीं होता है । अर्थात्—जो मितिज्ञानसे जाना गया है वह श्रुतज्ञानसे अवस्य जाना जा सकता है । हां, श्रुतज्ञानसे जान लिया गया विषय तो बहुमाग मितिज्ञान द्वारा जानने योग्य नहीं है । देखो श्रुतज्ञान द्वारा परोक्षरूपसे विषय की गयीं अनेक अर्थपर्यायोंको मितिज्ञान नहीं छू पाता है । अतः श्रुतज्ञानके विषयको मन जानता है । इतने कथनसे ही मितिज्ञानके विषयको भी मन विचार लेता है, यह विना कहे अर्थापित द्वारा कह दिया जाता है । अकाण्ड ताण्डव बढाना व्यर्थ है । पुनः कोई कटाक्ष करता है कि यों तो अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान, और केवळ्ज्ञान करके जानने योग्य अर्थ भी श्रुतज्ञान द्वारा जानने योग्य होनेसे मनका विषय बन वैठेगा । क्योंिक अवधि द्वारा प्रत्यक्ष किये हुये पदार्थमें भी श्रुतज्ञान करके विकल्पनायें उठाई जाती हैं । जैसे मितिज्ञान द्वारा रूप, रस, आदिका एकदेश प्रत्यक्ष होकर उनमें अर्थान्तरोंको विचारनेवाळ श्रुतज्ञान प्रवर्तता है । अतः सभी ज्ञानोंके विषय इस मन इन्द्रियके अर्थ हो जायंगे । ग्रंथकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो हमको कुछ भी अनिष्ट नहीं पडता है । इसी बातको स्पष्ट कर वार्तिकद्वारा कहे देते हैं ।

मनोगात्रनिमित्तत्वात् श्रुतज्ञानस्य कार्त्सनतः। स्पर्शनादींद्रियज्ञेयस्तदर्थे। हि नियम्यते॥ २॥

पदार्थों को सम्पूर्ण रूपसे विषय करनेवाले श्रुतज्ञानका निमित्तकारण केवल मन है। उक्त दो स्त्रोंमें स्पर्शन आदि इन्द्रियों द्वारा जानने योग्य स्पर्श आदिक ही उन इन्द्रियों के अर्थ हैं। ऐसा नियम किया जा रहा है। अर्थात्—रपर्शन आदि इन्द्रियोंके विषय तो नियत हैं। मनका विषय कोई नियस नहीं है, सभी ज्ञानोंद्वारा जानने योग्य विषयोंको श्रुतज्ञानसे जाननेके अवसरपर मन निमित्त हो जाता है। "सुदकेष्ठ च णाणं दोणिणवि सरिसाणि होंति बोहादो। सुदणाणं तु परोक्खं पचक्खं केवछं णाणं" (गोम्मेटसार) यों श्रुतज्ञानको केवछज्ञानका छत्रुश्चाता माना जाता है।

अत्र स्पर्शनादींद्रियपरिच्छेद्यः स्पर्शादिरेवेति नियम्यते न पुनर्रनिद्रियपरिच्छेद्यः तस्या-नियतत्वात् । साकल्येन श्रुतज्ञानमात्रनिमित्तात् परिच्छिद्यमानस्य वस्तुनः श्रुतज्ञब्देनामिश्रानात् । नम्बेवं सर्वमिनिद्रियस्येति वक्तव्यं स्पष्टत्वादिति चेत्रः, परोक्षत्वज्ञापनार्थत्वाच्छुतवचनस्य । न हि यथा केवलं सर्वे साक्षात् परिच्छिनात्ति तथानिद्रियं तस्याविश्वद्खपतयार्थपरिच्छेदकत्वात् । ततः सूक्तं श्रुतमनिद्रियस्येति ।

यहां इन्द्रियों का विषय निक्षपण करनेवाले प्रकरणमें स्पर्शन आदि पांच बहिरंग इन्द्रियों से जानने योग्य स्पर्श, रस आदिक ही हैं, यह नियम किया जा रहा है। किंतु फिर अनिदिय यानी मनसे जानने योग्य श्रुत ही है ऐसा नियम नहीं किया है। क्योंकि मन इन्द्रियसे जानने योग्य वह श्रुत ही नियत नहीं है। सभी ज्ञानोंके जेयको श्रुतज्ञानसे जाननेपर मन निमित्तकारण बन जाता है। पहिले सूत्रमें अवधारण करना इस सूत्रमें नहीं। क्योंकि पांचों ज्ञानद्वारा सम्पूर्ण रूपसे जानने योग्य वस्तुओंको यहां सूत्रमें श्रुत शब्द करके उपलक्षणतया कहा जाता है। रहस्य यह है कि जगत्के सम्पूर्ण पदा-थोंको जाननेमें अकेश श्रुतज्ञान निमित्त हो सकता है। पुनः किसीका कटाक्ष है कि "श्रुतमानिदियस्य।" ऐसा सूत्र न कह कर " सर्वमनिदियस्य" यों स्पष्टपनेसे सूत्र कहना चाहिये, जिससे कि व्यामोह नहीं होकर सम्पूर्ण प्राणियोंको " मनके विषय सम्पूर्ण पदार्थ हैं" यह स्पष्ट प्रतिपत्ति हो जाय। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि परोक्षपना समझानेके लिये सूत्रमें श्रुत शब्द कहा है। जिस प्रकार केवलज्ञान सम्पूर्ण पदार्थों को पूर्ण विशद रूपसे प्रत्यक्ष जान लेता है, उस प्रकार मन विशदरूपसे सबको नहीं जान पाता है। वह मन अविशद रूपसे सम्पूर्ण अर्थों का परिच्लेदक हैं, यह बात श्रुत कहनेसे हैं। व्यन्तित हो सकती है। तिश्री कारणसे सूत्रकारने यों बहुत अच्छा कहा था कि श्रुतज्ञान द्वारा न्नेय परार्थ सभी मनका विषय है।

किमर्थमिन्द्रियमनसां विषयमरूपणमत्र कृतमित्याइ ।

यहां तत्त्वार्थ सूत्रमें पांच इन्द्रिय और छठे मनके विषयोंका निरूपण किस लिये किया गया है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं ।

इति सूत्रद्वयेनाक्षमनोर्थानां प्ररूपणं । इतं तज्जन्मविज्ञाननिरालंबनताछिदे ॥ ३ ॥ इस ब्रक्तार "स्पर्शरसगंधकपंशद्वास्तदर्धाः, श्रुतमनिद्वियस्य " इन दोनों सूत्रों करके इन्द्रियं और मनके विषय हो रहें अर्थोक्ता निरूपण किया गया है, जो कि उस अर्थेस विज्ञानका जन्म स्वीकार करनेवाले बीद्धमतका खण्डन करनेके लिये हैं और ज्ञानके निरालम्बनपवका विराकरण करनेके लिये हैं। मानार्थ — बीद्ध पण्डित विषयजन्य ज्ञानको प्रमाण मानते हैं। घटका ज्ञान घटसे जन्य है। पटका ज्ञान पटक्ते जन्य है। किन्तु उनका यह मन्तव्य निर्दोष नहीं है। इन्द्रिय और अद्देश व्यभिचार हो जाता है। देखो, इन्द्रियसे या कर्मोक क्षयोपश्यसे ज्ञान जन्य है, किन्तु इनको विषय नहीं करता है। स्पर्शका ज्ञान स्पर्शन इन्द्रियसे जन्य है, फिर भी वह अर्तीद्विय हो रही स्पर्शन इन्द्रियको नहीं जानता हुआ स्पर्शको ही जान रहा है। अतः इन्द्रियकि विषयका निरूपण करनेसे ज्ञानकी अर्थजन्यताका निराकरण हो जाता है। तथा ज्ञानद्वितवादी बीद्ध सम्पूर्ण ज्ञानोंको निरालम्बन स्वीकार करते हैं। घटज्ञानका विषय कोई बहिर्मूत कम्बुप्रीवा वाला जड पदार्थ नहीं है, सभी ज्ञान निर्विषय है। यों इन बीदोंका प्रत्याक्ता करनेके लिये इन्द्रियजन्य ज्ञानोंका स्वतंत्र विषय निरूपण किया गया है। आन्त ज्ञानोंको छोड-कर सभी सम्यन्त्रान सर्विषय हैं। यदि विषयको ज्ञानका कारण माना जायगा तो भूत, भविष्य, पदा-धोंको सर्वज्ञ नहीं जान सकेंगे। केवल अव्यवहित पूर्वसमयवर्ती पदार्थोका है। ज्ञान उपज सकेगा। एवं ज्ञानोंके विषय नहीं माननेपर सम्पूर्ण जीवोंके अनुमव सिद्ध हो रहे लेकिक, पारलोकिक, कर्तव्य अलीक हो जोयेंगे।

केषां पुनः माणिनां किमिद्रियमित्याह ।

कोई जिज्ञास प्रश्न करता है कि कौन कौनसे प्राणियोंके कौन इन्द्रिय है ! ऐसी आकांक्षा होने-पर श्री उमास्तामी महाराज अभिम सूत्र द्वारा उत्तर बचन कहते हैं ।

वनस्पत्यंतानामेकम् ॥ २२ ॥

अन्त शहके अवयव, धर्म, अवसान, समीप, पिछला, कई अर्थ हैं। उनमेंसे यहां अवसान अर्थ अमीष्ट है। एक शहके भी असहाय, भिन्न, केवल, अन्य, संख्या, विशेष, प्रधान, प्रथम, कश्चित्, ये अनेक अर्थ हैं। किन्तु यहां प्रकरण अनुसार एक शहका प्रथम अर्थ लिया गया है। पृथिवीको आदि लेकर वनस्पतिपर्यंत जीवोंके पहिली स्पर्शन इन्द्रिय है।

चनस्यतिरंतोनसानं येषां ते वनस्यत्यंताः सामर्थ्यात्पृथिष्यादय इति गम्यंते तेषायकं प्रथमपिद्धियं स्पर्धनिधिति यतिपत्तव्यम् ।

जिन नीनों के ननस्पति अन्त अर्थात्—अवसानमें है वे जीव " वनस्पति अन्त " कहे जाते हैं। अन्त शह आदिकी अपेक्षा रखता है। अतः सामर्ध्यसे पृथ्वी है आदि छेकर बनस्पति पर्यन्त सीन में जान छिये जाते हैं। उन पांच काय के जीनोंके एक प्रहिडी स्पर्शन इन्हिस है, यह समझ

केना चाहिये । पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक, इन पांचों स्थावर जीवोंक एक त्वचा इन्द्रिय ही है ।

कुत इत्याइ।

किसीका प्रश्न है कि बनस्पति पर्यन्त जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय है। यह सिद्धान्त किस प्रमाणसे निर्णीत कर छिया जाय ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिमवार्तिक द्वारा युक्तिको कहते हैं।

वनस्पत्यंतजीवानामेकं स्पर्शनमिंद्रियं । तजज्ञाननिमित्तायाः प्रवृत्तेरुपलंभनात् ॥ १ ॥

वनस्पतिपर्यन्त जीवोंके (पक्ष) एक स्पर्शन इन्द्रिय हैं (साच्य) उस स्पर्शन इन्द्रियसे उत्पन्न हुये ज्ञानको निमित्त पाकर हो रही प्रवृत्तिका उपलम्म होनेसे (हेतु)। भावार्य—वृक्षोंमें स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञानसे हुयाँ प्रवृत्तियां देखी जातीं हैं। केला वृक्ष, केली वृक्षके रजका संपर्क पाकर फलता है। यद्यपि सम्पूर्ण वृक्ष नपुंसक लिंग हैं। फिर भी किव जनोंके अलंकार या कोषकारकी लिंगन्यवस्था अनुसार कितने ही मनुष्योंने उनमें खीपन या पुरुषपनकी झूंठी कल्पना गढ ली है। बनस्पतिकायकी दस लाख जातियां हैं, अड़ाईस लाख करोड कुल हैं, यह जाति कुल्ल्यवस्था उस कल्पनाकी मित्ति है। योग्य प्रकरण मिलनेपर केला, अमरूद, आम, आदिकी उत्पत्ति हो जाती है। यदि इसको कारक पक्ष माना जाय तो ज्ञापकपक्षके भी उदाहरण मिलते हैं। कई दृक्ष आहार करने योग्य जब या नेतन परार्थोंको पकड लेते हैं। जल या गीली मिडीकी ओर जरों (अपनी जडों) को फैलाते हैं। योग्य खातको प्रहण कर अपने अधीन कर लेते हैं। महीकी खान, कङ्कड, पत्थरके कोयलेकी खान, पर्वत इन पृथिवी कायके जीवोंमें भी स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा प्रवृत्ति होती हुई देखी जाती है। जल बिंदु दूसरी जलकिन्दुकी ओर झुक जाती है। अप्रिज्वाला भी सजातीय दूसरी आग्नि क्वालामें मिलनेको उत्सुक रहती हैं। निकटवर्ती वृक्ष या लकडीको सहारा पानेके लिये वेले उनकी क्वार झुकपडती हैं। इत्यादि युक्तियोंसे स्थावर जीवोंमें एक स्पर्शन इन्द्रिय सिद्ध हो जाती है।

यथास्मदादीनां स्पर्शनजज्ञाननिमित्ताहिताहितस्य संग्रहणपरित्यागलक्षणा प्रवृत्तिरूप-रूभ्यते तथा वनस्पतीनामपि सोपलभ्यमाना स्पर्शनजज्ञानपूर्वकत्वं च साधयति तज्जं च ज्ञानं स्पर्शनमिद्रियमिति निर्वाधं । तद्दत्र्थिच्यादिजीवानामेकमिद्रियं संभाव्यते वाधकाभावात् ।

जिस प्रकार हम छोगोंके स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञानको निमित्त पाकर होती हुई हितकर पदार्थ का संप्रह करना और अहितपदार्थका परित्याग करना स्वरूप प्रशृति देखी जा रही है, तिसी प्रकार अन्वय दृशन्त अनुसार वनस्पति जीवोंके भी वह प्रवृत्ति देखी जा रही सन्ती स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान पूर्वकपनको साध देती ह और वह स्पर्शन इन्द्रियजन्य ज्ञान तो स्पर्शन इन्द्रियको साध देता है। इस कारण बाधारहित होकर उन वनस्पति जीवोंके एक स्पर्शन इन्द्रिय सध जाती है। उस वनस्पतिके समान पृथिवी, जल, आदि जीवोंके भी एक स्पर्शन इन्द्रियकी सल्य संमावना की जाती है। कोई बाधक प्रमाण नहीं है।

केषां ब्यादींद्रियमित्याइ ।

अब महाराज, यह बताओ कि किन किन जीवोंके फिर दो, तीन, आदि इन्द्रियां हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं |

कृमिपिपीलिकाभ्रमरमनुष्यादीनामेकैकवृद्धानि ॥ २३॥

लट आदिक, चीटी आदिक, भोंरा आदिक, मनुष्य आदिक, इन जीवोंके स्पर्शनको मूल मान-कर रसनासे प्रारम्भ कर एक एक बढ रही इन्द्रियां हैं । कृमि आदिकोंके रसनासे बढ रही स्पर्शन हैं, चीटी आदिकोंके घ्राणसे बढ चुकी स्पर्शन और रसना हैं । इत्यदि लगा लेना ।

एकैकमिति वीप्सानिर्देशाद्शृद्धानीति बहुत्वनिर्देशाच्च बाक्यांतरोपप्छवं कथित्याइ।

सूत्रमें एक एक इस प्रकार कई बार आवृत्त होकर कहा जा चुकनेवाला वीप्सा निर्देश किया है और बुद्धानि इस प्रकार बहुत्व संख्याको कहनेवाला बहुवचन निर्देश किया है। अतः अन्य वाक्योंका उपल्लव (प्रवाहरचना) कर लिया जाता है। वे वाक्य किस प्रकार बढ़ा लिये, जाते हैं। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्रीविद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्तिकोंको कहते हैं।

तथा कृमिप्रकाराणां रसनेनाधिकं मतं ।
वृद्धे पिपीलिकादीनां ते प्राणेन निरूप्यते ॥ १ ॥
वश्चषा तानि वृद्धानि श्रमरादिशरीरिणां ।
श्रोत्रेण तु मनुष्यादिजीवानां तानि निश्चयात् ॥ २ ॥
तत्तद्धेतुकविज्ञानमूलानामुपलिधतः ।
विषयेषु प्रवृत्तीनां स्वस्मिन्निव विपश्चिताम् ॥ ३ ॥

तिस प्रकार दूसरे दूसरे वाक्योंका उपच्छत्र करनेपर यों अर्थ हो जाता है कि 'छट, गेंडुआ, जोंक, सीप, आदि प्रकारवाछे जीवोंके वह स्पर्शन इन्द्रिय तो दूसरी रसना इन्द्रियसे अधिक हो रही मानी है। अर्थाल्—छट आदिक क्षुद्र कीटोंके स्पर्शन और रसना दो इन्द्रियां हैं। ये स्पर्शनसे शीत,

कार, आदिको जानते हैं, जीभसे जावल, मेडूं, रक्त, मही, आदिका स्वाद लेते हैं। और सीटी, कार्यक, ज्रालं, दीमक, आदि जीवोंके वे स्पर्शन, रसना, दो इन्हियां वढ चुकी तीसरी नात्तिका इन्हि जिसे अविक हैं। ऐसा मन्त्रक्य कहा जाता है। मीरा, मक्खी, मक्खी, मच्छर, प्रतंगा आदि शरीरधारी तथ्या जीवोंके वे स्पर्शन, रसना, प्राण, इन्हियां चौधी चक्षु इन्हियसे वढ रहीं मानी गयी हैं। एवं मनुष्य, घोडे, वैढ, देव, आदि जीवोंके तो वे स्पर्शन, रसना, प्राण, चक्षु इन्हियां, पांचवीं श्रोत्र इन्हियसे वढ हों विध्यान हैं। ऐसा प्रत्यक्ष प्रमाण और युक्तियोंसे निश्चय हो रहा है। देखिये, उन उन जीवोंके नियत हो रहीं दो, तीन, चार, या पांच इन्हियोंको कारण मानकर हुये विज्ञानके मूलपर होनेवाली विषयोंमें प्रवृत्तियां देखी जा रहीं हैं। विद्वानोंके यहां अपनेमें किसी भी नियत इन्हियजन्य ज्ञानकी विषयोंमें प्रवृत्तिकी उपलब्धि हो जानेसे जैसे उत्त इन्हियका सद्भाव मान लिया जाता है। इम देखकर पुस्तकको उठा रहे हैं, अतः हमारे चक्षु इन्हिय अवश्य है, शब्दोंका श्रवणकर प्रवृत्ति होरही दीखती है, अतः श्रोत्र इन्हियका सद्भाव है, उसी प्रकार कृमि आदिक, पिपीलिका आदिक, अमर आदिक, जीवोंके अतीन्द्रिय इन्हियां जान ली जाती हैं, उपकरण इन्हियोंका बहुत अशोंमें प्रत्यक्ष भी हो रहा है।

के दुनः संसारिणः समनस्काः के वाऽमनस्का इत्याह ।

पूज्य गुरुकी महाराज, अब यह बताओ कि कौनसे संसारी जीव फिर मनकरके सहित हैं ? जीर कौनसे संसारी जीव मनसे रहित हैं । इस प्रकार विनीत शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज सूत्र द्वारा उत्तर कहते हैं ।

संज्ञिनः समनस्काः ॥ २४ ॥

हितप्राप्ति, अहित परिहार, तथा गुण अथवा दोषको विचार करना स्वरूप संज्ञा जिनके पायी जाती है वे जीव मनसिंहत हैं।

सामर्थ्यादसंक्षिनो अपनस्का इति सुत्रितं, तेनामनस्का एव सर्वे संसारिणः सर्वे सम-नस्का एवेति निरस्तं भवति । कुतः पुनः संक्षिनां समनस्कत्वं सिद्धिमत्युपदर्भयति ।

संज्ञावान् जीवोंको विधिमुखसे समनस्क कह दिया गया है। अतः परिशेष न्यायकी सामध्येसे असंज्ञी जीव अमनस्क हैं, यह भी सूत्रद्वारा कहा जा जुका है। तिस कथन करके सम्पूर्ण संसारी जीव मनरहित ही हैं अथवा सभी संसारी जीव मनसहित ही हैं, इस प्रकार एकान्तमन्तव्य खण्डित हो जाता है। कोई कोई दार्शनिक तो किसी भी आत्माक मनइन्द्रियको नहीं मानते हैं और वैशेषिक तो प्रस्केक आत्माको मनसहित स्वीकार करते हैं। जितनी ही आत्मायें हैं उतने ही उनके एक एक निमत हो रहे अनन्ते मन हैं। ये दोनों ही एकांत युक्तियोंने बाबित हैं। जैसे कि सर्वको निर्धन या

धनिकपन मानमेका ए तांत प राइना गर्धित है। किसीका प्रश्न है कि फिर यह बताओ कि संज्ञानारे जीवोंका मनसहितपना भछा किस प्रमाणसे सिद्ध है ? ऐसी आकांक्षा होनेपर श्री क्यिमंद स्वामी वार्तिकों द्वारा युक्तियोंको दिखलाते हैं।

संज्ञिनां समनस्कत्वं संज्ञायाः प्रतिपत्तितः । सा हि शिक्षािकयालापग्रहणं मुनिभिर्मता ॥ १ ॥ नानादिभवसंभृतविषयानुभवोद्भवा । सामान्यभारणाहारसंज्ञादीनामभीरिष ॥ २ ॥

संज्ञी जीवोंके (पक्ष) मनसिंहतपना है (साध्य) विचारआत्मक बुद्धिकी प्रतिपत्ति होनेरं (हेत्) और वह संज्ञा तो निश्चयसे मुनियों करके शिक्षा किया करना, आलाप करना, प्रहण करना, मानी गयी है। अर्थात्—बंदर, घोडा, मैना, तोता, सर्प, आदिक प्राणी सिखाये अनुसा किया करते हैं, कल्पित नाम रख छेनेपर तदनुसार आते जाते हैं, सतर्क रहते हैं, मंगानेपर पदार्थीक ले आते हैं। अतः संज्ञाकी प्रतिपत्ति होनेसे बहुतसे पशु, पक्षी, तथा मनुष्य, स्त्री, देव, देवी, रं सब मनसहित जीव हैं। किंतु अनादिकालकी जन्मपरम्परासे द्वये विषयोंके अनुभवसे उत्पन्न हर सामान्य धारणा, सामान्य अवाय, आदिक और आहार संज्ञा, भय संज्ञा आदिक तो यहां प्रकरणां संज्ञा नहीं मानी गर्थी हैं। नाम मतिज्ञान भी यहां संज्ञा नहीं है। अर्थात्—'' अनापविषादोषोत्य चतः मंज्ञाञ्वरातराः " आहार आदिक चार मंज्ञायें तो सम्पूर्ण जीवोंके अनादि कालसे लग रही । तथा मध्मक्षिका, भोरी, चींटियां, दीमक, मकडी, आदिक कीट पतंग भी सामान्यधारणारू संज्ञाके अनुसार गृह बनाना, बच्चे बनाना, बच्चों हा मोह करना, खाद्य एकत्रित करना, ठहरने योग रक्षाका स्थान बनाना आदि विस्मय जनक कार्योको कर रहे हैं । मधु मक्खी, ततै या बर्र, घरघुळी तो यहां वहां जाकर अपने खाद्य पदार्थोंको और घर बनानेके छिये मट्टी या काठको छाकर पनः अप नियत उसी स्थानपर लौट आते हैं । ये कार्य तो मनके विना अनादि कालीन विषयानुभवकी तथार्ग बना छिथे जाते हैं। किसीका नाम रख छेना या सामान्यरूपसे ज्ञान करना भी संज्ञा सिद्ध है किन्तु यहां इन संज्ञाओंका प्रहण करने पर तो सभी संसारी जीव समनस्क हो जायेंगे। को असंबी होनेके लिये नहीं बचेगा। अतः इन संज्ञाओं का प्रहण नहीं करना । किन्त " सिक्खाकिरिट वदेंसास्त्रत्रगाही मणोवलंबेण जो जीचो सो सण्णी, तन्त्रिवरीओ अस्मणी दु "। शिक्षा, क्रिया, उपदेश आकाम, को मनके अथलम्बसे प्रहण करनेवाले बैल, हाथी, तोता, आदि जीव संझी है। ठीक हितव प्रहण और आहितका त्याग जिससे हो सके वह शिक्षा है, इच्छा अनुसार हाथ, पांध, आदिको चंडा क्रिया है, बचन, कोडा, आदि द्वारा उपदेश देकर कर्ताच्य पाळन करना उपदेश है, स्रोक आदिश पाठ आछाप है तथा जो कार्थ अकार्यको विचारता है तत्त्व, अतत्त्व, की शिक्षा छेता है, नाम छेकर बुख्या गया चला आता है, वह समनस्क है। शेष संसारी जीव अमनस्क है।

न समनस्कानां शिक्षािकयालापग्रहणलक्षणा संज्ञा संभवति यतस्तदुपलकोः केषांचि-रसमनस्कत्वं न सिध्येत् । न चामनस्कानां स्मरणसामान्याभावोऽनादिभवसंभूतविषयानुभवो-ऋषायाः सामान्यधारणायास्तदेतोः सद्भावात् आहारसंज्ञादिसिद्धेः मद्यत्तिविशेषोपलक्येः । न च सेव संज्ञा सनिविरिष्टा स्मृतिविशेषनिमित्तायास्तस्याः प्रकाशनात् ।

मनरहित एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंत्री पंचेन्द्रिय, जीवोंके वह शिक्षा, किया. आलापोंको प्रहण करना स्वरूप संज्ञा नहीं सम्भवती है। जिससे कि उस संज्ञाकी उपलब्धि रूप हेतुसे किन्हीं दूसरे विचारक जीवोंके मनसहितपना सिद्ध नहीं होता, अर्थात्-घोडा, मनुष्य, जीवोंमें हेतके वर्त्तजानेसे समनस्कपना सिद्ध होजाता है। यहां कोई आक्षेप करे कि द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, आदि जीवाँके भी आहार, जल, निवासस्थान, आदिमें प्रवृत्ति देखी जाती है, अतः उनके आहार संज्ञा आदिक और उनका कारण धारणा या स्मृति, माननी पडेगी। स्मृति तो मनवाले जीवके होते हैं। अतः द्वीन्द्रिय आदिके भी मनकी सम्भावना है। आचार्य महाराज कहते हैं कि मनरहित जीवोंके सामान्य रूपसे हुये स्मरणका अभाव नहीं है । अनादि संसार परम्परामें ब्राप्त हुये विषयोंके अनुभवसे उत्पन्न ह्रयी सामान्यधारणा रूप उसके हेतका सद्भाव अमनस्क जीवोंके भी पाया जाता है। उससे आहार संज्ञा, मयसंज्ञा, आदिकी सिद्धि हो जानेसे अमनस्कोंकी विशेष प्रवृत्तियां हो रहीं दीख रहीं 🖹 । किन्तु वह आहारसंज्ञा या सामान्य धारणा ही तो यहां मुनिवर उमास्वामी महाराज करके संज्ञा अभीष्ट नहीं की गयी है। विशेष रूपसे स्मृतिका निमित्त हो रही उस धारणाका यहां प्रकाश किया है। भावार्थ-सामान्य धारणापूर्वक हुयी सामान्य स्पृति तो मनरहित जीवोंके भी हो जाती है। किन्त विशेष धारणा होतुक स्मरण तो मनसहित जीवोंके ही होता है। सामान्य ईहा पूर्वक अवाय और सामान्य अनाय पूर्वक धारणा तथा सामान्य धारणा पूर्वक हुये स्मरण ज्ञानोंसे मनरहित जीव भी आहार आदि विषयोंकी प्राप्तिके लिये प्रवृत्ति कर रहे देखे जाते हैं। ज्ञानकी सामर्थ्य भी कुल कम नहीं है। कोई भी हान अपने अपने अभीष्ट हो रहे हितकी प्राप्ति और अहितका परिहार कर देता है। इस सामान्य कियोंमें मनकी कोई आवश्यकता नहीं है।

एतेन यदुक्तं कैश्विद्मनस्कानां स्मरणाभावेप्यभिछाषसिद्धेस्तद्द्र्जीतदारकस्य स्तन्या-भिग्नुस्तं ग्रुस्वमर्जयतोभिछाषः स्मरणपूर्वकोऽभिछाषत्वात् अस्मदाद्यभिछाषवदित्यत्र हेतोरनै-कांतिकत्वात् परछोकासिद्धिः । तथा च " न स्मृतेरभिछाषोस्ति विना सापि न दर्भनात् । तद्धि जन्मांतराचाहर्जातमात्रेषि छक्ष्यते " इत्यकछंकवचनमविचारचतुरमायातं इति । तद्पि प्रत्याख्यातं, स्मरणसामान्यमंतरेण क्वचिद्प्यभिछाषासंभवात् तद्धेतोरनैक्कांतिकत्वानुपपत्तेः ।

अप उक्त कथनकरके जो किन्हींने दो तीन पंक्तियोंद्वारा यों कहा था वह भी निराकृत कर दिया गया है कि देखी मनरिंदत जीवोंक स्मरण के बिना भी आहार आदिकी अभिलाषायें सिद्ध हो। रही हैं। अतः दूधयुक्त स्तमके अभिमुख अपने मुखको उद्योगी कर रहे, उसी दिनके उत्पन हुये बालकनी अभिकाषा (पक्ष) स्मरणपूर्वक है (साध्य) अभिलाषा होनेसे (हेतु) अस्मदादिकोंकी अभिन्नाषाके समान (अन्वयद्धान्त) । इस प्रकार यहां अनुमानमें कहे गये हेतुका व्यभिचार दोष हो जानेसे परखेक भी सिद्धि नहीं हुयी और तैसा होनेपर स्पृति होनेसे ही अभिलाषाका सद्भाव नहीं बका। अतः अक्छंकदेवने जो अनुष्ट्रम छन्ददारा कहा था कि स्मृतिके विना जीवींके अभिलापा नहीं उपजती है, और वह स्पृति भी अनुभवस्वरूपदर्शनके विना नहीं होती है। और वह दर्शन तो उसी दिनको उत्पन्न ह्रये बन्नेमें भी पूर्व जन्मांतरोंसे हुआ लक्षित किया जाता है। इस प्रकार श्रीअक-लंकदेवका वचन विचारपूर्वक चातुर्यको लिये हुये नहीं है यह प्राप्त हुआ। भावार्थ-मक्खी, वर्र. आदि मनरहित जीत्रोंके स्मरणके विना भी अभिकाषा हो जाती है। इसी प्रकार उसी दिनके हुये मनसिहत बह्रेमें माताके स्तमकी ओर मुख करते हुये उताबलेपनके साथ अभिलाषा करना भी जन्मान्तरके अनुभूत विषयोंकी स्मृतिके विना ही हो जायगा । ऐसी दशामें आत्मा विचारा अनादि अनन्त सिद्ध नहीं हो सकता है। श्रीअकळंकदेवने स्वकीय प्रन्थमें जो परलोकी, अनाधनन्त, जीवको सिद्ध करनेके लिये युक्ति दी है, विचार करनेपर उसमें चातुर्य नहीं दीखता है। कश्चित्से लेकर "आयातम्" तक चार्नाक कह चुके हैं। अब प्रस्थकार कहते हैं कि वह चार्नाकका कहना भी हमने खण्डित कर दिया है । क्योंकि स्मरणसामान्यके विना असंज्ञी या संज्ञी किसी भी जीवमें अभिलाषा होनेका असम्भव है । अतः उस अभिकाषत्व हेतुका अनैकान्तिकपना नहीं बन पाता है । हमारा स्मरण पूर्व-कपना सिद्ध करनेको दिया गया अभिलायत्व हेतु निर्दोष है। अमनस्क जीवोंके सामान्यस्मरणपूर्वक अभिकाषायें होकर विशेष प्रकृतियां हो जातीं हैं । हां, मनःसहित संज्ञी जीवोंके विशेष स्मरणपूर्वक विकक्षण अमिलाषाओंसे मनः द्वारा है। शिक्षा, क्रिया, अलाप, प्रहण, करनारूप संज्ञा सम्मनती है। संबी, असंबी, दोनों प्रकारके जीनोंक परलोककी सिद्धि अनियार्य है। पूर्वजन्मोंकी वासना अस्सार ही असेब्रिओंक चमत्कारक कार्य देखे जाते हैं। कार्यकारणमान तो तर्कके अगोचर है।

न चापनस्केषु स्मरणसामान्यसद्भावात्स्मरणिविश्वेषस्य सिद्धिः तस्य तेनाविनाभावा-भाषात् । न दि यस्यानुभूतस्मरणसामान्यमस्ति तस्य स्मरणिविशेषो नियमादुपलभ्यते विशेष-समकाभाक्मसंगात् । विशेषमात्राविमाभावेषि वा न शिक्षाक्रियालापप्रहणनिमित्तस्मरणिविशेषा-विमामावः सिध्येत् प्राणिमात्रस्य तस्मसंगात् । ततो नाममतिवदाहारादिसंक्षा तद्धेतुश्च स्पृति-सामान्यं घारणासामान्यं च तिक्षिमित्तमवाससामान्यमीहासामान्यमवप्रहसामान्यं च सर्वप्राणि-सामारणमनादिभवाभ्याससंभूतमभ्युपगंतम्यं, न पुनः सयोपश्चमनिमित्तम् भावमनः तस्य प्रतिविक्षमाणिविषयत्वानुभूयमानत्वात् । अन्यया सर्वत्र भावमनसो व्यवस्थापयितुपशक्तः।

कोई सार्वहरा है कि मन्त्रहित जीवोंमें सामान्त्रकपूरे सारमका सदान भाष जैनोंने । स्वीकार विद्या है। इस सामान्य स्मरणासे विद्येष समस्याकी अितामनुस्रक्षेत्र विद्यालयों मिला विद्यालयों काणी। की अस्मार्य कहते हैं कि यह तम नहीं कह सकते हो, नरोंकि उस खमान्यस्मरमका उस किरोबसम्याने साम अविनामान नहीं है। देखों, जिस मनुष्यके अनुमन किये हुने सदार्थका सामान्यकारो काराह करें उस् मनुष्यके इस अनुभूत प्रदार्थका सार्णावशेष भी होता, प्रेसा नियमसे क्ताही देखा कार्णाण है। अस्यया निरोषक्त्यसे संकेत गढ्ण कर्ना धनः प्रयोगोचकः पुनः िनिरोष्ट्रास्पने अस्या अस्ता हि इनके अभावका प्रसंग हो जायता । स्थूलबुद्धिताले विवार्थियोंको भी प्राप्तानारूपते प्रत्यका समस्य वना रद्या है। किन्तु जुन उन प्रकारणेंका निशेषत्या स्मरणः कहीं होनेसे नेएपरिकामें किउत्तीर्ध । निहा पाते हैं। तसी तो उनको उत्सद अस्यास, इंड प्रामुर्श कानेकी अमस्यक्ता स्समकी अनिह दूसरी बात यह है ंकि स्परणसामान्यका केसे न केसे ही केवल कियोगसप्रणके साथ - अनिताशावः मात् भी लिया जाय तो भी स्मरणुसामान्यका शिक्षा, किया, आलापके सहणके तिक्षित हो हे हे समस्पाः विहोषसे अविनासाय तो कथुसपि सिद्धानहीं होगा । अन्यया सभी कीटा प्रतंग है । वहस्यविक निमान प्राणियोंके उन् शिक्षा किया आदिके महण कानेमें निमित्त हो रहे स्मरप्रिकशिका प्रानंग हो नाममा किन्तु कीट आदिकोंके शिक्षा, क्रिया; या समरणविशेषका माननस किसी भी बादीकी अभीषः नहीं है 🚯 प्रत्यक्षवाधित या अनुमानवाधित प्रोले सिद्धान्तको भवा क्रीनः विनारनातरः प्ररुष्ठान्तिकार क्रास्त्रकातिः तिस कारण सिद्ध होता है कि किसीका देवदत्त, जिनदत्त आदि संबादकेक नामनिर्देश करलेके अधाना संवानरूप बातसामान्यको यहि संबा माना जायमा हो सभी माणिशोसे समानस्क्रमना अस हो जासका अन इस विशेषणसे किसी विशेष जीवकी व्याद्मात् कहीं हो संकेगी, केळा, कामा शिष्म, कराय है स्वाधिक म्बाला, जल, नंजनपवन, गेंडुआ, जींटी, मक्सी, क्यादि सभी जीवोंका कदि। संबाओंद्वारा क्रिक्तिमा नाम कथन, किया जाता है। इक्ष, जीदी, आदि जीवीके बात भी प्रथायोग्य प्राप्ता जाता है है। नामक आदि संबायें तो सभी संबी, असंबी, जीनोंके विश्वपान हैं। क्रासिपय निर्फ्रियोंके प्रदिक्ति क्रियो जी। असंबी कोई बोझ नहीं घट पकता है । वन आहार, अस्त्र आदि संज्ञाओं के देत हो सहे स्मत्राम्लामाला की सब जीवोंके पाये जाते हैं। धारपाझातके विना स्मृति नहीं हो प्राची है। सामाना सामाना प्राचित स्मरणका कारण सब जीवोंकें दृष्ट किया जाता है। उस तीका सक्तम अस्पाद जानका जिसिता अवाय-बाद सामान्य और उसका भी कारण हैंडा सम्मन्य तथा हिंगका भी। कारम अक्तादसामान हुने सार्या प्राणियों में साधारण काम विद्यमान हैं। अनादि काल की जन्मसम्पाम को अन्यासके अन्यासके अन्यासके अन्यासके अवगृह आदि सामान्य स्वीकार कर केने नाहिये। मानार्थ नामनिर्देश और सामान्य मितेनाम के समान विवास भयः आदि सेवा और जनकी कुल्एपपुरापुरामें एके इसे समापा असमा। ईक कनाम असमार के सामी संबी, असंबी, जीवोंमें साधारमा होताहे, मानले चाहिये कि किन्त प्रिक्त लिये प्रमानो प्रमानो प्रमानो किन्त पानम् इत्या समान के सभी जीवों ला. सभारणाः स्थान नहीं के तेता गृह समान जी जोने का स्थान

ङ निम्ही **रेवाथोविसेम् ने भावस्पर्धनादिवेदेत्र् मेर**ाएकणारकोशानक विशेष ही रहे क्यापूरा करके युक्त ही रहा जीव किन्ही संजीन पुरुषों करके शिक्षा, त्रिया, जाराप अहमारूप सम्मा विशेष हेत्स अनुमान द्वारा भावमन तो जान रिया ही जाता है । वह विष-मान की नहीं भारतन (किंगा) दूर्वय कारी हुआ है (साव्य) स्व और अर्थकी उपकार करतेंगे भारमाका कारण होनेसे (हेतु) भावस्पर्शन इन्द्रिय आदिके सामाना (भानमण्डहानाः) । इस ह्याहारि स्रोंकाः यहाँ है। अक्तरणमें होनों प्रकारके जन्न आभीए हैं अबे कि संबंध जीवोके पार्ध जाते हैं । अर्थात्— श्रीविधाः क्रिकोत्वे क्रिकेश अम्बोताः स्वास्त्य स्वयंस्पर्धानः इतिस्यः है । तसाः आत्मप्रदेशः और पीद्रविक .पिंकस्ताहरप । जातम् स्पर्वमाः वनिकाः भी है।। उसी। प्रतासः मननाके। जीतमेतः स्वतागुरुकाः असंस्थाततां अस्स प्रसाम अवस्थादेश ((अभूमनकानिश्वति)) और मनोवर्गणाले सनाया होता अपेत्रिक पिण्ड स्वरूप बर्भसमा किंबाइसिर्वेकि) होया आन्या मतिहानार्वस्थ एवं विशेष अत्वक्षमानस्य कुर्नके क्षयोपस्यसे हुई विद्यक्ति हं किन्यू हो अनुकार या अविवासक्त अपसीगा मानमन से विद्यामान है । DP नि मेश सिं संक्षाविक्षपारत क्षेत्रीयश्चमविक्षपणे युत्ती जीव प्रव मार्वमनः केश्विद्युपाई शक्यते। विमानिषादेश कार्यविभेषाञ्चामिता क्यापत एवति वसं, तस्यापि समाविभेषस्पत्यात् । उत्पापति स्मिका वि अज्ञा विसादिकि बाबहणलस्मित, पेथा पुनः पाठब्रहणलस्पास्त्रावब्रहरूपैवति । तत्ती भावगर्गः । एकीयोपल नेप क्षित्र पूर्विमनी विकियति । तथाहि याविमनः एवायोपलब्धी द्रव्य-करणियाँ भोक्किरणत्वार्त् स्वरीनादिमार्वकरणवित् । श्रीत में की है हिस्से हेगानक । है है में ग्रीना

" क्षयोपराम विरोध करके युक्त हो रहा जीव ही भावमन है " यह किन्हीं विद्वानों करके संज्ञा विरोधके विना अनुमान करनेके छिये राक्य नहीं है। भावार्य—कर्मोका विरोधक्षयोपराम अती- द्विय है। शिक्षा, किया, आदि संज्ञा विरोधिसे ही क्षयोपराम और तद्विरिष्ट जीवका अनुमान किया जा सकता है। यदि कोई यों कहे कि क्षयोपरामसे जन्य कार्यविरोधों द्वारा अनुमान किये जा जुके अज्ञा, मेधा, प्रतिमा, मनीषा, आदि हेतुओंसे भावमनका अनुमान किया जा सकता है। संज्ञा विशेषका आवार्यकता नहीं है, आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि उन प्रज्ञा या धारणाश्चालिनी अनुस मेधा, अथवा नवीन नवीन उन्मेषवाली प्रतिभा आदिको भी विरोधसंज्ञा स्वरूपमना है। देखिये तर्क, वितर्कणा, स्वरूप प्रज्ञा मला रिक्षा आदि कियाको प्रहण करना स्वरूप ही है। किर नेधा तो पाढका प्रहण करना स्वरूप या आलापका प्रहण करना स्वरूप ही है। इस कारण ये विरोध संज्ञा ही है। तिस कारण स्व और अर्थकी उपलब्ध हो जानेसे सिद्ध हो जुका भाषमन पुनः पीइलिक द्वयमनका आकर्षण करा लेता है। उसी बातको अनुमानद्वारा स्पष्ट कर दिखलाते हैं कि स्वार्थोकी उपलब्ध करनेमें भावमन (पक्ष) द्वयकरणकी अपेक्षा रखता है (साध्य)। भावस्वरूपकरण होनेसे (हेतु) स्परीन आदि भावकरणों (इन्द्रियां) के समान (अन्वयहप्रान्त)।

मनसां अनिद्रयत्वात्करणत्वमसिद्धभिति चेक्न, अन्तः करणत्वेन असिद्धः । अनिद्रियत्वं तु पुनस्तस्यानियत्विषयत्वादिद्वियवैधर्म्यात् नाकरणत्वात्, स्वार्थोपछञ्धौ साधकतमत्वेन करणत्वापपत्तः । न चैवं सूत्रविरोधः, पंचेन्द्रियाणि द्विविधानि द्रव्यभावविकल्पादित्यत्रानिद्वियस्यापि द्विविधस्य सामर्थ्यसिद्धत्वात् । शरीरवाङ्मनः प्राणापानाः पुद्रलानामित्यत्र सूत्रे पौद्रविकस्य द्रव्यमनसः सूत्रकारेण स्वयमभिधानात् ।

कोई कहता है कि मन तो इन्द्रिय नहीं है । अतःकरणपना हेतु पक्षमें नहीं वर्त्तनेसे असिंह हेत्वाभास है । आचार्य कहते हैं यह तो न कहना । क्योंकि अन्तरंगके करणपने करके मनकी प्रसिद्धि हो रही है । हां, फिर अनिन्द्रियपना तो उसरमनका नियत विषय नहीं होनेके कारण इन्द्रियोंके विधर्मपनसे है, करणरहितपनेसे नहीं । अर्थात्—इन्द्रियां करण हैं और मन इन्द्रियोंसे भिन्न अनिन्द्रिय है । अतःकरण नहीं होगा, यह नहीं समझ बैठना । देखो, बात यह है कि स्पर्शनादि पांचों बहिरंग इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, आदिक नियत हैं और मनका कोई विषय विशेषक्रपसे नियत नहीं किया गया है । प्रायः सम्पूर्ण विषयोंमें मनकी प्रवृत्ति सबने मानी है । अतः इन्द्रियोंके धर्म नियत विषयत्वसे वैधर्म स्वनेवाछे अनियत विषयत्व हो जानेसे मनमें अनिन्द्रियपना है । अन्य इन्द्रियोंके समान मनमें भी स्वार्थोंकी उपलब्धिमें प्रकृष्ट उपकारक होनेसे करणपना समुचित बन रहा है । यदि कोई यों कहें कि यों मनको भी करणपना माननेपर सूत्रसे विरोध हो जायगा। सूत्रमें पांच इन्द्रियां ही करणा मानी गयी है । आचार्य कहते हैं कि यों कोई सूत्रसे विरोध नहीं आता है । क्योंकि " पंचेद्रियाणि,

कितिभानि " ये दो सूत्र हैं। पांच इतिप्रयां हैं वे द्रवस और साव सेदसे प्रत्येक दो अकारवाजी हैं इस अकार यहां हो अकारवे मनकी भी विना कहे ही सामध्येत सिद्धि हो जाती है। "तदिन्द्रियानिन्द्रिय-निद्धियानिन्द्रिय-निद्धियानिन्द्रिय-निद्धियानिन्द्रिय-निद्धियानिन्द्रिय-निद्धियानिन्द्रिय-निद्धियानिन्द्रिय-निद्धियानिन्द्रिय-निद्धियानिन्द्रिय-निद्धियानिन्द्रिय-निद्धियानिक्य-नि

तस्मादिद्रियमनसी विक्षानस्य कारणं नार्योधीत्यककंकैरिप द्विविषेद्वियसामान्यवात्तपत्वेन द्विविषस्य मनसोमीष्ठत्वात् । द्रव्यमनःभतिषेधिवचनामानाच तत्मतिषेधे ममाणामाचाष्ट्रक्त्या-ग्रामविरोधाच । तत्राहोपुरुषिकामात्रं केषांचिद्विभावितसिद्धांतत्वमाविर्धावयति ।

तिस ही कारणसे सम्माननीय श्री अकलंक महाराजने भी यों कहकर कि इन्तिय और सन होनों ही विज्ञानक कारण हैं, किंतु विषय हो रहा अर्थ भी विज्ञानका कारण नहीं है। इस कथन हारा दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंके प्रतिपादक सामान्य वाक्य होनेसे इन्यमन और मानमन दोनों प्रकारके सनको अभीष्ट किया है। तथा इन्यमनका प्रतिषेध करनेवाले वचनका अभाव है, उस वन्यमनका निषेध करनेमें कोई प्रमाण नहीं है। युक्ति और आगमसे भी तिरोध आता है। फिर भी वहां इन्यमनका निषेध करनेमें आश्रय दिखलाते हुये नम्न, निर्लज, पुरुषकीसी केवल चेश्रये करना तो किन्ही चार्याक सहशावादियोंके सिद्धांतविषयक विचाररहितपनको प्रकट करा रहा है। अर्थात् इन्यमनका निषेध करनेवाले चार्याक विचार सिद्धान्तरहस्यका परामर्श नहीं कर सकते हैं। यहांतक प्रन्यकारने भावमनके साथ द्व्यमनको भी सिद्ध कर दिया है। मैं ही पुरुष हूं यों अभिमानजन्य अपनेमें उस्कर्ष सम्भावना (बहादुर) तो आहोपुरुषिका है।

कियदाह-द्रव्यमन एव भावमनोस्ति तचात्मपुद्गळव्यतिरिक्तं द्रव्यांतर्मिति तदप्यपसास्यवि ।

कोई वैशेषिक या नैयायिक यों कह रहा है कि द्रव्यमन ही भावमन है और वह द्रव्यमन तो आत्मा और पुद्रल दोनों द्रव्योंसे अतिरिक्त हो रहा न्यारा नीवां द्रव्य है। " पृथिव्यापस्तै जीवायुराकाशं काली दिमात्मा मन इति द्रव्याणि " यों कणादमुनिप्रणीत सूत्र है। इस प्रकार उस वैशेषिकंसिद्धान्तका भी निराकरण श्री विधानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिक द्वारा करते हैं।

आत्मपुद्गलपर्यायन्यतिरिक्तं मनो न तु । द्रन्यमस्ति परैरुक्तं प्रमाणामावतस्त्रया ॥ ५ ॥

अन्तरंग निर्देति और उन्धि, उपयोग, रूप मन तो आत्मद्रन्यस्वरूप है तथा बहिरंगनिर्देति और अष्टदलकमलरूप, उपकरण स्वरूप मन तो पुद्रककी पूर्याय है। आस्मा पूर्याय और पुरुष क्योरिका वित् वित् वित् प्रकार मनकी स्वतंत्र नीमा द्रव्य मानेमेमे साधक प्रकारोका विभाव तिमाणक विनाम स्थान ति अकार समाना त्यात्र नामा प्रवास नामा प्रविकार नामा प्रवास नामा त्यात्र नामा प्रवास निर्माण क्षित्र निर्माण क्षित्र क्षित्र निर्माणक विनाम क्षित्र क्षत्र क्ष मनसा लिगामति चुन, तता मनामात्रस्य पतिपत्तिस्तद्द्रव्यतिरत्वासिद्धः । पृथिवया-द्वार्यात्रीत्रपात्रात्र्यात् तस्य द्रव्यात्रत्वासाद्भारति चैनतत्। निवधासिदः भित्रयाहि स्पर्भवृद्धव्यं मनी असवगतद्वव्यत्वातं पवनवादातं पुद्धल्यत्वासद्धः । कृतः पारित्रेपन्तिस्य द्वेष्णा-न्तरस्य समयभिष्यते च तस्याप्रतः पौद्रालिकस्वमित्यसे प्रसंगात् काला । विकास UTD निर्मान्त्रीक भाव भन ती जात्माकी पर्वाय है। क्वीकि वह भावमन तो छिटा और उपयोग संस्प कि दियमि आठ प्रतिवाले के मलकी समान विषयमने होते सित भी उसे बावमनेका अभीव हो जिनिवर सियोकी इति प्रकट मेही हो पोसी हैं। असः उस मित्रम्मधी वृक्तिप्रमणिन प्रसिद्धि हो असी हैं। ही, द्सरी इंध्यम्न ती (पक्ष) पुरूलकी प्याय है (साध्य) क्योंकि उस मार्थमनका उपकार करमेंबली करण है ("हेतु") जैसे कि स्परीन आदिका दध्येदिया उपकारक करण हिमेसे पुद्रेष्ठकी पर्याय है। पि अन्वयदृष्ट्यान्त भी हा, दूतरे वैदेशिको करके उन आव्यपर्याय और पुद्रक्रपर्यायस विकासिक ता दूसरे द्विष्यकी मन्तिने सावर जी संकता है िंउनके पास मनकी न्यारी बच्य सावनवार प्रमाणकी अभाव है। विवाद वेशीविभीकि सिद्धार्थि अनुसीर बहु प्रमाण प्रसित्त करी कि " ज्ञीनीयीगपंचादकः मने! कि आसी-न्द्रियार्थसनिकर्षे ज्ञानस्य भावोऽभावश्च मनसो लिंगम् (विशेषिश्वदर्शिमम्) प्रवत्नीयीगयेवाज्ञिज्ञानी-हापक विद्या है ते सुरम्पी कुनोही या पापड खानेपर भी पानों ज्ञान कमसे ही होते हैं । आचार्य कहते हैं कि वह तो न कहना उससे तो केक्ट मनकी विव्यासपूर्व के ज्ञाति हो जाती है। उस मनको स्वयंत्र त्याप इव्यपना सिंह नहीं हो पाता है। वैश्लेषिक कहते हैं कि मनकी प्रतिपत्ति हो ज्ञानेमर पुनः पृथियी, कुछ, आदि आद्र हव्यपना तिषेत्र हो ज्ञानेस परिशेष व्यायहारा उस मनको सिंह स्वतंत्र द्वव्यपना सिंह हो ज्ञानेगा। अर्थात स्पर्शनवाले पृथियी, जल, तेज, वाय, इन चार द्रव्योंका परिणाम तो मन हो नहीं सिकान है कि स्थारिक खुरा कि कि कि कि कि कि कि कि कि हो रहे संयोगके आश्रय (उद्देश) नाम सर्ववान त्या तो नहीं हैं (विधेय ने त्या सूर्व, दुःखके साक्षात्कारमें आकाश भी करण नहीं हो सकता है। मनपदार्थ छोटा फूर काल, दिशा, आन्मा-विस्ति भी महा है। अत! वृथिया, जिल, मिज, वार्य, आकारा, कार्ल, दिशी, आमी, हमें औठ द्रव्योंका किया है। जानिस ममसोधन्या में नीमा द्वयपना सिंह हो जाता है। आनार्थ कहते हैं कि वह ती कि

कताना क्षियोंकि महाके हिमी कादि क्षित्र क्षेत्र महान प्रकार क्षित्र क्षेत्र के क्षित्र क्षेत्र क्षेत्

ाग्यकात्रात्र विकास विकास विकास के कार्यकार के स्वास के

कार्यो हान कराना, एक साथ ज्ञान न होने देना, आदि प्रयोजनोंको तुममें करानेवाली नहीं हैं। हैं नेमिनाध मगवन् ! तुम इस सम्पूर्ण जमत्को हथेलीपर रक्खे हुये आमलेके समान सदा कभीके जान चुके थे। असहाय केवलज्ञानका प्रकाश हो जानेपर फिर वोई भी द्रव्येन्द्रिय अपने कार्य मावेन्द्रियका सम्पादम मही कर पाता है। तिस कारण विज्ञानविशेषसे ही भावमनको साधना चाहिये। हो भावमनके सिद्ध हो जानेसे द्रव्यमनकी सिद्धि हो जाती है यह निर्दोष व्यवस्था करना है। जिन जिनके प्रविच्य पाया जाता है उनके द्रव्यमन अवस्थ होगा। किन्तु जिनके द्रव्यमन है उनके पायमक होय, नहीं भी होय, इस प्रकार भावमन और द्रव्यमनमें कार्यकारणभावगर्भित व्याप्य-

येषां तु माणिनां श्विभाक्तियालापग्रहणविज्ञानविश्वेषाभावः शश्वत्तद्भवे निश्चितस्तेषां संज्ञित्वामाकाक भावमनोस्ति तदभावाक द्रव्यमनोऽनुमीयत इत्यमनस्कास्ते ततो युक्तं संज्ञिन्त्वासंज्ञित्वाभ्यां समनस्कामनस्कावं व्यवस्थापिततुम् ।

हां, जिस प्राणियोंके तो उस भवमें सर्वदा शिक्षा, किया, आलाप, प्रहण करनेवाले विश्वान विशिषोंका अमाव निश्वात हो रहा है, उन मक्खी, चीटी, कोई कोई पश्च, पक्षी भी आदि जींबोंके संग्रीपनका अमाव हो जानेसे भावमन नहीं है और उस भावमनका अमाव हो जानेसे इव्यमनके सम्ग्रावका भी अनुमान नहीं किया जा सकता है। कार्यस कारणका अनुमान हो सकता था। अर्थात भावमन इतना परोक्ष नहीं जितना द्रव्यमन परोक्ष है। हमको अपने भावमनका प्रत्यक्ष भी हो। जाता है। दूसरेके भावमनका अनुमान खुलभतासे हो जाता है। अतः भावमनके अभावसे द्रव्यमनका अभाव साथ लिया है। व्यापक अभाव (व्याप्य) से व्याप्यका अभाव (व्यापक) अनुमित हो जाता है। बेसे कि वन्ह्यभावसे धूमाभावका अनुमान कर लिया जाता है। व्यापक वस्तुका अभाव व्याप्य यानी अल्पदेशहत्ती हो जाता है और व्याप्य पदार्थका अभाव व्यापक यानी बहुदेशहती हो जाता है। यो इस हेतुसे वे असंग्री जीव अमनस्क जाने जाते हैं। तिस कारण संग्रीपन और असंग्री पवसे जीवोंका समनस्कपना और अपनस्कपना व्यवस्था करानेके लिये युक्तिपूर्ण है।

इति सूत्रत्रयेणाक्षमनसां स्वामिनिश्रयः । संज्ञासंज्ञिविभागश्र सामर्थ्याद्रिहितोंजसा ॥ ६ ॥

इसः प्रकार तीन सूत्रों करके इन्द्रिय और मनके स्वामी हो रहे जीवोंका निश्चिय कर दिया। गया है। तथा संज्ञी जीवोंका विभाग करते हुये परिशेष न्यायकी सामर्थ्यसे असंज्ञी जीवोंका विभाग भी शिदिति कर दिया गया। समझ लेना चाहिये। अर्थात्—'' वनस्पत्यंतानामेकम्' कृत्मिपपी जिल्लाककरमजुष्यादीनामेकैकहृद्धाने '' इन दोनों सूत्रोंसे पांचों या छक इन्द्रियोंके अविकारी या सामी।

हो हो जीवोंका वर्णन किया है तथा तीसरे " संक्रिनः समनस्ताः" इस स्त्रसे संज्ञी, असंज्ञी, जीवोंका प्रथमभाव श्री उमास्वामी महाराजने वह दिया है। एक एक स्त्रमें अपरिमित्त बान्यार्थ भरा पढ़ा है।

यथा स्पर्शनस्य वनस्यत्यंताः स्वामिनः, क्रम्यादयः तस्य रसनदृद्धस्य, विपीलिकादय-स्तयोभाणदृद्धयोः, भ्रमगद्धयस्तेषां चश्चर्यद्भानां, गनुष्यादयस्तेषायपि भोजदृद्धानां तथा संद्विनी मनस इति प्रतिपत्तव्यं । ये तु मनसोऽस्वामिनः संसारिणस्ते च संद्विनः इति सैड्यसंद्वि-विभागश्च परमार्थतो विद्वितः ।

तिस प्रकारकी पहिली स्पर्शन इन्द्रियंक पृथित्रीक्षे प्रारम्भ कर वनस्पतिपर्यंत जीव स्वामी हैं, जीर रसना इन्द्रियंसे वृद्धिको प्राप्त हो रही उस स्पर्शन इन्द्रियंके स्वामी लट, जीक आदिक जीव हैं। तथा प्राण इन्द्रियंसे वढ रही उन स्पर्शन और रसना यों दो मिलकर तीन इन्द्रियोंके स्वामी नीठी, खटमल, आदिक जीव हैं एवं चौधी चक्षुः इन्द्रियंसे वढ चुकी होकर उन स्पर्शन, रसना, प्राण, इन्द्रियोंके स्वामी भीरा, मक्खी, पतंगा, आदि प्राणी हैं, तथैव पांचत्री श्रोत्र इन्द्रियंसे अिक हो रही उन स्पर्शन, रसना, प्राण, और चक्कुके स्वामी तो मनुष्य, घोडा, हाथी, आदि जीव हैं। तिस प्रकार ही संही जीव उन पांचोंके और मनके स्वामी हैं, यो समझ लेना चाहिये। यहां यथाके साथ तथाका अन्वय कर पंक्तिका अर्थ लगा देना। और जो जीव मनके स्वामी नहीं हैं वे संसारी जीव तो संबी नहीं हैं। इस प्रकार वास्तिवक रूपसे संबीधन, असंबीधनका भेद नहीं है। वे दोनों अवस्थाओंसे रहित हैं।

तदेवमान्डिकार्थग्रपसंहरकाड ।

तिस कारण इस प्रकार प्रकरणोंके समुदायभूत आन्हिकके अर्थका उपसंहार (संकोच) कर रहे श्री विद्यानन्द महाराज अप्रिय वार्तिकको वंशस्य छंददारा स्पष्ट कहते हैं।

इति स्वतत्त्वादिविशेषरूपतो निवेदितं तु व्यवहारतो नयात्। तदेव सामान्यमवांतरोदितात्त्वसंश्रहात्तद्दित्यश्रमाणतः॥७॥

वितीस अध्यायके खादिमें इस उक्त प्रकार जीवके निजतत्त्व, लक्षण भेद, इन्द्रिय, आदिका सामान्य रूपसे कथन कर पुनः व्यवहार नय करके विशेष रूपसे उन स्वतत्त्व आदिका इन प्रकरणोंमें सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजद्वारा दार्शनिक और सन्यजीवोंके सन्मुख निवदन किया जा चुका है। वह सामान्य निरूपण ही स्थाप्य विशेषको कहनेबाले स्वकीय, संप्रदः, व्यवहार, बजुसूत्र, नमोद्वारा विशेष रूपसे कह दिया जाता है तथा दोनों सामान्य विशेष आत्मक वस्तुको विषय करनेवाले प्रमाणसे सब कह दिया गया समझ लेना चाहिने। नय और प्रमाणोंके विषय हो रहे धर्म, धर्मियों, करके जीवत्रक गुष्मित हो रहा है। प्रत्यक्ष परीक्षातक्ष्म दोनों प्रमाणोंसे सम्पूर्ण विषय परिवात होजाते हैं।

म्याणनयरिष्यम इत्युक्तं तत्र जीवस्य स्वतस्विगिद्द सामान्यं संग्रहादवीतरीसादिष्यस्य निवेदितं तद्भिदाः परीपश्चमिकादया व्यवहारनयात् यज्ञावस्य स्वतस्यं तदीपश्चमिकादिभेदक्यं पिति । पुनरप्यापश्चमिकादिसामान्यं तत्संग्रहात् तद्भदो व्यवहारात् । यदीपश्चमिकादिभेदक्यं विद्वार्थनेतं, यत्यारिकामिकं सामान्यं तत्मश्रसामान्यं तद्देशदमभेदं, यदीदिर्धिकंसामान्यं तद्देशदिश्चर्यतं व्यवहाराविधिकं सामान्यं तत्त्रभेदं इति । पुनरपि सम्यक्तवादिसीमान्यं तत्संग्रहात् तद्भदेवं व्यवहारादिति संग्रहव्यवहारिकरपणपरंपरा मायुज्यसमादक्यंत्वया । सीमान्य-विशेषास्यकं तु स्वतस्यं सक्तः प्रधानभावात् प्रमाणतोधिगतं निवेदितं सुमकारेण । एवं जीवस्य स्वतं के इन्तियं मनस्तिहिषयः तत्स्वामी च सामान्यतः संग्रहादिशेषते व्यवहारात् प्रधानभावात् भागान्यतः संग्रहादिशेषते ।

प्रमाण और नयोंकरके जीवादि पदार्थोंका अधिगम होता है। यह पहिले अध्यापमें कहा जी चुका है। उन सात तत्त्वोंमेंसे जीवतत्त्वका निजतत्त्व तो यहां द्वितीय अध्यायके विहेक सूत्रमें जी सामान्य कहा गया है, वह नयके अवान्तर व्याप्य भेदोंमें कहे गये संप्रह्मयसे जान किया गया कहा जा खुका है। हां, जीवके स्वतत्त्वके भेद हो रहे दूसरे औपशिमक, क्षायिक, आदि भाव तो व्यवस्थर मयसे यों गिनाये गये हैं कि जीवके जो स्वतत्त्व हैं वे औपशमिक, आयिक, आदि मेदश्यक्रप है । किर भी उस औपशमिक आदि सामान्यको संप्रह्मयसे जानकर उन औपशमिक आदिके मेदीका अधिगम व्यवहारनयसे यों जान लिया कह दिया है कि जो औपरामिक सामान्य है, वह दी भेदवाला तत्त्व है, और जो क्षायिक सामान्य स्वतत्त्व है, वह नौ मेदोंको भार एहा है, तथा जो जीवका निजतत्त्व मिश्र सामान्य है, वह अठारह भेदोंमें विभक्त है, एवं जो संग्रहनवसे सामान्य अनुसार एक ही औदियक निजतत्त्व है, वह व्यवहारनयसे इकईस भेदोमें बटा हुआ है। जो पारिकामिक सामान्य भाव है, वह न्यनहारनयसे वह तीन भेदनान् है, इस प्रकार संग्रह और न्यवहारनयसे स्वतत्त्वके भेद प्रभेदोंका निरूपण आदिके सात सूत्रोंने किया गया है, फिर भी बही सम्यक्त आदि सामान्यको जो संप्रहरी जाना गया है, उसके भेद व्यवहारसे जान लिये जीते हैं। व्यवहारमयसे जाने चुकेके ऋजुस्त्रनयसे पुनः प्रभेद जान लिये जाते हैं । इस ढंगसे संग्रह और व्यवहारेद्वारा निरू-पण करनेकी परम्परा सूक्ष्म ऋजुस्त्रनयसे पहिछेतक समझ छेनी चाहिये। अर्थात् अर्थतक एक समयवत्तीं सूरूम एक ही पर्यायतक नहीं पहुँचे, तबतक पहिछेके भेद प्रमेदींको संग्रह जीर व्यवस्थि ही खतियाना चाहिय, जैसे कि प्रासादके टढ माण्डागारमें बढा संचुक है, वहां वडी तिओरिन दिन्ता रक्ता है। दिन्तीमें दिविजा और दिविजामें वस्तेष्टित हो रहे रत्नमूषण छरित्तत है। उसी प्रकार पहिले व्यवहारसे जाने गयेकी संमहका विषय बनाकर पुनः उसके व्यक्ति व्यक्ति व्यक्ति जानी, फिर भी यदि विषयोंके परतीमें छीटे छोटे अनेक परत दीखें तो उस व्यवहारनंबकी विवयक्त

किया प्रमान स्वक्तर करके भी न्याणको प्रम व्यवहारतयसे जातो, जनतक अध्यस्त्र समका विषय कियो क्रिकेट इस्त्र समक्त समक्त, स्ववहार नयोंकी परण्यको बदाय जातो। जीव पदार्शका समूर्ण किवलाव में सामान विवेशकास है, नयोंकाय कोई भी एक वर्ष या वर्षी प्रधान विवेशित हो जाता है। हो, प्रमाणहार तो संपूर्ण समान्यविशेष आवक स्ववस्त्र स्वास्त्र करके निवेदन कर दिया ग्रंग है। स्व प्रमाणकार स्वास्त्र स्वास्त्र कीवका स्वतस्त्र और दो स्त्रहारा जीवका लक्षण तथा पांच स्वाहर नीवकी मेद एवं अग्रिम पांच क्रिकेट जीवकी इन्द्रियां और मन भी तथा आगेक दो स्वाहर जीवकी क्रिक स्वास्त्र स्वास्त्र किया तथा तथा स्व ज्ञाह किये जाते हैं। यहांचक हितीय अध्यायके चीविस स्वांका निरूप अर्थ बता दिया है। सामान्यर क्रिकेट सम्बद्धनमसे उक्त विषय जाता है ज्ञार विशेष रूप करके व्यवहारनयसे उक्त स्वतन्त्र व्यक्षण आदिको जान किया जाता है तथा सामान्य और विशेष रूप करके व्यवहारनयसे उक्त स्वतन्त्र व्यक्षण आदिको जान किया जाता है तथा सामान्य और विशेष दोनोंको प्रधानरूपसे निवक्षा प्राप्त करनेपर समाणहे उक्त सिद्धान्त निर्मांक कर लिया जाता है।

इति वालार्भ श्लोकनाविकाकंपसरे दितीयाध्यापास्य प्रथममानिकाम् ।
वहांतक तत्तार्वस्थके अकंकारस्करूप तत्त्वार्थश्लोकनार्तिक मन्यमें दितीय
अध्यायका श्री विधानन्द स्वामी कृत पिष्टला आहिक समात हुआ ।
अ दी श्री द्वादकाक्णमभृतिकमनधं मन्त्रमुखारमन्तः ।
शृक्कध्यानगरिषकां यां मतिमवधिमनःपर्ययौ चावहेल्य ।
प्रमाणश्लोकम्पर्पर्भमनुपदस्वयोभावयन्त्युप्रभक्त्या
सायाजीवक्ष्यक्षाध्यथिमतिकुक्षला साईती सारवी नः ॥ १ ॥

---×**×----

इसके अनन्तर जिहासा होती है कि संसारी जीवके गर जानेपर वाली भुज्यमान आयुःकर्मके भुगत जुकानेपर पूर्वजन्म सम्बन्धी शरीएके नष्ट होते सन्ते विचारक इन्यमनका भी विनाश हो जुका है, ऐसी इकामें असहाज आस्पाकी भविष्यमें जन्म ठेने योग्य क्षेत्रके प्रति अभिमुखपने करके प्रहारि भक्त कैसे हीगी ! बताओ ! ईबर, खुदा, यमदूत आदि तो जैनसिद्धान्त अनुसार क्षेत्रमन्तरमें छे जाकर जन्म कर्मा देनेवाके माने नहीं गये हैं । उनके क्ष्मपाती पण्डितीन जैसे वे माने हैं वैसे ईबर आदि प्रमाण सिद्ध भी नहीं हैं । इस प्रकार समतारण जिहासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज इस अक्रिम स्वका अवतार करते हैं ।

विग्रहगती कर्मयोगः ॥ २५ ॥

सम्पूर्ण शरीरोंके प्ररोहका बीजमूत वह ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मीका समुदायमूत कार्मण शरीर ही यहां कर्म कहा जाता है। मन वचन कायके उपयोगी वर्गणाओं मेंसे किसी भी एकका निर्मित्त पाकर हुआ आत्मप्रदेशोंका सकम्पना योग माना जाता है। उत्तरमव सम्बन्धी शरीरके प्रहण करने के छिये आकाश प्रदेश श्रीणयों चे का रहे जीवके कार्मणयोग हो रहा गतिका सम्पादक है। जगतमें जड पदार्थ बहुत विस्मयजनक कार्योको कर रहे हैं। चेतनको अनेक वर्षोतक उनकी शिष्यता प्राप्त करमा मान् आवश्यक हो जाता है। वेहानिक विदानों हारा जडके चमत्कारक कार्यहिण गोचर करा दिये जाते हैं। बेतन तो मूर्व सरीखा उनके रम्भुख देखता ही रह जाता है। चेतनके मूक, प्यास, शीत, उष्णता, बाधा, रोग आदिको जड ही मेटता है जीवित शरीरमें भी चेतम जीव पोंगा सरीखा खडा रहता है, जिस समय कि शारीरिक प्रकृति अनेक आध्यर्कारक कार्योका सम्पादन कर रही है अतः जीवकी शरीरके छिये गतिमें अथवा पुदलके आधानके निरोधके साथ हो रही गतिमें कर्मयोग प्रेरक निमित्त हो रहा है।

विश्रहो देहः गतिर्गमनिकया विश्रहाय गितः विश्रहगितः अश्वधासादिवदत्र वृत्तिः कर्म कार्मणं अरीरं कर्मेव योगः । कार्मणक्षरीरालंबनात्मपदेश्वपरिस्पंदरूपा क्रियेत्यर्थः । विश्रहगती-कर्मयोगोस्तीति प्रतिपत्तव्यं, तेन पूर्वे श्वरीरं परित्यज्योत्तरश्वरीराभिष्ठुखं गच्छतो जीवास्यांत-राक्षे कर्मादानसिद्धिः ।

विप्रह शब्दके अर्थ देह, राजनीति सम्बन्धी छह गुणोंमें एक गुण, युद्ध, विस्तार, ये कई हैं। किन्तु यहां स्त्रमें पड़े हुये विप्रह शब्दका अर्थ देह पकड़ना चाहिये। विप्रहक्ते गमन, मुक्ति, ब्राप्ति, अर्थोमेंसे यहां गमन करना स्वरूप किया अर्थ छेना चाहिये। विप्रहक्ते छिये जो गति होती है वह विप्रहगति होती है। यहां कोई प्रश्न करे कि "रथाय दारुः रथदारुः कटकाय सुवर्ण कटकसुवर्ण" रथके छिये काठ है, कड़ेके छिये सीना है, इस प्रकार "प्रकृतिविकृतिभाव" सम्बन्ध होनेपर उसके छिये इस अर्थमें चतुर्थी तत्पुरुष समासहात्ते हो सकती है। किन्तु यहां तो शरीरको बनानेके छिये गति कोई प्रकृति नहीं है। अतः समास होना कठिन है। इसके छिये प्रथमसे ही आचार्य कह देते हैं कि विप्रहगती यहां "अश्वचास, छात्राल, इत्यादिके समान समासहात्ते कर छेनी चाहिये, घोड़ेके छिये पास है, विद्यार्थी किये अन्न रखा है, यहां प्रकृति विकृति माव नहीं होते हुये भी तद्र्यपनेको कह रही चतुर्थी समासकृति हो जाती है। तथा कर्मका अर्थ आत्मामें प्रवाह रूपसे उपाचित हो रहा कार्मण शरीर है। कर्मस्वरूप ही जो योग है वह कर्मयोग है। यानी कार्मण शरीरका अवलम्ब छेकर हियी आत्मप्रदेश कम्पन स्वरूप किया इस कर्मयोगका अर्थ है, विप्रहक्षे छिये गतिमें कर्मका योग है यह समझ छेना चाहिये। तिस कारण पूर्वशरीरको छोडकर उत्तरमब सम्बन्धी शरीरके अभिमुख गमन कर रहे जीवके मध्यवर्ती अन्तररालमें कर्मीके प्रहण करनेकी सिद्धि हो जाती है। कार्मणकाय योगहारा उस समय भी कार्मण वर्गणाओं का आकर्षण होकर बीवक बानवरणादि कर्म बनते रहते हैं।

कुतः पुनर्विग्रहगती जीवस्य कर्मयोगोस्तीति निश्रीयत इत्याइ ।

फिर यह बताओं कि विग्रहगतिमें जीवके कर्मयोग विद्यमान है, यह किस प्रमाणसे निश्चित किया जाता है ! इस प्रकार प्रश्नस्वरूप बाणके छूटनेपर बालबालकी रक्षा करते हुये श्री विद्यानन्द स्वामी बन्नकवचरूप समाधान बचनको कहते हैं।

गतौ तु विश्रहार्थायां कर्मयोगो मतोन्यथा। तेन संबंधवेधुर्याद्व्योमविश्वरतात्मवत्॥१॥

विग्रह के उपार्जन अर्थ हो रही गतिमें तो कर्मयोग प्रेरक कारण माना गया है, अन्यथा यानी कर्मयोग नहीं माननेपर उस समय उन कर्मों के सम्बन्ध से रीते रह जाने के कारण यह जीव आकाश के समान सर्वथा कर्मशून्य हो जायगा अथवा कर्मशुक्त हो रहा जीव मुक्तजीवों के समान बन बैठेगा । ऐसी दशामें तो मर जानेपर सभी जीवों को कर्मरिक्त हो जाने से मुक्तिलाम प्राप्त हो जायगा । संसारपरिवर्तन नहीं हो सकेगा, जोकि किसी भी आस्तिक के यहां अभीष्ट नहीं किया गया है।

येषां विग्रहनिमित्तायां गतौ जीवस्य कर्मयोगो नाभिमतस्तेषां तदा पश्चाद्वा नात्मा पूर्वकर्य-संबंधवान्कर्मयोगरहितत्वादाकाशवन्युक्तात्मवश्च विपर्ययमसंगी वा ।

जिन प्रतिवादियोंके यहां शरीरके निमित्त हो रही जीवकी गतिमें कर्मयोगको कारण नहीं माना गया है उनके यहां उस समय अथवा पीछे भी आत्मा (पक्ष) पूर्व कर्मोंके सम्बन्धवाळा नहीं सम्भवता है (साध्य) कर्मयोगसे रहित होनेके कारण (हेतु) आकाशके समान और मुक्त आत्माके समान (दो अन्वयदृष्टान्त) पहिळा दृष्टान्त तो सर्वथा कर्मोंके अव्यन्ताभावको साध रहा है और दूसरा दृष्टान्त कर्मोंके सद्भावपूर्वक रिक्तता (धंस) को पृष्ट करता है । अथवा दूसरी बात यह भी है कि विपर्यय हो जाने का भी प्रसंग होगा । अर्थात् मरते समय कर्मोसे सर्वथा रीता हो गया आत्मा पुनः जन्मान्तरोंके फलोपयोगी कर्मोंका नवीन ढंगसे यदि उपार्जन कर लेता है तो कर्मोंके भूत, वर्तमान, भविष्य, त्रिकाळ, संसर्गाविष्ठिल अव्यन्ताभावको घार रहा आकाश अथवा कर्मोंके वर्तमान, भविष्य, काळद्वय संसर्गाविष्ठिल धंसको धार रहा मुक्त आत्मा भी पुनः कर्म लिस हो जायगा, जो कि इष्ट नहीं है।

आत्मनः परममहत्त्वात् गतिमत्त्वाभावाद्विग्रहगतिरसिद्धाः । तयोत्तरश्वरीरयोगः एव पूर्वश्वरीरवियोगः इत्येककालत्वात्तयोर्नान्तरालमदृष्ट्योगरहितं यतो पूर्वकर्मसंबंधभागात्मा न स्यादिति कश्चित् । तं मत्याह ।

यहां कोई वैशेषिक कह रहा है कि विमु द्रव्योंमें पाये जानेवाले परम महत्त्व परिमाणका धारी होनेंसे आत्माके गतिमान्पनेका अभाव है। अतः विग्रहके लिये गति करना जीवके असिद्ध है तथा एक बात यह भी है कि उत्तर शरीरके साथ सम्बन्ध हो जाना ही तो पूर्वशरीरका वियोग है। इस प्रकार पूर्वभवकी मृत्यु और उत्तर भवके जन्मका एककाल होनेसे उन दोनोंका अन्तराल तो पूर्ववर्ती

अरहके योगसे रहित नहीं है । जिससे कि आतमा पूर्वकर्मके सम्बन्धको धारनेबाळा न हो सके । अतः उत्तर असिको महण करनेके छिये गमनको कोई आवश्यकता नहीं है । पहिलेके योग और कर्मबन्ध सब के बेसे ही बने रह सकते हैं । फिर हमारे ऊपर आवाश या मुक्तात्माके समान कर्मरहितपनेका मसंग अथवा विपर्यय हो जानेका प्रसंग व्यर्थमें क्यों उठाया जाता है ! यहांतक कोई कटाक्ष कर रहा है । उस वैशेषिकके प्रति श्री विधानन्द आचार्य वार्तिकों हारा समाधान कहते हैं ।

गतिमत्त्वं पुनस्तस्य कियाहेतुगुणत्वतः । छोष्टवद्वेतुभर्मोस्ति तत्र कायकियेक्षणात् ॥ २ ॥

उस जीवको गतिसहितपना तो कियाके हेतु, गुण, से युक्त होनेके कारण सिद्ध हो जाता है, जैसे कि फेंके जा रहे डेलमें कियाका हेतु वेगगुण विद्यमान है, उसी प्रकार आत्मामें किया करनेका हेतु प्रयत्न या जीवविपाकी गतिकर्मके उदयसे होनेवाला गतिभावनामक गुण (पर्याय) विद्यमान है। अब हेतुके असिद्ध हो जानेकी शंका हो जानेपर पुन: हेतुको साध्य कोटिपर लग्या जाता है कि उस आत्मामें हेतु धर्म हो रहा कियाका हेतुभूत गुण विद्यमान है। क्योंकि शरीरमें उसके द्वारा की गयी किया देखी जाती है। अर्थात् देखो, जिस समय देक्दत्त हाथको उपर उसने द्वारा की गयी किया देखी जाती है। अर्थात् देखो, जिस समय देक्दत्त हाथको उपर उसने द्वारा की गयी किया वेखी जाती है। अर्थात् देखो, जिस समय देक्दत्त हाथको उपर उसने द्वारा के गयी किया पार्वोक्ता चलाना आदि कियायें नहीं देखी जा सकती थी। हाथ या वार्वोमें अत्यात हो उहाना या पार्वोक्ता चलाना आदि कियायें नहीं देखी जा सकती थी। हाथ या वार्वोमें ओलपोत हो रही आत्मा ही उठती चलती फिरती है। उसके साथ शरीर या उसके अवस्व की किया जाते हैं। जैसे कि धिसहारे मनुष्यके चलनेपर उसके सिरपर रखी हुई घासकी पोटरी मी उसके साथ घिसटती चली जाती है। इस ढंगसे दो हेतुओं द्वारा आत्माकी गतिको साध हिया गया है।

सर्वगत्वाद्गतिः पुंसः खवनास्तीति ये विदुः। तेषां हेतुरसिद्धोस्य कायमात्रत्ववेदनात् ॥ ३॥

आत्माके (पक्ष) देशसे देशान्तर होनारूप गति नहीं है (साध्य) जगत्के सभी स्थानों में प्राप्त हो जुका होनेसे (हेतु) विभु आकाशके समान (अन्वयद्द्यान्त), इस प्रकार जो नैयायिक सान बैठे हैं, उनके यहांका स्वीकृत सर्वगत्व हेतु असिद्ध है। पक्षमें नहीं वर्तता है। क्योंकि इस जीवका केवल गृहीत शरीरमें ही उतने ही लम्बे चीडे, मोटे परिमाणको विषय कर रहा स्वसंवेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। अपने अपने शरीरके बाहर आत्माका सम्वेदन किसीको नहीं होता है। अतः आत्मा अधुपरिमाण या महापरिमाण दोनोंसे रीता हो रहा मध्यम परिमाणवाला है। अन्यथा व्यापक मान लेनेपर बड़ा भारी व्यवहारसांकर्य होकर गुटाला मच जायगा। " सर्वम्र्तद्रव्यसंग्रेगित्वं विभुत्वं" यह विभुपना अत्यामें नहीं है।

विभुः पुमानमूर्तत्वे सति निस्यत्वतः स्वरत् । इत्यादि हेतवीष्येवं प्रत्यक्षहतगोचराः ॥ ४ ॥

फिर वैशेषिक पंडित अनुमान करते हैं कि आत्मा (पक्ष) व्यापक है (साध्व) श्रविवी, जल, तेज. वाय, और मन इन पांच म्लीते मिन होते सन्ते नित्य होनेसे (हेतु) वाकावाके समान (अन्वयद्द्यान्त) तथा आत्मा न्यापक है (प्रतिज्ञा) क्योंकि अणुपरिमाणका अधिकरण नहीं हो रहा सन्ता मित्यद्रव्य है (हेतु), जैसे कि आकाश व्यापक है (दृष्यंत) । अथवा देवदत्तकी अंगनाका शरीर या देवदत्तके सैकडों इजारों कोस दूर बन रहे वस्त्र, अलंकार, कांटे, त्रिष, अंगूर, सेव, आदिक षदार्थ (पक्ष) संयुक्त हो रहे देवदत्तकी आत्माके गुणोंद्वारा सम्पादित किये जाते हैं (साध्य) क्योंकि कार्य होते हुये वे उस देवदत्तके उपकारक हैं (हेतु) जैसे कि कीर, गायन, अध्ययक, आदिक हैं। इस अनुमानसे भी आत्माके न्यापक सिद्ध हो जानेपर ही देशान्तरवर्त्ती भोग्य. उपसोग्य पदार्थोंसे संयुक्त होकर क्रिया कराना बन पाता है। तथा पुण्य पाप (पक्ष) अपने आश्रय आत्माक साथ संयुक्त (समवेत) हो रहे सन्ते ही दूसरे आश्रयोंमें क्रियाका आरम्भ करते हैं (साध्य), क्योंकि एक द्रव्यके गुण होते हुये वे क्रियाके हेतुभूत गुण हैं (हेतु), प्रयत्नके समान (अन्वन इध्यंत)। एवं आत्मा (पक्ष) सर्वव्यापक है (साध्य), सर्वत्र जाने जा रहे गुणोंका आधार होनेसे (हेतु) आकाशके समान (इच्यंत) तथा बुद्धिका अधिकरण हो रहा आत्मा द्रव्य व्यापक है (साध्य), क्योंकि नित्य होते हुये अस्मदादिकीके द्वारा जानने योग्य गुणोंका अधिष्ठान होनेसे (हेत्) आकाशके समान (अन्वयदृष्टांत) और भी आत्मा सर्वगत है (प्रतिज्ञा), द्रव्य होते हुए अपूर्त होनेसे (हेतु) आकाशके समान । अन्य भी अनुमान छीजिये । आत्मा न्यापक है (प्रतिज्ञा) मनसे भिन्न होता हुआ स्परीरहित द्रव्य होनेसे (हेतु) आकाशके समान । अब आचार्य कहते हैं कि आत्माको व्यापकल सिद्ध करनेमें दिये गये इसी प्रकार अमूर्त होते हुये नित्यपना आदिक हेतु तो प्रत्यक्षवाधित साध्यको विषय कर चुकनेपर प्रयुक्त हो रहे हैं। अतः बाधित हेत्वामास हैं। जब कि रासनप्रत्यक्षसे मिश्रीका मीठापन प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा गृहीत है। रहा है, ऐसी दशमें दो चार ती क्या सहस्रों हेत भी मिश्रीको कट सिद्ध करनैके छिपे समर्थ नहीं हैं। उसी प्रकार शरीरमें ही आत्माका स्वसम्वेदन हो रहा है। अतः आत्माके म्यंपिकत्वकी साधनेवारी हमी हेतु अकिंपित्कर हैं। तथा आत्मा (पक्ष) 'परममहा 'परिमाणवान् नहीं है (साध्य) क्योंकि वेध्वांसरीसे उस साधारण ही रहे सामान्यका आधार हो रहा सन्ता अनेक हैं (हेर्त) घट,पट, आदिके समान (अन्वयद्रष्टांत) राधा आत्मा सर्वेगत नहीं है, दिक, काल, आकाशसे भिन्न हीता हुआ क्षेत्र हीनेसे पुरतक्षेत्र समिन । एवं आत्म विशु नहीं है, क्रियामल होनेसे वाण ऑदिके समान । इत्या-दिक अनुमानोंसे भी आत्माका ज्याधकत्व विमाद दिया जाता है। तव तो पूर्वीक सभी हेतु सहप्रतिषद्ध हेत्यायास हो जाते हैं।

हेतुरीश्वरबोधेन ज्यभिचारी च कीर्तितः। तस्यामूर्तत्विनत्यत्वसिद्धेरविभुता भृतः॥ ५॥ अनित्यो भावबोधश्रेत्र स्यात्तस्य प्रमाणता। मृहीतप्रहणान्नो चेत् स्मृत्यादेः शास्त्रबाधिता॥ ६॥

आचार्य महाराज दूसरी बात कहते हैं कि वैशेषिकोद्वारा आत्माके विमुत्वको साधनेमें प्रयुक्त किया गया हेतु तो ईश्वरज्ञान करके व्यभिचार दोषवान् भी प्रसिद्ध हो रहा है। देखिये, वैदेाषिकोंके यहां दिक्, काल, आत्मा, आकाश, ये चार द्रव्य व्यापक माने गये हैं। इनके गुण तो परम महापरि-माणवाले नहीं हैं। क्योंकि गुणमें पुनः दूसरे गुण नहीं ठहरते हैं, ज्ञान गुणमें परिमाण गुण नहीं वर्तता है '' गुणो गुणानंगीकारात् । '' '' निर्गुणा गुणाः ''। जबिक पृथिवी, जल, तेज, वायु, मन, इन पांच मूर्तद्रक्योंसे भिन्न हो रहा वह ईश्वर ज्ञान अमूर्त है, और नित्य भी सिद्ध है, किन्तु अन्या-पकत्वको धारनेवाले उस ज्ञानको ज्यापकपना नहीं माना गया है, अतः ईश्वरज्ञानमें हेतुको अविकल ठहर जानेसे और साध्यके नहीं वर्त्तनेसे व्यभिचार दोष हुआ । इस व्यभिचार दोषको हटानेके लिये वैशेषिक यदि ईश्वरज्ञानको अनित्य कहें तब तो गृहीतप्राही होनेसे उस ईश्वराज्ञानको धारवाही ज्ञानके समान प्रमाणता नहीं हो पायगी । पहिले ज्ञानने जिन पदार्थीको विषय किया था दूसरे ज्ञानने भी भी नवीन उपज कर उन्हीं पदार्थोंको जाना, यह गृहीतोंका ही प्रहण हुआ । हां, ईश्वर ज्ञानको नित्य, एक, मान छेनेपर तो गृहीतको ही पुनः दूसरे ज्ञानसे भी प्रहण करना यह प्रसंग उठानेका अवसर ही नहीं आता है। यदि तुम वैशेषिक गृहीतग्राही होनेपर भी ईश्वरज्ञानकी अप्रमाणता नहीं मानोगे तब तो स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, धाराबाहि ज्ञान आदिको भी प्रमाणता आ टपकेगी, जोकि तम्हारे शास्त्रोंसे बाधित है. साथमें आत्माका व्यापकपना तो सर्वोगीण निर्दोष उन धर्मी प्राहक प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे बाधित हो रहा है। यह समझे रही।

गतिमानात्मा क्रियाहेतुगुणसंबंधाङ्कोष्ठवत्। क्रियाहेतुगुणसंबंधोस्त्यात्मनि काये तत्कृतकियोपलंभात्। यत्र यत्कृतिक्रियोपलंभः तत्र क्रियाहेतुगुणसंबंधोस्ति यथा वनस्पतौ वायुकृतिकियोपलंभाद्वायौ तथा चात्मकृतिक्रियोपलंभः काये तस्मादात्मिनि क्रियाहेतुगुणसंबंधोस्ति इति
निश्रीयते। कः पुनरसावात्मिनि क्रियाहेतुगुणः १ मयत्नादिः। मयत्नवता श्वात्मना बुद्धिपूर्विका
क्रिया काये क्रियते, अबुद्धिपूर्विका तु धर्माधर्मवतान्यथा तदयोगात्।

आतमा (पक्ष) गमन करना रूप कियावाला है (साध्य) कियाके हेतु हो रहे गुणोंका सम्बन्ध रखनेवाला होनेसे (हेतु) देल या गोलीके समान (अन्वयद्दष्टान्त)। पुनः आचार्य हेतु इलको साधते हैं कि आत्मामें (पक्ष) कियाके हेतु भूत गुणोंका सम्बन्ध हो रहा है (साध्य)

शरीरमें उन गुणोंसे की गई कियाका प्रत्यक्ष ज्ञान होनेसे (हेत्) जहां जिसके द्वारा की गयी कियाका उपलम्म हो रहा है, वहां कियांके हेत्मत गुणका सम्बन्ध है। या किया हेतुमृतगुणके समवायी इन्यका सम्बन्ध विद्यमान है (अन्वयद्दशन्त) जैसे कि वृक्षस्वरूप वनस्पतिमें वायु द्वारा की गई कियाका उपलम्भ होनेसे वायुमें कियाहेतुगुण वेग या कंपानेवाला ईरण (धका देना) विद्यमान 🕯 (अन्वयदृष्टान्त) तिसी प्रकार कायमें आत्मा द्वारा की गयी कियाका उपलम्भ हो रहा है (उपनय) तिस कारणसे शरीरी आत्मामें क्रियाके हेतुमृत गुणोंका सम्बन्ध है (निगमन)। यो अनुमानसे निश्चय-कर लिया जाता है। यहां कोई प्रश्न करता है कि फिर यह बताओ ! कि आत्मामें कियाका हेत हो रहा वह गुण कीनसा है ? आचार्य उत्तर कहते हैं कि प्रयत्न, बीर्य, उत्साह, बळ, आदिक गुण आत्मामें क्रियाक सम्पादक हैं। चूँकि प्रयत्नवाले आत्मा करके कायमें बुद्धिपूर्वक क्रिया की जाती है जिससे कि खाना, पीना, चळना, चूमना, उडना, भित्ती (कुश्ती), भिरना, शास्त्र छिखना, खेळना, सीमना, कसीदा काढना, आदि कियायें हो जाती हैं। हां, शरीरमें हुई अबुद्धिपूर्वक कियायें तो पुष्य पापवाले आत्मा करके अन्यक्त पुरुषार्य द्वारा बनाली जाती हैं, जिससे नख, केश, आदिकी बृद्धि होना. रक्त संचार, अन्न परिपाक, मल उपमलोंका बनना, आदि क्रियाओंका सम्पादन हो जाता है। अन्यया यानी प्रयत्नवान् आत्माके विना शरीरमे उन बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक हुई क्रियाओंकी निष्पत्ति होनेका अयोग है। अतः क्रियाके सम्पादक गुणोंका सम्बन्ध हो रहा होनेसे आत्मामें गति क्रिया सिंद हो जाती है।

नतु च क्रियाहेतुगुणयुक्तः कश्चिदन्यत्र क्रियामारभमाणः क्रियावान् दृष्टो यथा वेगेन युक्तो वायुर्वनस्पती, कश्चित्युनरिक्तयो यथाकाशं पतित्रिण तथात्मा क्रियाहेतुगुणयुक्तश्च स्याद् क्रियशेति नायं हेतुः कियावन्तं साधयेदाकाशेन व्यभिचारात् इति कश्चित्, सोत्रैवं पर्यनुयोक्तव्यः । केन क्रियाहेतुना गुणेन युक्तभाकाशमिति १ वायुसंयोगेनेति चेक्, तस्य क्रियाहेतुत्वा सिद्धः । वनस्पती वायुसंयोगात् क्रियाहेतुरसाविति चेक्न, तस्मिन् सत्यप्यभावात् । विशिष्टं वायुसंयोगः क्रियाहेतुरिति चेत्, कः युनरसी १ नोदनमभिघातश्चेति । किं युनर्नोदनं कश्चाभि घातः १ वेगवद्दव्यसंयोग इति चेत्, तिं वेग एव क्रियाहेतुस्तद्भावे भावात् तदभावे चाभा वात् न स्वाकाशस्य वेगोस्तीति न क्रियाहेतुगुणयुक्तमाकाशं ततो न तेन साधनस्य व्यभिचारः

यहां कोई वैद्रोषिक मतका अनुयायी अपने आत्माके क्रियारहितपन मन्तन्यका और भी अब भारण कर रहा है कि कोई कीई पदार्थ ती क्रियाके हेतुंभूत गुणसे युक्त हो रहा अन्य पदार्थीं क्रियाका आरम्भ कर रहा सन्ता वह क्रियाबान् देखा गया है, जैसे कि क्रियाके कारण वेग गुणसे सहित हो रहा वायु दूसरे वनस्पिस्तियोंमें हल्लन, कम्पन, क्रियाओंको उपजाता है। किन्तु कोई कोई पदार्थ ते क्रिर क्रियारहित होता हुआ ही दूसरे पदार्थोंमें क्रियाका आरम्भ कर देता है। जैसे कि आकाश द्रव्य

दूसरे पक्षी या पतंगोंमें कियाको करा देता है। तिसी प्रकार आत्मा कियाके कारण गुणोंसे युक्त भी क्ला खें और किया रहित भी बना रहे कोई क्षति नहीं है। इस कारण अनुकूछ तर्कका अभाव हो जानेसे तुम जैनों का यह " कियाकारणगुणत्व " हेतु तो आत्मामें गमनकियासिहतपनको नहीं साध सकेगा । क्योंकि आकाशके साथ व्यभिचार दोष हो रहा है। पूर्व प्रकरणोंमें वायु वनस्पतिके संयोगके सहश क्यु आकाश संयोग आकाशमें वर्त रहा क्रियाहेतुगुण साधा जा चुका है। किन्तु आकाश क्रियावान् नहीं है। यहांतक कोई प्रतिवादी कह चुका है, अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कह रहा वह प्रतिवादी यहां यों पर्यन्योग छगाने योग्य है। अर्थात्—उसके ऊपर यह अभियोग छगा देना चाहिये कि भाई बताओ, क्रियाके हेतुभूत किस गुणसे युक्त आकाश हो रहा है ? हम तो समझते हैं कि आकाशमें कोई भी कियाका हेतु गुण नहीं है। यदि तुम वैशेषिक यों कही कि वायुसियोग नामक कियाहेत गुणसे यक्त आकाश है सो यह तो नहीं कह सकते हो। क्योंकि उस आकाशवत्ती बायुसंयोगको कियाका हेतुपना असिद्ध है। यदि तुम वैशोषिक पुनः यह कहो कि वनस्पिस्तिमें वायु संयोगसे किया हो जाती है। अतः वह वायुसंयोग क्रियाका हेतुभूत मान छिया जाय। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस वायुसंयोगके होनेपर भी वृक्षमें क्रियाका अभाव हो रहा है। अर्थरित्रमें वायुका मन्द संचार होनेपर भी बृक्ष अकम्प रहे आते हैं। यदि तुम विशेषताको प्राप्त हो रहे वायुसंयोगको कियाका कारण मानोगे यों कड़नेपर तो हम पूछेंगे कि तुम्हारे यहां '' अभिघातो नोदनञ्च शह्रहेतुरिहादिमः, शह्राहेतुर्दितीयः स्यात् "इस प्रकार संयोगके दो भेद माने गये हैं। अब फिर तुम यह बताओ कि कौनसा वह नोदन अथवा अभिवात नामका विशिष्टसंयोग भला क्रियाका कारण है ? तथा यह भी बताओ कि फिर वह नोदन क्या है ! और अभिघात क्या है ! इसके उत्तरमें यदि तम यों कही कि शब्दका हेतुभूत संयोग अभिघात है, जैसे कि आट करते हुये ताली बजाते समय हाथोंका अभि-घात संयोग है और शब्दको नहीं उपजानेवाला संयोग तो नोदन है। शब्द किये विना हायको खपकेसै दूसरे हाथसे मिला देना नोदन है। यहां वेगवाले द्रव्यके साथ अन्यद्रव्यका विशिष्ट संयोग ही क्रियाकः हेतु इष्ट है, तब तो हम जैन कहेंगे कि वेग ही कियाका हेतु हुआ। संयोग गुण तो किया संपादक नहीं बना । क्योंकि उस वेगके होनेपर कियाकी उत्पत्तिका अभाव है । यह अन्वयन्यतिरेक पूर्वक बेग और कियाका कार्यकारण भाव सिद्ध है। किन्तु आकाशद्रव्यके तो वे गुण नहीं हैं। " श्वितिर्जरू तथा तेजः, पवनो मन एव च । परापरत्वमूर्तत्विक्रियावेगाश्रया अमी '' इस िद्धांत अनुसार तुमने पृथिवी, जल, तेज, वायु, और मन इन पांच द्रव्योंमें ही बेगगुण माना है। आकाशमें बेग नहीं है '' षडेव चाम्बरे '' आकाशमें संख्या, परिमाण, पृथक्त, संयोग, विभाग, शन्द, ये छह गुण माने गये हैं। अतः वेगके नहीं होनेसे कियाके हेतुभूत गुणसे युक्त आकाश नहीं है। तिस कारण उस आकाशसे हमारे हेतुका व्यभिचार दोष नहीं लगता है। क्रियाहेतुगुणकल इस निर्दोष हेतुसे आत्माका गतिसहितपना सिद्ध हो जाता है।

1

अय मतं न गितमानात्मा सर्वगतत्वादाकाशविदत्यनुपानाद्गतिमस्वस्य मितिषेवादनुपान-विरुद्धः पश्च इति । तद्युक्तं, पुंसः सर्वगतत्वासिद्धेः काय एव तस्य संवेदनात् ततो बिहः संवित्त्यभावात् । सर्वगतः पुमान् नित्यत्वे सत्यमूर्तत्वादाकाश्चवदिति चैक्क, अस्य काल्यत्या-पदिष्टत्वात् साधनस्य धर्मिग्राहकप्रमाणवाधितत्वात् मत्यश्चविरुद्धपक्षनिर्देश्चानंतरमयुक्तत्वात् श्रीतो-प्रिर्द्रव्यत्वात् जलविदित्यादिवत् ।

अब यदि वैशेषिकोंका यह मन्तव्य होय कि आत्मा (पक्ष) गमनकियावाला नहीं है, (साप्य) सर्वत्र व्यापरहा होनेसे (हेतु) आकाशके समान (अन्वयदृष्टान्त) यें। आत्माके गति-सहितपनका बढिया निषेध हो जानेसे तम जैनोंका आत्माको कियाका साधक प्रतिशास्त्ररूप पक्ष तो इस अनुमानसे विरुद्ध पड गया । आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार तुम्हारा वह कहना युक्तिरहित है 🛭 क्योंकि आत्माका सर्वगतपना असिद्ध है। शरीरमें ही उस आत्माका सम्बेदन हो रहा है। उससे बाहर दूसरे शरीरमें या घट, पट, अथवा अन्तरालमें आत्माकी सम्बित्ति नहीं हो रही है । अतः तुम्हारे हेत स्वरूपासिद्ध हेत्वामास है। यदि वैशेषिक पुनः अनुमान उठाकर हेतुको यों सिद्ध करें कि आत्मा (पक्ष) सर्वत्र व्यापक है (साच्य) नित्य होते सन्ते अमूर्तपना होनेसे (हेतु) आकाशके समान (इप्टांत) । अकेला नित्यत्व हेत देनेसे पृथिवी आदिकी परमाणुर्ये और मनसे व्यभिचार हो जाता। अतः अमूर्तत्व भी कहना पडा। क्योंकि ये मूर्त हैं और यदि अमूर्तत्व ही हेतु कहा जाता तो अनित्य गुणोंसे न्यभिचार आता । अतः " नित्यत्वे सित अमूर्तत्व " इतना हेतु दिया गया है । प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यह तुम्हारा साधन तो शरीरमें ही आत्मा नामक धर्मीके प्राहक प्रमाणसे बाधित हो जानेके कारण प्रत्यक्ष प्रमाणसे विरुद्ध हो रहे पक्षके निर्देश अनन्तर प्रयुक्त होनेसे काळात्ययापदिष्ट हेत्वाभास है, जैसे कि अप्रि शातळ है, द्रव्य होनेसे जळके समान अथवा आकारा अल्पपरिमाणवाला है, द्रव्य होनेसे, घटके समान, इत्यादिक अनुमानोंके हेत बाधित हैत्वाभास हैं।

एतेनामूर्तद्रव्यत्वात्सर्वजोपलभ्यमानगुणत्वादित्येवमादयो इतवः प्रत्याख्याताः प्रत्यक्ष-याधितविषयत्वाविश्वेषात् । किं च, नित्यत्वे सत्यमूर्तत्वादित्ययं इतुरीश्वरक्षानेन अनैकातिकः तस्यासर्वगतस्यापि नित्यत्वामूर्तत्वसिद्धेः नित्यं दीश्वरक्षानमनायनंतत्वात् सुरवर्त्मवत् । तस्य सादिपर्यतत्वे सित महश्वरस्य सर्वार्थपरिच्छेदाविरोधात् ।

वैशोषिकोंने आत्माको ज्यापक साधनेके छिये अमूर्तद्रज्यपँन हेतु दिया है। उनके यहां पृथिवी, जरू, तेज, वायु, मन, ये पांच द्रज्य मूर्त माने गये हैं। शेष आकाश, काल, दिशा, आत्मा, ये चार द्रम्य व्यापक ही हैं। तीसरा हेतु सर्वत्र देखे जा रहे गुणसे सहितपना दिया है। चौथा हेतु " अणु-

परिमाणानिष सरणत्वे सित नित्यद्रव्यत्वात् "दिया है। इत्यादि इस प्रकारके अन्य भी व्यापकत्व-साधकहेतुओं का इस उक्त कथनसे प्रत्याख्यान कर दिया गया है। जब कि निजशारीरमें 🖸 मध्यम परिमाणको धार रहे आत्माका बालिका, पशु, पक्षियोंतकको प्रत्यक्ष प्रमाणद्वारा सम्वेदन हो रहा है, तो नित्यत्वे सति अमूर्तत्व हेतुके समान इन हेतुओंमें भी प्रत्यक्षबाधित विषयका साधकपना अन्तर-रिहत है। अतः ये सब हेतुबाधित हेव्वाभास हैं। दूसरा दोष यह भी कि नित्य होते सन्ते अमूर्तपना यों विशेषण विशेष्यदलवाला यह हेतु तो ईश्वरज्ञान करके व्याभिचार दोषवान् है। देखिये, अमीष्ट-साम्यमे शन्य हो रहे. अन्यापक भी उस ईश्वरज्ञानको नित्यपना और अमूर्तपना सिद्ध है । पांच मूर्त इस्पोंके अतिरिक्त सभी द्रव्य या गुण, कर्म, आदिक पदार्थ तुम्हारे मतमें अमूर्त माने गये हैं। अमृर्तद्रव्यत्व लगानेसे सम्भवतः तुम्हारी कुछ रक्षा हो सकती थी । किन्तु इसका विचार पहिले कर दिया गया है । ईश्वरका ज्ञान नित्य तो है ही । यदि नहीं मानना चाहते हो तो इस अनुमानदारा मानना ही पडेगा कि ईश्वरका ज्ञान (पक्ष) नित्य है (साध्य), अनादिकालसे अनन्तकालतक प्रवर्त्त रहा होनेसे (हेत्) देवोंका मार्ग यानीं आकाशके समान (अन्वयदृष्टान्त) । यदि उस ईश्वर ज्ञानको सादि, सान्त, माना जायगा तो हमारा हेतु अवस्य असिद्ध हेत्वाभास जायगा । किन्तु साथमें तुम्हारे अभीष्ट देवता महेश्वरको सम्पूर्ण करनेका विरोध हो जायगा । पदार्थोंके अंधीन होकर दूसरे दूसरे क्षणमें उपजने, नशनेवाले ज्ञान द्वारा छाखों या असंख्याते वर्षीमें भी ईश्वर सम्पूर्ण पदार्थीको जान नहीं सकता है। अतः आत्माके व्यापकत्वको साधनेवाला तुम्हारा हेत व्याभेचारी है।

योग्याह, अनित्यमीश्वरक्षानमुत्पातिमन्तात् कलशादिवत् उत्पत्तिमन्तदात्मांतःकरणसंयोगपिक्षत्वादस्मदादिक्षानवत् । योगजधर्मानुम्रहीतेन हि मनसेश्वरस्य संयोगे सित सर्वार्धे
क्षानमुत्पाधते । न चैवं, तदादिपर्यतवत् संतानरूपतयानादिपर्यतत्वोपपन्तः । योगसंतानो हि
महेश्वस्यानादिपर्यतः सदा रागादिमर्लेरस्पृष्टत्वात् । अनादिशुद्धधिष्ठानत्वान्ततश्च धर्मविश्लेषः
तदनुम्रहश्च मनसः तेन संयोगश्चेति तिभिमित्तं सर्वार्धश्चानमनादिपर्यतमुपपद्यते ममाणफल्यत्वाचेश्वरक्षानमनित्यं नित्यत्वे तस्य ममाणफल्यत्विरोषांत् विश्लेषगुणत्वाच्च तदनित्यं मुखादिविदिति, तस्यापि गृहीतम्राहीश्वरक्षानमायातं । ततश्च न ममाणं स्मरणादिवत् गृहीतम्राहिणोपि
तस्य ममाणत्वे ममाणसंप्लववादिनामनुभूतार्थे स्मरणादेः ममाणत्वानुषंगः केन निवार्यतः।

वैशेषिक में मतको पृष्ट कर रहा जो भी कोई यों कह रहा है कि ईस्वरका झान (पक्ष) अनित्य है (साध्यदछ) उत्पत्तिवाछा होनेसे (हेतु) कछश, कपडा, आदिके समान, (अन्वयदद्यान्त)। पुनः हेतुके स्वरूपासिद्ध हो जानेकी कोई शंका न करे। अतः वैशेषिक इस हेतुको साध्यकोटिपर छाते हैं कि वह ईस्वरज्ञान (पक्ष) उत्पत्तिवाछा है (साध्य) आत्मा और मनके संयोगकी अपेक्षा,

रसनेनाम होनेसे (हेस्) इम आदिनोंके झानसमान (अन्वयद्दशन्त)। देखिये, योगाम्यार उत्पन्न हुए ख़ति, पराण, प्रसिद्ध धर्मसे अनुप्रहीत हो रहे मनके साथ ईस्वर आत्माका संयोग । जानेपर ईस्तरको सम्पूर्ण अर्थीमें ज्ञान उपजा दिया जाता है। इस प्रकार ज्ञानको उत्पत्तिमान् सा देनेसे वह ज्ञान आदि, अन्तवाला हो जावेगा, यह नहीं समझ बैठना । हम बीजाङ्कर न्याय अनुस सन्तानरूपसे ईक्वरजानको अनादि अनन्तपना उचित बताते हैं । कारण कि महेक्वरके योगकी सन्ता धाराप्रवाह अनादिकालने अनन्तकालतक वह रही है। क्योंकि ईश्वर सदा ही राग, क्रेश, विपाकाशग आदि मर्जो करके अछता रहा है, अनादिकाल्से ग्रुहिका अधिष्ठान है। अतः यो उस योगसन्तान विशेष चमत्कारक धर्म उत्पन्न होता है और उस धर्मका अनुप्रह मनके ऊपर हो जाता है। पक्क उसी मनका ईश्वर आत्माके साथ संयोग होता है। उस ईश्वर मनःसंगोगको निमित्त पाकर अनादि, अनन्त काळतक, ईश्वरके सम्पूर्ण अर्थोका ज्ञान होना बन जाता है। ईश्वर ह्वानको अनित्य सिद्ध करनेके लिये दूसरा त यह भी है कि ईस्वरका ज्ञान अनित्य है (प्रतिज्ञा) प्रमाणका फल होनेसे (हेत) देखिये, कारणेंसि उत्प हो रहे सभी फल अनित्य होते हैं । यदि उस ईत्वर ज्ञानको नित्य माना जायगा तब तो उसको प्रम णके फळपनका विरोध होगा। तीसरी बात यह भी है कि वह ईश्वरकान विशेषगुण होनेसे आनि है जैसे कि आत्माके सुख आदि गुण (अन्वयद्षष्टांत) । इमने आत्मामें संख्या, परिमाण, पृथक्त सैयोग, विभाग ये पांच सामान्य गुण और बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्ग भावना ये नौ विशेष गुण यों चौदह गुण माने हैं । ईस्वरमें भी पांच सामान्य गुण और इसन, इन्छ प्रयत्न ये तीन विशेष गुण यों आठ गुण इष्ट किये हैं। आत्मा द्रव्यमे सभी विशेषगुण अनित्य हैं " योपि " से प्रारंभ कर यहांतक वैशेषिक कह चुका । अब आचार्य कहते हैं कि उस वैशेषिक यहां भी यों तो ईश्वरका ज्ञान प्रहीतका ही प्रहण करनेवाला प्राप्त हुआ और तिस कारणसे या गृहीतपाही होनेते वह ज्ञान विचारा स्मरण, धारावाहि ज्ञान आदिके समान प्रमाण नहीं हो सक्ता है नैयायिक या वैशेषिकोंने गृहीत विषयको ही पुनरपि उतना ही विषय करनेवाळे झानको प्रमाण ना माना है। फिर भी भक्तिक्श यदि उस गृहीतप्राहक ज्ञानको प्रमाण मानौगे तब तो प्रमाणसंख्वका नैयायिक, वैशेषिक, जैन, मीमांसक, आदि विद्वानोंके यहां अनुसव किये जा चुके विषयमें प्रवर्त र स्तरण, प्रस्पिज्ञान, आदिको मी प्रमाणपनेका प्रसंग भळा किसके द्वारा रोका जा सकेगा ? अर्था अर्थमें विशेष अंशोंको जानमेवाले अनेक प्रमाणोंकी प्रवृत्ति हो जानेको प्रमाणसम्ब्ल कहते हैं। नैय यिक " प्रमाणसम्ब्व " को इष्ट करते हैं। जतः कुळ अंश जाने जा चुकेका भी पुनः अन्य प्रमाणे द्वारा सम्बद्धन हो सकता है। ऐसी दशमें स्मरण आदिको भी प्रमाणता वन बैठेगी। कोई माईव लाक रोक नहीं सकता है।

स्मान्यतं, मयाणांतरेणात्रद्दीतस्यः सकल्यक्तावर्यस्य पदेश्वरद्वानसंतानेन प्रदणाय तस् प्रदीतप्रादित्यमिति । तदसद् । धारावादिक्रानस्यात्वेतं ग्रदीतप्रादित्यात्रात्वात् ममाणतापचेः तत्ममाणत्वोषगमं तथैव प्रमाणांतरायृद्दीतप्राह्यनुभवस्मरणप्रत्यभिक्षानादिसंतानस्य प्रवर्तमानस्यायद्दीतप्राद्दित्वात् प्रमाणत्वमस्तु । यदि पुनरजुभवादीनामेकसंतानत्वप्यज्ञुभवयद्दितेर्थे स्मरणादेः
प्रश्चरप्रमाणत्वं तदा प्रथमक्षानेन परिच्छिक्येर्थे तदुत्तरोत्तरधारावाद्दिविक्षानानां कुतः प्रमाणत्वं ।
तदुषयोगविक्षेत्रपदिति चेत्, तत एव स्मृत्यादीनां प्रमाणत्वमस्तु सर्वथा विक्षेत्रभावाद् । तथा
सति प्रमाणसंख्यानियमो न व्यवतिष्ठेतेत्युक्तं पुरस्तात् । तस्मादनेन यद्दीतप्राहित्वात्कस्यचिद्दिक्रानस्याप्रमाणत्वप्ररिक्वता महेत्ररहानस्याप्युत्तरोत्तरस्य पूर्वद्वानपरिच्छिक्यार्थग्राहित्वादप्रमाणत्वं द्रःश्चकं परिहर्तु ।

यदि इसपर वैशेषिक अपना मन्तन्य यों बतावें कि दूसरे दूसरे प्रमाणोंसे नहीं जाने जा चुके सम्पूर्ण सूहम, व्यवहित, विप्रकृष्ट, आदि अर्थीका महेश्वरकी ज्ञानसन्तान करके प्रहण हो रहा है। अतः वह ईश्वर ज्ञानकी संतान गृहीतग्राही नहीं है, अगृहीत विषयोंका प्राहक है, यों कह चुकनेपर आचार्य कहते हैं कि वह वैशेषिकोंका मन्तव्य प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि इस प्रकार तो घट है, घट है, घट है, ऐसे धाराबाहिक ज्ञानको भी गृहीतम्प्राहीपना न होनेसे प्रमाणपनेका प्रसंग आ जावेगा । धाराबाही ज्ञानमें भी ज्ञानोंकी लम्बी सन्तान अगृहीत विषयका प्रहण कर रही है। यदि उस धारात्राहि ज्ञानकी सन्ता-नका प्रमाण होना स्त्रीकार कर छोगे, तब उस है। प्रकार प्रमाणान्तरोंसे नहीं गृहीत हो चुके अधीका प्रइण करनेवाछे अनुभव, स्मरण, प्रत्यमिङ्गान, तर्क, आदि ज्ञानोंकी प्रवर्तरही सन्तानको भी अगृहीत-प्राह्क होनेसे प्रमाणपना हो जाओ । यदि फिर तुम वैशेषिक यों कहो कि अनुभव, स्मरण, प्रत्यिभ-ज्ञान, आदि ज्ञानोंकी एक सन्तान होनेपर भी अनुभव द्वारा प्रहण किये जा चुके अर्थमें स्मरणकी और स्मरणसे जाने जा चुके अर्थमें प्रत्यभिज्ञान आदिकी प्रवृत्ति हो रही है। अतः वे स्मरण आदिक गृहीत-प्राही होनेसे प्रमाण नहीं हैं, तब तो हम जैन कहेंगे कि प्रथम ज्ञान करके जाने जा चुके अर्थमें उसके उत्तर और उसके भी पीछे पीछे अने म बह रहे भारावाही विज्ञानों मो प्रमाणपना कैसे आ सकता है ? अर्थात् कैसे भी नहीं । यदि तुम वैशेषिक उसमें विशेष उपयोग होनेसे प्रमाणपना लाओगे तब तो उस ही कारणसे यानी विशेष विशेष उपयोग होनेसे ही स्मृति आदिकोंको भी प्रमाणपना हो जावी। सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। प्रत्युत धारावाही ज्ञानोंकी अपेक्षा अनुभव, स्मरण, प्रत्यभिक्कानोंमें विशेष उपयोग हो रहा अच्छा जाना जा रहा है। और तिस प्रकार स्मृति, प्रत्यिमिङ्गान, आदिकी अतिरिक्त प्रमाण माननेपर तुम्हारी नियत की गयी प्रमाणोंकी संख्या व्यवस्थित नहीं हो सकेगी, इसको हम पहिले प्रकरणोंमें कह चुके हैं। तिस कारण गृहीतप्राही होनेसे किसी भी विज्ञानको अप्रमा-णपना स्वीकार करनेवाले इस वैशेषिक पण्डित करके पूर्वसमयवर्ती ज्ञान द्वारा जाने जा चुके अधीका प्राहक होनेसे महेश्वरके उत्तरोत्तरसमयवर्ती हानोंका अप्रमाणपना कठिनतासे भी नहीं हटाया जा सकता है । अतः महेश्वरके ज्ञानको अनित्य माननेमें अनेक विपत्तियां खंडी हो जायंगी 📝 😘 🗦 🔭

यद्युक्तं, मदेश्वरक्षानस्य नित्यवे ममाणफलत्वाभाव इति, तद्यययुक्तं । तस्योपचारतः प्रमाणफलत्वोपपचेः । यथैच ईश्वरस्यांतःकरणसंयोगादिसायग्री नित्यक्कानस्याभिन्यञ्जिकत्वा-दुपचारतः प्रमाणं तथा तद्यंग्यत्वाक्षित्यस्यापिश्वरक्षानस्योपचारतः प्रमाणफलत्वप्रपयत एव । न चाभिन्यक्तिकृत्यत्तिरेव सामान्यादेः स्वन्यक्तिभिरभिन्यंग्यस्योत्यत्तिमन्त्वप्रसंगात् । ततो नित्यमेवश्वरक्कानमिति । तेन हेतोर्न्यभिचार एव ।

और भी वैशेषिकोंने जो यह कहा था कि महेश्वरका झान यदि नित्य माना जायगा तो वह प्रमाणका कल नहीं हो सकेगा । आचार्य कहते हैं कि यों वह कहना भी युक्तियोंसे रीता है । कारण कि ईश्वरज्ञानको उपचारसे प्रमाणका फलपना सधता है । जिस ही प्रकार तुम्हारे यहां ईश्वरके साथ अंतःकरणका संयोग होजाना आदि सामश्री ईश्वरके नित्यझानकी अभिन्यञ्जक होनेसे उपचारसे प्रमाण मान ली गयी है, उसी प्रकार उस सामग्रीसे न्यंग्य होनेसे नित्य भी ईश्वरज्ञानको उपचारसे प्रमाणका फलपना वन जाता ही है, सर्वञ्चके झानमें प्रमाणपना और फलपना अभिन्य ही है, उपचारसे भले ही न्यारा न्यारा कल्पित कर लो । इसि सामग्रीको प्रमाण कह लो, साथमें झिसको फल कहलो । सामग्रीहारा अभिन्यक्ति होजाना ही ज्ञानकी उत्पक्ति नहीं है । अन्यथा अपनी अभिन्यज्ञक आश्रय न्यक्तियोंसे प्रकट होने योग्य सामान्य (जाति) समनाय, आदिको भी उत्पक्तिमान् हो जानेका प्रसंग होगा । किन्तु सामान्य और समनाय पदार्थको तुमने नित्य माना है । तिस कारणसे सिद्ध होता है कि ईश्वरका ज्ञान नित्य ही है । ऐसा होनेपर उस ईश्वर ज्ञानकरके तुम्हारे आत्माको व्यापक साधनेके लिये दिये गये नित्य होते हुये अमुर्तपन हेतुका व्यभिचार दोष तदवस्य ही रहा । ईश्वरका ज्ञान नित्य है । आत्म मी है किन्तु व्यापक नहीं है । आत्माको व्यापक माननेवाले वैशेषिकोंने आत्माके ज्ञानगुणको व्यापक नहीं माना है, शरीरावच्छेदेन आत्मामें ज्ञान है, घटावच्छेदेन आत्मामें ज्ञान नहीं है । ऐसा उनका अभिमत है ।

भवतु वा महेश्वरक्वानमनित्यं तथापि सिल्लिएरमाणुरूपादिभिरस्यानैकांतिकता दुष्य-रिहरेत्यलं प्रसंगन, सर्वथात्मनो गतिमस्वस्य मतिषेद्भक्तकः।

अथवा तुम्हारे मन्तन्य अनुसार भन्ने ही महेश्वरका ज्ञान अनित्य हो जाओ। अतः प्रा हेतु नहीं घटनेसे ईत्वर ज्ञानकरके व्यभिचार दोष नहीं हो सकता है तो भी जल परमाणुके या अग्नि-परमाणुके रूप रस आदि करके इस प्रकृतहेतुका व्यभिचार दोष आना कथमपि टाला नहीं टल सकता है। प्रथिविके परमाणुओं रूप, रस, आदिक अनित्य हैं। वे पाकज माने गये हैं। किन्तु जल, तेज, वायुके परमाणुओंके रूप, रस, आदि गुण नित्य हैं। साथमें जलपरमाणु या अग्नि परमाणु मले ही मूर्त होय, किन्तु इनके गुण तो मूर्त नहीं हैं। अमूर्त हैं। अतः नित्यत्वे सित अमूर्तत्व हेतुका पूरा शरीर बटित हो जानेसे और व्यापकत्व साध्यके नहीं ठहरनेसे,

व्यमिनार दोष तदबस्य रहा । अब अधिक प्रसंग बढानेसे कोई विशेष प्रयोजन नहीं निकलता है । जुन्हारे आक्षेपोंका मुख, पराक्मुख, उत्तर हो चुका है । अब तुम्हारे बूते आत्माका नित्मान्पना सभी प्रकारोंसे निषेचा नहीं जा सकता है । क्रियाहेतु गुणके सम्बन्धसे आत्मा गतिमान् डेलके समान सिद्ध करा दिया जाता है, कोई प्रत्यूह नहीं रहा ।

कथं पुनरश्चरीरस्यात्मनो गतिरित्याइ।

महाराज जी ! यह बताओ, कि शरीर सम्बन्धवाले आत्माकी गति तो प्रसिद्ध है। किन्तु मरकर शरीररहित हो गये आत्माकी गति फिर किस प्रकार होती है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

अनुश्रेणि गतिः ॥ २६ ॥

लोकके बीचसे प्रारम्भ कर पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे, छऊ दिशाओं में बरफीके समान छह पैल्वाली अखण्ड परमाणुसे नापे गये सम संख्याबाले प्रदेश इस अखण्ड लोका-काशमें तदात्मक होकर जड रहे हैं | दोनों ओर समसंख्याबाले पदार्थोंका सबसे छोटा ठीक बीच दो होता है । चारों ओर सम संख्यामें फैल रहे पदार्थोंका बीच चार होता है तथा छऊ ओर सम संख्याबाले पदार्थोंका बीच आठ होता है । लोकके ठीक मध्य सुदर्शन मेरुकी जडमें स्थित हो रहे गोस्तन आकारवाले आढ प्रदेशोंसे छऊ ओर अखण्ड आकाशमें प्रदेशोंकी श्रेणियां गढ ली जाती है । उस श्रेणीके आनुपूर्व्य करके जीवोंकी अन्य भवोंका संक्रमण करनेपर मरणकालमें गति होती है ।

आकाशमदेशपंकिः श्रेणिः अनोरानुपूर्व्ये द्वतिः श्रेणेरानुपूर्व्येणानुश्रेणि जीवस्य पुरुष्ठस्य च गतिरिति मतिपत्तव्यं । जीवाधिकारात्पुद्रस्यसंमत्ययः इति चेक, पुनर्गति- प्रहणात्तत्संमत्ययात् क्रियांतरनिष्ठत्यर्थिमद्द गतिप्रहणमिति चेक, अवस्थानाद्यसंभवात् क्रियां- तरिनद्वत्तिसिद्धेः । उत्तरसूत्रे जीवप्रहणाचेद्द शरीरपुद्रस्त्रस्य जीवस्थानुश्रेणिगतिः संमतीयते ।

लोक, अलोक, पूरे आकाशमें प्रदेशोंकी लम्बी पंक्ति बन रही श्रेणि कही जाती है। अनु-अन्ययका अनुपूर्वीपना अर्थ होनेपर श्रेणिपदकी अनु उपसर्गके साथ अन्ययीमाब समास द्वाति हो। जाती है। श्रेणिके आनुपूर्व्य करके जीव और पुद्रलकी श्रेणि अनुसार गति हो जाती है। यह समझ लेना चाहिये। कोई आक्षेप करता है कि यहां प्रकरणमें जीवद्रल्यका अधिकार होनेसे पुद्रलकी भी श्रेणि अनुसार गति होनेका समीचीनज्ञान नहीं हो सकता है। आचार्य कहते हैं यह तो न कहना। क्योंकि " विप्रहगती कर्मयोगः " इस सूत्रसे गतिका अधिकार चला ही आरहा था। पुनः इस सूत्रमें गति शब्दका प्रहण किया है। इससे उस पुद्रलकी गतिका संप्रत्यय हो जाता है। अन्यया यदि जीवकी ही श्रेणि अनुसार गति इष्ट होती तो पुनः गति शब्दका प्रयोग करना व्यर्थ

पदस्य । अत्यान्य ओळनेवाळे स्त्रकारके वचन व्यर्थ नहीं हो सकते हैं। अतः यहां सम्पूर्ण गतिवाळे पदस्योका अहण कर ळिया जाता है। कोई पण्डित गति प्रहणका प्रयोजन यों कह रहा है कि अन्य कियाओंकी निवृत्तिके ळिये यहां स्त्रमें गति कहा गया है, जिससे जीवकी गतिकिया है। छी जाय, अन्य कियायें नहीं पकड़ी जायं। आचार्य कहते हैं कि यह प्रयोजन तो ठीक नहीं है। क्योंकि दूसरे शरीरको प्रहण करनेके ळिये उशुक्त हो रहे जीवके बैठना, सोना, बढ़ना, जगना, नमना, पढ़ना आदि कियाओंकी तो संभावना ही नहीं है। अतः स्वतः ही अन्य कियाओंकी निवृत्ति सिद्ध है। " सम्भव-व्यक्तियास्य स्यादिशेषणमर्थवत्"। दूसरी बात यह है कि अव्यवहित उत्तरकाळमें कहे जानेवाळे " अविप्रहा जीवस्य " स्त्रमें जीवका प्रहण है। अतः इस स्त्रमें शरीर या पुद्रल और जीवकी भी श्रेणि अनुसार गति हो रही अच्छी जानी जा रही है।

नतु च कृतो जीवस्य पुद्रलस्य चातुश्रेणिगतिर्निश्चिता ज्योतिरादीनां विश्रेणिगतिदर्श-नात् तिभयमानुपपत्तेरिति कश्चित् । तं प्रत्याइ ।

यहां शंका उठती है कि जीन और पुद्रलकी गित श्रेणि अनुसार ही है, यह सिद्धान्त कैसे निर्णात कर लिया जाय ? जब कि सूर्य, चंद्रमा आदि ज्योतिष्क विमान, चक्र, ज्यजन, आदि अथवा विद्याधर या खिलाडी बालकों आदिकी श्रेणिका ज्यातिकम कर भी टेडी, मेडी, घूमती, फुदकती, आदि अनेक प्रकारकी गितयां देखी जारही हैं। अतः आकाशकी ठीक बनी हुयी श्रेणियोंके अनुसार सीची रेखामें ही गित होनेका नियम नहीं बन सकता है, यहांतक कोई कह रहा है, जिसका कि नाम या मत अनिर्वचनीय है। उसके प्रति श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

सिद्धा गतिरनुश्रेणि देहिनः परमागमात् । लोकांतरं प्रतिद्वेयं पुद्गलस्य च नान्यथा ॥ ७ ॥

जीवकी मरण समय या मुक्त अवस्था होनेपर अन्य लोक या सिद्ध लोकके प्रति और पुद्रलॉको भी लोकपर्यंत प्राप्त करानेवाली गति श्रेणि अनुसार होती है, यह मन्तन्य सर्वह्रोक्त परम आगमसे सिद्ध है। अन्य प्रकारोंसे नियम नहीं हैं, यह समझ लेना चाहिये। अर्थात्—श्रेणि अनुसार ही गति होती है, इसमें काल और देशका नियम है। कालनियम तो यह है कि संसारी जीवोंकी मरणकालमें अन्य भवका संक्रमण करते समय और मुक्त जीवोंकी ऊर्ष्य लोकके तनुवातवल्यमें स्थित सिद्धालयतक गमन करते समय प्रदेशपंक्तियोंके अनुसार सरल रेखा बनाती हुयी गति होती है। तथा देशका नियम भी यह है कि ऊर्ष्य लोकसे अधीलोकमें जानेपर या अधोलोकसे ऊर्ष्य लोकमें गति करनेपर अथवा तिवैग् लोकसे अधोगति या ऊर्ष्य गति जहां होगी वह श्रेणि अनुसार ही होगी। इसी प्रकार पुद्रलोंकी लोकके अन्ततक प्राप्त करानेवाली गति भी श्रेणी अनुसार ही होगी। हां, नियमसे अतिरिक्त दशामें घूमन्त्र, नाचना, आदि गतियां भी हो सकती है।

दः युनरसी परमागमस्तदावेदकः कृतो वास्य ममाणत्विमत्साइ ।

भिर कौनसा उत्कृष्ट आगम मळा उस गतिका निवेदन करनेवाळा है ? बताओ और उस आगमको प्रमाणपना कैसे सिद्ध है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर भी विचानन्द स्वामी वार्तिकको कहते हैं !

षोढा प्रक्रमयुक्तोयमात्मेति वचनं प्रमम् । संप्रदायात्सुनिर्णीतासंभवद्राधकत्वतः ॥ ८॥

यह जीव छह प्रकारके गमन करना स्वरूप प्रक्रमसे युक्त हो रहा है यह वचन प्रमासित है। क्योंकि सर्वज्ञकी परम्परासे संप्रदाय चछा आरहा है और बाधक प्रमाणोंके असंभव होनेका मछ प्रकार निर्णय कर छिया गया है। अर्थात्—जीवका ऊपरसे नीचे जाना या ऊपरसे ठीक नीचे जाना अथवा पिकाने पूर्व या पूर्वसे पश्चिम एवं दक्षिणसे उत्तर और उत्तरसे दक्षिण ये छह प्रकारके समनोंको कहनेवाला वचनप्रमाण है। इस सत्य सिद्धांतका कोई बाधक नहीं है।

षद्मकमयुक्तो जीव इति परमागमः स्वतः संमदायाविच्छेदात्मयाणं सुनिणीतासंभव द्वापकत्वादा मोक्षमार्गवदिति निरूपितमायं । ततो जीवस्य पुहलस्य च देशकालनियमाद्युः भेगि गतिः सिद्धा वोद्धव्या ।

छह प्रक्रमोंसे युक्त हो रहा जीव है यह परम आगम (पक्ष) स्वतः प्रमाण है (साध्य) सर्वेश्व युक्त सम्प्रदायका विच्छेद नहीं होनेसे (पहिला हेतु) अथवा बाघकोंके असम्भवका अच्छा निर्णय हो चुका होनेसे (दूसरा हेतु) सभी आस्तिकोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे अतीन्द्रिय मोक्ष मार्विक समान (अन्वयद्दष्टांत) इस वातको हम पूर्व प्रकरणोंमें बहुल्तासे कह चुके हैं। तिस कारण जीव और पुद्रलकी विशेष देश और विशेष कालका नियम कर देनेसे श्रेणि अनुसार ही गाति सिद्ध हो चुकी समझ लेनी चाहिये।

मुक्तस्यात्मनः कीद्दशी गतिरित्याह ।

त्रिविध कमोंसे अनन्तकालतकके लिये छूट चुके मुक्त आत्माकी गति कैसी है ! ऐसी जिज्ञास होनेपर श्री उमास्वामी महाराज भविष्य सूत्रको समाधानार्थ उतारते हैं उसको होलियेगा ।

अविग्रहा जीवस्य ॥ २७ ॥

मुक्त जीवोंकी गति कुटिछता का रहित है अर्थात् उन्ने छोक्क ठीक बीचमें पतालीस कार्य पात्रन छवा चौडा गाठ सिद्ध क्षत्र है और उतना है। छवा चौडा मनुष्य क्षत्र मध्य छोक्के है। मनुष्य कोक्कों कहीते भी मोक्ष होगी उसी समय वह जीव ठीक उत्तर सीधा सिद्ध छोक प्रति गमन कर जाता है। कर्मभूमिके तपत्या स्थानोंके आतिरिक्त सभी समुद्र, पर्वत, भ्रोगभूबि, हुमेह आदि, स्थानोंसे सहरण अपेक्षा जीकोंकी मीक्ष ही चुकी है। सिद्ध क्षेक सर्वत्र दुस रहा है। एकब्रदेश मात्र यी सिद्ध आत्माओंसे खाळी नहीं है। प्रत्युत प्रत्येक स्थल या परमात्माओंसे अवन्तानन्त सुक्तजीन निस्त्राध संप्रविष्ट हो रहे हैं, तब कहीं सिद्धलोक अनादिकाळीन अमूर्त सिद्धोंका आश्रम नन चुका है और वर्तमान इन सिद्धोंसे अनन्तानन्त गुणे सिद्धपरमेष्ठी भनिष्यकालमे होकर वहां विराजमान होनेवाले हैं। उनमें और आकाशमें अनन्त अवगाह शक्ति है। आकाशके एक प्रदेशपर भी संपूर्ण जीवोंसे अनंत-गुणी पुद्रल परमाणुपे बैठ सकती है, किर अमूर्तद्रक्योंका तो कहना ही क्या है।

उत्तरसूत्रे संसारिप्रहणादिइ मुक्तस्य गतिः । विग्रहो व्याघातः कौटिस्यमिति शास्त्रः न विद्यते विग्रहोस्या मृत्यविग्रहा मुक्तस्य जीवस्य गतिरित्यभिसंबंधः । कुतः इत्याह ।

उत्तरवर्ती " विग्रहवर्ती च संसारिणः प्राक्चतुर्न्यः " इस स्त्रमं संसारी जीवाँका प्रहण हो जामेंसे यहां मुक्तजीवकी गति समझी जाती है। विग्रहका अर्थ व्याघात हो जामा है, कुटिखता करना, यह विग्रहका तात्पर्य अर्थ है। जिस गतिमें विग्रह यानी कुटिखता नहीं विषमान होय इस प्रकारकी मुक्त जीवकी गति अक्निग्रह है, यों आवश्यक पदोंका उपस्कार कर स्त्रका वाक्यार्थ करते हुये पदोंका चारों ओरसे सम्बन्ध करलेना चाहिये। कोई पूछता है कि मुक्तजीवकी गति कुटिखतारहित है, वह कैसे समझा जाय ! इसके खिये प्रथक्तर समाधानवचन कहते हैं।

गतिर्मुक्तस्य जीवस्याविषद्या वकतां प्रति । निमित्ताभावतस्तस्य स्वभावेनोर्ध्वगत्वतः ॥ १ ॥

चीदहमें गुणस्थानके अंत समयमें सम्पूर्ण द्रव्यकर्म, भावकर्म, मोकमीका नाश कर उत्तर साणमें मुक्त हो रहे जीवकी गति कुटिल्तारहित है। कारण कि गतिकी वक्रताके प्रति होनेवाले निमित्तकारणीका अमाव है। क्योंकि उस मुक्तजीवका स्वभाव करके ही ऊर्ज्व लेक प्रतिगमन करनेका परिणाम विद्यमान है। जैसे कि अप्रिकी ज्वाला स्वभावसे ही ऊपरको जाती है। हां, सुनार बा पाचककी फंकनी द्वारा प्रेरी गयी वायुका निमित्त पाकर भले ही तिरली, मीकी, ली चली जाय'। इसी प्रकार वक्रताका निमित्त कारण शेष नहीं रहनेसे ऊर्ज्वगतिस्वमाववाले जीवकी मुक्त हो जानेपर कुटिलता रहित ऋजुगति होजाती है।

उद्भविष्यास्त्रभावो जीव इति युक्त्यागमाभ्याग्रुत्तरत्र निर्णेष्यते, तती ग्रुक्तस्यान्यत्र गर्नेन तर्द्वनीभावे च कारणाभावाद्वकीभावाभावाद्विप्रद्या गतिः।

यह जीवद्रव्य अर्थ गमन करनेके स्वभावको सर्वदा छिये हुये है, इस सिद्धांतका उत्तरवसी अर्थने बुक्ति भीर आध्रमप्रमाण करके निर्णय कर दिया जावेगा । तिस कारण मुक्तजीवका अन्य स्थानों से तिस्छा, अया, जीवा, जावन करनेमें और उस गमनके अनुसार वकता होनेमें कोई प्रेर्फ निमित्त कारण अवशिष्ट नहीं रहा है। अतः अकुटिलको कुटिल होनेका अभाव हो जानेसे मुक्तजीवका गमन बाणके समान कुटिलता रहित है।

संसारिणः कीह्मी गतिरित्याह ।

कोई जिज्ञासु कह रहा है कि मुक्तजीवकी गतिका अवधारण किया । हे कृपासिन्धो ! अब यह बताओ कि संसारी जीवकी गति पूर्वभवका आयुष्य पूर्ण हो जानेपर कैसी ! यानी टेडी या घूमती अथवा इतराती चळती कैसी होती है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज उत्तर-सूचको कहते हैं |

विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः ॥ २८ ॥

मर कर उत्तरभवसम्बन्धी आयुका उदय आ जानेपर संसारी जीवकी चार समयोंसे पहिले अर्थात-तीन समयतक कुटिलतावाली भी गति हो जाती है। अर्थात्-जीवको ऊपर, नीचे या तिरके देशमें ठीक पंक्तिके अनुसार यदि जन्म लेना है तब तो इषुगति है। हां, यदि उससे कुछ नीचा कंचा या बगलमें जन्म लेना होगा तो एक मोडा लग जायगा । यदि द्रव्य, क्षेत्र, काल, मानके, अधीन कुछ और भी टेडी विदिशामें जन्म लेना पड़े, तो जीवको वहां जानेमें दो मोडे लग जायंगे। हां. ऊर्चलोकमें मृदंग (पखबाज) और अधोलोकमें आधे मृदंगके आकारवाले लोकमें जीवको बस-**छोकको** निकटनती तिरछे डेढ राजू परली ओरके स्थावर लोकमेंसे यदि नीचे महातमःप्रभाके निकट-क्तीं दो राजू परे स्थावरलोकर्में कुछ बगलमें चलकर जन्म लेना है, ऐसी दशामें वह जीव ऊर्ध्व कोकसे एक दम सीधा अधोलोकमें नहीं उतर सकता है । क्योंकि मध्यमें अलोकाकाश पडता 💈। वहां गमनका उदासीनकारण धर्मद्रव्य नहीं है। अतः उर्ध्वलोकके स्थावर लोकसे वह जीव तिर्छ। चळकर पहिले समय ब्रह्मलोकमें आयगा। वहांसे पहिला मोडा लेकर त्रसनालीमें उत्तरता हुआ सातर्जी पृथिवीपर आ जायगा । वहांसे दूसरा मोडा छेकर तिरछा चळता हुआ सातर्वे नरकके पार्ह्यवर्त्ती स्यावरलोकमें आ जायगा । वहांसे तीसरा मोडा लेकर कुळ इधर उधर चारों दिशाओंमें किसी विवक्षित दिशाके स्थानपर चौथे समयमें जन्म छेता हुआ आहार कर छेता है। एक समयमें चौद्रह राजूतक सीधी छळांग मार सकनेवाले जीवके लिये लोकमें चौथा मोडा छेनेके लिये कोई स्थान शेष नहीं 🕯 । अधिकसे अधिक तीन मोडेमें ही जीवकी कहींसे भी किसी भी स्थानतक अव्याघात गति हो जाती है।

च श्रद्धादविग्रहा चेति समुख्यः तेन संसारिणो जीवस्य नाविग्रहगतेरपवादो, विग्रह-बत्या विधानादिति संमत्पयः कालपरिच्छेदार्थः माक् चतुर्भ्यः इति वचनं । आङो ग्रहणं स्रघ्वर्ये कर्तव्यमिति चेक्न, अभिविधिमसंगात् । उभयसंभवे व्याख्यानतो मर्यादासंमत्पय इति चेक्न, मतिपत्तेगौरवात् । मतिपत्तिगौरवाद्वरं ग्रंथगौरवं इति वचनाच माम्ग्रहणमस्तु ।

सूत्रमें पढ़े हुये च शहूका अर्थ समुचय है। इस कारण च शहूसे अकुटिल गति भी पकर जाती है। तिस कारण संसारीजीवकी क्रिटेलतावाळी गतिका विधानं कर देनेसे अकुटिल गी होनेका अपवाद नहीं हो जाता है। हां, च अन्ययके स्थानमें एव होता तो अकुटिल गतिव व्यावृत्ति हो जाती, जो कि इष्ट नहीं है। इस प्रकार यहां समीचीन विश्वास कर छेना चाहिये कालकी मर्यादा करनेके लिये सूत्रमें चार समयसे पहिले ऐसा वचन पढ़ा गया है। कोरे लाववव और टकटकी लगाकर बैठा हुआ कोई वावद्क आक्षेप करता है कि लाघवगुणके लिये सूत्रकारक आङ्का प्रहण करना चाहिये था । अर्थात्—" प्राक् चतुर्म्यः " के स्थानपर " आचतुर्म्यः कह देनेसे परिमाणकृत लाधन है। यदि पतले शरीरवाले चंचल मनुष्यसे कार्य बन सके तो स्थूर काय पुरुषको दुर्बल टट्टूपर चढाकर प्रामान्तरके प्रति भेजना अनुचित है। आचार्य कहते कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि आक् अव्ययके, ईषत्अर्थ, अभिव्याप्ति, मर्यादा, अभिविधि ऐ कई अर्थ हैं। तेन निना मर्यादा, तत्सहितोऽभिनिधिः, उससे रहित मर्यादा होती है और अभिनि उस विवक्षितसे सहित होती है। आङ् कह देनेसे अभिनिधि अर्थ भी लिया जा सकता था। ऐ। दशामें चौथा समय भी वक्रता करनेमें चिर जाता है। यो जीवको पांचवें समयमें आहार करनेव प्रसंग आवेगा, जो कि इष्ट नहीं है। यदि कोई यों कहे कि मर्यादा और अभिविधि इन दोनों अर्थी सम्भव होनेपर व्याख्यान करनेसे आङ्के अर्थ मर्यादाका ही सम्प्रत्यय हो जायगा । पचासों स्थलों विवादापन विषयका व्याख्यान कर देनेसे निर्णय कर छिया जाता है। " व्याख्यानतो विशेष प्रतिपत्तिर्न हि संदेहादलक्षणं ''। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों पहि संशयापन कहना, फिर कटाक्षोंका आघात सहना, उसको दूर करनेके लिये व्याख्यानका म बढाना, ऐसा करनेसे प्रतिपत्ति होनेमें व्यर्थ गौरव हो जाता है। अतः प्रतिपत्तिके व्यर्थगौरव प्रन्थका गौरव करना कई गुणा श्रेष्ठ है। ऐसा सभी विद्वानोंके यहां कहा भी गया है। तिस कार झगडेके बीज आङ् प्रयोगकी अपेक्षा प्रशान्तिकर्द्धक प्राक् पदका ग्रहण ही स्पष्टार्थ बना रही।

कृतश्रतुर्भ्यः समयेभ्यः मागेव विग्रहवती गतिः संसारिणोः न पुनश्रतुर्थे समये परत्रेत्य श्रंकायामिदमाह ।

कोई शिष्य पूंछता है कि चार समयोंसे पहिले ही यानी तीन समयतक संसारी जीवकी गां बकतावाली है। क्योंजी! फिर चौथे समयमें या परले समयोंमें मोडे क्यों नहीं लेती है? जब ्रिं नर्सिकी या खिलाडी बालक पचासों मोडे लेकर गमन करता है, ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यान स्वामी वार्तिक द्वारा इस समाधानको कहते हैं।

संसारिणः पुनर्वकीभावयुक्ता च सा मता। चतुर्भ्यः समयेभ्यः प्राक्त परतस्तदसंभवात्॥१॥ चार समर्थीत पहिले पहिले संसारी जीवजी वह गति फिर कुठिलपन करके युक्त मानी गयी

त्रिवकगतिसंभवः कृत इत्याइ।

तीन मोडेवाळी गतिका सम्भव किस ढंगसे हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्थामी वार्सिकको कहते हैं।

निष्कुटक्षेत्रसंसिद्धेसिवकगतिसंभवः । एकद्विवकया गत्या कचिदुत्पत्त्ययोगतः ॥ २॥

बात यह है कि छह पैछ आठ कोनवाछ वरफीके समान सम्पूर्ण अछोकाकाशके ठीक बीचमें अनादिनिधन छोकका विन्यास यों हो रहा है कि पूर्व, पश्चिम, दिशाकी ओर नीचे सात राज् है कंमसे घटता हुआ सात राज् ऊपर चढकर एक राज् चौडा रह गया है। पुनः क्रमसे बढता हुआ साढे दस राज् ऊपर चढकर पांच राज् चौडा है, फिर अनुक्रमसे घटता हुआ चौदह राज्की ऊंचाईपर एक राज् हो गया है। दक्षिण, उत्तरमें, सर्वत्र सात राज् मोटा है। जीव और पुद्रछको गमनमें सहायक हो रहा धर्मद्रव्य तो छोकमें ही ज्यापक है। इस कारण अछोकमें कोई भी जीव गमन नहीं कर पाता है। जीवको सीधे जानेमें अछोकाकाश पड़े ऐसे निष्कुट क्षेत्रमें, टेढा, मेढा, जन्म छेनेका जब अवसर आ जाता है, तब जीवको तीन मोडा, छग जाते हैं। यह छोक सर्वथा गोछ या अण्डाके समान छम्बा गोछ अथवा चौकोर, तिकोर, नहीं है। अतः टेढे कोठावर्त्ती क्षेत्रसे तिरछे कोनवाछे क्षेत्रतककी रचनाको धारनेवाछ निष्कुट क्षेत्रकी अबाधित जिनागम द्वारा निर्दोषितिह हो जानेसे तीन वक्रतावाछी गति हो जानेका सम्मव है। कही कहीं टेढमें पड गये उस निष्कुट क्षेत्रमें एक मोडा, या दो मोडा-बाछी गति करके उपजनेका अयोग है। अतः वहां जन्म छेनेवाछे जीवको तीन मोडावाछी गिति करकी उपजनेका अयोग है। अतः वहां जन्म छेनेवाछे जीवको तीन मोडावाछी गिति करकी एडती है।

यदि शेकवंका गतिः स्याट् द्विवकैव वा तदा वेत्रासनाद्याकारे लोके निष्कुटक्षेत्रे कवि-त्यदेशे जीवस्य कृतिश्विदेशांतरादागतस्योत्पत्तिर्न स्यात् ।

यदि शंकाकारके विचारानुसार एक मोडाबाडी अथवा दो मोडाबाडी है। गति मानी जाय, तब तो अधोडोकमें वेत्रासन (मढ़ा या स्टूड) और मध्यडोकमें झड़री (बजाये जानेवाडी विशेष ढंगकी धाडी) तथा ऊर्ज डोकमें मुदंग (पखवाज या छोटे मुंह बड़े पेटबाडी ढोडक) ऐसे आकारवाडे डोकमें किसी किसी निष्कुट केत्र बन चुके प्रदेशमें किसी भी देशान्तर आये हुये जीवकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। अतः सीम बेडियाडी गतिका आश्रय डेका समुक्तित है।

सूक्ष्मनादरकेजीवैः सर्वे छोको निरंतरं। निश्चितः सर्वदेत्येतद्वचः कास्तु तथा सति ॥ ३॥

अनन्तानन्त स्थमजीव तथा अनंत और असंख्यात लोक प्रमाण बादर जीवोंकरके सर्वदा यह संपूर्ण लोक क्षित्ररहित ठसाठस भरा हुआ है, यह परम आगम सिद्धान्तोंका. वचन है। यदि तिस प्रकार एक या दो मोडेवाली गतियां ही मानी जायंगी तो तैसा होनेपर यह वचन कहां रिक्षित रहा। अर्थाद् सहम या बादर जीव भला जन्म, मरणसे रहित तो नहीं है। लोकमें किसी भी स्थानसे चाहे किसी भी स्थानपर जन्म ले सकते हैं। लोकमें टेडे, मेडे कोनेवाले अनेक स्थल आगये हैं। अतः वहां तीन मोडेवाली गतिसे ही जन्म लेना सथता है। एक दो मोडेवाली गतिसे वहां वक्ष-स्थानोंमें पहुंचना नहीं वन सकता है।

सूर्येजीवैः सर्वछोको निरंतरं निचित्तः बादरकेश्व यशासंभक्तिति परमागमवचनं । तथेकेन जीवेन सर्वछोकः मतिप्रदेशं सेनीकृत इति वकावक्रमस्वयतः । नतु द्विवक्रया गत्या यतो यत्र व्याप्तिः संभवति ततस्तत्र जीवस्योत्यत्तेः सर्वमसमंजसमेतद्वचनमिति चेत्, सर्वस्या-छोक्यपदेशात्सर्वस्मिन् स्नेक्यदेशांतरे जीवस्य गतिरिति सिद्धान्तव्याइतिप्रसंगात् ।

यह सम्पूर्ण छोक सूक्ष्मजीवों करके खचाखच छदरहित द्वस रहा है और बादर जीवों करके भी वहां ही यथायोग्य स्थानपर सम्भवते अनुसार भरपूर हो रहा है। यह सर्वब्रधारासे चछे आ रहे ऋषिप्रोक्त परम आगमका वचन है। तथा पंच परावर्तनों में क्षेत्रपरिवर्तन करते समय एक जीवने भी प्रत्येक प्रदेशोंका स्पर्श करते हुये सम्पूर्ण छोकको. अपना जन्म क्षेत्र कर छिया है। इस कारण जीवका गमन वक्तपन और अवक्रपनको प्राप्त हो चुका है। यहां यदि कोई शंका यों करे कि दो मोडेवाछी गति करके जहांसे जहां क्षेत्रतक व्यापना सम्भवता है, वहांसे वहांतक जीवकी उत्पत्ति हो जायगी। दो, तीन, बार जन्म छेकर निष्कुट क्षेत्रमें भी उपज जायगा, एक ही जन्ममें निष्कुट क्षेत्रन तक पहुंचनेकी क्या आवश्यकता पडी है! जब कि एक दो मोडेवाछी गतिसे ही निर्वाह हो सकता है, तो ये सब परमागमके वचन न्यायोचित नहीं हैं। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि यों तो '' सभी छोकाकाशके प्रदेशोंसे चाहे कहां सभी छोकके अन्य प्रदेशोंमें अन्य छेते हुये जीवकी गति हो जाती है '' इस प्रकार सिद्धान्त वचनोंके व्याखात हो जानेका प्रसंग होगा। चाहे जहांसे छोकमें चाहे जहां कहीं भी जन्म हो जाता है, यह सिद्धांत अट्ट है।

वेषां च चतुरसः स्यालोको वृत्तोपि वा गतः। निष्कुटत्वविनिर्मुक्तरेषां सा न त्रिवकता॥ ४॥ किन्तु जिन प्रवादियों से यहां छोक चौकोर अधवा गोछ भी माना गया होय उनके यहां तो टेंढे कौनदार या पैछदार स्वरूप निष्कुटपनेस सर्वथा रीता यह छोक हुआ। अतः उनके यहां तीन वक्तपना नहीं बनता है। एक दा वक्तताओं से कहीं से भी किसी भी स्थानमें जीवकी गति बन जाती है। एक समयमें एक ओर चाहे जितना सीधा चछनेवाछ जीवको यदि अपने समतछसे ऊपर नीचे टेंडे स्थानमें जन्म छेना है तो दो मोडे अवस्य छगेंगे। इससे अधिककी आवस्यकता नहीं है। हां, परमागम अनुसार छोकरचना मान छनेपर निष्कुट क्षेत्रमें गति करना तो तीन मोडा छेकर ही सम्भवता है।

मा भूदित्ययुक्तं, तथा पाणिमुक्ता लांगलिका गोमूत्रिका चैकद्वित्रिवका संसारिणो गौतिरिति सिद्धांतविरोधात् । तद्विरुद्धमनुरुध्यमानैः त्रिवका तु गतिरभ्युपगंतन्या, न चासौ निष्कुटत्वविनिर्मुक्ते चतुरस्रे दृत्ते वा लोके संभवतीति न तदुपदेशसंभवः।

यदि कोई अतिसाहसी प्रवादी यों कह देवे कि जीवकी गतिमें तीन मोडे भले ही नहीं होवें, हमारी क्या क्षिति है। टेडेपनको कमकर जीवमें जितनी सरलता बढे उतना ही अच्छा है। आचार्य कहते हैं कि यों किहांतवाक्यका अतिक्रमण कर मलमानुषी दिखाते हुये प्रशंसा छूटना अनुचित है। क्योंकि तिस प्रकार त्रिवकपने का अभाव मान लेनेपर इस सिद्धान्तप्रश्यसे विरोध हो जायगा कि संसारी जीवकी लम्बे बाहु या हाथको ऊपर झुका देनेपर तत्सहश हुई पाणिमुक्ता गति तो एक मोडे-वाली है और दो स्थानीपर टेढे झुक रहे हल्के समान आकारवाली लंगलिका गति तो दो वक्रतानवाली है तथा चलते हुये बैलके मूत्र समान आकारवाली गोमूत्रिका गति तो तीन वक्रताओंको धारती है, ये सिद्धान्तके वचन अक्षुण्ण हैं। निर्दोष निर्वाध उन सिद्धान्त वचनोंके अविरुद्ध अनुरोध मानकर प्रवर्त्तनेवाले विद्धानों करके तीन मोडेवाली गति तो अवस्थ स्वीकार कर लेनी चाहिये और वह तीन मोडेवाली गति निष्कुटपनसे सर्वधा निर्मुक्त हो रहे चौंकोर अथवा गोल लोकमें नहीं सम्भवती है। इस कारण लेकके चौंकोरपन या गोलपनका वह उपदेश देना सम्भव नहीं है।

कियत्समया पुनरवका गतिरित्याइ।

गुरुजी महाराज ! अब यह बताओ, फिर नहीं मोडा छेनेवाछी गति भछा कितने समयोंमें पूरी होती है ? ऐसी शिष्यकी तीव आकांक्षा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

एकसमयाविग्रहा ॥ २९ ॥

गतिवाले जीव पुद्रलोंकी जिस गतिमें मोडा नहीं है वह लोकपर्यन्त भी हो रही गति एक समयवाली है। अर्थात् सरल्हपसे गमन करनेका अवसर मिल जानेपर जीव और पुद्रल एक समयमें असंख्यात योजनोंवाले चौदह राजूतक चले जाते हैं। गतिका उदासीन कारण धर्मद्रव्य यदि लोकके बाहर भी होता तो असंख्याते राजुओंपर्यन्त जा सकते थे। किन्तु परवश हो जानेके कारण चौदह राजूते अधिक गमन करना निषद्ध हो जाता है।

गतिरित्यतुर्वतनेन सामानाभिकरण्यात्स्रीलिंगनिर्देशः कृतः । एकः समयोऽस्या इत्यव समया, न विद्यते विग्रहो व्याघातोस्या इत्यविग्रहा ऋज्वी गतिरित्यर्थः । कृतश्रैवमित्याह ।

" अनुश्रेणिगतिः " इस सूत्रसे गति इस शद्धकी अनुवृत्ति करके समान अधिकरणपना । जानेसे गतिकी अपेक्षा एक समया और अविप्रहा शद्धोंका स्नीलंगमें कथन किया गया है। जि गतिका समय एक ही है इस कारण वह एक समय कही जाती है। इस एक समयमें होनेवाली गतिक विप्रह अर्थात्—आधात यानी कुटिलता नहीं विश्वमान है। इस अविप्रहाका अर्थ यह हुआ कि ए समयमें होनेवाली गति बाणगमनके समान सरल है। कोई पूंछता है कि इस प्रकार गतिका सरलप कैसे निर्णीत किया जाय ? यों आकांक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानकारक अप्रिवार्तिकको कहते हैं।

अविष्रहा गतिस्तत्र शोकैकसमयाखिळा । प्राप्तिः समयमात्रेण लोकाष्रस्य तनोरपि ॥ १ ॥

उन गतियों में एक समयवाछी सम्पूर्ण गतियां तो कुटिलता रहित हो रहीं सरल हैं। कारण किवल एक समय करके ही लोकके अप्रवर्ती दूसरे शरीरकी भी प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् का लोकमें सबसे ऊपर स्थित हो रहे पन्द्रहसी पिचत्तर बडे वनुष मोटे तनुवातवलयके उपरके पन्द्रहसी भागमें उसी समय जाकर मुक्तजीव लोकाप्रमें विराज जाते हैं। सबसे बडी प्रिहोंकी अवगाहना पांचर पचीस छोटे धनुषकी है और सबसे छोटी अवगाहना साढे तीन हाथकी है। पन्द्रहसी पिचत्तर धनुषकं उपरिम तनुवातवलयको पांचसीते गुणा कर देनेपर छोटे धनुष हो जाते हैं। उनमें बडी अवगाहनाव भाग देनेसे पन्द्रह सी लब्ध आते हैं तथा साढे तीन हाथ यानी सात बटे आठ धनुषकी छोटी आ गाहनाका भाग देनेसे नी लाख लब्ध आते हैं। तनुवातवलयको पन्द्रहसीमें भागमें बडी अवगाहनाव सिद्ध हैं और नी लाखमें भागमें छोटी अवगाहनाकों सिद्ध हैं। मध्यवर्ती अवगाहनाओंके अनेक के निक्रित मध्यमाः।

छोकाग्रमापणी गतिर्गुक्तस्य तावदेकसमया समाविर्भूतानंतवीर्यस्य तस्यैकसमयमात्रे छोकाग्रमाप्त्युपपक्तः । पूर्वतनुपरित्यागेन तन्वंतरमापणी ऋजुगतिरेकसमयेव संसारिणों संमाप्तताद्यवीर्योतरायक्षयोपश्चमस्य छोकांतरवर्तिन्याः तनोरिप समयमात्रेण माप्तिघटनात् । त सकछाप्यविग्रद्दा गतिरेकसमयेत्युपपनं । सामर्थ्यादेकवका द्विसमया, द्विवका त्रिसमया, त्रिक चतुःसमयेति सिद्धं ।

मुक्तजीवकी छोकके उपरिम अग्रमागमें ग्राप्त करानेवाछी गति तो एक समयमें पूरी हो जा है। क्योंकि वीर्यान्तराय कर्मका क्षय हो जानेसे जिस मुक्त जीवके अनन्तवीर्यगुण भछे प्रकार प्रव हो निया है। उस जीवकी केवल एक समयमें ही लोकके अप्रमागमें प्राप्ति हो जाना बन जाती है। हां, संसारी भी जीवनी पूर्वशरीरका परित्याग करके दूसरे भवके शरीरान्तरको प्राप्त करानेवाली ऋजु गति भी एक समयवाळी ही है। तिस प्रकारका राजुओंतकका लम्बा उळ्लेके उपयोगी वीर्यान्तराय कर्मका क्षमोपराम जिस जीवको मले प्रकार प्राप्त हो गया है उसको एक ही समयमें लोकान्तमें वर्स रहे इसिस्की भी प्राप्ति हो जाना घटित हो जाता है। अर्थात — ऊर्च लोकके तनुवातवलयमें स्थित बात कायिक जीव मरकर उसी समय अधोछोकके वातवल्यमें चौदहराजू नीचे जन्म ले लेता है या नीचेके बातवलयका जीव चौदह राजू ऊपर जाकर ऊपरके बातवलयमें उसी समय जनम जाता है। स्रातों प्रथिवियोंमें दक्षिणकी ओर मरकर प्रथिवीकायिक जीव उसी समय सात राजू चल सातों प्रथि-वियोंमें उत्तरकी ओर जन्म हे हेता है। क्योंकि होक सर्वत्र दक्षिण उत्तर सात राजू मोटा है। कोई भी एकेंद्रिय जीव एक ओरसे दूसरी ओर एक समयमें ऊंचा, नीचा, तिरछा, सीधा सात राजू गमन कर जाता है। उतने अनन्त अविभागप्रतिच्छेदोंकों बार रहा उनके विधिग्रणका विकास हो रहा है। सक्मिनगोदिया लब्ब्यपयीतक जीवके जवन्य ज्ञानमें अनन्तानन्त अविमाग प्रतिच्छेद हैं और अनन्त चतुष्ट्य धारीके केवळ्ज्ञानमें भी अनन्तानन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं । हां, यह अनन्त उस अनन्त संख्यासे अनन्तानन्तगुणा बडा है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवके जघन्य वीर्य गुणमें अनन्त शक्त्यंश 🖹 और अनन्तचतुष्टयधारी जीवन्मुक्त या मुक्तजीवके भी वीर्य गुणमें भी अनन्तानन्त शक्त्यंश वर्त रहे हैं। मलें ही वे पहिले अंशोंसे अनन्तानन्त गुणे अधिक हैं। एकेन्द्रिय जीव भी चौदह राज, ऊपर या नीचेतक गमन करनेकी शक्तिको रक्षित रखता है। पूर्वभव सम्बन्धी मरण और वहांसे उत्तरभवके लिये चौदह राजुतक गमन जाकर नवीन शरीरका प्रदण कर छेना ये सब एक ही समयमें हो जानेवाले कार्य हैं। हां, पहिले पीछे डोते हैं । किन्त समयभेद नहीं है एक समयमें भी असंख्यातासंख्यात शक्त्यंश हैं । तिस कारणसे सम्पूर्ण भी कुटिलतारहित गतियां एक समयमें ही निष्पन्न कर ली जाती हैं. यह सिद्धान्त अन चुका है। साथमें विना कहे ही सामर्थ्यसे यह भी सिद्ध हो चुका है कि एक मोडेवाछी गति में दो समय घिरते हैं, दो मोडेवाली गति तीन समयमें संपादित होती है, तीन मोडेको धारनेवाली गति तो चार समयमें निष्पन होती है।

यद्येवं सर्वत्राहारको जीवः त्रसक्त इत्याकृतं प्रतिषेधयञ्जाह ।

यदि उस प्रकार अविप्रद्वागतिमें जीव सदा आहारक बना रहता है, यानी पाईले समयमें भी आहार करता हुआ मरा था और अप्रिम समयमें झट वहां पहुंचकर उसी समय नोकर्मका आहार कर लिया, उसी प्रकार सभी एकवका, दिवका, त्रिवका, गतियोंमें भी जीवको आहारी बना रहनेका प्रसंग प्राप्त हुआ। इस प्रकारके सिद्धांतविरुद्ध कुचेष्टितका निषेध करते हुये श्री उमास्वामी महाराज अप्रवर्ती सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

एकं द्वी त्रीन् वानाहारकः ॥ ३० ॥

एक, दो, तीन, मोडवाडी गतियोंमें यह संसारी जीव यथाक्रमसे एक या दो अथवा तीन समयोंतक अनाहारक रहता है। अर्थात्—कार्माण काययोगदारा केवड आयुरहित सप्तिविध कर्मोंका ही प्रहण करता रहता है। नोकर्मका प्रहण नहीं कर पाता है। वहां पहुंचकर जन्म डेनेके अगडे समयमें आहारक बनता है। उसके पहिछे एक, दो, तीन, समयतक वह जीव आहारी नहीं है।

एकं वा समयं द्री वा समयो त्रीन् वा समयाननाहारक हित संमत्येयं, मत्यासतेः समयस्याभिसंत्रधात्, वा श्रन्दस्य मत्येकं परिसमाप्तेश्व । सप्तमी प्रसंग हित विका, अत्यंत्रसंगी-गस्य विवक्षितत्वात् ।

वा शब्दका अर्थ यहां विकल्प है | उसका एक, दो, तीन, प्रत्येकमें परिसमाप्तिसे अन्वय कर देना चाहिये | निकटवर्ती होनसे | "एकसमयाविप्रहा" इस सूत्रसे अनुवृत्ति कर प्राप्त हुये समय शह्का यहां तीनोंमें सम्बन्ध हो जाता है । अतः चाहे एक समय अथवा दो समयतक किम्बा तीन समयतक संसारी जीव अनाहारक रहता है, यह पका विश्वास रखना चाहिये | यहां किसीकी शंका है कि आहार कियाका काछ तो अधिकरण है | अतः एक, दो, तीन, इन संख्या वाचक शब्दोंमें सम्मी विभक्तीकी प्राप्ति हो जानेका प्रसंग आता है, आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना | क्योंकि यहां अत्यन्त संयोग की विवक्षा हो रही है । जहां अति अधिक संयोग विवक्षित होता है वहां सतमीका अपवाद कर दितीया विभक्ति कर दी जाती है ।

कः पुनराहारो नाम येनाहारको जीवः स्यादित्यभिधीयते न्त्रयाणां श्रदीराणां वण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्रस्त्रग्रहणमाहारः तदभावाद्विग्रहगतावनाहारकः न हि तस्यामाहास्क्रञ्गरीरस्य संभवः, नाप्योदारिकवैकियिकञ्चरीरयोः वण्णां पर्याप्तीनां व्याघातात् । पुनरात्मैकसमये द्री श्रीन वानाहारको न पुनश्रत्र्यमपीत्याह ।

कोई पूछता है कि फिर यह बताओं कि आहार महा क्या पदार्थ है ! जिस आहार करके कि जीव आहारी हो जावेगा, ऐसी जिहासा होनेपर श्री विधानन्द स्थामी करके में उत्तर कहा जाता है कि औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, इन तीन शरीरों और आहारपर्याप्ति १ शरीरपर्याप्ति २ इन्द्रिय-पर्याप्ति ३ श्वासत् उश्चास पर्याप्ति ४ माधापर्याप्ति ५ मनःपर्याप्ति ६ इन छह पर्याप्तियोंके बोग्य हो रहे पुत्रव्यक्यका महण्य करना आहार है। यानी जैसे भूख, प्यास, क्यानेपर यह जीव पित्त अहि हारा अस, जलका आहार कर लेता है। उसी प्रकार विशेष कमीका उदय होनेपर योग हाता यह जीव अतीन्द्रिय नोकर्म वर्षणाओंका आहार करता है। कारण नहीं मिलनेपर विमहस्तिमें उस आहारका अभाव हो जानेसे जीव अनाहारक माना जाता है। उस विमहस्तिमें तीसरे आहारक शरीरकी लो

सम्भावना ही नहीं है। क्योंकि आहारकशरीर नामक नामकर्मका उदय होनेपर असंयमका परिहार या गृहिनिषयोंमें उपजे हुये सन्देहको दूर करने के लिये छठे गुणस्थानवर्ती किसी ऋदि प्राप्त मुनिके क्यान करते समय आहारक शरीर निपजता है। अधिकसे अधिक चौथे गुणस्थानमें हो रही विप्रह-गितिकी दशामें आहारक शरीरके उपजनेकी योग्यता प्राप्त नहीं है। अतः उस समय आहारक शरीरका प्रहण नहीं है। तथा औदारिक, वैक्रियिक शरीरोंका प्रहण करना भी असम्भव है। क्योंकि व्याचात है। मोडा छेते समय आहारिकया कथमि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार छह पर्याप्तियोंके वोग्य पुत्रछ द्रव्यके प्रहणका भी व्याचात है। अर्थात—जैसे कि कोई बहुत पिट रहा या अत्यधिक परिश्रम कर रहा अथवा परवश अधिक दौड रहा मनुष्य खाना पीना भूछ जाता है। उसी प्रकार विप्रह गितिमें नोकमें आहारका व्याचात है। उस समय तो फिर आत्मा एक मोडा छेनेपर एक समयमें अथवा दो मोडवाली गितिमें दो समयतक तथा तीन मोडेवाली गितिमें तीन समयतक अनाहारक रहता है। फिर चौथे समयमें भी अनाहारक नहीं है। आहार अवस्य कर छेता है, इसी बातको श्री विधानन्द आचार्य वार्तिकों हारा कह रहे हैं कि—

एकं समयमात्मा द्वौ त्रीन् वा नाहारयत्ययं । शरीरत्रयपर्याप्तिप्रायोग्यान् पुद्गलानिमान् ॥ १ ॥ चतुर्ये समयेवश्यमाहारस्य प्रसिद्धितः । ऋज्वामिषुगतौ प्राच्ये पुंसः संसारचारिणः ॥ २ ॥ द्वितीये पाणिशुक्तायां लांगलायां तृतीयके । यथा तद्वत्त्रिवकायां चतुर्थे विष्रहृष्रहः ॥ ३ ॥

यह संसारी जीव एक समयतक या दो समयतक अथवा तीन समयतक इन तीन हारीर और छह पर्याप्तियों के स्वयोग्य होरहे नोकर्मवर्गणास्त्ररूप पुद्रलोंका आहार नहीं कर पाता है। चौथे समयमें अवस्य ही आहारकी सिद्धि होजाती है। धनुषपरसे फंक दिये गये बाणकी गतिके समान सरल (सीधी) ऋजुगतिमें तो इस संसारभ्रमण करनेवाले जीवका पूर्वसमयमें ही आहार होजाता है। पूर्वभवका वियोग, उत्तरभवके प्रति गमन, वहां जाकर नोकर्मवर्गणाओंका आहार करलेना और पर्याप्तियोंका कार्य प्रारंभ होजाना ये सब कार्य एक समयमें ही सम्पन्न होजाते हैं। मुखे हुये हाथके समान एक मोडेवाली पाणिमुक्ता नामकी गतिमें तो दूसरे समयमें जीवको आहारकी प्राप्ति होजाती है। हु या सिंहपुच्छके समान दो मोडेवाली लांगलिका गतिमें जैसे तीसरे समयमें नोकर्म आहारकी प्राप्ति हो जाती है उत्तीके समान तीन मोडेवाली गोम्जिका गतिमें चौथे समययें जाकर शरीरका महण किया जाता है।

संपति क्षणिकाधेकातव्यवच्छेदेन स्याद्वादपञ्च एव विप्रहगतिजीवस्य संभवतीत्याह ।

अब इस समय क्षणिकपन, नित्यपन, आदि एकान्त पक्षोंके व्यवच्छेंद करके स्याद्वाद पक्षमें ही जीवकी विग्रह गति होना सम्भवता है, इस रहस्यको श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिमवार्त्तिकों द्वारा स्पष्ट खोळ कर कहते हैं।

क्षणिकं निष्कियं चित्तं स्वशरीरप्रदेशतः। भिन्नं चित्तांतरं नेव प्रारमेत सविष्रहं॥ ४॥ सर्वकारणश्र्न्ये हि देशे कार्यस्य जन्मनि। काले वा न कचिज्जातुमस्य जन्मन सिद्घ्यति॥ ५॥

पहिले क्षणमें उत्पन्न होकर दूसरे क्षणमें समूल चूल नष्ट हो गया, क्रियारहित क्षणिक चित्त तो अपने शरीर प्रदेशसे भिन्न दूसरे शरीरसहित चित्तको नहीं उत्पन्न कर सकेगा। सम्पूर्ण कारणोंसे शून्य हो रहे देशमें अथवा कारणविकल कालमें यदि कार्यका जन्म माना जायगा तब तो कहीं भी देश या कालमें इस कार्यका जन्म नहीं जाना जा सकता है। अतः किस कारणसे किसका जन्म हुआ है यो कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं हो सकता है। अर्थात् विश्व आत्मद्रव्यको क्षणिक, निष्क्रिय, अणु, विज्ञान स्वरूप मानते हैं। पहिले समयका चित्त सर्वथा नष्ट हो जाता है। दूसरे समयमें सर्वथा, नवीन चित्त उपजता है। उनके यहांकी यह दशा बालक, युवा, वृद्ध, अवस्थाओं में भी घटना किन है। क्षणिक चित्त जन्मान्तरमें जाकर उपज जाय, यह तो असम्भव ही है। बौद्ध तो बाणका भी देशांतरमें पहुंच जाना, नहीं मानते हैं। पूर्व प्रदेशोंपर स्थित हो रहा बाणस्वरूप अवयवोंकी राशि सर्वथा नष्ट हो जाती है। अगले प्रदेशोंपर दूसरे समयमें अन्य ही बाण उपजता है। यही उत्पादिनशाका कम लक्ष्यदेशकी प्राप्ति तक बना रहता है। वहका वही बाण उपजता है। यही उत्पादिनशाका कम लक्ष्यदेशकी प्राप्ति तक बना रहता है। वहका वही बाण उपजता है। यूवत के चित्रको मानकर प्रत्येक प्रदेशपर नवीन नवीन चाकका उत्पाद विनाश स्वीकार करते हैं। ऐसा सिद्धान्त माननेपर निष्क्रिय चित्त भला जन्मान्तरमें जाकर दूसरे चित्तको नहीं उत्पन्न करा सकता है। अतः बौद्धोंके यहां विप्रहगित नहीं सम्भवती है।

क्रस्थोपि पुमानेव जहाति पाच्यविष्रहं। न गृह्णात्युत्तरं कायमनित्यत्वप्रसंगतः॥ ६॥

सर्वया नित्यपक्ष छेनेपर कूटस्य आत्मा भी पूर्वजन्मके शरीरको नहीं छोड पाता है और उत्तरभवसम्बन्धी कायको नहीं प्रहण कर सकता है। क्योंकि यों तो अनित्यपनेका प्रसंग है मानेगा, किसीका प्रद्रण करना अन्यका त्याग करना तो कथंचित अनित्य पदार्थके ही सम्भवता है, कूटस्थके नहीं ।

परिणामी यथा कालं गतिमानाहरत्यतः। स्वोपात्तकर्मसृष्टेष्टदेशादीन् अद्गलान्तरं॥ ७॥

अतः न तो क्षणिक और न कूदस्थ, किन्तु परिणामी जीव गिलमान् हो रहा सन्ता अपने पूर्वजन्मोंमें प्रहण किये गये कमी द्वारा रचे गये इष्ट देश, इष्ट फल, आहार्य पदार्थ आदिकोंका यथा-समय आहार कर लेता है तथा अपने योग्य अन्यपुद्रलोंका भी आहार कर लेता है। अर्थात्—एक दो अथवा तीन समयोंको टालकर अपने पुण्य, प्राप, अनुसार यह उत्पाद, व्यय, ध्रीव्य, स्वरूप-परिणामका धारी और देशसे देशान्तरको जानेवाला जीव अनेक जातिके न्यारे न्यारे पुद्रलोंका आहार कर लेता है।

इति विम्रहसंप्राप्त्ये गतिर्जीवस्य युज्यते । षड्डिः सूत्रेः सुनिर्णीता निर्बाधं जैनदर्शने ॥ ८ ॥

इस प्रकार शरीरकी भछ प्रकार प्राप्ति करने के लिये संसारी जीवकी गित होना युक्त हो जाता है। श्री अरहन्त देव द्वारा आध प्रतिपादन किये गये जैनदर्शनमें अथवा स्वरचित "तत्त्वार्थशाख" नामक जैनदर्शन प्रन्यमें " विप्रहगतौ कमियोगः, अनुश्रेणि गितः, अविप्रहा जीवस्य, विप्रहवती च संसारिणः प्राक्चतुर्म्यः, एक ससयाविष्रहा, एकं हो त्रीन् वानाहारकः " इन छह सूत्रों करके श्री उमास्त्रामी महाराजने जीवकी गितका बाधारिहत अच्छा निर्णय कर दिया है। योई खटका नहीं रह जाता है।

अथैवं निरूपितगतेर्जीवस्य नियतकालात्मलाभस्य षष्टिकाद्यात्मलाभवत्संभाव्यमानस्य जन्मभेदमतिपादनार्थमाह ।

अब इसके अनन्तर जिस जीवकी गतिका इस प्रकार निरूपण किया जा जुका है, नियत किये गये कालमें आत्मलाम कर रहे और साठी, चावल, वाजरा, कांगुनी, आदिके आत्मलाम समाव सम्भावना किये जा रहे उस जीवके जन्ममेदोंका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी मृहाराज अग्रिम सूत्रको कह रहे हैं। भावार्थ—साठी चावल जैसे साठ दिनमें प्रकते हैं, न्यून अधिक समयमें नहीं, इस प्रकार कई धान्य और अनेक पालोंके परिपाकका समय नियत है। गायें, मैसे, तथा फिन्हीं किन्हीं कियोंके गर्मधारण का समय मी नियमित रहता है। उसी प्रकार जीवल मी कियत कालमें अपने उत्पाद क्षेत्रको प्राप्त कर लेता है। वहां जाकर जीवके कितने प्रकार जन्म होते हैं ! उसका निर्णायक सूत्र यह है। इसको अब समझियेगा।

संमूर्छनगभौपपादा जन्म ॥ ३१ ॥

सन्पूर्कन, गर्भ, और उपपाद य तीन संसारी जीवोंके जन्मके प्रकार हैं।

समितता मूर्जनं शरीराकारतया सर्वतः पुद्रलानां सम्मूर्जनं, श्रुकशोणितगरचाद्रभेः मातृ-मंयुक्ताहारात्मसात्करणाद्वा, ज्येत्य पद्यतेस्मित्रित्युपपादः । एतेषामितरेतरयोगे द्वन्द्वे संमूर्जनस्य प्रहणमादावतिस्थुल्ल्वात् अल्पकालजीवित्वात् । तत्कार्यकारणमत्यक्षत्वाचः, तदनंतरं गर्भस्य प्रहणं कालप्रकर्षनिष्यत्तेः, जपपादस्य ब्रहणमंते दीर्घजीवित्वात् । त एते जीवस्य जन्मति क्रत्येयं ।

तीनों लीकमें जपर, नीचे, तिरछे, कहींसे भी चारी ओरसे भी देहके अवयवीको रच छेना संपर्छन है। पदलोंका सब ओरसे शरीरके आकारपने करके अवयव गढ जाना सन्पर्छन जन्म है। जैसे कि सड़े हुये मल, मूत्र, फल, राटी, दाल, आदिमें जीव, आकर चारों ओरसे उन्हीं पदार्थीका शरीर रच लेता है। खिके उदरमें पुरुषके शक और माताक रक्तका मिश्रण हो जानेसे गर्भ नामका जन्म होता है अथवा माताके द्वारा खाये गये आहारको अपने अधीन करनेसे गर्भ माना जाता है । गर्भमें हाथी, घोडे, बालक, बालिका, तोता, मैना, हिरण, बन्दर, आदिक जीव अपनी माताके खाये हुये आहारको अपने शरीररूप मिलाते रहते हैं । जिन कोमल शय्यास्थान या मकर मुख, आदि स्थानीको प्राप्त हीकर इनमें जन्मा जाय, इस कारण यह उपपाद है। देव या नारकियोंके उत्पत्ति स्थानकी विशेषसंज्ञा उपपाद है। इन सम्पर्छन, गर्भ, उपपादोंका चाहे कैसे भी आगे पीछे रखकर इतरेतर योग नामक द्वन्द्व समास करनेपर सम्मूर्छन शद्भका आदिमें प्रहण हो जाता है। कारण कि सम्मूर्छन शरीर अधिक स्थूल है, अर्थात् हजार योजन ऊंचा कमल, बारह योजन लंबा संख, तीन कोस लंबी गिंजाई। चार कोस लंबा मीरा और हजार योजन लंबा राघव मत्स्य ये सब जीव मोटे सन्मूर्छन शरीरको धार रहे हैं । कमलका क्षेत्रफल सातसी पचास योजन है । संखका धनफल तीनसी पेंसठ योजन है । गिंजाईका क्षेत्रफल सत्ताईस योजनके इक्यासी सी बानवैमे माग है। अगरका क्षेत्रफल तीन बटे आठ योजन है। स्वयंभूरमण समुद्रमें निवास करनेवाले मत्त्यका घनफल साहे बारह करोड योजन है। इन जीवोंके सम्भूर्छन जन्म है । नारिकयोंका वैकियिक शरीर अधिकरें अधिक पांचरी बनुष है। देवींका भी मुख्यारीर पच्चीस धनुषसे अधिक नहीं है, उत्कृष्ट भोगभूमिक भी मनुष्योंका शरीर तीन कोस उम्बा है। यहां कर्मभूमिमें मनुष्य शरीरकी अपेक्षा बोडे, वृक्ष आदिमें जो वृद्धिका लारतम्य है, वही तारतम्य भोगभूमिमें लगाया जा सकता है। अतः गर्भज, और उपपादजकी अपेक्षा सम्पूर्कन शरीर अधिक मोटा है, तथा वैसे भी सम्पूर्कन शरीरकी गढंत गर्भ, उपपादवालोंकी अपेक्षा मोटी है। प्रत्यकार स्वयं " परम्परं सुद्धं " आगे कहनेवाले हैं। इंसरी बात यह है कि एक्नेजन्मवाले और उपपादजनमवाले जीवोंकी अपेक्षा सम्पूर्कन प्राणी अन्यकाल जीवित रहते हैं। देखो, सम्पूर्कन मत्यकी भाय सातहजार कृप्यनके उपर समह बिन्दी क्यांकर जितनी संख्या होती है उतने वर्ष प्रमाण

अर्थात् कोटि पूर्ववर्षकी उत्कृष्ट है। किन्तु गर्भजन्मवाले मनुष्यकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्य है और उपपाद जन्मवाले देव, नारिक्योंकी आयु तेतीस सागर उत्कृष्ट है। जिनमें कि असंस्थाते वर्ष कीनेमें पढ़े हुये हैं। उपपाद जन्मवाले की जघन्य आयु दस हजार वर्षकी है और गर्भजन्मवालोंकी जघन्य आयु कुछ बढ़ा अन्तर्मुहूर्त्त है। किन्तु सम्मूच्छेन जीवोंकी जघन्य आयु नाडीगित कालके अठारहमें माग है। अतः अल्पकालतक जीवनेवाले विचारे सम्मूछेन जन्मवालोंका आदिमें प्रहण करना जिन्त है। तीसरी बात यह है कि गर्भ और उपपाद जन्मके कार्य और कारणका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। किन्तु उस सम्मूछेन जन्मके कार्यकारण दोनोंका बहिरंग इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष हो भी जाता है। सम्मूछेन शरीरके कारण गले सड़े पदार्थों या बीज, शाखा, आदिका लोकमें प्रत्यक्ष हो रहा है। तथा उनके कार्य बन गये लट, गिराड, अंकुर आदिका भी प्रायः प्रत्यक्ष हो जाता है। उस सम्मूछेनके पश्चाद गर्भका ग्रहण है। क्योंकि सम्मूछेनकी अपेक्षा अधिक बढ़े हुये कालमें गर्भजन्मकी निष्यत्ति होती है। सम्मूछेन शरीर तो अन्तर्मुहूर्त्तमें भी बन जाता है। किन्तु गर्भके लिए चिरैच्या मुर्गी छिरिआ, कुत्ती, की, घोडी भैंस आदिके शरीरमें मास, दो मास, छह मास, नौ मास, बारह मास, तक बननेकी अपेक्षा है। सबके अन्तमें दीर्घकालतक जीवित बना रहना होनेस उपपादका प्रहण किया है। सब इस जीवके जन्म है, यह विश्वास रखना चाहिये।

संमूर्छनादिभेदात् जन्मभेदे वचनभेदमसंग इति चेत्र, जन्मसामान्योपादानात्तदेकत्वोपपत्तः।

यहां किसीकी शंका है कि सम्पूर्च्छन आदिके भेदसे जब जन्मके तीन भेद हैं, तब तो जन्मशहूके बहुवचन रूपसे भेद करनेका प्रसंग आता है। अर्थात् जब जन्मके प्रकार तीन हैं तो " जन्मानि " यों बहुवचन होना चाहिये। तभी सामानाधिकरण्य बनेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जाति अर्थमें प्रयुक्त किये गये जन्म शहू करके जन्म सामान्यका उपादान है। अतः उस जन्मशहूकी एकवचन रूपसे सिद्धि हो जाती है। सामान्यको कहनेमें एक वचन कहा जाता है। जैसे कि " जीवाजीवासवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वं " यहां विधेय दलमें एक वचनान्त तत्त्व शहूका प्रहण करना साधु है।

कुतः पुनः संमुर्छनादय एवं जन्मभेदा इत्याइ।

स्वामीजी महाराज ! फिर यह बताओ कि संमूर्छन आदिक ही जन्मके भेद किस कारणसे हो जाते हैं ? अर्थात् सम्मूर्छन आदिक तीन ही जन्मके प्रकार हैं, अधिक क्यों नहीं हैं ! तथा ऐसे जन्मोंका कारण क्या है सो स्पष्ट कहिये, ऐसी निर्नात शिष्यकी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्त्तिकको कहते हैं।

संमूर्छनादयो जन्म पुंसो भेदेन संप्रहात्। सतोपि जन्मभेदस्य परस्यांतर्गतेरिह् ॥ १ ॥ सामान्य रूपसे जन्मका एक मेद ही है। विशेषतया सैकडों, हजारों, जन्मके मेद हैं। हां, कति-पय मेदों करके ही संग्रह करनेसे जीवके सम्मूर्छन आदिक तीन जन्म कहे गये हैं। यद्यपि दूसरे दूसरे भी जन्मके विशेष भेद विश्वमान हैं, किसु उन विशेष भेद, प्रभेदोंका, इन तीन जन्मोंमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः अतिरिक्त प्रकारोंके माननेकी आवश्यकता नहीं है।

संस्वेदोद्भेदादयः परे जन्मभेदाः संमूर्छनात् तेषां तत्रैवातर्गमनात् । भेदेन तु संग्रुग्नमाणं जन्म त्रिविधं व्यवतिष्ठते संमूर्छनादिभेदः पुनर्जीवस्य तत्कारणकर्मभेदात्, सोपि स्वनिमित्ता-ध्यवसायभेदादिति मतिपत्तव्यं ।

लट, डांस, जुआं, आदिक जीव पतीनासे उत्पन्न हो जाते हैं, इनका स्वदेज जन्म कहा जाता है। बुक्ष, बेलि, आदिक उद्भिज्ज हैं। शरीरमें पुष्पमाला पहिननेसे पुष्पोंके रूप आदिकी परावृत्ति हो जाती है। अतः अनुमान किया जाता है कि ऊष्मा या स्वेद निकलता रहता है, जिससे कि जीवोंकी उत्पत्ति हो जाती है तथा भूमिको भेद कर ऊपर निकल आये उद्भितसे जन्म लेनेवाले बुक्ष, धास, आदि हैं। इस प्रकार संस्वेद, उद्भेद, आदिक दूसरे भी जन्मके भेद हैं। किन्तु समन्तात् मूर्छन, होनेसे उन अतिरिक्त प्रकारोंका उन तीन जन्मोंमें ही अन्तर्गमन हो जाता है। हां, भेदकरके संग्रह किये जा रहे जन्म तो तीन प्रकारके ही व्यवस्थित हो रहे हैं। हां, फिर जीवके सम्मूर्छन आदिक जन्मभेद तो उनके कारण कमींके विशेष भेदोंके अनुसार हो जाते हैं और वह कमींका भेद भी अपने निमित्त कारण हो रहे कघायोंके अध्यवसाय स्थानोंके भेदसे बन बैठता है। मावार्थ—जीवोंके परिणाम असंस्थात लोक प्रमाण हैं। उनको निमित्त पाकर कर्मबन्धोंके असंख्याते विकल्प हो जाते हैं। उनकार्मिक अनुसार सम्मूर्छन आदिक जन्मके तीन प्रकार हो जाते हैं। विशेषतया विचारनेपर उन्हीं कमींके अनुसार संख्यात और असंख्यात भी जन्मके प्रकार हैं। जो कि पूर्णक्रपसे श्रुतन्नान या केवल ज्ञानहारा गम्य हैं। इस प्रकार समझ लेना चाहिये।

तद्योनिप्रतिपादनार्थमाह ।

उन जन्मोंके योनिस्थानोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रकी स्पष्ट कह रहे हैं।

सचित्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चेकशस्तवोनयः॥३२॥

सचित्त १ शीत २ संवृत ३ और इनसे इतर अर्थात्—अचित्त ४ उष्ण ५ विवृत ६ तथा इनके मिळे हुये यानी सचित्ताअचित्त ७ शीतोष्ण ८ सम्वृत विवृत ९ ये नौ उन जन्मोंकी एक एककी योनियां हैं। अर्थात्—सचित्त आदि स्थल विशेषोंमें जीव उन तीनों जन्मोंको यथायोग्य धारते हैं।

आत्मनः परिणामविशेषश्चित्तं, शीतः स्पर्शविशेषः, संद्वतो दुरुपलक्ष्यः । सह चित्तेन वर्तत इति सचित्तः, श्रीतोस्यास्तीति शीतः, संविषते संद्वतः । सचित्तश्च शीतश्च संद्वतश्च सचित्तश्च सिवत्रश्चित्रश्चित्तः सहतरैरचित्तोष्णविद्वतैर्वतेते इति सेतराः सप्रतिपक्षाः, मिश्रग्रहणश्चभ-यात्मसंग्रहार्थे ।

आत्माके चैतन्यान्वित विशेषपरिणामको चित्त कहते हैं। आठ प्रकारके स्पर्शोमें शीत एक स्पर्शाविशेष है, जो कि प्रसिद्ध ही है। संवृतका अर्थ मले प्रकार आच्छादित हो रहा यह जो प्रदेश बड़ी काठिनतासे देखा जा सके या नहीं देखा जा सके वह संवृत है। चित्तके साथ जो वर्तता है, इस कारण वह सचित्त कहा जाता है, शीतस्पर्श नामक गुण जिसके विद्यमान है, इस कारण यह योनिस्थान शीत है, गुणवाचक शीत शब्दसे मत्वर्थीय अच् प्रत्यय कर लेना। जो भले प्रकार दक दिया जाय वह संवृत है। सचित्त और शीत तथा संवृत इस प्रकार इतरेतर योग द्वन्द्व समास करने पर "सचित्तशीतसंवृताः" पद बन जाता है। ये सचित्त, शीत, संवृत, यदि इतर हो रहे, अचित्त, उष्ण, विवृतोंके साथ वर्त जाते हैं, इस कारण सेतर यानी प्रतिपक्षसहित हो जाते हैं। इस सूत्रेंम मिश्रका प्रहण करना तो सचित्त, अचित्तका उभय और शीत उष्ण दो अवयववाला उभय तथा संवृत, विवृत इन दोनों आत्मक उभयका संग्रह करनेके लिये हैं।

च शद्धः प्रत्येकं समुच्चयार्थ इत्येकं, तद्युक्तं, तमंतरेणापि तत्प्रतीतेः, पृथिव्यप्तेजी-वायुरिति यथा । इतरयोनिभेदसमुच्चयार्थस्तु युक्तश्रश्चाः, एकशो प्रहणं क्रमिश्रप्रतिपस्यर्थे तेन सचित्तोचित्तो मिश्रश्च श्रीतज्ञ्णो मिश्रश्च संवृतो विवृतो मिश्रश्चेति नवयोनिभेदास्तस्य जन्मनः प्रतीयंते तच्छद्धस्य प्रकृतापेक्षत्वात् ।

कोई एक विद्वान् यों कह रहे हैं कि स्त्रमें पड़ा हुआ च शब्द तो प्रत्येकका समुचय करने के लिये हैं। अर्थात्—प्रत्येकके साथ च शब्द लगा देनेपर ही नौ मेद हो सकते हैं। अन्यथा यानी च शब्द नहीं डाला जायगा तो सचित्त, शीत, संवृत, जब सेतर होकर मिल जांय, तब योनियां हो जाती हैं, यह अर्थ निकल पड़ेगा। और च शब्द कर देनेसे प्रत्येक प्रत्येक योनि हो जाती हैं। प्रत्येकार कहते हैं कि उनका कहना युक्तिरहित हैं। क्योंकि उस च शब्दके विना भी प्रत्येकका समुच्चय हो सकता है जिसे कि " पृथिव्वप्तेजोवायुरित तत्वानि" यहां च शब्दके विना ही और बहुवचनान्त प्रयोगके विना ही पृथिवी, जल, तेज, वायु, ये प्रत्येक प्रत्येक होकर चार तत्व हैं, यह अर्थ निकल आता है। हां, संक्षेप प्रातिपादक स्त्रमें योनियोंके जो अन्य भेद नहीं कहे गये हैं, उनका समुचय करनेके लिये तो च शहका प्रयोग करना समुचित है। इस स्त्रमें एक एक इस प्रकार वीप्सोमें शस् प्रत्यय कर एकशः शहका प्रहण करना तो क्रमपूर्वेक मिश्र योनिर्यकी प्रतिपत्तिके लिये हैं। तिस " एकशः" शह करके सचित्त और अचित्त रूप मिश्र तथा शीत और उष्ण

रूप मिश्र एवं संहत और विद्नत रूप मिश्र यों जान छिया जाता है। सचित्त शीतका मिछा हुआ या शीत और संदतका मिछा हुआ मिश्र नहीं समझ बैठना चाहिये। इस प्रकार उस जन्मकी योनियोंके नी भेद प्रतीत हो रहे हैं। सूत्रमें पड़ा हुआ तत् शह तो प्रकरण प्राप्त सम्मूर्छन आदि जन्मोंकी अपेक्षा रख रहा है।

सचित्तादीनां दृंद्वे पुंबद्धावाभावो भिन्नाश्रयत्वादित्येके, तदयुक्तं । पुल्छिगस्य योनि-श्रद्धस्यदाश्रयणात्तस्योभयछिगत्वात् । स्रीछिगस्य वा प्रयोग औत्तरपदिकद्वस्त्वस्य विधानात् द्वृतायां तपरकरणे मध्यमविछंबितयोरुपसंख्यानमित्यत्र दृंद्वेपि तस्य दर्शनात् ।

कोई एक पण्डित यहां कह रहे हैं कि सचित्ता, अचित्ता, आदि खीलिंग पदोंका दृन्द्र समास करनेपर विभिन्न आश्रय होनेसे पुंबद्माव होकर हूस्व नहीं हो सकता है। यानी जब कि सिक्ता योनि न्यारी है और शीता योनि भिन्न है तो एकाश्रय नहीं बनता है। हां, सिचत्तस्वरूप ही जो अचित्ता,यों सामानाधिकरण्य होता तो पुंबद्भाव हो सकता था। आचार्य कहते हैं कि वह उनका कहना अयुक्त है। क्योंकि "योनिर्द्रयों" यों अमरकोषके वाक्य अनुसार वह योनि शद्ध पुलिङ्ग और खीलिंग दोनों लिंगोंमें प्रवर्तता है। यहां पुलिङ्गके योनि शद्धका आश्रय किया गया है। अतः सिचतः, शीतः, संवृतः, यों पुलिङ्ग शद्धौका समास कर " सिचत्तशीतसंवृताः" शद्ध बना लेना चाहिये। अथवा खीलिङ् भी योनि शद्धका प्रयोग करनेपर उत्तर पदके अनुसार हस्व होनेका विधान है। मध्यमा च विलंबिता च " मध्यमिवलेबिते" यहां दुतायान्तपरकरणे मध्यमिवलिबतयोरुपसंख्यानं इस वार्तिक अनुसार उत्तर-पदके परे रहते उस हस्व हो जानेका विधान देखा जाता है।

योनिजन्मनोरिवशेष इति चेश्व, आधाराधेयभेदाद्विशेषोपपत्तेः । सचित्तग्रहणमादी तस्य चेतनात्मकत्वात्तद्वनंतरं श्रीताभिधानं तदाप्यायनहेतुत्वात् । अंते संवृतग्रहणं गुप्तरूपत्वात् तत्राचित्तयोनयो देवनारकाः, गर्भजा मिश्रयोनयः, श्रेषास्त्रिविकल्पाः ।

कोई आक्षेप करता है कि योनि और जन्ममें कोई अन्तर नहीं है। जो हो जन्म है वही यौनि है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना। क्योंकि आधार और आध्यक भेदसे योनि और जन्ममें विशेषता बन रही है। योनि आधार है, जन्म आध्य है। सचित्त आदि योनियोंमें जीव सम्पूर्छन आदि जन्मों करके पुद्रलोंका प्रहण करता है। यहां सूत्रके आदिमें प्रधान चेतन आत्मक होनेसे सचित्तका प्रहण किया है। उसके पश्चात् उस सचित्त अर्थकी वृद्धिका कारण होनेसे शितका कथन किया गया है। अन्तमें गुतरूप होनेसे संवतका प्रहण है। उन नी योनियोंमें देव और नारकी जीवोंकी योनि अचित्त है। क्योंकि उनके उपपाद स्थानोंमें किसी भी जीवका सम्बन्ध नहीं है। गर्भज जीवोंकी योनि सचित्त, अचित्त मिळी हुयी है। अर्थात्—माताके उदरमें शुक्र, शोणित, तो अचित्त है। किन्तु गर्भाशयका स्थान जीवित हो रहा सचित्त है। मरे हुये गर्भाशयमें यदि शुक्र, शोणित, रख दिये जांय

तो बाउक या अण्ड आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है तथा रोष द्वीन्द्रिय या वृक्ष, आदिक जीव तीनों भेदवाले हैं। अर्थात्—किसीकी योनि सचित्त है, अन्य किसीकी योनि अचित्त है तथा अन्योंकी सचित्त, अचित्त है।

श्वीतोष्णयोनयो देवनारकाः, ज्ञ्णयोनिस्तेजस्कायिकः, इतरे त्रिप्रकाराः, देवनारकैकेंद्वियाः संश्वतयोनयः, विकल्लेद्रिया विश्वतयोनयः, मिश्रयोनयो गर्भजाः तद्भेदाश्रश्रद्धसम्बताः
मत्यसङ्गानदृष्टाः, इतरेषामागमगम्याश्रतुरशीतिशतसद्द्वसंख्याः। तदुक्तं—"णिचिदरधादुसत्तयतस्दस्वियल्लिदिए दो दो अ । सुरणिरयतिरियचदुरो चोद्दस मणुए सदसहस्सा "।

देव और नारिकयोंके योनि स्थान कुछ शीत प्रदेशवाले हैं और कुछ उच्ण प्रदेशवाले हैं। जैसे 👫 चौथे नरकतक उन स्थानोंमें उष्णता अधिक है और छठे, सातमें, नरकमें शीत वेदनावाले ही ब्रदेश हैं। पांचमें नरकमें ऊपर दो लाख बिले उष्ण स्थान हैं, और नीचेके एक लाख बिलोंमें शीत अयधिक है. हेबोंके योनिस्थानोंमें भी सुखकी उत्पादक कहीं शीत व्यवस्था है, और कचित् मनोहर उष्णता है। तैजस्ताविक जीवोंके योनिस्थान उष्ण हैं, दियासलाईके रगडते ही ली उठनेपर झट उस उष्णस्थान में तेजस्कायिक जीव जन्म छे छेते हैं । इसी प्रकार छक्षडीके जलनेपर या तारमें विजलीका प्रवाह अहकर चमक जानेपर उस उच्चास्थलमें अग्निकायके जीव उत्पन हो जाते हैं । अन्य शेष जीव कोई तो उच्च प्रदेशोंमें उपजते हैं । इनसे भिन्न कोई शीत या शीतोच्या स्थालीमें जन्म धारते हैं । तथा देव, नारकी और एकेन्द्रिय इन जीवोंकी योनियां संवृत हैं । जन्मते समय इनके उत्पादस्थान गुप्त रहते हैं । हां, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय इनके योनिस्थल स्फूट हैं । गोबर, मल, द्विदल, सडा-फल. इनमें त्रसजीव उपज रहे शीघ्र प्रतीत हो जाते हैं । हां, गर्मज जीवोंकी उत्पादस्थान सेवत. बिवत. मिले हुये हैं । समुच्चय अर्थको कहनेवाले च शब्द करके उन नौं योनियोंके भेद प्रभेद संग्रहीत कर छिये जाते हैं। उन चौरासी छाख संख्यावाली योनियोंको विशदस्थिसे केवल्ज्ञानियोंने क्रत्यक्षज्ञान द्वारा देख लिया है। हां, अन्य संज्ञी जीवोंमेंसे किसी किसीको योनियोंके भेद, प्रभेदका बान आगमप्रमाणद्वारा परोक्षरूपसे हो जाता है। उन्हीं प्रभेदोंको सिद्धान्तप्रन्थोंमें यो कहा है कि अनस्पति कायके भेद हो रहे नित्यनिगोद और इतर गति निगोदवाले जीवोंकी सात सात लाख योनियां 🕻. प्रथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक, जीवीकी भी सात सात लाख योनियां 🕻 । बनस्पतिकायमें प्रत्येक जीवोंकी दस छाख योनियां हैं, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जीवोंकी दो छाख योनियां हैं। देव और नारिकयों तथा पंचेंद्रिय तिर्थचोंकी न्यारी न्यारी चार चार लाख योनियां हैं। मनुष्योंकी चीदह लाख योनियां हैं।

अथैतेषां योनिभेदानां सद्भावे युक्तिग्रुपदर्श्वयति ।

इसके अनन्तर योनियोंके इन भेदोंका सद्भाव साधनेमें श्रीविद्यानन्द आचार्य युक्तिको अप्रिम-बार्तिकोद्वारा दिखळाते हैं।

तस्यापि योनयः संति सिचताद्या यथोदिताः । स्वावारेण विना जन्म कियाया जात्वनीक्षणात् ॥ १ ॥ तद्वैचित्र्यं पुनः कर्मवैचित्र्याद्विनियम्यते । कार्यवैत्रित्र्यसिद्धेस्तु कर्मवैचित्र्यनिर्णयः ॥ २ ॥

उस जन्मके भी इस सूत्रमें कह चुके अनुसार सचित्त आदिक योनियां हैं (प्रतिक्षा) अपने (जन्मको) ढकनेवाले (योनिस्थान) के विना जन्म लेना रूप क्रियाका कदाचित् भी देखना नहीं होता है (हेतु) उन योनियों और जन्मकी विचित्रता तो फिर अन्तरंग कारण हो रहे क्रमौंकी विचित्रतासे हो जाती है। यों विशेषरूपसे नियम किया जा रहा है और सुख, दुःख आदिक कार्योंके विचित्रपनकी सिद्धिसे तो कमौंकी विचित्रताका निर्णय हो रहा है। भावार्थ—परिदृष्ट कारणोंका व्यभिचार हो जानेपर अतादिय कारणोंकी सिद्धि हो जाती है। जब कि सुख, दुःख आदि अनेक प्रकारके विलक्षण पदार्थ दिख रहे हैं, अतः योनि, कुल, कर्म, आदिकी युक्तियोंसे सिद्ध कर ली जाती है।

न हि स्वभावत एव श्राणिनां सुखदुःखानुभवादिकार्यवैचित्र्यं नियमाभावमसंगात् । कालादेवेति चायुक्तं, एकस्मिकपि काले तद्दैचित्र्यानुभवात् । मूलंवेचित्र्यात्स्खादिवैचित्र्यमिति चेत् न, सुखादेः भूतकार्यत्वनिवेधात् । ततः कर्मवैचित्र्यमेव सुखादिकार्यवैचित्र्यं गपयति, तद्यतिरेकेण दृष्टकारणसाकल्येपि कदाचिद्रसुत्पचेः, तत्र कर्मग्रीचित्र्यमस्य जन्मनिमित्तिपितं पर्याप्तं प्रपंचकेन ।

अनेक प्राणियोंका सुख, दु:खके अनुमव या धन, पुत्र, आदिकी प्राप्ति अथवा शोक, हास्य, आदिकी दशामें हुवे रहना, उत्कृष्ट विद्वान् या मूर्ख बने रहना इत्यादिक कार्योकी देखी जा रहीं विचित्रतायें स्थमाव ही से तो नहीं हो जाती हैं। दूसरे निमित्त कारणोंके विना ही सुख: दु:ख, आदिकी उत्पत्ति माननेपर तो नियमके अभावका प्रसंग होता है। चाहे कोई भी जीव सुलमतासे विद्वान्, रोगी, मूर्ख, धनवान्, सुकुलवान्, दिद्व, आदि बन बेठेगा। कोई देश, काल, व्यक्ति, आदिका नियम नहीं बन सकेगा। किन्तु उक्त कार्योके होनेमें नियम देखा जा रहा है। अतः वे कार्य स्वभावसे ही न होकर किन्हीं अतिन्दिय निमित्तोंसे होरहे मानने पडते हैं। कालसे ही सुखदु:ख, आदि कार्योकी विचित्रता बन बैठती है यह कहना तो युक्त नहीं है। क्योंकि एक भी किसी कालमें उन कार्योकी विचित्रताका अनुभव हो रहा है। अर्थात्—उसी समयमें किसीको लाभ होता है अन्यको व्यापारमें हानि हो रही है। कोई बीमार हो रहा है, कोई उसी समय नीरोग, बलिष्ठ, खड़ा हुआ है, एक ऋतुमें कोई इक्ष फलता कुलता है, दूसरा हक्ष सूख जाता है, यहांवक कि अक्रीआ, खरबूजाकी केल, दास्ता, वायसुरई, आदिक

वनस्पतियां वर्षाकालमें सूख जाती हैं, जब कि अन्य असंस्थ वनस्पतियां हरीं भरा रहतीं हैं। अतः काल साधारण कारण मलें ही होय किन्तु असाधारण कारण काल नहीं है। यदि कोई यों कहे कि प्रियेनी, जल, तेन, इन भूतोंकी विचित्रतासे सुख आदि कार्योकी विचित्रता बन जाती है, जैसा जहां भूतहल्य होगा वैसा वहां सुख दुःख, ज्ञान, आदि हो जावेगा। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि भूतके कार्य सुख, दुःख, आदि हैं। इसका पूर्वप्रकरणोंमें निषेध किया जा चुका है। अतः अन्वय, व्याभिचार, व्यतिरेक व्याभिचार, दोष आजानेसे काल, भूत, दुग्ध, व्यापार, गुरु, स्थान, खोषि, आदि पदार्थ तो सुखादि कार्योके विचित्रपनका अन्वर्थ संपादन नहीं कर पाते हैं। तिस कारण परिशेष न्यायसे कर्मोकी विचित्रता ही को सुखादि कार्योका विचित्रपना ज्ञापित कराता है। उस कर्मकी विचित्रताके विना दृष्टकारणोंकी पूर्णता होनेपर मी कभी, कहीं, उन कार्योकी उत्पत्ति नहीं देखी जा रही है। वही कर्मोकी विचित्रता यहां प्रकरणमें इस जन्म या योनियोंका निमित्त कारण समझी जाती है पूर्व प्रकरणोंमें पौद्रलिक कर्मोकी विलक्षण शक्तियोंका हम निरूपण कर चुके हैं। यहां अधिक विस्तार-लिखनेकी अपेक्षा इतनेसे ही पूरा पड़ो। अधिक प्रकरण बढ़ानेसे कुछ विशेष प्रयोजन नहीं साधता है।

केषां पुनर्गर्भजन्मेत्याह ।

संसारवर्ती कौन कौन प्राणियोंके गर्भ नामका जन्म होता है ? अथवा : क्या सम्पूर्ण प्राणियोंके नियम विना चाहे कोई भी जन्म हो जाता है ? बताओ, इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको उतारते हैं।

जरायुजाण्डजपोतानां गर्मः ॥ ३३ ॥

जरायुमें उत्पन्न हुये मनुष्य, बछरा, पडरा, आदि प्राणियोंके और अण्डेसे उत्पन्न हुये तोता, मैना, कबूतर, आदि जीवोंके तथा उदरसे निकलते ही उछलने दौडनेवाले हिरण आदि पोत तिर्येचोंके गर्म नामक जन्म होता है।

जालवत्माणिपरिवरणं जरायुः जरायी जाता जरायुजाः, शुक्रशोणितपरिवरणग्रुपाच-काटिन्यं नखत्वक्सदृशं परिमंडलमंडं, अंडे जाता अंडजाः, पूर्णावयवः परिस्पंदादिसामध्यों-पक्तितः पोतः । पोतज इत्ययुक्तमर्थभेदाभावात् । आत्मा पोतज इति चेन्न, तस्यापि पोतप-रिमाणादात्मनः पोतत्वात् । जरायुजाश्च अंडजाश्च पोताश्च जरायुजांडजपोता इति सिद्धं ।

प्राणियोंके ऊपर जालके समान चारों ओरसे ढकनेवाला झिल्ली स्वरूप पदार्थ जरायु कहा जाता है, जो कि फैले हुये मांस और श्रेणितका पत्तर है। जरायुमें जो उपजते हैं वे जीव जरायुज है। पुर्लिग तिर्यचका वीर्य और स्नीलिंग तिर्यचका रक्त अपनी अवस्थाको बदलकर काठिन्यको प्रहण करता हुआ नखके वकला सरीखा कुछ लम्बाई लेता हुआ गोल पदार्थ अण्ड कहा जाता है। अर्थात् गुत्र और रक्तसे जीवका आध नोकर्म दारीर बनता है। उनके कुछ बचे हुये भागसे लीची फलके छिलका समान अण्डेका उपरिम कठोर भाग बन जाता है। पश्चात् वह अन्य आहार्य पदार्थीसे भी बनकर बढता रहता है। उस अण्डेमें उत्पन्न हुये जीव अण्डज कहे जाते हैं। किसी ढक्कनके बिना ही परिपूर्ण अवयववाला होता हुआ योनिसे निकलते ही चलना, फिरना, आदि कियाओंके करनेकी सामर्थ्यसे युक्त हो रहा दारीरी पोत कहा जाता है। कोई कोई जरायुज और अण्डजके समान पोतज दाद्व झट मुंहसे निकाल बैठते हैं, उनका कथन अयुक्त है। क्योंकि पोत और पोतजमें कोई अर्थका मेद नहीं है। यदि तुम यों कहो कि पोत तो दारीर है और उस पोतमें उत्पन्न हुआ आत्मा पोतज है, यों अर्थका मेद बन गया। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि पोतजन्मधारी दारीरके अनुसार उस आत्माका भी पोत परिणतिसे परिणाम हो जाता है। अतः आत्मा भी पोत 'समझा जाता है, पोतज नहीं। जरायुज और अण्डज तथा पोत इस प्रकार इतरेतरयोग नामक इन्द्र समास करनेपर "जरायुजाण्डजपोताः" यह सूत्र उक्तपद सिद्ध हो जाता है।

द्वंद्वे जरायुजग्रहणमादावभ्यहितत्वात् कियारंभञ्चक्तियोगात् केषांचिन्महाप्रभावत्वान्मार्ग-फल्लाभिसंबंधाच । तदनंतरमंडजग्रहणं पोतेभ्योऽभ्यहितत्वात् । एतेषां गर्भ एव जन्मेति सूत्रार्थः ।

जरायुज, अण्डज, पोत, इन तीनों पदोंको चाहे कैसे भी आगे पीछे बोलकर इन्द्र समास करने पर पूज्य होनेसे जरायुज शद्धका ग्रहण आदिमें प्रयुक्त हो जाता है। जरायुज जीवोंके पूज्य होनेमें ये तीन कारण हैं कि बढिया क्रियाओंके आरम्भ करनेकी शक्तिका योग जरायुज जीवोंमें है। अर्थात्—उत्तम भाषा बोलना, अध्ययन करना, बढ़े बढ़े आविष्कार करना, अनेक ऋदियें प्रस करना, ये अद्भुत क्रियायें जरायुजोंमें हैं तथा जरायुजोंमें सभी तो नहीं किन्तु कोई कोई चक्रक्तीं, बासुदेव, रुद्र तपस्वी आदि जरायुजोंमें हैं तथा जरायुजोंमें सभी तो नहीं किन्तु कोई कोई चक्रक्तीं, बासुदेव, रुद्र तपस्वी आदि जरायुजों सहान् प्रभाववाले होते हैं। तीसरे सम्यादर्शन आदिक मोक्ष मार्गके फल हो रहे मोक्षसुखका परिपूर्ण सम्बन्ध जरायुजोंके ही पाया जाता है। अन्य जीव मोक्षके साक्षात् अधिकारी नहीं हैं। उस जरायुजके अन्यवहित पीछे अण्डज जीवोंका प्रहण है। क्योंकि पोत जीवोंसे अण्डज जीव अभ्यहित हैं। अण्डजोंमें तोता, मैना, आदिक तो अक्षरोंका उद्धारणतक करते हैं। कब्रूतर, इस, आदिक जीव तो कदाचित् दूतका कार्य भी कर देते हैं। कतिपय पक्षी तो शत्रुके सद्भाव या ठीक प्रातःकाल समयको बता देना, आंधीकी सूचना देना, आदि कर्म करनेमें कुशल समझे जाते हैं। इन तीन प्रकारके जीवोंके गर्म नामका ही जन्म होता है, यह इस सूचका अर्थ है।

उद्देशे च निर्देशो युक्त इति चेन्न, गौरवमसंगात् । श्रेषाणां संमूर्छनमिति छघुनोपायेन गर्भोपपादानंतरं वचनोपपत्तेः ।

कोई शंका करता है कि उदेशके अनुसार ही निर्देश करना उचित था। जब कि जन्मोंमें ही सम्पूर्वन जन्म पहिछे कहा गया है तो सन्पूर्वन जन्मवाछे जीवोंका सूत्रकारको प्रथम निरूपण करना चाहिये। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहनेसे बढ़े भारी प्रन्थगौरव दोष हो जानेका प्रसंग होगा। गर्भजन्म और उपपाद जन्मके अनन्तर रोषजीषोंके सन्पूर्छन जन्म होता है, इस प्रकार छघु उपाय करके निर्देश करना अच्छा बन जाता है। अर्थात्—यदि आदिमें सन्पूर्छन जन्मकाले जीवोंका कथन किया जाता तो एकेंद्रिय, हीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा कितने ही बहु भाग एंचेन्द्रिय तिर्यच और छब्ध्यपर्याप्त मनुष्यके सन्पूर्छन जन्म होता है। इतना छम्बा सूत्र कहनेसे शासका व्यर्थ बोझ बढ जाता। किन्तु दो प्रकारके जीवोंका निरूपण कर, पुनः रोषोंके सन्पूर्छन जन्म होता है, यो थोडसे अक्षरोंमें ही अधिक प्रयोजन सब जाता है।

कुतः पुनर्जरायुजादीनां गर्भ एव युक्त इत्याह ।

जरायुज आदिक जीवोंके गर्भ ही होता है यों विधेय दलमें एवकार लगाना, फिर किस प्रमा-णसे युक्त सिद्ध कर दिया गया है ? बतलाइयेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि—

युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भोवधारणात् । देवनारकशेषाणां गर्भाभावविभावनात् ॥ १॥

जरायुज आदिक जीवोंके ही गर्भ जन्म मानना युक्त है। क्योंकि यों उद्देश्य दल्में एवकार द्वारा अवधारण कर देनेसे देन और नारकी तथा शेष एकेन्द्रियादि जीवोंके गर्भके अभावका विचार कर लिया जाता है। तथा विधेय दल्में एवकार लगानेसे जरायुज आदि जीवोंके गर्भसे अतिरिक्त उपपाद और सम्मूर्छन जन्मोंका निषेध हो जाता है। अतः अन्ययोगन्यवच्छेदक और अयोग व्यवच्छेदक दो एवकारों द्वारा दोनों ओर ताले लगाकर अवधारण कर दिया है अथवा पहिला अवधारण ही लगाना ठीक है। " देवनारकाणममुपपादः" और "शेषाणां संमूर्छनं" इन सूत्रोंके उद्देश्य दल्में एवकार लगाना आवश्यक ही होगा। उसीसे ही यहांके "गर्भ एव " इस अवधारण द्वारा होने योग्य कार्यको साथ लिया जानेगा।

विद हि जरायुजादीनां गर्भ एवेत्यवधारणं स्यात्तदा जरायुजादयो गर्भनियताः स्युः गर्भस्तु तेष्वनियत इति देवनारकेषु श्रेषेषु सप्रसञ्येत । यदा तु जरायुजादीनामेवेत्यवधारणं तदा तेषु गर्भाभावो विभाव्यत इति युक्तो जरायुजादीनामेव गर्भः ।

कारण कि जरायुज आदिक जीवोंके गर्म ही होता है, यदि इसी प्रकार विधेय दलके साथ एवकार लगाकर अवधारण किया जाता तब तो जरायुज आदिक जीव अकेले गर्म जन्मसे ही नियत होते, उनके सन्मूर्लन जन्म और उपपाद जन्मकी न्यावृत्ति हो जाती, किन्तु उन ही जीवोंमें गर्म तों नियत न होता। अतः देव और नास्की तथा रेाष एकइन्दियादि जीवोंके भी वह गर्भजन्म प्रसंग प्राप्त हो जाता बोकि इक नहीं हैं। हां, जब जरायुजादिकोंके ही गर्म होता है यें पूर्व दलमें एक लगाकर अवधारण किया जाता तंब तो उन देवनारक और शेष जीवोंमें गर्मका अभाव निर्णीत किया जा सकता है। इस कारण जरायुज आदिक जीवोंके ही गर्म होता है, यह अवधारण कर कथन करना युक्तिपूर्ण है।

केवल्युपपादेपि जरायुजादीनां असक्ती तिश्रवारणार्थमिदमाइ।

अथवा " जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः " इस सूत्रमें पूर्व अवधारण कर जरायुज, अण्डज, पोत, जीवोंके ही गर्भ होता है, यें। अर्थ करिलया जाय, तब तो केवल जरायुज आदिकोंके ही गर्भ हुआ, देव नारिक्योंके गर्भके प्रसंगका निवारण होगया, किन्तु जरायुज आदि जीवोंके दूसरे उपपादमें भी जन्म लेनेका प्रसंग आता है। क्योंकि विधेय दलमें अवधारण तो है नहीं। अतः उस प्रसंगका निवारण करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज इस अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

देवनारकाणामुपपादः ॥ ३४ ॥

देव और नारकी जीवोंके उपपाद नामका जन्म होता है।

स्याद्देवनारकाणामुपपादो नियतस्तथा । तस्याभावात्ततोन्येषां तेषां जन्मांतरच्युतेः ॥ १ ॥

देव और नारक जीवों के तिस प्रकार उपपाद जन्म ही नियत हो जायगा। क्योंकि उन देव नार-कियोंसे भिन्न हो रहे दूसरे जीवोंके उस उपपाद जन्मका अभाव है। तिस कारण उन देव नारिकयोंके उपपादसे अतिरिक्त अन्य गर्भ, सन्मूर्छन जन्मोंकी निवृत्ति सिद्ध हो जाती है।

देवनारकाणामेबोपपाद इति हि नियमे देवनारकेषु नियत उपपादः देवनारकास्तूपपादे न नियता इति गर्भसंमूर्छनयोरिप प्रसक्ताः पूर्वीत्तरसूत्रावधारणात् तत्र निरवधारणोसौ । उपवाद एव देवनारका अवतिष्ठंते न गर्भे संमूर्छने वा प्रसज्यंते, ततस्तेषां जन्मांतरच्युतिसिद्धे- इपपाद एव ।

चूंकि देव और नारिकयोंके ही उषपाद जन्म होता है, ऐसा नियम कर देनेपर देव और नारिकयोंमें ही उपपाद जन्म नियत हो जाता है। ऐसा होनेपर जरायुज आदिक और शेष जीवोंके उपपाद जन्मकी न्याहारी हो जाती है। किन्तु देव और नारिक जीव तो उपपाद जन्ममें नियत नहीं हुये। इस कारण गर्भ और सम्मूर्छम जन्मोंमें भी देव और नारिकयोंके उपज जानेका प्रसंग आ जाता है। हां, वहां पूर्वसूत्र " जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः " और उत्तर सूत्र " शेषाणां संमूर्छमं " इनमें उद्देश्यदलमें अवधारण लगा देनेसे वह उपपाद जन्म अवधारणरहित होता हुआ ही प्रसंगको टाल देता है। आगे पिछके सूत्रोंमें अवधारण लगा देनेसे देव और नारिकी उपपाद जन्ममें ही उपस्थित रहते हैं।

गर्भ अथवा संस्कृतमें जन्म छेमेक छिय प्रसंग प्राप्त नहीं हो पाते हैं। तिस कारण उन देवनारिक्योंके उपपादके सिवाय अन्य जन्मोंकी ज्युतिकी सिद्धि हो जानेसे उपपाद जन्म ही नियत हो जाता है। इस सूत्रके विधेय दछमें एवकार छगानेकी आवश्यकता नहीं है, जैने कि पूर्व सूत्रके विधेय दछमें एवकार छगानेकी आवश्यकता नहीं पड़ी थी।

नन्ववं जरायुजादीनां देवनारकाणां च संमूर्छनेपि मसक्तिरित्याख्यातं प्रतिघ्नसाह ।

यहां शंका है कि जब गर्भ एव, उपपाद एव, इस प्रकार दोनों स्त्रोंके विश्वय दलमें एवकार महीं लगाया गया है तब तो जरायुज, अण्डज, आदि जीवोंका और देव नारिकयोंका संमूर्छन जन्म होनेमें भी प्रसंग आता है। मले ही उक्त दोनों स्त्रोंके उदेश्य दलमें एवकार लगाकर जरायुजादिकांके उपपाद जन्मका निराकरण कर दिया जाय और देवनारिकयोंके गर्भजन्मका निवारण कर दिया जाय। किन्तु इन जीवोंके सम्मूर्छम जन्मका निवारण उन एव कारीस ही नहीं सकता है। इस प्रकारके भिषतिका साटोप खण्डन करते हुये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम स्त्रको स्पष्ट कह रहे हैं।

रोषाणां संमूर्छनं ॥ ३५ ॥

गर्भ जन्मवाले जीव और उपपाद जन्म धारनेवाले जीवोंसे होत्र बच रहे एकेंद्रिय, दीन्द्रिय आदि जीवोंके सम्मूर्छन जन्म होता है।

शेषाणामेव संमूर्छनमित्यवधारणीयं। के पुनः शेषाः कुता वा तेषामेव संमूर्छनमित्याइ।

पूर्वोक्त दो सूत्रोंके समान इस सूत्रके उद्देश्य दलमें भी एवकार लगाकर रोष जीवोंके ही सम्मूर्ण र्जन जन्म होता है यो अवधारण कर लेना चाहिये। कोई जिज्ञासु पूंछता है कि महाराज बताओ, वे रोष जीव फिर कौन हैं। और क्या कारण है कि उनके ही सम्मूर्छन जन्म माना "गया है। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द आचार्य अभिम वार्त्तिकको कहते हैं।

निर्दिष्टेभ्यस्तु शेषाणां युक्तं संमूर्छनं सदा । गर्भोपपादयोस्तत्र प्रतीत्यनुपपत्तितः ॥ १ ॥

निर्दिष्ट कर दिये गये जरायुज आदिकांसे और देवनारकांसे अतिरिक्त होष बच्च रहे एकेन्द्रि आदि जीवोंके सर्वदा सम्मूर्छन जन्म होना ही युक्तिपूर्ण है। क्योंकि उन एकेन्द्रियादि जीवोंमें गर्क जन्म और उपपाद जन्मकी प्रतीति हो जाना सिद्ध नहीं है।

उक्तेभ्यो जरायुनादिभ्यो देवनारकेभ्यश्च अन्ये श्चेषास्तेषामेन संमूर्छनं युक्तं सदा गर्भो-पपादयोस्तत्र प्रतीत्यज्ञुपपत्तेः । तर्हि संस्वेदजादीनां जन्मप्रकारोन्यः असूत्रयितच्य अस्यायंकाम-पसारयनाह । बहें जा चुने उसयुज आदिन और देवनारक जीनींसे अन्य बच हो जीव यहां रोष जीव माने जाते हैं उन रोष जीनोंके ही सम्पूर्णन जन्म मानना समुचित है। क्योंकि उनमें गर्भ और उपपाद जन्मनी असिति होना सर्वदा नहीं बनता है। यहां कोई पुनः रांका उठाता है कि तब तो जीवोंको अच्छा उपजानेवाले पसीना, कीच, आदिसे उपजते हुये स्वेदज, छट, जुंआं, डांस, आदि और भूमिको ब्योजकर निकले हुये उदिरुष, इस गुल्म आदि जीवोंका मिन चौथा जन्मका प्रकार न्यारे सूत्र द्वारा उम्मस्वायी महाराज करके कहना चाहिये ! इस प्रकारकी आशंकाका निराकरण करते हुये श्री निधानवद स्वामी अधारी वार्तिकको कहते हैं।

तथा संस्वेदजादीनामपि संमूर्छनं मतं । जन्मति नापरो जन्मप्रकारो सूत्रितोस्ति नः ॥ २॥

तिन एकेंद्रियादि रोष जीवोंके समान उस ही प्रकारसे स्वेदज आदिक जीवोंके भी सम्मूर्छन जन्म माना गया है। इस कारण जन्मके तीन प्रकारोंसे अन्य कोई चौथा, पांचवा, प्रकार हमारे जैन सिद्धालामें नहीं है। अतः सूष्रद्वारा हमने सूचित नहीं किया है।

इत्येवं पंचितः सुत्रैः सुत्रितं जन्मजन्मिनां । भेदप्रभेदतिश्चित्यं युक्त्यागमसमाश्रयं ॥ ३॥

यहांतक इस प्रकारके " संपूर्णन गर्भोपपादा जन्म, सिचत्तशीतसंवृताः सेतरा मिश्राश्चेकशस्त-षोन्नयः, जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः, देवनारकाणामुपपादः, शेषाणां संपूर्णनं " इन पांच सूत्रों कर के जन्मवाले संसारी प्राणियोंका सूचन किया जा चुका है। युक्तिप्रमाण और आगम प्रमाणका अच्छा आश्रय रखते हुये विद्वानों करके सेह, प्रमेद, रूपसे इस जन्मका अन्य भी प्रसमर्थ कर लेना चाहिये। सूत्रमें तो संक्षेपसे ही प्रसेष कुछा जा सकता है।

अय जीवस्य कति शरीराणीत्याइ।

हे करुणानिधात ! अब यह बताओं कि संसारी जीवके कितने शरीर होते हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिमसूत्रको स्पष्टरूपसे कह रहे हैं।

औद्मिनिवेकियिकाद्दारकतेजसकार्मणानि श्रीराणि।३६।

भीदारिक, वैकियिक, आहारक, तैज़स, और कार्मण ये पांच शरीर हैं।

सरीस्नामकर्मोद्वे सति शीर्येत इति सरीराणि । शरणकियात्र व्युत्पत्तिनियत्तं कार्योति निर्मातं त्र सरीरनामकर्मोदवः एवोदितः शरीत्वपरिणामः न पुनरर्योतरभूतशरी-तरवसामान्यं तस्य विकार्यमाणस्यायोगात् । नामकर्मकी उत्तरप्रकृतियों में गिनाये गये शरीर नामक कर्मका उदय होनेपर जो छिदने, मिदनेवाछे पिण्ड बन जाते हैं, इस कारण ये पांच शरीर कहे जाते हैं। यहां शरीर शह्में शरण किया तो व्याकरण द्वारा शह्की साधुता प्रतिपादक व्युत्पत्ति करनेका ही निमित्त है। रुद्धी किया व्युत्पत्यर्थेंच, किन्तु प्रवृत्तिका निमित्तकारण तो शरीर नामक अतीन्द्रिय हो रहे नामकर्मका उदय ही कहा गया है, जो कि जैनसिद्धान्त अनुसार शरीरपना स्वरूप परिणाम है। जैनसिद्धान्तमें पौद्रिलिक शरीरसे सर्वथा भिन्न हो रहा नित्य एक और अनेकमें समन्त्रत ऐसा शरीरत्व नामका सामान्य (जाति) नहीं माना गया है। क्योंकि उस वैशेषिकोंके यहां माने गये सामान्यका यदि विचार चलाया जाय तो उसकी सिद्धि होनेका योग नहीं बैठता है। मावार्थ— शृ हिंसायाम् धातुसे शरीर शद्ध बनता है इसका अर्थ छिदना, भिदना, पिटना, नष्ट हो जाना है। यदि शद्धकी निरुक्तिको ही लक्षण मान लिया जाय तो घट, पटमें अतिव्याप्ति हो जायगी। अतः रूदि शद्धोंमें धाल्वर्यरूप किया केयल व्युत्पत्तिके लिये ही मानी गयी है। वस्तुतः लक्षणका बीज तो शरीर नाम कर्मका उदय ही है। वैशेषिकोंने शरीरत्वको एक विशेष जाति माना है, जो कि व्यापक, नित्य, एक और अनेकोंमें समवाय सम्बन्ध द्वारा वर्तती है। पश्चात् संकरदोष आजानेके भयसे " चेष्टाश्रयत्वं शरीरत्वं " चेष्टाश्रयपनको शरीरत्व मानकर सखण्डोपाधि निर्णात किया है। किन्तु जैन सिद्धान्त अनुसार सदश परिणाम ही सामान्य है, जो कि शरीरसे अभिन्न है। सदश परिणामास्तिर्यक् खण्डमुण्डादिष्ठ गोलवत (परीक्षामुख)।

केन पुनः कारणेन जन्मांतरं शरीराण्याहुरित्युच्यते ।

किसीका प्रश्न है कि महाराजजी! यह बताओं कि किस कारणसे अन्य जन्म छेनेको प्राणियोंके शरीर कह देते हैं ! ऐसी आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य द्वारा यों समाधान कहा जाता है।

स्वयोनो जन्म जीवस्य शरीरोत्यत्तिरिष्यते । तेनात्रोदारिकादीनि शरीराणि प्रचक्षते ॥ १ ॥

अपने अपने योग्य योनिमें जीवका जन्म छेना ही यहां शरीरकी उत्पत्ति मानी जाती है। कारण औदारिक, बैक्रियिक, आदिक शरीर हैं यों आचार्य महाराज बढिया ढंगसे स्पष्ट कह देते हैं।

औदारिकादिशरीरनामकर्मविशेषोदयापादितानि पंचैबौदारिकादीनि श्ररीराणि जीवस्य यदुत्पत्तिः स्वयोनौ जन्मोक्तं, न हि गतिनामोदयमात्रं जन्म, अनुत्पकशरीरस्यापि तत्मसंगात् ।

नामकर्मकी उत्तर प्रकृति शरीरसंज्ञक है। उस शरीर प्रकृतिके उत्तर भेद १ औदारिक शरीर नामकर्म २ वैकियिक शरीर नामकर्म ३ आहारक शरीर नामकर्म ४ तैजस नामकर्म और ५ कार्मण नामकर्म, ये पाच हैं। आहार वर्गणाको उपादान कारण मानकर और औदारिक नामकर्म, वैकियिक नामकर्म, आहारक नामकर्म, इन पौद्गलिक अतीन्द्रिय प्रकृतियोंको अंतरंग निमित्त पाकर व्यक्त, अध्यक्त,

पुरुषार्थ द्वारा जीवके औदारिक, बैिकियिक, आहारक, ये तीन द्वारीर बन जाते हैं। तैज नामकर्मका अन्तरंग निमित्त पाकर तैजसवर्गणा जीवके अन्यक्त पुरुषार्थ द्वारा तैजस द्वारीरक्तप परिण हो जाता है। तथा आत्मामें बंधे हुये पूर्वकाल संचित कार्मण शरीर नामक नामकर्मका उदय होनेप जीवके अन्यक्त पुरुषार्थसे योगद्वारा गृहीत हुई कार्मण वर्गणायें ही कार्मण शरीर बन बैठती हैं, व औदारिक आदि शरीर नामकर्मविशेषांके उदय होनेपर आत्मलाभ कर चुके, औदारिक आदि पां ही शरीर जीवके हैं। जिनकी कि उत्पत्ति हो जाना ही जीवका स्वकीय योनिमें जन्म कहा ज चुका है। केवल गतिनामकर्मका उदय ही जन्म नहीं है, अन्यथा यानी गतिनामकर्मके उदयव यदि जन्म मान लिया जायगा तो विग्रह गतिमें जिस जीवके नोकर्म शरीर उत्पन्न नहीं हुआ है उसके भी जन्म होनेका प्रसंग हो जायगा। यद्यपि पूर्वशरीरको छोडते ही झट परभवकी आयुव उदय हो जाता है। विग्रहगतिमें जो एक दो या तीन समय लगते हैं, वे परभव सम्बन्धी गिनती आयुव्य निषेकोंमें परिगणित हैं। फिर भी स्वयोनियोंमें नोकर्मशरीरकी उत्पत्ति प्रारम्भ हो जानेर जीवका जन्म माना गया है, गतिका उदय तो जन्म हो चुकनेपर मध्य अवस्थामें भी है। कि जन्म और मरणके बीचमें तो पुनः जन्म नहीं माने जाते हैं।

तत्रोदारं स्थूलं मयोजनमस्येत्यौदारिकं उदारे भवमिति वा, विक्रिया मयोजनमस्या वैकियिकमाहियते तदित्याहारकं, तेजोनिमित्तत्वात्तीजसं, कर्मणामिदं कार्मणं तत्समृहो र एतेषां द्वंद्रे, पूर्वमौदारिकस्य प्रहणमतिस्थूलत्वात् उत्तरेषां क्रमवत्तनं स्रक्ष्मक्रममतिपस्यर्थे ।

उन शरीरोंमें पिहले औदारिक शरीरकी न्युत्पत्ति यों करनी चाहिये कि उदार शन्दका अ स्थूल है, जिस शरीरका प्रयोजन स्थूलपन है इस कारण वह औदारिक है अथवा उदार यानी स्थूमें जो उपजनेवाला है इस कारण वह औदारिक शरीर है। उदार शब्दसे प्रयोजन अर्थ अथवा अथवा अथवा अथवा अथवा है इस कारण वह औदारिक शरीर है। उदार शब्दसे प्रयोजन अर्थ अथवा अथवा अथवा कर लेना, विकिया है। जिस शरीरका प्रयोजन विकिया करना है इस कारण वह वैकियिक है विकिया शब्दसे प्रयोजन अर्थमें ठज प्रत्यय कर वैकियिक शब्दको साथ लेना चाहिये। छटे गुणस्था वर्ती मुनि करके तत्वमें सन्देह होनेपर निर्णय करनेके लिये जो शरीर आहार प्राप्त किया जाता है, इकारण वह आहारक शरीर है। आङ्पूर्वक ह धातुसे कमेंमें खुल प्रत्यय करनेपर आहारक शर्व कनाया हुआ यह ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म समुदायक्रप शरीर अथवा उन कर्मोका समूह कार्म है। तेजस् शब्द और कर्मन् शब्दसे अण् प्रत्ययक्रर तेजस और कार्मण शब्दोंकी सिद्धि कर लेचाहिये। इन औदारिक, वैकियिक, आहारक, तेजस, कार्मण, पर्दोका इतरेतरयोगद्वन्द्वसमास करनेप सबके आदिमें औदारिकपदका प्रहण हो जाता है। क्योंकि यह औदारिक शरीर अधिक स्थूल है। घोड केल, पहा, पक्षी, कीट, पतंग, मनुष्य आदिके स्थूल शरीरोंका बहिरंग इन्द्रियों द्वारा प्रहण हो जात

है। हां, उत्तरवर्षी बैक्रियिक आदिकोंका कमशः पाठ पढना तो कम कमसे सूक्ष्मताकी अतिपत्तिके किसे है, जो कि अभिन्न सूत्र द्वारा उत्तरोत्तर शरीरोंको सूक्ष्म, सूक्ष्मतम, सूक्ष्मतम, अतिस्क्षम, रूपसे कहा ही जायगा।

कार्मणग्रहणमादौ युक्तमौदारिकादिकरीराणां तत्कार्यत्वादिति चेक, तस्यात्यंतपरोक्षत्वात् । औदारिकमपि परोक्षमिति चेक, तस्य केषांचित्मत्यक्षत्वात् । तथाहि—

किसीकी शंका है कि सभी अरीरोंका अधिष्ठाता, निमित्त, जन कि, आदि होनेसे पिताके समान प्रधान कार्मणशरीरका आदिमें प्रहण करना समुचित्त है। क्योंकि औदारिक आदिक पांचों शरीर उसके कार्य हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यह कार्मणशरीर अत्यन्त परोक्ष है। जैसे प्रत्यक्ष योग्य घट आदि कार्यों करके अतीन्द्रिय सूक्ष्म परमाणुओंका अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार औदारिक आदि अथवा सुख, दु:ख, आदिकी विचित्रताओंकी उपलब्धिसे अतीन्द्रिय कार्मण शरीरका अनुमान कर लिया जाता है। अतः ऐसे सूक्ष्म या अतीन्द्रिय पदार्थकी सर्व साधारण प्राणियोंके प्रधानता नहीं मानी जाती है। अतः अधिक मोटा औदारिक ही सबको प्रधान, भाग्यशाली, प्रतीत हो रहा है। कोई पुनः शंका करता है कि साधारण जीवें। या सूक्ष्म जीवें। अथवा छोटे छोटे हीन्द्रिय आदिकोंके औदारिक शरीर भी तो परोक्ष हैं। इनमें बहुतसे बहिरिन्दियों द्वारा नहीं देखे जा सकते हैं मन्यकार कहते हैं कि यह तो वहीं कहना। क्योंकि उस औदारिकका किन्हीं किन्हीं जीवोंको तो प्रत्यक्ष हो ही जाता है। अथक किन्हीं किन्हीं चहुतसे तिर्थचों या मनुष्योंके उस औदारिक वारीरका प्रत्यक्ष हो ही जाता है। इसी बातको प्रमाण द्वारा साधते हुने प्रन्यकार यो प्रसिद्ध कर दिखाते हैं।

सिद्धमौदारिकं तिर्यझानुषाणामनेकथा । शरीरं तत्र तमामकर्भवैचित्र्यतो बृहत् ॥ २ ॥

ं उन रारीरोंमें सृष्टा नामकर्मकी विचित्रतासे अनेक प्रकारका और मोटा हो रहा वह तियेच और मनुष्योंका औदारिक शारीर सिद्ध ही है।

बृहद्धि शरीरमीदारिकं मनुष्याणां तिरथां च प्रत्यक्षतः सिद्धं तेषु शरीरेषु पध्ये। तथा-नेकथा तकामकर्मणोनेकविधत्वात् ।

कारण कि उन पांच शरीरोंके मध्यमें प्रथम प्रोक्त मनुष्य और तिर्यचोंका मोटा औदारिक शरीर तो प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध ही है और वह औदारिक शरीर दृक्ष, वेल, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट, पतंगा, मिट्टी, जल, आदि ढंगका अनेक प्रकार है। क्योंकि उसके कारण हो रहे नामकर्मके अनेक प्रकार हैं। कारणोंकी विचित्रतासे विचित्र कार्य उपज जाते हैं।

शेषाणि कुतः सिद्धानीत्याह।

किन्हीं किन्हीं जीवोंका भौटा औदारिक शरीर तो प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध किया किन्तु रोष वैकियिक आदि शरीर भला किस प्रमाणसे सिद्ध हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेषर श्रीविधानन्द स्वामी बार्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं ।

संभाव्यानि ततोन्यानि वाधकाभावनिर्णयात् । परमागमसिद्धानि युक्तितोपि च कार्मणं ॥ ३ ॥

उस स्थूड औदारिकते मिन्न हो रहे सूक्ष्म औदारिक शरीर, बैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर और कार्मण शरीर तो बाधक प्रमाणोंके अभावका निर्णय हो जानेसे संभावना करहेने योग्य हैं, अर्थात् अनुमान प्रमाणसे सिद्ध हैं, तथा वे शरीर आसोक्त परम आगमसे भी सिद्ध हैं, और कार्मणशरीर तो युक्तियोंस भी सिद्ध हो जाता है।

नत् कर्मणामिदं कार्मणमित्यस्मिन् पक्षे सर्वमीदारिकादि कार्मणं मसक्तमिति चेक्न, मतिनियतकर्मनिमित्तत्वात् तेषां भेदोपपत्तेः । कर्मसामान्यकृतत्वादभेद इति चेक्न, एकमृदादि-कारणपूर्वकस्यापि घटोदंचनादेभेंददर्भनात् कार्मणमणास्त्रिकया च तिक्रण्यतिः स्वापादान-भेदान्द्रदः मसिद्धः ।

महां किसीकी शैका है कि अतीन्त्रिय कर्मीके द्वारा बनाया गया यह कार्मण शरीर है, "तस्येदम् " इस सूत्र करके तिद्वितमें कर्मन् शद्वसे अण् प्रत्यय करमेपर " कार्मण " शद्व साध-जाता है। यों इस पक्षमें सभी औदारिक, वैक्रियिक, आदि शरीरोंको बड़े अच्छे ढंगसे एकसा कार्मण शरीर बनजानेका प्रत्मा प्राप्त हुआ। क्योंकि सभी शरीर पूर्वोपार्जित कर्मोकी सामध्येस गढ़े गये हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि प्रत्येकके लिये त्यारे न्यारे नियत हो रहे कर्मोकी निमित्त मानकर उपजना होनेसे उन शरीरोंका भेद सिद्ध हो जाता। है। भावार्य-इस दश्यमाण औदारिक शरीरका निमित्त पृथक् ही जैक्रियिक शरीरका निमित्त पृथक् ही जैक्रियिक शरीरका है। कालारक शरीरका निमित्त पृथक् ही जैक्रियिक शरीरका है। तेजस शरीरका निमित्त पृथक् ही जैक्रियक शरीरका है। तेजस शरीरका निमित्त पृथक् ही तेजसशरीर नामकर्म है और एकसी अडतालीस प्रकृतियोंका पिण्ड हो रहे कार्मण शरीरका निमित्त तो एकसी अडतालीस प्रकृतियोंकी एक कार्मण शरीरनामक नामकर्म है। पृजः किसीका श्वार कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि मही, सुक्का खूरा मृंकसे ही बाधा जाता है। पुनः किसीका शेका है कि सामान्यक्रसेस कर्मोद्वारा किये जा चुके होंकसे उन शरीरोंका परस्परमें अमेद हो जायगा। प्रधकार कहते हैं यह तो नहीं कहना क्योंकि मही, सुक्का, जादका मेद देखा जाता है। कारणोंकी विशेषताओंसे हो रहे त्यारे न्यारे कार्योंकी सामान्य कारण मित्र अभेदकी ओर नहीं सुका सकता है। वस्तुतः भिन्न भिन्न कारणोंसे ही त्यारे न्यारे कार्य उपजति सिर अभेदकी ओर नहीं सुका सकता है। वस्तुतः भिन्न भिन्न कारणोंसे ही त्यारे न्यारे कार्य उपजति सिर अभेदकी ओर नहीं सुका सकता है। वस्तुतः भिन्न भिन्न कारणोंसे ही त्यारे न्यारे कार्य उपजति सिर अभेदकी ओर नहीं सुका सकता है। वस्तुतः भिन्न भिन्न कारणोंसे ही त्यारे न्यारे कार्य स्वारे अपनेत हो।

हैं। कार्मणशरीरकी प्रणालिका (द्वार) करके उन शरीरोंकी निष्पत्ति हो जाती है। अतः निमित्त नैमित्तिक भेदसे उन शरीरोंका पृथम्भाव है। और एक बात है कि अपने अपने उपादान कारणोंके भेदसे उन शरीरोंका भेद प्रसिद्ध हो रहा है। अर्थात्—उपादानकारण आहार वर्गणासे जीवका औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीर बन जाता है। तेजोवर्गणाका विवर्त्त तैजस शरीर है और कार्मणवर्गणाका उपादेय कार्मण शरीर है।

पृथगुपलंभमसंग इति चेन्न, विश्रसंापचयन स्थानात् क्रिन्नगुडरेणुश्लेषवदौदारिकादीनां कार्मणनिमित्तच्चे कार्मणं किं निमित्तिमिति वाच्यं १ न ताविश्विनिमित्तं तदनिर्मोक्षमसंगादभाव-प्रसंगाद्वा शरीरांतरिनिमित्तत्वे तु तस्याप्यन्यशरीरिनिमित्तत्वेऽनवस्थापित्तिरिति चेन्न, तस्यैव निमित्तभावात् । पूर्वे हि कार्मणं कार्मणस्य निमित्तं तद्पि तदुत्तरस्येति निमित्तनैमित्तिक-भावोऽविरुध्यते, न चैवमनवस्थापितः कार्यकारणभावेन तत्संतानस्यानादेरिवरोधात् ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि न्यारे न्यारे उपादान कारणोंसे जब पांच शरीर भिन्न भिन्न निष्पन्न (तैथार) हुये हैं तो उनके पृथक पृथक उपलम्भ हो जानेका प्रसंग आवेगा। किन्त यथासम्भव पाये जानेवाले औदारिक, तैजस, कार्मण, या वैक्रियिक, तैजस, कार्मण, आदि शरीर प्रथक प्रथक तो नहीं दीख रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि यह कटाक्ष नहीं करना। क्योंकि विस्रसोपचय करके उन शरीरोंका अवस्थान हो रहा है । जैसे कि स्वाभाविक परिणामसे गीले गुडपर छोटी छोटी धल चपटकर अवस्थित हो जाती है, उसी प्रकार कार्मण शरीरमें औदारिक आदिकोंका विस्रसोपचय-रूपसे अवस्थान हो रहा है, अतः उनमें नानापन सिद्ध है। भावार्थ-जैसे गीले गुडमें धूल चुपट जाती है, उसी प्रकार प्रवाहरूपसे अनादिकालीन संचित हो रहे कार्मण शरीरमें नोकर्म शरीर लग बैठते हैं। पुनरपि कर्म, नोकर्म, शरीरोंके जपर '' जीवादोणन्तगुणा पडिपरमाणुम्हि विस्तसो वचया, जीवेण य समवेदा एक्केक्कं पिंडसमाणा हु " इस गाथानुसार विस्नसोपचय छदा रहता है। पनः किसीका आक्षेप है कि औदारिक, वैक्रियिक, आदि शरीरोंका निमित्तकारण यदि कार्मण शरीर माना जायगा तो फिर कार्मण शरीरका निमित्त कारण क्या होगा ? यह कहो। वह कार्मण विचारा निमित्तकारणसे रहित तो नहीं है। अन्यथा यानी कार्मणको निमित्तरहित माननेपर उसकी मोक्ष नहीं होनेका प्रसंग आवेगा । जिस सत् पदार्थका हेतु नहीं है, उस नित्य पदार्थका कभी विनाश नहीं हो सकता है। ऐसी दशामें किसी भी जीवकी मोक्ष नहीं हो सकेगी। सदा कर्म चिपके रहेंगे। तथा एक बार कर्मीपिण्डसे मुक्ति पा जानेपर भी पुनः कर्म चिपट जायंगे । उनका कोई निमित्तकारण मिथ्यादर्शनादि तो अपेक्षणीय है ही नहीं। क्योंकि आप उन कर्मीको निर्निमित्त मान चुके हैं अथवा कार्मण शरीरका निमित्त यदि कोई हेतु नहीं माना जायगा तो खरिबेषाण के समान उस कार्मण शरीरके अभावका प्रसंग होगा। इन दो दोषोंको टालनेके लिये कार्मणशरीरका निमित्त यदि दूसरा शरीर माना जायगा तब तो उस

1 .

दूसरे शरीरका भी निमित्तकारण न्यारा तीसरा शरीर एवं तीसरेको चौथा और चौथेको पांचयां आदि निमित्त कारणोंकी कल्पना करते करते कहीं दूरतक भी ठहरना नहीं होनेसे अनवस्था दोष हो जानेकी आपित है। प्रत्यकार कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं करना। क्योंकि कार्मण शरीरका निमित्त वहीं कार्मण शरीर है। वर्तमान कार्मण शरीरका निमित्त पूर्वसंचित कार्मण और वह वर्तमान कार्मण शरीर भी उसके उत्तरकाल्में होनेवाल कार्मणशरीरका निमित्त वन जाता है। इस ढंगसे संतानरूप करके निमित्त नैमित्तिक भाव होनेमें कोई विरोध नहीं आता है। रपयोंसे रुपया उपजता है। मनुष्य मनुष्यका निमित्त है। पठन पाठन व्यवस्था बहुत दिनसे चली आ रही है। इसी प्रकार बीजांकुर न्यायसे कार्मण शरीरकी धारा बहरही हैं। यदि कोई यो पूंछ बैठे कि इस प्रकार तो अनवस्था दोष हो जानेकी आपित है, आचार्य कहते हैं कि यह अनवस्था दोष नहीं है। क्योंकि उन कर्मोकी धारावाहिक अनादिकालीन सन्तानका कार्यकारणभाव करके चले आनेमें कोई विरोध नहीं है। अर्थात्—अनवस्था सर्वत्र दोष नहीं है। कचित्त गुण भी है। व्यक्त या पापोंको छोडकर प्रायः सभी दोष लेकिक अवस्थाओंमें कदाचित् गुणस्वरूप परिणम जाते हैं। अन्योन्यश्रय, अनवस्था, संकर, विरोध, अभिमान, संशय, अज्ञान, धनाभाव, इत्यादिक दोषाभास कई स्थलोंपर गुण हो जाते हैं तथा पण्डिताई, एकता, धन, शीक्रता, कार्यदक्षता, प्रशंसा, यौवन, अधिकार दीर्घदर्शिता थे लेकिकगुण अनेक स्थलोंपर दोष गिने जाते हैं। कार्यकारण भावकी रक्षा कर रहीं अनवस्था यहां गुण है।

मिथ्यादर्शनादिनिमित्तत्वाच नानिमित्तं कार्मणं ततो नानिर्मोक्षप्रसंगः । तचैवंविधं पर-मागमात्सिद्धं वैक्रियिकादिवत् युक्तितथ यथाप्रदेशं साधियष्यते ।

एक बात यह भी है कि मिध्यादर्शन, अविरित्त, आदि निमित्तकारणों द्वारा उपजना होनेसे कार्मण शरीर निमित्तरिहत नहीं है, तिस कारण उसके निश्शेष रूपसे मोक्ष नहीं होनेका प्रसंग नहीं आता है। अर्थात्—कार्मण यदि निमित्तरिहत होता तो किसीकी भी मोक्ष नहीं हो पाती यह प्रसंग टल गया और तिस कारण इस प्रकारका वैकिथिक आदिके समान वह कार्मण शरीर सर्वज्ञप्रतिपादित परम आगमसे सिद्ध हो जाता है तथा युक्तियोंसे भी सिद्ध हो जाता है। प्रकरण आनेपर यथायोग्य प्रदेश प्रन्यस्थकमें वह कार्मणशरीर युक्तियोंसे साध भी दिया जायगा। शीष्रता न करो।

नतु यद्योदारिकं स्थूछं तदा परं परं कीहक्षमित्याह !

यहां किसीका प्रश्न है कि यदि औदारिक शरीर स्थूल है तो परले परले वैक्रियिक आदिक शरीर मला कैसे हैं ! बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रकों कहते हैं ।

परं परं मुक्ष्मम् ॥ ३७ ॥

सूत्रमें पढ़े गये अनुसार औदारिकसे परले, परले, बैक्रियिक आदिक शरीर गढ़न्तकी अपेक्षा सूक्ष्म सूक्ष्म हैं। औदारिकसे सूक्ष्म बैक्रियिक है और बैक्रियिकसे आहारक सूक्ष्म है। आहारकसे तैजस और तैजससे कार्मण अतिशय सूक्ष्म हैं।

परसन्दस्यानेकार्थत्वे विवक्षातो व्यवस्थार्थगतिः पृथग्भूतानां सूक्ष्मगुणेन वीप्सानिर्देशः तेनीदारिकात्परं वैकियिकं सूक्ष्मं न स्थूलतरं, ततोप्याद्यारकं, ततोपि तैजसं सूक्ष्मं, ततोपि कार्मणमिति संमतीयते।

पर शह्नके व्यवस्था, भिन्न, प्रधान, इष्ट, शत्रु, ऐसे कई अर्थ हैं। किन्तु अनेक अर्थ होनेपर भी यहां विवक्षासे व्यवस्था अर्थ जाना जाता है। संज्ञा, छक्षण, प्रयोजन, संख्या, आदि करके प्रथक् प्रथक् हो चुके भी शरीरोंका सूक्ष्म गुणके साथ वीप्सा करके कथन किया गया है। उस वीप्सा निर्देशसे यों मछे प्रकार प्रतीति कर छी जाती है कि औदारिकसे परछे ओरका वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है, किन्तु मोटे औदारिकसे वैक्रियिक शरीर और भी अधिक मोटा नहीं है, उस वैक्रियिकसे भी आहारक शरीर सूक्ष्म ढंगसे रचा गया है, उस आहारकसे भी तैजसशरीर सूक्ष्म है तथा उस तैजससे भी कार्मण शरीर सूक्ष्म है। रुई, तेछ, वायु, अग्निज्वाछा, विश्वस्थमा, विजलीका करन्ट, की पौद्रछिक रचनाओंमें जिस प्रकार सूक्ष्मपना प्रसिद्ध है, उसी प्रकार शरीरोंमें छगा छेना चाहिये।

भदेशतः परं परं कीद्यगित्याह ।

पुनः िकसीका प्रश्न है कि पांचों शरीर उत्तरोत्तर जब सूक्ष्म हैं, तब तो परछे परछे शरीर विचारे प्रदेशोंसे भी न्यून होवेंगे। यदि प्रदेशोंसे न्यून नहीं है तो बताओ प्रदेशोंकी अपेक्षा परछं परछे शरीर किस ढंगके रचे हुये हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं। कर्णकुहरको पवित्र करते हुये उसको सुनियेगा।

प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तेजसात्॥ ३८॥

अवगाहकी अपेक्षा नहीं किन्तु परमाणुस्वरूप प्रदेशों करके उत्तरेत्तरशरीर ये तैजस शरी-रसे पहिले पहिले असंख्यात गुणे हैं। अर्थात्—पल्यका असंख्यातवां भागरूप असंख्यात यहां असंख्यात शद्धेस पकडा गया है। औदारिक शरीरमें जितने परमाणु हैं उनसे असंख्यात गुणे परमाणु वैक्रियिक शरीरमें हैं, और वैक्रियिक शरीरमेंक परमाणुओंसे आहारक शरीरके परमाणु असंख्यात गुणे अधिक हैं।

प्रदेशाः परमाणवस्ततोऽसंख्येयगुणं परंपरमित्यभिसंबंधः । प्राक्तैजसादिति बचनात् न तैजसकार्मणयोरसंख्येयगुणत्वं । किं तर्हि १ औदारिकद्विकियकं प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं ततं। प्याहारकमिति निश्चयः ॥ जिन करके आकाश आदिकोंका क्षेत्रविभाग संकेतित किया जाय अथवा जो स्वयं घट आदिकोंमें अवयवपने करके निर्दिष्ट किये जायं वे परमाणु यहां प्रदेश कहे जाते हैं, परछे परछे उत्त-रोत्तर शरीर उन प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणे हैं। इस प्रकार वाक्यका दोनों ओरसे सम्बन्ध कर छेना चाहिये। सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने " तैजस शरीरके पाईछे" यों कण्डोक्त निरूपण किया है। इस कारण तैजस और कार्मण शरीरमें असंख्यात गुणपन नहीं है तो फिर सूत्रकारका अभिप्राय क्या है! ऐसी जिज्ञासा होनेपर यों निश्चय करछेना चाहिये कि औदारिकसे वैक्रियिक शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणा है, और उस वैक्रियिकसे भी आहारक शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा असंख्यात गुणा अधिक है।

तैजसकार्यणे किंगुणे इत्याह।

आदिके तीन शरीरोंमें वर्तनेवाले दो असंख्यात गुणोंका निरूपण किया, अब यह बताओ कि अन्तके तैजस और कार्मणशरीर भला प्रदेशोंकी अपेक्षा किस गुणाकारको धार रहे हैं! ऐसी जिन्नासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमस्त्रको स्पष्ट रूपसे कहते हैं।

अनंतग्रणे परे ॥ ३९ ॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा आहारकशरीरसे तैजस शरीरमें परमाणु अनन्तगुणे हैं और तैजस शरीर जितने परमाणुओंसे बना हुआ है उनसे अनन्तगुणे परमाणुओं करके कार्मणशरीर सम्पन्न हुआ है यहां अनन्तका अर्थ अभन्य जीवोंसे अनन्तगुणा और सिद्ध जीवोंके अनन्तमें भागस्वरूप कोई मध्यवर्ती जिनदृष्ट अनन्त (संख्या) लिया गया है। अतः पिछले दो तैजस और कार्मण शरीर परमाणुओंके सद्भावकी अपेक्षा अनन्त गुणे हैं।

त्रदेशतः इत्यनुवर्तते परं परिमिति च, तेनाहारकात्परं तैजसं भदेशतोऽनंतगुणं ततोपि कार्मणमनंतगुणमिति विक्रायते । तत एव नोभयोस्तुल्यत्वमाहारकाद्नंतगुणत्वाभावात् । अन्यदेव हि आहारकाद्नंतगुणत्वं तैजसस्य, तैजसाचान्यत् कार्मणस्य तस्यानंतविकल्यत्वात ।

पूर्वके " प्रदेशतोऽसंख्येयगुणं प्राक्तेजसात् " सूत्रसे प्रदेशतः इस पदकी अनुवृत्ति कर छी जाती है। और " परं परं सूक्ष्मं " सूत्रसे " परं परं " इस पदकी अनुवृत्ति हो जाती है। तिस कारण सूत्रवाक्यका अर्थ विशेषरूपसे यों जान छिया जाता है कि आहारक शरीरसे परछा तैजस शरीर प्रदेशोंकी अपेक्षा अनंतगुणा है और उन तैजस शरीरसे भी परछा कार्मणशरीर उसके आयजनक परमाणुओंकी गणना करनेपर अनन्त गुणा है। तिस ही कारणसे दोनोंकी तुल्यता नहीं हुयी। क्योंकि आहारकसे अनन्तगुणपना दोनोंमें एकसा नहीं है। अर्थात् —परछा परछा कह देनेसे तैजस और कार्मण दोनों शरीरोंमें परमाणुओंकी संख्या तुल्य नहीं ठहरती है। आहारकसे अनन्तगुणा

तैजस है, किन्तु आहारकसे अनन्तानन्तगुणा कार्मण है। मछे ही सामान्यरूपसे कार्मण शरीरको आहारक या तैजससे अनन्तगुणा कह दिया जाय, किन्तु उस अमन्तके प्रकार अनंतानन्त हैं। आंहारक शरीरसे तैजसशरीरका अनन्तगुणपना भिन्न ही है और तैजस शरीरसे कार्मणशरीरका अनन्तगुणपना भिन्न ही है और तैजस शरीरसे कार्मणशरीरका अनन्तगुणा निराळा ही है। पांच रूपयोंसे एक हजार हो जानेपर सैकडों गुणी बृद्धि कही जाती है। और चार हजार हो जानेपर भी सैकडों गुणी बढवारी समझी जाती है।

परस्थित् सत्यारातीयस्यापरत्वात्परे इति निर्देशो न मसज्यते बुद्धिविषयच्यापारा-दुभयोरपि परत्वोपपत्तेः । व्यवहितेपि वा परश्चद्वभयोगात् ।

यहां किसी जिज्ञासका आक्षेप है कि भले ही सैकडों, हजारों, पदार्थ क्यों नहीं होय, परशद्भसे अन्तका एक ही पकड़ा जावेगा. जैसे कि लाखोंमेंसे आब एक ही लिया जाता है। अतः " आबे " या " परे " इस प्रकार द्विवचनान्त पदका प्रयोग करना ही अलीक है। " परापरे " कह सकते हो। परले एक कार्मण शरीरके होते सन्ते उसके निकट पूर्ववर्ती तैजस शरीरको परपना नहीं प्राप्त होता है। इस कारण तैजल और कार्मणके छिये सूत्रमें सूत्रकार द्वारा प्रयुक्त किया गया द्विवचनान्त "परे" यह यों कथन करना प्रसंगप्राप्त नहीं हो पाता है। एक बचनांत "परम्" शद्ध कहना चाहिये। अब आचार्य कहते हैं कि यह प्रसंग उठाना ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्धिके विषय हो रहे व्यापारसे दोनों तैजस, कार्मण शरीरोंको भी परपना बन जाता है। अर्थात-पदार्थौंकी परिणति तुम कहते हो वैसी ही है। आब पदार्थ या पर पदार्थ एक ही हो सकता है । किन्तु अपनी अपनी बुद्धिक विचार अनुसार दो, चार, दस, बीस, पदार्थ भी आद्य या पर कहे जा सकते हैं। जैसा मनमें विचार छिया जाता है बैसा बहिरंगमें व्यवहार कर दिया जाता है। अपनी अपनी बुद्धि विचारोंके सभी जीव खायत्त शासन करने-बालें राजा हैं। अतः दोनों शरीरोंमें भी बुद्धिकृत परत्व सुध जाता है। बुद्धिमें तिरखा फैलाकर आहारसे परछे दो तैजस, कार्मण, शरीरोंको " अनन्त गुणेका " व्यपदेश है। शहके उच्चारणके कमसे दो में परपना कथमपि नहीं आ सकता है। दूसरी बात यह है कि व्यवधान युक्त पदार्थमें भी पर शहूका प्रयोग हो रहा देखा जाता है। जैसे कि काशीस सम्मेदशिखर तथि परे है, उसी प्रकार यहां आहारकसे तैजसको परत्व समुचित है। साथमें तैजससे व्यवधानको प्राप्त हो रहे भी कार्मणको आहारककी अपेक्षा परपना है।

ननु च यदि प्रदेशापेक्षया परं परमसंख्येयगुणमनंतगुणं चोच्यते सूक्ष्मं कथमित्याह ।

यहां कोई शंका करता है कि प्रदेशोंकी अपेक्षा करके यदि परछे, परछे, शरीरोंको असंख्यात गुणा और अनन्तगुणा कहा जाता है तो ऐसी दशामें वे परछे परछे शरीर सूक्ष्म कैसे कहे जा सकेंगे ? परमाणुओंके बढ जानेसे परछे, परछे शरीर छम्बे चौडे महान् बन बैठेंगे, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य वार्त्तिक द्वारा समाधानको कहते हैं।

क्षेत्रावगाइनापेक्षां कृत्वा सूक्ष्मं परं परं । तेजसात्प्रागसंस्येयगुणं द्वेयं प्रदेशतः ॥ १ ॥ स्थूलमाहारकं विद्धि क्षेत्रमेकं विधीयते । तथानंतगुणे द्वेये परे तेजसकार्मणे ॥ २ ॥

यद्यपि प्रदेशोंकी अपक्षा तैजससे पहिलेके और सिक, वैकियक और आहारक शरीर उत्तरीत असंख्यात गुणे हैं तो भी क्षेत्रके अवगाहकी अपेक्षा करके परले परले शरीर सूक्ष्म समझ लेने चाहिये औदारिक शरीर स्थूल है, इससे वैकियिक सूक्ष्म है, और वैकियिक तो स्थूल है। इससे आहारक सूक्ष है। तथा हस्तप्रमाण एक क्षेत्रको अनन्तानन्त परमाणुओं द्वारा बनकर अपना आधार कर रहे आह रक शरीरको स्थूल समझो। इसकी अपेक्षा परले तैजस और कार्मण शरीर अनन्तगुणे समझ ले चाहिये। अर्थात् जैसे कि पांच तेर रईको कितना भी दबा दिया फिर भी दश सेर लोहेका गीर बहुत प्रदेश होनेपर भी अल्प परिमाणवाला रहता है। लोहेसे सोना, या पारा छोटे परिमाणवाला है अतः परमाणुओंके अत्यधिक होनेपर भी अत्रगाहनकी अपेक्षा छोटे क्षेत्रोंमें वे समाजाते हैं। जस्तेष अग्निमें जलाकर फूला हुआ बहुत सफेदा बना लिया जाता है।

तर्हि समतिघाते ते माप्ते इत्याह ।

किसीका प्रश्न है कि तैजस और कार्मण शरीरमें जब परमाणुएँ ठसाठस खर्चित हो रही है तब तो वे तैजस और कार्मण शरीर प्रतिघात सहित प्राप्त हुवे। देखिए, मूर्तिमान् सघन वाण यदि ह या पाषाणसे टकरा जाता है तो वेग अनुसार धोडा घुसकर चुनः रुक जाता है। इसी प्रशार तैज और कार्मण भी मूर्तिमान् द्रव्यसे टक्कर खाकर रुक जावेंगे हैं ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वा महाराज अग्रिम सूत्रको उतारते हैं। इस सूत्रका अर्थ समझियेगा।

अप्रतीघाते ॥ ४० ॥

किसी मोटेसे मोटे भी पदार्थका अमूर्त पदार्थके साथ ज्याचात होता नहीं है। किन्तु सूक्ष्म परिणाम होनेसे मूर्त भी तैजस और कार्मण शरीरका किसी मूर्तिमान् पदार्थक साथ भी व्याचात नहीं। पाता है। पर्वत, नदी, भूमियां, वज्रपटल, सूर्य, चन्द्रमा, आदिको व्याचात नहीं पहुंचा कर और स्मिलिन, भिन्न, नहीं होते हुये तैजस, कार्मण, शरीर सर्वत्र चले जा सकते हैं। मरकर केवल तैजस औं कार्मण शरीरको धार रहे संसारी जीवकी तीन को कमें कहीं कहीं भी गति कक नहीं सकती है। अतः तैजस और कार्मणशरीर प्रतीचातरहित है।

मतीयातो मूर्त्यतरच्यायातः स न वियते वयोस्ते अतीयाते तैजसकार्यणे। कृतः इत्यादः।

प्रतीचात शहूका अर्थ अन्य मूर्त पदार्थींसे टकरा कर व्याधातको प्राप्त हो जाना है। वह गिर जाना या छिन्न मिन्न हो जाना अथवा रुक जाना कोई सा भी प्रतीघात जिन शरीरोंके विषमान नहीं है वे तैजस और कार्मणशरीर " अप्रतीघात " माने जाते हैं। कोई सविनय प्रश्न करता है कि यह अप्रतीघात किस कारणसे है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्तिकको कहते हैं।

सर्वतोप्यत्रतीघाते परिणामनिमित्ततः । न सर्वतो त्रतीघाते परिणामविशेषतः ॥ १ ॥

तैजस और कार्मणशरीरका परिमाण इस ढंगका सूक्ष्म है जिस कारण कि निमित्तसे वे तैजस, कार्मण शरीर सभी स्थानोंमें प्रतीचात रहित हैं, परिणाम विशेष होनेसे। दूसरे वैक्रियिक और आहारक शरीर सर्वतः प्रतीचातरिहत नहीं हैं। अर्थात्—वौक्रियिक शरीर असनालीमें यथायोग्य कुछ योजन या डेड राजू चार, पांच, छह, राजू, तेरह राजूतक गमन करनेकी शक्ति रखता है। आहारक शरीर ढाई द्वीपमें सर्वत्र अप्रत्याहत जा सकता है, इससे बाहर जानेपर वैक्रियिक या आहारक शरीर टूट, इटकर, नष्ट अष्ट हो जायगा, जा ही नहीं सकेगा। किन्तु तैजस और कार्मण शरीरकी परिणित उन सूक्ष्म विशेषताओंको लिये हुये हैं, जिनसे कि वे लोकमें सर्वत्र विना रोक टोकके अक्षुण्ण चले जाते हैं।

वैक्रियिकाहारकयोरप्यमतीघातत्विमिति न मंतच्यं, सर्वतोऽप्रतीघातस्य तयोरभावात् । न हि वैक्रियिकं सर्वतोऽप्रतीघातमाहारकं ना प्रतिनियतिषयत्वात्तदप्रतीघातस्य । तैजसकार्मण पुनः सर्वस्य संसारिणः सर्वतोमतीघाते ताभ्यां सह सर्वत्रोत्पादान्यथानुपपत्तेः ।

कोई मान बैठा है कि स्थूछ औदारिक मछे ही पर्वत, वजपटळ, आदिसे रुक जावे, किन्तु वैक्रियिक या आहारक शरीरका तो पर्वत, भित्ति, सूर्य, विमान, आदिमें (से) कोई प्रतीघात नहीं होता है। अतः तैजस, कार्मणके समान वैक्रियिक और आहारकको भी प्रतीघातरहितपना है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि लोकमें सब ओरसे सभी स्थलोंमें उनके अप्रतीघातका अभाव है। देखिये, वैक्रियिक अथवा आहारक शरीर सर्व स्थलोंमें प्रतीघात रिवत नहीं हैं। क्योंकि उनकों अप्रतीघात तो प्रतिनियत स्थानोंमें मर्योदित हो रहा है। त्रसनालीके बाहर स्थावर लोकमें आहारक या वैक्रियिक शरीर महीं जा पाते हैं। किन्तु फिर सम्पूर्ण संसारियोंके तैजस और कार्मण तो सभी स्थानोंसे संभी स्थलोंके लिये जान, आने, में प्रतीघातरहित हैं। क्योंकि उन तैजस और कार्मण शरीरके साथ इस संसारी जीवकी सभी स्थलोंमें उत्पत्ति होना अन्यथा यानी तैजस कार्मण को अप्रतीघात माने विना बन नहीं सकता है। जबतक संसार है तबतक तैजस और कार्मण तो छो हो रहेंगे। इनके साथ ही जीवका आना, जाना, हो सकता है।

ततस्ति सूत्रे सर्वती ब्रहणं कर्तव्यमिति चेत् न, मुख्यस्य वतीयातस्यात्र विविधितत्वात्। कृतः पुनस्तादशोऽपतीयात इति चेत्, सूक्ष्मपरिणामविशेषादयस्पिडे तेजोत्तुभवेशवत्।

कोई पण्डित आक्षेप करता है कि तैसा होनेसे यानी सर्वत्र अप्रतीघातकी विवक्षा करनेपर तब तो इस सूत्रमें सर्वतः यह पदप्रहण करना चाहिये, जब कि सर्व स्थलेंसे लोकके सभी स्थलेंमें वे प्रतीचातरहित हैं ? आचार्य वहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि मुख्य प्रती-घातकी यहां विवक्षा प्राप्त हो रही है। अतः विना कहे ही " सर्वत्र अप्रतीघात " यह अर्थ कह दिया जाता है। यों थोडी थोडी दूरके स्थानोंमें तो स्थूल औदारिकका भी अप्रतीचात वन रहा 🖥, इससे क्या हुआ ै सूत्रकारको यहां मुख्य प्रतीघातकी विवक्षा हो रही है। तैजस और कार्मण शरीरमें परिपूर्णरूपसे मुख्य प्रतीघात नहीं है । पुनः यहां कोई पूंछता है कि क्या कारण है ? जिससे तैजस और कार्मण शरीरका तिस प्रकारका सर्वत्र अप्रतीघात है ! कही भी इनको कोई रोक नहीं सकता है ? यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि छोहपिण्डमें जैसे तेजोद्रव्यका अनुप्रवेश हो जाता है, तनेमें नीचेसे अग्नि घुसकर ऊपरकी रोटीमें सैयुक्त हो जाती है, उसी प्रकार सूक्ष्म विशेषपरिणाम होनेसे उनका कहीं भी प्रतीघात नहीं होता है। भावार्थ—बडेमें भीतर पानी भर देनेपर कुछ आईता ऊपर झलक आती है। पाषाणमें तेल घुस जाता है। ताडपीनका तेल चर्ममें प्रविष्ट होकर परली ओर निकल जाता है। चौमासेकी सील सात सन्द्रकोंके भीतर घुस जाती है। जब स्थूलपरिमाणवाले पदार्थ भी नियत पदार्थीमें अन्तःप्रविष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार सूक्ष्मपरिणति विशेष हो जानेसे तैजस और कार्मण शरीर सर्वत्र अप्रत्याहत चळे जा सकते हैं। जैनसिद्धान्तों कारण अनुसार कार्यव्यवस्था मानी गयी है। कोई पोछ नहीं है। जिस पदार्थमें जैसा जैसा जहां जहां प्रतीघात, अप्रतीघात, होनेका परिणार्मावेशेष होगा, वह पदार्थ वहांतक प्रतीघातवाळा या अप्रती-घातवाला माना जायगा। दीपक या मसालका प्रकाश चर्म, मांस, कपडा, पत्र, आदिको भेदकर भीतर नहीं घुस सकता है । किन्तु " ऐक्सरे " नामक यंत्रद्वारा बिजलीका प्रकाश तो चर्म आदिकी पार कर जाता है। खहरमेंसे पानी छन जाता है, प्रकाश नहीं। किन्तु कांचमेंसे प्रकाश निकल जाता है. पानी नहीं।

ये त्वाहुः, पूर्वे पूर्व सूक्ष्मं युक्तं मदेश्वतोल्यत्वादिति तान मत्याइ ।

जो भी कोई विद्वान यों कह रहे हैं कि परमाणुओं की संख्या के अल्प, अल्प, होनेस तो पहिले पहिले शरीरों को सूक्ष्म कहना युक्त है। उनके प्रति ती श्री विद्यानन्द आचार्य यों समाधान कहते हैं।

प्रदेशतोल्पतातारतम्यं कायेषु ये विदुः । सूक्ष्मतातारतम्यस्य साधनं ते कृतार्किकाः ॥ २ ॥

तस्य कार्पासपिंडेनानेकांताच्छिथिछात्मना । भदेशबहुतातारतम्यवत्स्योल्यबंधने ॥ ३ ॥

प्रदेशोंकी अपेक्षा अल्पपनेका तारतम्य ही शरीरोंमें सूक्ष्मपनेके तारतम्यका ज्ञापक हेतु है, इस प्रकार जो नैयायिक समझ बैठे हैं वे खोटी तर्कको धारनेवाले हैं। क्योंकि. उस हेतुका शियिलस्वरूप फूल रहे रुईके पिण्ड करके व्यभिचार दोष हो जाता है। जैसे कि स्थूलपनके बन्धनको साधनेमें प्रयुक्त किये गये प्रदेशबहुतपनेका तारतम्य हेतु रुईके व्यभिचारी हो जाता है। अर्थात्—जिसमें प्रदेश बहुत होते हैं, वह स्थूल होता है। यह हेतु लोहपिण्डसे व्यभिचारी है। उसी प्रकार जिसमें प्रदेश थोडे होते हैं वह अल्पपरिमाणवाला सूक्ष्म पदार्थ है। इस व्याप्तिका हेतु भी धुनी हुई रुईसे व्यभिचार दोषको धार रहा है। थोडे प्रदेश होनेपर भी शिथिल रुई लम्बे चौडे स्थानको चेर रही है, जब कि बहुप्रदेशी लोहपिण्ड छोटे स्थानमें समजाता है।

यथैव प्रदेशवहुत्वतारतम्यग्रुत्तरोत्तरशरीरेषु स्थूलत्वपकर्षे साध्ये निविद्यावयवसंयोग-परिणामेनायस्पिदेनानैकांतिकिमिति न तत्र स्थूलतातारतम्यं साधयित तथा प्रदेशास्यत्व-तारतम्यमपि पूर्वश्वरीरेषु न सूक्ष्मतातारतम्यमिति स्वहेतुविश्वेषसांनिध्यात् तैजसकार्मणयोर-नंतगुणत्वेपि पूर्वकायात्स्क्ष्मपरिणायः सिद्धः सर्वतोत्रतीघातत्वं साधयत्येवायस्पिदे तेजोतुप्रवे-शवदिति सूक्तं। न हि तेजसोयस्पिदेन प्रतीघाते तत्रानुप्रवेशो युज्यते।

जिस ही प्रकार पिछले पिछले शरीरोमें स्यूलताके प्रकर्षको साध्य करनेपर प्रयुक्त किया गया प्रदेशोंके बहुतपनेका तारतम्य रूप हेतु तो अवयवोंके सघन संयोग हो जाना रूप परिणामको धारने-वाले लोहपिण्डकरके व्यभिचारी है, इ. कारण वह हेतु उन उत्तरोत्तर शरीरोंमें स्थूलपनके तारतम्यको नहीं साध पाता है, तिसी प्रकार प्रदेशोंकी अन्पताका तारतम्य होना रूप ज्ञापक हेतु भी पूर्व पूर्व शरीरोंमें सूक्ष्मताके तारतम्यको नहीं साध पाता है। इस कारण अपने अपने हेतु विशेषोंकी सनिकटतासे तेजस और कार्मणको अनन्तगुणा होते हुद्दे भी पूर्वशरीरसे सूक्ष्म परिणाम सहितपना सिद्ध हो जाता है, जो कि सब ओरसे उन दोनोंके अप्रतीधातपनेको साध ही देता है, जैसे कि लेहि पिण्डमें तेजोद्दव्यका अनुप्रवेश हो जाता है। तभी तो इस बातको हम पहिली आर्तिकोंमें बहुत अच्छा कह चुके हैं। यदि तेजोद्दव्यका लोहपिण्ड करके प्रतीधात माना जायगा तो ऐसी दशामें वहां लोहमें अप्रिका प्रवेश नहीं हो सकेगा। किन्तु लोहके तथेमें या पीतल, तांब के पात्रमें तेजोद्दव्य घुस जाता दीखता है, बिजली तो हजारो मील लम्बे ठोस तारमें घुसी चली जाती है।

स्यान्मतं, तेजसः संयोगविश्वेषादयस्यिदावयवेषु कर्मोत्यवते ततौ विभागस्ततः संयोग-विनाशस्ततोपि तस्यायस्यिदावस्यविनो विनाशस्तवीस्योगस्यापेशादविसंयोगसद्वयवेष्वतुष्णा- श्रीतस्पर्धाविनाषाः परस्मादिष्रसंयोगादुष्णस्पर्धोत्पाचिः ततस्तदुपमोनतुरदृष्ट्विशेषवशाद्व्यणुकादि प्रक्रमण ताद्वशस्यैवायस्पिदस्योत्पत्तिः । एवं च नायस्पिदं तद्वस्थे तेणसोनुमवेशोस्ति यतोऽप्रतीयातस्य विधाने निदर्शनीकियेतेति । तद्युक्तं, प्रतीतिविरोधात् । स एवायमयस्पिदस्तेजोन्यासः प्रतिमाति यः पूर्वमनुष्णः सम्रुपलन्थ इति प्रतीतः । परत्र प्रक्रियामात्रस्य जातुचिदप्रतीतेने भ्रांतत्वं । सद्दशापरोत्पत्तेस्तथा प्रतीतिरिति चन्न, एकत्वादिवत् । न हि किचिन्मूर्तपति प्रविश्वदम्ति दृष्टं । व्योमदृष्ट्मिति चन्न, तत्र मूर्तमिति मूर्तेष्विप तथा प्रसंगात् ।
तथा च तत्कर्यचित्पत्यभिद्वानादेकत्वसिद्धः । वाधकरहिताचतस्तित्सद्धौ कथमयस्पिदंपि प्रत्यभिद्वानादेकत्वं न सिध्दोत् १ त हि तत्र किचिद्धानक्रमस्ति ।

यदि यहां वैशेषिकोंका मन्तन्य ऐसा होवे कि छोहे के तत्रेमें अप्रि नहीं घुसती है। किन्तु लाल तपा हुआ तबा एक नया पदार्थ ही उत्पन्न हो जाता है। पहिला तबा रहता ही नहीं है। वह पहिले तवेके नाशकी और नये लोडपिण्डके उत्पादकी प्रक्रिया इस प्रकार है कि तेजोड़क्यके विशेषसंयोगसे लोहपिण्ड के अवयवों में पहिले किया उपजती है। किया या अनेक कियाओं के उपज-जानेके पीछे दूसरे समयमें उन लोह अवयवोंका विभाग हो जाता है। अर्थात्-मिले हुये अवयव उस कियाके द्वारा पृथक पृथक दुकडे हो जाते हैं। विभागगुण संयोगगुणका नाशक है। अतः पहिले हो रहे संयोगका विभागकरके तीसरे समयमें नाश हो जाता है। उसके भी पीछे संयोगका नारा हो चुकनेपर उस लोहपिण्ड अवयत्रीका विनाश हो जाता है । स्थल अवयवींका भी नारा होते होते परमाण रह जाते हैं । उसके पीछे उष्णताकी अपेक्षा रखनेवाले अग्निसंयोगसे उन परमाणस्वरूप लोह अवयवोंमें अनुष्पाशीत स्पर्शका विनाश हो जाता है। अर्थात्—वैशेषिकोंने प्रथिवीमें अनुष्पाशीत स्पर्श माना है। जब कि लोहा प्रथियी है। अतः उसका स्पर्श अनुष्णाशीत था, अगले क्षणमें अनुष्णाशीत स्पर्शका नारा हो गया। साथमें उन कियाओंका भी नारा हो गया। वैशेषिकोंके यहां किया चार क्षणमे अधिक नहीं ठहरती है। पहिले क्षणमें किया हुई दूसरे क्षणमें उसने विभागको किया, तीसरे क्षणमें पूर्व संयोगका नारा, चौथे क्षणमें उसी कियासे उत्तरदेश संयोग होकर पांच क्षणमें कियाका नारा हो जाता है। पनः अन्य कियार्पे उत्पन्न होती रहती हैं। यहांतक अवयवी उसके अवयव उसके भी छोटे छोटे अवयव इस ढंगसे लोहिंगिण्ड के परमाण्ययें हो गये हैं । यों अवतक पूर्विपिण्डका विज्ञाहा हो ज्ञुका। अब नवीन पिण्डका उत्पाद सुनिये। पुनः दूसरे अग्रिसंयोगसे उन परमाणुओंमें नवीनस्पर्वकी उत्पत्ति होती है, उसके पश्चात् उस उष्णुळोहरिफडद्वारा रसेई जीमना, भरस जाना, आदिका उपनोग करवेदाके जीवेंके विशेष पुण्य, या पापकी अधीनतासे परमाणुओंसें किया होनेसे क्षेत्रसे क्षेत्रान्तररूप होना विभाग उपजाता है। विभागसे अन्य क्षेत्रके साथ हो रहे पूर्वसंयोगका बिनाश हो जाता है। पीछे इसरे परमाणुके साथ संयोग हो जाता है। दो दो परमाणुओंका संयोग

हो चुकनेपर पीछे बगणुकोंकी उत्पत्ति होजाती है। तीन, तीन बणुकोंसे वहां सब लोह अवयवींके त्र्यणुक बन जाते हैं। चार चार त्र्यणुकांके सब चतुरणुक बन जाते हैं, यों पंचाणुक, पडणुक, इस ऋमसे एक बैसे ही अत्युष्ण नवीन लोहपिण्डकी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार हम वैशेषिकोंके यहां वैसाका वैसे ही लोहपिण्डके अवस्थित बने रहनेपर तेजोद्रव्यका अनुप्रवेश नहीं माना गया है। जिससे कि अप्रतीघातका विधान करनेमें आप जैनलोग लोहपिण्डमें अग्निके प्रवेशको दृष्टान्त कर तकें। यहांतक वैशेषिक कह चुके हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह कथन युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि प्रतीतिओंसे विरोध आता है। यह वही लोहपिण्ड भला तेजोदन्यसे न्याप्त हो रहा प्रतिभासता है. जो लोहफिड पहिले अनुष्ण भले प्रकार दील चुका था, ऐसी बालक, बालिकाओंतकको प्रतीति हो रही है। दसरे वैशेषिकोंके यहां जो उत्पादविनाशकी केवल प्रक्रिया गढ दी गयी है, उसकी तो किसीको कभी प्रतीति नहीं होती है। यदि नीचे अग्नि जलानेसे अनुष्ण लोहा या तांबेका बर्तन इट फूट जाता तो उसमें का दूध या घी फैल जाता, किन्तु ऐसा नहीं हो रहा है। किन्तु यह वही लोहपिण्ड है, बहका वही बर्तन है, यह प्रतीति हो रही है, जो कि भ्रान्तिस्वरूप नहीं है। यदि यहां वैशोषिक यों कहें कि सहश ही दूसरे दूसरे छोहपिण्डोंकी उत्पत्ति हो जानेसे तुमको तिस प्रकार " यह वही है " ऐसी प्रतीति हो गयी है, जैसे कि दीपकलिकाओं में या किसी चूर्णमें वही है, यह सादस्यको कारण मानकर प्रतीति हो जाती है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि घटके एकपन तदेवपन, आदिके समान लोहपिण्डमें एकत्व प्रतीति भी समीचीन है। मृत्तिमान पदार्थीमें प्रवेश कर रहा कोई अमृति पदार्थ नहीं देखा गया है। यदि कोई यहां यों कहें कि अमूर्त आकाश तो मूर्तिमाम घटादि में प्रवेश कर जाता है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उस आकाशके मूर्तिमान् होते सन्ते ही घट, पट, आदि मूर्त पदार्थीमें भी तिस प्रकारका प्रसंग हो जावेगा । अर्थात्-आकाश मूर्त नहीं है, क्रियावान् भी नहीं है । अतः वह मूर्त्तामें प्रविष्ट नहीं हो सकता है। (यहांका यह पाठ कुछ अप्रकृतसा दीखता है विशेष बुद्धिमान् पुरुष पूर्वापार संदर्भको ठीक मिला लेवें) । और तैसा होनेपर कथंचित् एकत्वको विषय करनेवाले प्रत्यभि-ज्ञानसे एकपनेकी सिद्धि होजाती है, बाधक प्रमाणोंसे रहित हो रहे उस प्रत्यभिज्ञान द्वारा उस एकप-नकी सिद्धि होना मान चुकनेपर छोहपिण्डमें भी एकत्व प्रत्यभिक्कानसे भला एकत्व क्यों नहीं सिद्ध हो जायगा ? कारण कि वहां भी तो कोई बाधक प्रमाण विद्यमान नहीं है।

स्यान्मतं, तेजो अ्यस्पिहे तदवस्ये नातुपनिश्चाति मृतित्वाङ्घोष्टवदित्येतद्वाधकामिति तदस-देतोः संदिग्धविपक्षच्याद्वात्तिकत्वात् सर्वज्ञत्वाभावे वक्तवादिवत् । न हि किंचिन्मृतिमति मवि-श्चदमूर्ते दृष्टं । व्योम दृष्टमिति चैत्, तत्र मृतिमतोनुप्रवेशात्त्या मतीतेरवाधत्वादित्यस्तं मसंगेन ।

यदि वैशेषिक पण्डित "यह वही छोह पिण्ड है " इस प्रत्यभिज्ञानमें बाधकप्रमाण उपाध्यित करते हुये अपना मन्तव्य यों प्रकाशित करें कि छोहपिण्डकी ठीक वैसीकी वैसी ही अवस्था बनीः

रहनेपर उसमें तेजोद्रव्य प्रवेश नहीं कर सकता है (प्रतिहा) मूर्च होनेसे (हेत्) डेलके समान (अन्वय दृष्टान्त) अर्थात् -डेळ जिसमें प्रवेश करता है वह पदार्थ वैसाका वैसा ही नहीं बना रहता है। इसी प्रकार छोड़में अग्निके यस जानेपर छोड़ा विनष्ट होकर दूसरा बदल जाता है। यह तुम्हारे एकत प्रत्यभिज्ञानका बाधक प्रमाण खढा इआ है। आचार्य कहते हैं कि उन वैशेषिकोंका इस प्रकार कहना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि उनके हेतुकी विपक्षमें व्यावृत्ति होना संदिग्ध हो रहा है, जैसे कि अर्हन् या बुद्धको सर्वज्ञपनेका अभाव साधते समय दिये गये वक्तृत्व, पुरुषत्व, हाथ पांत्र सहितपन आदि हेतुओं की विपक्षसे ज्यावृत्ति होना संदिग्ध है। अर्थात्—अर्हन्त (पक्ष) सर्वज्ञ नहीं हो सकते हैं (साध्य) वक्ता होनेसे (हेत्) गळीके मनुष्य समान (अन्वय दृष्टान्त) इस अनुमानका वक्तापन हेत संदिग्धव्यभिचारी है। क्योंकि सर्वज्ञमें भी वक्तापन संभावित है। ज्ञानके प्रकर्ष होनेपर कोई वक्ता-पनका अपकर्ष हो रहा नहीं देखा जाता है। बल्कि ज्ञानके बढनेपर वक्तुत्व शक्ति बढ रही प्रतीत होती है। अथवा विपक्ष हो रहे सर्वज्ञमें पुरुषपना भी वर्त्त सकता है। इसी प्रकार मूर्तत्व हेत भी संदिग्ध व्यभिचारी है। अतः वहका वही मूर्त पदार्थ बना रहनेपर भी तेजोद्रव्य प्रवेश कर सकता है। छेदोंबाली भीतमें डेला प्रवेश कर जाता है, किन्तु भीत वह की वही बनी रहती है। गढमें गोली घुस जानेसे सहसा अवस्था नहीं बदल जाती है। पेटमें अल, पान, का प्रवेश करलेने पर देवदत्तके शरीरकी सर्वथा परावृत्ति नहीं हो जाती है । मूर्तिमान पदार्थमें मूर्तपदार्थ प्रवेश करता है। मूर्त्तमें कोई भी अमूर्त प्रवेश करता हुआ नहीं देखा गया है। आकाश, धर्म, अधर्म, और काल ये अमूर्त, पदार्थ तो जहांके तहां अवस्थित हैं। ये कहीं जाकर प्रवेश नहीं करते। इनमें भले ही कोई मूर्त पदार्थ प्रवेश कर जाय | हां, शुद्ध जीव मोक्षगमन करते समय ऊर्ष्वेलोक प्रति गमन करता है । वह कोई बाण, डेळ आदिके समान प्रवेश करनेवाळा नहीं माना गया है। शेष संसारी जीव तो कर्म बन्धकी अपेक्षा मूर्त ही बने बनाये हैं। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि देखो आकाशद्रव्य अमूर्त्त हो रहा मूर्तपुद्रलोंमें प्रवेश कर रहा देखा गया है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि वहां भी आकाशमें मृतिमानका प्रवेश है। मृतिमानमें आकाशका प्रवेश नहीं है। आकाश तो व्यापक है कहांसे कहां जाय ? बादलोंके चलनेपर किसी किसीको चन्द्रमा चलता दीखता है। कभी काले बादलोंमें चंद्रमा धुसता दीखता है, यह सब आंति है। अतः लोहपिण्डमें तिस प्रकारकी एकल प्रतीतिका कोई बाधक नहीं है। बाधारहित एकल प्रत्यमिक्कानसे वहां एकत्व सिद्ध हो जाता है। वात्रदूक वैशेषिकोंके सन्मुख हमने सारभूत कचन कह दिया है। अधिक प्रसंग बढानेसे कोई विशेष प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकेगा उनका उत्पाद बिनाश प्रक्रियाको दिखलाना कोरा फटाटोप मात्र है।

नज्ञ कर्मेव कार्मणमित्यास्मन् पक्षे न तच्छरीरं पुरुषविश्वेषगुणत्वाद्व्यविति काथितं मत्याइ ।

यहां नैयायिक या वैदेशिककी ओरसे स्वपक्षका अवधारण है कि स्वार्थमें अण् प्रत्यय करनेपर कर्म ही कार्मण शरीर है यों इस पक्षमें वह कार्मण तो कोई शरीर नहीं है, प्रत्युत वह अदृष्ट तो खुदि, खुख, दु:ख आदिके समान पुरुषका विशेष गुण है, जिसकी आप जैन कर्म कहते हैं | उसकी हमारे वहां अदृष्ट यानी पुण्य, पाप, कहा गया है । इस प्रकार अनुमान बनाकर कोई वैशेषिक कह रहा है, उसके प्रति आचार्य महाराज वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं, उसकी सुनिये।

कर्मैव कार्मणं तम्र शरीरं नृगुणत्वतः । इत्यसद्द्रव्यरूपेण तस्य पौद्रलिकत्वतः ॥ ३ ॥

कर्म ही कार्मण है जो कि धर्म, अधर्म, कहे जाते हैं वह कर्म (पक्ष) शरीर नहीं है, (साध्य) आत्माका विशेष गुण होनेसे (हेतु) बुद्धिके समान (अन्वयद्द्यान्त) यों वैशेषिकोंका कहना सत्यार्थ नहीं है। क्योंकि उस कर्मको द्रव्यरूपसे पुद्रलों करके निर्मितपना सिद्ध हो रहा है। अर्थात—कर्म यदि आत्माके गुण होते तो आत्माको पराधीन नहीं कर सकते थे। जो जिसका गुण होता है वही उसको परतन्त्र नहीं बना देता है। जब कि यह संसारी जीव परवश हो रहा है, अतः सिद्ध हो जाता है कि कर्म विजातीय पौद्रलिक द्रव्य हैं। द्रव्यका निज गुण उसको विभाव अवस्थामें नहीं पटक देता है। निजगुणोंको नाश करनेके लिये मुमुक्षुका प्रयत्न नहीं होता है। अन्यथा आत्म द्रव्यका ही नाश हो जायगा।

न हि कर्म धर्माधर्मरूपमदृष्टसंज्ञकं पुरुषविश्लेषग्रुणस्तस्य द्रव्यात्मना पौद्रव्यिकत्वात्ततो नाशरीरत्वसिद्धिः ।

वैशेषिकों के यहां जिनकी संज्ञा अदृष्ट मानी गयी है, ऐसे धर्म, अधर्मस्वरूप कर्म तो आत्माके विशेष गुण नहीं हैं। क्यों कि द्रव्यस्वरूपसे वे पुद्गलके गढ़े हुये हैं। तिस कारण कर्मोंको शरीर रहितपनकी सिद्धि नहीं है। संसारी आत्माका सूक्ष्मशरीर पीद्गलिककर्म है, जो कि आत्मद्रव्यसे मिल द्रव्यपुद्गलका बन रहा औपाधिक शरीर है, जैसे कि अस्थिमांस रक्तमय यह दश्यमान स्थूल शरीर पुद्गल निर्मित है।

भावकर्मैवात्मग्रणरूपं न द्रव्यकर्म पुद्रलपर्यायत्वमात्मसात्कुर्वत्यसिद्धमिति मन्यमानं पत्याइ।

वैशेषिक कहते हैं कि जैन पण्डित भी राग, देष, अज्ञान, ईर्ष्या, अनुस्साहको भावकर्म मानते हुये आत्माका गुण (विभावपरिणाम) मानते ही हैं। सच पूछो तो आत्मामें अज्ञान, राग, देष, आदि भावकर्म ही आत्माके गुणएवरूप हो रहे विद्यमान हैं। पुण्यकर्म तो पुद्रस्कके पर्यायपनको अपने अधीन करता हुआ कोई आजत र प्रसिद्ध नहीं है। कोई भी दार्शनिक विचारा अमूर्त आत्माके

उपर जम रहे पौद्रिकित कर्मीको वहीं स्वीकार कर रहा है। इस प्रकार मान रहे वैशेषिकोंके प्रति आचार्य महाराज समाधानवंचन कहते हैं।

कर्म पुद्रलपर्यायो जीवस्य प्रतिपद्यते । पारतंत्र्यनिमित्तत्वात्कारागारादिवंभवत् ॥ ४ ॥

जीवके कर्म तो पुद्रछकी पर्याय समझे जा रहे हैं (प्रतिक्षा) जीवकी परतंत्रताके निमित्त कारण होनेसे (हेतु) कारागार (जेळखाना) सांकल, छेज, आदिके बंध समान (अन्वयद्यान्त)। अर्थात्—देवदत्त या गायको जेळ घर या सांकलमें बांध दिया जाय ऐसी दशामें वह बंधन उन आत्माओंका निजयुण नहीं है, किन्तु पौद्रिष्ठिक है। इसी प्रकार जीवकी परतंत्रताका निमित्तकारण हो रहा कर्म पदार्थ भी आत्मासे विजातीय द्रव्य माने गये पुद्रछकी पर्याय है।

कोधादिभिर्व्यभिचार इति चैक्, तेषामपि जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तत्वं पौद्गलिकत्वी-पपत्तः। चिद्वपतया संवेद्यमानाः कोधादयः कयं पौद्गलिकाः मतीतिविरोधादिति चंत् न, निर्हेतोर्व्यभिचारायोगात् तेषां पारतंत्र्यनिमित्तत्वाभाषात् । द्रव्यक्रोधादय एवं हि जीवस्य पारतंत्र्यनिमित्तं न भावक्रोधादयस्तेषां स्वयं पारतंत्र्यस्पत्वाद्द्वव्यक्रोधादिकर्मोदये हि सति भावक्रोधाद्यत्पत्तिरेव जीवस्य पारतंत्र्यं न पुनस्तत्कृतमन्यत्किचिदित्यव्यभिचारी हेतुर्ना-गमकः सदा ।

यदि कोई यों कहे कि कोध, अभिमान, आदि करके आप जैनकि हेतुका व्यभिचारदोष आता है। देखो, कोध आदिक मांच भछा जीवको परतित्र करमेंके निमित्त तो हैं, किन्तु पुंद्रछकी पर्याय नहीं हैं। जीवके औदियकमात्र वे कोधआदिक तो स्वतत्त्व मांने गये हैं। आचार्य कहते है कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जीवकी पराधीनताके निमित्त होनेपर उन कोध आदिकोंको भी पुद्रछ निर्मितपना बन जाता है। हेतुके रहनेपर साध्य भी रहजाय ऐसी दशमिं व्यभिचारदीष नहीं आता है। कहीं तो पुद्रछ निमित्त कारण है, वे सभी कार्य पीद्रछिक हैं। यदि वैशापिक फिर यों कहें कि कोध आदिक तो जीवके निज चैतन्य रूप करके सम्वेदम किये जा रहे हैं, वे आत्मीय पदार्थ मछा कैसे पुद्रछके परिणाम माने जा सकते हैं। क्योंकि प्रतितियोंसे विरोध हो जावेगा, यामी कीध आदिक यदि पुद्रछकी पर्याय होते तो घट, पट, आदिक समान बहिर्भूत देखे जाते और साधारण जीव भी उनको बहिरंग इन्दियों हारा देख छेते। किन्तु देवदत्तके कोधका उसीके अंतरंगमें चेतन आत्मकपने करके सम्वेदन हो रहा है। दूसरे जीवोंको देवदत्तके कोधका इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष हो नहीं पाता है। प्रथकार कहते हैं कि यह आक्षेप नहीं करना। क्योंकि हेतुके नहीं ठहरनेसे व्यभिचार नहीं हो पाता है। जनां हेतु तो ठहर बाय और साध्य महीं ठहरे वहां व्यभिचार दिया जा सकता है। पाता है। जनां हेतु तो ठहर बाय और साध्य महीं ठहरे वहां व्यभिचार दिया जा सकता है।

हेतुके नहीं ठहरते हुये साध्यके नहीं ठहरनेपर व्यक्तिचार दोष नहीं छग पाता है। देखिये, उन क्रीधा-दिकोंको परतंत्रताके निमित्त कारण होनेका अभाव है, पुद्रख्की कार्मणवर्गणाओंसे बनाये गये द्रव्य क्रीध, द्रव्यमान, आदिक ही जीवकी परतंत्रताके निमित्त हैं। उन द्रव्यकोध आदिक निमित्तसे हुये जीवके भाव क्रीध, अभिमान आदिक जीवपर्याय तो परतंत्रताके निमित्त नहीं हैं। वे भावकोध आदिक तो स्वयं परतंत्रता स्वरूप हैं। क्योंकि पुद्रख द्रव्यके बने हुये क्रोध आदिक कर्मोका उदय होते सन्ते ही भाव क्रीध आदि जीव परिणामोंकी उत्पत्ति हो रही जीवकी परतंत्रता है। उन पुद्रख निर्मित द्रव्य क्रोध आदि हारा की गयी फिर अन्य कोई भी पदार्थ परतंत्रता नहीं है। अर्थात्—क्षमास्त्रह्म जीवका क्रीध रूप हो जाना ही पराधीनता है। सबको जान छेना इस स्वभावको धारनेवाछे जीवका पीद्रिष्टिक ज्ञानावरण कर्मके उदय होनेपर अज्ञानभाव हो जाना है। तो जीवकी पराधीनता है। इस क्रारण हेतुके नहीं चटित होनेपर और साध्यके भी नहीं ठहरनेपर भावकोध हारा व्यक्षिचार नहीं हो सकता है। हमारा प्रयुक्त किया गया परतंत्रताका निमित्तपना हेतु व्यक्षिचार दोषरहित है। अतः सर्वदा अगमक नहीं है। किन्तु पुद्रख पर्यायपन साध्यका सर्वदा ज्ञापक है।

अत्रापरः स्वप्नांतिकं श्वरीरं परिकल्पयति तमपसारयकाइ ।

यहां कोई दूसरा बौद्ध उक्त पांच शरीरोंमें अतिरिक्त स्वप्नमें होनेवाले स्वप्नान्तिक शरीरकी परि-कल्पना कर रहा है उसके मतका निराकरण करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिकको कहते हैं ।

स्वप्नोपभोगसिष्यर्थं कायं स्वप्नान्तिकं तु ये। प्राहुस्तेषां निवार्यते भोग्याः स्वप्नांतिकाः कथम्॥ ५॥ भोग्यवासनया भोग्याभासं चेत्स्वप्नवेदिनां। शरीरवासनामात्राच्छरीराभासनं न किम्॥ ६॥

स्वप्न दशामें अनेक प्रकारके सुख दु:ख भोगने पहते हैं। कभी कुयेमें गिर पहता है, कभी भोजन करनेका स्वप्न आता है, कभी नावमें बैठकर जाता है, इत्यादिक स्वप्नके उपभोगोंकी सिद्धिकी प्राप्ति करनेके लिये जो बौद्धपण्डित एक स्वप्नान्तिक शरीरको अच्छा कह रहे हैं, उनके यहां तो स्वप्न दशामें होनेवाले स्वप्नान्तिक भोग्यपदार्थ मला कैसे निवारे जा सकते हैं! अर्थात्—स्वप्नान्तिक शरीरके समान स्वप्नान्तिक घोडा, नाव, धन, कूप, नदी, मोजन, अलंकार, आदिक भोग्य पदार्थ भी मानने चाहिये। जैसे कि यह स्थूल शरीर खाटपर सो जाता है, कहीं बाहर नाव, घोडापर, चढ नहीं सकता है, खाता, पीता, चलता, फिरता नहीं है, हां, दूसरा स्वप्नान्तिक शरीर उक्त कियाओंको सल्य-तासे कर लेता है, उसी प्रकार निकटवर्ती मोग्य पदार्थ तो यथास्थान रखे रहते हैं। स्वप्न अवस्थामें

न्यारे ही बोडे, भोजन, क्या, खी, धन, आदिक भोग्य पदार्थ गढ छेने चाहिये। इसपर बौद्ध यदि यों कहें कि स्वप्नका झान करनेवाछे जीवोंके पूर्वकाछसे छगी आ रही मोम्यपदार्थोंकी वासना करके भोग्यपदार्थोंका प्रतिभास हो जाता है। मिध्यावासना द्वारा असंस्य झूंठे पदार्थोंका शोकी, मदोन्मत, मूर्जित, जीवोंके झान हो रहा देखा जाता है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो शरीरकी भी केवछ वासनासे ही शरीरका आमास हो जावो, वास्तवमें वहां कोई न्यारा शरीर नहीं है, जैसे कि मोग्य पदार्थ नदी, उपवन, पर्वत, मृतपिता, मित्र, आदिक कोई न्यारे वहां नहीं हैं। विचारा जाय तो किसी मयंकर पदार्थके स्वप्नमें दीख जानेपर इस स्थूछशरीरमें ही कन्प या इदयमें घडकन हो रही प्रतीत होती है, युवा पुरुषोंको विशेष स्वम आनेपर इस स्थूछ शरीरमें ही विकार हुआ करते हैं। यों मूर्छित, उन्मत्त, अन्त, दशाओंमें अनेक प्रकारके विपरीत झान होते हैं। उनके छिये कहांतक झूंठे मूठे अप्रमाणिक शरीरोंकी कल्पना करोंगे !

यथैव हि स्वप्नद्शायां भागोपल्लिधः स्वप्नांतिकं श्ररीरमंतरेण न घटत इति मन्यते तथा भोग्यानर्थानंतरेणापि सा न सुघटेति भवद्भिर्मननीयं, जाब्रद्शायां श्ररीर इव भोग्येष्विप सत्तु भोगोपल्लिधः सिद्धत्वात् । यदि पुनर्भोग्यवासनामात्रात्स्वप्नदर्शिनां भोग्याभास इति भवतां मतिस्तदा शरीरवासनामात्राच्छरीराभासनिमति किं न मतं १ तथा सति स्वप्न-मतिभासस्य मिथ्यात्वं सिध्येत्, अन्यथा शरीरमतीतेरिप भोग्यमतीतेः सुखादिभोगोपळ्ल्धः स्वप्नत्वमसंगात्। ततो न सौगतानां स्वप्नांतिकं श्ररीरं कल्पियतुं युक्तं नापि स्वाभाविकमित्याह ।

कारण कि जिस ही प्रकार जीवका स्वष्न अवस्थामें भोग, उपभोगोंकी उपछन्धि करना स्वप्नान्तिक शरीरको माने विना घटित नहीं होता है, यों बौद्ध मान रहे हैं। तिसी प्रकार भोग्य अर्थोंके विना भी वह भोगोंकी उपछन्धि भी भन्ने प्रकार घटित नहीं हो पाती है। इस कारण आप बौद्ध करके स्वप्नान्तिक भोग्य पदार्थ भी मानने चाहिये। क्योंकि जागृतदशामें जैसे शरीरके होनेपर ही भोगोंकी उपछन्धि होती है। अतः स्वप्नमें भी एक न्यारा शरीर मानना पडता है। उसी प्रकार जामत दशामें भोग्य पदार्थोंके होनेपर ही सोगकी उपछन्धि होती है। इससे सिद्ध है कि स्वप्नमें विख्याण प्रकारके भोग्य पदार्थों भी है। यदि बौद्धोंका यह मन्तव्य होय कि स्वप्नदशी पुरुषोंको पूर्वकालीन भोग्य पदार्थोंकी आत्मामें जम गयीं केवल वासनाओंसे ही भोग्योंका आभास हो जाता है, आचार्य कहते हैं कि यों आपका विचार होय तब तो शरीरकी केवल (कोरी) वासनासे स्वप्नमें शरीरका प्रतिभास हो जाता है, यह क्यों नहीं मान लिया जावे! तैसा होनेपर ही स्वप्न प्रतिभासको मिथ्यापन सिद्ध हो सकेगा। अन्यथा यानी स्वप्नान्तिक भोग्य यदि मान लिये जायेंगे तो स्वप्न सचा बन बैठेगा अथवा शरीरकी प्रतिति हो जानेस भोग्योंकी प्रतिति हो रही है, इस कारणके जामत दशाके सुख आदि मीगोंकी उपछन्धिको स्वप्नपनेका प्रसक्त हो जावेगा। तिस कारण बौद्धोंको निराले स्वप्नान्तिक इसीरकी

कल्पना करना उचित नहीं है । साथमें स्त्रामानिक अरीर कल्पना करना भी युक्त नहीं है । इसी बातकी श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिक द्वारा कह रहे हैं ।

स्वाभाविकं पुनर्गात्रं शुद्धं ज्ञानं वदंति ये। कुतस्तेषां विभागः स्यात्तच्छरीरशरीरिणोः॥ ७॥

जो बौद्ध विद्वान् फिर जीवके शुद्ध ज्ञानको स्वामाविक शर्रार कह रहे है, उन बौद्धोंके यहां शरीर और शरीरवाले जीवका विभाग मला कैसे होगा ? बताओ। अर्थात्—ज्ञानादैतवादी बौद्ध यदि ज्ञानको ही शरीर कह देंगे तो फिर शरीरधारी आत्मा उनके यहां क्या माना जायगा ? बौद्ध ज्ञानवान् आत्माको स्वतन्त्रतत्त्व मानते नहीं हैं।

तदेव ज्ञानमशरीरिव्याष्ट्रस्या शरीरी स्यादशरीरव्याष्ट्रस्या शरीरमिति सुगतस्य शुद्धज्ञानात्मनः शरीरत्वं, शरीरित्वं च विभागेन व्यवतिष्ठते कल्पनासामध्यादिति न मंतव्यं,
तद्याष्ट्रतेरेव तत्रासंभवात् । सिद्धे हि तस्य शरीरत्वे वा शरीरिणः शरीराच व्याष्ट्रतिः सिध्येत्
तत्सिद्धौ च शरीरित्वमशरीरित्वं चेति परस्पराश्रयाश्रीकस्यापि सिद्धिः । ततो न स्वाभाविकं
शरीरं नाम ।

बौद्ध जनोंका यह मन्तन्य है कि ज्ञान पदार्थ तो उपाख्याओंसे रहित है, उसमें कोई वस्तुभूत पदार्थ नहीं ठहरता है। वटल्व, पटल्व, कोई पदार्थ नहीं है। अघटपनकी व्यावाति है। घटल्व है, और अपटपनकी व्यावाति पटल्व है, पटल्व कोई सहरा परिणाम या जाति अथवा सखण्डोपाधि धर्म नहीं है। इसी प्रकार खुद्ध भगवान्के शरीर और शरीरिपन कोई धर्म नहीं है। ज्ञानाहैतवादियोंके यहां वह ज्ञान ही शरीरिरहितपनकी व्यावाति करके शरीरी कहा जाता है और शरीररहितपनकी व्यावाति करके वह ज्ञान ही शरीर कह दिया जाता है। इस प्रकार ग्रुद्ध ज्ञानस्करण खुद्ध भगवान्के शरीरपन और शरीरीपन ये दो धर्म विभाग करके व्यस्थाको प्राप्त हो जाते हैं। अन्यापोह या अतद्व्यावृत्तिकी कल्पनाकी सामध्यसे वस्तुभूत नहीं होते हुये धर्म भी ज्ञानमें गढ लिये जाते हैं। जगत्में भी यही व्यवस्था करनी पडेगी कि धनवान्का अर्थ "दिद्ध नहीं" इतना ही है। पण्डितका अर्थ " मूर्ख नहीं" एतनमात्र है।पूर्ण धनवान् होना या पूर्ण पण्डित होना तो बहुत वडी बात है। सुंदर बल्वान, कुलीन, पुष्ट, व्याख्याता, स्वादु मोजन, आदि प्रशंसनीय पदार्थोका अर्थ केवल अन्यापोह मात्र है। अब आचार्य कहते है कि यह तो बौद्धोंको नहीं मानना चाहिये।क्योंके उसका स्वमाव माने विना उससे मिन्नकी व्यावृत्ति हो जानेका ही उसमें असम्भव है। कारण कि उस ज्ञानको शरीरीपना यदि गांठका सिद्ध होता तब तो शरीरीवी शरीरसे व्यावृत्ति सिद्ध हो जाती और उस व्यावृत्तिके सिद्ध हो जानेपर शरीरीमन और अशरीरीपन सिद्ध होते। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोन हो जानेसे एकशी भी सिद्धां नहीं

हो सकती है। अर्थात् अग्नि गांठकी उष्ण है तब तो अनुष्ण जल आदि पदार्थों से उसकी व्यावृत्ति हो सकती है। किन्तु जो निजस्वरूपसे उष्ण पदार्थ नहीं है उसकी अनुष्णव्यावृत्ति असंभव है। अन्यथा जलके भी अनुष्णव्यावृत्ति वन बैठेगी। दूसरी बात यह है कि ज्ञान आत्मक बुद्धको शरीरीपना वस्तुभूत सिद्ध हो जाय, तब तो शरीरीसे भिन्न शरीर आदिसे उसकी व्यावृत्ति सभपाये और व्यावृत्ति सभ चुक्केपर शरीरीपन (कल्पित) और अशरीरीपन सभसके। तीसरी बात यह भी है कि चालिनी न्यायसे बुद्धमें किसी भी व्यावृत्तिकों कल्पना नहीं हो सकती है। क्योंकि शरीरत्व सिद्ध करते समय शरीरसे भिन्न शरीरीपन या अशरीरीपन भी व्यावृत्त हो जायगा। बुद्धमें इनकी भी व्यावृत्ति हो जावेगी तथा शरीरीपनको साधते समय शरीरित्वसे भिन्न शरीरत्वकी भी व्यावृत्ति बुद्धमें घुस जावेगी। तिस कारण उक्त पांच शरीरीसे न्यारा कोई स्वाभाविक शरीर नाममात्रको भी नहीं है।

यत्युनरातिवाहिकं नैर्माणिकं च तदस्मदिभमतमेवेत्याह ।

जो भी फिर किसीने आतिवाहिक और नैर्माणिक ये दो शरीर माने हैं, वे तो हमको अभीष्ट ही हैं, इसी बातको प्रन्थकार स्पष्ट कहते हैं।

कार्मणांतर्गतं युक्तं शरीरं चातिवाहिकं। नैर्माणिकं तु यत्तेषां तन्नो वैकियिकं मतं॥८॥

दोनोंमें पहिला आतिवाहिक शरीर तो कार्मण शरीरमें अन्तर्भूत हो जाता है। अतः मले ही आतिवाहिक शरीर मान लो उचित ही है और जो उनके यहां नैमीणिक शरीर माना गया ह बह तो हम जैनोंके यहां वैक्रियिक शरीर माना जा चुका है। अर्थात्—यहां वहां अनेक योनियोमें परि-अमण करानेवाला आतिवाहिक शरीर कार्मण शरीर ही तो है तथा स्वल्प कालमें अधिक भोगोंको भोगनेके लिये रचे गये नैमीणिक शरीर वैक्रियिक शरीर ही समझे जाते हैं। अतः जैनसिद्धांतसे कोई विरोध नहीं अता है।

सांभोगिकं पुनरौदारिकादिशरीरत्रयममतिषिद्धमेवेति न शरीरांतरमस्ति ।

जिनका प्रयोजन सम्भोग करना है ऐसे साम्भोगिक शरीर तो फिर औदारिक, वैक्रियिक, आहारक ये तीन शरीर जैनोंके यहां माने ही गये हैं। अतः साम्भोगिक शरीरका हम निषेध नहीं करते हैं। किन्तु वह माने गये पांच शरीरोंसे कोई न्यारा शरीर नहीं है।

नन्वौदारिकाद्यानि भिकानि पार्थिवादिश्वरीराणि संति ततोन्यत्रोपसंख्यातव्यानीति केचित् तान् पत्याह ।

यहां वैशेषिक अपने मतका अवधारण करते हैं कि जो औदारिक शरीरसे भिन्न हो रहे पृथिवी. निर्मित शरीर वा जलनिर्मित शरीर अथवा तैजस और वायवीय शरीर हैं उनको उस औदारिकसे न्यारा कथन करना चाहिये। यदि सूत्रकारकी त्रुटि हो गयी है तो वार्तिककारको उपसंख्यान हारा बहु त्रुटि पूरी कर देनी चाहिये, यहांतक कोई कह रहे हैं, उनके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक हारा समाधान वचन कहते हैं।

पार्विवादिशरीराणि येऽतो भिन्नानि मेनिरे । प्रतीतेरपलापेन मन्यतां ते खवारिजम् ॥ ९॥

जो बैशेषिक पण्डित इस औदारिक शरीरसे मिन्न पार्थिव शरीर, जलीय शरीर आहिको मान बैठे हैं, प्रतीतिका अपलाप करके चाहे जिस अन्ट, स्म्ट, पदार्थको मान लेमेवाले वे वैशिषिक को आकाशकमलको भी मान लेमें, इसमें क्या आश्चर्य है।

न हि पृथिव्यादीनि द्रव्याणि भिक्रजातीयानि संति तेषां पुक्रकपर्यागत्वेन मतीतेः प्रस्परपरिणामदर्शनाद्धिकातीयत्वे तद्योगात् । न साकाश्चं पृथिवीरूपतया परिणमते कालादिवी । परिणमते च जलं ग्रुक्ताफलादि पृथिवीरूपतया । ततो न तज्ज्ञात्यंतरं युक्तं येन पार्थिवादिशरीराणि संभाव्यंते ।

पृथिवी, जल, आदिक द्रल्य कोई मिन जातिवाले न्यारे न्यारे तत्त्व नहीं हैं। क्योंकि उन पृथिवी, जल, आदिकोंकी पुद्रक्के पर्यायपने करके प्रतीति हो रही है, पस्त्परमें एक दूलरेकी पर्याय हो जाना देखा जाता है। यदि पृथिवी, जल, आदिक द्रल्योंको मिन्न मिन्न जातिकला तत्त्वान्तर माना जावेगा तो उस परस्पर परिणाम होनेका योग नहीं बन सकेगा। तुम वैद्रोषिकोंके यहां भी पृथिवी स्थल्प करके अकाश द्रल्य नहीं परिणमता है अथवा काल, आत्मा, आदिक द्रल्य भी पृथिवी या जल नहीं बन जाते हैं। अतः ये मिन्न जातिवाले द्रल्यान्तर हैं। किन्तु सीपके मुखमें पड़ा हुआ जल कुछ काले मोती हो जाता है, मेघजल ही अनेक वनस्पतियां बन जाता है, जलके लकडी, प्रामाण आदि परिणाम हो जाते हैं, जो कि कठिन होनेसे आपके मतमें पृथिवी पदार्थ माने गये हैं। आकाशमें, विश्लव कामुमें जल होकर बरस जाती हैं। अभिकी भस्म पृथिवी हो जाती है। कपहा, लकडी, आदिक प्राचित्र पदार्थ जलकर अभि होजाते हैं। दीपकसे काजल बन जाता है। इस ढंगसे परस्परमें पृथिवी, जल, तेज, वायु-आंका परिणामपरिणामी मान देखा जाता है। तिस कारणसे उन पृथिवी, जल आदिक न्यारे शबरींके सद्भावकी संमावना की जा सके।

संत्यिप तानि नैतेभ्यः शरीरेभ्यो भिनानि मतीतेर्विषयभावमनुभवि क्योमार्गिद्वस्य। मार्थिनं हि शरीरं पदिद्रलोके पत्र तैजसमादित्यलोके यदाप्यं वरुमलोके यत्र वायस्यं वायुलोके विदित्तन्यं, तद्रैिकियिकमेन देवनारकाणामीपपादिकस्य शरीरस्य विक्रियकत्याह्नः। यत्र वाहर्षः

तिर्क पांचकीतिर्क वा कैथिदिष्टं शरीरं मनुष्यतिरश्चां तदीदारिकमेन च, न ततीन्यदिति पंचैव वयोक्तानि शरीराणि व्यवतिष्ठेते सर्वविश्वेषाणां तत्रांतर्भावात् ।

और ये पार्थिव, जळीय, आदि शरीर विद्यमान हैं तो भी वे इन पांच शरीरोंसे मिन होते हुये प्रतीतिके विषयपनको नहीं अनुभव कर रहे हैं। जैसे कि आकाशपर छगा हुआ कमल कोई सड़त प्रमेय नहीं हैं। उसी प्रसार इन औदारिकादि शरीरोंसे भिन्न कोई प्रथियी तस्त्र निर्मित या जलतस्य निर्मित अथवा अकेले तेजो द्रव्यसे निर्मित तथा कोरी वायसे बने हुये शरीर नहीं जाने जा रहे हैं। तुम वैशेषिकींने पृथिवीका बना हुआ जो शरीर इन्द्रलोकमें प्रसिद्ध माना है तथा जो सर्यलोकमें तैजस शरीर कहा है और जो वरुण लोकमें जलनिर्मित शरीर माना गया है एवं वायुलोकमें जीवोंका शरीर जो वायुनिर्मित स्वीकार किया गया है वे तो सब शरीर वैक्रियिक ही हैं। देव और नारिक्योंके उपपाद जन्मसे निपने हुये शरीर वैक्रियिक हुआ करते हैं। हां, जरायुज, मनुष्य, गाय, मैंस, आदिक और अण्डज पक्षी सर्प आदिकोंका योनिज शरीर तथा गिडार, डांस, बृक्ष आदिकोंका अयोनिज शरीर जो पार्थिव माना गया है वह तो औदारिक है। है। जलकायके जीवोंका शरीर हो रहा सचित्त जल भी औदारिक शरीर है। इसी प्रकार अम्रिकायिक जीव और वायुकायिक जीवोंका सचित्त शरीर भी अम्रि और वायुस्वरूप होता हुआ औदारिक शरीर है। जो भी वैशेषिक यों मान बैठे हैं कि मनुष्य और तिर्यंचोंका शरीर तो पृथिवी, जल, तेज, वाय, इन चार भृतीका बना हुआ है अथवा इन चारमें आकाशको मिलाकर पांच भृतोंसे बन रहा माना है । अर्थात्—मनुष्य और घोडा, हायी, तोता, मैना, सांप, आदिके शरीरोंमें कठिन भाग पृथिविका है, वय भाग जलका है, उदरामि या उच्चाता तो अग्निका भाग है, उक्त शरीरोंमें वाय भी है. इस कारण चारों धातुओंसे ये शरीर बने हुये हैं। उक्त शरीरोंमें भीतर पोछ भी हैं वह आकाशका भाग है, यों पांच भूतोंसे बने हुये ये शरीर किन्ही नादियों करके इष्ट किये गये हैं। आचार्य कहते हैं कि वह मनच्य या तिर्थचोंका शरीर तो हमारे यहां औदारिक शरीर ही माना गया है। उनसे न्यारा कोई शरीर नहीं है। इस कारण आम्बाय अनुसार सूत्रकार द्वारा कहे गये शरीर पांच ही व्यवस्थित हो रहे हैं। शरीरके अन्य सभी भेद प्रभेदोंका उन पांचमें ही अन्तर्भाव हो जाता है।

नतु चामूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तिमद्भिः शरीरैस्संबंधो मुक्तात्मवदित्याशंकामपनुदन्नाह ।

यहां किसीकी शंका है कि मुक्त आत्माके समान अमूर्त हो रहे आत्माका मला मूर्तिबाले शरी-रोंके साथ कैसे सम्बन्ध हो जाता है! अन्यया मुक्त परमात्माके भी शरीरके साथ सम्बन्ध बन बैठेगा। इस प्रकारकी आशंकाका निराकरण कर रहे श्री उमास्वामी महाराज अप्रिमसूत्रको कह रहे हैं।

अनादिसंबंधे च ॥ ४१ ॥

वे तैजस और कार्मण दारीर दीनों आत्माके साथ अनादि काळसे सम्बन्ध रखनेवाळे हैं। अर्थास्—मोक्ष होनेक पूर्व काळोंने अनादि काळसे यह जीव प्रवाह रूप करके कमींके साथ बंधा रहनेंके कारण मूर्त है। संसारी जीव विचारा मुक्तात्मा या आकाशके समान अमूर्त नहीं है। अतः मूर्तजीवका ही मूर्त शरीरोंके साथ सम्बन्ध हो जाता है। अमूर्तका मूर्तद्रव्यके साथ बंध नहीं हो सकता है।

अनादिः संबंधो ययोरात्मना ते यथा तैजसकार्मणक्षरीरे, च क्रद्वात्सादिसंबंधे ते प्रति-प्रवच्ये । ततो नैकांतेनामूर्तत्वमात्मनः परक्षरीरसंबंधात्पूर्व येन तद्वुपपत्तिः तत्संबंधात् प्रागिप तस्य तैजसकार्मणाभ्यां संबंधसद्भावात् । ततः पूर्वमप्यपराभ्यां ताभ्यामित्यनादितत्संबंध-संतानः प्रतिविश्विष्टतेजसकार्मणसंबंधात् सैव सादिता ।

जिन तैजस और कार्मणका आत्माके साथ सम्बन्ध अनादिकालसे चला आता है, वे तैजस और कार्मण शरीर थयायोग्य अनादि सम्बन्धवाले कहे जाते हैं। सूत्रमें समुचयवाचक च शह भी पढ़ा हुआ है। इस कारण वे तैजस और कार्मण शरीर सादि सम्बन्धवाले भी समझ लेने चाहिये। अर्थात्—तैजस शरीर ल्यासठ सागरसे अधिक नहीं ठहरता है। कोई भी वर्तमानका कार्मण शरीर सत्तर कोटाकोटी सागरसे अधिक नहीं ठहर सकता है। किन्तु कार्यकारणभावकी सन्तानसे उनका प्रवाह अनादिकालसे चला आ रहा है। तभी तो विशेष विशेष तैजस शरीर या कार्मण शरीरकी अपेक्षासे वे सादि सम्बन्धवाले भी हैं। जैसे कि बीज और इक्षकी सन्तान अनादि है, किन्तु विशेष बीज या कोई एक पकड लिया गया इक्ष तो सादिकालका है। तिस कारणसे दूसरे शरीरोंके सम्बन्धसे पहिले आत्माको एकान्तरूपसे अमूर्तपना नहीं है। जिससे कि उस शरीरके सम्बन्धकी असिदि हो जाय। जिस समय तैजस और कार्मण शरीरोंको वर्तमानमें सम्बन्ध हो रहा है, उस सम्बन्धसे पहिले भी उस आत्माका पूर्ववर्ती तैजस और कार्मण शरीरोंको साथ सम्बन्धका सद्भाव था। और उससे भी पहिले तीसरे उन तैजस कार्मण शरीरोंके सम्बन्धकी सन्तान बन रही है। हां, प्रत्येक विशिष्ट विशिष्ट असाधारण किसी तैजस या कार्मणका सम्बन्ध हो जानेसे वही सादिपना उनका व्यवस्थित है। विशिष्ट असाधारण किसी तैजस या कार्मणका सम्बन्ध हो जानेसे वही सादिपना उनका व्यवस्थित है।

नतु कस्यचित्रानादिसंबंधे तेऽतः परश्ररीरसंबंधातुपपत्तिरित्याशंकायामिदमाइ ।

यहां कोई शंका करता है कि सम्भवतः किसी किसी जीवके वे तैजस, कार्मण, शरीर तो अनादि सम्बन्धवाळे नहीं हैं। अतः जिस आत्माके तैजस या कार्मणका सादि सम्बन्ध हुआ है, उस अमूर्त आत्माके इस कारण दूसरे औदारिक आदिक मूर्त शरीरोंके सम्बन्ध होनेकी असिद्धि हो जावेगी। इस प्रकार आशंका होनेपर श्री उमास्वामी इस अगळे सूत्रको कह रहे हैं।

सर्वस्य ॥ ४२ ॥

सम्पूर्ण संसारी जीवोंके ये दोनों ही शरीर होते हैं। अर्थात् कोई भी संसारी जीव ऐसा नहीं है जिसे कि वे तैजस कार्मण शरीर प्रवाह रूप करके अनादि काळसे छगे हुये नहीं होंय। सभी संसारी जीव कर्मोंसे वंध रहे हैं।

सर्वस्य संसारिणस्तैजसकार्मणश्चरीरे तयानादिसंबंधे न पुनः कस्यचित्सादिसंबंधे येना-त्यनः शरीरसंबंधानुपपत्तिः । कुतः इत्याइ ।

सम्पूर्ण संसारी जीवोंके वे तैजस कार्मण शरीर तिस प्रकार धारारूपसे अनादि सम्बन्धवाले हैं। किन्तु फिर किसी भी एक जीवके वे मूल्कूपसे सादि सम्बन्धवाले नहीं हैं, जिससे कि आत्माके साथ औदारिक आदि शरीरोंके सम्बन्ध हो जानेकी असिद्धि हो जाय। कोई यहां आक्षेप करता है कि किस प्रमाणसे आपने यह जाना कि वे दोनों शरीर सभी जीवोंके अनादि सम्बन्धवाले हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अगली वार्तिकमें यों समाधान बचन कहते हैं।

सर्वस्यानादिसंबंधे चोक्ते तैजसकार्यणे । शरीरांतरसंबंधस्यान्यथानुपपत्तितः ॥ १ ॥

सभी जीवोंके वे तैजस और कार्मण शरीर (पक्ष) अनादि काल्से सन्बन्ध रखनेवाले कहें जा चुके हैं (साध्य) अन्य शरीरोंके सम्बन्ध होनेकी अन्यथा अनुपपित होनेसे (हेतु) अर्थात्—मूर्त पदार्थका ही दूसरे मूर्त पदार्थके साथ सम्बन्ध हो सकता है । अमूर्त आकाशमें तल्वार या विष अपना प्रभाव नहीं जमा सकते हैं । परतंत्र हो रहा यह आत्मा विजातीय पदार्थके साथ तभी बंध सकता है जब कि पहिलेसे अनादि कालीन कर्मोंके साथ बंध रहा मूर्त होय, अन्यथा नहीं । एतावता जीवके साथ उन दो शरीरोंका अनादिसम्बन्ध सिद्ध हो जाता है ।

तैजसकार्मणाभ्यामन्यच्छरीरमौदारिकादि तत्संबंधोस्मदादीनां तावत्सुप्रसिद्ध एव स च तैजसकार्मणाभ्यां संबंधोनादिसंबंधमंतरेण नोपपद्यते ग्रुकस्यापि तत्संबंधप्रयोगात् ।

तैजस और कार्मण शरीरोंसे न्यारे शरीर औदारिक आदिक हैं। उन औदारिक आदिकोंका सम्बन्ध तो हम आदि संसारी जीवके भछ प्रकार प्रसिद्ध ही है और वह तैजस और कार्मणके साथ हो रहा सम्बन्ध माने विना नहीं बन सकता है। अन्यथा मुक्तजीवके भी उन शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेका प्रयोग होने छग जावेगा, जो कि किसीने नहीं माना है। अतः तैजस और कार्मणका जीवके साथ अनादिकाछीन सम्बन्ध मानना चाहिये। तभी जीवका औदारिक आदि शरीरोंके साथ सम्बन्ध होना बन सकेगा जो कि प्रायः सभी जीवोंके प्रत्यक्षगोचर है।

अयैतानि अरीराणि युगपदेकस्मिजात्मनि कियंति संभाव्यंत इत्याइ।

यहां श्री उमास्त्रामी महाराजके प्रति किसीका प्रश्न है कि ये शरीर एक आत्मामें एक समयमें अधिकसे अधिक कितने हो रहे सम्भव जाते हैं है ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अप्रिमस्त्रको स्पष्टकर कह रहे हैं।

तददीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः ॥ ४३ ॥

एक जीता और कार्मणहारीरको आदि छेकर विकल्प प्राप्त किये जा रहे ये शरीर एक कालमें एक आत्मामें चारतक हो सकते हैं।

तद्ग्रहणं मकुतश्रराद्व्यमितिनिर्देशार्थमादिशन्देन व्यवस्थावाचिनान्यपदार्था दृतिः, तेन तैंजसकार्यणे आदिर्येषां श्ररीराणां तानि तदादीनीति संप्रतीयते । भाज्यानि पृथक्कर्तव्यानि । पृथक्त्वादेव तेषां भाज्यग्रहणयनर्थकमिति चेव्, वसैकस्यचिद्वित्रिचतुःशरीरसंवंधविद्यागोपप्रचेः। युगपदिति कालेकत्वे वर्तते, आङ्गिविध्यर्थः । तेनैतदुक्तं भवति कचिदात्मनि विश्रहगत्याप्रकेद्वे एव तेजसकार्यणे शरीरे युगपत्संभवतः, कचित् त्रीणि तेजसकार्यणविक्रियकाणि, तेजसकार्य-णौदारिकाणि वा कचिचत्वारि तान्यवाद्यारकसहितानि विक्रियिकसहितानि वा ।

प्रकरण प्राप्त तैजस और कार्मण इन दोनों शरीरोंका प्रतिनिर्देश (परामर्श) करनेके लिय इस सूत्रमें तत् शन्दका प्रहण किया है । सर्वज्ञकी आम्नाय धारासे चले आ रहे आगमके अनुसार व्यवस्थाको कहनेवाले आदि शब्दके साथ तत् शब्दकी अन्य पदार्थको प्रधान रखनेवाली बहुवीहि समास वृत्ति कर छी जाती है। तिस कारण पूर्वसूत्रोंमें व्यवस्थाको प्राप्त हो रहे शरीरोंकी आनुपत्री अनुसार जिन शरीरोंकी आदिमें तैजस और कार्मण शरीर हैं, वे तदादीनि इस पदके द्वारा मछे प्रकार प्रतीत कर लिये जाते हैं। अवयवके साथ विप्रह है और बृत्तिका अर्थ समुदाय है। अतः तैजस और कार्मण भी छे लिये जाते हैं । सूत्रमें पडे हुये भाज्यानि इस शब्दका अर्थ ''संभावना प्रयुक्त ष्ट्रथक् पूर्थक् करने योग्य हैं " यह समझ लेना । यदि यहां कोई यों शैका करे कि ये शरीर परस्पर में और जीवसे प्रथक्ष्मूत हैं ही, क्योंकि जीव उपयोगमय त्यारा है और वर्ण, गंप, स्पर्श, रस, वाले शरीर न्यारे हैं, अतः मूत्रमें भाज्यका प्रहण करना न्यर्थ है । यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि बह रांकाकारका वचन ठीक नहीं है। क्योंकि किसी किसी एक आत्माके दो, तीन, अथवा चार राश-रोंके साथ सम्बन्ध हो जानेका विभाग बन रहा है। यह भाज्य शहका तारपर्य है। इस सूत्रमें पडे हुये " सुगपत् " इस शहका अर्थ काळके एकपनेमें अवर्तता है । आङ्का अर्थ अभिविधि है, जिससे कि चार संख्यावाले शरीर भी प्रहण कर छिये जाते हैं। आकृका अर्थ मर्यादा करनेपर चार शरीरका सम्बन्ध छूट जाता । तिस कारण सूत्रका समुद्रित वाक्य बनाकर वह कह दिया जाता है कि मरकर विग्रह गतिको प्राप्त हो रहे किसी एक अक्षमारें तैजस और कार्मण ये दो ही शरीर एक कारुमें संभवत हैं। हां, जन्म छे चुक्रनेपर किसी देव या भारकी जीवके तैजस, कार्मण, और वैक्रियिक ये तीन शरीर पाये जाते हैं अथवा कहीं मनुष्य या तिर्थचके तैजस, कार्मण, और औदारिक ये तीन शरीर संभव जाते हैं। कहीं छठे गुणस्थानवर्ती मुनिके ये ही तीनों शरीर आहारकसे सहित होते हुये चार पाये जाते हैं अथवा वे तैज्य, कार्मण, और औद्धारिक बादि वैकियिक कारीरसे सहित हो जांग तो भी एक समयमें एक साथ चार शरीह बीमन जाते हैं। बंदाये विकिश्तामेंग खोरा ग्रहण की गई आहरियर्ग- णासे स्वकीय पुरुषार्थ दारा देव नारिक्यों करके बना किया गया वैक्रियिक दारीर है। यथार्थ रूपसे वैक्रियिक दारीर है, फिर भी " बादरते जवाऊ पंचिदियपुण्णगा विगुन्वंति, ओग्रालियं सरीरं विगुन्वण्णं हवे जेसि " इस गाथा अनुसार कतिषय तैजस कायिक, वायुकायिक या कोई कोई पंचेन्द्रिय तिर्यच अथवा भोगभूमियां, चक्रवर्ती आदि मनुष्योंके जो पृथक् या अपृथक् विक्रियातमक दारीर है वे भी वैक्रियिक दारीर माने जाते हैं। अतः तैजास, कार्सण्यके युक्त ही सह औदारिक साथ वैक्रियिक दारीरके साथ वैक्रियिक दारीरके संभव जानेसे एक जीवके ये चार दारीर भी युगपत् सम्बद्ध हो रहे पाये जाते हैं।

पंच त्वेकत्र युगपम संभवंतीत्याइ।

पांचों शरीर तो एक जीवमें एक समय (एकदम) में नहीं संभवते हैं, इस बातकों श्री विद्यानन्द स्त्रामी अग्निमवार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

तरावीन शरीराणि भाज्यान्येकत्र देहिनि। सकृत्तंत्याचतुभ्यों न पंचानां तत्र संभवः ॥ १॥

शरीरधारी एक आत्मामें एक समयमें विकल्प प्राप्त हो रहे उन तैजस, कार्मण दो शरीरोंको आदि लेकर चार शरीरोंतक पाये जाते हैं। उस आत्मामें पांचों सरीरोंके होनेकी एक बारमें संभावना नहीं हैं। क्योंकि " वेगुव्वियआहारयिकिरिया ण समं पमत्तविरदिन्ह " छटे गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीरका सद्भाव हो जानेपर उसी समय वैक्रियिक शरीर नहीं उपज सकता है। वैक्रियिक और आहारकका विरोध है।

व हि वैकियिकाहारकयोर्धुगपस्संभवो पतः कवित्यंचाप्र स्युः ।

सहानमध्यान नाम म विशेष होमेसे वैक्रियिक और आहारकका युगप्त सद्भाव नहीं पाय जाता है। जिससे कि जिसी विसी आत्मामें पांचों भी शरीर सम्भव जाते। अर्थात् — तैजल और कार्बिणका सदा सहचरमात्र होमेसे एक आत्मामें एक समय केवल एक शरीर भी नहीं सम्मक्ता है जैसा कि ब्रानोंमें अकेला केवलबान संभव गया था। तथा वैक्रियिक और आहारक ऋडिक विसेष पड रहा होमेसे पंजशरीर भी एक साथ नहीं पाये जाते हैं।

कि युनरत्र करीरं निरुपभोगं कि वा सोपभोगमित्वाह।

कोई प्रश्न उठाता है कि इन पांचों शारिरोमें फिर कौनसा शरीर उपमागरहित है ! अध्व कौनसा शरीर उपभोगसहित है ! अर्थाव — पंचित्रिय जीव अपने औदास्कि शरीर के रूप, १पर्श ताइन, अभिघात, आदिको जैसे इन्द्रियों द्वारा उपलिश्च कर लेता है, बैसे पौद्रकिक पांचों शरीरों रूप, रस, या उन शरीरोंके अन्यवोंका संयोग अथवा विभाग हो जानेपर उपजे हुये शहुका इन्द्रिय द्वारा ज्ञान क्या हो जाता है ! अथवा क्या किसी किसी शरीरके पीद्रलिक भावोंका इन्द्रियोंसे उपलम्भ नहीं भी हो पाता है ! बताओ । इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

निरुपभोगमंत्यम् ॥ ४४ ॥

शरीरोंको गिनानेवाली सूत्रकथनीके अनुसार अन्तमें प्रयुक्त किया गया कार्मण शरीर तो अन्त्य है। इन्द्रियों द्वारा उसके शद्ध, रूप, रस, आदिकी उपलब्धि नहीं हो सकनेसे कार्मण शरीर उपभोगरहित है।

भागपेक्षया अंत्यं कार्मणं तिभरूपभागिमति । सामध्यीदन्यत्सोपभोगं गम्यते । कर्मा-दानसुखानुभवनहेतुत्वात्सोपभोगं कार्मणिमति चेश्व, विवक्षितापरिक्वानात् । इंद्रियनिमित्ता हि श्रद्धाष्टुपल्लिधरूपभोगस्तस्माभिष्कांतं निरूपभोगिमति विवक्षितं ।

पूर्ववर्ती चारों शरीरोंकी अपेक्षा करके अन्तमें कहा गया पांचवां कार्मण शरीर अन्य है, वह इन्द्रियों द्वारा उपभोग करने योग्य नहीं है। अनिधज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी अथवा केवलज्ञानी महाराज यद्यपि कार्मण शरीरके रूप, रस, राद्व, आदिकोंका विराद प्रत्यक्ष कर छेते हैं, किन्तु वे भी बहिरंग इन्द्रियों द्वारा कार्मण शरीरके रूप रस आदिका सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या मतिज्ञान नहीं कर पाते हैं। जैसे कि सर्वज्ञको परमाणुके रूप, रस, आदिका इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं हो पाता है. शृंगार रसमें डब रहा पुरुष बींक औदारिक या वैक्रियिक शरीरमें पाये जा रहे गन्ध, स्पर्श, रूप, आदिका उपभोग कर सकता है. दिन रात भोगोंमें लीन हो रहा देवेंद्र भी देवियोंके कार्मण शरीरका इन्द्रियों द्वारा परिभोग नहीं कर सकता है । अतः अन्तका शरीर इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य नहीं है । इस कार्मण शरीरके उपभोग होनेका निषेध कर देनेसे विना कहे ही राद्धसामध्ये द्वारा यह अर्थ जान छिया जाता है कि रोष अन्य रारीर तो इन्द्रियों द्वारा उपभोगसहित हो रहे हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि कार्मण शारीरका अवलम्ब लेकर आत्मा अपने योगनामक प्रयत्न (पुरुषार्थ) करके कर्मोंका प्रहृण करता है । कार्मण शरीर द्वारा आत्मा सुखका अनुभव करता है । अतः कर्मप्रहण, सुखानुभव, शरीररचना, वचन बोळना आदिका हेतु होनेसे कार्मणशरीर भी उपभोग सहित है, जैसे कि भोग, उपभोग योग्य सामग्रीका साधन होनेसे रुपया उपभागसिंहत मामा जाता है। आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना । क्योंकि प्रकरण अनुसार विवक्षा प्राप्त हो रहे उपभोगका शंकाकारको परिज्ञान नहीं है। कारण कि इन्दियोंको निमित्त कारण मान कर हुई शद्ध, रूप, आदिकोंकी इति हो जाना यहां उपभोग माना गया है। उस उपभोगसे जो बाहर निकाल दिया गया है, वह मिरूपमोग है, यह अर्थ यहां विवक्षाप्राप्त है।

तैजसमप्येतं निरुपभोगमस्तिति चेम, तस्य योगनिमित्तत्वाभावादनिषकारात् । यदेव हि योगनिमित्तमौदारिकादि तदेव सोपभोगं मोच्यते निरुपभोगत्वादेव च कार्मणयौदारिका-दिभ्यो भिकं निश्रीयत इत्याह ।

यहां किसीका प्रश्न है कि बहिरंग इन्द्रियोंद्वारा जिसके शब्द, रूप, आदिको नहीं जाना जा सके. वह शरीर यदि निरुपभोग है, तब तो इस प्रकार तैजसक्षरीर भी उपभोगरहित होजाओ। ऋदिधारी मुनि या सर्वावधिक्रांनी अथवा देवेंद्र, अहमिन्द्रोंतकको इन्द्रियोंद्वारा तैजसशारिक रूप, रस. आदिकी इप्ति नहीं हो पाती है। आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना। क्योंकि योगका निमित्त-कारण नहीं होनेसे उस तैजसशरीरका यहां प्रकरणमें अधिकार नहीं है। जब कि जो ही आत्म-प्रदेशपरिस्पन्दस्वरूप योगके निमित्तकारण हो रहे औदारिक वैक्रियिक आदिक शरीर हैं, वे ही उपभोगसहित भले प्रकार कहे जा रहे हैं। निरुपभोग होनेसे ही कार्मण शरीर इन औदारिक आदिकोंसे भिन्न हो रहा निश्चय किया जा रहा है। भावार्थ सात प्रकारके काययोगोंके निमित्त कारण औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और कार्मण ये चार शरीर हैं। औदारिक काययोग, औदा-रिक मिश्रकाययोग, वैक्रियिक काययोग, वैक्रियिक मिश्रकाययोग, आहारक काययोग, आहारक मिश्रकाययोग, कार्मण काययोग, अथवा सत्य, असऱ्य, उभय, अनुभय, मनोयोग या वचनयोग इन पन्द्रह योगोंमेंसे यथायोग्य जिस समय कोईसा भी एक योग होगा, उसी योग करके आहार काँगा. भाषा वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणाके समान तैजस वर्गणा भी इनके साथ विसटती हुई चली आती है। जब कि वचनयोगसे आहारवर्गणा, मनोवर्गणा, कार्मणवर्गणा, खिच आती है। अथवा विप्रह गतिके कार्मणयोगसे सूक्ष्म स्थूल शरीर भाषा और मनके उपयोगी वर्गणाओंका आक-र्षण हो रहा है, ऐसी दशामें तैजस योगको माने विना भी तैजस वर्गणाका आकर्षण हो सकता है । कत यह है कि तैजसवर्गणा आत्माके प्रदेश परिस्पन्दका अवलम्ब नहीं है। भिन्न भिन्न पदार्थीमें न्यारी न्यारी जातिकी राक्तियां हैं। जाडेके दिनोंमें शीतजळ दातों या शरीरको कंपा देता है, अग्नि या उष्णजल नहीं कंपा पाता है, आत्मप्रदेश परिस्पन्द स्वरूप इन्ययोगका अन्तरंग कारण भावयोग है। " पुमालविवाइ देहोदयेण मणवयणकायजुत्तस्स, जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारणं जोगो " जो कि पहिले गुणस्थानसे लेकर तेरहवें तक पाया जा रहा आत्माका पुरुषार्थ विशेष है। जैसे लोटाका जल. घडेका जल, यों उसी जलके आश्रय भेदसे कई भेद कर दिये जाते हैं, उसी प्रकार संचित मन, वचन, काय, या शहण करने बेग्य वर्गणाओंका अवस्थ हो जानेसे योगके पन्द्रह भेद कर दिये गये हैं तैजल शरीरके निमिन्नले आक्रामें काम नहीं होने पाला है इस क्या करें ? । अतः योगके निमित्त हो रहे शरीरों के उपभोगसिहतपन और उपभोगरिहतपनका यहां निर्णय किया गया है। भीदारिक शरीरीके हाथोंकी ताली बजानेपर हुये शद्भकी या औदारिकके रूप, गंध, आदिकी इन्द्रियों द्वारा उपलम्ब हो रही है । वैक्रियिक शरीरके रूप आदिकोंका देव और नारिकयोंको प्रत्यक्ष हो रहा है। यदि देव दिखाना चाहें तो उनके शरीरके रूपको मनुष्य भी नेत्र द्वारा देख छेते हैं। नाकसे गंधको सूंघ छेते हैं। हस्तप्रमाण धौला आहारक शरीर भी अतीन्द्रिय नहीं है। हां, तैजस और कार्मण अतीन्द्रिय हैं। इन्द्रियों द्वारा उनका उपभोग नहीं कियां जा सकता है। इसी बातको प्रन्थकार श्री विद्यानन्द आचार्य महाराज अप्रिम वार्तिक द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

अंत्यं निरुपभोगत्वाच्छेषेभ्यो भिद्यते वपुः । शब्दाद्यनुभवो ह्यस्मादुपभोगो न जायते ॥ १॥

अन्तमें होनेवाला कार्मण शरीर तो उपमोगराहित होनेसे योगनिमित्त हुये अवशिष्ट शरीरेंसे भिन्न होजाता है। कारण कि इस कार्मणशरीरसे शद्ध, रूप आदिका अनुभव होजाना रूप उपमोग नहीं उत्पन्न हो पाता है।

औदारिकं किंविशिष्टमित्याह।

कोई पूंछता है कि किन विशेषणोंसे युक्त हो रहा औदारिक शरीर है है बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको कह रहे हैं।

गर्भसंमूर्छनजमाद्यम् ॥ ४५॥

मनुष्य या तिंर्यचोंके गर्भ और संमूर्छन जन्मसे उत्पन्न हुये शरीर तो आदिके औदारिक शरीर माने जाते हैं।

गर्भसंमूर्छनजं पाठापेक्षयाद्यमौदारिकं तद्गर्भजं संमूर्छनजं च प्रतिपत्तव्यं। तत एव सोप-भीगाभ्यामपि पराभ्यां ऋरीराभ्यां तद्भिद्यते इत्याह ।

गर्भजन्य और संमूर्क्रनजन्यका अर्थ यह है कि " औदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि " इस सूत्र पाठकी अपेक्षा करके आदिमें उपात्त किया गया औदारिक शरीर है वह गर्भ-जन्मा जीवोंके और संमूर्क्रन जन्मवाछे जीवोंके सम्भवरहा समझ छेना चाहिये। तिस ही कारणसे उप-मोगसहित होरहे परछे वैक्षियिक और आहारक दो शरीरोंसे वह औदारिक शरीर भिन्न होरहा है। इसी बातको प्रंयकार श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा स्पष्ट कहते हैं।

आद्यं तु सोपभोगाभ्यां पराभ्यां भिन्नमुच्यते । गर्भसंमूर्छनाद्धेतोर्जायमानत्वतो भिदा ॥ १ ॥

सूत्रक्रमकी अपेक्षा आदिमें होनेवाला अथवा मीक्षप्राप्तिकी अपेक्षा प्रधान होरहा आह औदा-रिक शरीर तो (पक्ष) उपमोगसहित होरहे परले दो शरीरोंसे भिन कहा जाता है (साध्यदल) उन वैकियिक, आहारक, दो शरीरोंसे मिन हो करके गर्भहेत, और संमूर्छनहेतुसे उपज रहा होनेसे (हेतु) अर्थात्—उपभोगसहित तीन शरीरोंमें गिनाया जा रहा, औदारिक शरीर अपने हेतु माने गरे गर्भ, संमूर्छन जन्मका भेद होजानेसे शेष दो शरीरोंकी अपेक्षा निराठा ही है ।

यथैव कार्मणं निरूपभागत्वात्सोपभागभ्यो भिकं तथौदारिकं सोपभागमपि कारणभे दाद पराभ्यां भिकामभिधीयते ।

जिस ही प्रकार कार्मणशरीर उपमोगरहित होनेसे उपभोगसहित शेष शरीगेंसे भिन्न है उसी प्रकार उपभोगसहित भी औदारिकशरीर अपने कारणोंका भेद हो जानेसे परछे दो शरीरोंसे भिन्न हो रहा कहा जाता है।

वैकियिकं कीह्शमित्याह ।

,

औदारिक शरीरसे परली ओर कहा गया वैिक्तायिक शरीर भला कैसा क्या है ? ऐसी जिज्ञास होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज भविष्य सूत्रका अवतार करते हुये कह रहे हैं।

औपपादिकं वैकियिकम् ॥ ४६ ॥

उपपाद जन्मसे होनेवाला देव, नारिकयोंका औपपादिक शरीर तो वैक्रियिक शरीर है।

उपपादो व्याख्यातः तत्र भवमीपपादिकं तद्वैिकायिकं बोद्धव्यं । कुतः पुनरौदारिकादिदं भिभामित्याह ।

" संमूर्छनगर्भोपपादा जन्म " इस सूत्रके विवरणमें उपपादका व्याख्यान किया जा चुका है। देव और नार्राक्षयोंके उपजनेका स्थानविशेष उपपाद कहा जाता है। उस उपपादमें उपज रहा शरीर औपपादिक है, वह सब वैक्रियिक शरीर समझ लेना चाहिये। कोई पूछता है कि किस कारणसे यह वैक्रियिक शरीर फिर औदारिकसे भिन्न है ! बताओ। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य अग्रिम वार्त्तिकको कहते हैं।

औपपादिकतासिद्धेर्भित्रमौदारिकादिदं । ताबद्धैकियिकं देवनारकाणामुदीरितम् ॥ १ ॥

उपपाद जन्मसे उपजनेकी सिद्धि हो जानेसे यह देव नारिकयोंका वैक्रियिक शरीर तो सूत्र-द्वारा उस औदारिकसे मिन्न कहा जा चुका है।

न सौदारिकमेव वैकियिकं ततोन्यस्यौपपादिकस्य देवनारकाणां अरीरस्य वैकियिक-त्वात् । तच कारणभेदादौदारिकाञ्चिकमुच्यते । कारण कि औदारिकरारीर ही तो वैक्रियिक नहीं है। किन्तु उससे न्यारे देव नारिक्रयोंके औपपादिक शरीरको वैक्रियकपना है और वह वैक्रियिक शरीर अपने कारणोंकी विभिन्नता द्वारा औदारिकसे भिन्न कहा जाता है।

किमतदेव वैक्रियिकमुतान्यदपीत्याइ।

क्या यह उपपादजन्मवाळा शरीर ही वैक्रियिक शरीर है श्रिथवा क्या अन्य भी कोई शरीर वैक्रियिक है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अभिम सुत्रको कह रहे हैं।

लिब्धप्रत्ययं च॥ ४७॥

लिश्यको कारण मानकर उपजा हुआ विक्रियात्मक औदारिक शरीर भी वैक्रियिक शरीर माना गया है |

तपोतिश्वयद्धिर्श्लिशः सा प्रत्ययः कारणपस्यति छन्धिप्रत्ययं वैक्रियिकमित्यनुवर्तते च सन्दस्तुक्त समुच्चयार्थस्तेन छन्धिप्रत्यमीपपादिकं च वैक्रियिकमिति संप्रत्ययः।

अतिशयपुक्त तपस्या करनेसे विशेषऋदिकी प्राप्ति हो जाना यहां प्रकरणमें लिश्य कही गयी है। जिस शरीरका कारण वह लिश्य है, वह लिश्यप्रत्यय वैक्रियिक शरीर है। जैसे कि श्री विष्णुकुमार महाराजने स्वकीयऋदि स्वरूप पुरुषार्थ द्वारा लम्बा चौडा वैक्रियिक शरीर बनाया था। पूर्व स्प्रसे " बैक्रियिकं " इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है, और इस सूत्रमें पडा हुआ च शब्द तो पूर्वमें कहे जा चुके वैक्रियिककी विधिका समुचय करनेके लिये है। तिन वैक्रियिक पदकी अनुवृत्ति और समुखय वाचक च शब्द करके सूत्रका अर्थ यों मले प्रकार जान लिया जाता है कि लिश्यको कारण मानकर हुआ शरीर वैक्रियिक है, तथा उपपाद जन्मसे उपजनेवाले देव नारिकयोंका शरीर तो वैक्रियिक है, यह पूर्व सूत्रमें कहा ही जा चुका है।

नन्विदमौदारिकादेः कथं भिक्रमित्याह ।

यहां किसीका प्रश्न उठता है कि औदारिकशरीरधारी तपस्त्रियोंके ऋदिविशेषसे उत्पन हुआ शरीर तो औदारिक ही होना चाहिय । जब कि उन मुनियोंके बैिकियिक काययोग नहीं है, तो उनका वह शरीर वैकियिक नहीं हो सकता है । अतः बताओं कि यह लब्धिसे उपजा शरीर भका औदारिक आदिसे मिन्न किस ढंगसे माना गया है ! ऐसी जिन्नासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी समाधान करनेके लिये आप्रिम वार्तिकको कहते हैं ।

किंचिदौदारिकलेपि लिब्धिप्रत्ययता गतेः। ततः पृथक् कथंचित्स्यादेतत्कर्मसमुद्भवं॥१॥ विकिया करनेवाले मुनियोंका औदारिकशरीर ही अनेक प्रकारकी रचनाओंको प्राप्त हो गया है। अतः विकियायुक्त शरीरमें कुछ कुछ औदारिकपना होते हुये भी लिन्धको उसके कारणपनेका निर्णय हो जानेसे यह लिन्धकन्य उत्पन्न हुआ शरीर उस औदारिकसे कर्यन्वित् भिन्न समझा जायगा। तथा इस वैक्रियिक शरीरनामक नामकर्मका उदय हो जानेपर उत्पन्न हुये देव नारक शरीरोंसे भी यह कथंचित् भिन्न है। मनुष्य या तिर्येचोंके तो विक्रिया करते समय भी औदारिक शरीरसंहक नामकर्मका ही उदय है। मनुष्यगतिमें १०२ एक सौ दो प्रकृति तथा तिर्येच गतिमें १०७ एक सौ सात प्रकृतियां उदय होने योग्य है। इनमें वैक्रियिकशरीर नहीं गिनाया गया है। अतः विक्रियायुक्त मनुष्योंका औदारिक शरीर होते हुये भी अणु, महत्, आदि विविधकरणस्वरूप विक्रियाक प्रयोजनवाला होनेसे लिन्धप्रत्यय शरीरको वैक्रियिक कह दिया गया है। सिद्धान्तशास्त्रमें तेजस्कायिक, वायुकायिक जीव और किन्हीं किन्हीं पैचेंदिय तिर्येच मनुष्योंके कदाचित् वैक्रियिक शरीरका मी सद्भाव कहा है।

यथौदारिकनामकर्मसमुद्भवमौदारिकं तथा वैक्रियिकनामकर्मसमुद्भवं वैक्रियिकं युक्तं तथा तदलिभिमत्ययं वैक्रियिकं । न हि लिभिरेवास्य कारणं वैक्रियिकनामकर्मोदयस्यापि कारणत्वादन्यथा सर्वस्य वैक्रियिकस्य तदकारणत्वमसंगात् । तेनेदमौदारिकत्वेपि कथंचिदौ-दारिकाद्भिकं लिभिमत्ययत्विभयात् । किंचिदेव हि लिभिमत्ययं वैक्रियिकमिष्टं न सर्वम् ।

जिस प्रकार औदारिक शरीर संक्षक नामकर्मके उदयसे अच्छा उत्पन हुआ शरीर औदारिक कहा जाता है, तिस ही प्रकार नामकर्मकी शरीरनामक प्रकृतिके उत्तर भेद हो रहे वैक्रियिकशरीर नामक नामकर्मसे बहुत अच्छे उत्पन्न हुये शरीरको वैक्रियिक शरीर कहना उचित है। किन्तु तिस प्रकार वैक्रियिकशरीर नामक नामकर्मके उदयसे उत्पन्न हुआ वह देव नारिकयोंका वैक्रियिक शरीर तो लिक्षको कारण मानकर नहीं उपजा है और तपित्रयोंके वैक्रियिक शरीरमें कारण तो लिक्ष है। इस वैक्रियिक शरीरका कारण केवल लिक्ष ही नहीं है। किन्तु देव, नारिकयोंके, शरीरमें वैक्रियिक नामकर्मका उदय भी कारण केवल लिक्ष ही नहीं है। किन्तु देव, नारिकयोंके, शरीरमें वैक्रियिक नामकर्मका उदय भी कारण है अन्यथा यानी औपपादिकोंके भी शरीरका अन्तरङ्ग कारण यदि वैक्रियिक नामकर्मका उदय भी कारण है अन्यथा यानी औपपादिकोंके भी शरीरका अन्तरङ्ग कारण यदि वैक्रियिक शरीरके कारण नहीं हो सकनेका प्रसंग होगा। तिस कारण औदारिक शरीरपना होते हुये भी यह तपिक्षयोंका विक्रियालक शरीर सार्विदक औदारिकसे कर्षाचित् भिन्न है। क्योंकि उस विक्रियालक शरीर के विषयमें लिक्ष्यमें लिक्ष्यको कारण हो जानेका क्षानी जीवोंको निश्चय हो रहा है। कोई ही वैक्रियिक शरीर लिक्ष्यमें लिक्ष्यमें लिक्ष्य कारण है तथा औदारिक शरीर तो लिक्ष्यय नहीं हैं। देव नारकियोंका वैक्रियिक शरीर न्यारा है तथा औदारिक शरीर शरीर वोक्षयिक नामक सिद्धांत शाकोंके प्रकरणोंमें मनुष्योंके वैक्रियिक शरीरका करारिक होना इष्ट किया है।

तैजसमपि किंचिचादशमित्याह।

श्री उमास्वामी महाराजके प्रति किसीका प्रश्न है कि क्या तैजस शरीर भी कोई तिस प्रकार किका कारण मानकर उपज जाता है ? आज्ञा दीजिये, यो विनीत शिष्यकी जिज्ञासाको हृदयङ्गत कर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अप्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

तैजसमपि ॥ ४८ ॥

किन्हीं किन्हीं तपस्वियोंके तैजस शरीर भी छन्त्रिको कारण मानकर उपज जाता है। छन्धित्रत्ययमित्यतुवर्तते, तेन तैजसमिप छन्धित्रत्ययमिप निश्चेयं।

पहिलेके " लिश्यप्रत्यंय च " सूत्रसे लिश्यप्रत्ययं इस पदकी अनुवृत्ति कर ली जाती है तिस कारण तैजस शरीर भी कोई कोई लिश्यको कारण मानकर भी उपज बैठता है, यह निश्चय कर लेना चाहिये। पहिला अपि शद्ध बैक्तियिकका साहित्य करनेके लिये है और दूसरा अपि शद्ध तौ सभी संसारी जीवोंके साधारण अलिश्यप्रत्यय तैजस शरीरका सहभाव करनेके लिये सार्थक है।

तदपि स्रन्धिमत्ययतागतेरेव भिन्नमीदारिकादेरित्याइ।

लिबको कारण मानकर उपजनेकी इति हो जानेसे ही वह लिब्बप्रत्यय तैजस शरीर भी औदारिक, वैक्रियिक, आदिक शरीरोंसे भिन्न है, इसी बातको प्रन्थकार अप्रिमवार्तिक द्वारा कह रहे हैं।

तथा तेजसमप्यत्र लिब्धप्रत्ययमीयतां। साधारणं तु सर्वेषां देहिनां कार्यभेदतः॥ १॥

जिस प्रकार लाब्धप्रत्यय वैक्रियिक शारीर है उसी प्रकार यहां तैजस शारीर भी लिब्धप्रत्यय समझ लेना चाहिये। हां, पिहले गुणस्थानसे प्रारम्भ कर चौदहवें गुणस्थानतक सम्पूर्ण संसारी जीवोंके पाया जानेवाला साधारण रूपका जो तैजस शारीर है वह तो अपने अपने कर्तव्य कार्योंके भेदसे निराला है अर्थात्—तेजोवर्गणासे बन कर सभी संसारी जीवोंके पाया जा रहा सूक्ष्म तैजसशरीर न्यारा है, जिसका कि कार्य सभी संसारी जीवोंके शारीरमें साधारण रूपसे प्रभाकी उत्पत्ति कर देना है। शारीरमें विलक्षण कांति या विशेष लावण्य तो आदेय संझक्ष नामकर्मका कार्य है, तथा नियतदेशमें सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, अग्निदाह, आदि कर देना इस लिब्धप्रत्यय तैजसशरीरका कार्य है। इस कारण कार्मणशरीरके साथी साधारण तैजसशरीरसे इस लिब्धप्रत्यय तैजसशरीरका कार्य है। इस कारण कार्मणशरीरके साथी साधारण तैजसशरीरसे इस लिब्धप्रत्यय तैजसमें भेद है। औदारिक, वैक्रियिक, आहारक और कार्मणसे तो इसका भेद सुप्रसिद्ध ही है।

स्विधमत्ययं तैजसं द्विविधं, निस्सरणात्मकमिनःसरणात्मकं च । द्विविधं निःसरणात्मकं च । द्विविधं निःसरणात्मकं च प्रश्नस्ताप्रश्नस्तभेदात् स्रविधान्यत्वादेव भिन्नं श्वरीरांतरं गम्यतां, यत्तु सर्वेषां संसारिणां साधारणं तेजसं तत्स्वकार्यभेदाद्विक्रमीयतां ।

लिखको कारण मानकर उपजा जो तैजस शरीर है, वह दो प्रकारका है। एक तो श बाहर निकला हुआ निस्सरणात्मक है और दूसरा शरीरसे बाहर नहीं निकल रहा अनिस्सरणात्मक पहिला निस्सरणात्मक तैजसशरीर तो प्रशस्त और अप्रशस्त भेदसे दो प्रकारका है। जो त ऋषिके प्रसादकी अपेक्षा रखता हुआ और दुर्भिक्ष, महामारी रेगग आदि ज्याधियोंका निराकरण ह हुआ सुमिक्ष, सुख, शान्ति, अनुप्रह, आदिका संपादक है, वह प्रशस्त तैजस है। और जो अ कुछ हुये द्वीपायन मुनिके समान ऋषिके बामबाहुसे निकलकर इधर उधर कितने ही नियत है दग्ध करता हुआ पुनः मुनिके मूल्शरीरको भी दग्ध कर देता है वह पुतला अप्रशस्त तैजस है। या सातवें गुणस्थानसे उत्तरकर अत्यन्त कुद्ध हुये मुनिके पहिला गुणस्थान होजाता है। लिब्स कारणसे उत्पन्न हुआ होनसे ही यह तैजसशरीर भिन्न हो रहा अन्य शरीरोंसे निराला समझ चाहिये। किन्तु जो सम्पूर्ण संसारी जीवोंके साधारण रूपसे पाया जा रहा तैजसशरीर है बा अपने अपने कार्यके भेदसे भिन्न ही समझ लिया जाओ। औदारिक, वैकियिक, और आहारक, रोंके भीतर प्रविष्ट होरहा शरीरोंकी सामान्यदीतिका कारण अनिस्सरणात्मक तैजस है।

तैजसबैक्रियिकयोः लब्धिमत्ययत्वाविश्वेषादभेदमसंग इति चेन्न, कर्मभेदकारणकत् दोपपत्तेः। सत्यपि तयोर्लब्धिमत्ययत्वे तैजसबैक्रियिकनामकर्मविश्वेषोदयापेक्षत्वाद्वेदो युज्यत

यहां कोई शंका करता है कि लिन्धको कारण मानकर जब कोई तैजसशारिर उपज है और लिन्धनामक कारणसे किसी वैकियिक शरीरका भी उपजना स्वीकार किया गया है, दशामें कारणके अभेदसे कार्यका भी अभेद होजायगा। दोनों शरीरोंकी उत्पत्ति करनेमें लिन्धको कारण विशेषतारहित होकर विधमान है। अतः तैजस और वैकियिक शरीरोंके अभेद होजानेका प्रसंग आर आचार्य कहते हैं यह तो नहीं कहना। क्योंकि भिन भिन कमोंको कारण मानकर वे दोनों शरीर जते हैं। अतः दोनोंमें भेद बन रहा है। यचि उन दोनोंमें लिन्धप्रत्ययपना सामान्य रूपसे वि है, तो भी तैजस या वैकियिक इन दो विशेष नामकर्मोंके उदयकी अपेक्षा रखनेवाले होनेसे भेद पड जाना युक्तिपूर्ण ही है। अर्थात्—तपिस्वयोंमें या अन्य तियैच, मनुष्योंमें वैकियिव नामकर्मका उदय नहीं है, लिन्ध करके विकिया करते समय मुनिके औदारिक शरीर नामक नाम ही उदय है। किन्तु विकियात्मक प्रयोजनको धारनेवाले विशेष औदारिकशरीरको यहां "वैकि नामकर्म " यह विशेष संज्ञा दे दी गई है। तेजोवर्गणासे साधारण सूक्ष्म तैजसशरीर बनाया अथवा लिन्धप्रत्यय तैजस पुतला बनाया जाय, सर्वदा तैजसशरीर संज्ञक नामकर्मका उदय रहना स्पष्ट ही है। दूसरी बात यह है कि लिन्ध शद्ध मलें ही एकादश होय किन्तु दोनों लिन्ध जाति न्यारी न्यारी है। भिन्न कारणोंसे मिन्न कार्य हो जाना समुचित है।

संमत्याहारकं शरीरमुपदर्शयति ।

K

वैक्रियिक शरीर और प्रसंगप्राप्त विशेष तैजस शरीरका निरूपण कर चुकनेपर श्री उमास्वामी मंहाराज अब वर्तमान काल्में प्रकरण प्राप्त आहारक शरीरका निर्धारण कराते हैं ।

शुभं विशुद्धमञ्याघाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्येव ॥ ४९ ॥

श्चमकर्म माने गये आहारक काययोगका कारण होनेसे आहारक शरीर श्चम है। स्वयं मुख्यें भी क्रुभ है, जैसे कि ग्रुभ या परम अतीन्द्रिय सुखका कारण होरही अहिंसा निज गांठकी भी ग्रुभ और परम मुखस्वरूप है। और पूर्व कालमें उपार्जित विशुद्ध पुण्यकर्मका कार्य होनेसे आहारक शरीर विश्रद्ध है। निजस्तरूपमें भी विश्रद्ध है, धवल है, यानी सर्वार्थसिद्धिके देवोंके शरीर समान स्वच्छ श्रुक्क वर्ण है। आहारक शरीरसे किसी अन्य पदार्थको आघात नहीं पहुंचता है। अन्य पर्वत, जल, अग्नि आदि पदार्थीसे आहारकरारीरका भी न्याघात नहीं हो पाता है । ऐसा आहारक रारीर छठे गुणस्थान वर्ती प्रमादयुक्त संयमी मुनिके ही कदााचित् पाया जाता है। अर्थात्-छठे गुणस्थानवर्ती मुनि कभी लिधविशेषको जाननेके लिये या कभी सक्ष्मपदार्थका निर्णय करनेके लिये. जिनचैत्यालयोंकी वंदना करनेके लिये अथवा असंयमको दूर करनेके लिये, स्वकीय अव्यक्त पुरुषार्थ द्वारा आहा-रक शरीरको रचते हैं। निकटवर्ती स्थानोंमें केवली या श्रुतकेवलीका सन्निधान नहीं होनेपर उक्त प्रयोजनोंको साधनेके लिये दूरवर्ती केवलियोंके पास पहुंचनेमें स्थल औदारिक शरीरसे गमन करते हुये महान् असंयम हो जाना संमानित है। औदारिक शरीरसे वहां इतना शीव्र पहुंच भी नहीं सकते हैं। अतः मुनि महाराज इस धातुरहित, संहननरहित, शूभसंस्थान, स्वच्छ धीछे, अन्याचाति, आदारकशरीरको बनाकर अपने उत्तमांग शिरसे निकाळते हैं। आहारकशरीरमें आंखे, कान, नाक, हथेली, अङ्गली आदि सम्पूर्ण अंग, उपांग पाये जाते हैं । ढाई द्वीपमें कहीं भी विराज रहे के बली या श्रुतकेवली मुनिका दर्शन कर वह छौट आता है। अथवा जिनचैत्यालय या तीर्धकर महाराजके तप:कल्याणकका निरीक्षण कर छौट आता है. एक बार बनाया गया आहारकशरीर अन्तर्महर्त्ततक टिका रह सकता है, पश्चात् विघट जायगा ।

शुमं मनःशीतिकरं विशुद्धं संक्षेश्वरहितं अव्याघाति सर्वतो व्याघातरहितं च श्रद्धादु-क्तविश्वषणसमुख्यं । एवं विशिष्टमाहारकं श्वरीरमरित्नमात्रं प्रमचसंयतस्यैव मुनेर्नान्यस्येति प्रतिपत्तव्यं ।

सूत्रमें पढ़ हुये शुभ शह्नका अर्थ मनको प्रीति कर देनेवाला है। विशुद्धका अर्थ तो वह आहारक शरीर संक्रेश परिणामोंसे रहित है। सब ओरसे न तो अपना व्याघात होय और न अपनेसं हुसे पराशीको आयात पंडुचे ऐसा व्याघातरहित आहारक शरीर अव्याघाति है। सूत्रमें पढ़ हुये च शहूसे उक्त दो विशेषणोका समुञ्चय हो जाता है। इस प्रकार कहे विशेषणीसे युक्त हो रहा यह हस्ते (अर्पिक) प्रमाण कातीसे छेकर सबसे छोटी अंगुछीतक छम्बे हाथकी नापको अरिल कहते हैं। आहारक शरीर अतिशय युक्त ऋद्धियारी प्रमत्तसंयमी मुनिके ही होता है। अधिकसे अधिक या न्यूनसे न्यून छठवें गुणस्थानसे अन्य गुणस्थानोंको धारनेवाछ मनुष्योंके नहीं हो पाता है। देव, नारकी, और तिर्पच जीवके आहारक शरीर होनेका असम्भव है, यह समझ छेना चाहिये। आहारक से स्वामी कहे गये प्रमत्तसंयतक साथ एवकार छगा देनेस प्रमत्तसंयमीके ही आहारक शरीर है, या अवधारण करना उचित है। प्रमत्तसंयमीके आहारक ही है, यह अनिष्ट अवधारण नहीं कर बैठना। अतः उक्त मुनिके औदारिक या वैकियिक शरीरकी निवृत्ति नहीं हो पाती है।

तच्छरीरातरात्कृतो भिषमित्याह ।

श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति किसीका प्रश्न है कि शरीरोंमें प्रस्पर भेदको सावते हुये आप युक्तियां देते हुये चले आ रहे हैं। तदनुसार यह बताओं कि औदारिक, वैक्रियिक आदि अन्य शरीरोंसे वह आहारक भला किस कारणेंसे भिन हो रहा है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचन कहते हैं।

आहारकं शरीरं तु शुभं कार्यकृतत्वतः । विशुद्धिकारणत्वाच विशुद्धं भिन्नमन्यतः ॥ १॥ अन्याघातिस्वरूपत्वात्प्रमत्ताधिपतित्वतः । फलहेतुस्वरूपाधिपतिभेदेनं निश्चितम् ॥ २॥

औदारिक, वैक्रियिक, तैजस, कार्मण, ये नहीं किन्तु आहारक शारि (पक्ष) शुम है, (साध्य) शुमकार्य आहारक काययोगको करनेवाला होनसे अथवा शुमकार्य आहारक काययोगको करनेवाला होनसे अथवा शुमकार्य आहारक काययोगको करनेवाला होनसे अथवा शुमकार्य जाता है जो कि अन्य शरिरोंसे आहारकको मिन्न कर देनेका जापकालिंग है। तथा दूसरा अनुमान यह है कि आहारक-शरीर (पक्ष) विश्च है (साध्य) विशुद्धिका कारण होनसे (हेतु)। बहुवीहि शित्त करनेपर निरवय विशुद्ध पुण्यकर्मका कार्य होनसे यह अर्थ भी निकल पडता है (हेतु)। इस अनुमानदार। विश्च होतानेपर वह विशुद्ध आहारक शरीर अन्य चार शरीरोंसे निराल साथ लिया जाता है। अन्याचाति स्वरूप होनसे और जिसका स्वामीपना प्रमत्तसंयमी, मुनि महाराजको है। प्राप्त होरहा होनसे वह आहारक शरीर अन्य चार शरीरोंसे निराल साथ लिया जाता है। अन्याचाति स्वरूप होनसे और जिसका स्वामीपना प्रमत्तसंयमी, मुनि महाराजको है। प्राप्त होरहा होनसे वह आहारक शरीर अन्याचाति होता हुआ अन्य शरीरोंसे मिन्न है। यों श्री उमास्वामी महाराज दारा इस सूत्रमें कहे गये फल, हेतु, स्वरूप और अधिपतिक मेद करके आहारक शरीरमें भेदका निश्चय कर लिया गया है। शुभ, विशुद्ध, अन्याचाति, ये आहारक शरीरके का विशेषण प्रथमा विभक्तिवाल है तथा पन्नी विभक्तिका अर्थ स्वामी कर प्रमत्तसंयतस्य का पर्याय

वाची शह " प्रमत्तस्वामिकं " बना लिया जाता है। प्रथमा विभक्तिवाले विशेषण भी काचित् झापक हेतु अर्थमें तत्पर माने जाते हैं। जैसे कि "गुरवो राजमाषा न मक्षणीयाः " प्रकृतिमें भारी होनेसे रमास नहीं खाने चाहिये, उसी प्रकार इतर शरीरोंसे व्यावृत्तिको साधनेके लिये आहारक शरीरके सम्पूर्ण विशेषणोंको यहां अव्यभिचारी झापक हेतु बना दिया गया है। पहिला शुभविशेषण तो आहारक शरीरका फल है। दूसरा विशुद्ध विशेषण आहारक शरीरका कारण है। तीसरा अव्याघाति विशेषण तो आहारक शरीरका शरीरका स्वरूप है और जीथा विशेषण आहारक शरीरके अधिपतिका बखान करनेवाला है। मेद सिद्ध करनेके लिये ये विशेषण पर्याप्त हैं।

आहारकं वैक्रियिकादिश्यो भिश्नं श्वभफलत्वादित्यत्रानैकांतिकत्वं हेतोः वैक्रियिकादेरिप ग्राभफलस्योपलंभादिति न मंतन्यं, नियमेन ग्राभफलत्वस्य हेतुत्वात् । विश्रद्धिकारणत्वात् ततो भिश्निमत्यत्रापि लन्धिमत्ययेन वैक्रियिकादिना हेतोरनेकांत इति नाशंकनीयं, नियमेन विश्व-दिकारणत्वस्य हेतुत्वात् । सम्रद्भूतलन्धेरिप कोधिदसंक्छशपरिणामवशादिकियादेर्निर्वर्तनादि-ग्रद्धिकारणत्वनियमाभावात् ।

यहां किसीका आक्षेप है कि आपने जो पहिला अनुमान यह कहा है कि ग्राभ फलवाला होनेसे आहारक शरीर वैकियिक आदिकोंसे भिन्न है। यों इस अनुमानमें तुम्हारा दिया हुआ शुभ फलव हेतु तो व्यभिचार हेत्वाभास दोषवाला है। क्योंकि कोई कोई वैक्रियिक, औदारिक आदि शरी-रों भे रामफळ सहितपना देखा जाता है। यानी उपकारी पुरुष, ब्रह्मचारिणी विशल्या या परिहार विद्युद्धि संयमवाछे अथवा औषध ऋदिधारी मुनियोंके औदारिक शरीर तथा तपस्वियोंके वैक्रियिक शरीर या उपकारी देवों के वैकिथिक शरीर भी शुभ फल्दायक हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो आक्षेपकारको नहीं मानना चाहिये । क्योंकि हमने हेतुमें नियमेन यह शह जोड दिया है जो नियम करके श्रम फलवाला होय वह आहारक ही है। बहुतसे कषायी, हिंसक, मनुष्य पश्च पश्चिओंके औदारिक या संक्रिष्ट असुरों के वैक्रियिक शरीर तो नियमसे शुभफलवाले नहीं हैं। अतः व्यभिचार दोषका निवारण हो जाता है। दूसरे हेतुमें पुनः किसीकी आशंका है कि आहारक शरीर (पक्ष) उन वैकियिक आदिकोंसे भिन्न है (साध्य) विश्वद कारण होनेस (हेतु) यों इस अनुमानमें भी लिशकारणक वैक्रियिक आदि करके विद्युद्धकारणत्व हेतुका व्यभिचार हो जाता है, मुनियोंके हुआ वैिक्रियिक रारीर भी विशुद्ध कारणवाला है। प्रशस्त तैजस शरीर भी विशुद्ध कारण है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह आशंका नहीं करनी चाहिय। क्योंकि यहां भी हेतु दखमें नियमको कहनेवाला एवकार छगा देना चाहिये। सभी वैक्रियिक या तैजसशरीर विद्युद्धि कारण नहीं हैं। '' प्रमत्तसंयतस्यैव '' यहां अंतमें पडे ह्रये एवकारको पूर्वपदोंमें भी अन्वित कर छेना चाहिये। नियम करके विश्वदिकारण आहारक ही है। जिनको निशेष तपस्यासे ऋदि उत्पन्न हो चुकी है, ऐसे मुनिके भी कदाचित् कोष, अरति,

आदि संक्रेश परिणामों की अधीनतासे विकिया, तैजस, आदिका बना छेना देखा जाता है। अतः वैकि-यिक या तैजसशरीरमें विशुद्ध कारणपनेका सार्वित्रिक, सार्विद्यक्त, सार्वव्यक्तिक, नियम नहीं है। यों व्यभिचार दोषकी निवृत्ति हो जाती है।

अन्याघातिस्वरूपत्वादाहारकं श्ररीरांतराद्धिकामित्यस्मिश्रपि तैजसादिनो हेतार्व्यभिचार इत्यचोर्धं, प्राणिवाघापरिहारलक्षणस्याच्याघातित्वस्य हेतुत्वात् । प्रमत्ताधिपतित्वमपि नाहार-कस्य श्ररीरांतराद्भेदे साध्येनैकांतिकं, विशिष्टममत्ताधिपतित्वस्य हेतुत्वात् । ततः सूक्तं फलहेतु-स्वरूपाधिपतिभेदेन भिक्रमाहारकमन्येभ्यः श्ररीरेभ्यो निश्चितमिति ।

पुनः किसीका तीसरे अनुमानपर कुचीय उठता है कि अञ्याचातिस्वरूप होनेसे आहारक-शरीर अन्य वैक्रियिक आदि शरीरोंसे भिन्न है। यों इस अनुमानमें भी तैजस आदि शरीरों करके अन्याचातिपन हेतुका व्यभिचारदोष आता है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवीका औदारिक शरीर अन्याचाति है, नहीं रुकता नहीं है, किसीको रोकता भी नहीं है। तैजस और कार्मणशरीर तो " अप्रतीघाते " इस सूत्रकरके व्याघातरहित साधे ही जा चुके हैं, वैक्रियिक शरीर भी पर्वत या वज पटलमें हो तर चले जाते हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह पर्यन्योग हमारे उपर नहीं उठाया जा सकता है। क्योंकि प्राणियोंकी बाधाका परिद्वार कर देना यहाँ अञ्याघातिपनका खरूप यहां हेतुकोटिमें विवक्षित है। आहारकशरीर जहां होकर निकल जाता है, वहांके प्राणियोंकी रोग, भय, आदि बाधायें दूर होती चली जाती हैं। वैकियिक शरीरधारी इन्द्रकी शक्तिका भी प्रतिघात हो जाना सना गया है। किन्तु आहारकशरीरकी सामर्थ्य अप्रतिहत है। जिसके शरीरमें एक बार होकर निकल जाता है, उसको बार बार आहारक शरीरके आने, जाने, की अमिळाषायें बनी रहती हैं। प्राणियों की बाधाओंका परिहार जितना आहारकशरीरसे होता है, उतना अन्य शरीरोंसे नहीं हो पाता है। भाहारक शरीरके स्वामी छठे गुणस्थानवर्ती प्रमत्तसंयमी हैं। यह चौथा हेत भी आहारकशरीरके इतर शरीरोंसे भेदको साध्य करनेमें व्यभिचारी नहीं है। क्योंकि सभी छठे गुणस्थानवर्ती मुनियोंके नहीं, किन्तु हजारों, लाखों, मेंसे किसी एक विशिष्ट प्रमत्तसंयमी मुनिको आहारक शरीरका अधिपतिपना प्राप्त हो सकता है। उस विशिष्टताके रूगा देनेसे प्रमत्ताधिपतित्व हेतु निर्दोष बन जाता है। तिस कारण श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रमें या मुझ विद्यानन्द स्वामीने उक्त दो वार्तिकोंने यों बहुत अच्छा कहा था कि फर्ड १ हेतु २ स्वरूप ३ और अधिपाति ४ के भेद करके ये आहारक शारीर अन्य चारों शरीरोंसे मिन ही निर्णीत कर दिया गया है। यहांतक पांचों शरीरोंका निरूपण समाप्त होचका है।

> चतुर्दशभिरित्येवं सूत्रैरुक्तं प्रपंचतः । शरीरं तीर्थिकोपेतशरीरविनिवृत्तये ॥ ३ ॥

पहांतक यो उक्त प्रकार चौदह सूत्रों करके विस्तारेंस संसारी जीवाँके शारिरोंको श्री उमास्त्रामी महाराजने अन्य दार्शनिकों द्वारा स्वीकार किये गये अनेक कल्पित शरीरोंकी विशेषतया निद्दृत्ति करनेके किये स्पष्ट कह दिया है। अर्थात—" औदारिकवैकियिकाहारकतैजनकार्मणानि शरीरीणि " से प्रारंग कर "शुगं विशुद्धमन्याचाति चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव" इस सूत्र पर्यन्त चौदह सूत्रों करके पांच शरीरोंका न्याख्यान सूत्रकारने किया है, जो कि अन्य मतावलिक्यों द्वारा माने गये शरीरोंकी निद्दृत्ति करता रहता है। कोई पंडित स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर दो होको स्वीकार करते हैं। वैशेषिक तो योनिज और अयोनिज इस प्रकार शरीरके दो भेद मानते हैं। बौद्धजन स्वनान्तिक अथवा स्वामाविक शरीरोंको भी मान बैठे हैं। नैयायिक समाधिअवस्थामें योगी, खी, पुत्र, राज्य, आदि मोगोंको मोगनेके किये अनेक शरीरोंका निर्माण कर लेता है, भोगे विना कर्माका नाश नहीं हो पाता है, ऐसा मान बैठे हैं। इत्यादि मन्तन्योंकी निद्दित्तके लिये आचार्योंने पांच ही शरीरोंका अन्यूनानतिरिक्तरूपसे निरूपण किया है। अब न्यारा प्रकरण चलाया जाता है।

अय के संसारिणो नपुंसकानीत्याह।

कोई जिज्ञासु पूंछ रहा है कि कौनसे संसारी जीव नपुंसकृष्टिंगी हैं १ ऐसी आकांक्षा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

नारकसंमुर्छिनो नपुंसकानि ॥ ५० ॥

सात नरकोंमें निवास करनेवाले नारकी तथा एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रींद्रिय, चतुरिन्द्रिय, जीव और पंचेन्द्रियोंमें अनेक तिर्थच एवं मनुष्योंमें लब्ब्यपर्यासक मनुष्य ये संमूर्छन जन्मवाले जीव नपुंसक- लिक्सी हैं। अर्थात्—अवाकी अग्निके समान कषायवाले इन जीवोंके मैथुनसंज्ञाजन्य तीववेदना बनी रहती है। इस कारण इनकी आत्मामें सर्वदा कलुषता रही आती है। स्त्री या पुरुषोमें पाये जानेवाले स्पर्शन इन्द्रियजन्य सुख इनको नहीं प्राप्त होते हैं।

नारकाः संमूर्छिनश्च नपुंसकान्येव भवंति ।

घनांगुल परिमित प्रदेशोंकी संख्याके दूसरे वर्गम्लसे गुणा की गयी जगच्छ्रेणिक प्रदेशों बराबर सम्पूर्ण नारकी जीव असंख्याताऽसंख्यात हैं। तथा सम्पूर्णन जन्मवाले अनन्तानन्त संसारी जीव हैं। ये सब नपुंसक ही होते हैं। भायार्थ इनमें ली, पुरुष, व्यवहार नहीं है, कभी कभी दो मिन्ख्यां चिपटी हुई देखी जाती हैं। ये उनकी केवल शारीरिक किया है। कोई गर्भधारण किया नहीं है। यों तो कोई कोई खिलोने भी चिपटे हुये देखे जाते हैं, चीटियोंक अण्डे भी उनके पेटसे निकले हुये नहीं हैं। केवल यहां वहां मल, मूझ स्थानोंमेंसे सड़े, गले, हुये पुदुलोंको लेकर वे विशेष स्थानोंमें घर लेती हैं, कालान्तरमें वहां जीवोंका जन्म होकर बढ़ी पुदुल चीटियोंका शरीर बन

जाता है। मधु मक्खी, खूटमल, झींगुर, ज्ंआ आदि जीवोंकी भी यहाँ व्यवस्था है। माता पिताके शुक्र, शोणित, से गर्भाशयमें इन जीवोंकी उत्पत्ति नहीं होती है। यों तो किव लोगोंने घडा घडी, कटोरा कटोरी, नद नदी, चादर चादरा, आदि जड पदार्थीमें भी कीलिंग, पुल्लिगका व्यवहार कर लिया है। वैज्ञानिकोंने केला केली, भी मान लिये हैं। लियोंके पाद प्रहार या कुल्ला करनेसे कई मुक्षीका फलना, फलना, अभीष्ट किया गया है। इसमें कल्पना भाग बहुत है। सम्मूर्छन शरीरोंके उपयोगी साधनोंके जुटानेमें सहाय कर देना मात्र भितिपर भारी कल्पनायें गढ ली गयी हैं, जो कि नियत कार्यकारणभावका मंग कर देनेवालीं हैं। सिद्धांत दृष्टिसे विचारनेपर सम्पूर्ण सम्मूर्छन जीव नपुंसक लिंगी ही सिद्ध होंगे। बुक्षोंमें स्त्री या पुरुषोंके समुचित अंगोपांग ही नहीं है। द्वीन्द्रिय, त्रीद्रिय, चीइन्द्रिय जीवोंके गर्भाशय नहीं हैं। अतः आचार्योंने जो इन्हें नपुंसक लिंगी कहा है, वह युक्तिपूर्ण है।

देवेषु तत्मतिषेधमाह।

देवोंमें उस नपुंसक लिंगका सर्वथा निषेध करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम् सूत्रको कह रहे हैं।

न देवाः ॥ ५१ ॥

चारों निकायके सम्पूर्ण देव नपुंसक लिंगवाले भी नहीं हैं । सम्पूर्ण देविया खीलिंग हैं तथा देव सम्पूर्ण पुर्लिंग ही हैं ।

देवा नपुंसकानि नैत संभवंतीति सामर्थ्यात् पुंमासो देवाः स्नियश्च देव्यो भवंतीति गम्यते । कुत इत्याह ।

देव गतिवाले जीवोंमें नपुंसक लिंगकी सम्भावना नहीं है, यों निषेध कर देनेसे विना कहे ही, शहूकी सामर्थ्यसे विधिमुख करके यह जान लिया जाता है कि देवनिकायमें पुर्लिगवाले देव होते हैं। और बीलिंगवाली देवियां होती हैं। कोई पूंछता है कि यह उक्त सिद्धान्त किस प्रमाणसे सिद्ध किया जाय १ ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम दो वार्तिकोंमें युक्तियोंको कहते हैं।

नारका देहिनस्तत्र प्रोक्ताः संमूर्छिनश्च ये । नपुंसकानि ते नित्यं न देवा जातु चित्तथा ॥ १ ॥ स्रीपुंससुखसंपाषिहेतु हीनत्वतः पुरा । नपुंसकत्वदुः स्वासिहेत्वभावाद्यथात्रमं ॥ २ ॥

नारकी जीव और सम्मूर्जन शरीरधारी प्राणी जो वहां प्रकरणोंमें अच्छे ढंगसे कहे जा चुके हैं, व सम्पूर्ण जीव अपनी अवस्थापर्यन्त सर्वश नपुंसकिंछनी ही बने रहते हैं | हां, देव तो कभी भी तिस प्रकार नपुंसकिंगी नहीं हैं। इन दो सूत्रोंके प्रमेयमें वे वक्ष्यमाण दो झाँपक हेतु हैं कि पूर्व जन्ममें खियोंके उचित सुखों और पुरुषोंके समुचित सुखोंकी अच्छी प्राप्तिके कारण होरहे शुभ कियायोंका अनुष्ठान या पुष्यविशेषकी हीनता हो जानेसे नारक और सम्मूर्छन जीव स्वकीय पापोदयसे इस जन्ममें नपुंसकिंगी होजाते हैं। जैसे कि पुण्यहीन अवस्थामें पापकर्मका उदय आजानेपर कई बोडे या बैंछ बहिरंग रूपसे नपुंसक कर दिये जाते हैं अथवा कोई कोई गर्मज मनुष्य या पशु भी नपुंसक देखे जाते हैं। देव नपुंसकिंगी नहीं हैं। क्योंकि पूर्वजन्ममें आधुनिक नपुंसकपनेके दुःखकी प्राप्तिका कारण मानी गयीं अशुभिक्रया या नपुंसकवेदकर्मका उपार्जन नहीं होनेसे देव स्वकीय इस जन्ममें. नपुंसक नहीं होपाते हैं। या दोनों सूत्रोंमें दोनों हेतुओंको यथाक्रमसे लगा लेना चाहिये।

नारकाः संमूर्छिनश्च माणिनो नपुंसकान्येव, स्त्रीपुंससुखसंमाप्तिकारणरहितत्वात् पूर्व-स्मिन् भवे नपुंसकत्वसाधनातुष्ठानात् । देवास्तु न कदाचिष्ठपुंसकानि जायंते नपुंसकत्वदुःखा-प्तिकारणाभावादिति यथाक्रमं साध्यद्वये हेतुद्वयं मत्येयं ।

श्री विद्यानन्द स्वामी दो अनुमान बनाते हैं कि नारक जीव और संमुक्तेन प्राणी (पक्ष) नपुंसक ही होते हैं, (साध्य) । अधिुख और पुरुष सुखकी समीचीन प्राप्तिके कारणोंसे रहित होनेसे (हेतु) साथमें पूर्वभवमें नपुंसकपनेक साधनोंका अनुष्ठान करनेसे (हेतु)। अर्थात्—वर्तमानके नारक या संमूर्छन जीवोंने पूर्वभवमें ऐसे प्रशस्त कार्य नहीं किये थे जिससे कि इस जन्ममें स्त्रीसुख, या पुरुषसुखकी प्राप्ति हो जाती । अधिक लज्जा करना, कोरा श्रृंङ्गार करनेमें समय यापन करना, अधिक अभिमान करना, दब्ब बने रहना, संज्ञी विचारशाली सामर्थ्यवान होते द्वये भी महान कार्योको नहीं कर सकता, पुरुषोंसे भेमप्राप्तिके मात्र रखना, इनसे और इनके अतिरिक्त कुछ शुभकर्म करनेसे भी मित्रण्यमें बीसुखोंकी प्राप्ति हो जाती है तथा अल्पक्रोध, खदारसन्तोष, श्रृङ्गार करनेमें अनादर, महान् कार्योंमें पुरुषार्थ करना, चित्तमें उदारता रखना, वीरता आदि क्रियाओंसे भविष्यमें पुरुष उचित सुखोंकी प्राप्ति होती है । ये दोनों प्रकारके कार्य नारकी और संमुर्छन जीवोंने नहीं कर पाये हैं। तथा प्रचुर कोध, गुप्त जनन इन्द्रियोंका घात, स्रीपुरुषोंके, कामक्षेत्रन अंगोंसे भिन्न अंगोंमें आसक्ति करना, व्यसन सेवना, परकीमें छोलपता रखना, तीत्र अनाचार आदिक नपुंसकत्वके साधनोंका पहिले जन्मोंमें अनुष्ठान किया है। इस कारण इस जन्ममें नपुंसकलिंगवाला होना पडा है। इनके की और पुरुषोंमें पाया जा रहा मनोज्ञ पंचेंद्रियोंके विषय माने गये शहू, गन्ध, रस, स्पर्श, रूपके, निमित्तसे होनेवाळा स्वल्प भी सुख नहीं है। तथा दूसरा अनुमान यों है कि देव तो (पक्ष) कभी भी नपुंसक लिंगवाले नहीं उपजते हैं (साध्य)। नपुंसकपन दुःखकी प्राप्तिके कारणीका अमाव होनेस (हेतु), भोगोपभोगी, बलिष्ठ, धनाढ्य, प्रेमयुक्त दम्पतिक समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—देव देवियोंने पूर्वभवमें अत्यधिक छोमपरिणाम श्रुभकार्योंमें अनुःसाह, व्यभिचार आदि कारणों द्वारा नपुंसकलके क्षाधनों को नहीं मिला पाया है, किन्तु प्रशस्त कृतियों द्वारा बीयुख, और पुरुष

मुखकी, प्राप्तिके कारणोंकी जुटाया है। अतः वे स्नीसम्बन्धी और पुरुषसम्बन्धी निरितशय मुखका अर भव करते रहते हैं। यों देव नपुंसकिकावाले नहीं हैं। इस प्रकार दोनों साध्योंमें यथाक्रम दो हेर् ऑको लगाकर समझ लेना चाहिये। सूत्रकारके प्रतिज्ञावाक्योंमें है। समर्थहेतु लिपा हुआ है। आर् मानिक विद्वानोंकी दृष्टिमें अतीन्दिय पदार्थ मी प्रत्यक्षवत् प्रतिभास जाते हैं।

शेषाः कियद्वेदा इत्याह ।

नारक, संमूर्छन, प्राणी और देवोंसे अवशिष्ट रहे जीवोंके कितने वेद हैं, ऐसी जिक्कासा हो पर श्री उमास्वामी महाराज नवीन सूत्रको कहते हैं।

शेषास्त्रिवेदाः ॥ ५२ ॥

उक्त तीन प्रकारके जीवोंसे शेष रहे गर्भजन्य जीवोंके स्नीलिंग, पुर्ह्मिग, और नपुंसकलिंग तीनों वेद होते हैं।

उक्तेभ्ये। ये शेषा गर्भजास्त्रिवेदाः मतिपत्तव्याः । कृत इत्याह ।

कहे जा चुके जीवोंसे जो शेष रहे गर्मज प्राणी हैं। वे तीनों वेदवाले समझ लेने चाहिये कोई शिष्य जिज्ञासा करता है कि यह सिद्धान्त किस प्रमाणसे साधा जा चुका समझा जाय ? ऐ। जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्त्तिकको कहते हैं।

त्रिवेदाः प्राणिनः शेषास्तेभ्यस्तादक् स्वहेतुतः । इति सुत्रत्रयेणोक्तं लिंगं भेदेन देहिनाम् ॥ १ ॥

तिन नारक, सम्पूर्छन, और देवजीवोंसे रोष रहे प्राणी (पक्ष) की, पुर्छिग, नपुंसक, ती वेदबाले हैं (साध्य) तिस प्रकारके अपने अपने हेतुओंसे निष्पत्ति होनेसे (हेतु) तीन लिंगव प्रसिद्ध सपोंके समान (अन्वय दृष्टान्त)। मावार्थ—चारित्रमोहनीयकर्मके विकल्प हो रहे वेदत्रय उदयसे जो वेदा जाय वह वेद है। इसका अर्थ द्रव्यलिंग या भावलिंग हो जाता है। कहीं दृष्ट लिंगके अनुसार ही मावलिंग होते हैं। हां, कर्मभूमिमें विषमता भी हो जाती है। क्रियोंके पुंवेद उदय और पुरुषोंमें क्षीवेद या नपुंसक वेदका उदय भी कदाचित् पाया जाता है। गर्भज जीवें अपने अपने नियत कारणोंसे यथायोग्य तीनों वेद पाये जाते हैं। इस प्रकार "नारकसंम्िक नपुंसकानि, न देवाः, रोषाक्षिवेदाः " इन तीनों सूत्रों करके रारीरधारी प्राणियोंके भिन्न मिन्न कर लिंग कह दिये गये हैं।

स्निवेदादयादिः स्निवेदस्य हेतुः पुंवेदोदयादिः पुंवेदस्य, नपुंसकवेदोदयादिः नपुंसः वेदस्येति । तत एव प्राणिनां स्निस्थिगादित्रयसिद्धिरिति भेदेन स्किंगं सकछदेहिः सूत्रप्रयेणोक्तं वेदितन्यं । वर्तमानमें किसी जीवके अन्तरंगकारण स्विवेदका उदय होना या बहिरंगमें मृदुभाषण करना, पुरुषके साथ रमण करनेकी अभिलाषा रखना, अधिक श्रृंगार करना, स्वादिष्ट रस युक्त भोजन करना, आदिक कारण स्विवेदके हेतु हैं। और अन्तरंगमें पुन्धेदका उदय होना और बहिरंगमें लोकमें उत्कृष्ट गुणोंका स्वामित्व प्राप्त करना, स्वादिष्ट गरिष्ठ रसयुक्त भोजन करना, रसायन सेवन, वीररसवर्द्धिनी कियायें करना, आदि कारण जीवके पुन्धेद हो जानेमें हेतु हैं, तथा नपुंसक वेदके कारण तो नपुंसक वेदके कारण तो नपुंसक वेदके कारण तो नपुंसक वेदके वारण तो नपुंसक वेदके पदार्थीका सेवन आदिक हैं। तिस ही कारणसे (नीमें गुणस्थानतक) संसारी प्राणियोंके स्वीलिंग आदि तीनों वेदोंकी सिद्धि हो जाती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न रूपसे सम्पूर्ण प्राणियोंके लिंगको श्री उमास्यामी महाराजने केवल तीन सूत्रों करके ही कह दिया है। यह समझ लेना चाहिये।

के पुनरत्र श्वरीरिणोऽनपवर्त्यायुषः के वापवर्त्यायुष इत्याह ।

उक्त देह भारी जीवों में फिर कौन जीव यहां अपवर्तन नहीं करने योग्य आयुष्यवाले है ? और किन जीवोंकी आयुक्ता बाह्य कारणों से हास हो जाता है ? बताओ । अर्थात् — चारों गतियों के जीव क्या अपनी सम्पूर्ण आयुक्तो मोग कर मरते हैं ? अथवा क्या पूर्णआयुक्ता मोग नहीं करके भी मरकर अन्य गतियों को प्राप्त हो जाते हैं ? बताओ । ऐसी जिज्ञासा हो नेपर श्री उमास्त्रामी महाराज शिष्योंकी न्युत्पत्ति बढाने के छिये अग्रिम मूत्रको कह रहे हैं ।

औपपादिकचरमोत्तमदेहासंख्येयवर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः।

उपपाद जन्मकी धारनेत्राले देव और नारकी जीव तथा चरम उत्तम शरीरकी धारनेत्राले तीर्थंकर महाराज एवं असंख्यात वर्षोतक जीवित रखनेवाली आयुक्तो धारनेवाले भोग मूमियां, या कुभो-गभूमियां, तिर्थंच या मनुष्य इन जीवोंकी आयुक्ता मध्यमें द्धारा नहीं हो पाता है। परिपूर्ण आयुक्तो भोगकर ही ये उत्तरगतिको प्राप्त करते हैं।

औषपादिका देवनारकाः चरमोत्यस्तज्जन्मनिर्वाणाईस्य देहः उत्तम उत्कृष्टः चरमश्रासी उत्तमश्र चरमोत्तमश्ररमिविश्वेषणप्रुत्तमस्याचरमस्य निष्टत्यर्थे उत्तमग्रहणं चरमस्याज्ञुत्तमत्व-च्युदासार्थे । चरमोत्तमो देहो येषां ते चरमोत्तमदेहाः । उपमाप्रमाणगम्यमसंस्थ्येयवर्षायुर्येषां ते द्वंद्रष्ट्रत्या निर्दिष्टाः संसारिणोऽनपवर्त्यायुषो भवंति इति वचनसामर्थ्यात्ततोन्ये अपवर्त्यायुषो गम्यंते ।

औपपादिक शन्दका अर्थ देव और नारकी जीव है। चरम शन्दका अर्थ सब शरीरों के अंतमें होनेवाला मोक्षगामी जीवका पिछला शरीर है, जोकि उसी जन्ममें मोक्ष ब्राप्त करनेकी सामर्थ्य रखनेवाले जीवकी देह है। उत्तमका अर्थ उत्कृष्ट है। चरम होरहा संता जो वह उत्तम देह है, वह चरमीराम

कहा जाता है । यो चरम और उत्तम शद्धमें कर्मधारय वृत्ति कर छी गयी है। उत्तमका विशेषण चरम दिया है। वह उत्तम शरीरके अन्तिमरहितपनेकी निवृत्तिके छिये है। अर्थात् उत्तमशरीर अन्तमं मोक्षगामी जीवको प्राप्त होता है। अन्य संसारी जीवोंका उत्तमशरीर भी चरम नहीं है तथा चरमके विशेष्य दलमें उत्तम शहका प्रहण करना तो चरमशरीरके उत्तमरहितपनकी व्यावृत्ति करनेके लिये है। अर्थात-व्यभिचारकी संभावना होनेपर ही विशेष्यविशेषणभाव सार्थक माना गया है। जैसे कि नीछं उत्पर्छ, यहां उत्पर्छ दूसरे रंगका भी संभावित है तथा कम्बल, भौरा, जासुन भी नीले होते हैं। किन्तु प्रक-रण प्राप्त होरहा कुवलय नीला कुवलय ही है। इस संघटित अवस्थामें विशेष्यविशेषणभाव बन रहा है। उसी प्रकार यहां भी चरमशरीरी अन्तकृत्केवली भी होते हैं। एवं ब्रह्मदत्तचक्रवर्ती या वसुदेवके पुत्र श्री कृष्ण नारायण भी उत्तमशरीरवाले माने गये हैं। अतः चरमशरीरवाले होते हुये भी उत्तम देहधारी यहां तीर्थंकर महाराजका प्रहण किया गया है, ऐसा मेरी छघु बुद्धिमें आ रहा है। तत्त्वार्थसूत्रकी श्रुत-सागर आचार्य विरचित टीकामें चरमोत्तमदेइधारी पदसे तीर्थकर परमदेव ही समझाये गये हैं। वहां यों लिखा है कि " चरमों इत्यः उत्तम उत्कृष्टो देहः शरीरं येषां ते चरमोत्तमदेहाः । तज्जन्मनिर्वाणयोग्या-स्तीर्थंकरपरमदेवा ज्ञातन्याः । गुरुदत्त पांडवादीनामुपसर्गेण मुक्तत्वदर्शनात् नास्यऽनपवर्त्यायुर्नियम इति न्यायकुमृद्चन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेणोक्तमस्ति । तथा चोत्तमदेहत्वेऽपि सुभौमन्नसदत्तापवर्त्यायदर्शनात । क्रणास्य च जरतकुमारवाणेनापमृत्यदर्शनात्मकलाई चक्रवर्तिनामप्यनपवर्त्यायुर्नियमो नास्ति इति राज-वार्त्तिकालंकारे प्रोक्तमस्ति '' । इसका अर्थ यह है । चरम यानी अन्तिम उत्तम यानी उत्कृष्ट देड अर्थात-शरीर जिन जीवोंका है वे जीव चरमोत्तम देहवाछे हैं। जो कि उसी जन्ममें निर्वाण होनेके योग्य हैं । ये चरमोत्तम शरीरधारी जीव तीर्थंकर परमदेव ही समझने चाहिये । क्योंकि गुरुदत्त मुनी, तीन पांडव, या अन्य भी कितने ही महान् उपसर्ग सहनेवाले अन्तकृत्केवली महाराजोंकी उपसर्ग करके मुक्ति होना शास्त्रोंमें देखा जाता है। अतः सम्पूर्ण चरमशरीरियोंके लिये आयुके हास नहीं होनेका नियम नहीं है। यों प्रभाचन्द्र स्त्रामीने न्यायकुमुदचन्द्रोदय नामक प्रन्थमें कहा हुआ है। तथा उत्तम देहवाले होते हुये भी सुभीम और महादत्त सकलचक्रवर्तीकी आयुका मध्यमें अपवर्त हुआ देखा जाता है एवं उत्तमशरीरधारी अर्धचकी कृष्ण नारायणकी जरत्कुमारके बाण करके अपमृत्य सुनी जाती है। अतः सकलचक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती उत्तमदेहधारियोंकी आयके मध्यमें नहीं किन्न होनेका कोई नियम नहीं रहा । इस बातको श्री अकलंक देवने राजवार्तिकमें बहुत स्पष्ट रूपसे कह दिया है कि " अंत्यचक्रधरवासुदेवादीनामायुषोपवर्त्तदर्शनादच्याप्तिः (वार्त्तिक) उत्तमदेहाश्वकथरादयोऽनपवर्त्यायुष इत्येतत् लक्षणमन्यापि । कुतः ! अत्यस्य चक्रधरस्य महादत्तस्य वास्रदेवस्य च कृष्णस्य अन्येषां च तादृशानां बाह्यनिमित्तवशादापुरपवर्त्तदर्शनात् । न वा चरमशद्वस्यो-क्तमिवशेषणत्वात् । (वार्त्तिक) न वैष दोषः किं कारणं ! चरमशद्वस्योत्तमिवशेषणत्वात् । चरम उत्तमो देह एषां ते. चरमोत्तमदेहा इति " इसका अर्थ यह है कि चरमदेहचारी और उत्तमदेहचारी यों

न्यारा न्यारा अर्थ करनेपर दितीय दछमें अञ्चाति दोष आता है। कारण कि अन्तिम चनामी और वास्त्रदेव आदिकांकी आयका शलाघात आदि कारणोंसे मध्यमें ही अपकर्ष हो कवा देखा गया है । उत्तम देहवाके च कवर्ती आदिक भी परिपूर्ण आयुको भोगते हुये अध्विक आयुवाले हैं, यो यह काला अन्याप्ति दोषवान् हैं। क्योंकि अन्तके चक्रधारी ब्रह्मदत्त और वसुदेवके अपत्य कृष्ण तथा अन्य भी तैसे पांडव आहिकोंकी आयुका बहिरंग निमित्तोंकी अधीनतासे अपवर्त देखा गया है। इस अन्यासि दोषकः निराक्तरण करते हुए श्री अकलंक देव उत्तरवार्तिकको कहते हैं कि यह दोष हमारे महां नहीं साताः है। क्योंकि चरम देहधारी और उत्तम देहधारी ये दो स्त्रतंत्र वाक्य नहीं माने गन्ने हैं। किन्तु उत्तमका विशेषण चरम ऋद है। जिन जीवोंका देह चरम होता हुआ उत्तम है वे ही अध्यान आयवाने हैं। अथवा " उत्तमविशेषणस्वात् " यहां बहुबीहि समास करनेपर चरमका विशेषण उत्तम सम्बन्ध लिया जाय । इस प्रकार कहनेसे चरमशरीरियोंमें तींथे हर परम देनाधिदेवकी आय है। अनपकर्ष है । रोष मोक्ष्याची जीवोंकी आयके अनपवर्त्य होनेका नियम नहीं, यह सिद्धान्त स्थिर हो जाता है। महान् उपलर्ग सहते हुये भी सुनि महाराज छड़े गुणस्थानमें आयुष्य कर्मकी उदीस्मा कर कातिपय अन्तर्महर्तीमें क्षपद्भवेशी या बारहवें, तेरहवें, चौदहवें मुणस्थानोंके कर्तव्योंको समाप्त कर झिटिति मुक्तिकाभ कर केते हैं। मनुष्य आयु कर्मकी उदीरणा क्रहेतक ही मानी गयी है। क्रां. '' ओक्ट्रणकरणं पुण अजोशीसत्ताण जोगिचरिमोत्ति '' इस गाथा अनुसार मनुष्य आयुका **अपकर्षण** करण तो तेरहवें गुणस्थातक अभीष्ट किया है। उदीरणांके अन्य नियमोंको अन्तकत केवळीके सिकार अन्यन्न जीवोंमें लागू रखना जिससे कि सिद्धान्तविरोध नहीं होय । संजयंत, गजकुसार, आदि सुनि-योंने उपर्सा सहते हुये मध्यमें आयको छिन कर मुक्तिलाभ किया है। " असंख्येमकर्माम् " का अर्थ यह है कि अछौकिकगिषतके मुख्य रूपसे संख्यामान और उपमामान ये दो भेद हैं। पत्य, सामझ, अमृदि प्रमाणींसे जिन जीनोंकी आयु नापकर जानी जाती है वे जीव " असंस्थेयवर्षांग्रमः " कहे जाते हैं । औपपादिक और चरमोत्तम देहधारी तथा असंख्यात क्योंकी आयुवाले यों इन्द्र समास हती करके सूत्रमें कहे जा चुके संसारी जीव अनपवर्त्य आयुवाले होते हैं। इस नियमकारक क्वनकी सामध्यंसे विना कहे ही यों समझ लिया जाता है कि इनसे अन्य संसारी जीनोंकी आयुका अपर्कत हो जाता है । भावार्थ-'' विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिछेसेंहिं । जस्सारम्हाराणं गिरेह्नदो किञ्जदे आऊ '' | विष, शूल, आदिकी तीव वेदना, रक्त, आदि धातुओंका क्षय, तीव भय, शक्क्यात, विशिष्ट संबद्धेश, तथा श्वासोच्छास वा आहारका निरोध होजाना इन कररणेंस्रे अपमृखु होकर बीचमें 🛍 आह क्रिज होजाती है । पूर्वजन्ममें आयुष्य कर्मका बन्ध करते समय क्ष्माम अनुसार आयु कर्ममें जिससी स्थिति डाडी थी उतनी स्थितिका पूरा भोग नहीं कर सध्यमें ही विष, शक्कात, आदि द्वारा अविषयों आने योग्य आयुष्पोंके निषेकोंको स्वल्पकालमें भोग लेना ही अपमृत्य है। नैसे कि छह चंदेके पक्के पोस्य अनुका कडनानळ चूर्ण हारा अतिशीन्न पाचन कर छिया जाता है, अध्यक्ष आन्नकः, जीवूक

जादि पर्कीकी मी मध्यकांक्रमें शीव पंचा किया जाता है, उसी प्रकार रूक्यपर्यातक जीव या कर्म भूमिक बहुर्तिस मनुष्य तिर्पेचीकी आधु मध्यमें ही हासको प्राप्त होजाती है।

कुतः श्रुनरनपबर्त्यमाञ्जरीपपादिकादीनामित्याह ।

कोई जिसासु कठाश्च करता है कि फिर किस प्रमाणसे आप एक सिद्धान्तको साधते हैं कि औपपांदिक व्यविकांनी आगु बाह्य कारणोंसे हासकी प्राप्त नहीं हो पाती है ! जिलने कालमें मोगाने बोग्य आहु उन्होंने हुई जन्मयें बांधी थी उतने कालके एक समय पहिले भी वे मरते नहीं हैं ! चाहे कितने ही वजाबात, केववर्षण, आदि उत्पातोंका प्रकरण प्राप्त होजाय, किन्तु ये परिपूर्ण व्ययुक्ते मोगकर ही अन्य गतियोंकी प्राप्त होते हैं । बतलाइयेगा, ऐसी जिज्ञासा होनेकर श्री मियानन्द स्वामी उत्तरवर्षी वार्तिकोंकी कहते हैं ।

अत्रीपपादिकादीनां नापवर्त्यं कदाचन । स्वीपात्तमायुरीहक्षाहष्टसामर्थ्यसंगतेः ॥ १ ॥ सामर्थ्यतस्त्रतोन्येषामपवर्त्यं विषादिभिः । सिद्धं चिकित्सितादीनामन्यया निष्फलत्वतः ॥ २ ॥

यहां प्रकरणमें औपपादिक आदि जीवोंकी निज पुरुषार्थ द्वारा पूर्वजन्ममें उपार्जम की गयी आयु (पक्ष) विष, राख, आदि बाह्य कारणों द्वारा कदाचित् भी न्हासको प्राप्त नहीं होती है (साध्य) । क्योंकि इस प्रकार आयुको छिन नहीं होने देनेवाले पुण्य, पाप, स्वरूप अदृष्टकी सामर्थ्य उम जीवोंको भले प्रकार प्राप्त हो रही है (हेतु) । अर्थात्—नारको अकालमें ही मरना चाहते हैं । किन्तु उन्होंने पूर्वजन्ममें ऐसा पापकर्म कमाया है, जिससे कि वे दुःखाकीणे पूरी आयुको मोग करके ही मरते हैं । छोकान्तिक देव या अन्यसर्वार्थिसिदिके देव आदिक तो शीव्र ही ममुख्य जन्म लेकार संयमको साजना चाहते हैं । किन्तु पहिले जन्ममें उपार्ज गये बहुतकालमें लेकिक सुख भुगताने योग्य अखण्डपुष्यकी सामर्थ्यसे ये बीचमें नहीं मर सकते हैं । सम्य बहुतसे इन्द्रियलीलुपी देव विचार आयुष्यसे भी अधिक कालतक जीवित रहना चाहते हैं । किन्तु मरपूर आयुको मोग चुकनेपर उनका मरण अवश्यंमाधी है । मुज्यमान आयुका उत्कर्षण करण नहीं हो सकता है । परिकृष्ठ आयुको मौगनके लिये श्री तीर्थकर महाराज केबल्झान हो जानेपर भी कुळ मुहूर्ती अधिक हो रहे आठ पर्यक्ष कमती कोटिपूर्व वर्षतक अधिकसे अधिक संसारमें टिके रहते हैं । जीवन्मुक्त आयाका संसारमें छहरना एक प्रकार कालका कालिया कमीक बरामें यहे रहना परम सिविका क्रिकेल है । किर श्री आयुका च्हार नहीं होनसे वे मध्यमें ही झांठीत सिवालयको अतिविध

नहीं बन सकते हैं। अतः शुभ कहो या अशुभ कहो अनुकूल कहो या प्रतिकूल कहो आयुको मध्यमें नहीं लिन होने देनेवाले बिलक्षण स्वकीय पुण्यपापकी सामर्थ्य द्वारा औपपादिक आदि जीबोंकी आयु परिपूर्णरूपसे भोगी जा रही है। विना कहे ही सूत्रोक्त शहोंकी सामर्थ्यसे यह बात सिद्ध हो जाती है कि उन औपपादिक आदि जीबोंसे शेष बच रहे अन्य जीबोंकी विष, वेदना, आदि बहिरंग कारणोंसे आयु अपवर्तनको प्राप्त हो जाती है। अन्यथा रोगीकी चिकित्सा (इलाज) करना या जीबोंपर दया करना, अभयदान देना, आदिकोंकी निष्फलता बन बैठेगी, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात् अनेक जीबोंकी अपमृत्यु हो जाती है। पांवके नीचे दबकर कीट, पिपीलिका, आदिक कर जाते हैं। यदि नहीं दबते तो नहीं मर पाते। देखिये, निर्धन या अज्ञानी रोगी योग्य चिकित्सा हुये विना मध्यमें ही कालकवालित हो जाते हैं। भयके मारे अनेक जीव तत्काल प्राणोंको छोड देते हैं, तभी तो उनकी चिकित्सा करना, दया करना, उनको निर्भय कर देना, आदि क्रियारें सफल समझी गयी हैं। अतः बहुभागमें जीबोंकी अपमृत्यु होना सम्भव रही हैं।

बाग्रमत्ययानपर्वर्तनीयमायुः कम माणिदयादिकारणिवश्चेषोपार्जिते तादृशादृष्टं तस्य सामर्थ्ययुद्यस्तस्य संगतिः संप्राप्तिस्ततो भवधारणमौपपादिकादीनामनपवर्त्यमिति सामर्थ्या-दन्येषां संसारिणां तद्विपरीतादृष्ट्विशेषाद्यवर्त्यं जीवनं विषादिभिः सिद्धं, चिकित्सितादीनामन्यया निष्फळत्वमसंगात् ।

प्राणियोंके ऊपर दया करना, नियतकालतक आप्रहपूर्वक क्लेश पहुंचाना, अनेक देशकालके जीवोंको पूर्णरूपसे मोक्षमार्गमें लगानेकी भावना रखना, अखण्ड प्रतिदिन दान देना, आदिक कारणिवशेषोंसे देव, नारकी, तीर्थकर महाराज, मोगभूमियां, जीवोंने पूर्वजन्ममें एक तिस प्रकारका अदृष्ट उपार्जित किया है। जिससे कि इनका आयुःकर्म वर्तमान कालमें किसी विष आदि बाह्य-कारणसे अपवर्त होने योग्य नहीं है। उस अदृष्टकी सामर्थ्य तो इस भवमें उसका समुचित उद्य होना है। उस उद्यकी संगति अर्थात—भले प्रकार प्राप्ति कतिपय जीवोंको हो रही है। तिस कारण देव, नारक, आदि जीवोंका संसारमें धरे रखनेवाला अथवा आत्माको इसी गृहीत शरीरमें ठूंसे रखनेवाला आयुष्यकर्म हास होने योग्य नहीं है। यहांतक पहिली वार्त्तिकके उत्तरार्धका विवरण कर दिया है। दूसरी वार्त्तिकका तात्पर्य यह है कि विना कहे ही केवल सूत्रोक्त पदोंकी सामर्थसे यह सिद्ध हो जाता है कि उस विलक्षण जातिवाले अदृष्टके विपरीत हो रहे दूसरे जातिवाले निर्वल अदृष्ट विशेषसे अन्य संसारी जीवोंका संसारमें जीवित रहना तो विषप्रयोग, शक्षघात, आदि कारणोंहारा हास हो जाने योग्य है। अन्यया चिकित्सा करना, द्राधर्मका उपदेश करना, दुष्काल पीडितोंके लिये अब वस्त्र देना, अग्निकाण्ड, जलकाण्डसे प्राणियोंकी रक्षा करना, आदिके निष्कल्पनेका प्रसंग होगा। जब कि वे बीचमें मरेंगे ही नहीं तो उक्त कियां वे क्यों की जा रही हैं। किन्तु चिकित्सा

अमदिक क्रियायें व्यर्थ नहीं हैं | कोई पक्षी या कीट, पतंग, यदि जलप्रवाहमें गिर पड़े तो दयाछ पुरुष उनको जलबाधासे उद्धार कर किनारेपर धर देता है, यह उनको अपमृत्युसे बचानेका ही उपाय है । यदि दयाछ पुरुष उन जीवोंको नहीं निकालता तो उन जीवोंकी आयु:कर्मके निषकोंका उत्कर्षण या उदीरणा होकर हास होते हुये बीचमें ही मरण हो गया होता। जैसे कि असंख्याते जीव वर्तमानमें बचानेका निमित्त नहीं मिलनेसे मध्यमें ही अपमृत्युके प्राप्त हो रहे हैं । हत्यारी चिरेयायें उडती हुई हजारों लाखों मिन्खयोंको खा जाती हैं, छपकिलयां असंख्य कीटोंको निगल जाती हैं, उल्द्र, चील, नीलकण्ठ आदि पक्षी, सिंह, न्याप्त, मेडिया, बिल्ली, वीज, आदि पशु तथा अनेक जलचर मांसमक्षी प्राणी ये सब हत्यारे जीव उन निर्वल खेलते, खाते, पीते, प्राणियोंकी अकालमें हत्या कर डालते हैं । खेग, हैजा, आदि रोगोंमें लाखों प्राणियोंकी अपमृत्युयें हो जाती हैं । बालवेच या योग्य औषधियोंके न मिलनेसे लाखों बच्चे मर जाते हैं । इस निकृष्ट पंचम कालमें तो बहुत थोड़े जीवोंको परिपूर्ण आयु भोगकर मरनेका सौभाग्य प्राप्त होता होगा । अनेक जातिके रोग, चिन्तायें, वैधन्य, दरिवता, अनिष्ट बांधवोंकी संगति, टोटा, पराजय, अधमर्णता, कुप्रामवास, विधवाकन्याप्रयुक्त शोक अवस्था, आजीविकाकी क्षति, पराभव, आदि कारणोंसे बहुतसे जीव आयुको पूर्ण किये विना मध्यमें ही मृत्यु मुखमें पड जाते हैं । जलकायिक, अग्निकायिक, धास, फल, पुष्प, शाक, तरकारी, आदि बहुनाग एकेंद्रिय जीवोंकी आयु छिल्न कर दी जाती है ।

न समाप्तकालस्य मरणाभावः खर्गमहारादिभिर्मरणस्य दर्शनात् । माप्तकाळस्यैव तस्य तथा दर्शनमिति चेत्, कः पुनरसौ कालं माप्तोऽपमृत्युकालं वाः दितीयपक्षे सिद्धसाध्यता, मय-मपक्षे खर्गमहारादिनिरपेक्षत्वमसंगः सकलबिहःकारणिवशेषनिरपेक्षस्य मृत्युकारणस्य मृत्युका-लव्यवस्थितेः। शक्षसंपातादिबहिरंगकारणान्वयव्यतिरेकानुविधायिनस्तस्यापमृत्युकाळत्वोपपत्तेः।

कोई आमही पण्डितम्मन्य यों समझ बैठा है कि जिस जीवका मृत्युकाल प्राप्त नहीं हुआ है, उसका कथमपि मरण नहीं होता है। विषप्रयोग या अग्निकाण्ड अथवा जलप्रवाहसे भी जीव रक्षित (बचना) हो जाते हैं। गोली लग जानेपर भी पुनः वीसों वर्षतक जीवित रहते हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं समझ बैठना चाहिये। क्योंकि खड्गके प्रहार, तोप गोलेका लगना, तीव विषप्रयोग, प्रचण्ड अग्निदाह, अतिसंक्रेश, आदि घातक कारणोंसे जीवोंका मरण होना देखा जा रहा है। भले ही काचित् देवकृत या दैवकृत रक्षा हो जानेसे अथवा घातक कारणकी अल्पशक्ति होनेसे अपमृत्यु नहीं हो संके। एतावता अपमृत्युका निराकरण नहीं हो सकता है। एक पुण्यशाली मनुष्य थोडा अपराध बन जानेसे एक, दो, तीन, बार तोप द्वारा उडाये जानेपर भी मर नहीं सका। जयपुर निवासी अमरचन्द दीवान सिंहके पीजरेमें बाल बाल बच गमे। घुना अन पीसनेवाली चाकीमें कोई एक दो कीट नहीं मरे, दो पार्टोक बीचमें होकर भी वे जीवित निकल आये, जैसे कि पीसती हुई चाकोंमेंसे कोई में हुं

बाहर निकल आता है। इतनेसे ही बस्दुक, तोप, हारा हजारों वर चुके या बाकीमें लाखों पिस धुके जीयोंकी अपमृत्यु विधानका विधात नहीं हो सकता है। यदि यह आग्रही शंकाकार यों कहे भि जिसको आप मध्यमें आयुका हास कर अपसृत्युको प्राप्त हो जानैवाला जीव कहते ही उस जीवकी भी तिस प्रकार पूर्ण आयुष्य काल प्राप्त हो चुकलेपर ही उस निमित्तरे पृष्टु हिंदेखी जाती है। यों कहनेपर तो आचार्य विकल्प उठाकर उस आप्रहीको पूंछते हैं कि बताओं वह इष्ट पुष्ट तगडा युवा बिचाग गौळी या विषक्षे प्रयोगसे स्वल्पकाळमें जो मरगवा है या दुष्ट हिंसकोंने मार्गमें द्वतगतिसे जा रहे सांपको लाटियोंसे कुचल डाला है, छपकलीने मक्खीको लीड किया है, क्या वे जीव फिर अपने पूर्ण मरणकालको प्राप्त हो चुके ये ? अयवा क्या मध्यमें ही उनका अपकृष्ट मृत्यु होनेका काल प्राप्त होगया है ? बताओ । दूसरा पक्ष प्रहण करनेपर तो तुम्हारे अपर सिद्धसाध्यता दोप हैं। क्योंकि साधने योग्य उसी अपमृत्यु कालको हम सिद्ध कर रहे हैं, उसीको तुम मान बैठे हो । ऐसी दशामें हमारा तुम्हारा कोई विवाद ही नहीं है। हां, पहिला पक्ष ऋहण करनेपर तो उनकी मृत्युमें असिप्रहार, विषप्रयोग, घातकप्राणी द्वारा शरीरका विदारण किया जाना आदि कार-णोंकी अपेक्षा नहीं रखनेका प्रसंग होगा । किन्तु जाना गया है कि बलिष्ठ योद्धा, ध्वा, मक्की, हिरण, आदि जीवोंको यदि खड्ग प्रहार बुभुक्षित छपकली या व्याव्रका अवसर प्राप्त नहीं होय तो वे दीर्घ-कालतक जीवित बने रहते हैं । हत्यारे मनुष्यको फांसी देकर मार दिया जाता है। यह उसकी अपमृत्यु नहीं तो क्या है ? हां, जो संक्रेश, असिप्रहार आदि अपचातक कारणोंके विना पूर्ण आयु मोग कर मरता है, वह अपमृत्युशहित होश्हा मळ मृत्यु नालको प्राप्त हुआ कहा जाता है। क्योंकि सम्पूर्ण बहिरेंग कारण माने गये अन्निनिरोध, फांसी, विष, आदि विशेषोंकी नहीं अपेक्षा रख रहे मृत्युकारणको ही पूर्ण पृत्युका काल, व्यवस्थापित किया गया है। कतिपय मनुष्य बैठे बैठे या जाप्य करते हुये मर जाते हैं । कोई बक्ष यों ही सूख जाते हैं । चीटियां, मक्खियां, भी बहुतसी घातक कारण विना यों हीं मर जाती हैं। घास पककर सूख जाती है। यह जीशेंका मृत्युकाल मना गया है। हां, जिस मृत्युका शक्कघात, विषुत्घात, जलोदर, कसाई द्वारा इता जाना, आदि बहिरंग कारणोंके साथ अन्त्रक व्यतिरेक का विधान पाया जाता है, अर्धात्-राष्ट्रसम्मात होनेपर मृत्युका होना और शक्काधात यदि नहीं होता तो कथमपि मृत्यु नहीं होती, यह अन्वय व्यतिरेक होरहा है, उस मरणकालको अक्मृत्युकाल-पना युक्त माना गया है।

तदभावे पुनरायुर्वेदमामाण्यचिकित्सितादीनां क सामर्थ्योपयोगः । दुःखमतीकारादा-विति चेत्, तथैवापशृत्युप्रतीकारादी तदुपयोगोस्तु तस्योभयया दर्भनात् ।

यदि रोग, विष, आदि द्वारा उस अपमृत्युकाल होनेको नहीं माना जायगा तो फिर आयुर्वेह या चिकित्साशास्त्रका प्रमाणपन अथवा चिकित्सामें नियुक्त होरहे सहवैष, रोगमतीकारण बंब,तंत्र, आदिकोंकी सामूर्व्यक्त उपयोग क्रेसा कहां समझा जामसा ! अस्यु लिन नहीं होनेवाले जीवोंसे किये थे सब प्रयोग न्यूर्थ हैं। आयर्वेद या चिकित्सा करना क्यिपहारक मंत्र ये कोई आयुष्यकर्मको बढा नहीं देते हैं। हां, अपमृत्युक्ते जुटे हुये कारणोंका विश्वंस कर देते हैं । मुज्यमान आयुष्यसे एक समय अधिक भी जीवित रख छेना इन्द्र, अहमिंद्र, प्रह्, योगिनी, क्षेत्रपाल, संत्र, तंत्रके बृते अशक्यानुष्ठान है। हां, प्रतिबन्धकीकी शक्तिका नाश करनेमें जो औषधि आदि समर्थ कारण हैं, वे मध्यमें अपकर्षण या उदीरणाको प्राप्त हो रहे आयुष्यकर्मके निषेकोंकी अवस्थाका घ्वंस कर उतने ही परे नियत समयोंमें उदय आने योग्य कर देते हैं। आयुर्वेदके प्रमाणफन अनुसार या मंत्र आदि शास्त्रोंके यथार्थपन अनुसार मध्यमें सरता हुआ जीव यदि बचा किया जाय, वे क्या थोडी सामध्ये है ? पूर्वजन्ममें बांधी हुई आयुक्तो मध्यमें ही तोड सक्लेबाले प्रतिकथक रोगोंका समुचित चिकित्सा प्रक्रिया हार। निराकरण समझाया जाकर पूर्ण आयुको भोमनेके छियै जिन शाखोंसे झान सम्पादन किया जाता है, वे आयुर्वेद शास हैं | न्याय प्रन्थ, व्याकरणविषयक प्रन्थ, सिद्धान्तवास, ज्योतिषशासके समान आयुर्वेद भी एक आवश्यक वैक्क विषयके प्रन्थोंका समुत्राय है, कोई ऋग्मेद, युजुर्वेदके समान एक नियत प्रन्थ ही आयुर्वेद नहीं है। यदि कोई यहां यों कहे कि दु:लका प्रतीकार हो जाना, कुछ कुछ सुख मिल जाना, चलने फिरने लग जाना, आदिक कार्यमि ही मिकित्साराल या वैद्योंके पुरुषार्थकी सफलता हो जाती है। अर्थात्—वातव्याधि या कुछ, जलोदर आदि रोगोंकी चिकित्स केवल इस किये की जाती है कि संगीका दुःख कम हो जाय, उसको कुछ कुछ चैन पढ़ने छग जाय, कुछ चल, फिर सके, ला, पी ले, थोडी नींद ले लेवे, रोगका उपशम हो जाब, बस, इसीलिये रोगीकी चिकित्सा की जाती है। उसका मरना तो आयुक्ते पूर्ण होनेपर ही होना, और तब आयु पूरी हो जानेमर महान् सद्वैष, बडे बडे चरक, सुश्रुत, वारभट्ट, या मंत्र तंत्र शासको प्रन्थ व्यर्थ घरे रहेंगे । जीक्ट एक विपल (एक सेंकिन्डका ढाईमां भाग) भी क्ड नहीं सकता है। यों कहनेपर तो आचार्य महाते हैं कि जिस प्रकार असाता केदमीयके उदयक्षे प्राप्त हुये दुः एके प्रतीकार आदिमें शास्त्र, वैक. गाइडिक, तंत्र आदिकी समर्थ्य होना माना जा रहा है, उसी प्रकार अपमृत्युका प्रतीकार आयुष्य वर्मकी उद्दीरमा नहीं होने देने आदि कार्योमें भी उनका उपयोग माना जाओ । जो कारण दु:खका प्रतीकार कर सकते हैं यांनी दुःख देनेवाले पापोदयको ठाल सकते हैं वे अपमृत्युको भी हटा सकते है। उनकी उस सामर्थका उपयोग होना दोनों बकारसे देखा जाता है। दु:खोंके प्रतीकार हो जाते हैं। अपसूर्यका बिनाश भी साधमें हो जाता है। चतुर वैच किसी रोगमें कुछ दिनोंके छिये दु:खको अधिक बढाकर भी रोगीकी अपमृत्युका जिमाश कर देखा है। गर्छ संडे अंगको शक्कचिकित्सा द्वारा काठ कर रोगीको अपमृत्युसे बचा लिया जाता है, सनिपात रोगसे ज्वर रोगमें लाकर प्रनः ज्यस्या किनाश बारता हुआ वैच उस रोगीको मध्य मृत्युसे रक्षित कर लेता है। सतानेवाले व्यक्त रोग और वर्तमामंबे नहीं दुःख दे रहे रोगोंकी विकित्सा होना दोनों क्रकारसे देखा जाता है।

नन्वायुःक्षयनिमित्तोपमृत्युः कथं केनचित्यतिक्रियते तर्श्वसद्वेद्योदयनिमित्तं दुःखं कथं केनचित्यतिक्रियतां ? सत्यप्यसद्वेद्योदयेन्तरंगे हेतौ दुःखं बहिरंगे वातादिविकारे तत्यतिपक्षी- पृशोपयोगोपनीते दुःखस्यानुत्पत्तेः प्रतीकारः स्यादिति चेत्, तर्हि सत्यपि कस्यचिदायुक्द- यंतरंगे हेतौ बहिरंगे पथ्याहारादौ विच्छिके जीवनस्याभावे प्रसक्ते तत्संपादनाय जीवनाधान- मेवापमृत्योरस्तु प्रतीकारः ।

यहां किसी अन्यवादीका स्वपक्ष अवधारण है कि आयुष्य कर्मका कारणवश पूरा खिर जाना-रूप क्षयको निर्मित्त पाकर होनेवाली अपमृत्य भला किसी भी एक औषधि, मंत्र या अनुष्ठान आदि करके कैसे प्रतीकारको प्राप्त की जा सकती है ? अर्थात् —अपने अपने नियत समय अनुसार ही जीवोंका मरण होना अभीष्ट करनेवाला वादी यों कह रहा है कि चाहे किसीकी भी मृत्य या अप-मृत्यु क्यों न होय, वह पूर्व उपार्जित आयुष्यकर्मके क्षय होनेपर ही होगी । मध्यमें उसका प्रतीकार करना व्यर्थ है । लिखे, बदेसे एक क्षणमात्र भी आयु: न्यून या अधिक नहीं होपाती है । इस कस्सित अवधारणका प्रत्याख्यान करते हुये आचार्य कहते हैं कि तब तो असातावेदनीयकर्मके उदय को निमित्त मानकर हुआ दुःख मला किस ढंगसे किस चिकित्सा, मंत्र, आदि करके प्रतीकारको प्राप्त किया जा सकेगा है बताओ । जैसे आप " नामुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरिप " इस सिद्धान्त अनुसार आयुष्यकर्मका पूरा भोग होकर ही जीवेंका मरण होना स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार असातावेदनीयकर्म भी अपना परिपूर्ण कार्य दुःख देना कितने ही दिनों, महिनोंतक पीडा पहुंचाना, परिताप कर देना, आदि फलेंको देकर ही निवृत्त होगा । औषधि आदिसे असद्वेयका प्रतीकार नहीं किया जा सकेगा, किन्तु आप पहिले चिकित्सा आदि द्वारा दुःखोंका मध्यमें ही प्रतीकार हो जाना स्वीकार कर चुके हैं । यदि तुम यों कहो कि दु:खके अन्यन्तर कारण अस्तावेदनीयकर्मका उदय होते संते भी और दु:खके बहिरंगकारण वातन्याधि, उदरशूल, नेत्रपीडा, मस्तकवेदना आदि रोग या वात, पित्त, कफ, दोषजन्य विकारोंकी प्राप्ति हो जानेपर हुये उस दुःखको मेटनेवाली प्रतिपक्ष औषधिके उपयोगका प्रसंग मिल जानेपर दु:खकी उत्पत्ति नहीं होनेसे ही दु:खका प्रतीकार होना समझ लिया जायगा । तुम्हारे यों कहनेपर तब तो हम जैनसिद्धान्ती भी कह देंगे कि किसी जीवके जीवित रहनेके अंतरंगकारण लंबे चौडे आयु:कर्मका उदय होते रहते हुये भी यदि जीवित रहनेके बहिरंग कारण पथ्यआहार उचित जलत्रायुसेत्रन, पाकाशयकी शुद्धि, आदिका विच्छेद प्राप्त होजानेपर जीवित रहनेके अभावका प्रसंग प्राप्त हो चुका समझो । ऐसी दशामें उस आयु:के मध्यविच्छेदको रोककर उसी दीर्घ जीवनका संपादन करनेके लिये जीवित रहनेको वैसाका वैसा ही पुनः संधारण कर लेना ही अप-मृत्युका प्रतीकार होजाओ । भावार्थ-'' यत्युर्व विधिना ललाटलिखितं तन्यार्जितं कः क्षमः '' इस निय-मको सर्वत्र छगा बैठना। आत्माको पुरुषार्थ या अन्य कारणोंसे जैसे खींच छी गयीं कार्मण वर्गणायें कर्म

बना छी जाती हैं। बंधे हुये वे कर्म पुनः नियत समय अनुसार उदयावलीमें प्राप्त होकर आत्माको सुखदु:ख देना, स्थूल शरीरमें रोके रहना, आदि फल देते हैं, उसी प्रकार आत्मपुरुषार्थ या अन्य नियत कारणों द्वारा उन कर्मीकी उत्कर्षण, अपकर्षण, उदीरणा, उपशम, निधत्ति, निकाचना, आदि अवस्थायें भी की जा सकती हैं । हां, मुज्यमान आयुको बढानेके छिये या ज्ञानावरणका उपराम कर-नेके छिये अधवा नामकर्मका क्षयोपशम करनेके छिये आत्मा यदि ऐसे अशक्यानुष्ठान कार्यीका प्रयत्न करेगा तो उसका परिश्रम या कारणोंका व्यापार पहाडसे माथा टकरानेके समान सर्वधा व्यर्थ पढ़ेगा । किन्तु उचित काळसे पूर्वकाळमें ही आयुःकर्मकी उदीरणा या अपकर्षण करनेवाळे अथवा उस आयु-ष्पको मध्यमें ही विष्क्रेद करनेके लिये मुख फाडे बैठे हुये कारणोंकी सामर्थ्यको नष्ट कर देनेवाछे कारणोंका व्यापार व्यर्थ नहीं जाता है। आयुको मध्यमें छेद करनेवाला विष, शक्तवात, आदि कारण पूर्ण समर्थ होता हुआ यदि प्रतीकारक मंत्र, औषधि, आदिकी शक्तियोंका भी ध्वंस कर देगा तो आयुका ऋास अवस्थम्भावी है। किन्तु आयुःके मध्यमें छेदनेवाले कारणोंकी शक्तिका चिकित्सा आदि समर्थ कारणों द्वारा विनाश कर दिया गया है तो " अनी टल जानेपर हजार वर्षकी आय " इस प्रामीण किम्बदन्ती अनुसार दीर्घ जीवन बना बनाया ही है । बात यह है कि चिकित्सा प्रणाली द्वारा अपमृत्युका प्रतीकार किया जा सकता है, जैसे कि सुखके या दुःखनिवृत्तिके कारण मिला देनेपर असद्देश, अरति, शोक, आदि कर्मीके उदय निमित्त परिणामीका प्रतीकार कर दिया जाता है। जो खाया हुआ पदार्थ प्रमाद दशा होनेपर छह घण्टेमें पच पाता वह न्यायाम या सानन्द बायु सेवनार्थ स्बद्धन्द गमनरूप पुरुषार्थ द्वारा तीन घंटेमें ही पचा लिया जाता है।

सत्यप्यायुषि जीवनस्याभावप्रसक्तौ कृतप्रणात्रः स्यात् इति चेत्, तर्हि सत्यप्यसद्देघोदये दुःखस्योपत्रमने कथं कृतप्रणात्रो न भवेत् ?

जैनोंके ऊपर कोई आक्षेप करता है कि दीर्घ कालतक जीवित रखनेके उपयोगी आयुःकर्मका सत्त्व होते हुये भी यदि मध्यमें ही जीवित रहनेके अभावका प्रसंग मिल जाना माना जायगा तब तो कृतका विनाश होजाना, यह बढा भारी दोष आता है। यानी "जो करता है वह अवस्य भरता है" "न कर तो कुछ मी नहीं डर" ऐसी लोकपिसिद्धयां हैं। किये हुवे कमों का यदि फल दिये विना ही बढिया नाश होजाय तब तो दान, पूजा, अध्ययन, अध्यापन, सभी शुभकर्म व्यर्थ पढेंगे। हिंसक, व्यभिचारी जीव भी दयावान् ब्रह्मचारी पुरुषोंकी पंक्तिमें साथ बैठ जायंगे, यों कहने पर तो आचार्य कहते हैं कि तब तो असद्भेदनीय कर्मका उदय होनेपर भी यदि चिकित्सा आदि द्वारा दुःखका उपशम होना माना जायगा तो तुम्हारे ऊपर भी कृतका नाश हो जाना दोष किस प्रकार नहीं बन बैठेगा द बताओ। भावार्थ-तुम जो समाधान उस दुःखके उपशम हो जानेमें करते हो वही समाधि इस अपमृत्युमें भी कर केना। यदि किसी जीवने पहिले पुण्यका उपार्जन किया पश्चाद् तीव पाप कर लिया ऐसी दशामें पुण्यकर्मका पापकर्म क्रपेस संकर्ण होजाने पर कोई कृतअगाश नहीं है। सपैके मुखमें पडे हुये

कारका परिणास विव होजाला है, विशेष सीपमें अत हुये जलका विंदु मोती बन जाता है। जिस संपरमारे सीम कर की कारता है। जिस संपरमारे सीम कर कि कारता है। उसमें कर की प्राप्त को सकती है। की की मिदान नामक पुरुषार्थ हारा छोड़ेसे फलको प्राप्त करने ही परितृप्त होजाता है। यह कर्मोकी अवस्थाओंका परिवर्तन होना ही तो है। इसमें कृतप्रणाश क्या हुआ ? न्यायाम कर अवको शींघ पचा लिया था औपिय करके रोगसे शींघ छुटी था की इसमें कीई कृतप्रणाश दोष नहीं है। सितिश्रय पुण्यशाली जीव अल्यपुरुषार्थसे बहुत लाम उठा लेता है, जब कि पुण्यहीन किसान घोर परित्रम द्वारा अल्यल्य आय कर बाता है। इसमें कृतप्रणाश कुछ भी नहीं है। जो नियम यों कर रहा है कि इस जीवको दस वर्षतक दुःख या सुख मोगना है अथवा जीवित रहना है सार्थम वही मियम यों भी कह रहा है कि बदि इसके प्रतिकृत कारण दृष्य, क्षेत्र, काळ, भाव, मिल जायंगे तो अल्य कालमें भी उन कर्मोका भोग होकर निवारण कर दिया जायगा। केवली भगवान् भी तेरहवें गुण-स्थानमें केवली समुद्दात्रकरण स्वकीय पुरुषार्थ हारा तीन अचातिया कर्मोकी स्थितीको अपने आयुष्य कर्मकी स्थितीके समान छोटी कर लेते हैं। इसमें कृतप्रणाश रत्ती यर भी नहीं है। लोकमें भी कारण वश सजायें घटा दी नाती हैं।

बदुकादिभेषनीपयोगजपीडामात्रं स्वकलं दत्वैवासद्वेदस्य निवृत्तेनं कृतपणाञ्च इति चेत् , क्यांपुणीप जीवसमात्रं स्वकलं दत्वैव निवृत्तेः कृतप्रणाञ्चो मा भूद् विश्विष्टफल्ट्यायायस्त् -अयम समातः। क्योस्ति कस्यविद्यमृत्युश्चिकित्सितादीनां सकल्ट्यान्यथानुषपत्तैः कर्मणामयया-कालविपाकोपपत्तेशाच्रफलादिवत्।

प्रतिवादी करता है कि कडवी, कवैछी, उच्ण, पीडाकारक, आदि वहीं रूचनेवाछी औपवियोंके उपयोगसे उत्पन्न हुई वेदनामात्र ही अपने फलको हेकर असहिद्यमिय कर्मकी
निहाति हो जाती है। अतः दुःखके उपराम करनेमें कृतकर्मका स्मृत्वकृत नाहा महीं हुआ।
अर्थात् कडवी औषधी (दवाई) पी छेने या हही चढाते समय मर्दन (कालहा) का दुःख
मुगतने अथवा छेप्पने चारों ओरसे दुवक कर पतीना छेने एवं शकहारा चीर फाडकी बेदना
सहने आदि फलोंको देकर ही असहिद्दनीय कर्मकी निहित्त हुई है। फल दिये विना कोई कर्म उछता
महीं है। अतः की जा चुकी करनीका प्रणाश नहीं हुआ, यों कहनेपर हम जैन भी कह देंगे कि तम
सी अपवर्तनीय आसुनाले जीवोंके आयुःकर्मकी भी स्कल्पजीवनमें ही अपना पूरा रस दे हेना काल
भपना फल देकर ही निहित्त हुई है। अतः कृतका प्रणाश यत होजों। यानी सरमूर खांडमें जितनी
महरका है तोले भर मिलहंका सार भी उतना ही मीठा है। मले ही सारसे देंड सेर खीलमें लड्ड बढ़ी
कन सिंक, किन्तु मिष्टक्ल (सरबत) उतना ही बन जावगा जितना एक सेर खांडसे मीठा प्रभी हो
सारता है। यह फल क्या न्यून है । यदि तुम यों कहो कि अपवृत्य मान हैनेपर खांडुण कर्मका
परिपूर्ण कालका विशिष्ठ फल देना तो नहीं हुआ, ऐसी दशामें हम जैन भी कह सकते हैं कि जो

ę,

अब रोग चार विनतक सेक्रेस देता, वह बहबी कुटकी, विरावतानिश्रित औराविक पी छेनेपर एक की विनमें उपशान्त की जाता है, यहां भी तो असदेख द्वारा पूर्ण कालतक विभिन्न पाल दिया जाना नहीं है। अतः पूर्व न्यवस्था अनुसार कर्मीक विशिष्टप्रक देनेका अभाव तो इसरे, तुम्हारे, दोनोंके यहां समान है। तिस कारणेंस सिद्ध हो जाता है कि किसी किसी जीवकी मध्यमें ही अपमृत्यु हो जाती है। (प्रतिक्रा) विकिस्तित, मंत्रप्रयोग, पुरुषाधिकोष आदिकोंकी सफलता अन्यया यांनी अपस्युको स्वीकार किये जिसा नहीं बन पाती है (हेतु)। एक बात यह भी है कि मियल शासका अतिकामण कर भी अपकर्षण, उत्कर्षण, अनुसार कर्मीक विपास आगे, पीछे, हो जाते हैं। जैसे कि आस्त्रपट, पनस, नीवृ, खाबूजा, आदि फल समयसे पूर्व है। मुस, रुई, आदिमें पका छिये जाते हैं। अपीए-मुगी, या कबूलर्शके उदरमें विदेश उच्चाताको पहुंचाकर नियत काउसे पाईके प्रस्कः करा किया जाता है। उपयोगमें लाने या आतपमें अधिक रखनेसे वस शीव जीर्ण हो जाता है। मीला क्याबा फैला देनेसे शीव्र सूख जाता है। थोडी उमर्से ही गृहस्वीका बोध आपडनेपर सम्बाध पहिने बुद्धि परिपक हो जाती है। गम्भीरता आ जाती है। इसी प्रकार अपसृत्यु दशामें आयु:कार्कि निषक अधि शब जाते हैं। दस वर्षतक उदयमें आनेके छिये रची गयी आयुष्यकर्मकी पंक्तिको शीव उदयमें छाकर भोगता हुआ जीव मध्यमें मर जाता है। अपमृत्युवाले जीवके भी आयुष्य कर्मकी भीग (फल प्राहि) भोग कर ही निवृत्ति हुई है। अनुप्रक्रमः निर्वराके सुसान कर्मोकी उपकार किया भी बोडी है। कर्मोका पर यथा अब्रह्मस्पर ही सुनवानेवाले जैसे कारण हैं उसी प्रकार मिक्यमें उदय आनेवाले वर्मकी कारण द्वारा वर्तमानमें भी उदय प्राप्त किया जा सकता है। मूर्व छोकरा युवा अवस्थाकी परिपक्तताको प्रथम ही बोह-वरा युक्त भावोंको प्राप्त कर केता है। इद्धत्व और मृत्युको भी शीव चुका केता है। अतः निर्मात हो जाता है कि देव, नारकी, और तीर्धकर महाराज तथा भोगभूमियां, क्रमोगभूमियां, जीवोंक अति-रिक्त रोष संसारीजीकोंकी आयुक्त मध्यमें हास हो सकता है।

यश्राह, विवादामणाः माणिनः सायवर्त्वायुषः सरीरित्वादिष्ट्रियवश्याकः असिद्धसायकः स्वीयुष्कमाणिवत् ते वानपकर्त्वायुष्कसता एकीपपादिकवदिति, सोपि न कुत्तावादीरपुणक्रीयति ।

जो भी कोई आक्षेपकार यों अनुमान बना कर कह रहा है कि विवादमें प्राप्त हो रहे देव, नारकी, तीर्थिकर और भोग्रमूमियां, प्राणी भी (पक्ष) हासको प्राप्त होने पोग्य आयुक्ते सहित हैं (साध्य) राग्रस्थारी होनेसे (प्रथम हेतु) अथवा इन्हियवाले होनेसे (दितीयहेतु) अभवत्तप्तहित आयुवाले प्रसिद्ध कर्मभूमियां मनुष्प, तिर्थेच, प्राणियोंके समान (अन्वयदृष्टन्तः) । इस अनुमानसे देव आदि जीकोकी आयुक्ता हाक होना सच जाता है । अथवा जैनसिद्धान्तको विगादनेके लिये दूसरा अनुमान यह भी किया का सकता है कि वे कर्मभूमियां मनुष्प या एकेन्द्रिय, द्वीन्ह्रिय, आहे जीक भी (पक्ष) आक्षण्डनीय आयुवाले हैं (सान्य) उस ही कारणसे आर्पात् — वारीरचारी होनेसे अथवा इन्द्रियवाले होनेसे (हेतुद्रय) देव, नारकी जीवोंके समान (अन्वयदृष्टाक्त) । अन आचार्म कहते हैं कि वह होनेसे (हेतुद्रय) देव, नारकी जीवोंके समान (अन्वयदृष्टाक्त) । अन आचार्म कहते हैं कि वह

आक्षेपकार भी युक्तिपूर्ण वाद करनेकी टेनको रखनेवाला नहीं है। माबार्थ—जैनसिद्धान्त कोई बचोंका खेल नहीं है, जो कि चाहे जब बिगाड लिया जाय और बना लिया जाय। जैनसिद्धान्तकी भित्ति द्वन्यके वस्तुभूत परिणामोंपर अवलम्बत है। जैसे जलका दृष्टान्त देकर अग्निमें अनुष्णत्व सिद्ध करनेवाला द्वन्यत्व हेतु अथवा अग्निका दृष्टान्त देकर जलमें भी उष्ण स्पर्शको साधनेवाला द्वन्यत्व हेतु, स्पिभेचार, बाध, सत्प्रतिपक्ष दोषोंसे परिपूर्ण है। उसी प्रकार शरीरसिहतपन या इन्द्रियधारीपन हेतु भी स्पिभेचार आदि हेत्वाभास दोषोंसे दृषित है। अतः अविनाभावस्वरूप प्राणको धारनेवाले जीवित हेतुओंसे नियत साध्योंकी सिद्धिको चाहनेवाले विद्वानोंको अविनाभावविकल मृतहेतुओंसे (हेत्वाभासोंसे) अन्ट सन्ट साध्यको साधनेके लिये कुत्सित प्रयत्न नहीं करना चाहिये। अन्यथा घृणापात्र बननेके अतिरिक्त उन्हें बाध, अनिष्टप्रसंग, अपसिद्धान्त, अप्रमाणिकपन, आदि दोषोंको भी होलना पढेगा। इसी बातका श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम दो वार्त्तिकों द्वारा प्रदर्शन कराते हैं।

तदन्यतरदृष्टत्वाच्छरीरित्वादिहेतुभिः । सर्वेषामपवर्त्यं तन्नापपवर्त्यमितीरयन् ॥ ३ ॥ प्रवाध्यते प्रमाणेन स्वेष्टभेदाप्रसिद्धितः । सर्वज्ञानिविरोधाश्च मानमेयाव्यवस्थितेः ॥ ४ ॥

उन अपवर्तनीय आयुवाठे और अनपवर्तनीय आयुवाछे कर्मभूमियां या देव, नारकी आदि जीव इन दोनोंमेंसे किसी एकमें इष्टसाध्यके साथ देखा जा चुका होनेसे दारीरधारीपन, इन्द्रियधारीपन, प्राणयुक्तपन, संसारीपन, आदि हेतुओं करके यदि सभी दारीरधारी जीवोंकी वह आयु न्हास होने योग्य है अथवा नहीं न्हास होने योग्य है, इस प्रकार कथन कर रहा आक्षेपकार (पक्ष) अच्छे प्रकार प्रमाणों करके वाधित हो जाता है (साध्य) अपने इष्ट भेदोंकी अप्रसिद्धि होजानेसे (प्रथम हेतु) और सर्वक्र, जगत्कर्तृत्व, आकाशाव्यापकत्व आदि सिद्धान्तोंका विरोध प्राप्त होजानेसे (ष्रितीय हेतु) । अर्थात्—पक्ष और त्रिपक्षमें सामान्य रूपसे पाये जा रहे धर्म करके जो दूसरेके निर्दोध सिद्धान्तपर कुठाराधात करता है वह स्वयं प्रमाणोंसे बाधित होरहा संता अपने अभीष्ट भेद, प्रमेदोंको नहीं साध सकता है । वह सर्वक्र आदिको भी नहीं मान सकेगा । उसकी मानी हुई प्रमाणप्रमेयव्यवस्था सब छप्त होजायगी । मनुष्यत्व हेतुसे दरिक्षका धनिकपना, या मूर्खका पण्डितपना, व्यभिचारीका ब्रह्स-चारीपन, साधुका गृहस्थपन, वादीका प्रतिवादीपन, अपसिद्धांतीका सिद्धांतीपन, पराजितका जेतापन, स्वामीका एत्यपन, आदि भी सब सध जायंगे । मारी पोक मच जायगी । अतः अविनामावसे विकळ होरहे सामान्य हेतुओं करके विशेष साध्यकी सिद्धि करना स्वयं अपने छिये कुठाराधात है । बाळक मी अपने छिये कांदे बखेरना नहीं चाहता है ।

न सपबर्त्यानपवर्त्ययोरायुपीरन्यतरस्यापि मतिक्षेपं कुर्वन् प्रमाणेन न षाध्यते, अनुमाने नागमेन च तस्य षाधनात् स्वेष्टभेदमसिध्या चायं मबाध्यते । स्वर्धामेष्टं हि केषांचित्माणिनाम स्पायुः केषांचिदीर्घे तत्र शक्यं वक्तुं । विवादापनाः माणिनोस्पायुषः श्वरीरित्वात् मसिद्धास्पा युष्कवत् ते वा दीर्घायुपस्तत एव मसिद्धदीर्घायुष्कवदिति स्वेष्टविभागसिद्धिः मबाधिका ।

विपक्षको अन्वयदृष्टांत बनाकर व्यभिचारी हेतुओं द्वारा अपवर्तनीय और अनपवर्तनीय दं आयुओंमेंसे किसी भी एक आयुके निराकरणार्थ आक्षेप कर रहा स्थूळबुद्धि पंडित प्रमाण करवं बाधित नहीं होता है, यह नहीं समझ बैठना । क्योंकि अनुमानप्रमाण और आगमप्रमाणसे उस आक्षा कर्ताके मन्तव्यकी बाधा होजाती है। जब कि प्राणिदया आदि कारण बिझेबोंसे उपार्जित किये गये ति। प्रकारके अदृष्टकी सम्प्राप्ति होजानेसे देव आदि जीबोंकी आयुक्तो अनुमान द्वारा अनपवर्तनीय साधा ज चुका है तथा उसके विपरीत माने गये विशेष अदस्यके वश हुये कर्मभूमियां जीवोंकी आयुका विश आदि द्वारा ऱ्हास हो सकना सिद्ध कर दिया गया है, ऐसी दशामें आक्षेपकारके अनुमानामार उक्त निरवद्य दो अनुमानोंसे बाधित हो जाते हैं एवं सिद्धान्तप्रन्थोंमें आयुका परिपूर्ण भोग औ कदाचित् मध्यविच्छेद होना भी समझाया गया है। अन्तक्रहराग्रंगमें दारुण उपसर्ग सह कर कर्मक क्षय करनेवाले जीवींकी वर्णना है। अनुत्तरीपपादिकदशांगमें भी उपर्सावाले मुनियोंका वर्णन है तथा सिद्धान्तप्रन्थ अनुसार गोम्मटसारमें आयुःकर्मके संक्रमण विना नी करण स्वीकार किये हैं। " संकमणा करणूणा णव करणा होति सब्ब आऊणं "। वैद्यक प्रन्थोंमें भी आयुःका पूर्ण भोग होना अथवा किसी जीवकी आयुः का मध्यमें हास हो जाना भी परिपुष्ट किया है। अतः आक्षेप-कारके मन्तव्यको आगमप्रमाणसे भी बाधा (करारी ठेस) प्राप्त हुई । तथा यह सर्वत्र पोळ चळानेवाळा आक्षेपकार अपने अमीष्ट किये गये मेदोंकी प्रसिद्धि करके भी चोखा बाधित कर दिया जाता ै। देखिये । इस आक्षेपकारने स्वयं किन्हीं किन्हीं चीटी, मक्खी, गिडोरे, वास, पतंग, प्राणियोंकी अल्प आयु अभीष्ट की है और किन्हीं किन्हीं बृक्ष, हाथी, बलिष्ठ मनुष्य, सर्प, आदि जीवोंकी लम्बी आयु: मानी है। उस दशामें हम भी इसके ऊपर कटाक्ष करते हुये यों कह सकते हैं कि जिन जीवोंकी लम्बी आयु तुमने मानी है वे विवादप्रस्त हो रहे बुक्ष आदि प्राणि भी (पक्ष) अल्प कालवार्ल आयुको घारते हैं (साध्य), शरीरधारी होनेसे (वही तुम्हारे घरका हेतु) अल्प आयुवाले प्रसिद्ध घास जीव या रातको दीपकके चारों ओर चूमनेवाछे पतंग आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) अधव दूसरा अनुमान यों भी बनाया जा सकता है कि अल्प आयुवाले अभीष्ट किये गये वे खटमल मेंढकी गिडार, राजयक्ष्मा रोगवाले प्राणी (पक्ष) दीर्घ आयुत्राले हैं (साध्य) तिस ही कारणसे अर्थात्— तुम्हारा अन्यस्त ळाळित, पाळित, वही शरीरवारीपन हेतु उनमें घटित हो रहा है (हेतु), प्रसिद्ध हो रहे दीर्घ आयुवाले वटवृक्ष, हाथी, मञ्ज पुरुष, आदि जीवोंक समान (अन्वयद्यान्त)। यहां प्रशं-साकी बात तो यही है कि हमने तुम्हारे अभीष्ट हो रहे हेत्रसे ही तुम्हारे अभिमतसिद्धान्तका निरा- कारण कर दिक्क है। अतिनंशायम के अमोध माने जा रहे शक्तारको बाहायण दक्षा प्रक्रिनाशायणका खाक्क बाह्य प्रक्रिनाशायम के अमोध माने जा रहे शक्तारको बाह्य प्रक्रिनाशायणका खाक्क बाह्य के स्टू अल्प्र आहुवाले और दीर्घ आहुवाले जीवा के सामार्थ आहुवाले जीवा का अल्प्र के सामार्थ आहुवाले जीवा का सामार्थ के सामार्थ आहुवाले प्रक्रिय आहुवाले आहुवाले प्रक्रिय आहुवाले आहुवाले प्रक्रिय का सामार्थ के अल्प्र के सामार्थ के सामार्य के सामार्थ के सामा

सर्वज्ञादिषिरोधाकासी वाध्यते तथाहि-विवादापकः पुरुषः सर्वज्ञा वीतरामी का न भवति श्रसीरित्वादन्यपुरुषवत् वेदार्यज्ञो ना न भवति जैविन्यक्तिस्तत एव तहत् विपर्ययमसंगी वेकि मत्ववस्थानस्य कर्ते श्रमणत्वातः।

तथा वह अत्रक्षेत्र तारका निक्सार अभिगत तो सर्वेष्ठ, व्यापक आत्मा या सत्करीसे स्वर्धप्राप्ति आदि स्वीकृतियोंसे विसेध आ जानेके कारण भी वाभित हो जाता है। उसी वातको यो स्पष्टरूपसे कहते हैं कि बौदों करके माना गया बुद्ध या सांख्यों द्वारा माना गया कपिल अथवा और भी (केतुः) अन्य रथ्या पुरुष, या किसाब आदि मनुष्योंके समान (अन्वयद्दशन्त) । तथा मीमांसक पण्डित को जैमिन, मत्, आदि पुरुषोंको बेदको भर्धका हाला स्प्रीकार करते हैं। उनके उत्पर अनुमान द्वारा यह कटाधा किया जा सकता है कि जैमिनि, मनु, याज्ञवल्कय आदिक पुरुष (पक्ष) वेदके अर्थको जानकेवाछे वहीं हैं (साध्य) उसी शरीहवारीपन होने के (हेल्व) प्रामीपा पुरुषोंके समान (बही पहिका अन्यमद्वाल) | नैयायिक पष्टित आकाश, काल, दिशा, आत्मा, इन द्रव्योंको व्यापक मानके हैं। उनके उत्पर की यों अनुसान बनाकर फेका जा सकता है कि आत्मा या आकाश (पक्ष) नवापक नहीं है (साध्य) दान्य होनेसे (हेत) घट, पट, आदिके समान (अनवयद्यहान्त) एवं घट पट आदि पदार्थ अनिस नहीं हैं (प्रतिका वाक्य) द्रव्य होनेसे (हेत्) आकाशके समान (अन्वसद्वहान्त)। मीमांसर्वोके अमेतिक्षेपः आदि ग्रामकर्म (पक्ष) स्वर्गको देनेवाले नहीं हैं (साध्य) कर्म होतेसे (हेत्) कलंजमक्षण, चौरी करना, मन्ष्यमध आदि कुकुर्सोके समान (अन्त्रयदृष्टान्त)। अपन्य मिपरीत को जानेका भी प्रसंग प्राप्त होसा । अर्थाद--रथ्या पुरुष (पक्ष) सर्वज्ञ है (साध्य) राधिकारी होनेसे (हेत्:) बुद्ध, कपिछ आदिके समान (अन्वयदशन्त)। तथा प्रामीण पुरुष भी रारीध्यारी होनेसे जैमिन, आदिके समान वेदार्थोका झाता है। एवं घट, पट, आदि भी द्रव्य होनेसे आकाशको समस्य व्यापक करों नकी माच किये जांग ! मीमांसकोंके अशुभ अनुष्ठान भी अग्निष्ठोम आदिके समान स्वर्गप्रापक हो जांग । यो आक्षेपकारके ऊपर पूर्वेक प्रकार असद् उत्तरक्रपसे प्रसमस्थात (जाति) किया जा सकता है। जैसे कि उन्होंने किया सोचे समझे हम जैनोंके ऊपर दो अनुसात स्वरूप अंडडाशा (प्रम्प्ड) की तोष लगा दी, थी. जो कि फुस्स होकर रह गयी। परिणास कुछ नहीं निकास, व्यर्थमें अपयश बीचमें भोगता पड़ा ।

र्यमाणमीमाव्यवस्थानामानं बाज्यते । अस्यं हि वसतुं विवादाण्यासितः प्रमादाः प्रमाणसहितः श्वरीहित्वात् समिपानामामुळवत् ममयस्य वा न बहिन्द्रीता स्त एव तहिति। ततः प्रमाणममेषव्यवस्थिति भ्रतिमस्योक्कवन् सर्वश्चादिष्यवस्थिति स्वष्ट्रिमागसिद्धिं वा नामपनस्यस्योक्कवन् सर्वश्चादिष्यवस्थिति स्वष्ट्रिमागसिद्धिं वा नामपनस्यस्यस्यतस्य वस्युवः प्रतिसर्वं कर्तुमहीति तस्य प्रतिसिद्धत्वाद्दिति दर्भयति।

चीथी बात यह कि यह अक्षिपकार (पक्ष) प्रवाण और प्रमिरोंकी अन्यवस्था हो जानेसे र हैत) शन्यवादीके समान (अन्यमहंद्यान्त) स्वयं बाधितं को जाता है (साध्य) । देखिये । उसके एमान इस भी अनुमान गढकर यों कह सकते हैं कि ज़ब्हारा कमीष्ट हो रहा किन्तु इस समय हमारे तुम्हारे मध्यवर्ती विवादमें पड़ा हुआ अमाणका कर्ता आत्मा (पक्ष) क्रमाणकानसे रहित है (साध्य) श्राहीरधारी होनेसे (हेत्) सन्निपात, सर्पदेश, अपल्यार (मृगी) मुर्च्हा आदिसे आकुलित हो रहे मन्माके समान (अन्वयदशान्त)। अथवा दूसरा अनुमान यों छीजिये कि विवादमात आत्मा (पक्ष) बट आदि प्रमेयोंका परिज्ञापक नहीं है (सान्य) उस ही कारणीस अर्थात्—शरीरधारी होनेसे ही (हेत्र) उन्हीं सन्निपात आदिसे प्रसित हो रहे मनुष्योंके समान (अन्वयद्रष्टान्त) । इत्यादिक चाहे जितने असत् कटाक्ष उठाये जा सकते हैं । किन्तु यह अशिष्ट आचार प्रामाणिकपुरुषोंको शोभा नहीं देता है। समीचीन हेलओंद्रारा स्वपक्षसाधन करना या परपक्ष दूषण देना वादी, प्रतिबादियोंको शोभता है। तिस कारणसे यह आक्षेपकार यदि प्रमाण या प्रमेयोंकी व्यवस्थाको अथवा प्रमाता या त्रमेयकी व्यवस्थाको यदि किसी भी प्रमाणसे स्वीकार कर रहा है और सर्वज्ञ, बीतरास, व्यापकपन आदिकी ज्यवस्थाको यदि अभीष्ट कर रहा है तथा अपने इन्हें तर्रवीके विमार्गकी सिद्धिका यदि अभिमत कर रहा है तो ऐसी दर्शामें नहीं डांस डीने किय का उससे न्यारा डांब होने कीय आयु:का खंडरन करनेकी लिये समर्थ नहीं हो संकता है। क्योंकि किसी कीवकी आध्र कवामें द्वास होने योग्य नहीं है तथा किसी किसी प्राणीकी आयु (अप्र) हम्स होने योग्य है। यो उस आयको प्रमाणिक प्रतीतिथीं द्वारा साथा जा चुका है। इसी बातको श्रीविधानन्द स्वामी गालिया छन्दहांश सार्चिकमें दिखलाते हैं।

> इति सति बहिरंगे कारणे केपि मृत्यो-र्न मृतिमनुभवंति खायुषो हान्यभावे । ज्वलितहुतभुगंतःपातिनां पंचनापि । प्रतिनिकतन्त्रमां जीवितस्यापि होः ॥ ५ ॥

इस अकार कीकर्से कोई मोर्ड जांरको, देव, कोम बुनिया, आदि जीव तो अपसृत्युके विहरंग कारण, रास्त्रवात, संब, आदिके होनेपर भी अपसृत्युके कन्त्रहंगकोषा बांधी गई आयुःकर्मकी उदी-रणा नहीं होते सन्ते अपने उपार्जित आयुःकी हानि गाही होनेपर संखु (अपसृत्यु) से मध्यमें ही मरण हो जानेका अनुभव नहीं कर वाते हैं के क्या क्याकर अवन आदिके भीतर पढ जानेवां कीट, पतंग मनुष्यं, आदि जीवोंका तत्काल मध्यमें मरण होना भी देखा जाता है और जिन जीवोंके शरीर परिपूर्ण आयुक्तो भोगनेके लिये प्रतिनियत हो रहे हैं, उन जीवोंका जीवित रहना भी देखा जाता है। मावार्थ-इस सूत्रमें कहे गये देव आदि जीवोंकी तो अपमृत्यु होती नहीं है। किन्तु कर्मभूमिमें भी अनेक जीव ऐसे हैं जिनको कि अपमृत्यु होजानेके कातिपय कारणोंका योग मिल जानेपर भी विशिष्ट आयुक्ता संसर्गबल बना रहनेसे वे नहीं मर पाते है। तिखने घरके ऊपरेस गिर पडना, गोली लग जाना, सर्प द्वारा काटा जाना, तोपसे उडाये जानेका अवसर मिल जाना, राजाङ्गा अनुसार भूखे सिंह के पिंजरेमें प्रवेश कर जाना, भीत गिर जाना, नदीमें इब जाना, आदि अपमृत्यु कारणोंका प्रकरण मिल जानेपर भी कई पुण्यशाली जीव मरनेसे बाल बाल बच जाते हैं। अखण्ड जीवदया, परोपकार आदि विशेष कारणोंसे उपार्जित किये पुण्यविशेषका साथी विशिष्ट आयुःकर्म ही यहां बचानेवाला है। हां, तिस प्रकारका पुण्य या नारकीयोंकासा विलक्षण पाप जिनके पास नहीं है, ऐसे असंख्य जीवोंकों आयुका बाह्य कारणों द्वारा मध्यमें विष्ठेद भी हो सकता है।

तदेवं युक्त्यागमाभ्यामविरुद्धोनपवर्त्यंतरायुर्विभागः सूक्त एव । इति द्वितीयमान्दिकम् । तिस कारण इस प्रकार सर्वज्ञ आम्नायसे चले आरहे सूत्रवचन अनुसार श्री विद्यानन्द स्वामीने युक्ति और आगमप्रमाणसे अविरुद्ध होरहा अनपवर्त्य भोर सापवर्त्य आयुका विभाग बहुत अच्छा ही कह दिया है । यहांतक द्वितीय अध्यायका दूसरा आन्हिक परिपूर्ण हुआ ।

स्वं तत्त्वं लक्षणं भेदः करणं विषयो गतिः। जन्मयोनिर्वपुर्लिगमहीनायुरिहोदितम्॥१॥

इस दूसरे अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने जीवके निज तत्त्व पांच औपरामिकादिक भावोंका निरूपण किया है, जीवके छक्षण उपयोगका कथन किया है, उस उपयोगके भेदों या जीवके संसारी, मुक्त, पृथिवीकायिक, आदि भेदोंका प्ररूपण किया है, ज्ञानके करण हो रहे द्रव्य इन्द्रिय, और भाव इन्द्रियों तथा उनके स्पर्श आदि विषयोंकी निरूपणा की है, नवीन रारीरको प्रह्रण करनेके छिये या मोक्ष जानेके छिये हो रही जीवकी गतिका वर्णन किया है। पश्चात्—संसारी जीवके तीन जन्म, नौ योनियां, पांच रारीर और तीन छिंगोंका सूत्रण करते हुये स्वामीजीने आयुक्ता हास नहीं कर पूर्ण आयुक्तो भोगनेवाछे जीवोंकी प्ररूपणा की है।

इति श्रीविद्यानंदि आचार्यविरिचिते तस्वार्थ ख्रोकवार्तिकाळंकारे द्वितीयो अध्यायः समाप्तः ॥२॥ इस प्रकार सर्वज्ञकल्प श्री जमास्वामी महाराज बिरिचित तत्वार्थसूत्रोंके ऊपर श्री विद्यानन्दि आचार्य महाराज द्वारा विशिष्टरूपसे रचे गये ख्रोकवार्तिकाळंकार नामक महान प्रथमें इसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

द्वितीयाध्यायकी विषयसूची.

इस दिलीय अध्यायके प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही श्री विद्यानन्द स्वामीने औपरामिक आदि मार्थोंको पुक्ति और दृष्टान्तके बक्से बढिया साथ दिया है। अल्प्रान्तिय कर्मोंके उद्यक्तो स्पष्ट समझा दिया है। उक्त माब जीवको ही हो सकते हैं। प्रधान आदिके नहीं। मोक्षमें भी कुछ माव पाये जाते हैं। पुनः उक्षणके ऊपर अच्छा विचार करते हुये अर्थिकिया, साहस्य, वैसाहस्य, को साधकर आत्माको अनादि, अनन्त, सिद्ध कर दिया है। चार्थोंकके मतका प्रत्याख्यान कर जीवका तदात्मक उक्षण उपयोग ही करना पर्याप्त बताया है। नाना जीव अपेक्षा बारह प्रकारके उपयोगों अथवा एक जीव अपेक्षा उनमेंसे किसी एक उपयोगको छक्षण बनाते समय छक्ष्य जीव कितना समझा जाय, इस बातका बहुत अच्छा स्पष्टीकरण कर दिया है। जीवके मेदोंका निरूपण करते समय एकत्व प्रवादका निराकरण करते हुये संसारी, असंसारी, तथा अयोगकेवळी सभी जीवोंका संग्रह कर छिया गया है। आत्माके व्यापकलका खण्डन कर एकेन्द्रिय जीवोंको युक्ति और आगमसे साथ दिया है। बानका अत्यन्त अपकर्व भस्म आदि जड पदार्योमें नहीं, किन्तु एकेन्द्रिय जीवोंमें है। पांच इन्द्रियोंके मेद, प्रभेदको युक्तिपूर्वक साधते हुये छटे नोइन्हिय मनके भी उसी प्रकार भेद हो रहे बतला दिये हैं। तत्पश्चात्—इन्द्रियोंके विषय दिखलानेमें नवीनताको लाते हुये इन्द्रियोंके स्वामी जीवोंकी युक्तिपूर्ण सिद्धि की है। संज्ञी जीवोंकी संज्ञाका विचार कर दृष्ट्यमनको साधा है। प्रथम आन्हिकको समाप्त करते हुये औपरामिक आदि भावोंमें नयभंगी जोड दी है।

इसके आगे द्वितीय आन्हिकमें आत्माके व्यापकत्वका निराकरण कर आत्माका यहां वहां गमन करना पृष्ट कर दिया है। ईश्वरके झानकी नित्यता, अनित्यतापर चोखा विचार चलाया है। जीवोंकी आकाशप्रदेश श्रेणी अनुसार गतिके छह प्रकार प्रक्रम बताकर लोकके चोकोर संस्थान या गोल रचनापर आक्षेप करते हुये अनाहारक अवस्था बतायी है। जन्म या योनिके कारण होरहे कर्मोंकी विचित्रतापर प्रकाश डाकते हुये पुनः गर्भ, उपपाद, सम्मूर्छन जन्मके अधिकारी जीवोंके साथ उद्देश्य दलमें एवकार लगाकार अनिष्टकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। शरीरोंकी रचनाका कारण कार्मणशरीरको बताते हुये नामकर्मके वैचित्र्य की प्रशंसा की गयी है। शरीरोंकी रचनाका कारण कार्मणशरीरको बताते हुये मी सूक्ष्म संस्थानको युक्तियोंसे साथ कर कर्मको पौद्रलिक बतला दिया है। बौद्ध, वैशेषिक, चार्वाकोंके कल्पित शरीरोंका निरास कर पांच ही शरीर नियत किये गये हैं। धाराप्रवाह रूपसे तैजस, कार्मण,का अनादिसम्बन्ध प्रसाध कर एक समयमें पांचों शरीरोंका असम्भव बता दिया गया है। तेजस शरीरके निरुप-मोगपनके स्पष्ट कथनकी आवश्यकता नहीं समझी गयी है। शरीरोंको विथेय दलमें डाल कर गर्भ, संमूर्छनज आदि उद्देश्य दलोंको लक्षण सरीखा बनाते हुये लक्षणके फल इतर व्यावृत्ति होनेको अच्छा घटा दिया है। शरीरोंका परस्पर मेद सिद्ध करनेके लिये निर्दोष हेतु दिये गये हैं। आहारक

शरीरको अन्य शरीरोंसे मिन्न साधनेमें चार हेतु सर्वांग सुन्दर मनोहर बतलाये हैं। शरीरोंका प्रतिपादन करनेबाले चौदह सूत्रोंका विवरण कर जीवोंकी लिंगन्यवस्थाको अनुमानों द्वारा सुदृढ़ कर दिया है। परिशेषमें जाकर हास होने योग्य और नहीं हास होने योग्य आयुष्यवाले जीवोंका बहुत बढ़िया प्रति-पादन कर मुमुक्षु श्रोताओंको परितृप्त कर दिया है। अन्य वादियोंके ऊपर मीठा कटाक्ष करते हुये आयुक्ते अपवर्त और अनपर्वतको साध कर मालिनी छन्दः द्वारा दितीय अध्यायके विवरणको जयहार (जीतकी माला) पहना दिया है।

जीवमणदा ग्रुनिमिर्दितीयाऽध्याये स्वतन्त्वेन्द्रियगोचरेनाः ।
गत्युद्भवौ योनिमरीरिलङ्गाऽन्हासायुषभोत्किलता यथार्ष ॥ १ ॥
इस प्रकार श्री विद्यानन्द स्वामीकृत महाशास्त्र श्री तत्त्वार्थस्रोकवार्तिककी आगरा मंडलान्तर्गत
चावलीप्रामनिवासी न्यायाचार्य, तर्करत्न, न्यायदिवाकर, सिद्धान्तमहोदधि, स्याद्वादवारिधिपदवीविभूषित माणिकचन्द्र कृत तत्त्वार्थचिन्तामणि नामक हिन्दीभाषाटीकामें

---×**×----

दितीय अध्याय परिपूर्ण हुआ ।

अथ तृतीयोऽघ्यायः

-022420-

चतुरस्रधनाकारा क्रोकस्यं वी विक्रोकयन् । इस्तामलकवल्लोकं श्री सुपार्श्वः श्रियं कियात् ॥ १॥

श्री उमास्वामी महाराजने प्रथम अन्यायमें जीवके स्वामाविक अनुजीवी गुण हो रहे सम्यग्दर्शन, और चारित्र या जीवके पार्श्ववर्ती आनुवंगिक तत्व तथा हान और नयोंका निरूपण किया है। दूसरे अन्यायमें विशेष भेददृष्टि अनुसार जीवके अन्तरंग आधार क्षेत्र स्वतत्व, उपयोग, आदिका वर्णन करते हुये जीवके बहिरंग क्षेत्रकी ओर छस्य देकर योनि, जन्म, शरीरोंका प्रतिपादन किया है। अब तीसरे अन्यायमें भेददृष्टिको बढाते हुये जीवके उपचरित असद्भूतन्यवहारनय अनुसार बहिरंग क्षेत्रके भी बहिरंग हो रहे स्थानविशेषोंका निर्णय कराते हुये अछोकस्थ, छोकाकाशके अथोकोक और मध्य छोककी प्रतिपत्ति शिष्योंको करानेके छिये श्री उमास्वामी महाराज तृतीय अध्यायको रचते हैं।

मोक्षमार्ग हो रहे सम्परदर्शनके विषय जीवादि पदार्थीकी विशेषतया विश्वति करनेके छिये यह लोकालोकका विभाग समझ लेना अत्युपयोगी है। अनुप्रक्षा चिंतन या प्यान करनेमें भी इसकी आवस्यकता है। जगत्के सम्पूर्ण पदार्थीने सबसे अधिक लम्बा, चौडा, मोटा, द्रव्य आकाश है। " सन्त्रायासमणंतं " अनन्तानन्त नामकी संख्याके मध्य मेदोंमें सर्वेद्धर और गणित शास द्वारा हमको निर्णात एक विशेष संख्या अनन्तानन्त है। उस अनन्तानन्त परिमाणवाले प्रदेशों बराबर ख्या और उतना ही चौडा तथा ठीक उतना ही मोटा घन चौकोर आकाश द्रव्य है। आकाशको यदि गोल माना जायगा तो सब और आकाश अनन्तानन्त प्रदेशबाला है. इस सिद्धान्तसे बिरोध पड जायगा । गोल वस्तके मर्घ्यमाग पेटको पूर्वसे पश्चिम या उत्तरसे दक्षिण नापा जाय तो उसके प्रदेश ठीक उतने ही बराबर बैठ जायंगे । किन्तु गोल वस्तुकी बगलके ऊपर नीचेका देश नापा जायगा तो प्रदेशोंकी संख्या उत्तरोत्तर घटती जायगी । यहांतक कि गुर्लाके अप्रमागपर पहुंचते हुये तो अत्यलप प्रदेशों या एक प्रदेशकी ही उचाई, निचाई, रह जायगी । जब कि आकाश सब ओरसे ठीक उतने ही यानी न्यून अधिक नहीं अनन्तानन्त प्रदेशोंका धारी है तो तिकोना, पचकोना, गोल या लंबोतरा, चौकोर आदि संस्थान उसके कथमपि नहीं हो सकते हैं। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्त्ती विरचित त्रिळोकसारमें द्विक्रप वर्गधाराका निरूपण करते समय " तिविद्व जहण्णाणंतं वगासळाद-रुखिदी समादिपदं, जीवो पोम्गल कालो सेढी आगास तत्पदरम् " इस गाथा अनुसार जघन्य अनन्तसे अनन्त स्थान आगे चळकर हिरूपवर्गधारामें जीव राशिकी अक्षय अनन्तानन्त परिमाण संख्या आई बताई है। उससे अनन्तानन्त गुणी पहल गरि है। पहलोंसे भी अनन्तनन्त गुणे न्यवहार कालके समह

समझाये हैं। कालसमयोंसे अनन्त स्थान चलकीर दिरूपवर्गधारामें एक प्रदेश लंबी और एक प्रदेश चीडी तथा अनन्तानन्त राज् छन्त्री पूरे आकाशकी सूँची श्रेणी आहें बताई है। इसका एक बार वर्ग करने पर दिरूप वर्ग धाराके अगळे मैदेमें उतना अनन्तानन्त प्रदेश छंबा और उतना ही चौडा प्रत-राकाश गिना गया है। जब कि सूची आंकाश, प्रतर आकाशको कंठोक कह दिया है तो " सन्ता-यासमणंतं '' सब ओरसे आकाश समानरूपसे अनन्तानन्त प्रदेशों वाळा है, इस नियमसे उतना अन-न्तानन्त प्रदेशी मोठा वनस्वरूप भी स्वतः सिद्ध होजाता है। फिर भी स्पष्ट प्रतिपत्ति करानेके अर्थ सिद्धांतचक्रवर्तीने क्रपा कर दिस्सप धनधारामें " पञ्चधणं विद्गुलजगसेढी लोयपदर जीवधणं, तत्तो पढमं मूछं सन्यागार्सं च जाणेजो '' इस गाथा अनुसार जीवराशिके घनसे अनन्त स्थान चलकर सम्पूर्ण आकाशकी छंबाई, चौडाई, मोटाई, की धनस्वरूप स्पष्ट कह दिया है। तथा आचारसारके ततीय अध्यायमें चौबीसवां स्ठोक " व्योगामूर्त स्थितं नित्यं, चतुरसं समं धनं, भावावगाहहेतुश्चानन्तानंतं प्रदेशकम् " यो है । श्री वीरनन्दि सिद्धांतचक्रवर्तीने अनन्तानन्त प्रदेशवाले आकाशको सब ओर समान होरहा धन चौकोर बताया है। वर्धीके समान धनचतुरस अलोकाकाशके ठीक बीचमें लोकाकाश व्यवस्थित है, जो कि दक्षिण, उत्तरमें सर्वेत्र सात राजू है और पूर्व, पश्चिम, दिशामें नीचे सात राजू तथा क्रमसे घटता हुआ सात राजू ऊपर आकर एक राजू रह गया है। पुनः संमसे बढता हुअ साढे दश राज्य ऊपर पांच राज्य फैलकर और चौदह राज्य ऊपर क्रमसे घटता हुआ एक राज्य रह गया है। एक राज् आकाशमें असंख्याते योजन समा जाते हैं। जगच्छेणीका सातवां भाग राज् है। अद्धा-पल्यके अर्धच्छेदोंके असंख्यातवें भाग प्रमाण घनांगुळोंका परस्पर गुणाकार करनेपर श्रेणी नामकी संख्या उपजती है। अद्धापल्यके अर्थक्छेदप्रमाण अद्धापल्योंको परस्पर गुणा करनेपर सूच्यंगुल नपता है। प्रानी एक प्रदेश लंबे, चौडे और आठ पडे जीके बरावर अंगुल ऊंचे आकाशमें असंख्यात पत्योंके समयोंसे भी अधिक परमाण बराबर प्रदेश हैं। सच्यंग्रूछके प्रतरको प्रतरांग्रूछ और घनको घनां-गुळ कहते हैं । धनांगुळसे पांचसी गुणा प्रमाणांगुळ होता है, जो कि अवसिर्पिणीके चतुर्थ काळकी आदिमें ह्रये चक्रवर्तीके पांचसी धनुष ठंबे शरीरका अंगुल है। पांच अंगुलियोंमें अंगूठाकी चींडाई मानी गयी है। अकृत्रिम पदार्थ छोक, सुमेरु, सूर्य, कुळाचळ, द्वीप, समुद्र, भूमियां, स्वर्गविमान, बातवल्य, आदिकोंकी नाप बंडे यौजनोंसे की गयी है. जो कि छोटे योजनसे पांच सौ गणा अधिक है। लोकाकाशका ठीक बीच तो सुदर्शन मेरुकी जडके मध्यमें विराजे द्वये आठ प्रदेश हैं। एक. तीन, पांच, सात, आदि संख्याओंको विषम संख्या कहते हैं और दो, चार, छह, आठ, आदि केवल हान पर्यन्त दो से दो दो बढ़ती हुई संख्याको समधारामें कहा गया है। जब कि राजके प्रदेश सम-भारामें पड़े हुये हैं तो चौदह राजू ठंबे या सात राजू चौड़े और मध्य छोकमें एक राजू मोटे छोका-काशका ठीक बीच आठ निकलता है, अर्थात्—ऊपरसे नीचे और उत्तरसे दक्षिण तथा पूर्वसे पश्चिम तक जिस पदार्थके प्रदेश समसंख्याया है देसे घन संख्यानान पदार्थीका बीच आठ बैठता है।

समसंख्यावाळी पंक्तिका बीच एकं निकाळमा गगनवुसुमके समान असम्भव है । सुदर्शः मेरुकी जडके पासवाळी चित्रामें चार और नीचली वजामें चार यों गोस्तन या गोस्तनी दार (बंडा अंगूर) के आकारको धारनेवाले आठ प्रदेश हैं । पुद्रल परमाणुसे या काल पर माणुसे नापे गये अखण्ड आकाशके कल्पित अंशको प्रदेश कहते हैं। जैसे आकाः जितना ही छम्बा उतना ही चौडा और उतना ही ऊंचा है, उसी प्रकार परमाण भी जितन ही लम्बा है, उतना ही चौडा और उतना ही ऊंचा है। उससे छोटा दुकड़ा न हुआ, न है, न होगा अतः परमाणु अविभागी कहा जाता है। परमाणुमें सामान्य गुण प्रदेशक्त अवस्य है, उस गुणके द्वार परमाणुका आकार लम्बाई, चौडाई, मोटाई, कुछ अवस्य होनी चाहिये । गेंदके समान परमाणुको गोः माननेपर तो छोकाकाशमें काछायुंओंके मध्य पोछ रह जायगी।गोछ पदार्थोंका ढेर कहीं निरन्तर ठसा ठस नहीं भरा जा सकता है। लोकमें ठसाठस भरे हुये धर्म, अधर्म, या आकाशकी ठीक ठीक पूर्व नाप सबसे छोटे गोल दुकडेसे नहीं हो सकती है। अतः परमाणु बफींके समान चौकोर मान लेन चाहिये । परमाणुमें पुनः कोई अंश नहीं है और अंशोंसे वह बनाया गया भी नहीं है । अतः निरंद है। किन्तु पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, ऊर्च, अधः, छहों दिशाओंसे छह परमाणु आकर मध्यवत एक परमाणुसे चिपट जाते हैं। इस कारण परमाणु बढंश भी हैं। द्वयणुक बनते समय छह पैछवार एक परमाणुकी एक ओरकी भीतसे दूसरे परमाणुकी एक ओरकी भीत भिड जाती है, तब दो प्रदेश वाळा बणुक बन जाता है। यद्यपि एक परमाणुमें अनन्त परमाणु भी सर्वाङ्गीण संयुक्त या बर होकर एक प्रदेशमें विराज रहे हैं। किन्तु लम्बे, चौडे, घडे, पुस्तक, पर्वत, आदि अवयवी पदार्थीकं बनानेके छिये परमाणुके साथ दूसरे परमाणुका एक ओरकी भींतसे ही परस्पर संसर्ग मानने पडेंगे अन्यथा सुमेरु और सरसोंका आकार समान हो जायगा। यदि गोल परमाणुसे छह गोल परमाणु चार ओरसे चिपट बैठेंगे तो बीचमें पोछ अवस्य रह जायगी। रबडके सदश परमाणु घटता बढता नहीं है अतः परमाणुको बर्फीके समान छह पैछत्राला मानो । " अत्तादि अत्तमञ्ज्ञं अत्तत्तं णेव इंदिये गेउजम् जद्दव्यं अविभागी तं परमाणुं विआणेहि '' का भी यही अभिप्राय निकालना चाहिये । सिद्धान्त चक्र वर्ती श्री वीरनन्दी आचार्यने आचारसारके तृतीय अधिकार सम्बन्धी तेरहवें क्लोकमें परमाणुको ह्या रूपसे चौकोर अमीष्ट किया है। " अणुख पुद्रखोऽभेदावयवः प्रचयशक्तितः, कायश्च स्कन्धभेदो त्यश्चतुरस्रस्वतीन्द्रियः ''। परमाणु सूक्ष्म है उससे भी अत्यन्त सूक्ष्म आकाश है। यह जो दिन या रातमे उजेला या अंधेरा दीखता है वह तो पुद्रलकी पर्याय है। सूक्ष्म आकाश को तो सर्वावधिश्वानी भी नहीं देख सकता है। केवळ्ज्ञान या आगमप्रमाणसे जाकाश जाना जाता है। सूक्ष्म, अतीन्द्रिय, पदार्थींगे सर्वज्ञधारा प्राप्त आगम ही प्रमाण है। जो कुछ युक्तियां थोडी बहुत मिल जांय उनको सेंत मेंतर्क समझ कर छट छो । अधिकके छिये हाथ मत बढाओ । आगमप्रमाण सम्पूर्ण प्रमाणोंका शिरोम्चण है । चार वर्फियोंके ऊपर दूसरी चार वर्फियोंको घर देनेपर जो दशा (सूरत) वन जाती है

यही छोकके मध्यवती आठ प्रदेशोंकी आकृति (इलिया) है। उसको नवयुवती गायके स्तर्नोंकी या बडे अंगूरकी उपमा देना तमी तक शोभता है. जबतक कि दार्छन्त समझमें नहीं आवे । दार्छन्तके समझ केनेपर तो वे उपमार्ये देना अधिक महत्वका नहीं समझा जाता है। आचार्य महाराजने एक स्थानपर लिखा है कि अन्वे पुरुषके सन्मुख क्षीराम (खीर) की जुक्छताको बतानेके छिये बगुछाकी उपमा देना और बगुलाका ज्ञान करानेके लिये अपने मुढे हुये हाथको अन्धेके हाथमें पकडा कर समझाना, किंचित् काल ही शोभा देता है। एक बात यहां यह भी समझ लेनी चाहिये कि लोकाकाशकी दक्षिण. उत्तरनाली मीतें एकदम सीधी चौदह राज ऊंची है। अतः दक्षिण, उत्तर, कालागुओं या धर्मद्रव्य अथवा बातवलयकी मित्तियां चिकनी सपाट हो रहीं सीधी हैं. खरदरी नहीं हैं । किन्त पूर्व, पश्चिममें क्रमसे घटना या बढ़ना होनेसे चिकनी भीत नहीं हो पायी है। छंह पैळदार विना कटी ईटींसे यदि घटती बढ़ती दुई भित्ति बनायी जाती है तो उसमें ईंटोंके कोंब निकले रहते हैं। उसी प्रकार पूर्व, पश्चिम लोकाकाशर्मे परमाणुओंके कोंन निकल रहे समझ लेने चाहिये। लोकमें ठसाठस भरी हुई कालागुओंकी रचनाका भी यही कम है। लोक बराबर लम्बे, चौडे, ऊंचे, धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्यका आकार भी छोकके नीचे ऊपर और दक्षिण उत्तरमें सपाट चिकना सरीखा है। किन्तु पूर्व, पश्चिमकी घटाई बढाईमें खरदरे धर्मद्रव्यके भी जीनाकी सीढियोंके समान असंख्याते पैक निकले हुये हैं। पुहुल परमाणु, कालाणु, और आकाराके कल्पित प्रदेशकी रचना छह पैलवाली बर्फीके समान एकसी है। जगत्में सबसे छोटा आकार परमाणुका है, जो एक प्रदेशी है और सबसे बडा आकार अनन्तानन्त ब्रदेशी आकाशका है। दोनोंका सांचा एकसा है। सुदर्शन मेरुका भूमिने गढा हुआ एक हजार योजन निचला भाग चित्रा पृथिवीमें ही गिना जाता है। अतः सात राजू लम्बी एक राजू चौडी हजार योजन गहरी चित्रा प्रथिवीके सबसे निचले मागमें ठीक बीचके चार प्रदेश और बन्नाके सबसे ऊपरले भागमें ठीक बीचके चार प्रदेश यों मिलाकर आठ प्रदेश लोकका मध्यभाग है। चौदह राज ऊंचे छोकको ठीक बीचसे काट देनेपर चित्राके निचले चार प्रदेशोंके समतलसे प्रारम्भ कर ऊपरले सात राजू ऊंचे या एकसी सेंताळीस धन राजू भागको ऊर्घ्यळोक कहते हैं। तथा बजासम्बन्धी उपरिम चार प्रदेशोंके समतलसे प्रारम्भ कर सात राज नीचेका या एकसी छियानवै वन राजवाला भाग अधोलोक समझा जाता है। मध्यलोकके लिये कुछ भी स्थान नहीं बचता है तो भी मध्यलोकसे या मन्यलोकके मन्यम पैतालीस लाख लम्बे चौडे ढाई द्वीपसे मोक्षमार्ग चाल् है। विकलत्रय या असंज्ञी, संबी, तिर्येच भी मध्यछोकमें ही पाये जाते हैं। अतः ऊर्थछोकके निचछे भागमेंसे सात राजू छम्बे एक राजू चीडे और सुमेरुकी उच्चता बराबर एक लाख चालीस योजन ऊंचे माग हो (कर्ज) केंकर मध्यलोक मान लिया गया है। श्री उमास्त्रामी महाराज इस ततीय अध्यायमें अधोलोक और मध्यकीकका वर्णन करेंगे । तहां प्रथम ही अधोकोकका वर्णन करनेके लिये उपक्रमकारक सत्रको रचते हैं।

रत्तरार्करावालुकापंकधूमतमोमहातमःप्रभा भूमयो घनांबुवाताकाराप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः ॥ १ ॥

रत्नप्रभा, शर्भराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा, ये नीचे नीचे सात भूमियां हैं, जो कि सातों ही घनवात के ऊपर प्रतिष्ठित हैं। घनवात तो अञ्चुवातपर स्थित हो रहा है और तनुवातके ऊपर अम्बुवात आधेय है, तनुवातका आधार आकाश है, जो कि महापरिमाणवाळा होनेसे स्वमें ही प्रतिष्ठित है। आकाशका आळवन कोई दूसरा पदार्थ नहीं है। अर्थात् - जहां अस्मदादिक मनुष्य निवास करते हैं वह रत्नप्रभाका ऊपरला भाग है। यहांसे प्रारम्भ कर दक्षिण, उत्तर, सात राजू लम्बी, एक राजू चौडी और एक लाख अस्सी हजार योजन नीचेकी ओर मोटी रतप्रभा है। चुंकि रतप्रभाका ऊपरला एक हजार योजन मोटा चित्रामाग ऊर्चलोकके सात राज्ञुओंमें वट चुका है। अधोलोकके सात राज् रत्नप्रभाके वन्नाभागसे प्रारन्भ किये गये हैं। तथा अघोलोकके उपरले एक राज्में सबसे उपर रत्नप्रभा और सबसे नीचे शर्कराप्रभा है। अतः रत्नप्रभासे दो लाख ग्यारह हजार योजन कमती एक राज् उतर कर प्रारम्भ हुयी दक्षिण उत्तर सात राज् लम्बी, पूर्वपश्चिम एक सही छ्रह बटे सात राजू चौडी और बतीस हजार योजन मोटी शर्कराप्रभा भूमि है। शर्करा प्रभासे अहाईस हजार योजन कमती एक राजू नीचे उतर कर मिछ गयी सात राजू छम्बी दो सही पांच बटे सात राजू चौडी और अड्डाईस हजार योजन मोटी बालुका प्रभा अनादि निधन बनी दुई है। बालुका प्रभासे चौबीस इजार योजन कमती एक राजू नीचे उत्तरकर पा गयी दक्षिण उत्तर सात राज् लम्बी और पूर्व पश्चिम तीन सही चार बटे सात राज् चौडी तथा चौबीस हजार योजन मोटी पंकप्रभा विद्यमान है। पंकप्रभासे बीस हजार योजन कमती एक राजू नीचे उतर कर छग गयी सात राज् लम्बी चार सही तीन बटे सात राज् चौडी और बीस हजार योजन मोटी धुमप्रभा है। धूमप्रभासे सोल्ड हजार कमती एक राज् नीचे उतरकर प्राप्त होगयी सात राज् लम्बी पांच सही दो बटे सात राजू चौडी और सोलह हजार योजन मोटी तमःप्रमा भूमि जम रही है । तमःप्रमासे आठ हजार योजन कम एक राज् नीचे उतरकर छू छी गयी सात राज् छम्बी छह सही एक बटे सात राजू पूर्व पश्चिम चौडी और ऊर्घ अधः आठ हजार योजन मोटी महातमःप्रभा है। सातों भूमियोंमेंसे प्रत्येकके निचे और छोकके तछमें साठ साठ हजार योजन मोटा वातवलय है। ऊपर ऊर्व्वलेकों सात राज् लम्बी एक राज् पूर्व पश्चिम चौडी आठ योजन मोटी ईष-त्प्रागुभारा नामक आठवीं भूमिक नीचे भी साठ इजार योजन मोटा वातवख्य है। श्री त्रिलोकसारमें "जोयण बीससहस्सं बहुलं वलयत्त्रयाण पत्तेयं मुळोयत्रके पासे हेहादो जाव रज्जुति" इस गाथा अनुसार उक्त अभिप्रायका निरूपण किया है। छोक या आठ भूमियों के नीचे वीस हजार योजन मोळ बनवात. उसके निचे वीस सहस्र योजन मोटा अंबुवात है अस्बुवातके नीचे वीस हजार योजन मोटा तनुवात है, आकाश तो ऊपर नीचे अगल बगल सर्वत्र ही है। लोकके पूर्व, पश्चिम या दक्षिण उत्तर अथवा ऊपर सिरमें जो वातवलय लिपट रहा है, उसमें नीचे चनवात, उसके ऊपर अम्बुवात और उसके ऊपर तनुवात है। लोकके सबसे ऊपरले भागमें विराजमान अनन्तानन्त सिद्धपरमेष्ठी भगवान् तनुवातवल्यमें ही प्रतिष्ठित हैं। जिन सम्पूर्ण सिद्धपरमेष्ठी परमात्माओं के सिरके ऊपरले भागका अलोकाकाशके साथ संयोग हो रहा है। इवर उधर या नीचे तनुवात संयुक्त है। उन शुद्ध आत्माओं को मैं त्रियोगसे नमस्कार करता हूं। इन तीनों वातवल्यों में वायु कायके असंख्याते जीव हैं। कचित्, कदाचित, जीवरहित जडनवायु भी फैली हुई है। यों सूत्रकारने अथोलोककी सामान्य रचनाको समझा दिया है।

रत्नादीनामितरेतरयोगे द्वंदः, प्रभाशद्धस्य प्रत्येकं परिसमाप्तिश्चेजिवत् । साहचर्यात्ता-

रत्न और शर्करा और वालुका और पंक और भूम और तम और महातमः इन सात पदोंका परस्पर जोड करते हुये इतरेतरयोग नामक इन्द्र समासमें '' रत्नत्रशराबालुकापंकधूमतमःमहातमांसि '' यों द्वन्द्र समासनाला पद बना लिया जाता है। द्वन्द्र समासके अन्तमें पड़े ह्वये प्रभा शद्वकी रत्न शर्करा. आदि प्रत्येकमें पूर्णरूपते समाति कर देनी चाहिये। जैसे किसीने कहा कि देवदत्त, जिनदत्त, गुरुदत्त, इनको भोजन करा दो। यहां भोजन कियाका प्रत्येक तीनोंमें अन्वय कर दिया जाता है। रत्नप्रभा, शर्करा-प्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा, महातमःप्रभा, ये सात भूमियोंके नाम उनकी कांतिका अवलम्ब लेकर अनादिसे चले आ रहे हैं । १ घर्मा २ वंशा ३ मेघा ४ अंजना ५ अरिष्टा ६ मधनी ७ माधनी ये सात नाम भी सात नर तों ती अपेक्षा प्रसिद्ध हो रहे हैं। यष्टि (उकडीके) समान सहचरपनेसे उन रत्नशर्करा, आदिकी प्रभाओं अनुसार रत्नप्रभा आदि शहों द्वारा वाच्यपनेकी सिद्धि कर दी जाती है। अर्थात - जैसे लाक्षणिक यहिपद द्वारा यहिके सहचरपनेसे यहिधर देव-दत्तको भी छकडी कह दिया जाता है। या आम बेचनेवाछेको आमका साहित्य होनेसे ओ आम या तांगावाळेको तांगा कहकर प्रकार लिया जाता है। उसी प्रकार चित्र, रतन, वजरतन, वैद्वर्यमणि, छोहभणि, गोमेद, प्रवाल (मृंया) आदि रत्नोंकी सी प्रभाका सिन्धान होनेसे पहिली भूमि रत्न-प्रभा मानी गर्यी है। इस भारत वर्षमें भी किसी देशमें छाछ, कहीं काली किसी स्पिछपर अधिक काळी आदि कई रंगोंकी भूमियां शोभ रही हैं। ककरीकी प्रभा समान प्रभासे यक्त होरही भूमि शर्कराप्रभा है। बाद्धके समान कान्त्रको धारनेवाळी बाद्धकाप्रभा है। की चकीसी हातिको पंकप्रभा धार रही है। धूमप्रभामें धूमकी सी छनि है। तमःप्रभाकी कान्ति अन्धकारके से रंगको स्त्रिये हुने है। गाढ अन्धकारकीसी शोभाको धार रही महातमःप्रभा है । अन्धकार या प्रकाशके साथ दुःखका, सुसका, कोई अन्वय व्यतिरेक नहीं है । अन्धकारमें भी निशेष भानन्द आ सकता है। काचित प्रकाशमें भी जीव

वेदनाके मारे छट पटाता रहता है। अंबरेमें कई जीन क्एमें गिर पड़ते हैं, तो दीपककी ज्योतिमें भी अनेक पतंग कीट अपने प्राणोंको होम देते हैं। आचार्य महाराजने उन भूमियोंमें जैसी कांति है, उसका प्रतिपादन कर दिया है। सभी पीद्रलिक पदार्थीसे मन्द या तीव कांति अवश्य निकलती रहती है। यानी इनका निमित्त पाकर नहां भरे हुये पुद्रलक्तर्थोंका नैसा चमकीला परिणाम हो जाता है। यदि घरकी पोलमेंसे पुद्रलोंको कथमपि निकाल दिया जाय तो प्रकाशक द्वारा प्रकाश नहीं हो सकेगा। क्योंकि ने पुद्रल ही तो प्रकाशित होकर चमकते थे। सुधा (कर्ल्ड्स) पुते हुये कमरे और काले हो रहे रसोई घरमें रात या दिनको बैठकर उनकी भूरी, काली, कान्तिओंका स्पष्ट अनुमन हो जाता है। अतः स्वकीय प्रभा अनुसार भूमियोंके सात नामोंकी योजना हो रही है।

तमःमभेति विरुद्धमिति चेन्न, तत्स्वात्ममभोपपत्तेः । अनादिपारिणामिकसंज्ञानिर्देशाः देष्टगोपवत् रत्नमभादिसंज्ञाः मत्येतव्याः । रूढिश्रद्धानामगमकत्वमवयवार्याभावादिति चेन्न, सूत्रस्य मतिपादनोपायत्वात्तेषामपि गमकत्वोपपत्तेः ।

यहां वैशेषिककी शंका है कि तमः तो अन्धकार है और प्रभा प्रकाश है, अन्धकारके होनेपर प्रभा नहीं और प्रभाके होनेपर अन्यकार नहीं सम्भवता है। यों विरोध हो जानेसे छठी प्रथिवीका नाम तमःप्रभा यों कहना विरुद्ध है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन अन्ध कार या महा अन्धकारके अपनी अपनी निजयभाकी सिद्धि हो रही है। केवल धीली, पीली, चमकको ही प्रभा नहीं कहते हैं । किन्तु सम्पूर्ण पौद्रलिक पदार्थोंमें अपनी अपनी काली, घूसरी, आदि प्रभारे प्रसिद्ध हो रही हैं। तभी तो इस काले मनुष्यकी छवि चिकनी काली है और अमुकके काले शरीरकी छीन रूखी है। काली लोहितमणि या डामर अथवा वर्षाकालकी अमावस्या रात्रिके अन्धकारमें प्रम दृष्टिगोचर हो रही है. अन्धकार तेजो भाव पदार्थ नहीं किन्त पौद्रिकिक है। अन्धकारकी छविसे कति पय पढार्थ काले हो जाते हैं। अन्य भी कई नवीन नवीन परिणाम अन्धकार करके साध्य हैं। तसवी-उतारनेवालोंसे पुछियेगा । दूसरी बात यह है कि अनादि कालसे तिस प्रकारके हो रहे परिणामक अवसम्ब पाकर इन भूमियोंका रत्नप्रभा आदि नाम निर्देश हो रहा है, जैसे कि किसी बाह्मण य क्षत्रिय धार्मिक पुरुषने पुत्रका नाम अपना अभीष्ट गोप या गोपाल रख लिया। इसमें शद्धने अर्थ माने गये गायको पालनेकी अपेक्षा नहीं है अथवा चौमासेके प्रारम्भमें लाल मखमली कीडोंको इन्द्रगोध या रामकी गुडिया कह देते हैं, सीधर्म आदि इन्होने उन कीटोंको विशेष रूपसे पाला नहीं है। हां, कोई कों मनुष्य मेघको भी इन्द्र कह देते हैं । मेघके वरसनेपर वे मखमछी कीडे सम्मूर्छन उपज जाते हैं । केवर इतना ही निमित्त पाकर उन कीटों का इन्द्रगोप नाम कह दिया जाता है। इसी प्रकार रतनप्रभा शर्कराप्रभा, आदि संज्ञायें समझ लेनी चाहिये । यहां किश्रीका आक्षेप है कि यों रत्नप्रभा आदि रूदि शहाँको पदके अवयव बन रहे प्रकृति, प्रत्ययके नियत अर्थीकी घटना नहीं होनेसे भेदकी सिद्धिर गमकपना नहीं है। अर्थात - जैसे पाचक, पाठक, पाठक, पादप, पानक, आदि शहों के अवयवों क अर्थ चित्र हो जाने से अर्थमेदकी सिद्धि हो जाती है, उस प्रकार रूटि शहों करके वान्यार्थोंका मेह नहीं सब पाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सूत्र केवल प्रतिपित्त करानेका उपाय है न्याहवान कर देनेसे या समुदाय शक्ति द्वारा उन रूटि शहोंको भी पदार्थोंके भेदका ज्ञापक-पना वन जाता है। इधर उभरसे अन्य पदार्थोंका उपस्कार कर लघुसूत्र द्वारा भी महन्त् अर्थको प्रति-पत्ति हो जाती है।

भूमिप्रहणमधिकरणविशेषमतिपत्त्यर्थं, घनादिप्रहणं तदालंबनमिर्कानार्थः, समग्रहणिय-चानधारणार्थे । सामीप्याभाषादघोऽत्र इति द्वित्वानुपपत्तिरिति चेन्नः, अंतरस्याविवक्षितत्वात् ।

इस सूत्रमें भूमिका प्रदृण तो अधिकरण विशेषकी प्रतिपत्तिके लिये हैं। अर्थात — जैसे स्वर्ग-पटल भूमिका आश्रय नहीं करके जहांके तहां न्यवस्थित हो रहे हैं, उस प्रकार नारकी जीवोंके स्थान नहीं है, नारिक्रयों ने आंवास तो भूमिका आश्रय छेकर ही प्रतिष्ठित है। इस सूत्रमें घनाम्ब आदिका प्रहण तो उन भूमियों के आलम्बनका परिज्ञान कराने के लिय है। अर्थात —स्वाश्रय होते हुये भी पश्ची जैसे वायुके सहारे आकाशमें उड रहा है, उसी प्रकार ये सभी भूमियां घनोद्धि नामके वातवल-वपर आश्रय पारही हैं और घनोदधि वातवलय तो घनवातपर इट रहा है तथा तनवातपर घनवात या अम्बुबात अवलिबत है। सूत्रमें सप्त शहका प्रहण तो भूमियों की संख्याके इतने नियत परिमाण होनेका अवधारण करनेके लिये है जिससे कि अधोलोककी सात ही भूमियां समझी जांय छह या आठ नहीं । यहां किसीकी शंका है कि तिरछी हो रही रचनाकी निवृत्तिके छिये सूत्रमें अधःका वचन आवश्यक है, किन्तु भूमियोंमें जब असंख्याते योजनोंका मध्यमें अन्तर पढ़ा हुआ है, ऐसी दशामें समीपपन नहीं घटित होनेसे " अधः अधः " इस प्रकार अधः शद्धके दो पनेकी सिद्धि नहीं हो पाती है। हां, वातवलयोंमें अन्तर नहीं होनेसे "अधः अधः " शहू अच्छा घटित हो जाता है । आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि मध्यमें पढ़े हुये अन्तरकी यहां विवक्षा नहीं की गयी है। सजातीय पदार्थ करके व्यवधान होता तो शंकाकारका कहना ठीक था। आकाशका अन्तर अगण्य समझा गया है। यहां विशेष यह कहना है कि पहिले घनवातका दूसरा नाम घनोदधिवात है। दूसरे अम्बुवातका अपर नाम घनवात भी है। ये सब चेतन या अचेतन वाय ही हैं। यहां जड जल या सचेतन जल नहीं है। कीरा नाम धर दिया गया है। पहिली घनोद्धि नामक वायुमें उद्धि शह हारा मीटे जल या भापकी अभिन्यक्ति हो जाती है।

कुतः पुनरेताः संभाव्यंत इत्याइ।

किसीका प्रश्न है कि महाराज किर यह बताओं कि वे नीचे नीचे व्यवस्थित हो गई। सात भूमियां भटा किसी प्रमाणसे झत होकर सद्भावको प्राप्त हो रही हैं ! ऐसी जिझासा होनेपा श्री आचार्य महाराज वार्तिक दारा सप्राधान वचन कहते हैं।

घनां जुपवनाका रात्रितिष्ठाः सप्तसूमयः । रत्नप्रभादयोऽघोधः समान्या धाधकच्युतेः ॥ १ ॥

नीचे नीचे प्रदेशोंमें रचनाकी प्राप्त हो रहीं और प्रत्येक भूमियां यथाक्रमसे घनवात, अम्बुवात, तनुवात, और आकाशपर दृढ प्रतिष्ठित हो रहीं ये रक्षप्रभा आदिक सात भूमियां (पक्ष) स्वकीय अस्तित्व करके सैमावना करने योग्य हैं (साध्य), अस्तित्वके बाधक प्रमाणोंकी च्युति होनेसे (हेतु)। अर्थात् सत्ताके बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे बस्तुका सद्भाव निर्णात कर लिया जाता है। यहाँ उपाय सात भूमियों और उनके आलम्बनीके सद्भावका अन्यर्थ प्रसाधक है।

न हि यथोदितरत्रमभादिभूमिमतिपादकवचनस्य किंचिद्राधकं कदाचित् संभाव्यते इति निरूपितमार्थं।

सर्वज्ञ आग्नाय अनुसार कह दी गयीं रज्ञप्रमा आदिक भूमियोंका प्रतिपादन करनेवाछे सूत्र वचनका कभी कोई भी बाधकप्रमाण नहीं सम्भव रहा है, इस बातको हम कई बार अन्य प्रकरणोंमें कह चुके हैं कि बाधक प्रमाणोंके असम्भवसे पदार्थका अस्तित्व साध छिया जाता है।

नन्येता भूषयो घणानिलप्रतिष्ठाः घनानिलस्तंकुवातमतिष्ठः सोपि तनुवातमतिष्ठस्तनु-वातः पुनराकाशमतिष्ठः स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशमित्येतदनुपपभं, व्योमवदभूमीनामपि स्वात्मप्रति-ष्ठत्वप्रसंगात् भूम्यादिवद्वाकाश्वस्याधारांतरकल्पनायामनवस्थापसंगात् । ततो नात्र वाधकस्युति-रिति कश्चितं प्रत्याह ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि आप जैनोंने जो यह कहा है कि ये सातों भूमियां बनवात पर प्रतिष्ठित होरही हैं और धनवात तो अम्बुवातपर आश्रय पारहा है तथा वह अम्बुवात भी तनुवातक अवलम्बपर सधा हुआ है। तनुवात फिर आकाशपर प्रतिष्ठित है तथा आकाश अपने स्वरूपमें ही आधार, आधेय, बन रहा स्वाश्रित है। यों जैनियोंका यह कथन सिद्धिको प्राप्त नहीं होपाता है। क्योंकि या तो आकाशके समान भूमियोंको भी अपने अपने निज स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेका प्रसंग आता है अथवा भूमि या धनवात, आदिके समान आकाशका भी अन्य आधार मानना पड़िया और उस आधारके भी छहे, सातवें, आठवें आदि न्यारे न्यारे अन्य आधारोंकी कल्पना करते करते जैनोंक उपर अनक्स्या दोष अनेका प्रसंग होता है। तिस कारण यहां बाधकच्युति नहीं है। अर्थात्—भूमि और उनके आधारोंके सद्भावकी सिद्धि करनेमें जो बाधकाभाव हेतु दिया गया है, वह हेतु पश्चमें नहीं वर्तनेसे असिद्ध हेत्वामास है। इस प्रकार कोई अपना नाम नहीं लेता हुआ आक्षेप कर रहा है, उसके श्री विवानन्य स्वामी समाधाम कहते हैं।

स्वात्मप्रतिष्ठमाकाशं विभुद्रव्यत्वतोन्यथा । घटादेरिव नैवोपपद्येत विभुतास्य सा ॥ २ ॥

आकारा (पक्ष) अपने निजस्बरूपमें ही प्रतिष्ठित होरहा है (साध्य) न्यापक द्रन्य होनेसे (हेतु) अन्यथा यानी आकाराको स्वप्रतिष्ठित नहीं मानकर यदि आकाराको भी अन्य अन्य अधि-करण माने जायंगे तब तो घट, पट, आदिके समान इस आकाराका वह न्यापकपना नहीं बन सकेगा। अर्थात्—आकाराको अधिकरण माने गये द्रन्यका जहांसे प्रारम्भ होगा वहींतक आकाराकी सीमा समझी जायगी। घरकी पोळरूप आकाराका अधिकरण यदि आंगनको मान लिया जायगा तो ऐसे छोटे छोटे अनन्त आकाराकी असद्भूत कल्पना करनी पडेगी। आकाराकी न्यापकता भी नष्ट हो जायगी, जो कि इष्ट नहीं है।

परममइदन्यत्मतिष्ठितं वंति व्याइतमेतत् । ततो व्योम चात्ममितिष्ठं विशुद्रव्यत्वाद्यचु न स्वात्ममितिष्ठं तम्र विशुद्रव्यं यथा घटादि, विशुद्रव्यं च व्योमिति न तस्याप्याधारांतरकल्पनया-नवस्था स्यात्।नापि भूम्यादीनामपि स्वभितष्ठत्वमसंगस्तेषामिविशुद्रव्यत्वादिति न मकृतवाधकत्वं।

इधर आकाशको परम महापरिमाण वाला कहना और उधर आकाशको दूसरे अधिकरण वन्यपर प्रतिष्ठित कर देना ये दोनों बातें परस्पर व्याघातदोष युक्त हैं। परम महत् कहते ही आकाशका अन्य द्व्यपर प्रतिष्ठित रहना उसी समय रोक दिया जाता है अथवा घटादिकका अन्य स्थलेंपर धरा रहना कहते ही उसी क्षण महापरिमाणसिहतपना निषिद्ध होजाता है। अन्योन्य विरुद्ध होरहे धर्मोमेंसे किसी एककी विधि करते ही बच्च रहे दूसरे धर्मका उसी समय झट निषेध हो जाता है। दोनों धर्मकी विधि या दोनोंके युगपत् निषेध करनेका असम्भव है। तिस कारणसे सिद्ध होजाता है कि व्यापक द्व्य होनेसे (हेतु) आकाश (पक्ष) स्वयं अपनेमें ही आधार आध्यभूत प्रतिष्टित होरहा है (साध्य) जो स्वात्म प्रतिष्टित नहीं है वह तो विधु द्वय भी नहीं है जैसे कि घट, पट, आदिक पदार्थ हैं (व्यतिरेकव्यासिपूर्वक व्यतिरेकदृष्टान्त)। यह आकाश व्यापक द्वय है (उपनय) इस कारण वह स्वयं अपना अवलम्ब है (निगमन)। अतः पुनः उसके भी अन्य आधारोंकी कल्पना करके अनवस्था दोष नहीं हो पायगा। तथा आकाशके समान भूमि, वायु, आदिकोंको भी स्वप्रतिष्ठितपनेका प्रसंग नहीं जा पाता है। क्योंकि वे भूमि आदिक तो अन्यापक द्वय हैं। अतः वे स्वाश्रय नहीं हो सकते हैं। इस कारण हमारे प्रकरणमें प्राप्त सात भूमियां या उनके आधारोंकी निर्वाध, निर्दाष, हेतु द्वारा सत्तासाधनमें तुम्हारा आक्षेप बाधक नहीं हो सकता है। तब तो वाधकच्युति हेतु पक्षमें टहर गया।

नतु कथमिदानीं व्योग ततुवातस्याधिकरणमृर्वत्वाचत्याविषंशकत्वादित्यपरस्तं प्रत्याह ।

पुनः किसीका आक्षेप है कि मूर्त होनेस भूमियोंका अधिकरण घनवात या घनवातका आधार अम्बुवात अधवा अम्बुवातका आश्रय तनुवात मले ही हो जाओ, किन्तु अमूर्त होनेसे मला आकाश इस समय तनुवातका अधिकरण कैसे हो सकता है! क्योंकि उसके प्रतिकथकपनका अभाव है। अर्थात्—पुस्तकका आधार चौकी है, मनुष्यका आश्रय मंद्रा है, यहां आध्यके अधःपतनका प्रतिकथक होनेसे चौकी, मूद्राको आध्यका आधार माना गया है। किन्तु अमूर्त और सबको सर्वत्र अवगाह देनेवाला आकाश तो तनुवातके अधःपातका प्रतिकथक नहीं है। तनुवातके नीचे ऊपर, तिरछे, सर्वत्र आकाश भर रहा है। अतः तनुवातका आधार आकाश नहीं सिद्ध होता है। यहांतक कोई दूसरा आक्षेपकार कह रहा है। उसके प्रति (उन्मुख) श्री विद्यानंद स्वामी वार्तिक हारा उत्तर वचन कहते हैं।

तनुवातः पुनर्व्योमप्रतिष्ठः प्रतिपद्यते । तनुवातविशेषत्वान्मेघधारणवायुवत् ॥ ३ ॥

पिर तनुवात तो (पक्ष) आकाशमें प्रतिष्ठित हो रहा समझा जाता है (साध्य) विशेष स्वरूप धारी तनुवात होनेसे (हेतु) मैचको धारनेवाले वायुक्ते समान (अन्वयदृष्टान्त) अर्थात्—आकाशमें फैल रहे मेचको जैसे अदृश्यवायु धारे रहता है, उसी प्रकार तनुवातको आकाश धारे हुये है । मछलीके चारों ओर फैल रहा जल मछलीको आधार है । भूभिमें सैकडों कीडे मकोडे आश्रय पा रहे हैं । वायुक्ते आधारपर पक्षी उड रहा है ।

मेघधारणो वातावयवी वाय्ववयवमितष्ठ इति चेत् न, अनंतश्वः पवनपरमाणूनां पवनाव-यवत्वात् तेषां वाकाश्वमितिष्ठत्वादिभिष्णस्य कथंचित्पवनावयिवनोपि तदाधारत्वोपपत्तेने साध्य-विकलप्रदाहरणं, नापि संदिग्धविपक्षव्याद्यत्तिको हेतुः, कस्यचिद्प्यनाकाशाधारस्य तनुवातस्या-संभवात् । ततः तस्यामूर्तस्यापि पवनाधारत्वप्रपण्णं आत्मनः शरीराद्याधारत्ववत् तथा प्रती-तेरबाधितत्वात् ।

यदि यहां कोई वैरोषिक यों कहे कि छोटे छोटे अवयव वायुओंसे बना हुआ अवयवी हो गया, वायु जो कि मेघको धारनेवाला कहा गया है, वह तो अपने समवायी कारण हो रहे अवयवोपर प्रतिष्ठित है, आकाशमें नहीं है। अतः आपका हेतु बाधित है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि अनन्ते अनन्ते वायुके परमाणुऐं उस अवयवी पवनके अवयव हैं। जब कि वे अवयव अन्तमें जाकर आकाशमें प्रतिष्ठित हो रहे माने जाते हैं, तो उन अवयवोंसे कथांचित् अभिन्न हो रहे अवयवी वायुका भी वह आकाश आधार बन जायगा। अर्थात् वायुके आधार वैशेषिकोंने वायुके अवयव माने हैं। उन अवयवोंका आधार उनके भी अवयव हैं, यों चलते चलते पडणुक, पंचाणुक, चतुरणुक, पर पहुंचकर चतुरणुकोंके आधार त्र्यणुक और त्र्यणुकोंके आधार व्यणुक तथा

अध्यक्तीके आधार वायुषरमाणुआँको स्वीकार किया है। पुनः परमाणुओंका आधार आकाश अभीष्ट किया है। ऐसी दशामें अवयव और अवयनीका कथिकत् अभेद हो जानेसे तनुवातका अधिकरण यदि आकाशको कह दिया तो इसमें तुन्हारी क्या हानि हो गयी ! सभी आस्तिकोंने सर्व वय्योंका आधार परिशेषमें आकाशको है। स्वीकार किया है। अतः कोई वाक्छटा दिखलाना निर्णात विद्वानींको नहीं शोभता है। वार्तिक द्वारा कहा गया हमारा अनुमान निर्दोष है। उस अनुमानमें दिया गमा उदाहरण साध्यसे रीता नहीं है । क्योंकि मेघको धारमैयाला वायुका आकाशमें प्रतिष्ठित रहना भाष दिया गया है तथा हमारे हेतुका विपक्षते व्याहत होना गुण भी संदेहप्राप्त नहीं है। क्योंकि आकाशके आधारपर नहीं डट रहे किसी भी एक तनुवातका असम्मव हो रहा है। जब कि सभी वायुर्वे अथवा अन्य पदार्थ भी आकासमर स्थान या रहे हैं. ऐसी दशामें हेत्की विवक्षक्यावृत्ति निर्णीत हो चुकी है। इस कारणसे सिद्ध हो जाता है कि उस अमूर्त आकाशको भी वायुका आधारपना युक्त है। जैसे कि शरीर, इन्द्रिय, अष्टविवक्रमें, आदिका आधारपना आसाको जिपिन रूपेंसे समुचित माना गया है, आप वैशेषिकोंने "जगतामाश्रयो मतः" इस वचन अनुसार कालको यावद् जगतःका आश्रय माना है। शरीर, इन्द्रिय, आदिका अधिकरण आत्मा हो रहा है। बैठा हुआ देवदत्त यदि अपनी बांहको उंचा, नीचा, कर रहा है, इसका ताल्पर्य यह है कि देवदत्त अपनी बांहसे संयुक्त हो रही आल्माको स्वयं ऊंचा नीचा कर रहा है। उस आत्माके साथ बंध रही पौद्रलिक बांह तो आत्माके साथ घिसटती हुयी ऊपर, नीचेको, जा रही है। देवदत्त मार्गमें चल रहा है। वहां भी देवदत्तकी गतिमान् आत्मा चल रही है। उस आत्मापर घरा हुआ शरीर तो उसी प्रकार आत्माके साथ विसटता चलता है, जैसे कि शरीरके साथ कपड़े, गहने, या घोड़े द्वारा खींची गयी गाडीपर बैठे हुये क्षेठजी खिचरते छदे जा रहे हैं । सूक्ष्म शरीर या स्थूछ शरीरके उपयोगी वर्गणाओंसे आत्मामें ही पीद्रिछिक शरीर बन कर वहीं ठहर जाते हैं। अतः शरीर आदिका आधार आत्मा माना जाय यही अच्छा है अमूर्त भी मूर्त पदार्थका आधार हो सकता है। क्योंकि तिस प्रकार की प्रतीतियोंका अवधितपना प्रसिद्ध है। नैयायिकोंने अमूर्त दिशाको भी मूर्तपदार्योका आधार माना है। मीमांसक बौद्ध आदि विद्वान भी अमूर्तीको मूर्तका आधार मान बैठे हैं। छोकमें भी मूर्तीके आधार अमूर्त दृश्यकी निर्वाध प्रतीति हो रही है।

तजुवातः कथमंबुवातस्याधिकरणं समीरणस्वभावत्वादिति चेदुच्यते ।

यहां कोई प्रश्न करता है कि जब तनुवात ही स्वयं प्रेरक वायुस्वभाव हो रहा गति या कम्पनको कर रहा है तो वह इस्ता, चलता, तीसरा वायु तनुवात भला दूसरे वायु अम्बुवातका अधिकरण कैसे हो सकेगा ? प्रमाण दो, ऐसी जिक्कासा होनेपर श्री विचानन्द आचार्य द्वारा वार्त्तिक कहा जाता है।

तद्वतश्रांबुवातः स्यादनात्मार्थस्य धारकः। अंबुवातत्वतो वार्द्वेविचीवायुविकोपवद् ॥ ४॥ उस तीसरे तनुवात करके मके प्रकार धारण कर लिए गया दूसरा अंबुवात तो कठिन सकरण अर्थ तीसरे घनवातका धारक है (प्रतिका) अंबुवात होनेसे (हेतु) जैसे कि समुद्रको धारनेबाली लहरोंकी विशेष वासु है (दशांत)। अर्थात—ग्रंथु स्वभाव भी तनुवात ऊपरले अंबुवात नामक वायुका आधार होजाता है और कुछ कुछ पतला, मोटा, अंबुवात तो ऊपरले सबत, स्थूल, घनवातका आधार संभव जाता है, जैसे कि विशेषताओंसे युक्त लहरीली वायु समुद्रको धारे रहती है।

स च तज्जवातमतिष्ठांबुतातो घननातस्य स्थितिहेतुः सोपि भूमेनी पुनः कूर्मादिरित्यावेदपति।

यों वह पतले पतले स्कन्थोंको धार रहे तनुवातवरूयपर प्रतिष्ठित हो रहा दूसरा अम्बुवात तो उपरले घनवातकी स्थितिका कारण हो रहा प्रतिष्ठापक है और वह घनवात भी रतनप्रमा भूमिका आघार है। पृथिकीके फिर कोई कच्छप, श्रूकर, गोशृंग, आदि आघार नहीं है। इसी बातकी प्रन्थकार बिक्कित कराते हैं।

वनानिलं प्रतिष्ठानहेतुः कृर्मः स एव नः । न कूर्पादिरनाधारो दृष्टकूर्पादिवत्सदा ॥ ५ ॥ तिश्ववासजनादृष्टिवेशेषवस्त्रतो यदि । कूर्पादिराश्रयः किं न वायुर्देष्टान्तसारतः ॥ ६ ॥

भूमिके वहां के वहां प्रतिष्ठित बने एहनेका कारण वह घनवात है। हम जैनोंके यहा कल्लक माना गया है। कोई दूसरा कच्लम प्राणी या शूकर आदि जीव तो भूमिक आधार नहीं हैं। क्योंकि वे कच्लप आदि स्वयं दूसरे आधारपर टिके हुये नहीं माने गये हैं। कल्लम या स्वर अन्य आधारके विना ठहर नहीं सकता है, जैसे कि आजकल देखे गये कल्लम, सूजर आदिक जीव अन्य आधारसे रहित होतह सन्ते किसीके अधिकरण नहीं बन पाते हैं। अन्य आधारोंकी कल्लमें की जायगी तो अनवस्था दोष होगा। अतः देखे हुये कल्लमा आदिके समान वह पीरामिकोंके कल्लमें, सूजर आदि भी भूमिको धारनेवाले नहीं माने जासकते हैं। अर्थात् इस रलबमा के नीचे सात राज लंके, एक राज चौंके वीस हजार योजन मोटे वनकत्त या साठ हजार योजन मोटे वातवल्लमको मले ही किवियोंकी भाषामें कल्लमा या स्वारकी उपमा दी जाय। यदि कोई विष्णुके कच्लम अवतार, वराह अवतार, आदिमें अंधभक्तिको धार रहा पीक्षणिक यों कहे कि भूमियोंमें निवास करकेवाले प्राणिकोंके पुण्य, पूप, विशेषकी अधीनतासे के निराधार भी कच्लम भगवान् या वराह भगवान् इस भूमिके आश्रम होनाते हैं। भाचार्य कहते हैं कि तब तो प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा देखे हुये पदार्थक अनुसार होनेते वाद ही भूमिका अध्यक्ष कर्यों नहीं मान लिया जाय! जब कि मेच, वायुयान, विमान, पक्षी, ये कहतते पदार्थ क्रायुपर हट रहे हैं कि तब तो प्रत्यक्षप्रमाणके द्वारा देखे हुये पदार्थक अनुसार होनेते वाद्य ही भूमिका आश्रम कर्यों नहीं मान लिया जाय! जब कि मेच, वायुयान, विमान, पक्षी, ये क्राइतरे पदार्थ क्रायुपर हट रहे हैं

• तो भूमिका आधार भी वायु मानना उचित है। वायुमें अनन्त राक्ति है। कछ्या या सूअर कितने भी छंबे चौडे बडे माने जांय वे आधार बिना ठहर नहीं सकते हैं।

सोयं कूर्मे बराइं वा स्वयमनाधारं भूमराश्रयं कल्पयन् दृष्ट्रहान्या निर्धार्यते ।

यह वहीं प्राप्तिद्ध पौराणिक किसी अन्य आधारपर नहीं डट रहे यें। ही अनंत आकाशमें स्वयं निराधार होरहे कछत्रा अथता शुकरको इस लम्बी चौडी भूमिका आश्रय कल्पित कर रहा बिचारा दृष्टहानि करके निर्धारण कर लिया जाता है। अर्थात् —पौराणिककी कल्पनामें प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा विरोध आता है। ऐसी दृष्टविरुद्ध गप्पोंको अभीष्ट करनेत्राला अंधमक्त वादी प्रामाणिक पुरुषों द्वारा पृथक्मूत समझ लिया जाता है।

कश्चिदाह-न स्थिरा भूमिर्दर्पणाकारा। किं तिह १ गोलकाकारा सर्वदोध्वीयो भ्राम्यति, स्थिरं तु नक्षत्रचकं मेरोः मादक्षिण्येनावस्थानात् । तत एव पूर्वादिदिग्देशभेदेन नक्षत्रादीनां संमत्ययो न विरुध्यते । तथोद्यास्तमनयोश्चंद्रादीनां भूमिसंलग्नतया मतीतिश्च घटते नान्यथेति, तं मति बाधकश्चपदर्शयति ।

कोई आधुनिक विद्वान अपना पूर्वपक्ष यों कह रहा है कि आप जैनोंके यहां लम्बी, चौडी, पतली, सपाट दर्पणके समान जो भूमि मानी गयी है, वह रत्नप्रमा भूमिका आकार ठीक नहीं है । तथा भूमि जो स्थिर मानी गयी है और नक्षत्र मण्डलको मेरूकी प्रदक्षिणा करता हुआ ढाई द्वीपमें भ्रमणशील माना गया है, वह भी ठीक नहीं है। तो भूमि कैसी है ? इसपर हमारा पक्ष यह है कि यह भूमि गेंद या नारंगी के समान गोल आकारको धारती है। उसका आकार चपटा नहीं है। भूमि सर्वदा स्थिर भी नहीं किन्तु सर्वदा ऊपर, नीचे, युमती रहती है। हां, सूर्य, चंद्र, या शनि, शुक्र आदि प्रद्द, अञ्चिनी, भरणी, आदि नक्षत्रचक्र तो मेरूके चारों ओर प्रदक्षिणारूपसे जहांका तहां अवस्थित हो रहा है, चूमता नहीं है। तिस ही कारणसे यानी नक्षत्र-मण्डलकी स्थिरतासे और भूमिका श्रमण होनेसे ही पूर्व, उत्तर, आदि दिशाओं या विदेह आदि देशोंके भेद करके नक्षत्र, सूर्य, आदिकोंका समीचीन ज्ञान हो रहा निरुद्ध नहीं पडता है तथा उदय होते समय या अस्त होनेके अवसरमें चन्द्र, सूर्य, शुक्र आदि ज्योतिष्कोंकी भूमिमें संख्यापने करके प्रतीति होना घटित हो जाता है, अन्यथा नहीं । अर्थात्—कदाचित् अपरिचित स्थानकी नदीमें नाव-पर बैठे हुये इम इधर उधर आवें जावें तो दिशा आन्ति हो जाती है, इसी प्रकार घूमती हुई पृथिबी-पर बैठे हुये हमको नक्षत्र मण्डल यहांसे वहां हो गया दीखता है। उदय होता हुआ सूर्य दूरवर्ती भूमिमें चिपट रहा दीखता है, यह सब भूमिके अमणसे सम्भव जाता है। अन्य कोई उपाय नहीं हैं। अब आचार्य महाराज उस विधान्के सन्भुख घूम रही गोल पृथिवीके मन्तन्योंका बाधक प्रमाण (णोंको) वार्तिक द्वारा दिखळाते हैं।

नोर्घाधोश्रमणं भूमेर्घटते गोलकात्मनः । सदा तथैव तद्श्रांतिहेतोरनुपपत्तितः ॥ ७ ॥

गोछ स्वरूप हो रही भूमिका ऊपर नीचे भ्रमण होना घटित नहीं हो पाता है। क्योंकि सर्वदा तिस ही प्रकार उस भूमिके भ्रमणके कारक हेतुकी सिद्धि नहीं हो चुकी है। चौबीस घन्टे या ऋतु अनुसार पृथिवीको तिस ही प्रकार धुमानेवाले कारणोंकी सिद्धि नहीं हो पाती है। नियत कारणके विना नियत कार्य नहीं हो सकता है।

वायुरेवोर्ध्वाचो भ्रमत्सर्वदा भूपेस्तथा भ्रमणहेतुरिति न संगतं, ममाणाभावात् । आगमः ममाणामिति चेस्र, तस्यानुब्राहक्रममाणांतराभावात् । तस्यानुमानमनुब्राहक्रमस्तीति चेस्र, अविनाभाविद्धिगाभावात् ।

यदि आधुनिक पण्डित यों कहें कि बायु ही उपर नीचे अमण कर रही संती तिस प्रकार भूमिके सर्वदा नियमित अमणका हेतु हैं। आचार्य कहते हैं कि यह कहना तो संगतिप्रस्त होकर हृदय स्पर्शी नहीं है, असम्बद्ध है। क्योंकि घूम रही वायुके अनुसार भूमिके अमणको साधनेवाला कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है। यदि आप इस विषयमें आगमप्रमाणको प्रस्तुत करें कि आर्यमहने अपने प्रथमें पृथिवीको चळती हुई साधा है। अपनी कक्षासे बाहर गमन नहीं करना सो ही अचलपना है और भी कितनी ही इंग्रेजी पुस्तकोंमें पृथिवीका अमण सिद्ध किया गया है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस आगमका अनुप्रहकारक कोई दूसरा प्रमाण नहीं है। जबतक आगममें कही हुई बातको परिपुष्ट करनेके लिये अन्य प्रमाण सहायता नहीं देते हैं, तबतक चाहे जिस आगमके उपन्यासेंके समान किसी भी प्रमेयको आंख भीचकर नहीं मान लिया जाता है। यदि कोई भूअमणवादी यों कहे कि उस आगमका अनुप्रहकारक अनुमान प्रमाण विषमान है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह कथन उचित नहीं है। क्योंकि उस अनुमानमें अविनाभावको धारनेवाला समीचीन लिंग नहीं है। अन्ययानुषपत्ति करके रीते हो रहे हेतुसे समीचीन अनुमान ज्ञान नहीं उपज पाता है।

नतु च यत्पुरुषप्रयत्नाद्यभावेपि श्राम्यति तद्श्रमद्दायुद्देतुकं श्रमणं यथाकाशे पर्णादि तथा च भूगोल इत्यविनाभावि लिंगमनुमानं पुरुषप्रयत्नकृतचकादिश्रमणेन पाषाणादिसंघट्टकृत-नदीजलादिश्रमणेन च व्यभिचाराभावात् । न च पुरुषप्रयत्नाद्यभावोऽसिद्धः पृथिवीगोलक-श्रमणे महेन्दरादेः कारणस्य निराकरणात् । पाषाणसंघट्टादिसंभवाभावात् भूगोलश्रमणपसिदं इति न मंतन्यं तद्भावे तत्स्थजनानां चंद्राकोदिविवस्योद्यास्तमनयोभिष्यदेशादितया प्रतीतेर-पद्मात् । सास्ति च प्रतीतिस्ततो भूगोलश्रमः प्रयाणसिद्ध इति कश्चित् ।

भूश्रमवादी अपने मन्तव्यका अवधारण कारनेके लिये हेर्सुमें अविनामावकी दिखलांते हुये यो अनुमान प्रमाण कहते हैं कि जो पदार्थ पुरुषके प्रयक्ष या पत्थरकी टक्कर आदिक कारणोंके नहीं होनेपर भी चूम रहा है (हेतु) उसकी वह अमेंग चूम रही बीर्युकी कॉरिंग मानकर हुआ है (साप्य) जैसे कि आकाशमें आंधी चलते समय पत्ते, तिनके, आदि पदार्थ चूमती हुई बायु द्वारा वूम जाते हैं (अन्ययदृष्टान्त) तिस ही प्रकार भूगोल घूम रहा है (उपमय) अतः वासुंभ्रमण अनुसार सुगोल मान छेना चाहियें (निगमन) इस प्रकार अविनामायवाले हेर्तुसे इस अनुमानका उत्थान हुआ है । हेतुमें पुरुषके प्रयत आदिका अभाव यह विशेषण तो व्यभिनारकी निवृत्तिके छिये देया है। अतः पुरुषके प्रयत द्वारा की गयी चाक आदि की श्रांति करके और पत्थरकी या वेगयुक्त बल आदिकी अच्छी टक्कर लग जानेसे किये गर्य नदिजल, समुद्रजल, आदिके मवरों करके व्यमि-बार नहीं हो पाता है। यहां अमणमें पुरुषप्रयत्न, पाषाणघट्टन, आदिका अभाव असिद्ध नहीं है। ध्योंकि प्रथिनीत्वरूप गोळाके अमण करनेमें महेश्वर, तिशाता, आदि कारणीका निराकरण कर दिया े और पत्थरों भी टक्कर, विद्युत्प्रवाह आदि कारणोंकी भी संभावना नहीं है । अतः हेतुका विशेषण ए पक्षमें वर्तता है आ सिंह होजाता है। भूजमवादी ही कहे जा रहे हैं कि पृथिवी स्वक्रप गोलेका त्रमण करना असिद्ध होय यह मान बैठना भी उचित नहीं है। क्योंकि उस अमणका अभाव मान हेने ार तो उस भूमिमें ठहरनेवाले मनुष्योंको चेदविंव, सूर्यविंव, शुक्र आदिके उदय या अस्त होनेपर क्षेत्र जिन देश क्लीपन या न्यारे न्यारे आकार आदिएने करके प्रतीति होना नहीं घटित हो पावेगा गैर वह मिन्न भिन्न देशवर्ती आदियमे करके प्रतीति तो होरही है। तिस कारणसे भूगोलका भ्रमण ोमा प्रमाणसे सिद्ध है, यो अमण हेत पक्षमें ठहर जाता है। इस अकार मनुसे लेकर यहांतक कोई क पंण्डित कह रहा है।

सीत्रैव पर्यद्वियोक्तं ह्याः । भन्नमः कस्माम भवतीति तदावदिनः भवचनस्य सङ्गावात् । तिनियतानेकदेशादितयाकादीनां मतीतरिप घटनात् भून्नमणहेतीविरुद्धत्वोपपत्तः । भूगोछ-। । । । । । कारणाभावात् भन्नमोवतिष्ठत इति चेष्ठ् पाविधाद्दृष्टविच्यात्तद्वन्नमणोपपत्तः ।

अब आचार्य कहते हैं कि उस मूजमवादिक ऊपर यहां प्रकरणमें इस प्रकार चीच उठाना हिये कि मूजमणके समान नक्षत्र मण्डल या सूर्य आदिकोंका अमण हो रहा क्यों नहीं माना ता है ! जब कि उस ज्योतिष चक्रक अमणका आवेदन करनेवाल आसवाक्य स्वरूप आगमका हाव हो रहा है, उदय, अस्त, देशांने सूर्यका दूर स्थित भूमिक साथ स्परी है। रहा दीर्खना और पार्टिम अपर दीर्खना तथा निर्मि तिर्पक उचा दिशा आदिमें तिर्पक उचा दिशा आदिमें तिर्पक उचा दीर्खना या प्रतिनियत अनेक देश या दिशा आदिमें तिर्पक उचा दीर्खना या प्रतिनियत अनेक देश या दिशा आदिमें तिर्पक उचा दीर्खना या प्रतिनियत अनेक देश या दिशा आदिमें तिर्पक उचा प्रतिनियत होता है, अब कि मुख्यकों अचला

कीर ज्योतिर्मण्डलको पृत्र रहा माना जायरा । अतः भूजमणके तिह करनेकले तुम्हारे हेतुको विरुख हैताभासपना वन रहा है। भूगोलके अक्षणको समझानेके दिये यथे हेतुके साल्य या प्रश्नमें अनुमान आदि प्रमाणों द्वादा वाधा उपस्थित हो जातेके उस हेतुको वाधित हेत्वाभासपनका प्रसंग अता है। प्रत्यक्षसे भी भूजमण काधित है। पक्षी या कियान मीलों उन्ने या हजारों कोस तिस्ले जलकर वहांके वहां नियत स्थानकर छीट आते हैं। उत्तर दिसामें धुक्तारा कहांका वहां ही स्वत्या रहता है। यदि कोई यों कहे कि द्वासोवाल कारित अभाव हो जातेसे ज्योतिश्वकका अक्षण नहीं हो सक्षेगा। सूर्य, चन्द्रमा, नक्षण आदि जहांके तहां बेठे रहेंगे। यों कहनेपर तो हम जैन यह उपपत्ति देते हैं कि तिस प्रकारके पुण्य, पापकी, विचित्रतासे उन सूर्य आदिकोंका अमण वन जाता है। किन्हीं किन्हीं कर्मीके फल विचित्रतासे अनुमव जाते हैं। गमन पर्यायमें ही रमण कर रहे अमियोग्य जातिके देवों करके ज्योतिष्क विमान नियतगति अनुसार भुमाये जाते हैं।

भूगोळभ्रमणे तु वायुभ्रमणं न कारणं भवितुमहित सर्वदा तस्य तथा भ्रमण्नियमानु-पपचरनियतगतित्वात् । ततो नाभिन्नतिदगभिग्नतं भ्रमणं भूगोळस्य स्यात् । नाण्यदृष्टवभाद्धा-योनियतं तथा तदसिद्धेः । प्रसिद्धे भ्रमणमिति चेक, तत्कार्यासिद्धौ तदसिद्धः । मिन्नद्धे हि सुतादिकार्ये निर्विवादे दृष्टकारणन्यभिचारे चादृष्टं तत्कारणमृजुमीयते न चाभिन्नतवायुभ्रमुणं निर्विवादं सिद्धं यतो न दृष्टकारणन्यभिचारे तत्कारणमृदृष्टमनुपीयत ।

हां, तुम्हारे भूगोलको असणमें तो वायुका अमण कारण नहीं हो सकता है। क्योंकि उस जब वायुके दारा सदा उस पृथिवीके तिस प्रकार नियम अनुसार असण होते रहवेकी उपपास नहीं है। क्योंकि वायुक्त कोई नियत गिल नहीं है। क्यों पूर्वकी वायु चलती है। क्यों पांकामकी वायु बहती है। क्यों पांकामकी वायु बहती है। क्यों पांकामकी वायु अहती है। क्यों पांकामकी वायु असिह हो रहीं उपविद्या या अवोदिशाके असिहल असण नहीं हो सके।। अतः चारों ओर लिपठी हुई वायुके अनुसार भूगोलका अमण माना स्वयं अपनेको चक्करमें डालना है। यदि कोई यहां यों आक्षेप को कि प्राणियोंके पुण्य, प्रापकी अवीनतासे वायुका तिस प्रकार नियत हो रहा अमण हो जायगा। आवार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस अदहके कार्य साने जा रहे वायुक्तमण गा पृथिवीक्रमणकी अनतक सिदि नहीं हो सकेगी, तवतक उस वायुक्तमणके कारण अदहकी सिदि नहीं हो सकेगी, तवतक उस वायुक्तमणके कारण अदहकी सिदि नहीं हो सकेगी, तवतक उस वायुक्तमणके कारण अदहकी सिदि नहीं हो सकेगी, ववतक उस वायुक्तमणके कारण अदहकी सिदि वहीं परिश्व बहुक्त, दुःव आदि अनुभवे जा रहे कार्योंके विवादरहित प्रसिद्ध हो जानेपर ही परिश्व बहुक्त, दुःव आदि अनुभवे जा रहे कार्योंके विवादरहित प्रसिद्ध हो जानेपर ही परिश्व बहुक्त, दुःव आदि कारण वायुक्तमणके हुए कारणोंका अन्तिक हो हो वायुक्तमणके हुए कारणोंका असीह हो रहा वायुक्तमण तो सिविका विवाद हिद्द सहीं है, जिससे कि वायुक्तमणके हुए कारणोंका स्वाभिक्ता हो वानेपर तो सिविका कारण हो सिविका हो हो सिविका कारण हो सिविका कारण हो सिविका कारण हो सिविका कारण हो सिविका कारणोंका असीह हो रहा वायुक्तमणको हित्र कारणोंका स्वाभिक्ता हो बानेपर

उसके कारण अदृष्टका अनुमान करनेके लिये परिश्रम कराया जाता है। हम जैन तो अभी वायुके अमणमें ही विवाद उठा रहे हैं। स्पर्शन इन्द्रिय द्वारा या आकाशमें उडाये गये पत्ते अथवा पर्तगों द्वारा जिस साधारण वायुका झान किया जाता है, उस वायुकी गति कोई नियत नहीं है। वह वायु चीवीस घंटे या अडतालीस घंटेमें कोई नियत कार्य करती हुई नहीं जानी जाती है। अतः हम तो समझते हैं कि पृथिवीमण्डलको गाडीको पहिये समान उत्तर नीचे घुमानेवाली कोई वायु नहीं है।

भूभ्रमात् मवदद्वायुसिद्धिरिति चेषा, तस्यापि तद्वद्सिद्धेः । नानादिग्देशादितयार्कादिस्तीतिस्तु भूभ्रमेपि घटमाना न भूभ्रमं साधयतीति । कयं १ अनुमितानुमानाद्प्यदृष्टविशेषसिद्धिरिति सक्तं न भूमेरूर्ध्वाधोभ्रमणं षद्चकवदेकानुभवं संपरिश्वत्तिर्वा घटते तद्भ्रमणहेतोः
स्राभ्युपगतस्य सर्वथानुपपद्यमानत्वात् परेष्टभूभ्रमादिवदिति ।

यदि भूअमणवादी यों कहे कि भूका अमण हो रहा है, इस ज्ञापक हेतुसे प्रकाण्ड रूपसे वह-ही, चुमती हुई, वायुकी सिद्धि हो जाती है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। चोंकि उस वायुक्रमणके समान उस भूश्रमणकी सिद्धि नहीं हो सकी है। अन्योन्याश्रय ोषवाले आसिद्र हेतुओंसे साध्यकी सिद्धि नहीं हो सकती है। पूर्व, पश्चिम, देशाओंमें या बंगाल, पंजाब, यूरोप, अमेरिका, आदि देशोंमें दीखना अथवा लाल पीले, ींछे, आकार धार छेना, प्रहण पड जाना, भूमिमें छग जाना, आदि ढगोंकरके सूर्य आदिकी ो रही प्रतीति तो नक्षत्रमण्डल या सूर्य आदिके भ्रमण माननेपर भी घटित हो रही संती भूभ्रमण ी सिद्धि नहीं करा पाती है। इस कारण अनुमित किये गये हेतुद्वारा पुनः उठाये गये अनुमानसे ो मला अदृष्ट विशेषकी सिद्धि कैसे हो सकती। है ! अर्थात्-भूश्रमणवादीने कारक पक्षमें अदृष्ट शिषसे वायुका भ्रमण और वायुभ्रमणसे भूभ्रमण होना माना है और ज्ञापक पक्षमें भूभ्रमणसे ।युके अमणकी इति और वायुअमण नामक कार्य हेतुसे अदृष्टकी सिद्धि (इति) की है , आचार्य हते हैं यों अनुमित अनुमानसे भी तुम अदृष्टकी सिद्धि नहीं कर सके हो। इस कारण हमने वार्तिकमें हत अच्छा कहा था कि छह पहियेवाले यंत्रके समान या चरखाके समान भूमिका ऊपर नीचे भ्रमण ाना नहीं घटित होपाता है अथवा एक व्यक्तिके अनुमव अनुसार भले प्रकार परिवर्तन होना नहीं टित होता है । क्योंकि दूसरोंके द्वारा माने गये उस पृथिवीकी आन्तिके हेतुओंकी सभी प्रकारोंसे उप-त्ते नहीं होपाती है। जैसे कि अन्य वादियों के यहां इष्ट किया गया पृथिवीका गेंद या नारंगीके समान रछा चूमना आदिके हेतुओंकी सिद्धि नहीं हो सकी है। यहां आदि पदसे प्रधिविके पतन आदि भी ये जा सकते हैं। कोई वादी मारी पृथिवीका नितरां अधीगमन होना भी मान बैठे हैं तथा कोई धुनिक पण्डित अपनी ढेड बुद्धिमें यों जान बैठे हैं कि पृथिवी दिनपर दिन सूर्यके निकट होती ब्री जारही है। इसके विरुद्ध कोई यों कह रहे हैं कि अनुदिन सूर्यसे पृथिवी दूरतम होती चळी जा

रही है। इसी प्रकार कोई परिपूर्ण जलभागते पृथिबीका कुछ कालसे उदय हुआ इष्ट किये हैं। कुछ दिनोंमें भूमाग मिटकर जलमाग होजायगा तथा कोई जलमाग कम होकर पृथिवी भागका विस्तार कलिपत कर रहे हैं, किन्तु उक्त कल्पनायें प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं होपाती हैं। थोडेसे ही दिनोंमें परस्पर एक दूसरेका विरोध करनेवाले विद्वान खडे होजाते हैं। पहले पहले विद्वान या जोतिषयंत्रके प्रयोग भी युक्तियों द्वारा विगाड दिये जाते हैं। यों छोटे छोटे परिवर्तन तो दिन रात होते रहते हैं। इनसे क्या होता है ! यहांतक उक्त वार्तिककी व्याख्या कर दी गयी है !

तथा दृष्टव्याघाताच न सोस्तीत्याइ।

तथा एक बात यह भी है कि देखे हुये पदार्थोंका व्याघात होजानेसे वह दूसरोंका माना गया भूअमण नहीं घटित होपाता है, इस बातको श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं।

दृश्यमानसमुद्रादिजलिशितिविरोधतः । गोले भ्राम्यति पाषाणगोलवत्क विशेषवाद् ॥ ८॥

भूगोलका भ्रमण होना मानते संते तो समुद्र, नदी, सरोवर आदिके जलेंकी देखी जारही स्थितीका विरोध होजाता है। जैसे कि पाषाणके गोलाको यूमता हुआ माननेपर उसपर अधिक जल ठहर नहीं पाता है। अतः भू अचला है, भ्रमण नहीं करती है, पृथियीको धुमा दे और जलको ठहराये रहे ऐसा कथन कहां संभव सकता है ! अर्थात्—गंगा नदी जैसे हरिद्वारसे कलकत्तेकी ओर बहती है, पृथिवीके गोल होनेपर वह उल्टी भी बह जायगी। समुद्र या क्एजल गिर पड़ेंगे। यूमते हुये पदार्थ पर मोटा जल नहीं टिककर गिर पड़ेगा। पवनमें अन्य कोई विशेषता नहीं है।

न हि जलादेः पतनधर्मणो भूयसो आम्यति पाषाणगोले स्थितिर्देष्टा यतो भूगोलेपि सा संभाव्यत । धारकवायुवसात्तत्र तस्य स्थितिर्न विरुध्यत इति चेत्, स धारको वायुः कथं भैरकवायुना न मतिहन्यते १ भवाहतो हि सर्वदा भूगोलं च अमयन् समंततापि तत्स्थसमुद्रा-दिघारकवायुं विघटयत्येव मेघधारकवायुमिव तत्मतिपक्षवात इति विरुद्धैव तदवस्थितिः, सर्वथा विश्लेषपवनस्यासंभवात् ।

भारी होनेसे अधः पतन धर्मवाले बहुतसे जल, बाल रेत, आदि पदार्थोकी पाषाण गोलेके घूमते सन्ते वैसीकी वैसी ही स्थिति होरही नहीं देखी जानुकी है जिससे कि भूगोलके घूमते सन्ते भी यह जलकी स्थिति वैसीकी वैसी संभव जाने । यदि कोई यों कह बैठे कि घूमते हुये उस भूगोलमें भी जलको धारे रहनेवाले बायुकी अधीनतासे उस जलकी स्थिति बनी रहनेका कोई विरोध नहीं आता है, यों कहनेपर तो हम जैन पूछेंगे कि क्योंजी वह धारक बायु भला प्रेरक वायु करके क्यों नहीं प्रति-धातको प्राप्त होती है । पृथिनीको धुमानेवाली बलवान प्रेरक वायु करके जलवारक निर्बल वायुका

तिघात होजाना चाहिये । जैसे कि आकारमें मेन छाये खते हैं, किन्तु जब उनने प्रतिपक्ष वायु हती है तो वह प्रविक्तक वायु उस मेनको धारनेवाकी वायुका किनंदा कर देती है। मेघ तितर कितर होकर ए होजाते हैं या देशांतसमें जले जाते हैं। उसी प्रकार अपने बल्वान् प्रवाहसे सर्वरा भूगोलको सब तिस्त प्रमार की प्रकार वायु भी वहां स्थिर होरही समुद्र, सरोवर आदिको धारनेवाकी वायुका विश्वदक्त त्या ही देवेगी। इस प्रकार कस जलकी अवस्थिति बनी रहता विरुद्ध ही है। कोई विशेष जातिकी प्रव-का तो सर्वथा असंभव है। अतः बल्वान् प्रेरक वायु भूगोलको अकिराम घुमाती रहे और निर्वक जल तर वायु अञ्चल्या बनी रहे ये नितान्त असंभव कार्य है।

अत्र पराकृतमाशंक्य मतिषेधयति ।

पृथिवीमें श्राकर्षण्य राक्तिको माननेवाछे दूसरे पण्डितोंके मन्तन्यचेष्टाकी आकांक्षा कर अनुवाद रते हुये प्रथकार उस मन्तन्यका प्रतिषेध अप्रिम वार्तिक द्वारा करते हैं।

गुर्वर्थस्याभिमुख्येत भूमेः सर्वस्य पात्तः । तत्स्यतिश्चेत् प्रतीयेत नाथस्तात्पातदृष्टितः ॥ ९॥

पूर्वपक्षी कह रहा है कि पृथिवीमें आकर्षण शक्ति है। तदनुसार सम्पूर्ण मारी अधीका भूमिके ।सिमुखपने करके पत्न होता है। भूगोलपरसे जल गिरेगा तो भी पृथिवीकी ओर ही ग्रिरकर वहांका है। ठहरा रहेगा। अतः उस जलकी स्थिति होना प्रतीत हो जावेगा। यो कहनेंपर तो आचार्य कहते कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि मारी अधीका नीचेकी ओर पड़ना ही दिष्टिगोचर हो गहा है। ।धीत—पृथिवीमें एक हाथ लक्ना चौड़ा ग़द्दा खोदकर उस मिट्टीको गद्देकी एक ओर दलाऊं उंचा खाकर पदि उसपर गेंद घर दी जाय ऐसी दशामें वह गेंद नीचीकी ओर गद्देमें दुलक पड़ती है, व कि उपरले मागमें मट्टी अधिक है तो विशेष आकर्षण शक्ति होनेसे गेंदको उपर देशमें ही वपटा रहना चाहिये था। अतः कहना पड़ता है कि मले ही पृथिवीमें आकर्षण शक्ति होय, किन्तु उस गक्षण शक्ति सामर्थ्यसे जलका पूम रही पृथिवीसे तिरला परली ओर गिर जाना नहीं रुक सकता है।

भूगोके श्राम्यति पतदपि समुद्रजकादि स्थितमिव भाति तस्य तदाभिष्टक्षेत्र पतनाद् । विस्य गुरोरर्थस्य भूमेरनभिष्ठक्तत्या पतनादर्शनादिति नेश्वेतं, अधस्तात् गुर्वर्थस्य पातदर्शनात्, तथाभितोभिभातायभावे स्वस्थानात् श्रन्युतोधस्तात्पतिति गुरुत्वाङ्घोष्टादिवत् । न हि त्राभिधातो नोदनं वा पुरुष्यत्नादिकृतमस्ति येशान्यथागतिः स्यात् । न वात्र हेतोः कंदुका-रेना न्यभित्रारः, अभिधातायथाते सतीति विशेषणात् । नापि साध्यसाधनविकलो दृष्टानतः ग्रथनस्य गुरुत्वस्य यथोक्रविशेषणस्य साध्यस्य वाधस्तातातनस्य लोष्टादी प्रसिद्धत्वात । विशेषणात् । स्यस्तातातनस्य लोष्टादी प्रसिद्धत्वात । विशेषणात् । स्यस्तातात्वनस्य लोष्टादी प्रसिद्धत्वात ।

मुख्यमण्यादी कह रहा है कि भूगीलका असण हो रहे सन्ते अथः पतनशील समुद्र जेल आदिक गिरते हुये मी स्थित हो रहे के संगान ही दीखते हैं। क्योंकि उस अलक्षा उस मूमिक अमि-मुखपने करके पतन हो रहा है। सम्पूर्ण भारी पदार्थीका भूमिक अभिमुख नहीं हो करके पतन होना नहीं देखा जाता है । आचार्य सहते हैं कि इस प्रकार तो नहीं कहना । क्योंकि गुरुपदायीका जहां स्थित है, वहाँसे ठीक परली और नीचे गिरमा देखा गया है तथा तुम्हारे पक्षका बाधक दूसरा अनु-मान यह है कि समुद्रजल, लोहगोलक, फल आदि पदार्थ (पक्ष) यदि स्वस्थानसे खुत है। जाय तौ अवस्य ठीक नीचे पड जाते हैं (साध्य) इधर उधरसे बंखवान प्रेरक पदार्थका शद्ध जनक अभिघातनामक संयोग या प्रतिकृष्ठ वायु आदिका अमाव होते संते भारी हीनेसे (हेतु) डेल, मेघजल, आदिके समान (अन्वयद्यान्त)। उस समुद्रजलमें शद्वहेतु संयोग अथवा पुरुषप्रयत्न, विद्युत प्रयत्न, आदि द्वारा किया गया कीई शद्धहेत हो रहा प्रेरक संयोग तो नहीं है, जिससे कि भूमिपर एखे हुये जलकी दूसरे प्रकारसे यानी भूमिस परली ओर नहीं गिरकर भूमिमाऊं ही जलकी गति ही जाय । तथा इस अनुमानमें दिये गये गुरुत्व हेतुका गेंद या बन्दूककी गोली आदिसे व्यभिचार नहीं ही सकता है। क्योंकि हमने हेतुका विशेषण " अभिघात आदिकका अभाव होते संते " यह दे रक्ता है | वैगवाले हाथ हारा भूमिमें चोट खांकर नीचे नहीं गिरती हुई गेंद ऊपरको उन्नल जाती है। बन्दूककी गोली तिरछी खंडी जाती है, कबूतर ऊपरको उड जाता है, इनमें अभिघात और कारण है, जहां अभिधात और नहीं है वहां गुरुपदार्थीका अवस्य अवःपात हो जाता है। हमारा दिया हुआ डेल आदि द्रष्टान्त भी सान्य और साधनसे रीता नहीं है। क्योंकि पूर्वमें कहे जा चुके अनुसार अभिधात आदिकका अभाव इस विशेषणंसे युक्त हो रहे गुरुव हेतुकी डेड आदिमें प्रसिद्धि हो रही है और वृक्तवृक्त स्थानस प्रतिकृष्ठ परली ओर नीचे गिर जाना इस साध्यकी भी डेल आदिमें प्रसिद्धि है । तिस कारणसे युक्तियों द्वारा जान लिया जाता है कि ऊपर, नीचे, पृथिवीका अभिंग भाम से बादिकि समान यह प्रहोंकी आकर्षिणशक्ति अनुसार पृथिवीका तिरछा या टेढा, मेढा, समण मानमेवाछा बांदी भी सत्यवचन कहनेवाला नहीं है। एक बात यह भी समझ केनेकी है कि-

भूभगागमसत्यते ज्यूत्रमाणभारता। किन स्थासर्वया ज्यूतिका परिवर्तका भी १०॥ द्वयोः सत्यत्विमष्ट चेत्का विषद्धार्थेका तथीः । प्रवक्त्रोससता नेव सुगते सर्वार्थका ॥ ११॥

जिन्होंने आर्यभट या इंटली, योरीप, आदि देशीक वासी विदानीकी पुस्तकाकि अनुसार मू का अगल स्वीतृति किया है, प्रानकी प्रति हमारा वह आक्रिय है कि यदि भूक्षमणका प्रतिपादन करने-

वाके आगमको सत्य माना जाता है तो अच्छा प्रथिवीके अमणको नहीं कहनेवाले आगमका सत्यपना क्यों नहीं समझ लिया जाय ? क्योंकि ज्योतिष सम्बन्धी ज्ञानकी सिद्धि होनेका सभी प्रकारसे अमेद है। प्रथिवीको अचला या सचला माननेवाले दोनों विद्वानोंके मतानुसार सूर्यप्रहण, दिन रातका व्यवहार, राशिपरिवर्तन, ग्रुक्रका उदय, अस्त होना आदि ज्योतिष शास्त्रके ज्ञान एकसे सध जाते हैं । यदि प्रथिवी भ्रमण और ज्योतिष्कचकका भ्रमण कहनेवाले दोनों भी आगर्मोका सत्यपना अभीष्ट है तब उन दोनों आगमोंको अविरुद्ध अर्थका प्रतिपादकपना कहां रहा ! और इस प्रकार तो बुद्ध और महेक्चरके समान दोनों प्रकृष्ट माने जा रहे विरुद्ध वक्ताओंको आप्तपना यानी सत्यार्थ वक्तापन नहीं आ सकता है। अर्थात-बद्ध सृष्टिके कर्त्ताको नहीं मानते हुये सभी पदार्थीको क्षणिक मानते हैं। किन्तु ईश्वरवादी पण्डित तो प्रथिवी आदिको बनानेवाले ईश्वरकी कल्पना करते हुये पदार्थीको नित्य या कालान्तरस्थायी मान रहे हैं. परस्पर विरुद्ध अर्थको कह रहे ये दोनो तो बढिया वक्ता नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार प्रथिवी को सचला या अचला माननेवाले भी आप नहीं हो सकते हैं। कमसे कम एक पण्डितके आगम का सत्यपना रक्षित नहीं रह सकता है। अपरिचित स्थलमें नांव द्वारा श्रमण कर रहा पुरुष भले ही नावका वुमना नहीं मानकर नगर या तीरस्थ प्रासादींका भ्रमण अभीष्ट कर छे, एतावता उसके दिशा विभ्रमका समाधान भी भले ही हो जाय, किन्तु वस्तुतः विचारनेपर नगरका स्थिरता और नावका चलपना माना जायगा । इसी प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाणद्वार। ज्योतिष चक्र ही अमण कर रहा प्रतीत हो रहा है। साधारण मनुष्य या पशुको थोडा चूम जानेसे ही आंखोंमें चूमनी आने लग जाती है। कमी कमी खण्डदेशमें अत्यल्प भूचाल (भूकम्प) आनेपर शरीरमें कपकपी, मस्तकमें भ्रान्ति होने लग जाती है। यदि डांकगाडीकी गतिसे भी अधिक वेगवाली पृथिवीकी चाल मानी जायगी, ऐसी दशामें मस्तक, शरीर, पुराने गृह, कूपजल, समुद्र आदिकी क्या व्यवस्था होगी ! इस बात का बुद्धिमान् स्वयं विचार कर सकते हैं।

मतांतरमुपदर्श्य निवारयनाह ।

अब श्री विद्यानन्द आचार्य भूभ्रमणसे अतिरिक्त दूसरे मतोंका संकेत मात्र दिखलाकर उनका निवारण करते हुये अग्रिम वार्त्तिकोंको कह रहे हैं ।

सर्वदाधः पतन्त्येताः भूमयो मरुतोऽस्थितेः । ईरणात्मत्वतो दृष्टप्रभंजनवदित्यसत् ॥ १२ ॥ मरुतो धारकस्यापि दर्शनाचोयदादिषु । सर्वदा धारकत्वस्यानादित्वाचत्र न क्षतिः ॥ १३ ॥

किसी अन्यवादीका मन्तव्य है कि ये मूमियां सर्वदा (पक्ष) नीचे गिरती रहती हैं (साध्य)। क्योंकि चंचल और कंपन स्त्रभाववाली होनेसे वायुकी एक स्थानपर स्थिति नहीं होने पाती है (हेत्र) जैसे कि देखी जा खुकी वायु है (अन्वय दृष्टान्त)। आचार्य कहते हैं कि यह कहना मिध्या है। क्योंकि मेघ, पक्षी, आदि पदार्थोंमें धारनेवाळी वायु मी देखी जाती है। अनादि होनेसे सदा धारकपनेकी उस बायुमें कोई क्षिति नहीं है। अर्थात्—जो कंपनेवाळी चंचळ वायु है, वह मूनियोंको दृढ नहीं डाट सकती है, किन्तु बादळोंको जैसे धारक बायु देरतक धारे रहती है, उसी प्रकार अनादि काळसे पृथिवीको धार रहे तीन वातवळय चंचळ या कंपनेवाळे नहीं होनेसे भूमियोंको अविचळ धार रहे हैं। कोई हानि नहीं हो पाती है।

न हि भूभ्याधारो वायुरनवस्थितस्तस्यरणात्मत्वाभावात् । तश्वासंभवाश्वायमीरणात्म-कत्वरहितो मरुत्तेयदादिधारणात्मकस्यापि दर्जनात् । सर्वदाधारकत्वं न दृष्टं इति चेत्, सादे-रनादेवां ? सादेश्वेत् सिद्धसाध्यता । यदि पुनरनादेरपि सर्वदाधारकत्वं प्वनस्य न स्थाचदा-त्माकाञ्चादेरप्यपूर्तत्विश्चत्वादिधर्मधारणिवरोधः । अत्राधाराध्ययोरनादित्वात्सर्वदा तज्ञाव इति चेत्, भूमिगन्धभृतोरपि तत एव तथा सोस्तु । तस्र सर्वदाधः प्रतंति भूमयः प्रमाणाभावात् ।

भूमियों हा अधिकरण हो रही बाय कोई अस्थिर नहीं है। क्योंकि वह धारक वाय गमन स्वभाव वाळी या चंचल स्वभाववाली नहीं है। अतः असंभव होनेसे वह भूमियाँके सर्वदा नीचे गिरते रहनेका मन्तव्य प्रशस्त नहीं है। " ईरणात्मत्वाभाव " हेतुको यो पुष्ट करते हैं कि यह भूमियोंका आधार होरही वायु (पक्ष) ईरण स्वभावसे रहित है (साध्य) क्योंकि वायुका बादल आदिकोंको धारे रहना स्परूप भी देखा जाता है (हेत्र)। अर्थात् — कई दिनोंतक वायुके आधारपर बादल आकाशमें उटे रहते हैं। शरीरमें कृपित होगयी वायु किसी नसमें रक्तको कई वर्षोतक डाटे रहती है, चलायमान नहीं होने देती है । काचकी शीसी या नलीमें मर दी गयी वायु गोलीको डाटे रहती है । यदि यहां कोई यों कहे कि बाय कुछ देरतक भले ही बादल, रक्त, गोली आदिको धारे रहे किन्तु सर्वदा धारकपना किसी भी वायुमें नहीं देखा गया है, यों कहनेपर तो हम विकल्प उठाते हैं कि कुछ काछसे उपजी इर्ड सादि वायको सदा भारकपने है। निषेय करते हो ई अथवा क्या अनादिकाळसे सहश परिणामोंको धार रही अकम्प अनादि नायुको भी पृथिनीके सदा धारनेका निषेध करते हो ! बताओ। यदि प्रथम पक्ष अनुसार आदि वायुको प्रथिवीका धारकपना निषेत्रते हो तो तुम्हारे ऊपर सिद्धसाच्यता (सिद्ध साधन) दोष लगता है जिसको इम सिद्ध मानते हैं उसको पुनः साधनेकी क्या आक्यकता पढी है! निरर्थक बातोंको सुननेका इमको अवसर नहीं है, सादि वायुको इम प्रथमसे हैं। प्रक्रिशीयोंका धारक नहीं मान रहे हैं। हां, यदि फिर दितीय विकल्प अनुसार अनादि काछीन द्वार कायुकी भी सदा पृथिवीयोंका धारकपना नहीं बाना जायगा तन ती आत्मा, आकाश, आदिक द्रश्योंका भी अमूर्तपन, न्यापकपन, गुणसहितपन, आदि धर्मी के धारने का विरोध हो जायगा। जैसे अस्सा, आकाश, आदिक हम्य अनादि कालमें अनुत्यन जादिक वर्गीके बारक माने जारहे हैं, उसी प्रकार अनादि बायु मी मदासे प्रशिवीयोंको धार रही बनी बैठी है। यदि कोई यहां यों कहे कि इन आत्मा आदिक आकार और अमर्त्यस्त आदि आध्योंमें अनादि होनेसे सदा वह "आधारआध्यभाव " बन रहा है। यों कहने पर को हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी अनादि होनेसे ही भूमि और गन्धवाह सम्मी वायुका भी तिस प्रकार सदा वह आधार आध्य भाव हो जाओ। तिस कारणसे सिद्ध होता है कि भूमियां सर्वदा नीचे तीचे नहीं पडती रहती हैं, क्योंकि इसमें कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

एतेन सर्वदोत्पतंत्येव तिर्यगेन गच्छंतीति वा निरस्तं, धारकस्य वावीरवाधितस्य सिद्धेकक्ष्यसामानिक्षेभात् ।

इस उक्क कथन करके इन मतोंका भी खण्डन कर दिया गया समझो कि भूमियां सर्वदा उछ-लती ही नहारी हैं अग्रवा भूमियां सर्वदा तिरछी ही चलती रहती हैं, क्योंकि इन कोनों मर्लोका पोलक बलवान प्रमाण नहीं है, अब कि भूमियोंको धारनेवाले वायुकी बाधारहित हो रही सिक्किकों जा खुकी है। इस नहारमा कुन भूमियोंके ठीक ठीक ज्यों के त्यों अवस्थित बने रहनेका कोई विरोध नहीं साता है।

कश्चिद्धार्-विचादापका भूमिर्भूम्यंतराधारा भूमित्वात्तथा प्रसिद्धभूमिवत् । साय्यपरा भूमिर्भूस्थंतराधारा भूमित्वात्तथा प्रसिद्धभूमिवत् साय्यपरा भूमिर्भूम्यंतराधारा तत एव तद्व-दिति अन्वद्रमर्थेता तिर्थगधोपीति तं प्रत्याह ।

यहां कोई निद्राम् पूर्वपक्ष उठाकर कर रहा है कि विवादमें प्राप्त हो रही सूमि (पक्ष) अन्य दूसरी सूमिक आधारपर जमी हुई है (साध्य) भूमि होनेसे (हेंतु) तिस प्रकार प्रसिद्ध हो रही इस चित्रा भूमिक समाम (अन्ययद्धन्त)। और वह नीचिक दूसरी भूमि भी (पक्ष) अन्य तीसरी भूमिक आधारपर स्थिर है। (साच्य) भूमि होनेसे (हेतु) तिस प्रकार प्रसिद्ध हो रही वन्ना भूमिक समाम (अन्वयद्धान्त)। तथा वह तीसरी निराकी भूमि भी (पक्ष) भिन्न चौथी भूमिपर धरी हुई है (साच्य) तिस ही कारणसे यानी भूमि होनेसे (हेतु) उस ही प्रसिद्ध हो रही वैदूर्य भूमिक समान (अन्वयद्धान्त)। इस प्रकार चौथी भूमि पांचवीपर और पांचवी छद्दीपर चौं पुनः पुनः मिरन्तर चळते हुये इधर उधर तिरकी अनन्त और नीचे नीचे भी अनन्त सूमियां हैं। अनादि काळके समान भूमियोंका कोई पर्यन्त स्थान नरी है, यहांतक कीई झानळबदुविंदरध कह रहा है, उसके प्रति श्री विवानन्द आसार्य समाधान बचन कहते हैं।

नापूर्यता धराधोपि सिद्धा संस्थानभेदतः । भरवत्त्वमपर्यतं सिद्धं संस्थानवन्न हि ॥ १४ ॥

भीचे मीचे भी मृष्टिक्यां अनन्तः संख्यावाली सिद्ध नहीं हैं (प्रतिज्ञा) विशेष रचना होनेसे । (हेतु) पर्वतको समान (अन्वयद्दशन्त) । जो परिदृष्ट विशेष संस्थानवाला वहीं है वह धंदार्थ । मंथीदारहिस हो रहा अनन्त है जैसे कि आकाश (अ्यतिरेक दशान्त)। पृथिनी तो विशेष संस्थान-वाली ही रही सान्त ही है।

धरः पर्वतः संस्थानवान् सपर्यन्तो दृष्टी यः पुनरपर्यतः स न संस्थानवान् यथाकाशा -दिरिति विपक्षात्रावृत्तो देहः पर्यतवत्तां धरायाः साधयत्येव ।

धर यानी पर्वत (पक्ष) विशेष रचना या आकारवाडा है (साष्य) अतः मर्यादा युक्त छम्बाई, चौबाई, मोटाई, को छे रहा पर्यन्तसहित देखा गया (हेतु) जो जो संस्थानवानर है, वह समर्याद है, जैसे घट (अन्वयद्दशन्त)। और जो पदार्थ पित अनन्त है वह मरिनित संस्थानवाडा नहीं है, जैसे कि आकाश, दिशा, आदि हैं (ज्यतिरेक्ट्यान्त) इस प्रकार विपक्षते ज्याकृत हो रहा संस्थानविशेष सदेतु फिर पृथिवीक मर्यादासहितपनको साथ देता है।

यत्पुनरभ्यषायि-विवादीपंत्रां घरा घराघारा घरात्वात्मसिद्धंघरांवदिति । तद्युक्तं, हेतोरादित्यघरादिनानेकातत् न हि तस्याघरातराधारत् सिद्धमतराखाँकानेकसंगात् । ततः पर्यत्वत्यो भूमय इति निरारेकं प्रतिपत्तव्यं ।

जो फिर तुमने यों पहिले अनुमान द्वारा कहा था कि विवादमें पडी हुई भूमें (पंत) पूना शृथिवीके आधारपर हैं (साध्य) पृथिवी होनसे (हेतु) प्रसिद्ध घराक समान (अन्वयदृष्टान्त) वह कथन अयुक्त है। क्योंकि तुम्हारे हेतुका सूर्यकी पृथिवी या चंदकी पृथिवी आदि करके व्यक्तिचार हो जाता है। देखो, उन सूर्य, चन्द्रमाकी पृथिवियोंका पुनः अन्य पृथ्वियोंके आधारपर स्थित रहना सिद्ध नहीं है। अन्यम्प व्यन्तरालको अभावका प्रसा हो जायगा। अर्थात् कई मौजन अनुसार अहतालीस कटे इकस्ट या छण्यन वटे इकस्ट योजन छम्बा चौडा और इससे आधा मोटा जी सूर्य विमान या चन्द्र विमान है अथवा जितना भी कुछ मोटा सूर्य विमान या चन्द्र विमान तुमने सूना है उतनी मोटी पृथिवीके नीचे यदि दूमरी पृथिवी और चन्द्रमातक जो अन्तराल दीख रहा है, अनेक आधारभूत अन्य पृथ्वियोंके नीचे नीचे भर जानेपर वह व्यवधान नहीं रह पायगा। किन्तु हमकी यहांस सूर्यतकका पृथ्वियोंके नीचे नीचे भर जानेपर वह व्यवधान नहीं रह पायगा। किन्तु हमकी यहांस सूर्यतकका पृथ्वियोंकी कल्पना करना अयुक्त है। तिस कारणसे सम्पूर्ण भूमियां छहां दिशामें पिनित मर्यादाको छे रही अन्तवाली हैं। इस जैनसिद्धान्तको संशयरहित समझ लेना चाहिये।

नतु वाधोकः सप्तसु भूमिषु जीवस्य गतिवैचित्र्यं विरुद्धं ततो अमूश्यः शुन्याभिस्ता-भिर्मविक्यं । तथा च तत्वास्यनामैयर्थं जीवाधिकरणविवेचमञ्चणार्था हि तत्यार्कत्यना भेगसी नाम्ययसि बर्देतं प्रस्यार् । अब यहां किसीकी दूसरे प्रकारकी शंका खड़ी होती है कि नीचे नीचे सात भूमियों कि बोबंकी विचित्रक्षि गति होना तो विरुद्ध है। यदि समतलपर सातों भूमियां होती तब तो कोई जीव कही और अन्य जीव दूसरी भूमियोंमें चला जा सकता था। कई भूमियोंको भेदकर नीचे जीवका जाना कठिन है। तिस कारण उन अन्तराल्यची भूमियोंसे उन भूमियोंको शून्य (रीता) होना चाहिये और तिस प्रकार अन्तराल्यहित भूमियोंके हो जानेपर उन सात भूमियोंको कल्पना करना व्यर्थ है। उत्तरोत्तर अधिक पापको धारनेवाले जीवोंके विशेष अधिकरणोंकी प्रक्रपणाके लिये ही तो उन भूमियोंकी लम्बी, चौडी, संख्याओंमें कल्पना करना श्रेष्ठ था। अन्यथा नहीं। केवल एक भूमि मानना ही पर्याप्त है, उसीमें जीवोंको गति सुलभतासे सम्भव जाती है। इस प्रकार कह रहे वादीके प्रति श्री विधानन्द आचार्य समाधानको कहते हैं।

नाधोधो गतिवैचित्र्यं विरुद्धं प्राणिनामिह । ताद्यक् पापस्य वैचित्र्यात्तित्रिमित्तस्य तत्त्वतः ॥ १५॥

इन भूमियों में नीचे नीचे प्राणियों भी गतिकी विचित्रता निरुद्ध नहीं है। क्यों कि वास्तिवक रूपसे उस विचित्र गतिके निमित्त हो रहे तिस जातिके पापकी विचित्रता पायी जा रही है। अर्थाद्ध मर जानेपर संसारी जीवकी गति लोकमें सर्वत्र अप्रतीचात है। मात्र तैजस कार्माण शरीरों को घार रहा जीव कहीं से कहीं भी जाकर जन्म ले सकता है। भूमि, पर्वत, श्मुद्ध, कोई उसे रोक नहीं सकते हैं।

मिसदं दिताबदशुभफलं कर्म पापं तस्य मकर्षतारतम्यं तत्कल्लस्य मकर्षतारतम्यादिति माणिनां रत्नमभादिनरकभूमिसग्रुदभूतिनिमित्तभूतस्य पापविश्लेषस्य वैविष्ट्यात्तद्गतिवैविष्ट्यं न विरुष्यते तिर्यगादिगतिवैविष्ट्यवत् । यत एवं—

अशुभ फलेंको देनेवाला पापकर्म तो जगत्में प्रसिद्ध ही है, उस पापके फलकी प्रकर्षताका तारतम्य देखा जाता है। इस कारण उस पापके प्रकर्षका तारतम्य भी सिद्ध है। अर्थात्—दिदी, दुःखी, पीडाक्रान्त, रोगी, जीवोंमें अनेक जातिके पाप फलेंकी अतिशय बृद्धियां देखी जाती हैं। किसीको अल्प रोग है। अन्यको विशेष वेदनावाला रोग है। तृतीयको असाध्य रोग है। अधवा कोई अल्पधनी है, दूसरा दिख, तीसरेको भरपेट भोजन भी नहीं मिळता है, चौथा उच्छिष्ट मांगकर भी उदरज्वालाको शांत नहीं कर सकता है, यो पापके फलोंकी प्रकर्षता बढती बढती देखी जा रही है। इसी प्रकार नरकगामी प्राणियोंके रानप्रभा, शर्कराप्रभा, आदि नरक भूमियोंमें ठीक उत्पन्न करा देनेके निमित्त हो चुके विशेषपापकी विचित्रतासे उन उन पृष्टियोंमें भीचे नीचे गमन कर जानेकी विचित्रताका कोई विशेष नहीं आता है जैसे कि तिर्थव आदि गतियोंकी विचित्रताका अविरोध मसिद्ध

है। अर्थात्—कोई जीव मरकर एकेन्द्रिय दक्ष हो जाता है। अन्य जीवा गेंडुआ, मक्ती, गधा, ल्दीआ घोडा, आदि तिर्यचोंमें जन्म ले लेता है। कतिपय जीव धनिकोंके हाथी, घोडे क्लध होकर उपजते हैं। यह सब कर्मोंकी विचित्रता अनुसार यहां वहां गमन करना, जन्म लेना सिद्ध हो जाता है, जिस कारणसे इस प्रकारका सिद्धान्त व्यवस्थित है। इसका विधेय दल अग्रिमकारिकामें देखो।

ततः सप्तेति संख्यानं भूमीनां न विरुष्यते । संख्यांतरं च संक्षेपविस्तरादिवशान्मतं ॥ १६ ॥

तिस कारणसे भूमियोंकी सात यह नियत संख्या करना विरुद्ध नहीं पढता है। यदि चाहे तो संक्षेप, विस्तार, मध्यसंक्षेप, मध्यविस्तार, अतिविस्तार आदिकी विवक्षाके वरासे भूमिकी अन्य संख्यायें भी मानी जा सकती हैं। अनेकान्तवाद अनुसार व्यर्थका आप्रह करना हमको अभीष्ट नहीं है। वे सब हमको स्वीकृत हैं।

न दि संक्षेपादेकाथोभूमिरिति विरुध्यते विस्तरतो वा सैकर्विश्वातिभेदा सप्तानां मत्येकं जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्पात् ।

सात भूमियोंको नहीं मानकर संक्षेपसे एक ही अधाभूमि मान छी जाय यह कोई विरोध करने योग्य नहीं है, अथवा सात भूमियोंमेंसे प्रत्येकके जधन्य, मध्यम, और उत्कृष्ट, मेद कर देनेसे वह अधोभूमि विस्तारसे इनकीस भेदवाछी कह दी जाय, इस मन्तव्यका भी हम विरोध नहीं ठानते हैं। पटलोंकी अपेक्षा उनंचास ४९ भेद कर दिये जांय, उसकी भी हम माननेके छिये सनद हैं।

तद्गतनरकसंख्याबिश्चेषमदर्शनार्थमाइ।

अब उन भूमियोंमें प्राप्त हो रहे नरक स्थानोंकी संख्या विशेषका प्रदर्शन करानेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

तासु त्रिंशत्पंचिव्हिंशतिपंचदशदशित्रपंचोनैकनरकशतसहस्राणि पंच चैव यथाक्रमम् ॥ २ ॥

उन मूमियोंमें सर्वत्र नारकी नहीं रहते हैं, किन्तु उन रक्तप्रमा आदि मूमियोंमें यथात्रमसे तीस छाख, पदीस छाख, पंदह छाख, दश छाख, तीन छाख, पांच कम एक छाख और केवल पांच ही यो चौराशी छाख नरकविल बने हुये हैं, जो कि वातवलयान्त या अलोकाकाशको छ रही छाची। सीदी मूमियोंके त्रसनाकी मागमें ही कांचित् रियत हैं।

त्रिश्च पंचित्रप्रतिश्च पंचत्या च द्या च त्रयश्च पंचीनेकं चेति दृंद्वः, नरकाणां अतसह-साणि नरकश्चतसहसाणि च तानीति स्वयदार्थी द्वतिः, तास्थिति रत्नमभादिभूमिपरामश्चः, ययात्रसम्बद्धां यवासंख्याभिसंबँपार्थ। तेन रत्नमभायां त्रिश्चस्कश्चतसहसाणि, शर्करामभायां पंचित्रितिः, वालुकामभायां पंचद्शः, पंकमभायां दशः, शूमभभायां त्रीणि, तमःमभायां पंची-नेकं नरकश्चतसहस्रं, महातमामभायां पंचनस्वद्याणि भवेतीति विद्यापते । कुतः पुनिस्त्रिश्चलक्षादि-संख्या रत्नमभादिषु सिद्धेत्याह ।

तीस और पश्चीस और पन्द्रह और दश और तीन और पांच कम एक इस प्रकार विप्रहमें बहुतसे चकारोंको देकर तीस आदि पदांका परस्पर सम्बन्ध करते हुये इन्द्रसमास करना चाहिये। पुनः " नरकोंके लाख " यों षष्ठी तत्पुरुष समास कर त्रिंशत् आदिक जो वे नरक लक्ष है, इस प्रकार समासलाँटित निज पदोंके अर्थकी प्रधानताको लिये हुये कर्मधारय समास कर लेना चाहिये। "तासु" इस तत् शद्ध करके रत्नप्रमा आदि भूमियोंका परामर्श किया जाता है। सूत्रमें यथाक्रम शद्धका बचन तो रत्नप्रमा आदिके साथ तीस लाख आदिका यथा संख्य व्यवस्था अनुसार सम्बन्ध करनेके लिये है। तिस यथाक्रम शद्धकी सामर्थ्य करके रत्नप्रभामें तीस लाख शर्कराप्रभामें पचीस लाख, वालुकाप्रभामें पन्द्रहलाख नरक, पंकप्रभामें दशलाख, धूमप्रभामें तीन लाख, तमःप्रभामें पांच कम एक लाख, और सातंबी महातमःप्रभामें केवल पांच है। नरक है यह समझ लिया जाता है। यहां किसीका प्रश्न है कि किस युक्तिसे फिर रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें तीस लाख आदि नरकोंकी संख्या सिद्ध की गमी है श्रीकाओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्थामी वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

त्रिंशलक्षादिसंख्या च नारकाणां सुसूत्रिता। रत्नप्रभादिष्कासु प्राण्यदृष्टविशेषतः॥१॥

श्री उमास्तामी महाराजने कही जा चुकी राजप्रभा आदि पृथ्वियोंमें नरकोंकी तीस लाख, पश्चीस लाख, आदि संख्या बहुत अच्छी सूत्र द्वारा समझा दी है, जो कि नारक प्राणियोंके तिस प्रकार पूर्व जम्म उपार्जित विशेष अद्यक्षित हो रही नियंत है।

ताहरतः भाणिमा तंत्रिकासिनामस्ट्रिविवेषः पूर्वेपात्ताः संमाण्यते। यतस्तासु त्रिश्रहः क्षादिसंख्या नरकाणां रत्नभभादिसंख्या च सिध्यतीति शोभनं सूत्रिता सा ।

उन नरकोंमें निवास करनेवाले प्राणियोंके पूर्व जन्ममें उपार्जित और िस प्रकारकी जालिको धार रहे ईषद् पुण्यमिश्चित पापविशेष सम्भावित हो रहे हैं जिनसे कि उन भूमियोंमें नरकोंकी तीस छाख आदि संख्यायें और रत्नप्रभा आदि भूमियोंकी सात संख्यायें सिद्ध हो जाती हैं। इस अकार श्री उमास्वामी महाराजने सुन्दरतापूर्वक सूत्रमें उस संख्वाको दर्शा दिया है। भावार्य — सूर्य, चन्द्रमा, आदि अकृतिम पदार्थ अनादिसे निर्मित हैं तो भी जहां सूर्य चन्द्रमाका प्रकाश हो रहा है, ऐसे स्थानोंमें जीवोंका जन्म छेना पुण्य, पापसे, सम्बन्ध रखता है। तीर्थकर महाराजके पुण्य अनुसार पहिछेसे ही सुन्दर स्थानोंका निर्माण हो जाता है, तथा पापा जीवोंके निवास स्थान अतीय घृणास्पद बन चुफे रहते हैं, सवापि ये सात भूमियां और बीरासी छाख किछे अनादि अनन्त अकृतिम हैं। फिर भी अनादि अनन्त काछीन अनन्तानन्त नारिकियों के समुद्दित पुण्य, पाप, अनुसार सफुट या विचिपिचे स्थानोंमें जन्म छेन। अद्द अनुसार समझा गया है, पुण्य और पापमें बडी विछक्षण शक्तियां भरी हुई हैं।

इति सूत्रद्वयेनाधोलोकावासविनिश्रयः। श्रेयाच् सर्वविदायातस्यान्नायस्य विलोपतः॥ २॥

इस प्रकार " रतन, शर्करा " प्रश्नित और " तासु किहात " सादि इन दोनों सुन्नी करके सूत्रकारने सर्वक्रकी धाराने चली आ रही आसामको अविच्छेद हो जानेसे अभोजोक्तने अकृतिम इन रहे निवास स्थानोंका विशेष रूपते श्रेष्ठ निर्णय कर दिया है, अथवा यों अनुमान बना को कि अधोलोकके निवास स्थानोंका विशेष रूपसे तिश्चय कर केना (पश्च) श्रेष्ठ है (साम्म) क्योंकि लोक, अलोकको प्रस्यक्ष देखनेनाले सर्वक्रकी चली आ रही आम्नायका असीतक विच्छेद सहीं हो पाया है।

न हि सर्वविदायातत्वयेतदाम्बाग्नस्यासिहं बाधकाशावात् स्वसीधामन्त्रस्यवत्, साक्-चितितं चागमस्य मामाण्यमिति नेह मतन्यते ।

गुरूपरम्परासे चले आ रहे इस श्री उमास्तामी महाराजके समीचीन उपदेशकी सर्वह आरांसे चला आयापन असिद्र नहीं है (प्रतिज्ञा) कार्यक प्रमाणींका अमाब होनेसे (हेतु) स्वर्ग भोगभूमि, मोक्ष, आदिके सम्प्रदाय समान (अन्वबद्धान्त) इस अनुमानसे इस स्क्रके अर्थकी सर्वह धारांसे प्राप्ति होना सध जाता है। आगमकी प्रमाणताका हम पूर्व प्रकरणोंमें बहुत अच्छा विचार कर चुके हैं, इस कारण यहां संक्षित व्याख्यानोंमें उसका अधिक विस्तास बद्धामा नहीं जाता है। अर्थके शक्केंद्वारा अधिक प्रमेयकी प्रतिपत्ति कर लेनेकी टेबको बढाओं।

कीरकालेक्याद्यस्तत्र माणिनोः वसंगीत्यार् ।

उन नरकोंमें किस जातिकी लेश्याबाले या किस दंगके परिणाम आदिको धारनेबाले प्राणी निवास करते हैं ! ऐसी जिज्ञासा दोनेपर और उमाजानी नद्दाय अधिन स्वत्रको जारने हैं

नारका निस्याग्रभलस्केश्यापरिकामदेहवेदनक्रविकियाः॥

नरकोंमें निवास करनेवाछे जीव निख ही अत्यन्त अशुभ छेरयावाछे बने रहते हैं। कृष्ण, नीछ, कापोत, इन छेरयाओं ने निकृष्ट अंश उन जीवों ने पाये जाते हैं। नारकी जीवोंके क्षेत्र विशेषकी अपेक्षा हुये अत्यन्त अशुभ परिणाम हैं, जो कि दिन, रात, अंतरंग, बहिरंग, अत्यन्त दुःखों ने कारण बन रहे हैं। नारक जीवोंके शरीर अशुभनामकर्मके उदयसे उपने विकृत घृणित आकृतिवाछे अत्यन्त अशुभ हैं। अन्तरंग, बहिरंग कारणोंसे हुई नारिकयोंकी वेदना अतीव अशुभ है, तथा नारिकयोंके मछे ही अच्छी विकिया बनानेकी इच्छा हो किन्तु उनके तीव पाप ने फल अनुसार अशुभ शरीर विकृतियां बन बैठती हैं, जिससे कि स्व और परको अतीव दुःख उपजाया जा सके, नारिकयोंके ये भाव नीचे नीचे अधिक अशुभ बढते हुये समझ छेने चाहिये।

छेज्ञ्यादिशन्दा उक्तार्थाः । तिर्यग्न्यपेक्षयातिश्चयानिर्देशः पूर्वेपेक्षो वाधोगतानां । नित्य-प्रदणाह्यज्ञेज्ञ्याद्यनिष्टत्तिमसंग इति चेश्व, आभीक्ष्ण्यवचनत्वाश्वित्यश्चद्रस्य नित्यमहसितवत् ।

हेल्या आदि शद्बोंके अर्थको हम पहिले प्रकरणोंमें कह चुके हैं। तरप् प्रत्ययका अर्थ अतिशय होता है। यहां नारकी जीवोंकी अग्रुभतर लेक्या आदिका तिर्यगातिमें होनेवाले अग्रुभ लेक्या आदिकी अपेक्षा करके अतिशयरूप कथन किया गया है। अथवा पहिली पहिली भूमियोंमें निवास करनेवाले नारिकियोंकी अपेक्षा उनसे नीचे, नीचे भूमियोंमें प्राप्त हो रहे नारिकियोंकी लेक्या आदिक अतिशयको लिये हुये अग्रुभ हैं। यदि कोई यहां यों कहें कि नारिकियोंके लेक्या आदिक जब सर्वदा अति अग्रुभ ही बने रहते हैं, तब तो उनकी लेक्या आदिकी कभी निवृत्ति या परावृत्ति नहीं हो सक्तनेका प्रसंग प्राप्त हो जायगा। एक ही लेक्या वनी रहेगी। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यहां नित्यका अर्थ आकाशके समान अविचलभाव बना रहना नहीं है, किन्तु यहां नित्य शाहका अर्थ अभीका इह किया गया है। जैसे कि " नित्यः प्रहसितो देवदत्तः" देवदत्त नित्य ही हंसता रहता है, यहां नित्यका अर्थ बहुत कालतक ही समझा गया है। खाते, पीते, सोते, पढते उसका हंसना छूटे ही नहीं यह अर्थ नहीं है। अभीक्ष्यका अर्थ प्रायः, बहुत या बहुमाग अथवा पुनः पुनः है।

के पुनरेवं विशेष्यमाणा नारकाणापित्वाइ ।

महाराज फिर यह बताओं कि इस प्रकार विशेषित हो रहे वे जीव भन्ना कौनसे हैं ! जिनकी अपेक्षा नारिकरों की लेक्स, परिणाम, आदिक अधिक अग्रुभ कहे गये हैं । ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी अपिमवार्तिक हाना समाधान वचन कहते हैं ।

तिर्यंचोऽश्चभछेश्याद्यास्तेभ्योप्यतिशयेन ये । प्राणिनोऽश्चभछेश्याद्याः केचित्ते तत्र नारकाः ॥ १ ॥ जगत्में अशुभ ढेरया, अशुभ परिणाम, अशुभ देह, आदिको धारनेबाले जीव तिर्येच हैं, उन तिर्येचोंसे भी अतिशय करके अशुभ लेरया आदिको धारनेबाले जो कोई भी प्राणी हैं, उन सैसारी जीवोंमें वे प्राणी नारकी समझे जाते हैं। इस ढंगसे श्री विधानन्द स्वामीने श्री उमास्वामी भग-वान्के सूत्रको लक्ष्य लक्षण भाव या हेतु साध्यभावके अनुसार घटित कर दिया है।

तिर्यचस्तावद्युमलेक्याः केचित्यसिद्धास्ततोप्यतिभयेनाशुमलेक्याः माणिनो नारकाः संमान्यंते अशुभतरलेक्याः, प्रथमायां भूमौ एवमशुभतरपरिणामादयोपीति प्रसिद्धा एव प्रति-पादितिवभेषाधारा नारकाः, ततोप्यतिभयेनाशुभलेक्यादयो द्वितीयायां, तृतीयायां, तृतीपायां, तृत्वीपायां, त्वीपायां, त्वीपायां, त्वीपायां, त्वीपायां, त्वीपायां, त्वीपाय

गिडार, मकडी, चिर्झ्या, कौआ, सांप, मेडिया, बिक्री, उल्लू आदि किन्हीं किन्हीं तिर्यचोंके तो अशुभ छेश्या हो रही प्रसिद्ध ही है। उनसे भी आतिशय करके अशुभ छेश्यावाछ नारकी प्राणी संभावित हो रहे हैं। अतः पहछी पृथ्वीमें नारिक्रयोंको अशुभतर छेश्यावाछा कहा जाता है, इसी प्रकार अनेक तिर्यचोंके परिणाम, शरीर, बेदना, आदि भी अशुभ प्रसिद्ध ही होरहे हैं। उनकी अपेक्षा अत्यधिक अशुभ परिणाम आदिको धारनेवाछ पिह्छी भूमिके नारकी जीव कहे जा चुके विशेषोंके आधार होरहे प्रसिद्ध हो जाते हैं। उन पिहछी पृथिवीवाछे नारिक्रयोंसे भी अतिशय करके अशुभ छेश्या, परिणाम, आदिको धारनेवाछे जीव दूसरी पृथिवीमें हैं, उन दूसरीवाछोंसे भी तीसरीमें, उस तीसरीसे भी चौथीमें, उस चौथीसे भी पांचवीमें, उस पांचवीसे भी छठी भूमिमें और उस छठीसे भी सातवीं भूमिमें नारिक्रयोंके अशुभ छेश्या, परिणाम आदिक अतिशय करके बढते जाते हैं। इस प्रकार धनांगुछके दितीय वर्गमूछसे गुणित जगच्छेणी प्रमाण संपूर्ण नारिक्रयोंके छेश्या, परिणाम आदिक नीचे नीचे मूमियोंमें अधिक अधिक निकृष्ट होते चछे गये हैं।

कथं पुनरेतदशुभत्वतारतम्यं सिद्धमित्याइ।

यह छेश्या आदिकोंके अञ्चभपनका उत्तरोत्तर तरतम रूपसे बढना फिर किस प्रमाणसे सिद्ध है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिकको कहते हैं ।

संक्लेशतारतम्येनाशुभतातारतम्यता । सिष्धेदशुभलेश्यादितारतम्यमशेषतः ॥ २ ॥

नीचे नीचे भूमियोंमें नारकी जीबोंके संक्छेशकी तरतमतासे छेश्या आदिकोंके कारण अशुभपन का तरतमपना सिद्ध होजाता है, क्वीर उसी तरतमतासे अशुभ छेश्या आदिकोंका तरतमपना सम्पूर्ण रूपसे सब जावेगा।

संबक्तिको श्रीवस्याविशुद्धिपरिणामो मिथ्यादर्जनादिस्तस्य तारतम्यादशुभत्वतारतम्यम-विषतापि केन्यादीनां सिध्येदिति न तदहेतुकं यतातिमसज्येत ।

जीतके विश्व नहीं हुये मिष्यादर्शन, कोध, असातवेदन, आदि अशुद्ध परिणामीको संक्रेश माना गया है। उस संक्रेशके तारतम्यसे सम्पूर्ण रूपसे मी छेश्या, परिणाम, आदिकोंके अशुभयनका तारतम्य सिद्ध होजावेगा। इस कारण वह नीचे नीचे छेश्या आदिकोंका अशुभयना स्वकीयकारक हेतु-आसे रहित नहीं है, जिसे कि नारिकयोंसे आतिरिक्त अन्य श्रेष्ठ मनुष्य या देवोंमें भी अशुभतर छेश्या आदिके पाये जानेका अतिप्रसंग हो जाता। अर्थात्—नारिकयोंके समान अन्य जीवोंमें कारण नहीं होनेसे अशुभतर छेश्या आदिक विवर्त नहीं पाये जाते हैं।

न्तु चैकांतिकदुःखयोगिनो नारकाः मुखदुःखयोगिनां तिर्यश्मनुष्यवचनात्, ऐकांतिक-सरीरमुखयोगिनां देवत्वाभिधानात् । तत्र किमुदीरितदुःखास्ते नारका इत्याह ।

यहां किसी शिष्यकी समीचीन शंका है कि नारकी प्राणियोंके तो एकांतरूपसे सर्वथा दुःखोंका ही सोग छम रहा है और सामान्य रूपसे तिंथेच या मनुष्योंमें न्यून या अधिक रूपसे छुल और
दुःखका सम्बन्ध होना कहा गया है तथा एकांत रूपसे शारीरिक छुलका सेग धारनेवाछे प्राणियोंको
देवपना कहा गया है। अर्थात्—एकांतरूपसे दुःखी नारकी जीव हैं और एकांत रूपसे शारीरिक
छुलकां देव हैं। अर्थात्—मनुष्य और तिर्थेच तो कदाचित् छुली और कदाचित् दुःखी समझे गये
हैं। दिन्द पुरुषोंको त्योहारके दिन कुछ अच्छा भोजन मिछ जानेसे आपेक्षिक उतना ही छुल मिछ
जाता है जितना कि धनिकोंको महीनोंतक षट्रस प्रित मोजन करनेसे प्राप्त होता है। पटरानी या
सेठानीको रक्तजित सूर्वण भूषणोंसे जितना आनन्द मिछता है उससे कही अधिक कीडी, गोंगची,
पीतल, कांच, आदिके बने हुये आभूषणोंको पहननेवाछी भीछिनिको आभिमानिक छुल प्राप्त होजाता
है। अधिक परिश्रम या क्छेश उठानेवाछे पशुपक्षियोंमें भी कुछ आपेक्षिक छुल होरहा है, जीवको अनुकुछ होरहे तियेच शरीरमें आत्माको ठंसे रहनेवाछी तिर्थगायुः कर्मका पुण्यप्रकृतियोंमें पाठ है। यहां
उस नारक्तियोंके विषयमें हमको यह पूंछना है कि क्या वे नारकी उदीरणाको प्राप्त हुये दुःखके
भोगनेवाछे भी हैं! ऐसी आशंका होनेपर श्री उमास्वामी महाराज समाधानकारक अपिम सूत्रको कहते हैं।

परस्परोदीरितदुःखाः॥ ४॥

भवप्रत्यय अवधि करके नारकी जीव परस्पर एक दूसरेको दूरसे ही दुःखका कारण समझाकर शृगाल आदिके समान अन्तरंगकारण असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा द्वारा प्रस्परमें अतितीव दुःखको उपजाते रहते हैं। अर्थात्—उन नारकियोंमें परस्पर करके दुःखै उपजाया जाता है।

नतु च कोपोत्पची सत्यां परस्परं दुःखोदीरण दृष्टं नान्यथा न च तेषां तदुत्पची कारणमस्ति न चाकारणिका सांतिमसंगादिति चक्क, निर्दयत्वाचेषां परस्परदर्शने सर्ति कोपोत्यचे। त्यचेः श्वत् । सत्यंतरंगे कीधकर्मीदय बहिरंगे च परस्परदर्शने तेषां कोपोत्पचिनिहेतुका पतोतिमसंगः स्यादिति ।

कोई शिष्य शंका करता है कि तीन कोपकी उत्पत्ति होते संतं, तीतरों, मैसों कुतां मुगें आदिके समान कित्यय जीनों में परस्पर दुःखकी उदीरणा (प्रवाहित होना) देखी गयी है। अन्यदा नहीं। यानी कोधकी उत्पत्ति हुये विना सज्जन, छिरिया, आदिकों के दुःख उक्तनता हुआ नहीं देखा गया है। जब कि उन नारकी जीनों के उस कोधकी उत्पत्ति होने कोई कारण ही नहीं है तो ऐसी दशामें कारणको निमित्त नहीं पाकर वह कोधकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। यदि कारणोंक विना ही निष्कारण कोध उपज बैठेगा, तब तो अतिप्रसंगदोष हो जायगा। अर्थात् सम्बन्ध पुरुषों भी तीन कोध पाया जानेगा। अतः कोधके विना नार्यकर्यों दुःखकी उदीरणा नहीं हो सकती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि निर्दय होनेस कुत्योंके समान उन नार्यक्रयोंके परस्पर एक दूसरेको देखते सन्ते ही कोपकी उत्पत्ति हो जाती है। अन्तरंग कारण पीक्षिक कर्मका उदय होनेपर और बहिरंगकारण परस्परका दर्शन होनेपर उन नार्यक्रयोंके कोधकी उत्पत्ति हो रही हेतुओंसे रहित नहीं है, जिससे कि साधुओंमें भी इसी प्रकार कोध उपजानेका अतिप्रसंग होता। कोधको सकारण मान छेनेपर अतिन्यांति टळ जाती है। जगद्के यावत् कार्यों नियत कारणोंसे ही बनाये जाते हैं।

तथा तेर्नारकेर्दुःसं परस्परमुदीयते । रोद्रथ्यानात्समुद्भूतेः कुद्धैर्मपादिभिर्यथा ॥ १ ॥ निमित्तद्देतवस्त्वेतेऽन्योन्यं दुःस्तसमुद्भवे । बहिरंगास्तथाभूते सति स्वकृतकर्मणि ॥ २ ॥

तथा खोटे रौद्रभ्यानसे नरकमें उत्पत्ति होनेके कारण उन क्रोबी नारिकयों करके परस्परमें दुःख उभार दिया जाता है, जैसे कि उत्साहसहित छ्छकारनेसे कुपित हो रहे मैदा, मुर्गा, दुष्टजन, आदिकों करके परस्परमें दुःख उभार लिया जाता है। अतः तिस प्रकार तीत्र दुःखके अन्तरंगकारण निज उपार्जित कर्मीके होते संते परस्पर दुःखके उपजानेमें नारकी जीव बहिरंग निमित्तकारण हो जाते हैं।

तती नेदं परस्यसदीरितदुःस्वत्वं नारकाणामसंभाव्यं युक्तियन्तात् 1

तिस कारण युक्तियोंका सकाव हो जानेसे यह नारकी जीवोंके परस्परमें उदौरित हुये दुःखसे सहितपना असम्भव नहीं है।

अन्योदीरितदुःखाश्र ते इत्याइ।

तथा अन्य कारणोंसे भी उदीरणा प्राप्त हुये दुःखोंको धारनेवाछे वे नारकी जीव हैं, इस सिद्धान्तको प्रकट करनेके छिये श्री उमाखामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

संक्लिष्टासुरोदीरितदुःखाश्च प्राक्चतुर्थ्याः ॥ ५ ॥

चतुर्थी भूमिसे पिहेले यानी तीसरी तक संक्षेत्राको प्राप्त हो रहे कितपय असुरकुमार जातिके देवों करके उदीरणाको प्राप्त किये जा रहे दुःखको झेलनेवाले भी नारकी हैं।

पूर्वभवसंक्षेत्रपरिणामोपात्ताग्धभकर्मोदयात् सततं क्रिष्टाः संक्रिष्टा अग्रुरनामकर्मोदयाद-सुराः संक्रिष्टाश्च तेऽग्रुराश्चेति । संक्रिष्टविश्लेषणमन्याग्रुरनिष्ट्रत्यर्थे, अग्रुराणां गतिविषयनियम-मदर्श्वनार्थे प्राक्चतुर्थ्यो इति वचनं । आङो प्रदणं स्रध्वर्थिमिति चेन्न, संदेहात् ।

पूर्व जन्ममें भावना किये गये अत्यन्त संक्षेश परिणाम करके उपार्जित अशुभ कर्मका उदय हो जानेसे नित्य ही क्रेरा युक्त हो रहे जीव संक्रिष्ट कहे जाते हैं। देव गतिकी उत्तरोत्तर भेदरूप असुर मामकर्म प्रकृतिके उदयसे इये जीव असर हैं । संक्रिष्ट हो रहे जो वे असर देव हैं इस प्रकार कर्मधारय कृति करके " संक्रिष्टासुराः " राह्नको बना छेना चाहिये । सम्पूर्ण असुरकुमार देव तो नारिकयोंको द्व:ख नहीं उपजाते हैं । किन्तु अम्बावरीष आदि कोई कोई असुरकुमार ही कलहाविय हो रहे उन नारिकयों की मिडाते रहते हैं। इस कारण अन्य भद्र असुरोंकी निवृत्ति के छिये सूत्रमें असुर शहका विशेषण " संक्रिष्ट " पद दे रक्ला है । दुःख वेदनाकी उदीरणाके कारण बन रहे संक्रिष्ट असुरोंकी गति तीन पश्चिमोर्ने ही है, इससे नीचे नहीं है। इस गति विषयक नियमका प्रदर्शन करानेके छिये सन्नमें चतुर्थींसे पहिले पहिले यह वचन कहा है। कोई प्रश्न करता है कि प्राक् शदकी अपेक्षा आङ्का प्रहण लाववके लिये उचित है " प्राक्चतुर्धाः " की अपेक्षा आचतुर्धाः कहनेमें परि-णामकृत लाघव है। सूत्रकारको एक एक मात्राके लाघवपर लक्ष्य रखना चाहिये। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तुच्छता प्रदर्शक लाघव तो नहीं दिखलाना चाहिये, क्योंकि संदेह हो जायगा। आङ् निपातका अर्थ तद्रित मर्यादा और तत्सिहत अमिविधि दोनों होते हैं । ऐसी दशामें संशय हो सकता है कि चतुर्यी भूमि भी छी गयी है ! अथवा क्या उससे प्रथम तीसरी भूमितक ही असुर जाते हैं ! । ऐसी दशामें कोई चतुर्थी भूमिको भा ले लेते। अतः संदेहकी निवृत्ति के लिये स्पष्ट रूपसे प्राक्त शहका कथन करना सूत्रकारको समुचित पडता है।

चश्रद्धः पूर्वहेतुसमुख्यार्थः । अनंतरत्वादुदीरितग्रहणस्यहानर्थवयमिति चेन्न, तस्य वृत्ती परार्थत्वात् । वाक्यवचनमिति चेन्न, उदीरणहेतुनकारमदर्शनार्थत्वात् पुनरुदीरितग्रहणस्य । तेन कुंमीपाकायुदीरितदुःखाश्रेति प्रतिपादितं भवति । कथं पुनः—

इस सूत्रमें पढ़ा हुआ च शहू तो पूर्वमें कहै जा चुके हेतुओंका एकत्रीकरण करनेके लिये है। अर्थात्—तीसरी मूमितक असुरकुमार भी नारिकयोंको दुःख उपजाते हैं, और पूर्वसूत्र अनुसार परस्परमें भी उनको दुःखकी उदीरणा की जा रही है । अन्यया यानी च शहका कथन नहीं करनेपर पहिली तीन भूमियोंमें पूर्वोक्त हेतुओंके अभावका प्रसंग आवेगा जो कि इष्ट नहीं है । यहां किसीका आक्षेप है कि पूर्व सूत्रमेंसे अव्यवहित होनेके कारण उदीरित शहकी अनुकृति होय ही जायगी। पुनः इस सुत्रमें उदीरित शहका प्रहण करना व्यर्थ है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि वह पूर्व सूत्रका उदीरित शद्ध तो समास वृत्तिमें दूसरेके लिये विशेषण होकर गौण हो चुका है। अर्थात्—" पदार्थः पदार्थेनान्वेति नत्वेकदेशेन " पदार्थका पूरे पदार्थके साथ अन्वय होता है, एक देशके साथ नहीं । देखी, भृत्यको यदि जल छानेके छिये कहा जाय या भोजन बनना देखनेकी कहा जाय तो उस मृत्यका केवल हाथ या आंखें ही नहीं चले जाते हैं, किन्तु अंगोपांगसहित पूरा शरीर जाता है, अथवा कर्मचोर भृत्यका कोई भी अवयव नहीं जाता है। इसी प्रकार समासमें गीण हो चुके केवल उदीरित शह भी अनुकृति नहीं हो सकती है। यदि आक्षेपकार पुनः यों कहे कि तब तो और भी अच्छा हुआ । समसितपद नहीं कहकर सूत्रकारको यों वाक्य ही कह देना चाँहिये कि " परस्प-रेण उदीरितदुःखाः, संक्लिष्टासुरैश्व, प्राक् चतुर्च्याः '' अर्धात्—नारकी परस्पर करके उदीरित हुये दु:खवाछे हैं और चौथी पृथ्वीसे पाईछे संक्लिष्ट असुरों करके उदीरित हुये दु:खको भी भुगत रहे हैं. आचार्य कहते हैं कि यह तो ठीक नहीं। क्योंकि ऐसी दशामें उदीरित शद्ध अवश्य ही व्यर्थ पढ़ेगा। किन्तु आचार्यके व्यर्थ होरहे शद्वमें भी अट्टट प्रमेय धन भरा हुआ है। अतः पुनः उदीरित शद्वका प्रहण करना तो उदरिणाके कारण होरहे इतर प्रकारोंका प्रदर्शन करनेके लिये है, तिस करके यह भी कह दिया गया समझा जाता है कि कुम्भीपाक, छोहघनघात, आदि कारणोंसे भी नारिकयोंको की उदीरणा होरही है। नरकोंमें तप्त छोहेके स्तम्भोंसे चिपटना, तीले तलवार या छरेसे काटा जाना, तपे तैलमें डुबो देना, हिंदुयांमें पका देना, लोहके मीगरोंसे पीटा जाना, कोल्ह्रमें पिलना, तथा स्वयं नाराकियों द्वारा विक्रिया कर छिये गये रीछ, व्याघ्र, लिहारिया, बिछी, नौला, गृद्ध, उल्लू, कौआ, चील, आदि वैकियिक देहधारी प्राणियों करके खाया जाना, आदिक कारणोंसे भी भारी द:ख उपजाये जारहे 🖁 । अब कोई पूंछता है कि सूत्रकारका उक्त सिद्धान्त फिर किस युक्तिके आधारपर समझ लिया जाय ? इसका समाधान करनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिकोंको कहते हैं।

> संक्लिष्टेरसुरेर्दुःखं नारकाणामुदीर्यते । मेषादीनां यथा ताद्यक्त्पेस्तिसृषु भूमिषु ॥ १ ॥ परासु गमनाभावातेषां तद्वासिदेद्दिनां । दुःखोत्पत्ती निमित्तत्वमसुराणां न विद्यते ॥ २ ॥

एवं सूत्रत्रयोत्रीतस्वभावा नारकांगिनः। स्वकर्मवद्यातः संति प्रयाणनयगोचराः॥ ३॥

उपरछी तीन भूमियों में नारिक्तयों को सिक्केष्ट असुरों करके दु: खकी उदीरणा कराई जाती है जैसे कि तिस जातिके संक्रेश स्वरूपवाके प्रतिक्ष्क या मेढा आदिको छढानेवाले करूड प्रिय मनुष्यों करके मेढा, तीतर, बैल, आदिके दु: खोंकी उदीरणा करा दी जाती है। उन असुरकुमारोंका परली चौबी, पांचवीं, आदि भूमियोंमें गमन नहीं होता है। तिस कारण उन चौथी आदि भूमियोंमें निवास करनेवाले शरीरधारी नारिक्रयोंके दु: खकी उत्पत्तिमें उन असुरकुमारोंको निमित्तकारणपना विद्यमान नहीं है। इस प्रकार " नारका नित्वाञ्चभतरलेश्यापरिणामवेदनाविक्रियाः, परस्परोदीरितदु: खाः, सिक्रिष्ठासुरोदीरितदु: खाः अक्नार समझ लिये गये हैं। अपने पूर्व उपार्जित कमोंकी अधीनतासे नारकी जीव तिस प्रकार अञ्चम परिणाम या दु: खोंका भाजन बन रहे हैं। वे तिस प्रकारके नारकी जीव तो प्रमाण खौर नयके विषय हो रहे जान लिये जाते हैं। अतः आगमके समान युक्तियोंका भी वहां अवकाश है।

त्रमाणं परमागमः स्याद्वादस्तद्विषयास्तावद्ययोश्रीता नारका जीवाः साकल्येन तेषां ततः प्रतिपत्तेः नयविषयाश्र विप्रतिपत्तिसमाक्रांतैकदेशप्रतिपत्तेरन्यथानुपपत्तिरिति प्रमाणनयैर-धिगमो नानानारकाणामृद्यः ।

सर्वोत्कृष्ट आगमप्रमाण स्याद्वाद सिद्धान्त है, उसके विषय हो रहे वे पूर्वोक्त कथन अनुसार नारकी जीव ज्ञानलक्षणप्रत्यासित्त द्वारा जान किये गये ही हैं। क्योंकि उस आगमप्रमाणसे उन नारिक्योंकी सम्पूर्णरूपसे प्रतिपत्ति हो जाती है तथा नय ज्ञानके भी विषय होरहे नारकी जीव हैं। क्योंकि विवादस्थलमें भले प्रकार प्राप्त हुये विषयकी एक देशसे प्रतिपत्ति होनेकी अन्यथा यानी नय-प्रवृत्तिके विना असिद्धि है, इस प्रकार अनेक नारिक्योंका प्रमाण और नय करके अधिगम करना, विचार लेना चाहिये। अर्थात् नस्तुकी साकल्येन प्रतिपत्ति करानेवाला प्रमाणज्ञान है और वस्तुके एक देशकी प्रतिपत्ति करानेवाला नय है, इनके द्वारा नारिक्योंकी सम्पूर्ण व्यवस्था जानी जाती है। नरक मूमियोंके प्रस्तार, इन्द्रकिलल, श्रेणी विल, पुष्पप्रकीर्णक विल, उष्णनरक, शीतनरक, संस्थात वा असंख्यात योजनवाले विले, शरीरकी उच्चिह, मोजन, पान, आदि व्यवस्थाओंको स्यादाद सिद्धान्त द्वारा निर्णय कर लेना चाहिये। संक्षेप कथनका लक्ष्य होजाने पर विस्तृत कहनेकी रुचि नहीं होती है। 'प्रमाणनयैरिक्षिममः'' यह सूत्र सर्वत्र अन्यत्वत हो दहा है। तदनुसार अल्प रुचिवाले या मध्यम रुचिवाले अथवा विस्तृत विचारवाले जीताओंको वैसे वैसे साथनीहारा प्रमेयोंकी प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये।

अयः रत्वप्रभाविनरकेषु त्रिशृञ्जभाविसंख्येषु यथाकमं स्थितिविश्वेषयतिपर्यर्थमाइ।

इसके अमन्तर अन श्री उमास्वामी महाराज तील खाख, पर्बास छाख, आदि संस्थानाळे रल-प्रभा आदि स्मियोंमें स्थित हो रहे नस्कोंमें यथाश्रमसे उपार्जित आयुष्य कर्म द्वारा हो रही स्थिति विरोषकी प्रतिपत्ति करानेके क्थि अग्रिम स्को कहते हैं।

तेष्वेकित्रसप्तदशसप्तदशद्वाविंशतित्रयश्चिशत्सागरोपमा सत्त्वानां परा स्थितिः ॥ ६ ॥

उन चौरासी लाख नरकोंमें निवास करनेवाले नारक प्राप्ययोंकी अनुकासरे एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दश सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर, तेतीस सागर प्रमाण उत्क्रष्ट स्थिति है।

सागर उपमा येषां तानि सागरोपमाणि, सागरस्योपमात्वं द्रव्यथूयस्त्वात् । एकत्रिसप्त-दश्वसप्तदश्वद्वार्विश्वतित्रपत्रिञ्चत्सागरोपमाणि यस्या सा तथेत्येकादीनां कृतद्वन्द्वानां सागरो-पमविश्वेषणत्वं ।

अलीकिक मान द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, भेदांसे चार प्रकारका है। तिनमें द्रव्यमानके संख्या-प्रमाण और उपमा प्रमाण दो भेद हैं । उपमा प्रमाणके आठ भेदोंमें सागर नामका भी प्रकार है. जिन मानों या आयुओंकी उपमा छवण समुद्र है, वे सागरोपम हैं। अछौकिक मानोंमें सागरको उपमापना तो जल द्रव्यकी बहुलतासे दिया गया है। अद्धापल्यते दश कोटाकोटी गुणी बडी और सूच्यंगुलके असं-ख्यातवें भाग छोटी सागर नामक एक उपमा प्रमाणसे नापी गयी संख्याविशेष है। एक योजन उम्बे, चौडे, गहरे, गर्तको, जन्मसे सात दिन भीतरके भैदाके कर्तरीसे पुनः क्रिन नहीं हो। सके ऐसे बाला-मोंसे भरकर पुनः सो सो वर्ष पीछे निकालते हुये जितना समय लगता है, वह व्यवहार पत्य समझा जाता है। व्यवहार पत्यसे असंख्यात गुणा उद्धारपत्य है, अद्धापत्य तो इससे भी असंख्यात गुण है। एक योजनवाले पत्यके समान दो काख योजन चौडे और पांच काख योजन न्यासवाले इजार योजन गहरे छन्ण समुद्रको नैसे ही रोमोंसे भरा जाय और छह केशोंको घेरनेवाछे जलके उलीचनेमें यदि प्रचीस समय छगें तो पूरे छवण समुद्रको खाळी करनेमें कितने समय छगेंगे ! यों त्रैसिशक की जाय तब दश कोटी बन्ध आ जाता है। यह सागर परिमाणकी उपपंति है। जिस स्थितिका एक, तीन, सात, दश, सत्रह, बाईस, तेतीस, सागरीपम परिमाण है, वह स्थिति उस प्रकार '' एकत्रिससदशसमहा-विशतित्रयिक्षशत् सागरीपमा " नहीं जाती है। इस प्रकार एक और तीन और सात और दश और सत्रह और बाईस और तेतीस यो इन्ह समास किये का एक एक कि अबदि करोंको सागरोपमका बिशेषण होना सक्स किया जाता है।

रत्नमभादिभिरानुपूर्व्येण संबंधो यथाक्रमानुष्ट्तेः । नरकप्रसंगरतेष्विति वचनादिति वेद्य, रत्नमभाद्यपलक्षितानि हि नरकाणि त्रिंशच्छतसहस्रादिसंख्यानि तेष्वित्यनेन परामृत्र्यंते, साइचर्याद्वा ताच्छव्द्यात्सिद्धिः । ततौ यथोक्तसंख्यनरकसाइचर्याद्रत्नमभादयो नरकशब्द-वाच्याः मतीयंते । यथेवं रत्नमभादिष्यधिकरणभूतासु नरकाणां स्थितिः मसक्तेति चेत्, सच्चानामिति वचनात् । परोत्कृष्टा न पुनिष्टा परशब्दस्यष्टवाचकस्यहाग्रहणात् ।

दूसरे सूत्रमें पडे हुये " यथाक्रमम् " पदकी अनुवृत्ति कर छेनेसे एक आदिकोंका रत्नप्रभा आदिके साथ आनुपूर्व्य करके संबंध कर छेना चाहिये। यदि यहां कोई यों आक्षेप करें कि सूत्रकी आदिमें " तेषु " ऐसा वचन है। इस कारण तत्पदद्वारा नरकोंका परामर्श किया जाकर नरकोंकी स्थितिको एक, तीन, सागर आदिके होनेका प्रसंग आवेगा । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि रत्नप्रभा आदिके आधेय होकर उपलक्षित हो रहे जो तीस लाख, पश्चीस लाख आदि संख्याबाळे नरक हैं, पूर्व परामरीक तेषु इस पदकरके उन नरकोंका ही परामरी किया जाता है। अथवा सहचरपनेसे भी उसी शन्दद्वारा कहाजानापन हो रहा है । सहारनपुरका साहचर्य होनेसे सहारनपुरकी स्टेशनको भी सहारनपुर कह दिया जाता है, यहांके गन्नोंको भी सहारनपुर कह देते हैं । अतः रत्नप्रभा आदि भूमियोंको भी नरक शद्ध द्वारा कथन किये जानेकी सिद्धि होजाती है । तिस कारण पूर्वमें यथायोग्य कही गयी संख्याको धारनेवाछे नरकोंके साइचरीसे रत्नप्रभा आदि भूमियां नरक शद्ध द्वारा कडीं जारहीं प्रतीत होजाती हैं। जैसे कि वम्बईसे सहचरित होरहे प्रान्त देशको बम्बई कह देते हैं। प्रनः किसीका आक्षेप उठता है कि इस प्रकार तत् राद्ध वाच्य नरकोंसे यदि रतप्रभा आदि भूमियोंको पकडा जायगा तब तो अधि-करण होचुकी रत्नप्रभा आदि भूमियोंमें आधेय होरहे नरकोंकी स्थिती एक. तीन. आदि साग-रोंकी प्रसंगप्राप्त हुयी । यह स्थिति नारकी जीवोंकी तो नहीं समझी गयी । यों कहनेपर तो प्रन्थकार कहते हैं कि भाई, इसीलिये तो सूत्रकारने " सत्त्वानां" यह पद प्रहण किया है। यह स्थिति उन नरकोंमें रहनेवाले प्राणियोंकी है, नरकोंकी नहीं। नरकविले तो अनादिसे अनन्त कालतक जहांके तहां स्थित हो रहे हैं। परा शद्धका अर्थ उन्क्रष्ट है फिर इष्ट अर्थ नहीं। क्योंकि इष्ट अर्थको कहनेवाले पर शद्धका यहां प्रहण नहीं किया गया है। अतः यह नारकी जीवोंकी उत्कृष्ट स्थिति यों समझ छेनी चाहिये।

कृतः सोत्कृष्टा स्थितिः सच्चानां प्रसिद्धेत्याह ।

कोई पूछता है कि नारक प्राणियोंकी वह उत्कृष्ट स्थिति भळा किस प्रमाण या युक्तिसे प्रसिद्ध है ! बताओ, ऐसी ओरका होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्त्तिकों द्वारा समाधान कहते हैं।

नरकेषदितैकादिसागरोपमसम्मिता । श्वितिरस्यत्र सत्त्वानां सद्भावाचाद्यगायुषः ॥ १ ॥

संक्षेपादपरा त्वेषे वक्ष्यमाणा तु मध्यमा । सामर्थ्याद्बहुधा प्रोक्ता निर्णेतव्या यथाऋमं ॥ २ ॥

इन नरकों में नारक प्राणियों की स्थिति (पक्ष) कहे जा जुके अनुसार एक, तीन, आदि सागरोपमोंसे भले प्रकार नाप ली जाती है (साध्य) जीवों के तिस तिस प्रकारकी आयुका सद्भाव हो जाने से (हेतु) इस अनुमान द्वारा नारिक यों की आयु साध दी जाती है । नारिक यों ने पूर्वजन्म में नरकायुः कर्मका इतना बड़ा भारी पुद्रलिपण्ड बांध लिया है जिसका कि क्रमकमसे उदय आने पर हजारों वर्ष या असंख्याते वर्षोमें भोग हो पाता है । अंजुलीका जल शीघ्र निकल जाता है, किन्तु बड़ी टंकी में भरे हुये पानी को बूंद बूंद अनुसार निकलते हुये बहुत दिन लग जाते हैं । इस सूत्रमें नारिक यों की उन्कृष्ट स्थितिका निरूपण किया है । यदि यहां ही जधन्यस्थितिका वर्णन किया जाता तो प्रन्थका विस्तार हो जाता । अतः संक्षिप्तप्रन्थसे जधन्य स्थिति तो आगे चतुर्थ अध्यायमें कही जाने वाली है । जो कि "नारकाणां च दितीयादिष्ठ, दशवर्षसहस्नाणि प्रथमायां" इन दो सूत्रों करके कह दी जायगी । उन्कृष्ट स्थिति और जधन्य स्थितिका कण्ठोक्त निरूपण कर देने मात्रसे निना कहे ही सामध्येसे बहुत प्रकारकी मध्यमा स्थिति अन्छी कह दी गयी समझ ली जाती है, जो कि सर्वज्ञ आम्नाय अनुसार चले आ रहे आगम अनुसार निर्णय कर लेने योग्य है । नरकों के उनंचास पटलों में भी आगम अनुसार जधन्य, मध्यम और उन्कृष्ट स्थितियों का निर्णय कर लेना चाहिये ।

परा स्थितिरस्ति प्राणिनां परमायुष्कत्वान्यथानुपपत्तेः । परमायुष्कत्वं पुनः केषांचित्त-देतुपरिणामिक्शेषात्स्वोपात्ताद्भवस्य बाध्यते मनुष्यितिरश्चामायुःमक्ष्मसिद्धः । तत्र रत्नप्रभायां नरकेषु सन्त्वानां परास्थितिरेकसागरापमप्रमिताः, क्षरप्रभायां त्रिसागरोपमप्रमिताः, वालुका-प्रभायां सप्तसागरोपमप्रमिताः, पंकप्रभायां दश्वसागरोपमप्रमिताः, धूमप्रभायां सप्तद्शसागरोपम-प्रमिताः, तपःप्रभायां द्वाविश्वतिसागरोपमप्रमिताः, मद्दातमःप्रभायां त्रयित्वश्वत्सागरोपम-प्रमिताः इति वचनसामर्थ्यान्मध्यमा स्थितिरनेकथा यथागमं निर्णीयते । जधन्यायाः स्थिते-स्त्वत्र संक्षेपाद्वश्च्यमाणत्वादित्यलं प्रपंचेन ।

किन्हीं विवादापन्न प्राणियोंकी स्थित उत्कृष्ट है (प्रतिज्ञा) अन्यथा परम आयुका धारमा बनता नहीं है। फिर किन्हीं किन्हीं जीवोंके परम आयुष्यका धारकपना तो उसके कारणभूत हो रहे निष्ण उपार्जित परिणाम विशेषोंसे हो रहा बावित नहीं है। क्योंकि कितपय मनुष्य और तिर्यचोंके आयुष्यका प्रकृष हो रहा प्रसिद्ध ही है। अर्थात्—अपने अपने विशेष परिणामोंद्वारा अविक स्थिति वार्ष्ठ आयुष्य कर्मका उपार्जन कर जीव उत्कृष्ट स्थितियोंको धार रहे प्रसिद्ध हैं। उन स्थितियोंमें यह विवरण समिद्यिया। कि रत्मप्रसामें विन्यासको प्राप्त हो रहे नरकोमें स्थित प्राणियोंकी एक सागरोंपमको

धार रही उल्कृष्ट स्थिति है और शर्कराप्रभामें नारिक्रेयोंकी उल्कृष्ट स्थिति तीन सागरोप्रम प्रमाण है। बालुकाप्रमामें नारिक्रयोंकी उल्कृष्ट स्थिति सात सागरोपम परिमित है। पैकप्रभामें नारिक्रयोंकी उल्कृष्ट स्थिति दश सागरोपम प्रमाणसे भरपूर है। धूमप्रभामें नारिक्रयोंकी उल्कृष्ट स्थिति सम्बद्ध सागरोपम परिमाणवाली है। तमःप्रभामें नारिक्रयोंकी उल्कृष्ट स्थिति बाईस सागरोपमसे नाप दी गयी है और सातवां महातमःप्रभामें निवास कर रहे असंख्याते नारिक्रयोंकी उल्कृष्ट स्थिति उपमा प्रमाणदारा तेतीस सागरकी परिमित कर दी गयी है। इस प्रकार सूत्रकारने कण्ठोक उल्कृष्ट स्थितिका वर्णन कर दिया है। बिना कहे ही परिशेष वचनकी सामर्थ्यसे अनेक प्रकारकी मध्यमा स्थितिका आगमको अतिक्रमण नहीं कर निर्णय कर लिया जाता है। क्योंकि " तन्मध्यपितितस्तदप्रहणेन गृहाते" इस नीति अनुसार उल्कृष्ट और जचन्यके बीचकी मध्यमा स्थिति तो यो ही गम्यमान हो जाती है। इस प्रभ्यमें संक्षेपसे कथन करनेका लक्ष्य रखनेके कारण जचन्य स्थितिको स्वयं सूत्रकार चौथे अध्यायमें कहनेवाले हैं। अतः स्थितिका अधिक विस्तार पूर्वक कथन करनेसे पूरा पडो, बुद्धिमानोंके सन्मुख इंगित (इशारा) मात्र पर्यात है। अधिक बढाकर भी यदि लिख दिया जाय फिर भी तो उससे कही अधिक लिखे जानेकी आकांक्षायें बनां रहती हैं। " श्रेयसि कस्तृप्यति"।

इह प्रपंचेन विचित्तनीयं शरीरिणोधोगतिभाजनस्य । स्वतत्त्वमाधारविशेषशिष्टं बुंधेः स्वसंवेगविरक्तिसिध्दुये ॥२॥

उपेन्द्रवजा छन्दः द्वारा श्री विधानन्द स्वामी तृतीय अध्यायके अधम आन्द्रिकको समाप्त करते हुँ ये यहांतक कहे जा चुके प्रकरणका उपसंहार करते हुँ कि विद्वान् पुरुषों करके अपने संवेगभाव और वैराग्यभावोंकी सिद्धिके छिये इन छह सूत्रोंमें अधोगतिके पात्र हो रहे वैकियिक शारीरधारी नारक जीशोंका आधार विशेषरूपसे सिखा दिया गया निजतत्व तो विशेषरूप करके विचार छेने योग्य है, अथवा नारिकयोंका निकृष्ट आचार विशेषसे परिशेषमें मोगना पढा उनका निजतत्व विचारने योग्य है, जिससे कि बुद्धिमान् जीवोंको संसारसे भीरुता और वैराग्यकी प्राप्ति हो जाय। भावार्य—नारकी जीवोंका वर्णन करना मुमुझु जीवोंके संवेग और वैराग्यका वर्धक है। दशलक्षणपर्वमें जिनवाणीकी पूजा करते समय तत्वार्यसूत्रके अध्याय या सूत्रोंको अर्घ्य चढाया जाता है, इसका ताल्प्य यही है कि इन सूत्रोंके प्रमेयोंको अर्ध्य नहीं चढाते हैं। किन्तु इनके ज्ञानकी हम पूजा करते हैं, जिसके कि संवेग और वैराग्य परिणाम बढें।

इति तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालंकारे तृतीयाध्यायस्य प्रथममान्हिकं समाप्तं । यो श्रुम भावनाओंको भावते हुये विवरण कर श्री विद्यानन्द स्वामीने तत्त्वार्थसूत्रके स्रोकवार्तिक अलंकाररूप व्याख्यानमें तृतीय अध्यायका पहिला प्रकरणोंका समुदाय खरूप आव्हिक यहांतक समाप्त कर दिया है।

वला नृलेक ज्योतिष्काः सर्वत्राष्ट्री स्थिरा द्ववः । दुःखार्ता नारका ध्याता संवेगास्यै भवन्तु नः ॥ १ ॥

अधोलोकका वर्णन कर चुकनेपर श्री उमाखामी महाराज अब मध्यलोक या तिरक्के फैल रहे तिर्यक्लोकका वर्णन करते हुये द्वीप, समुद्रोंको समझाते हैं।

जम्बुद्वीपलवणोदादयः ग्रुभनामानो द्वीपसमुद्राः ॥ ७ ॥

सात राज् छम्बे, एक राज् चौडे, और मेरुसमान एक छाख चाळीस योजन ऊंचे मध्यक्षेकमें या एक राज् छम्बी चौडी और चौदह राज् ऊंचीमेंसे केवल मेरुसम ऊंची इतनी चौकोर त्रसनालीमें इक्षुवर, घृतवर, नन्दीश्वर, ऐसे ग्रुमनामबाले असंख्याते जम्बूदीप, धातकी द्वीप, आदिक द्वीप और लवणसमुद्र, कालोदक समुद्र आदिक समुद्र स्वयम्भूरमणपर्यन्त तिरले गोल रिचत हो रहे हैं।

मतिविशिष्टजंबृद्दशासाधारणाधिकरणाञ्जंबृद्दीपः, लवणोदकातुयोगाल्खवणोदः । आदिश्रद्धः प्रत्येकमभिसंबध्यते तेन जंबृद्दीपादयो द्दीपा लवणोदादयः समुद्रा इति संप्रत्ययः। ग्राभनामान इति वचनादश्वभनामत्वनिरासः।

अकृत्रिम, अत्यधिक सुन्दर, सपरिवार, जम्बृष्टक्षका असाधारणरूपसे अधिकरण होनेसे यह मध्यवत्तीद्वीप जम्बूद्वीप कहा गया है। अर्थात् - उत्तरकुरु भोगभूमिमे सुदर्शन नामका पृथ्वीमय, जम्बूहक्ष, अनादि निधन, रत्नमय, बना हुआ है, जो कि बृक्ष अन्य द्वीपोंमें हो रही साधारण रचनाले असाधारणपनेको धार रहा है । इस जम्बृबुक्षके सहचारसे द्वीपका नाम जम्बू-द्वीप पड गया है। वस्तुतः सिद्धान्त यह है कि शद्ध तो संख्याते ही हैं और ढाई सागरके समयों प्रमाण संख्यावाले द्वीप, समुद्र, असंख्याते हैं । ऐसी दशामें उन द्वीपोमें लाखों जम्बूद्वीप होंगे और लाखों ही ज्वणसमुद्र नामको धारनेवाले समुद्र होंगे । करोडों धातकी खण्ड द्वीपोंकी सम्भावना है । अतः इस मध्यवर्ती द्वीपकी जम्बूद्वीप यह संज्ञा अनादिकालसे यों ही निमित्तान्तरानपेक्ष चली आ रही है। यहाँ उत्तर धीमानोंको संतोषकारक है। ज्वण समुद्रके जलका स्वाद नोंन मिले हुये जल सरीखा है। अतः क्वणमिश्रितजळ सारिखे जळका योग हो जानेसे पाहिके समुद्रका नाम कवणोद पड गया है। इन्द्र समासके अन्तमें पडे हुये आदि शद्धका सम्पूर्ण पदोंमेंसे प्रत्येकपदके साथ सम्बन्ध कर छिया जाता है। तिस आदि राद्व करके जम्बूद्वीप आदिक द्वीप और ठवणोद आदि अनेक समुद्र यह भन्ने प्रकार निर्णय हो जाता है। सूत्रमें " ग्रुभनामानः " ऐसा कथन करनेसे द्वीप समुद्रोंके अग्रुभनाम सहितपनका निराकरण हो जाता है। अर्थात् - जम्बूदीप, छवणोद, धातुकीखण्ड, कालोद, पुष्करवर, पुष्करोद, बारुणीयर, वारुणोद, क्षीरवर, क्षीरोद, चृतयर, चृतोद, इक्षुवर, इक्षुद, नन्दीश्वर, नन्दीश्वरोद, अरुणवर अरुणोद, अरुणाभासवर, अरुणाभासोद, ऋण्डलवर, ऋण्डलोद, रुचकवर, रुचकवरोद, मुजगवर, मुज- गोद, आदि शुभ नामवाले द्वीप समुद्र हैं । विटद्वीप, क्षारद्वीप, उन्नक्द्वीप, वक, विडाल, उच्छू, तस, संप्रज्वालित, आदि अशुभ संज्ञाओंको धारनेवाले द्वीप समुद्र नहीं हैं ।

किं विष्कंभाः किं परिक्षेपिणः किमाकृतयश्च ते इत्याह ।

यहां प्रश्व कि जम्बूद्वीप, ख्वणसमुद्र आदिक कितनी कितनी चौडाईको धारते हैं ? और किस किसका परिक्षेप (घेरा) रखनेवाले हैं ? तथा कैसी कैसी आकृति यानी रचनाको प्राप्त हो रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रका उचारण करते हैं।

द्विर्द्विर्विष्कंभाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वलयाकृतयः ॥ ८॥

जम्बूद्वीपको आदि छेकर असंख्याते द्वीप और छवण समुद्रको आदि छेकर असंख्यात समुद्र ये सब दूने दूने विष्करम यानी विस्तारको छिये हुये विश्वज्ञ रहे हैं। पहिले पहिछे द्वीप या समुद्रको परछा परछा द्वीप या समुद्र परिक्षेप यानी वेष्टित (छपेटे) किये हुये हैं तथा ये समी कंकणकीसी आकृतिको धारे हुये चारों ओरसे गोछ हैं।

द्विद्विरिति वीप्साभ्यावृत्तेवेचनं विष्कंभद्विगुणत्वन्याप्त्यर्ये, पूर्वपूर्वपरिक्षेपिण इति वच-नादिनिष्टनिवेशनिवृत्तिः, वख्याकृतय इति वचनाचतुरस्नादिसंस्थाननिवृत्तिः । जंबृद्वीपस्य द्विकि-ष्कंभत्वपूर्वपरिश्लेपित्ववल्याकृतित्वाभावादन्यापीनि विशेषणानीति चेत् न, जंबृद्वीपस्यैतदपवाद-छक्षणस्य वक्ष्यमाणत्वात् । 'तन्मध्ये ' इत्यादि सूत्रस्यानंतरस्य सद्भावात् ।

सूत्रमें दिर् दिर् इस प्रकार वीप्सापूर्वक अभ्याद्यति होनेसे (का) जो कथन किया गया है वह चौडाईके दूनेपनको व्यापक करनेके छिये हैं। एक छाख योजन चौडे जम्बूदीपसे दूना दो छाख योजन चौडा छवणसमुद्र है, और छवण समुद्रसे दूना चार छाख योजन चौडा धातुकी खण्ड द्वाप है। इस प्रकार दूनी दूनी चौडाई सर्वत्र समझ छेनी चाहिये। यहां दिः दिः ऐसी वीप्सा और अन्याद्यतिका सूचक सुच् प्रत्यय भी दो बार किया है इसले अन्तके स्वयम्भू रमणसमुद्र पर्यंत अधिक दूरवर्ती अलंख्याते स्थानोंमें दूनी दूनी चौडाईका अन्वय वहा दिया जाता है, जिससे पचास, सी, द्वीप ही दूने दूने चौडे हो सकते हैं, आगेके द्वीप नहीं, इस अनिष्ट अर्थकी निवृत्ति होजाती है। शद्वप्रयोग करनेवाले मनुष्यकी एक ही बार अनेकोंमें व्यास करनेकी इच्छाको वीप्सा कहते हैं। " वीप्साथ पदस्य " इस सूत्रसे दिः होजाता है। वीप्सा अर्थ बोत्य होनेपर पदको दिन्य होजाता है। तथा सूत्रकारके " पूर्वपृथिरिक्षोपिणः " इस वचनसे अनिष्ट सिनेवेशकी निवृत्ति होजाती है, जिससे कि प्राम उपवन, नगर, प्रासाद, आदिके समान उन दीप समुद्रोका अनिष्ट विनिवेश नहीं समझ छिया जाय। जम्बूद्वीप छवण समुद्रसे और छवण समुद्र धातुकी खण्डसे वेष्टित होरहा है। यो अन्तके स्वयम्भू रमणनतक छना। तथा " वछयाकृतयः " इस वचनसे चौकोर, तिकोने, छछकोने, अठपैछ, आदि

अनिष्ट संस्थानकी निवृत्ति होजाती है । कोई कोई अनुमान प्रेमी विद्वान् साधारण स्वरूपके प्रतिपादक विरोषणोंका निरादर कर अन्यभिचारी उद्देश्य दछको हेतु और विषेय दछको साध्य बनाते हुये सर्वत्र विधायक वाक्योंको अनुमान मुद्रामें गढ छेते हैं। तदनुसार इस सूत्रमें कहे गये १ द्विदिविकांभा:. र पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः, ३ वलयाकृतयः, इन तीन विशेषणोंके साथ और जम्बूद्वीप लवणसमुद्र आदि इस विशेष्य दरूके साथ उक्ष्यलक्षणभाव और हेत हेतुमद्राव बना केना चाहिये। तभी लक्षणके अन्याप्ति अतिव्याप्ति, असम्भव, दोषोंका निवारण और हेतुके व्यभिचार, विरोध आदि दोषोंका प्रत्याख्यान करना अच्छा शोभता है। यहां किसीकी शंका है कि आपने जम्बूद्वीपको आदि छेकरके सभी द्वीप समु-बोंको उद्देश्य दल्पें डालकर विधेयांश रूपसे यह सूत्र कहा है, किन्तु सबके आदिवर्ती जम्बूदीपके दूना चीडापन और पूर्वको चेरे रहना तथा कंकणकीसी आकृतिका धारकपना नहीं घटित होता है। इस कारण ये रुक्षणकोटिमें पडे हुये तीनों विशेषण अन्याप्ति दोषसे प्रसित हैं, अथवा अनुमानमुद्रा अनुसार तुम्हारे तीनों हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास हैं । यदि अतद्गुण सम्यम्बान बहुबीहि समासका आश्रय कर जिनके आदिमें जम्बूदीप हैं यों अर्थ करते हुये जम्बूदीपको टाल दिया जायगा तो लवणसमुद्र भी टल जायगा, जो कि इष्ट नहीं है। साथमें जम्बूद्रीपके शुभनामपनका और द्वीपपनका भी निराकरण बन बैठेगा। अतः '' शुक्छ्याससमानय '' इसके समान तद्गुण संविज्ञान बहुब्रीदिका आश्रय दी छेना पडेगा। ऐसी दशामें हमारी शंका परिपृष्ट होजाती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि जम्बूद्दीपको छोडकर अन्य सम्पूर्ण द्वीपसमुद्रोंमें ये तीनों छक्षण घटित होते हैं। जब कि जम्बूद्वीपके छिये " तन्मध्ये मेरुनाभिः " इत्यादि अन्यवहित उत्तरवर्ती सूत्रका सद्भाव है तो उस अपवाद मार्गको टाळकर उत्सर्ग विधियां प्रवर्तेगी । इन तीनों लक्षणोंका अपवाद कर जम्बुद्दीपका लक्षण निकट भाविष्यमें कह दिया जायगा, अतः अन्याप्ति दोषको बालाप्र भी स्थान नहीं मिलता है। " अपवादपर्थ परित्यज्योत्सर्ग-विधयः प्रवर्तन्ते "।

क पुनिसमे दीपसमुदा इत्याह ।

फिर ये अनेक द्वीप और असंख्य समुद्र भछा कहां स्थित होरहे हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानको कहते हैं ।

सप्ताभो भूमयो यस्मान्भष्यलोको बलाद्गतः । तत्र द्वीपसमुद्राः स्युः सूत्रद्वितयवर्णिताः ॥ १ ॥

जिस कारणसे अधोळोकमें सात नीचे नीचे भूमियां कही जा चुकी हैं। अतः बिना कहे ही सामध्येसे अर्थापत्था मध्यलोक जान लिया ही जाता है। अर्थात् —अधोळोकसे ऊपर ऊर्ध्वलोक नियत ही है। तथा ऊर्ध्व और अधः के बीचका मध्यलोक विना कहे यों ही समझ लिया जाता है। उस मध्यलोकमें अनेक दीप, समुद्र, हो सकते हैं जो कि सूत्रकारने उक्त दो सूत्रोंसे वर्णित कर दिये हैं।

कर्घ्वाचोलोकवचनसामर्थ्यान्यस्यक्षेकस्ताबद्धतः एव यसादचोरत्रमभायाः सप्तसूत्रयः मतिपादितास्तास्तिन् मध्यलोके द्वीपसंशुद्धाः संक्षेपादभिद्दिताः सूत्रद्वयेन प्रपंचतोसंस्ययास्ति ययागमं प्रतिपत्तव्याः।

ऊर्च छोक और अधोछोकके कथन कर देनेकी सामध्येस मध्यलोक तो अपने आप जान लिया जाता ही है जिस कारणसे कि अधोछोकमें रालप्रभा आदिक सात भूमियां कही जा चुकी हैं। उस मध्यलोकमें द्वीप समुद्र हैं जो कि संक्षेपसे दो सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने कह दिये हैं विस्तारसे कथन करनेपर वे द्वीप समुद्र पन्धीस कोटा कोटी उद्धार पल्योंके समय प्रमाण नियत संख्या-वाछे असंख्यात हैं। उनको आतोक्त आगम अनुसार समझ छेना चाहिये। छवण समुद्रका जछ उंचा उठा हुआ है, पुष्कर द्वीपके मध्यमें मानुषोत्तर पर्वत पढ़ा हुआ है, नन्दीश्वर द्वीपमें सोछह बावडी और बावन जिन चैत्याख्य अनादि निधन बने हुये हैं, ढाई द्वीपसे बाहर तिर्यक्लोकमें जघन्य भोगभूमिकी सी रचना है। अन्तिम आधे द्वीप और अन्तकें समुद्र तथा मध्यछोककी त्रसनालीके चारों कोनोंमें कर्म-भूमिकीक्षी प्रक्रिया है। मोक्षमार्गकी व्यवस्था नहीं है। तथापि पांचवें गुणस्थानको भी धारनेवाले असंख्य तिर्यच वहां स्वयंप्रम पर्वतके परली ओर पाये जाते हैं, इत्यादिक विशेष व्याख्यानको आकर प्रन्थोंके अनुसार समझ छेना चाहिये।

क पुनरयं जंबुदीपः कीद्यक्षेत्याह ।

यह जम्बूद्रीप फिर कहां और किस प्रकारका व्यवस्थित हैं ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमा-स्वामी महाराज उत्तरवर्ती सूत्रको कहते हैं ।

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजनशतसहस्रविष्कंभो जंबुद्वीपः

उन सम्पूर्ण पूर्वोक्त द्वीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीप विराजमान है और उस जम्बूद्वीपके ठीक मध्यमें सुमेरुपर्वत नामिके समान व्यवस्थित है। जम्बूद्वीप थाळीके समान गोल है। और एक लाख योजन चौडा है।

तच्छद्वः पूर्वद्वीपसमुद्रनिर्देशार्षः । जेव्द्वीपस्य निर्देश्वन्नसंगः पूर्वोक्तत्वाधियोषादिति चेत्,
तस्य मितनियतदेश्वादितया मितपार्धत्वात् तत्परिक्षेषिणामेव परामर्श्वोषपत्तेः । तिर्दे पूर्वोक्तसमुद्रद्वीपनिर्देशार्थस्तच्छद्व इति वक्तव्यं जंब्द्वीपपरिक्षेपिणां समुद्रादित्वादिति चेक्, स्थितिकमस्या
विवक्षायां पूर्वोक्तद्वीपसमुद्रनिर्देशार्थ इति वचनाविरोधात्, यत्र कुत्रविद्वस्थितानां द्वीपानां
समुद्राणां च विवक्षितत्वात् । द्वीपश्वद्यस्थाल्पाच्तरत्वाच द्वंद्वे पूर्ववचनेपि समुद्रादय एवार्थान्त्यायात् परामुद्रथते । तत इदमुक्तं भवति तेषां समुद्रादीनां मध्यं तन्मध्यं तस्मिन् जंब्द्वीपः ।

सूत्रमें पडा हुआ तत् शद्ध तो पूर्वमें कहे जा चुके द्वीप, समुद्रों, का परामर्श करनेके छिये है। यहां कोई शंका करता है कि जब पूर्वमें कहा जा चुकापन जम्मूद्दीपमें विशेषतारहित है तो जम्बूद्वीपके निर्देश हो जानेका भी प्रसंग हो जायगा। अर्थात-तत शद्ध करके जब सभी द्वीप समझोंका आकर्षण हो जाता है तब तो अन्यद्वीप समुद्रोंके समान उस जम्बूद्वीपके मध्यमें भी जम्बुद्दीपके विराजनेका प्रसंग आता है, जो कि असंगत है। कैसा भी नरम वस होय या छोटा घडा होय स्वयं अपने मध्यभागमें पूरा नहीं समा सकता है। निश्चयनयसे भी अपने परिपूर्ण निजस्वस्त्रमें भले ही पदार्थ ठहर जाय, किन्तु अपने किंचित् मध्यभागमें तो कोई क्ल नहीं ठहर पाती है। यों शंका करनेपर तो आचार्य कहते हैं कि प्रतिनियत हो रहे देशमें स्थित होने या प्रतिनियत आकार लम्बाई, चौडाई, आदि रूप करके वह जम्बूदीप तो जब समझाने योग्य ही हो रहा है। अतः उस जम्बूदीपको घेरे रहनेवाले समुद्र और द्वीपोंका द्वी तत् शद्ध द्वारा परामर्श होना युक्त है । जैसे कि प्रन्थके बीचका पत्र निकाल लो या पद्मीस विद्यार्थियोंके बीचके विद्यार्थीको बुला लाओ । यहां प्रतिपादनीय नियत व्यक्तिको अगण्य कर शेष बहुभागका मध्य पकड लिया जाता है। पुनरिप किसीका आक्षेप है कि तब तो पूर्वोक्त समुद्र और द्वीपोंके निर्देशके छिये तत् शद्ध है यों कहन। चाहिये था । क्योंकि जम्बूद्वीपको परिक्षेप (घेरा) करनेवाले द्वीप, समुद्रोंमें सबका आदिभूत लवण समुद्र है। अतः उन समुद्र और द्वीपोंक मध्यमं जम्बूद्वीप है, यह कहना ठीक है। किन्तु उन द्वीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है यों कहनेपर तो पहिले द्वीपपदते जम्बूद्वीप ही पकडा जायगा । ऐसी दशामें जम्बूद्वीपके मध्यमें स्वयं जम्बूदीपका विराज जाना होनेसे हमारी पूर्वेक आत्माश्रय दोषवार्ज, शंका परिपुष्ट हो जाती है। पहिले द्वीपपदसे यदि घातकी खण्ड लिया जाय तब तो ल्वण समुद्र द्वारा जम्बूद्वीपका घिरा रहना छूट जायगा । अब आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि द्वीप, समुद्रों की स्थितिके क्रमकी नहीं विवक्षा करते सन्ते पूर्वोक्त द्वीप समुद्रोंके निर्देशके छिये तद शह है। इस इमारे वचनका कोई विरोध नहीं आता है। जहां भी कहीं आगे या पछि अवस्थित हो रहे द्वीप और समुद्रोंकी विवक्षा यहां उपजायी गयी है। अतः मछे ही जम्बूद्वीपको सबसे पाइछे घेरनेवाळा ळवण समुद्र है, तो भी इस स्थितिक कमका विचार नहीं कर श्री उमास्वासी महाराजने उन दीप समुद्रोंके मध्यमें जम्बूद्वीपका चिन्यास हो रहा कह दिया है। यचपि जम्बूद्धीपको वेरनेवाले द्वीप और समुद्रोंमें द्वीपोंकी अपेक्षा समुद्रोंकी संख्या एक अधिक है। तथा सबकी आदिमें जम्बूदीपका घेरा देनेवाका मी समुद्र ही है। सबके अन्तमें भी समुद्र पढ़ा हुआ सबको वेर रहा है, फिर भी हम क्या करें व्याकरणके नियमींकी अधीनतासे शहरीका उचारण करनेके किये इम या सूत्रकार महाराज पराधीन हैं। दंद समासमें जिस पदमें अल्पसे अल्प अन्य (स्वर) होंगे वह पद पहिले आजायगा । बाहे द्वीप और समुद्र यों समास करो अथवा अपनी इच्छानुसार समुद्र और दीप यों इतरेतर योग करी दीप शदका पहिले निपात होकर

" द्वीपसमुद्र " शद्ध बन जाता है। तेलमें सिललके डालनेपर या जलमें तेलको गिरा देनेपर तेल ही ऊपर आजायगा। यहां भी समुद्र शद्धमें तीन स्वर हैं और द्वीप शद्धमें दो अच् हैं अतः अल्प अच् सिहितपना होनेसे भले ही शद्धसंबंधी न्यायसे दंदमें द्वीप शद्धका पूर्वमें उच्चारण होजाय तो भी अर्थसम्बन्धी न्यायसे द्वीप समुद्रपदसे समुद्र आदिका ही परामर्श किया जाता है। तिस कारणसे सूत्रकार द्वारा यह कह दिया गया समझा जाता है कि उन समुद्र आदिकोंके मध्यको इस सूत्रमें तन्मध्यपदसे लिया गया है। उन समुद्र आदिकोंके मध्यमें जम्बूद्वीप है। यद्यपि " जंबूद्वीपळवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः " इस सूत्रमें शद्धशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनोंके अनुसार द्वीपसमुद्राः कहना शोभता है। अन्यथा जम्बूद्वीपको समुद्रपना और खवणोदको द्वीपपना प्राप्त हो जायगा। फिर भी "द्विद्विष्कंमाः पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणो वल्याकृतयः " और " तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन शतसहस्त्र-विष्कंभो जम्बूद्वीपः " इन दोनों सूत्रोंमें अर्थसम्बन्धी न्यायके अनुसार समुद्र, द्वीप, यों समाम्नाय करनेसे समीचीन प्रतिपत्ति हो जाती है। यथायोग्य सन्तोष हो जानेपर फिर भी कुचोघोंका तांता नहीं तोडनेके लिये सदा मुंह उठाये रखना गम्भीर शास्त्रीय विद्वानोंको शोभा नहीं देता है।

स च मेरुनाभिरुपचरितमध्यदेशस्थमेरुत्वात् । इतो न चतुरस्नादिसंस्थानः । तत्परि-क्षेपिणां वल्रयाकृतिवचनादेव तस्य इत्तत्वं सिद्धमिति चेश्व, चतुरस्नादिपरिक्षेपिणामपि बल्रया-कृतित्वाविरोधात् । योजनञ्जतसङ्खविष्कंभ इति बचनात् तद्विगुणद्विगुणविष्कंभादिनिर्णयः श्रेषसमुद्रादीनां कृतो भवति । एवं च ।

और वह जम्बूद्रीप उभरी हुई नामिके समान मेरुको मध्यमें धार रहा है। क्योंकि उसके उपचारसे माने गये मध्यदेशमें मेरु स्थित हो रहा है। मेरुस्थानको जम्बूद्रीपका उपचारसे मध्यभाग यों माना गया है कि लोकका मध्य तो सुदर्शन मेरुके जड़में केन्द्रीभृत हो रहे आठ प्रदेश हैं। अतः मध्यलोक स्वयं ऊर्धलोकमें विराज रहा उपचारित है। अधोलोकसे ऊपर और ऊर्धलोकके निचले मागमें सात राज् लम्बे, एक राज् चौडे और मेरुसम ऊंचे स्थानको यदि मध्यलोक माना जाता है तो इसका ठीक मध्य भी मुदर्शन मेरुकी जड़में स्थित आठ प्रदेशोंसे पचात हजार वीस ५००२० योजन ऊपर चलकर चार प्रदेश मिलेंगे। जहां कि जम्बूद्वीप कथमपि विद्यमान नहीं है, वहां तो सुदर्शन मेरु खड़ा हुआ है। हां, ऊर्ध अधो दिशाका लक्ष्य नहीं कर केवल मध्यलोकके निचले हजार योजन दुकड़ेकी पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, चार ही दिशाओंका मध्यमाग लिया जाय तो जम्बूद्रीपको मध्यमें स्थित हो रहा कह सकते हैं। कहा पृथिवीक उपरिम मध्यवर्ती समतल प्रदेशोंपर मेरु पर्वत धरा हुआ है, वह लोकका मध्य मले ही कह दिया जाय, किन्तु वह स्थल जम्बूद्रीपका मध्य तो कथमपि नहीं कहा जा सकता है। वह जम्बूद्रीप जाय, किकी जड़के) ठहरनेके स्थानको जम्बूद्रीपका मध्य उपचारसे माना गया है। वह जम्बूद्रीप

" दूत: " यानी चकरेके समान गोछ है। गेंदके समान गोछ या चौक्षोर, तिकोना, आदि संस्थानोंको धारनेवाला नहीं है। यहां कोई आक्षेप करता है कि उस जम्बूद्दीपका वेरा देकर फैल रहे द्वीप समु-होंकी आकृतिको पूर्व सूत्रमें कंकणके समान कह देनेसे ही उस जम्बूद्वीपका चाकीके समान गोलपना स्वतः सिद्ध हो जाता है । पनः इस सूत्रमें " वृत्तः " यानी रुपयाके समान गोछ कहनेकी क्या आवश्य-कता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि चौकोर, छह कोन, तिकीने आदि आकार-बाले पदार्यको धेरा देनेवाले अन्य द्वीप समुदोंके भी कंकण आकृतिधारीपनका कोई विरोध नहीं है। जैसे कि चौकोर प्रासादको गोल वेदिकासे वेरा जा सकता है। गोल किन हुई गढकी ऊंचा भीतोंसे भीतरके तिकोने, छह पैछ महल या कोठियां भी घेर ली जाती हैं। गोल सूर्य मण्डलपर अनेक चौकोर महल बने हये हैं। भले हैं। कुछ स्थान रीता पड़ा रहे, इससे हमें क्या प्रयोजन है ? बेर-नेवाळा पदार्थ दूरवर्ती गोल हो कर मध्यवत्ती कैसे भी तिकोने, चौकोने, पदार्थको परिक्षेप कर बैठेगा। देखो छह कुलाचलों या देवारण्य, भूतारण्यको, जम्बूदीपकी बेदिका वेढ रही है, अतः जम्बूदीपकी ठीक रचनाको समझानेके लिये इस सूत्रमें वृत्त राद्ध कहा है। इस सूत्रमें यों सी हजार (एक लाख) योजन चौडे जम्बूद्दीपका कथन कर देनेसे रात्र बचे हुये समुद्र आदिकोंकी उस जम्बूद्दीपसे दुगुनी दग्नी, चौडाई और पूर्व पूर्वका परिक्षेप करना आदिका निर्णय कर दिया समझ छिया जाता है। अर्थात् -- रोष समुद्रोंकी दुनी दुनी चीडाई किसकी अपेक्षासे समझी जाय ! इसके लिये पहिले जम्बू-द्वीपको एक लाख योजन चौडा कहा है । द्वीप समुद्रोंकी दूनी दूनी चौडाई तो प्राम, नगर, नदी, पर्वत, आदिके समान रचना होनेपर भी सम्भव जाती है। अतः " पूर्वपूर्वपरिक्षेपिणः " कहना सार्यक है तिकान, चौकान, होम कुण्डोंकी कटनियोंके समान दूनी दूनी चौडाई या पूर्व पूर्वको घेरे रहना तो त्रिकोण, चतुरकोण पदार्थका भी संभव जाता है। अतः द्वीप समुद्रोंकी आकृति बळ्यके समान कहना वस्त्रस्थितिका धोतक है और यों इस प्रकार जम्बुद्दीपका वर्णन कर देनेपर:--

तन्मध्ये मेरुनाभिः स्याज्जंबृद्वीपो यथोदितः। सुत्रेणैकेन निःशेषकुमतानां व्यपोद्दनात्॥१॥

उन समुद्र द्वीपोंके मध्यमें मेरुको नामिके समान धारनैवाका जम्बूद्वीप है जो कि आर्ष आम्नाय अनुसार इमने एक सूत्र करके स्पष्ट बखान दिया है, इतनेसे ही सम्पूर्ण खोटे मतोंका निरा-करण होजाता है।

सक्रसर्वयैकांतनिराकरणे हि न्यायवस्त्राद्विहिते स्यादाद एव व्यवतिष्ठते परमागमः, स च ययोदितजंबृद्वीपमकाञ्चक इति भवेदेवं सूत्रितो जंबृद्वीपः सर्वथा बाधकाभावात् अत्र ।

सर्वथा एकान्तवादी पण्डितमन्योंके सम्पूर्ण एकान्त मतोंका न्यायकी सामध्येसे निराकरण कर पुक्तवेपर जिनोक्त स्यादाद सिद्धान्त ही परम आगम न्यवस्थित होजाता है, और वह आसोक्त आगम ही आम्नायका अतिक्रमण नहीं कर कहे जा चुके जम्बूद्वीपका प्रकाशक हो सकता है। इस प्रकार एक सूत्र द्वारा जंबूद्वीपका यों सूचन कर दिया जा चुका है। क्योंकि इस आगममें सभी प्रकारोंसे बाधक प्रमाणोंका अभाव है।

तत्र कानि क्षेत्राणीत्याइ।

उस जंबूद्वीपमें कितने निवासक क्षेत्र हैं ? ऐसी विनीत शिष्यकी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि॥

उस जंबूद्दीपमें छह कुलाचलोंसे विभक्त होरहे भरत वर्ष १ हैमत वर्ष २ हरिवर्ष ३ विदेह वर्ष ४ रम्यक वर्ष ५ हैरण्यवत वर्ष ६ और ऐरावत वर्ष ७ ये सात क्षेत्र पूर्व पश्चिम लंबे और उत्तर, दक्षिण, चौडे व्यवस्थित होरहे हैं ।

भरतक्षत्रिययोगाद्धरतो वर्षः अनादिसंश्वासंबंधत्वाद्वा आदिमदनादिरूपतोपपत्तेः । स च हिमवत्समुद्रत्रयमध्ये श्रेयः । तत्र पंचाश्वचोजनविस्तारस्तदर्थोत्सेधः सक्रोशषड्योजनावगाहो रजताद्रिर्विजयार्थोन्वर्थः सकलचक्रधरविजयस्यार्धसीमात्मकत्वात् ।

दक्षिण ओरके पहिले क्षेत्रकी " भरत " यह संज्ञा कैसे बन रही है ! इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक अवसार्पिणीके चौथ कालकी आदिमें भरत नामका पहिला चक्रवर्ती इसके छह खण्डोंको मोगता है । अतः भरत नामके क्षत्रियका स्वस्वामिभाव सम्बन्ध हो जानेसे पहिले क्षेत्रको भरतवर्ष कहते हैं, अथवा दूसरा सिद्धान्त उत्तर यह है कि जगत् अनादि है, अनादिकालीन निज परिणतिके अनुसार इसकी भरतसंज्ञा चली आ रही है । वैयाकरणोंने जैसे शद्धके व्युत्पन और अव्युत्पन दो पक्ष स्वीकार किये हैं, मीमांसक और मांत्रिकोंने तो शद्धकी अनादितापर ही सन्तोष प्रकट किया है । उसी प्रकार भरतक्षत्रियके योगसे आदिमान् स्वरूपसे सिहतपना अथवा अनादिकालीन संज्ञाका सम्बन्ध हो जानेसे भरतवर्षको अनादिस्वरूपमा समुचित समझ लिया जाता है । वह भरतवर्ष तो उत्तर दिशामें हिमवान् और पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, दिशाओंमें तीनो ओरसे घर रहे तीन समुद्रोंके मध्यमें विराज रहा जान लेना चाहियें । उस भरतक्षेत्रके ठीक बीचमें फैल रहा पूर्व, पश्चिम, लम्बा और दक्षिण उत्तर पचास योजन चौडा तथा उससे आधा पचीस योजन ऊंचा एवं एक कोससहित छह योजन यानी सवा छह योजन गहरा रजतबहुल एक विजयाई नामक पर्वत है जो कि सम्पूर्ण चक्रवर्तीके विजयकी आधी सीमा स्वरूप होनेस " विजयाई " इस अन्वर्य नामकी धारता है । अर्थात्—उसका नाम अपने वाच्य अर्थको लिये हुये ठीक घट जाता है ।

हिमवतोऽदूरभवः सोस्मित्रस्तीति वा हैमवतः स च श्रुद्रहिमवन्महाहिमवतोर्मध्ये, तन्मध्ये श्रद्धवान् इत्तवेदाङ्यः। हरिवर्णमनुष्ययोगाद्धरिवर्षः स निषधमहाहिमवतोर्मध्ये, तन्मध्ये विद्वतवान् वेदाद्ध्यः । विदेइयोगाञ्जनपदेपि विदेइव्यपदेशः निषधनीळवतीरंतरे तत्संनिवेशः । स चतुर्विधः पूर्वविदेहादिभेदात् । रमणीयदेशयोगाद्रम्यकाभिधानं नीळक्विम-णोरंतराळे तत्संनिवेशः तन्मध्ये गन्धवान् वृत्तवेदाद्ध्यः । हिरण्यवतीऽद्रभवत्वाद्धैरण्यवतव्य-पदेशः रुक्मिश्चिखरिणोरंतरे ताद्विस्तारः तन्मध्ये माल्यवान् वृत्तवेदाद्ध्यः । ऐरावतक्षत्रिययोगादैरावताभिधानं श्चिखरिसमुद्रत्रयांतरे तद्दिन्यासः, तन्मध्ये पूर्वविद्वजयार्थः ।

हिमवान पर्वतसे जो दूर नहीं किन्त निकटमें विद्यमान हो रहा हैमवतक्षेत्र है अथवा वह हिमयान पर्वत जिस देशमें है वह हैमवत नामक वर्ष है। हिमवान शहसे "अद्रमवश्व" या " तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि " सूत्रोंद्वारा अण्प्रस्यय करनेपर " हैमनत " शद्ध बन जाता है और वह हैमहतक्षेत्र तो छघु हिमवान् पर्वतसे उत्तरकी ओर और महाहिमवान् पर्वतसे दक्षिणकी ओर मध्यमें तिष्ठा है। उस हैमवत क्षेत्रके मध्यमें शहवान् नामका वृत्तवेदाक्य पर्वत है। ढोलके समान गोल होनेसे बृत्त माना गया है । इसकी प्रदक्षिणा देकर रोहितास्या नदी पश्चिम समद्रकी ओर बही जाती है और प्रदक्षिणा करती हुई रोहित नदी पूर्वकी ओर बह जाती है। हरि यानी सिंहको वर्णसमान शुक्छ वर्णवाले मनुष्यों के योगसे हरिवर्ष क्षेत्र विख्यात होरहा है। वह हरिवर्ष निषध पर्वतके दक्षिणकी ओर और महाहिमवानके उत्तरकी ओर तथा पूर्व पश्चिम लवण समुद्रके अन्तरालमें स्थित है। उस हरिवर्षके मध्यमें विकृतवान् नामका ढोल समान गोल वैदाल्य पर्वत है। हरिकान्ता नदी आधा योजन दूरसे उसकी प्रदक्षिणा करती हुई पश्चिम समुद्रकी ओर चली जाती है और हरित नदी। इस वेदाव्यकी प्रदक्षिणा कर पूर्वकी ओर वह रही है। विदेहके योगसे देशमें भी विदेह यह नाम-निर्देश कर दिया जाता है। अर्थात्-वहां सर्वदा मोक्षमार्गकी प्रवृत्ति बनी रहनेसे अनेक मनुष्य कर्म-बन्धका उच्छेद कर देहरहित होजाते हैं। मुनिवर इस स्थूल देह और सूक्ष देहका उच्छेद करनेके छिये प्रयत्न कर रहे विदेहपनको प्राप्त होजाते हैं । अतः मुनियोंमें रहनेवाळा विदेहत्व धर्म तद्धिकरण क्षेत्रमें भी उपचरित होरहा है, जैसे कि यष्टित्व धर्मको यष्टिवान् देवदत्तमें धर दिया जाता है। दक्षिणमें निषध और उत्तरमें नीळवान् पर्वत और पूर्व, पश्चिम, ळवण समुद्रके अन्तरालमें उस विदेह क्षेत्रका सिनवेश है । वह विदेहक्षेत्र पूर्व विदेह, उत्तर विदेह, देवकुरु, उत्तर कुरु,इस प्रकार चार प्रकारका है । सुदर्शन मेरुसे पूर्व दिशामें बाईस हजार योजन चौडे भद्रसाल बनका उद्घंघन कर सीता नदीके दक्षिण उत्तरमें आठ आठ बिदेह हैं। इसी प्रकार सुदर्शन मेरुसे पश्चिम दिशाकी ओर सीतोदा नदीके दोनों ओर आठ आठ विदेह हैं। यों एक मेरुसम्बन्धी बत्तीस विदेहोंकी रचना है। तथा रमणीय देशों, नदी, पर्वत, वन, आदि करके युक्त होरहा होनेसे पांचवे देशका रम्यक यह नाम निर्देश है । नीळ पर्वतसे उत्तर और रुक्मी पर्वतसे दक्षिण तथा पूर्वापर समुद्रोंके अन्तराळमें उस रम्यक देशकी रचना होरही है। उस रम्यक्रके मध्यमें गन्धवान नामका वृत्तवेदाट्य पर्वत है जिसकी प्रदाक्षणा कर नारी, नरकान्ता, नदियां पूर्व, पश्चिम, समुद्रकी और वह जाती हैं। दूसरे रुक्मी नामको धारनेका हिरण्यवान् पर्वतसे जो अदूर होरहा है, इस कारण उस छठे क्षेत्रका नामनिर्देश हैरण्यवत है। रुक्मीसे उस और शिखरी पर्वतसे दक्षिण तथा पूर्व, पश्चिम, समुद्रों के मध्यमें उसका विस्तार (चौडाई छम्बाई) समझ छेन् चाहिये। उस हैरण्यवतके मध्यमें माल्यवान् नामका वृत्त वेदाव्य शैछ है। जिसके कुछ मागोंकी प्रव क्षिणा देकर सुवर्णकुछा, रुप्यकृछा, नदियां पूर्व और पश्चिम समुद्रकी ओर वहीं जा रहीं हैं। भरतवं समान ऐरावत नामक चक्रवर्तीके सम्बन्धसे सात्रवे क्षेत्रका नाम ऐरावत है। शिखरी पर्वतसे उत्तर औ तीनों ओर समुद्रोंके मध्यमें उसकी रचना बन रही है। उस ऐरावतके मध्यमें भी पहिले भरतक्षेत्रवं विजयार्ध समान एक पूर्व, पश्चिम छंवा विजयार्ध पर्वत पडा हुआ है।

कियर्थे पुनर्भरतादीनि क्षेत्राणि सप्तोक्तानीत्याइ।

महाराज फिर यह बताओ कि अतिरिक्त सूत्र द्वारा ये भरत आदिक सातक्षेत्र भटा किस छिं कहे गये हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधानकारक वार्त्तिकको कहते हैं।

क्षेत्राणि भरतादीनि सप्त तत्रापरेण तु । सूत्रेणोक्तानि तत्संस्यां हंतुं तीर्थ(थि)ककल्पिताम् ॥ १ ॥

पौराणिक या अन्य दार्शनिक पण्डितों द्वारा कल्पना की गयी उन क्षेत्रोंकी संख्याका घा करनेके छिये श्री उमास्वामी महाराजने इस न्यारे सूत्र करके तो उस जम्बूदीपमें भरत आदि सा क्षेत्र निश्चित रूपसे कह दिये हैं।

कुतः पुनस्तीर्यककित्यता क्षेत्रसंख्यानेन प्रतिहन्यते वचनस्याविशेषात् स्याद्वादाश्रयत्वा देतद्वचनस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः संवादकत्वात्सर्वथा वाधवेधुर्यात्सर्वथैकांतवादिवचनस्य तेन प्रति घातसिद्धेरिति निरूपितपायं।

यहां कोई कटाक्ष करता है कि अन्य मताबलियों द्वारा कल्पित कर ली गयी क्षेत्रींक संख्या मला इस सूत्र करके कैसे प्रतिघातको प्राप्त हो जाती है ? जब कि उनके वचनसे और तुम्हा वचनका कोई अन्तर नहीं दीख रहा है। उनके वचनोंमें विष और तुम्हारे वचनोंमें अमृत नहीं मक्षे । शास्त्र या पत्र भी समान हैं। ऐसी दशामें दोनों ही वचन प्रमाण या दोनों ही समान रूपं अप्रमाण ठहर जाते हैं। आचार्य कहते हैं कि स्यादादसिद्धान्तका आश्रय होनेसे इस श्री उमास्वाम महाराजके वचनको प्रमाणपना उचित हो रहा है। यह सूत्रकारका वचन सम्वादक भी है और सम्वप्रकारकी बाधाओंसे रहित भी है। अर्थात् वधावेधुर्य होनेसे वचनको सम्वादकपना है और सम्वदक होनेसे स्यादादसिद्धान्तका अवल्य के कर कहे हुये वचनों को प्रामाण्य बन रहा है। इस कारा उस बाधविधुर, सम्वरक, प्रमाणमृत और स्यादादावलम्बी सूत्र करके सर्वधा एकान्तवादियों है

वजनका प्रतिवास होना सिद्ध हो जाता है। इस बातका हम बहुत बार स्थान स्थानोंपर निरूपण क चुके हैं। अनेकान्त वादियोंके प्रमाण कुठारोंकरके सर्वथा एकान्तवादियोंकी बुद्धि शाखायें खण् खण्ड होकर नष्ट, अष्ट, कर दी जाती हैं।

जिन पर्वतों करके विभागको प्राप्त किये गये ये सात क्षेत्र कहे जा चुके हैं, यह तो बताः वे पर्वत कौन और किस ढंगसे व्यवस्थित हैं ! ऐसी जिह्नासा होनेपर अप्रिम सूत्र कहा जाता है ।

तद्विभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषधनील सिमिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः ॥ ११ ॥

उन क्षेत्रोंका विमाग करनेवाळी टेनको धार रहे और पूर्व पश्चिमकी और लम्ने हो रा १ हिमनान् २ महाहिमनान् ३ निषध ४ नील ५ इनमी और ६ शिखरी ये छह नर्षधर पर्वत हैं अर्थात्—क्षेत्र परस्पर मिल नहीं सकें इस ढंगसे उन क्षेत्रोंका विभाग कर देनेवाले होनेसे पर्वतोंव नर्षधर कह दिया गया है। अनेक प्रान्तोंमें भूमिके नीचे ऊपर पर्वत फैल रहे हैं। जहां पर्वत अधि होते हैं वहां भूकम्प न्यून होता है। ज्वालामुखी पर्वत भले ही उच्चाताके नेग होनेसे ही प्रान्तभूमिक कंपा देगें, किन्तु शेष पर्वत तो भूडोलको रोकते रहते हैं। हिंद्रियां शरीरको धारे रहती हैं। शर हिंद्रिओंको नहीं धारता है। मैंस या हाधीकी पीठके हद्देपर सम्पूर्ण शरीर लटक रहा है। यही दशा नैक मनुष्य, घोडा, लिरिया, आदिकी समझ लेनी चाहिये। अतः यों चल, विचल, कम्प, नहीं होने देनेक अपेक्षा पृथ्वीको धारे रहना कार्य करनेसे भी पर्वतोंकी वर्षधर संज्ञा अन्त्रर्थ कही जा सकती है।

हिमाभिसंबंधतो हिमबद्यपदेशः भरतहैमबतयोः सीमनि स्थितः, महाहिमविश्वति चोः हैमवतहरिवर्षयोर्भागकरः, निषीदंति तस्मिश्चिति निषधो हरिविदेहयोर्मर्यादाहेतुः, नीखवर्णयं गाश्रीक्रव्यपदेशः विदेहरम्यकविनिवेशविभाजी, रूक्मसद्भावतो रूक्मीत्यभिधानं रम्यकहैरण बतविवेककरः, शिखरसद्भावाच्छिखरीति संझा हैरण्यक्तैरावतसेतुषंधः शिखरी।

हिम (वर्फ) का चारों ओर सम्बन्ध होनेसे पहिले पर्वतका " हिमवान् " यह नाम निर्दे हो रहा है। अन्य पर्वतोंमें या इस भरत क्षेत्र सम्बन्धी आर्य खण्डके हिमालय पर्वतमें भी हिमका धनि सम्बन्ध है। अतः रूढि पक्षका अवलम्ब केना ही सन्तोषाधायक है। यह हिमवान् पर्वत भरत क्षेत्र और हैमवत क्षेत्रकी सीमामें व्यवस्थित हो रहा है। तथा महाहिमावान्छे सम्बन्ध हम यों कह चुके हैं कि हिमके सम्बन्धसे हिमवान कहा जाता है, महान् जो हिमवान् वह महिमवान् है। मले ही हिम नहीं होय तो भी रामकी गुडियाके समान नाम रख देनेमें कौनसी भा क्षाति हुई जाती है। हैमवत क्षेत्र और हरिवर्षका विभाग कर रहा यह महाहिमवान् पर्वत विन्यस्त है देव और देवियां तिसमें कीडा करने के लिये विराजते हैं, इस कारण पर्वतका नाम निषध है, जो।



साढि होरहा हरि और विदेह क्षेत्रकी मर्यादाका हेतु है। नीठ वर्णका सम्बन्ध होनेसे पर्वत नीठ कहा जाता है, जो कि विदेहके उत्तर और रम्यकके दक्षिण मागमें विनिवेशको प्राप्त होरहा विदेह और रम्यक क्षेत्रका विभाजक है। रुक्म यानी सुवर्णका सद्भाव होनेसे पांचवें पर्वतका रुक्मी ऐसा नाम पड गया है जो कि रम्यक और हैरण्यवत क्षेत्रके पृथग्भावको कर रहा है। शिखर यानी क्टोंके सद्भावसे छड़े पर्वकी शिखरी यह संज्ञा है। जो कि हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्रका मानो पुठ ही बंधा हुआ है, ऐसा शिखरी पर्वत शोभ रहा है। इन सम्पूर्ण पर्वतों के नाममें यौगिक अर्थ गौण है, रूदि अर्थकी प्रधानता है।

हिमबदादीनामितरेतरयोगे दृंद्दे। अवयवमधानत्वात्, वर्षधरपर्वता इति वचनमवर्षधराणां वर्षधराणां पर्वतानामपर्वतानां च निरासार्थे। तद्विभाजिन इति वचनात् भरतादिवर्षविभाग-

हेत्रत्वासिद्धिः, पूर्वापरायता इति विशेषणादन्ययायतत्वमनायतत्वं च व्युदस्तम् ।

हिमवान्, महाहिमवान् आदि शहोंका इतरेतर योग होनेपर दंद समाप्त होजाता है। क्योंकि " सर्वपदार्थप्रधानो दंद: '' दंद समासके सम्पूर्ण घटकावयव पद प्रधान हुआ करते हैं। इस सूत्रमें ''वर्षवर-पर्वताः " यह निरूपण करना तो अवर्षधर पर्वत और वर्षधर अपर्वतीका निराकरण करनेके लिये है। अर्थात्-व्यमिचार निवृत्ति करनेवाळे विशेषणोंको सार्थक समझा जाता है। " नीलोत्पर्छ " यहां नील कमलमें नील शहू तो अनील उत्पर्लो यानी लाल, श्वेत कमलोंकी न्यावृत्ति कर रहा है और उत्पल शद्ध तो नील होरहे अनुत्पलों जामन, भोरा आदिकी निशृत्ति करनेको चिल्ला रहा है। इसी प्रकार जंबू-द्वीपमें कई पर्वत, यमकगिरी, शद्भवान, विकृतवान, गन्धवान, माल्यवान, गन्धमादनगजदंत, सीमनसगजदंत, सुदर्शन मेरु ये पर्वत होते हुये भी क्षेत्रोंके विभाजक नहीं होनेके कारण वर्षधर नहीं है। अतः अवर्षधर पर्वतोंका व्यवच्छेद करनेके छिये हिमवान्, महाहिमवान् आदिमें वर्षधर पर्वतपनेका विधान सार्थक है, तथा इसी जंबुद्दीपमें भरत आदि क्षेत्रोंके उत्तर, दक्षिण, भागोंका विभाग जैसे इन हिमवान आदि पर्वतोंने किया है, उसी प्रकार उक्त क्षेत्रोंके पूर्वापर विभागको करनेवाले पूर्वापर छवण समद्र भी तो हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्रोंका तो तीनों ओरसे समुद्रने विभाग कर रक्खा है। विदेह क्षेत्रमें बडे भद्रसाल वनके साथ देवकुरु, उत्तरकुरुका विमाग गजदंत पर्वतोंने कर रक्ला है | इसी भरतमें दक्षिणभरत या उत्तरभरतके विभाजक विजयार्थ और षट्खण्डोंका विभाग करनेवाली गंगा सिन्धु नदियां भी हैं। जम्बुद्धीपके बत्तीस विदेहोंमें वत्सा, सुवत्सा, आदि एक एक जनपद ही भरत और ऐरावत क्षेत्रोंसे कई गुना बडा है, जिनको कि वक्षार पर्वत या विभंगा नदियोंने न्यारा २ विभक्त बना रक्खा है। इस युक्ति द्वारा पर्वत भित्र समुद्र आदि भी वर्षधर माने जा सकते हैं। अतः वर्षधर पर्वत कह देनेसे हिमवान् आदिमें वर्षधर अपर्वतपनेका निराक्षरण हो जाता है। इस सूत्रमें " तद्विभाजिन: " यों कथन कर देनेसे हिमवान् आदि पर्वतोंको भरत आदि क्षेत्रोंके विमागका हेतुपना सिद्ध हो जाता है तथा " पूर्वापरायता " पूर्व, पश्चिम, लम्बे इस विशेषणसे दूसरे ढंगका लम्बाईपन और लम्बाई रहितपनका न्युदास कर दिया गया है । अर्थात्-ये पर्वत पूर्व पश्चिमकी ओर लम्बे पड़े हुये हैं, दक्षिण उत्तर या विदिशाओं कोर लम्बे नहीं हैं। तथा ये पर्वत लम्बे नहीं होकर गोल चौकीर, तिकोने, आकारवाले होय, इस सम्भावनका भी आयतपदसे प्रत्याख्यान हो जाता है। अतः ये विशेषण उन पर्वतों की ताहरा सिद्धि करने में सदेतु बना लिये जांय या उन लक्ष्यभूत पर्वतों के निर्दोष लक्षण भी बना लिये जांय तो कोई क्षति नहीं होगी। इस बातका हम जैन न्यायसिद्धान्त अनुसार दिंढोरा पीटनेके लिये संनद्ध हैं।

किं परिणामास्ते इत्याह ।

वे पर्वत किस धातुके बने हुये परिणाम यानी विवर्त हैं ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको बोळते हैं ।

हेमार्ज्जनतपनीयवैद्धर्यरजतहेममयाः ॥ १२ ॥

ये हिमबान्, महाहिमबान्, आदि पर्वत यथाकमसे हेममय, अर्जुनमय, तपनीयमय, बैहुर्य-मय, रजतमय, हेममय हैं। विकार या प्राचुर्य अर्थमें मयट् प्रत्यय किया है। इन पर्वतों के वर्ण विशेष भी उन उन धातुओं के रंगके समान हैं। अवयव या विकार अर्थमें मयट् प्रत्यय हो जाता है।

हेमययो हिमवान्, अर्जुनमयो महाहिमवान्, तपनीयमयो निषधः, वैदूर्यमयो नीखः, रजतमयो रुक्मी, हेममयः शिखरीति । हेमादिपरिणामा हिमवदादयः तथानादिसिद्धत्वादन्य-थोपदेशस्य परमागमप्रतिहतत्वात् ।

चीन देशीय कोंशेयके समान वर्णको धारनेवाला हेममय हिमवान पर्वत है। अर्जुन जातिके सुवर्ण समान रंगको धारनेवाला महाहिमवान् पर्वत ग्रुक्लवर्णका अर्जुनमय है, तपनीय जातिके सुवर्णकी प्रचुरताको धारनेवाला निषध है, जो कि मध्याहकालके सूर्यकी प्रभा समान आमाको धारता है, मयूरप्रीवाके वर्ण समान वैद्ध्यमणिमय नीला नीलपर्वत है, चांदीका विकार हो रहा ग्रुक्त रुक्मी पर्वत है और हिमवानके समान हेममय थोडा पीला चीनाई रेशमके समान कान्तिको धारनेवाला हिममय शिलिश पर्वत है। अर्थात् वर्तमानमें सुवर्ण स्थूलतासे एक प्रकारका प्राप्त हो रहा है। किन्तु सुवर्ण धातु कई रंग और अनेक प्रकारके गुणोंको धारनेवाली कई जातिकी मानी गयी है। सहस्रनाममें भगवान्के शरीर कान्तिकी परनिमित्त या स्वयं भिन्नताओंको धारनेवाली मानकर कई जातिके सुवर्णीसे उपमा दी गयी है। " मर्माभः, सुप्रभः, कनकप्रभः, सुवर्णवर्णो, रुक्मामः, सूर्यको-टिसमप्रभः, तपनीयनिमल्तुंगो वालाकाभोऽनलप्रभः, संन्याश्व कुर्हेमामस्तरचामीकरच्छिवः, निष्टसकन-कच्छायः कनदकाञ्चनसन्निमः, हिरण्यवर्णः स्वर्णामः, शातकुम्भनिमप्रभः, गुम्नमा जातक्रपामो दीसजाम्बनद्युतिः, सुधीतकल्योतश्रीः प्रदीप्तो हाटकश्वृतिः " इन स्तुतियोंके स्लोको द्वारा प्रतीत हो जाता है कि सुवर्ण कई रंग और अनेक कान्तियोंसे युक्त है। भन्ने ही अमरकोषमें " स्वर्ण सुवर्ण जाता है कि सुवर्ण कई रंग और अनेक कान्तियोंसे युक्त है। भन्ने ही अमरकोषमें " स्वर्ण सुवर्ण

कनकं हिरण्यं हैम हाटकम्, तपनीयं शातकुम्मं गाङ्गेयं भर्मकर्बुरम्, । नामीकरं जातक्रपं महारज-तकाञ्चने, रुक्मकार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽक्षियाम् "ये उन्नीस पर्यायवाची नाम सोनेके गिनाये हैं। फिर भी "जेतियमित्ता सहा तेतियमित्ता हु होंति परमत्या " इस नियम अथवा एवम्भूत नयकी अपेक्षासे सुवर्णका नानापना अनिवार्य है। यद्यपि आजकल भी प्रातः, मध्यान्ह, सायंकाल, रात्रिके समय एक ही प्रकारके सुवर्णको देखनेपर परिनिमित्तोंसे नाना कान्तियां प्रतीत हो जाती हैं। करकेंटाके रंग समान सोना स्वयं भी कान्तियोंको बदलता रहता है। तथापि देखे जा रहे कई जातिकी चांदियां अनेक प्रकारके सुवर्ण नाना ढंगके हीरकमणियोंका प्रत्याख्यान नहीं किया जा सकता है। शुक्र विमान, सूर्य-मण्डल, बृहस्पति, बुधमह, या अन्य ताराओंमें मणियोंकी अनेक जातियां प्रत्यक्ष गोचर है। अतः इस विषयमें अभिक विस्तार करना व्यर्थ है। ये हिमवान्, महाहिमवान् आदिक पर्वत सुवर्ण आदिके बन रहे परिणाम हैं। क्योंकि तिसप्रकारके ही वे अनादि कालके स्वयं सिद्ध हो रहे हैं। यदि अन्य प्रकारोंसे इनका उपदेश किया जायगा जैसा कि भासकराचार्य या अन्य पौराणिक विद्वानोंने स्वीकृत किया है, उस मिश्योपदेशका इस परमागम करके प्रतिधात कर दिया जाता है। अतः स्क्रोक्त व्यवस्थाको निर्दोष समझ लीजियेगा।

पुनरपि किं विशिष्टास्त इत्याह।

फिर भी वे पर्वत किन मनोहर पदार्थींसे विशिष्ट हो रहे हैं, ऐसी प्रतिपित्सा होनेपर श्री उमा-स्वामी महासज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

मणिविचित्रपाइर्वाः ॥ १३ ॥

प्रभाव, कान्ति, शक्ति, आदि अनेक गुणोंसे युक्त होरही मणियों करके विचित्र होरहे पार्ख-भागोंको धारनेवाछे वे पर्वत हैं।

माणिभिर्विचित्राणि पार्श्वाणि येषां ते तथा । अनेन तेषामनादिपरिणाममाणिविचित्रपा-र्श्वत्वं मतिपादितं ।

जिन पूर्वतोंके पसवाडे मला मणियों करके चित्र, विचित्र, हो रहे वे पूर्वत तिस प्रकार "मिनिविचित्रपार्खाः" कहे जाते हैं। इस विशेषण द्वारा उन पूर्वतोंका अनादि कालसे परिणाम होरहा यह मणियों करके विचित्र पसवाडोंसे सहितपना कह दिया गया समझ लिया जाता है।

तद्भितरविशेषमतिपादनार्थमाइ।

उन पर्वतौके विशेष रूपसे विस्तारको प्रतिपादन करनेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अगछे सूत्रको कहते हैं।

उपरि मुले च तुल्यविस्ताराः ॥ १४ ॥

वे हिमबान् आदिक पर्वत उत्पर माग और मूळ भागमें समान चौडाईको क्रिये हुये हैं। अर्थात्—भीतके समान उत्पर नीचे बीचमें उनकी चौडाई एकसी है।

च श्रद्धान्मध्ये च, तथा चानिष्टत्रिस्तारसंस्थाननिष्टाचिः मतीयते ।

सूत्रमें पड़े हुये च शह्नसे मध्यमें भी उनका समान विस्तार समझ केना चाहिय, और तिस प्रकार उपर, नीचे, बीच, में तुल्यविस्तारका कथन करनेसे अनिष्ट विस्तारवाछे संस्थानोंकी निहित्ते प्रतीत होजाती है। अर्थात्—सुमेहके समान नीचेसे उपरक्षी ओर घटते घटते रहना या विजयार्थके समान कटनियोंका होना अथवा मानुषोत्तर पर्वतके समान एक ओर भौतका आकार और दूसरी ओर दला हुआ आकार इत्यादि संस्थान इन कुळाचळोंका नहीं है। ये तो पक्की भीतके समान उपर नीचे बीचमें तुल्यविस्तारवाछे हैं।

तदेवं सूत्रचतुष्ट्रयेन पर्वताः शोक्ता इत्युपसंइराति ।

तिस कारण इस प्रकार उक्त चारों सूत्रों करके कुछाचछ पर्वतीका वर्णन सूत्रकारने अच्छा कह दिया है। इस बातका श्री विद्यानन्द स्थामी वार्तिक द्वारा उपसंद्धार करते हैं। अर्थात्— '' मणिविचित्रपार्थाः '' और '' उपरि मूळे च तुल्यविस्ताराः '' ये दो सूत्र हैं। एक नहीं, दो इनके पूर्वमें हैं यों चार सूत्र हुये।

पूर्वीपरायतास्त्रत्र पर्वतास्त्रद्विभाजिनः । षद्प्रधानाः परेणेते प्रोक्ता हिमवदादयः ॥ १ ॥

उस जम्बूद्रीपमें उन क्षेत्रोंका विभाग करनेबाके पूर्व, पश्चिक, इन्ने पडे हुये ये हिमवान् आदिक छह प्रधान पर्वत सूत्रकार द्वारा न्यारे सूत्रों करके अन्त्रे कहे जा कुके हैं।

सूत्रेणित पूर्वश्र्येशावसुद्विः परेणित सूत्रविश्वेषणं तेन श्रेत्राधिषायिस्त्रात्परेण सूत्रेण दिश्वसूद्वयः पद्मधानाः पर्वताः शोकाः इति संबंधः वर्तन्यः। पूर्वपश्यतास्त्रद्विशाणिन इति विश्वपणद्वस्वयनं हेमाविश्वयत्वप्रणिवित्रिश्वपार्श्वत्वेपरिः मूळे च तुस्यविस्तारत्वविश्वपणः नासुपानश्रकार्थः । हेमादिसमाः पणिभिवित्रित्रभर्णाः तथीषरि मूके च तुस्यविस्ताराः मोकाः सुक्षत्रयेण ।

इसः वार्तिकसे पहिली '' क्षेत्राणि भरतादीनि सार तात्रापरेण तुं। सूत्रेणोक्तानि तत्संद्यां हंतुं तीर्धिक्काल्पिताम् '' उक्त वार्तिक क्षोकसे सूत्रेण इस पदकी अनुहत्ति कर छेनी चाहिये । इस वार्तिन क्षों पदा हुआ '' परेण '' यह राद्र उस सूत्रका निरोषण हो जाता है । तिस कारण क्षेत्रोंका कथन क्रिकेशक '' भरतादैमनतहिनिदेहरम्यकहैरण्यवतिस्वत्वर्षाः क्षेत्राणि '' इस सूत्रमे परनी ओरके

"तिद्देमिजिनः पूर्वीपरायता हिमवन्महाहिमवानिषयनोळ्किमिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः " इस सूत्र करके सूत्रकार द्वारा हिमवान् आदिक छह प्रधान पर्वत बहुत अच्छे कहे जा चुके हैं। यो वार्तिकके पदोंका सम्बन्ध कर संगत अर्थ कर छेना चाहिये। पर्वतोंके प्रतिपादक पहिछे सूत्रमें जो पूर्व, पश्चिम, उम्बे और उन क्षेत्रों का विभाग कर रहे यों पर्वतोंके इन दो विशेषणोंका कथन तो अगछे तीन सूत्रोंमें कहे गये हेम, अर्जुन, आदिका विकारपना और मिणयोंसे विचित्र पस्त्राहोंका धारना तथा ऊपर या जडमें समान विस्तार सिहतपना इन तीन विशेषणोंका उपलक्षण करने के लिये है, जो कि पर्वत श्री उमान्स्त्रामी महाराजने उत्तरवत्ती तान सूत्रों करके हेम आदिके परिणाम और मिणयोंसे विचित्र पस्त्राहेवाछे तथा ऊपर, नीचे, बीचमें, तुल्य विस्तारवाले यों भले प्रकार तीन सूत्रों द्वारा कहे जा चुके हैं। अर्थात् लक्ष्यलक्ष्यण भावकी अपेक्षा भविष्यके तीन सूत्रोंमें कहे गये प्रमेयका पहिले सूत्रमें ही आकर्षण कर " तिद्वमाजिनः पूर्वीपरायता हिमवन्महाहिमवित्रविष्यनीलक्ष्मिशिखरिणो वर्षवरपर्वताः " इस पहिले सूत्रको ही छह कुलाचलोंका निर्दोष सर्वाङ्गीण लक्षण समझ लेना चाहिये। वही चारों सूत्रोंकी एकवाक्यता हो जानेपर निष्कर्ष निकलता है।

तेषां हिमवदादीनामुपरि पद्मादिइदसद्भावनिवेदनार्थमाह ।

उन हिमवान् आदि पर्वतोंके ऊपर पद्म आदि सरोवरोंके सद्भावका निवेदन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

पद्ममहापद्मितिगिंछकेसरिमहापुंडरीकपुंडरीका-हृदास्तेषामुपरि ॥ १५ ॥

उन हिमवान, महाहिमवान् , आदि छह पर्वतोंके ऊपर ठीक बीचमें यथाक्रमसे पद्म, महा-पद्म, तिंगछ, केसरी, महापुण्डरीक, पुण्डरीक, इन नामोंको धारनेवाले सरोवर हैं।

हिमवत उपरि पद्मी इदः, महाहिमवतो महापद्मः, निषधस्य तिगिछः, नीलस्य केसरी, किम्मणः महापुंडरीकः, शिखरिणः पुंडरीक इति, संबंधी यथाकमं वेदितन्यः। पद्मादिजलक्कुसुम-विश्वेषसहचरितत्वात् पद्मादयो इदा न्यपदित्र्यंते, तथा रूढिसद्भावाद्मा हिमवदादिन्यपदेशवत् ।

हिमबान् पर्वतके ऊपर पद्मनामका हद है । महाहिमबान् पर्वतके ऊपर ठीक बीचमें महापद्म संज्ञक सरोवर है । निषध पर्वतके ऊपर तिगिछ नामबाछा पद्माकर है । नीछ पर्वतके ऊपर केसरी अमिधाबाछा अगाध जल मरा हुआ तडाग है । रुक्मी पर्वतपर महापुण्डरीक इस नामका धारी हद है तथा शिखरी पर्वतके ऊपर पुण्डरीक संज्ञानन् आयतचतुरस्र सरोवर है । इस प्रकार छह पर्वतोंके ऊपर प्रथाकमसे छह हदोंका सम्बन्ध हो रहा समझ लेना चाहिये। उन हदोंमें बिराज रहे और पद्म, महापद्म

भादि नामोंको धारनेवाले विशेष कमलोंके सहचरितपनेसे इदोंका भी पद्म, महापद्म, आदि नामों करके निर्देश कर दिया जाता है। अथवा सिद्धान्त उपाय वहीं है कि जैसे हिमकी या महाहिमकी प्रधानता नहीं कर अनादि कालीन रूढिके सद्भावसे पर्वतोंका हिमवान, महाहिमवान, आदि व्यपदेश है, उसी प्रकार अनादि, अनन्त, रूढिके सद्भावसे इन इदोंका नाम भी पद्म, महापद्म, आदि रूप करके अनादि निधन प्रवर्त रहा है।

पद्मादयो हदास्तेषामुपरि प्रतिपादिताः । सूत्रेणैकेन विद्गेया यथागनमसंशयम् ॥ १॥

श्री उमास्त्रामी महाराजने इस एक सूत्र करके उन पर्वतोंके ऊपर पद्म आदि ह्दोंका शिष्योंकी व्युत्पत्तिके लिये प्रशस्त प्रतिपादन कर दिया है। विशेष वर्णना युक्त उन पर्वतोंको आगम अनुसार संशयरहित होते हुये समझ लेना चाहिये। अर्थात्—वे पर्वत पूर्व पश्चिम लम्बे हैं, उत्तर दक्षिण चौंडे हैं नाना मणि, सुवर्ण, रजत धातुओंसे उनके तट चितेरे गये हैं। उनमें निर्मल स्वच्छ अक्षय जल भरा हुआ है उनके चारों ओर वनखण्ड शोभ रहे हैं! जलप्रवाह तोरण आदि कहां कैसे व्यव-स्थित हैं! इन सब बातोंको जिनोक्त आगम अनुसार हृदयंगत कर लेना चाहिये।

तत्र पथमो इदः किमायामविष्कंभ इत्याह ।

उन छह हदोंमें पहिला हद कितनी लम्बाई और चौडाईको धार रहा है १ यों जिज्ञासा होने-पर श्री उमास्त्रामी महाराज अगले सूचको कहते हैं।

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्धविष्कंभो हदः ॥ १६॥

उन छह ह्रदोंमें पहिला पग नामका ह्रद तो बढे योजनोंसे एक सहस्र योजन कम्बा और उससे आधा यानी पांचसो योजन चीडा है।

सूत्रपाठांपेक्षया मथमः पद्मो इदः योजनसङ्ख्यायाम इति वचनादन्यथा तद्दैर्घ्यव्यवच्छेदः, तद्भविष्कंभ इति वचनात् पंचयोजनञ्जतविष्कंभत्वमतिपत्तिरन्यथा तद्दिस्तारनिरासः मतिपत्तव्यः।

हदों के प्रतिपादक पूर्व सूत्रमें कहे अनुसार पाठकी अपेक्षा करके पहिला गिना गया दक्षिण ओरका पद्म नामका हद तो सहस्रयोजन लम्बा है, यो कथन कर देनेसे अन्य प्रकारों करके गढ़ ली गयी उसकी दीर्घताका व्यवच्छेद हो जाता है। अर्थात्—पद्म हद हजार योजनसे न्यून य अधिक लम्बा नहीं है और यह लम्बाई पूर्व पिश्चम है, दक्षिण, उत्तर, की ओर नहीं है। हदके दूसरे विशेषण उससे आधा चौडा यों कथन कर देनेसे पांचसी योजन चौडाईकी प्रतिपात्त हो जाती है। अतः अन्य प्रकारोंसे कल्पित किये गये उसके विस्तारका निराकरण समझ हेना चाहिये।

किमवगाहीसावित्याह ।

नह पहिला हद किसने अवगाह (गहराई) को धारता है ! ऐसी नुमुत्सा होनेपर श्री कमास्त्रामी महाराज सूत्रको कहते हैं।

दशयोजनीवगाहः॥ १७॥

यह पहिला हद दश योजन अवगाहको धार रहा है।

पृयम्योगकरणं सर्वद्रदासांभारणावगाइप्रतिपर्स्यथे ।

पहिले पद्म हदकी लम्बाई, चौडहैंका सूचन करनैशाल पूर्व सूत्रके इस सूत्रका पृथक् योग करना तो सम्पूर्ण इदोंके न्यारे न्यारे असाधारण अवगाहोंकी प्रतिपात्ति करानेके लिये हैं।

संस्थयायामविष्कंभावगाहगतया हदः । सुत्रद्वयेन निर्दिष्टः प्रथमः सर्ववेदिभिः ॥ १ ॥

सर्व यदार्थीको आमनेवाले सर्वश्चोपम श्री उमास्वामी महाराज श्रुतहानीने उक्त दोनों स्त्रोंद्वारा सहस्र, पांचसी और दश योजनवाकी संस्थाके साथ लम्बाई, चौडाई, और गहराईको प्राप्त हो रहेपन करके पहिले हदका निरूपण कर दिया है।

सामर्थ्यादेकेन सूत्रेण हिमक्दादीनासुपरि पट्पबादयो इदा निर्दिष्टा इति गम्यते, कत्याठापेक्षया पश्चस्य इदस्य मथमत्ववचनात् ।

उक्त दो सूत्रोंमें कहे गये प्रयेयके वर्णनकी सामर्थ्येस है। " पद्म, महापद्म, तिगंछ, आदि " एक सूत्र करके हिम्मान् आदि पर्वतींके ऊपर छह पद्म आदि हद कहे जा चुके हैं यों वार्तिकमें कहे बिना ही समझ लिया जाता है। क्योंकि उसी पंदहनें सूत्रके पाठकी अपेक्षासे ही तो सोल्ह्बें, सत्र-हवें, सूत्र द्वारा वलाने गये पद्म हदको प्रथमपनका वचन कहा गया है।

जब तन्मध्ये विश्विष्ट परिणामं शुष्करं मंतिपादयति ।

स्व इसके जनन्तर उन इदोंके मध्यमें अनेक विशेषणोंसे युक्त होस्हे परिणामको धारनैवाछे पुष्कर जातिके पार्थिन कमलका श्री उमास्वामी महाराज प्रतिपादन करते हैं।

तन्मध्ये योजनं पुष्करम् ॥ १८ ॥

उस पहिले पदा इदके मध्यमें एक योजन लंबा, चौडा, वर्तुकाकार कमल है।

द्विकोशकर्णिकत्वादेककोशवदस्थपत्रत्वाच योजनपरिमाणं योजनं युष्करं जस्त्वसुमंतथा-नादिपरिचामाहेदितस्यम् । क तत् ? तस्य पदाह्दस्य मध्ये । कमळके बीचका कीय तो दो कोस लंबा, चौडा, गोळ है, जो कि कर्णिका कही जाती है और इधर उधर चारों और एक एक कोस लंबे कई कमळपत्र हैं। इस कारण वह जलका छल कमल तिस प्रकार अगादि काळीन एथ्वी परिणामसे रचा हुआ बढे योजनसे एक योजन लम्बे चौडे परिमाणको धार रहा एक योजनका समझ लेना चाहिये। वह कमल कहां है ! इस आकांक्षाको शान्त करनेके लिये सूत्रकारने " तन्मध्ये" कहा है। अर्थात्—उस पद्महदके ठीक बीचमें जल तळसे दो कोस उठे हुये नाल्बाला, बज्रमणिमय जडका धारी, रजतमणिनिर्मित मृणालका धारक, और बैहूर्यमणिके दढ नालको धार रहा वह पार्थिव कमल है, वनस्पतिकायका नहीं है। वनस्पतिकाय जीवकी उत्कृष्ट स्थिति केवल दश हजार वर्ष है। किन्तु यह कमल अनादिसे अनन्त काल्यक सहशपरिणामोंको धार रहा सुल्यवस्थित है। मले ही सूक्ष्म परिणातिओंके अनुसार अनन्त परमाणुर्ये उसमें आते, जाते रहें या पृथिवीकायिक जीव उपजते, मरते, रहें। किन्तु स्थूलपर्याय सदा एकसी बनी रहती है।

शेषद्दपुष्करपरिमाणमतिपादनार्थमाह ।

पहिले पद्म हदसे अतिरिक्त बचे हुये पांच हुदोंमें स्थित हो रहे कमळोंकी लम्बाई चौडाई, गहराई के परिमाणों या परिणामोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

तद्द्विग्रणद्विग्रणा हदाः पुष्कराणि च॥ १९॥

उस पद्म इदसे दुगुनी दुगुनी, लम्बाई, चौडाई, और गहराईको धारनेवाले उत्तरवर्ती इद और कमल हैं। उत्तर तथा दक्षिण, के इद और कमलोंका परिमाण समान है। पद्म सरीवरसे महापद्मका क्षेत्रफल अठ गुना और पद्मसे तिगञ्छ इदका क्षेत्रफल चौसठ गुना बढा है।

ततः पश्चद्रात् पुंदरीकद्रदाश्च द्विशुणद्विशुणा द्रदा महापश्चमहापुण्टरीकादयः, योजन-परिमाणाश्च पुष्कराहिक्षणादुत्तरस्माश्च द्विशुणद्विशुणानि पुष्करणि विष्कंभायामानीति वीप्सा-निर्देशात् संमतीयंते " उत्तरा दक्षिणतुल्याः " इति वक्ष्यमाणसूत्रसंबंधत्वात् । तत्संबंधः पुन-विद्वत्वनसामर्थ्यादन्यया द्वित्वनमसंगात् तद्विशुणौ द्विशुणाविति । तदेवं—

उस पहिले पदाइदसे उत्तरकी बोर और अहे पुण्डरीका इदसे दक्षिणकी ओरके महापय, महायुण्डरीक, आदिक इद द्विगुनी दिगुनी लम्बाई, चौडाई, और गहराईको धारनेवाले हैं तथा दक्षिण दिशावर्ती पहिले और उत्तरदिशावती अन्तके एक योजन परिमाणवाले कमलसे द्विगुने दिगुने चौडाई, लम्बाई, परिमाणवाले परले, उरले, कमल हैं। इस बातकी '' दिगुणादिगुणा '' इस बीएसके निर्देश कर देवेसे मले प्रकार प्रतीति होजाती है। श्री

राजवार्तिक प्रन्थमें अकलंक देव महाराजने अगले अगले हदोंके अवगाहको भी कण्ठोक्त हिगुना हिगुना लिखा है। यहां भी दिगुनी गहराईका निषेध नहीं है, जब कि जम्बूदीपके उत्तरवर्ती स्थानोंकी रचना दक्षिण दिशावर्ती स्थानोंकी तुल्य है। इसको समझानेके लिये "उत्तरा दक्षिणतुल्याः" इस बहुवचनकी समक्यं हो रहा है। इससे प्रतीत हो जाता है कि सूत्रमें फिर "दिगुणदिगुणाः" इस बहुवचनकी सामर्थ्यसे उन, दूनी दूनी लम्बाई, चीढाई, गहराईयोंका सम्बन्ध हो जाता है। अन्यथा "तिहुगुणों दिगुणों दिगुणों " इस प्रकार अर्थकृत लावन करते हुये सूत्रकारको " दिगुणिदिगुणों " इतना ही कह देनेका प्रसंग प्राप्त होगा। अर्थात्—प्या हदसे दूना महापद्य हद है और महाप्यसे दूना तिगिल हद है तथा पुण्डरीक हदसे महापुण्डरीक हद दूना लम्बा चीढा गहरा है और महापुण्डरीक सरोवरसे केसरी हद दिगुना है, यह केवल दो स्थानोंपर ही दिगुनापना दिखलाया गया है। यों ही दो स्थानोंपर कमलोंका भी दूनापन निर्णात हो रहा है। ऐसी दशामें सूत्रकारको संक्षेपसे " तिहुगुणिदिगुणों कहना चाहिये था। फिर जो सूत्रकारने "तिहुगुणिदिगुणाः" यों बहुवचनान्तपद कहा है, इससे जाना जाता है कि दक्षिण, उत्तर, आदि अन्तके दो हद या कमलोंकी संख्या दृनी दूनी नहीं है। एक एक ही बराबर है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर जो हुआ उसे सुनो।

तन्मध्ये योजनं प्रोक्तं पुष्करं द्विगुणास्ततः। इदाश्च पुष्कराणीति मूत्रद्वितयतोंजसा ॥१॥

उस इदके मध्यमें एक योजनका पुष्कर और उत्तरे द्विगुने, द्विगुने, आकारवाले इद और पुष्कर हैं, इस अर्थको उक्त दोनों सूत्रोंते श्री उमास्त्रामी महाराजने स्पष्ट रूपसे अच्छा कह दिया है ।

तिभवासिन्यो देव्यः काः किं स्थितयः परिवाराश्र श्रूयन्त इत्याह ।

अब महाराजजी, यह बताओं कि उन पुष्करोंमें बने हुये महलोंमें निवास करनेवाली देवियां कीन हैं ? सर्वज्ञ आम्नायसे चले आ रहे द्वादशांगके अंग मूत शाखोंमें उन देवियोंकी कितनी स्थिति कही है ? तथा ऋषि सम्प्रदाय द्वारा उनका परिवार कितना शाखोंमें सुना जा रहा है ? यों विनीत शिष्यकी शुश्रूषाको ज्ञात कर चुकनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्र कहते हैं।

तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीह्यीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्मयः पल्योपमस्थितयः ससामानिकपरिषत्काः॥ २०॥

उन कमलोंमें यथाक्रमसे निवास करनेका शील रखनेवाली १ श्री २ ही ३ घृति ४ कीर्ति ५ बुद्धि ६ लक्ष्मी ये लंह व्यन्तर देव जातिकी दैवियां वास कर रहीं हैं। उन सम्पूर्ण देवियोंके मुख्य- मान आयुष्य कर्मकी स्थिति तो एक अद्धापल्योपम है। वे देवियां सामानिक जातिके देव और समाओं में बैठनेवाले पार्षिद् जातिके देवोंसे सिहत होरहीं हैं। विशेषतः श्री, हीं, धृति, तो सौधर्म इन्द्रकी आज्ञा मानती हैं और कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, ये ईशान इन्द्रकी आज्ञानुमार प्रवर्तती हैं। पांचों मेरु संबंधी देवियोंकी यही व्यवस्था है। ये सब ब्रह्मचारिणी हैं। मगवान्की माताकी सेवामें इनका विशेष अनुराग है।

तेषु पुष्करेषु निवसनश्चीलास्तिष्वासिन्यः, देवगतिनामकर्मविश्वेषादुपजाता इति देव्यः श्रीभृतयः तत्र पद्मदूदपुष्करमासादेषु । श्रेषद्रद्रपुष्करमासादेषु द्रीप्रभृतयो यथाक्रमं निवसं-तीति यथागमं वेदितव्यं । ताः पल्योपमस्थितयस्तावदायुष्कत्वेनोत्पत्तः । सामानिकाः परिषद्भ वक्ष्यमाणलक्षणाः सह ताभिर्वर्तत इति ससामानिकपरिषत्काः । एतेन तासां परिवारविभूतिं कथितवान् । एतदेवाह—

जिन देवियोंकी देव उन पृथ्करोंमें निवास करनेकी है, वे देवियां तिनवासिनी कही जातों हैं। निवास शद्धसे शील अर्थमें तद्धितान्त इन् प्रत्यय कर दिया जाता है। नामकर्मकी उत्तर प्रकृति देवगति नामक नामकर्भके उत्तरोत्तर भेदस्वरूप विशेषकर्मसे विशेष व्यंतरोंमें उत्पन्न ह्यी हैं। इस कारण श्री. ही, आदिक देवियां मानी जाती हैं । पग्रहदके कमलमें बन रहे प्रासादोंमें श्रीदेवी निवास करती है तथा शेष हदवर्ती पुष्करोंमें बने हुये प्रासादोंमें यथाक्रमसे ही, धृति आदि देत्रियां नित्रास करती है। यों आगम मर्यादाका अतिक्रमण नहीं कर समझ लेना चाहिये। अर्थात्—उन कमलोंकी कर्णिकाके बीचमें एक कोस लम्बा आधा कोस चौडा कुछ कम एक कोस ऊंचा महल बना हुआ है उसमें देवी रहती है । यहां प्रासादोंका बहुतपना यों घटित हो जाता है कि एक कमलमें भी कई प्रासाद सम्मवते हैं तथा एक कमलके परिवार हो रहे एक लाख चालीस हजार एक सौ पचास कमलोंपर भी इतने ही प्रासाद बने हुये हैं अथवा पांच मेरु सम्बन्धी पांच पद्म हदोंके पांच महलोंमें न्यारी न्यारी आत्मा-ओंको लिये इये भिन्न भिन्न पांच श्री देवियां निवास करती हैं, इयादि रूपसे आस्नायके अनुसार यों सम्पूर्ण व्यवस्था वन जाती है। वे देवियां पत्योपम स्थितिको धार कर उतने कालतक जीवित रहती हैं। पुनः एक देवीके मर जानेपर दूसरी देवी उपज जाती है। क्योंकि उतने एक पत्य परिमाणवाछे आयुसे सिहतपने करके उनकी वहां उत्पत्ति हुआ करती है (हेतु)। सामानिक और परिषद जातिक देवोंका लक्षण मविष्यमें कह दिया जायगा। ये देव उन देवियोंके साथ कमलोंमे उन देवियोंके अनु-गामी होकर वर्तते हैं। इस कारण देवियोंको सामानिक और परिषद सम्बन्धी देवोंसे सहितपना कहा गया है। इस विशेषणसे उन देवियोंकी परिवार सम्बन्धी विभूतिको सूत्रकार कह चुके हैं। इसी बातको श्री विद्यानन्द आचार्य वार्तिक द्वारा कहते हैं।

> देव्यः श्रीमुखाः स्याताः सूत्रेणैकेन सूचनात् । पडेव तन्निवासिन्यस्ताः ससामानिकादयः ॥ १॥

श्री उमास्त्रामी महाराजने एक ही इस सूत्र करके श्री, ही, प्रभृति देवियोंका व्याख्यान किया जा चुका सूचन कर दिया है। एक मेरु सम्बन्धी छह कुळाचळोंपर वे देवियां सामानिक आदि देवोंसे सिहत हो रहीं सन्ती उन कमळोंमें निवास करनेवाळी छह ही हैं। इतने प्रमेयको सूत्रकारने एक ही सूत्रमें भर दिया है " जैनर्षयस्ते विजयन्ताम् "।

उन भरत आदि क्षेत्रोंमेंसे प्रत्येक क्षेत्र जिन मध्य गामिनी नदियों करके तीन या चार विभागोंको प्राप्त हो जाता है, श्री उमाखामी महाराज उन नदियोंका निरूपण करनेके लिये अप्रिम् सूत्रको कहते हैं। श्रद्धा लाकर सुनिये।

गंगासिंधूरोहिद्रोहितास्याहरिद्धरिकांतासीतासीतोदानारी नरकांतासुवर्णरूप्यकूलारक्तारकोदाःसरितस्तन्मध्यगाः।

१ गंगा २ सिंधु ३ रोहित् ४ रोहितास्या ५ हरित् ६ हरिकान्ता ७ सीता ८ सीतोदा ९ नारी १० नरकांता ११ सुवर्णकूळा १२ रूप्यकूळा १३ रक्ता १४ रक्तोदा थे चौदह महानदिय। उन सात क्षेत्रोंके मध्यमें होकर गमन करती हैं।

सरितो न वाप्यः, तेषां भरतादिक्षेत्राणां मध्यं तन्मध्यं तन्मध्ये गच्छंतीति तन्मध्यगा इत्सनेनान्यथागति गंगासिध्वादीनां निवारयति ।

इस सूत्रमें सिरेत शद्ध इसिल्ये कहा है कि ये चौदह संख्यावाली नदियां हैं, बाविद्यां नहीं हैं। यद्यपि नन्दीश्वर द्वीपकी एक लाख योजन लम्बी, चौडी, और हजार योजन गहरी चौकोर बाविद्यां इन नदियोंसे द्विगुनी, तिगुनी, लम्बी और वीसों, पचासों, गुनी चौडी तथा सैकडों गुनी गहरी हैं। तथापि पर्वतसे धाराहर निकलकर नीची नीची भूमिमें गमन करते करते और परिवारकों बढाते हुये महान् जलाशयमें मिल जाना यह नदियोंका लक्षण इन चौदह नदियोंमें अथवा अन्य नदियोंमें भी घटित हो जाता है। अतः वास्तविक रूपसे ये नदियां मानी गयी हैं। निक्रभूमिपर समतल अवस्थामें रुके हुये जलको धारने वाली वापियां इन नदियोंसे विलक्षण हैं। उन भरत आदि क्षेत्रोंके मध्य स्थानको तन्मध्य माना गया है। " उस तन्मध्यमें गमन कर रही हैं " इस निरुक्ति द्वारा ये नदियां " तन्मध्यगाः " कही जाती हैं। इस प्रकार तन्मध्यगा इस विशेषण करके गंगा सिन्धु आदि नदियोंकी किल्पत की गयी दूसरे प्रकार गतियोंका निवारण कर दिया जाता है। अर्थात् ये नदियां क्षेत्रोंके मध्यमें वह रही हैं। आदि भाग, अन्तमाग, या बहिभीगोंमें नहीं बहती हैं और अपनी गति अनुसार सदा गमन ही करती रहती हैं। स्थिर होकर नहीं बैठ जाती हैं।

तत्र भरतक्षेत्रमध्ये गंगासिध्यो, हैमवत्तमध्यगे रोहिद्रोहितास्य, इरिमध्यगे हरिद्धरिकाति, विदेहमध्यगे सीतासीतोदे, रम्यकमध्यगे नारीनरकाति, हैरण्यवतमध्यगे सुपर्णकृष्यकुछे, ऐरावतमध्यगे रक्तारक्तोदे इति ।

उस पहिले भरतक्षेत्रके मध्यमें गैगा, सिन्ध, दो निर्दियां बह रही है। मानार्य-हिमनान पर्वतके ऊपर स्थित होरहे पद्म नामक सरोवरके पूर्व दिशा सम्बन्धी स्था छह योजन चौडे और आधा योजन गहरे द्वार (मोरी) से निकलकर पर्वत पर ही पांचसी योजन पूर्वकी बहती हुई गंगा नदी पुनः दक्षिणकी ओर मुडकर (वल खाकर) कुछ अधिक पांचसी तेईस योजन पर्वतकी आधी चौडा. इपर ऊपर ही गमन करती है। पर्वतकी चौडाईमेंसे नदीकी धारकी कमती कर आधा कर देनेसे उन्ह संख्या आजाती है। सी योजन ऊंचे हिमवान् पर्वतसे गिरकर काहल (रणसिंहाकाँजे) या अर्धमालाके समान आकारको धारती हुई दस योजन चौडी होगयी गंगा नदी पर्वतको पचास योजन छोडकर नीचे गिरती है। हिमनान पर्वतसे पचास योजन दक्षिणकी ओर इटकर साठ योजन छंबा चौडा और दश योजन गहरा एक चौकोर कुण्ड बना हुआ है। कुण्डके मध्यमें साढे दश योजन ऊंचा और आठ योजन लंबा. चौडा, एक संदर द्वीप शोम रहा है। उस द्वीपके मध्यमें दश योजन ऊंचा बन्नमय धर्मन है। उस पर्वतके ऊपर डेढ कोस, एक कोस, आधा कोस, क्रमसे नीचे, मन्य, ऊपर मागमें चौडा और एक कोस जंचा ढळवां श्रीदेवीका गृह बना हुआ है, जिसका आकार मंदिरकी शिखर (गुम्मज) के समान है। श्रीगृहके मस्तकपर बने हुये कमळकी कर्णिकामें सिंहासन घरा हुआ है। उस सिंहासनपर अनुपम सन्दर जिनप्रतिमा विराजमान है। अन्य चैत्यालयोंकी प्रतिमासे इस प्रतिमामें इतना विशेषता है कि इनके केश जटा सहश होरहे ऊपर की ओर लम्बे बंबे हुये हैं। वह केशोंका जटाजूट मुक्कट सारिखा प्रतीत होता है । ऐसे मनोज जिनबिम्बका अमिषेक करनेके किये ही मानू हिमबानप्रवेतसे गंगा अव-तीर्ण होता है । सौ योजन ऊंचे स्वर्गसमान हिमबान पर्वतसे महान देव जिनेन्द्र विम्बक्ते जटायक सिर पर गंगाकी धार पडती है। इसी दश्यके आश्रयपर पौराणिक परीहितीन अनेक प्रकारकी कथाये गढ की हैं। अनादिकालसे पढ रहे जलके आधातसे जिनप्रतिमामें बालाप्र भी परिवर्तन नहीं होता है। ऐसी दिष्य शोमाको धार रहे जिनबिम्बको इम त्रियोगद्वारा नमस्कार करते हैं । गंगा नदीका जल एक प्रकार अभिषेक जल है। है। कुण्डके दक्षिणहारसे निकलकर म्लैच्छ खण्डीमें बहुती हुई विजयार्थ की खण्डप्रपात नामक गुफामें प्रवेश कर आर्थखण्डके पूर्वीय प्रान्त भागमें गमन करती हुई साढे वासठ योजन चौडी होकर लवणसमुद्रमें निल गयी है। इसी प्रकार सिन्धु आदि नंदियोंका वर्णन समझना चाहिये। नदियोंकी उद्गम स्थलपर जितनी चौडाई है. अन्तम जाकर उससे दशगूनी चौडाई होजाती है। चौडाईसे साढे बारहर्वे भाग या पनासर्वे भाग गहराई जान छेनी नाहिये। नदियाँके निकल्ने और प्रवेश होनेके स्थानों पर तौरण बने हुये हैं 1 तीरणोंके उपर मनोज अक्रिम जिन प्रतिबंब विराजमान हैं । मीचे दिक्कमारी दैवियां मिवास करती हैं । कुण्डोमें नदियां गिरती हैं । उन कुण्डोंमें स्थित होरहे द्वीवोंके उपर पांचसी धनुष ढम्बे शरीरके पद्मासनसे जिन प्रतिमार्थे विराजमान है। इस प्रकार गंगा आदि नदियोंका सामान्य वर्णन है। बिखोकसार आदि महान् प्रन्थोंमें पूर्वाचार्याने विस्तारसे कहा है। इह खण्डवाडे भरतक्षेत्रसम्बन्धी आर्थिकंग्डने मध्य भागमें जी छोटासा यह

भरत खण्ड (हिंदुस्तान) है, इसके उत्तरमें हिमालय है और पश्चिममें सिन्धु नदी तथा पूर्व भागमें गंगा नदी बढ़ रही हैं।न तो यह हिमालय हिमबान पर्वत है और न ये क्षद्र गंगा नदी, सिंधु नदी ही महागंगा नदी महासिन्धु नदी हैं। किन्तु आर्यखण्डकी अयोध्या नगरीसे उत्तर दिशाकी ओर लगभग चारसी सात योजन चलनेपर हिमबान पर्वत मिल सकता है और आर्य खण्डसे पूर्व या दक्षिणकी और कई सौ योजन चलकर महागंगा नदी मिळ सकती है। उससे पहिले यहीं बीस पश्चीस कोस चलकर ही महागंगा नदी नहीं मिल जाती है। यदि कोई मनुष्य विमानद्वारा इतना चल सके तो वह जैन सिद्धान्तके करणानुयोग शास्त्रोंके अनुसार गंगाको पा सकता है। ये सब योजन दो हजार धनुषसे नापे गये कोसोंकी दो हजार गुनी नापके बने हुये बडे योजन हैं। तथा हैमवत क्षेत्रके मध्यमें प्राप्त होकर रोहित और रोहितास्या ये दो नदियां वह रही हैं। महापद्मके दक्षिण द्वारसे निकळकर सोळहसौ पांच योजन पर्वतके ऊपर ही दक्षिणकी और वह कर दो सी योजन ऊंचे पर्वतसे रोहित नदी गिरती। है। महाहिमवान् पर्वत चार हजार दो सौ दस और दस वटे उन्नीस योजन चौडा है। हजार योजन चौड़े हृदको घटाकर आधा कर देनेसे सोछह सौ पांच और पांच बटे उनीस योजन पर्वतके ऊपर रोहित्का बहना निकल आता है। पग्न हदके उत्तर द्वारसे निकल कर दो सी छहत्तर और छह बटे उनीस योजन हिमबान् पर्वतके ऊपर उत्तरमुख बह रही प्रारम्भमें साढे बारह योजन चौडी रोहितास्या नदी है। हरित् और हरिकान्ता नदियां तो हरिक्षेत्रके मध्यमें प्राप्त हो रहीं हैं। तिगिंछ हदके दक्षिण तोरण द्वारसे निकली हुई हरित नदी निषयके ऊपर सात हजार चार सी इक्कीस और एक बटे उन्नीस योजन दक्षिणकी ओर चलकर चार सौ योजन पर्वतके ऊपरसे गिरती है। हरिकान्ता नदी तो महापदा हृदके उत्तर द्वारते निकलकर सोल्ह सी पांच और पांच बटे उन्नीस योजन महाहिमवान पर्वतके ऊपर बहती हुई पचीस योजन चौडी हो रही कुछ अधिक दो सौ योजन ऊंचे धाराप्रपातसे गिरती है। विदेह क्षेत्रके मध्यको प्राप्त हो रहीं सीता, सीतोदा दो नदियां हैं। केसरी हृदके दक्षिण द्वारसे निकलकर नील पर्वतके ऊपर सात हजार चार सौ इक्कीस और एक बटे उन्नीस योजन पर्वतके ऊपर बहती हुई पचास योजन चौडी सीता नदी चार सी योजन ऊंचे पर्वतसे गिरती है। तिगिछ हदके उत्तर द्वारसे सीतोदा निकलती है। रम्यक क्षेत्रके मध्यमें होकर पूर्व, पश्चिमकी ओर वह रहीं नारी, नरकान्ता, नदियां हैं। महापुण्डरीक हदके दक्षिण द्वारसे नारी नदी निकलती है, जो कि नारी देवीके निवास प्रासा-दसे यक्त हो रहे नारी कुण्डमें पहली है। केसरी हदके उत्तर तोरणकी मोरीसे नरकान्ता महानदी निक-लती है । हैरण्यवत क्षेत्रके मध्यमें प्राप्त हो रहीं सुवर्णकूला, रूप्यकूला नदियां है। शिखरी पर्वतके उत्पर बने हुये पुण्डरीक हदके दक्षिण तोरण द्वारसे सुवर्णकूला नदी बहती है और महापुण्डरीक हदके उत्तर द्वारसे निक्तलकर रूप्यकुळा महानदी गमन करती है। रक्ता, रक्तीदा, दो नदियां ऐरावत क्षेत्रके मध्यको प्राप्त हो रही हैं । पुण्डरीक हदके जिनविन्त अलंकत पूर्वतोरणकी नीचे मोरीसे सवा छह योजन चौडी रक्ता नदी बह रही है। पुण्डरीक इदके पश्चिम तोरणद्वारकी मीरी तो रक्तोदाका प्रभव- स्यान है। इस प्रकार ये चौदह नदियां कुण्डमें बने हुये द्वीपके गुम्मजपर विराजमान कमछस्य प्रतिमा-ओंके ऊपर गिरती है। धाराप्रपात अवयवीका मध्यमाग प्रतिमाजीके मस्तकपर गिरता है। रोष इधर उधरका जळप्रवाह गुम्मजपर या रीते आकाशमें गिरता हुआ छम्बे, चौडे, कुण्डके बीचमें पड जाता है।

अधितबीईयोः का पूर्वसमुद्रं गच्छतीत्याह ।

अब महाराज यह बताओं कि चौदह निदयों के सात युगल हो कर इन दो दोमें भला कौनसी कौनसी नदी पूर्व लवणसमुदकी ओर गमन करती है ? ऐसी बुमुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः ॥ २२ ॥

सम्पूर्ण नदियोंके सात युगल बनाकर दो दो नदियोंमें पहिली नदियां पूर्व समुदकी ओर गमन करती है।

द्वयोर्द्वयोरेकक्षेत्रं विषय इत्यभिसंबंधादेकत्र सर्वासां प्रसंगनिवृत्तिः, पूर्वाः पूर्वगा इति वचनं दिग्विश्वेषप्रतिपस्पर्थे ।

गंगा, क्षिपु, आदि चौदह नदियां हैं और भरत आदि सात क्षेत्र हैं। दो दो नदियोंका अधिकरण हो रहा एक एक क्षेत्र विषय है। इस प्रकार स्त्रके परीका समुचित संबन्ध कर देनेंसे एक ही क्षेत्रमें सम्पूर्ण नदियोंकी शांति हो जानेके प्रसंगक्ता निवारण कर दिया जाता है। स्त्रकारके पिहलीं नदियां पूर्व समुद्रको जाती हैं, इस कथनका प्रयोजन तो विशेष दिशाकी प्रतिपत्ति करा देना है, जिससे कि पिछली नदियोंका पूर्वगमन या गुगलोंमें पिहले उपात्त हो रहीं नदियोंका पिक्षम, दिक्षण, या उत्तर दिशाके समुद्रोंमें प्राप्त होना न्यावृत्त हो जाता है। " दो दोमें पिछलीं पिहलीं " यों वाक्य सम्बन्ध कर देनेसे गंगा, सिन्धु, रोहित्, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता इन पहिली सात नदियोंका पूर्व समुद्रकी ओर गमन करना निषद्ध हो जाता है।

अयापरं समुद्रं का गच्छंतीत्याइ।

इसके अनन्तर पश्चिम समुद्रकी ओर कीनसी नदियां जा रही हैं ! बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अगिळे सूत्रको कहते हैं ।

शेषास्त्वपरगाः ॥ २३ ॥

दो दो नदियोंमेंसे पहिले कहीं गयीं पूर्वगामिनी नदियोंसे शेष वच रहीं पिछलीं पिछलीं नदियां तो पश्चिम समुद्रकी ओर गमन करतीं हैं।

द्वयोर्द्वयोरेकत्रैकक्षेत्रे वर्तमानयोर्नधोर्याः पूर्वास्ताभ्योन्याः शेषाः सरितोऽपरं समुद्रं गच्छंतीति । तत्र पद्मद्रदमभवा पूर्वतोरणद्वारिनर्गता गंगा, अपरतोरणद्वारिनर्गता सिन्धुः, उदीच्यतोरणद्वारनिर्गता सेहितास्या । यहापब्रह्दमभवापाच्यतोरणद्वारनिर्गता रोहित्, उदीच्य-तोरणद्वारनिर्गता हरिकांता । तिर्गिछद्दसमुद्धवा दक्षिणद्वारनिर्गता हरित्, उदीच्यकेरणद्वार निर्मता सीतोदा । केसरिद्दमभवा अवाच्यद्वारनिर्गता सीता, उदीच्यद्वारनिर्गता नारी । यहा-पुंढरीकद्रदमभवा दक्षिणद्वारनिर्गता नरकांता, उदीच्यद्वारनिर्गता रूप्यकुछा । पुंढरीकद्रदमभवा अवाच्यद्वारनिर्गता सुवर्णकृत्व, पूर्वतारणद्वारनिर्गता रक्ता, मतीच्यद्वारनिर्गमा रक्तोद्वा ।

एक एक क्षेत्रमें विश्वमान होरहीं दो दो नदियोंमें पहिली गंगा. रोहित आदि जो सात नदियां 🕏. उनसे शेष बची हुयीं अन्य सिन्ध, रोहितास्या, आदि सात नदियां, यो इस सूत्र अनुसार पश्चिम समुद्रकी ओर गमन कर रही मानी जाती हैं। इन नदियों में गंगाकी पहिन्नी प्रकटता या उपलब्धिको कराने वाले आच स्थान होरहे पदाहदसे गंगा नदी उपजती है, जो कि पदाहदके चारों दिशाओंकी ओर बने हुये तोरणोंमेंसे पूर्व दिशाके तोरणके निचले दरवाजेसे निकली हुयी है। उसी पग्रहद संबंधी पश्चिम तोरणके निचळे द्वार (मोर्रा) से सिन्धु नदी निकळी है और उत्तरतोरणके द्वारसे रोहि-तास्या नदी निकलती है। तथा महापग हदसे आधमें जन्म लेखी रोहित नदी उसके दक्षिण तोरण-द्वारसे निकल गयी है। महापदा इदके उत्तर दिशावाले तोरण द्वारसे हरिकान्ता नदी निकलती है। तिगिंछ इदसे भट्टे प्रकार उत्पन्न होरही हरित नदी उसके दक्षिण दारसे निकलती है और तिगिछ इदके उत्तर दिशा सम्बन्धी तौरण द्वारसे सीतोदा निकलती है। केसरी इदसे सबसे पहिले उपज कर सीता नदी उसके दक्षिण द्वारसे निकलती है और केसरी इदके उत्तर द्वारसे नारी निकलती है। महापुण्डरीक इदसे आध जन्म छेरही नरकान्ता उसके दक्षिण द्वारसे निकलती है और महापुण्डरीक इदके उत्तर दिग्वतीं द्वारसे रूप्यकूछा निकलती है। पुण्डरीक इदसे पहिले ही पहिले उपज रही सुवर्णकुला महानदी उसके दक्षिण द्वारसे निकल जाती है और रक्ता नदी पुण्डरिकके पूर्व तोरण द्वारसे प्रवाहित होरही है तथा रक्तोदा नदीका भी धारा निर्गमस्थान पुण्डरीक हदका पश्चिम दिशा सम्बन्धी द्वार है। प्राप्ताद या सरोवरोंके चारों ओर शोभायक्त बने हुये बाहरले द्वारको तौरण कहते हैं। तौर-णोंके नीचे बनी हुयीं मोरियों द्वारा नदियां निकलतीं रहतीं हैं। उनका आध वहना वहांसे प्रारंभ होजाता है।

अब कियमदीपरिष्टता एता नद्य इत्याह।

अब कोई प्रतिपाच प्रश्न करता है कि ये उक्त नदियां कितनीं कितनीं नदियोंके परिवारसे युक्त होरहीं हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर भणकान् उमास्वामी महाराज अप्रिम सुप्रको कहते हैं।

चतुर्दशनदीसहस्रपरिवृता गंगासिंघ्वादयो नद्यः ॥ २४ ॥

गंगा आदिक पूर्वगामिनीं नदियां और सिन्धु आदि पश्चिम गामिनी नदियां चौदह, चौदह, हजार नदियोंके परिवारको धारे हुमे हैं। आगे तीन युगलोंमें इससे दूना दूना परिवार है।

गंगासिध्वाचप्रहणं मकरणादिति चेस, अनंतरप्रहणप्रसंगात् । गंगादिप्रहणमिति चेस, पूर्वगाणां प्रहणमसंगात् । नदीप्रहणात्सिद्धिरिति चेस, तस्योत्तरत्रं द्विग्रणभिसंबंधनार्थत्वात् ।

यहां कोई शंका करता है कि सत्रकारको गंगा. सिंध आदिका ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्येंकि प्रकरण चला आ रहा होनेसे नदियोंका प्रहण स्वतः ही हो जाता है। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि " अनन्तरस्य विधिर्वा मवित प्रतिषेधो वा " । अध्यवहित पर्ववसी पदार्थका ही विधि अथवा निषेध उत्तरवर्ती वाक्य द्वारा किया जाता है। इस परिमाषाके अनुसार अञ्चवहित पूर्वमें कहीं गयी पश्चिमगामिनी सिन्धु, रीहितास्या आदि सात नदियोंके ही प्रहण होनेका प्रसंग आ जावेगा । गंगा रोहित् आदि सात नदियां छूटा जाती हैं। अतः गंगा, सिन्धु, आदि पद व्यर्थरूपसे शंकित किया जा रहा क्रापन करता है कि पूर्व सूत्र और प्रपूर्व सूत्रमें कहीं जा चुकी सम्पर्ण चौदह नदियों का प्रहण कर छेना चाहिये । पुनः आक्षेपकार यदि यों कहे कि तब तो गंगा आदि प्रहण करना ही पर्याप्त है, सिन्ध पद व्यर्थ पडता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह भी नहीं कहना, क्योंकि गंगा आदि इतना ही कहनेपर पूर्वगामिनी सात नदियोंके ही प्रहण हो जानेका प्रसंग होगा, संक्री नदियां नहीं पकडी जा सकेगी। फिर भी आक्षेपकार यों कहें कि नदियां तो प्रकरण प्राप्त हैं हीं, नदी प्रहणके विना भी नदियोंकी प्रतीति हो सकती है। तथापि सूत्रकारने नदी शन्दका प्रकृण किया है। अतः सम्पूर्ण निदयोंकी प्रतिपत्ति हो जायगी। गंगा सिन्धु आदि प्रहुण करना पुनरि व्यर्थ है। आचार्य कहते हैं कि यह तो आक्षेप नहीं करना। क्योंकि उस गंगा सिन्धु आदि पदके प्रहण करनेका प्रयोजन तो उत्तरवर्ती परछी औरकी नदियोंमें हिगुना हिगुना सम्बन्ध कर देना है। शब्दीकी अधिकतासे शिष्योंको अधिक अर्थकी इति हो जाती है। मावार्थ-गंगा सिन्धके परिवारसे रोहित . रोहितास्या, प्रत्येकका परिवार दूना यानी अष्टाईस अहाईस हजार नदियां है और हरित . हरिकान्ता, नदियोंका परिवार इससे भी दूना यानी छप्पन छप्पन हजार है । सीता सीतोदामें से प्रत्येकका परिवार एक छक्ष बारह इजार नदियां बैठता है, किन्तु त्रिछोकसार प्रत्य अनुसार चौरासी हजार माना गया है और नारी, नरकान्ता, नदियौँमें प्रत्येकका परिवार छन्पन हजार है। तथा सवर्ण कुछा रूप्यक्रुछा नदियोंमें प्रत्येकका परिवार अहाईस हजार है और रक्ता रक्तोदा नदियोंका परिवार चौदह, चौदह, हजार है। गंगा आदिक नदियोंकी परिवार नदियां परली ओर दुनी दुनी हैं। इतना ही कह देनेसे सिन्धुका परिवार भी गंगा नदींसे हिंगुना बन बैठेगा। अतः सिन्धुपद भी सार्यक है।

सर्वयैवासंभाच्या गंगादयो नद्यः सूत्रिता इति कस्यंचिदारेकां निराकर्त्वे मकमते ।

कोई शंका करता है कि सूत्रकार महाराजने जिन गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंका सूत्रद्वारा निरूपण किया है वे नदियां सभी प्रकारोंसे असम्भव हैं। इजारों कोस चौडी उक्त नदियां वर्तमानमें दिस्त्रगोचर नहीं हो रहीं हैं। उनका प्रमव करनेवाले हद, कुण्ड, तोरणहार तथा उनके दोनों और वेदिकायुक्त वनखण्ड आदि माने गये तो दूर दूर तक जाकर भी नहीं देखनेमें आ रहे हैं। इस प्रकार किसी एक स्थूल्डिशिशले शिष्यकी आशंकाका निराकरण करनेके लिये श्री विद्यानन्द स्वामी प्रक्रमको बांधते हैं।

अथ गंगादयः शोक्ताः सरिताः क्षेत्रमध्यगाः । पूर्वीपरसमुद्रांतः प्रवेशिन्यो यथागमं ॥ १॥

सात क्षेत्रोंके मध्यमें होकर गमन करनेवाली और पूर्व समुद्र, पश्चिम समुद्रके भीतर या कोई कोई गंगा सिन्धु, रक्ता रक्तोदा, ये दक्षिण या उत्तरकी ओरके मध्यवर्ती समुद्रमें प्रवेश करनेवाली गंगा, सिन्धु, आदिक सम्पूर्ण नदियां आगममार्गका अतिक्रमण नहीं कर सूत्रकारने बहुत अच्छे ढंगसे कह दीं हैं। अर्थात्—देशान्तरित पदार्थों की इतिके लिये आतोक्त आगम, पुस्तकें, नकशा ये प्रधान साधन हैं। सभी देश देशान्तरों का या समुद्र, पर्वलों का, कौन चक्कर लगाता फिरता है ? सूर्य, चन्द्र, विमानों के ऊपर क्या क्या रचना बनी हुई है ? संसारमें कहां कहां कैसे कितने स्थान हैं ? इन सम्पूर्ण रहस्यों को सर्वन्न सम्प्रदायसे चला आ रहा आगम ही प्रकाशित करता है। गंगा, सिन्धु आदिक चौदह नदियां और विदेह क्षेत्रकी बारह विभंगा नदियां तथा बत्तीस विदेह खण्डों की गंगा सिन्धु या रक्ता रक्तोदा द्वारा दो दो होकर हुयों चौसठ नदियां, ये जम्बूद्वीपकी नब्बे मूल नदियां तथा सत्रह लाख बानवे हजार परिवार नदियां, इन सब-ता निर्णय आगम अनुसार कर लिया जाता है। जगदकी प्रक्रिया या देश, देशान्तर, समुद्र, नदी, पर्वत, खान, कूप, बावडी, समुद्रतल आदिको जानने के लिये सबको आगमकी बहुमाग शरण लेनी पहती है। " न हि सर्वः सर्ववित् " सभी प्राणी तो विश्वके साक्षात्कर्ता सर्वन्न नहीं हैं।

परिवारनदीसंख्याविशेषसिहताः र्पृथक् । चतुर्दश चतुःसूत्र्या नासंभाव्याः कथंचन ॥ २ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने "गंगासिन्धुरोहिद्रोहितास्या हरिद्रिश्कान्ता सीतासीतोदा नारीनरकान्ता सुवर्णरूप्यकूळा रक्तारकोदाः सितस्तन्मध्यगाः, द्रयोद्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः, रोषास्त्वपरगाः, चतुर्दरानदी-सहस्रपरिवृता गंगासिध्वादयो नद्यः " इन चारों सूत्रों करके जो पृथक् पृथक् परिवार नदियोंकी संख्या विशेषसे सिहत हो रहीं चौदह नदियोंका वर्णन किया है, वह किसी भी प्रकारसे असम्भव नहीं है। अर्थात्—" सपरिवारा गंगासिन्ध्वादयश्चतुर्दरा नद्यः सन्ति (प्रतिज्ञा) सुनिश्चितासंभवद्वाधकप्रमाण-त्वाद् (हेतु) सुखादिवत् " नदियोंके सद्भावके बाधक प्रमाणोंका असम्भव हो जानेसे परिवार सिहत चौदह नदियोंकी सत्ता निर्णात कर छी जाती है, जैसे कि दूसरी आत्माओंके सुख या समुद्रतछ अथवा महान् पर्वतोंके नीचेकी मध्य भागस्य मूळ (जड) आदिका ज्ञान " वाधकासंभव " से कर

िख्या जाता है। पर्वतको उखाड कर बीचड़ा भाग कौन देखे !। अपनी पूरी ह्वेलीके परिपूर्ण भागोंका देखना तो कष्टसाध्य हो रहा है। स्वशरीरके भीतरसे अवयव ही नहीं दीख रहे हैं। भावार्थ—गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंके परिवारके सिहत जम्बूद्रीपमें सम्पूर्ण नदियां सम्रहलाख बानवे हजार नन्ने १७९२०९० हैं। धातुकीखण्ड द्वीप और पुष्करार्धमें भी नदियोंका सद्भाव बाधवेधुयंसे आगम अनुसार निश्चित हो जाता है।

संभाव्यंत एव हि गंगासिंघ्वादयो महानद्यो यथागममायामविष्कंभावगाहैरपरैश्र विश्वेषेस्तद्धिकरणस्य महस्वादिहास्ति कासांचिष्मदीनां सरय्वादीनां महाविस्ताराणाद्धपर्छभात् कस्यचिद्राधकस्यासंभवात् ।

गंगा, सिन्धु, आदिक महानदियां अपनी अपनी लम्बाई, चौडाई, और गहराई तथा अन्य भी विशेषताओं करके सिहत हो रहीं आगम अनुसार सम्भावित ही हो रहीं हैं। असम्भव नहीं हैं। क्योंकि उन नदियोंके अधिकरणभूत स्थान बहुत बड़े महान् हैं। कितनी हीं नदियां तो वर्तमानमें देखे जा रहे हिन्द महासागर, एटलान्टिक आदि समुद्रोंसे भी बड़ी हैं। क्तमान परिदृष्ट देशोंमें यह। भी किन्हीं किन्हीं सरजू नदी, क्षुद्र गंगा, क्षुद्र सिन्धु, पुवर्णभद्र, यमुना, ट्राइम्स, मिशीसिनी, मिसीरी, पो, राइन, आदि नदियोंका महान् विस्तार देखा जाता है। इसी प्रकार छोटे कोसोंसे हजारों कोस चौड़ीं और लाखों कोस लम्बीं महागंगा आदि नदियां भी सम्भव जातीं हैं। किसी भी विचारशील व्यक्तिको उनके सद्भावमें बाधा देनेवाले प्रमाणका असम्भव है अथवा उन नदियोंमें बाधा देनेवाले किसी भी प्रत्यक्ष अनुमान या आगम प्रमाणकी सम्भावना नहीं है।

अथ कियदिष्कंभी भरती वर्ष इत्याह ।

अब यहां किसीका प्रश्न है कि पहिला क्षेत्र भरत नामक वर्ष भला कितनी चौडाईको धार रहा है ? ऐसी पुन्छना होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं ।

भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतिवस्तारः षट्चैकोन-विंशतिभागा योजनस्य ॥ २५ ॥

छन्त्रीस अधिक पांचसी योजन और योजनके उन्नीस मागोंमेंसे छह भाग इतने विस्तार (चौडाई) को धारनेवाळा भरतक्षेत्र है। अर्थात्—भरत क्षेत्रकी चौडाई पांचसी छन्त्रीस छह बटे उन्नीस योजन है।

भरतिवर्षः भस्योत्तरत्र वचनादिद्दावचनमिति चेषा, जंबृद्दीपनवतिश्वतभागस्येयत्तात्रति-पादनार्यत्वादेवत्त्रत्रस्य तत्संख्यानयनोपायमतिपत्त्यर्थत्वात् ।

कोई आक्षेप कर रहा है कि भरत क्षेत्रकी चौडाईका उत्तरवर्ती " भरतस्य विकामी जंबूदी-पस्य नवतिशतभागः " इस सूत्रमें कथन किया है। जावेगा । अतः यहां इस सूत्र द्वारा निरूपण करना व्यर्थ है। व्यर्थ सूत्रका उद्यारण नहीं करना चाहिय। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि यह सूत्र तो उत्तरवर्ती सूत्र द्वारा कही गयी जम्बूदीपके एकसी नब्बेवें भाग की इतने परिमाण वाळी संख्याका प्रतिपादन करनेके लिये हैं। इस सूत्रका प्रयोजन केवल उस एकसी नब्बेवें भाग संख्याके छानेके उपायकी प्रतिपत्ति करा देना है । अर्थात्-एक छाख योजन चौढे जम्बूद्वीपकी एकसी बन्बे झळाव।ओंमें एक राजाका भरत क्षेत्रको प्राप्त होती है। एक लाखमें एकसी नव्वेका भाग देने पर पांचसी छन्बीस छह बटे उन्नीस योजन संख्या आजाती है। उस संख्याकी प्रतिपत्ति इस सूत्र द्वारा कर हेनी चाहिये। " अस्मत् सिद्धान्तविद्यागुरवस्तु स्वल्पेऽप्याकाशे महत्याः भूमेरवगाहमङ्गीकृत्य न्यूनतरभूमि क्षेत्रप्रतिपादकिर्दं सूत्रभित्याहः "। मुझ टी काकारके सिद्धांतिविद्यागुरु पंडित गोपालदासजीका यह मंतन्य है कि " भरतस्य विष्करभो जंबूद्वीपस्य नवतिशतभागः " इस सूत्र करके आकाशकी नाप कर दी गयी है। भरत क्षेत्रका आकाश जम्बूद्धापके एकही नन्त्रीर्वे भाग ही रहेगा, न्यून अधिक नहीं। हां, उतने ही आकाशमें न्यूनसे न्यून पांचसी छन्बीस छह बटे उन्नीस योजनकी भूमि समा जायगा और उतने ही आकाशमें इससे दशों गुनी बडी भूमि भी समा सकती है। " ताभ्यामपरा भूनयोऽव-स्थिताः " इस सूत्रमें पड़ा हुआ " भूमयः " शहू भी इसी सिद्धांतको पुष्ट करता है। एक हाथ छंबे चौडे आकाशमें पांच हाथकी लम्बी चौडी भूमि आसकती है। गुरुजीका यह विचार युक्तिपूर्ण प्रतीत होता है। संभव है कुछ दिनोंमें विज्ञान भी इसी तत्त्वका निर्णय करे, जब कि जैनसिद्धांत तो तभी युक्त समझा जाता है। अनन्त बादरस्कन्ध इस असंख्य प्रदेशी छोकमें धरे हैं। २९ अंक प्रमाण मनुष्य ढाई द्वीपमें निवास कर रहे हैं।

अतोन्ये वर्षधरादयः किंबिस्तारा इत्याह ।

इस भरत क्षेत्रसे अन्य पर्वत या क्षेत्र अथवा नदी आदिक भला कितनी, कितनी, चीडाईको धारण किये हुये हैं ! ऐसी पृच्छा होनेपर श्री उमासामी महाराज अग्निम सूत्रको ऋहते हैं ।

तद्द्विग्रणद्विग्रणविस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः ॥ २६॥

उस भरतक्षेत्रसे हिगुने बिगुने बिस्तारको प्राप्त हो रहे कुळाचळ पर्वत और हैं मवत आदिक क्षेत्र हैं । यह व्यवस्था विदेश क्षेत्रपर्यंत पर्वत या क्षेत्रोंकी समझ छेनी चाहिये ।

वर्षथरशब्दस्य पूर्वनिपातस्तदानुपूर्व्यमतिपस्पर्यः वर्णानामानुपूर्व्येण इति निरुक्तकारव-चनस्यानस्याच्तराणामन्येषामपि ययानिधानभानानुपूर्व्येण पूर्वनिपातश्रतिपादनार्बत्वात् तथा मायः प्रयोगदर्शनात् ।

यद्यपि वर्षधर और वर्ष शद्भका द्वन्द्र समास करनेपर अल्प अच् होनेके कारण वर्ष शद्भका पहिले निपात हो जाना चाहिये, तथापि उन पर्वत या क्षेत्रोंकी ठीक ठाँक व्यवस्थित हो रही आनु-पूर्वीकी प्रतिपत्ति कराने के लिये वर्षधर शहुका पूर्वमें निपात कर प्रयोग किया गया है। व्याकरण शास्त्रमें " अल्पाच्तरं " इस सूत्रका अपवाद करनेके लिये " वर्णानामानुपूर्वेण " यों निरुक्त या व्याकरणकी वार्त्तिकोंको बनानेवालेका वचन तो अन्य अधिक अच्चाले या अपूज्य भी पदोंका उचारण अनुसार आनुपूर्व्यकरके पूर्वनिपातकी प्रतिपत्तिको करानेके छिये है। तिस प्रकार अनेक स्थलोपर बहुतसे पदोंका प्रयोग करना देखा जाता है । अर्थात् – इन्द्र समासमें अल्प अच्वाळे पदोंका पूर्वमें निपात करा देनेवाला " अल्पाच्तरम् " यह सूत्र है । इसके अपनादमें " वर्णानामानुपूर्व्येण " यह वार्त्तिक है। '' ब्राम्हणक्षत्रियविट्सूदाः '' इस पदमें ब्राह्मण आदि वर्णौका आनूपूर्वी करके जैसे पद प्रयोग होजाता है, उसी प्रकार अन्य भी प्रामोंकी परिपार्टा या तिथियोंके अनुक्रम देश, परिमाण, पर्वत, आदिकोंकि आन् पूर्वी अनुसार पद प्रयोग कर दिया जाता है '' बाल्यकीमारयुवावस्थाः, पुष्पफले, स्पर्शनरसना-घाणचक्षःश्रोत्राणि, अर्थ्वमध्याधोलोकाः, अवप्रहेहावायधारणाः, रत्नरार्करावालकाः " अन्य अचोंका या काचित् पूज्योंका भी छक्ष्य नहीं रखकर आनू पूर्वी अनुसार आगे पीछे पद बोल दिये गये हैं। इसी प्रकार यहां भी कहे जाचुके भरत क्षेत्रके परली ओर हिमवान् पर्वत है, तत् पश्चात् हैमवत क्षेत्र है, अतः सूत्रकारने " वर्षधरवर्षाः " यें। रचना क्रम अनुसार वाचक पदोंका प्रयोग किया है । भरतका वर्णन कर चुकनेपर इसके पश्चात् हिमवान् पर्वत, पुनः हैमवत क्षेत्र, यें पर्वत और क्षेत्रोंका कम है।

विदेशंतवचनं मर्यादार्थे तेन भरतविष्कंभाद्विग्रणविष्कंभो हिमवान् वर्षधरः, ततो हैम-वतो वर्षः, ततो महाहिमवान् वर्षधरः, ततो हरिवर्षः, ततो निषधो वर्षधरस्ततोऽपि विदेशे वर्ष इत्युक्तं भवति ।

इस सूत्रमें विदेहपर्यन्त यह कथन करना तो मर्यादाको बांधनेके लिये हैं। तिस कथन करके इस प्रकार कह दिया जाता है कि भरत क्षेत्रकी चौडाईसे दूनी चौडाईबाला दस सो बावन बारह बटे उन्नीस योजनका हिमबान् पर्वत है। उस हिमबान्से द्विगुना दो हजार एकसी पांच और पांच बटे उन्नीस योजन चौडा हैमबत क्षेत्र है। उस हैमबत क्षेत्रसे महाहिमबान् पर्वत चार हजार दो सो दस और दस बटे उन्नीस योजन चौडा है। उस महाहिमबान् पर्वतसे हरिवर्ष क्षेत्र आठ हजार चार सौ इक्कीस और एक बटे उन्नीस योजन दूनी चौडाईको लिये हुये है। उस हरिवर्षसे निषध पर्वत द्विगुना यानी सौल्डह हजार आठ सौ व्यालीस और दो बटे उन्नीस योजन चौडा है। उस निषध पर्वतसे भी दूना चौडा तेतीस हजार छहसौ चौरासी और चार बटे उन्नीस योजन चौडा विदेह क्षेत्र है। पूरे जंबूदीपमेसे भरत क्षेत्रको एक, हिमबान् पर्वतको दो, हैमबत क्षेत्रको चार, महाहिमबान् पर्वतको आठ, हरिक्षेत्रको सोल्डह, निषधको बत्तीस और विदेहको चौसठ शलाकायें, नीलको बर्चास, रम्यकको सोल्डह,

रुक्मीको आठ, हैरण्यवत क्षेत्रको चार, शिखरी पर्वतको दो, और ऐरावत क्षेत्रको एक, यो सातों क्षेत्र छ:ऊ पर्वतोंके एकसी नब्बै शलाकार्ये प्राप्त हैं। जंबूद्वीपके एक लाख योजन चौडे क्षेत्रमें एकसी नब्बैका भाग देकर पुनः अपनी अपनी प्राप्त शलाकाओंसे गुणा कर देने पर पर्वत और क्षेत्रोंकी उक्त चौडाई निकल आती है।

परे वर्षधरादयः किं विस्तारा इत्याह ।

विदेह क्षेत्रसे पर्स्ता ओरके पर्वत आदिक क्यों जी, कितने विस्तारके धारी हैं ? इस प्रकार प्रतिपित्सा होने पर श्री उमास्त्रामी महाराज अगळे सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ॥ २७ ॥

उत्तरवर्ती ऐरावत आदिक नील पर्यंत क्षेत्र या पर्वत तो दक्षिणवर्ती भरत आदि क्षेत्र और हिमवान् आदि पर्वतोंके समान समझ लेने चाहिये। हद, कमल, नदी, कुण्ड आदि अकृत्रिम पदार्थोंकी रचना भी तुल्य है।

निषधेन तुल्यो नीलो वर्षधरः, हरिणा रम्यको वर्षः, महाहिमवता रुक्मीवर्षधरः, हैम-वतेन हैरण्यवतो वर्षः, हिमवता शिखरी वर्षधरः, भरतेन दक्षिणेनोत्तर ऐरावत इति योज्यं।

निषध पर्वतके समान नील पर्वत है, हरिक्षेत्रके समान रम्यक वर्ष है, महाहिमबानके समान रुक्मी पर्वत भी चार हजार दो सी दस और दस बटे उनीस योजन चीडा है। हैमबत क्षेत्रसे हैरण्यवत वर्ष तुल्यताको रखता है। शिखरी पर्वत हिमबान् पर्वतके सम है और दक्षिण दिशावती भरतके समान उत्तरदिशाका ऐरावत क्षेत्र है। गंगा, सिन्धु, के साथ रक्ता, रक्तोदाकी, पद्मके साथ पुण्डरीक हदकी तथा अन्य नदी, कमल, आदिकोंकी, तुल्यताकी योजना इसी प्रकार कर लेनी चाहिये।

अथ भरतैरावतयोरनवस्थितत्वमतिपत्त्यर्थमाइ।

अब इसके पश्चात् श्री उमास्वामी महाराज भरत और ऐरावत क्षेत्रके (में) अनवस्थितपनेकी प्रातिपास करानेके छिये अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

भरतैरावतयोर्वृद्धिहासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्य-वसर्पिणीभ्याम् ॥ २८ ॥

दुःषम दुःषमा आदि या सुषमसुषमा आदि छह समयोंको धार रहे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी नामक व्यवहार काळों करके भरत और ऐरावत दो क्षेत्रोंके (में) हृद्धि और हास हो जाते हैं।

तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यसिद्धर्भरतैरावतयोर्द्वद्विद्वासयोगः अधिकरणनिर्देशी वा, तत्रस्थानां हि पनुष्यादीनामनुभवायुःममाणादिकृती दृद्धिद्वासी पट्कालाभ्यायुत्सर्पिण्यवसार्पिणीभ्यां ।

तत्रातुमवादिमिरुत्सर्पणद्मीला उत्सर्पिणी तैरेवावसर्पणशीलावसर्पिणी । षट्कालाः पुनरुत्स-र्पिण्यां दुःषमदुःषमादयोऽवसर्पिण्यां सुषमसुषमादयः मितपत्तन्याः ।

उसमें स्थित हो जानेके कारण उसके वाचक शह द्वारा कहे जानेकी सिद्धि है, इस कारण भरत और ऐरावत क्षेत्रोंके रुद्धि और हासका योग बतला दिया है। अर्थात्—" पर्वतदाह " इस पद अनुसार पहाडमें ठहर रहीं वनस्पतियोंका अरिण निर्मथन (बासों या अन्य विशेष काठकी रगड) द्वारा दाह हो जानेपर पर्वत जल रहा है, यों कह दिया जाता है । यह उस पर्वतमें ठहरनेवाले बुक्ष, बल्ली, पत्ते, आदि आधेर्योका पर्वत शहरो कथन हैं। इसी प्रकार भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंकी या भरत, ऐरावत, क्षेत्रवर्ति आकाशकी द्दीनता, या अधिकता, तो सम्भव नहीं है । अतः उसमें स्थित हो रहे कतिपय पदार्थीकी बृद्धि या हानिका हो जाना समझ छेना चाहिये अथवा '' भरतैरावतयोः '' यह पद षष्टी विभक्तिका द्विवचन नहीं समझा जाय, किन्तु सप्तमी विभक्तिका द्विवचन मान छिया जाय। ऐसी दशा होनेपर उनमें स्थित हो रहे मनुष्य, तियेच, पश्च, पक्षी, आदि जीवोंके अनुभव, आयुष्यपिर-माण, शरीरकी उचाई, बल, सुख, आदिसे किये गये वृद्धि और हास ये छह समयवाले उत्स-र्पिणी या अवसर्पिणी कालों करके होते रहते हैं । अर्थात्—ऋतुपरिवर्तन, शीतकी अधि-कता, सूर्यका प्रचण्ड प्रताप, नियत वनस्पिस्तियोंका फलना फूलना आदि कार्य जैसे द्रव्य परिवर्तन स्वरूप कतिपय व्यवहार कालों द्वारा सम्पादित हो जाते हैं. उसी प्रकार अनेक और उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, इन व्यवहार काळोंको निमित्त पाकर जीवोंके अनुभव आदिकी वृद्धि, हानियां हो जातीं हैं। उन कालोंमें अनुभव, आयुष्य, आदि करके ऊपरको सरकना (वृद्धि) स्वभाववाळी उत्सर्पिणी है और उन हीं अनुभव आदि करके नीचेको सरकना (हानि) स्वभावयाळी अवसर्पिणी है । फिर उत्सर्पिणीमें छह काळ दुःषमदुःषमा आदिक हैं और अनसर्पिणीमें सुषमसुषमा आदिक छह काल समझ लेने चाहिये। सुषमसुषमा चार कोटाकोटी सागर तक चलता है। उस समय यहां उत्तम भोग भूमिकी रचना हो जाती है। पीछे कमसे हानि होते हुये तीन कोटाकोटी अद्धा सागरका सुषमा काल प्रवर्तता है। उसकी आदिमें मनुष्य हरिवर्षके मनुष्योंके समान मध्यम भोगभूमिवाछे समझे जाते हैं। पश्चाद क्रमसे अनुभव आदिकी हानि होते हुये दो कोटाकोटी सागर स्थितिवाला जघन्य भोग भूमिकी रचनासे युक्त सुषमदुःषमा काल चालू होजाता है। उसके अनन्तर क्रमसे हीनता होनेपर बियाखांस हजार वर्ष कमती एक कोटाकोटी सागर पर्यंत कर्मभूमिका दुःषमसुषमा काल विदेह समान स्चनावाला प्रवर्तता है। विदेहमें क्रमसे हानि नहीं है। समान काळ रहता है। पश्चात् क्रमसे न्यूनता होते हुये इकीस हजार वर्षतक कर्मभूमिका दःषमा काल वर्तता है। पुन: अनुभव आदिकी न्यूनता होते होते दु:षमदु:षमा काल इकीस हजार वर्षका 🖟 प्रवर्तता है। यह अवसर्पिणीकी दशा बता दी है। उत्सर्पिणीमें सुख आदिकी जमसे बढ़ती हुई इससे विपरीत व्यवस्थाको आगम अनुसार समझ छेना चाहिये।

अथ भरतेरावताभ्यामपरा भूमयोवस्थिता एवेत्यावेदयति ।

अब श्री उमास्वामी महाराज भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्रसे भिन्न पडी हुई मुमियां अवस्थित हैं। इस सिद्धान्तका विज्ञापन कराते हैं।

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः॥ २९॥

उन भरत क्षेत्र, ऐरावत क्षेत्रोंसे शेष बच रहीं अन्य भूमियां अवस्थित एकसी रहती हैं। उन भूमियोंमें उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी, कालोंका परिवर्तन नहीं है।

तत्स्थमाणिनामनुभवादिभिर्श्वादिद्रासाभावात् । षद्समययोरुत्सर्पिण्यवसर्पिण्योरसंभवा-देकैककालत्वादवस्थिता एव ताभ्यामपरा भूमयोऽवगंतच्याः । तदेवं—

उन हैमवत, हैरण्यवत आदि क्षेत्रोंकी भूमियों में ठहर रहे प्राणियों के अनुभव, आयुष्य आदि करके बढ़ने और घटनेका अभाव हो जानेसे वे भूमियां अवस्थित कही जातीं हैं। दुःषमदुःषमा आदि या सुषमसुषमा आदि छह समयोंको धारनेवाली उत्सर्पिणी और अवसर्पिणीका असम्भव हो जानेसे सदा यथायोग्य एक एक ही कालकी वर्तना होनेके कारण उन भरत ऐरावतोंसे भिन्न हो रहीं शेष भूमियां अवस्थित ही समझ लेनी चाहिये और तिस कारण इस प्रकार होनेपरः—

वर्षवर्षधराबाध्यविष्कंभकथनं कृतं । सूत्रत्रयेण भूमीनां स्थितिभेदो द्वयेन तु ॥ १ ॥

श्री उमास्त्रामी महाराजने पचीसर्वे, छन्त्रीसर्वे, सत्ताईसर्वे, तीन सूत्रों करके क्षेत्र और पर्वतोंकी चौडाईका बाधा रहित कथन कर दिया है और अडाईसर्वे, उन्तीसर्वे, इन दोनों सूत्रों करके तो भरत, ऐरावन, और उनसे न्यारे क्षेत्र या पर्वतोंमें स्थितियोंके भदका निर्वाध निरूपण कर दिया है।

न हि भरतादिवर्षाणां हिमवदादिवर्षधराणां च सूत्रत्रयेण विष्कंभस्य कथनं बाध्यते भत्यक्षानुमानयोस्तदविषयत्वेन तद्घाधकत्वायोगात् भवचने ४देशस्य च तद्घाधकस्याभावात् आग-मांतरस्य च तद्घाधकस्याममाणत्वात् ।

श्री उमास्वामी महाराज द्वारा "भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतिवस्तारः षट् चैकोनिवंशिति भागा योजनस्य, तिद्विंगुणिद्विंगुणिवस्तारा वर्षधरवर्षा विदेहांताः, उत्तरा दक्षिणतुल्याः " इन तीनों सूत्रों करके भरत हैमयत, आदि क्षेत्रोंकी और हिमवान् महाहिमवान् आदि पर्वतोंकी चौडाईका किया जा चुका निरूपण फिर किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं हो। जाता है। क्योंकि उन सूत्रोंके प्रतिपाद्य अर्थको नहीं विषय करनेवाले होनेके कारण इन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंको उस प्रतिपाद्य अर्थके बाधकपनका अयोग है। जो प्रमाण जिस विषयमें नहीं प्रवर्तता है वह उस विषयका साधक या बाधक नहीं हो सकता है। ज्याकरणको पढ़ा हुआ पण्डित विचारा वैषक प्रयोगोंका खण्डन या मण्डन नहीं

कर सकता है। तथा तीसरे आगम प्रमाणके एक देशको तो उस तीन सूत्रों द्वारा कहे गये प्रमेयका बाधकपना नहीं है। क्योंकि समीचीन शाक्षोंके प्रकरण तो इन ही उक्त सिद्धान्तोंकी पृष्टि करते हैं। हां, उस प्रमेयके बाधक माने जा रहे अन्य कुरान, वर्ल्ड जीगरफी, सिद्धान्तिशिमाणि, प्राकृतिकभूगोल, रेटलस, आदि न्यारे आगमोंको तो प्रमाणपना व्यवस्थित नहीं है। अर्थात्—अप्रमाण आगम किसी समीचीन आगम द्वारा प्रतिपाद्य विषयका बाधक नहीं होता है। स्वयं अंधा मला दूसरे सूझतोंको क्या मार्ग बतायगा ! किसी नकटे द्वारा भगवदर्शनका प्रलोभ देनेपर स्वकीय नासिका छेद कर देना अनुचित है। नासिकाकी प्रतिष्ठाके समान इन सर्वज्ञ आम्नात आगमोंको ही प्रामाण्य मिलता रहा है। और परिशेषमें भी इन्हींको प्रामाण्य प्राप्त होगा। दिग्नमी पुरुष मध्यमें मलें ही कुछका कुछ समझ बैठे।

तत एव सूत्रद्वयेन भरतैरावतयोस्तदपरभूमिषु च स्थितेर्भेदस्य द्वद्धिद्रासयोगाभ्यां विहितस्य प्रकथनं न बाध्यते, तथा असंभवात् अस्यथाभावावेदकप्रमाणाभावाचेति पर्याप्तं परंचेन ।

तिस ही कारणसे यानी प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणों करके बाधित नहीं होनेके कारण श्री उमास्त्रामी महाराज करके " भरतैरावतयोर्वृद्धिहासी षट्समयाभ्यामुत्सिर्पण्यवसिर्पणाभ्याम्, ताभ्यामपरा भूमयोऽविस्थिताः " इन दो सूत्रों द्वारा भरत ऐरावतों में और उनसे न्यारी भूमियों में वृद्धि हासों के योग तथा वृद्धि हासों के अयोगसे किये गये स्थितिके भेदका बिदया कथन किया जाना किसी भी प्रमाणसे बाधित नहीं होता है । क्यों कि तिस प्रकार बाधक प्रमाणोंका असम्भव होजानेसे और क्षेत्रोंकी स्थितिके दूसरे प्रकारों से सद्भावका आवेदन करनेवाले ज्ञानोंकी प्रमाणताका अभाव होजानेसे सूत्रकारका सुंदर निरूपण निर्वाध ठहर जाता है । यों इस जिनागमकी प्रमाणताका हम कई बार कह चुके हैं । अतः यहां विस्तार कथन करनेसे पूरा पड़ो। विचारशील विद्वानोंके प्रति अल्प कथन ही तुष्टिकर है ।

अथ भरतेरावताभ्यामपरा भूमयः किंस्थितय इत्याह ।

इसके अनन्तर भरत और ऐरावतसे निराली होरहीं भूमियां या उन भूमिओंमें स्थित होरहे मनुष्य, तिर्थेच, भला कितनी स्थितिको धार रहे हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर अप्रिम सूत्र कहा जाता है।

एकद्वित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैव-कुरवकाः ॥ ३० ॥

एक, दो, तीन, पल्योपमस्थितियोंको धारनेवाले हैमवतक और हारिवर्षक तथा दैवकुरुवक हैं। अर्थात्—हैमवत क्षेत्रमें रहनेवाले जघन्य भोग भूमियां मनुष्य और पंचेन्द्रिय संज्ञी तिर्यचोंकी उत्कृष्ट आयु दो अद्धापल्य है। देवकुरुमें निवास कर रहे उत्तम मोगभूमियां मनुष्य तिर्यचोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्योपम है। इनकी जघन्य आयु तो एक समय अधिक एक कोटि पूर्व वर्ष और एक समय अधिक एक पल्य तथा एक समय अधिक दो पल्य यथाक्रमसे समझ छेना।

हैमवतादिभ्यो भवार्थे वुस्, हैमनतकादीनां इन्द्रे सति हैमवतकस्यात्वपूर्व्यमतिपन्धर्थः पूर्वनिपातः । एकादीनां हैमवतकादिभिर्यश्यासंख्यं संबंधः, तेनैकपल्योपमस्थितयो हैमवतका, दिपल्योपमस्थितयो हारिवर्षकाः, त्रिपल्योपमस्थितयो दैवकुरवका इत्युक्तं भवति ।

हैमवत, हरिवर्ष, देवकुरु, इस प्रकार शहोंसे तत्र भव इस अर्थमें बुज् प्रत्यय कर पुनः बु को अक और जित्पनेसे पूर्व अच्को बृद्धि करते हुये हैंमवतक, हारिवर्षक, दैवकुरुवक, शहोंको साधु बमा छेना चाहिये। इन हैमवतक आदि शहोंका इतरेतर योग इन्द्र समास करनेपर हैमवतक शहका ठीक आनुपूर्व्यकी प्रतिपत्ति करानेके छिये पूर्वमें निपतन हो जाता है। एक, दो, आदि पदोंका हैमवतक, आदिके साथ यथासंख्य सम्बन्ध कर छेना। ऐसा सम्बन्ध कर छेनेसे सूत्र द्वारा यों कहा जा चुका समझा जाता है कि एक पत्थोपम स्थितिको बार रहे हैमवत क्षेत्र निवासी भोगभूमियां जीव हैं, दो पत्थोपम स्थितिको धार रहे हारिवर्षक हैं और देवकुरु निवासी भोगभूमियोंकी उत्कृष्ट आयु तीन पत्थोपम है।

विदेशदुत्तराः कथमित्याह ।

विदेह क्षेत्रसे उत्तरवर्ती परली ओरके भोगभूमियोंकी किस प्रकार स्थितियां हैं ? यों जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

तथोत्तराः ॥ ३१ ॥

तिस ही प्रकार उत्तर देशवर्ती जीवोंकी स्थितियोंको समझ छेना चाहिये। अर्थात्—पांच मेरु सम्बन्धी पांच हैरण्यवत क्षेत्रोंमें मोगभूमियोंकी स्थिति एक पन्योपम है। वहां सर्वदा सुषमदुःषमा काल अवस्थित रहता है। पांच मेरु सम्बन्धी रम्यक क्षेत्रोंमें मोगभूमियां दो पल्यकी आयुको धारनेवाछे हैं। यहां सर्वदा सुषमाकाल तदवस्थ रहता है तथा पांच उत्तरकुरुओंमें तीन पल्योपमकी स्थिति है। यहां सर्वदा सुषमसुषमा काल वर्तता रहता है। यों जम्बूदीपके उत्तर प्रान्तमें जखन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भोगभूमियां तदवस्थ हैं।

हैरण्यक्तकरम्यकोत्तरकुरवका एकदित्रिपस्योपमस्थितयो हैमवतकादिवदित्वर्थः।

इस सूत्रका यह अर्थ है कि हैमक्तक आदिके समान ही पस्की ओरके जीवोंकी स्थिति है। हैमक्तकोंके समान हैरण्यवतक जीवोंकी स्थिति एक पत्योपम है; हरिवर्षमें रहनेवाले मनुष्य, तिर्थचोंके समान रम्यक निवासियोंकी दो पत्योपम आयुःस्थिति है। दैवकुरुवकोंके समान उत्तरकुरुस्थायी मनुष्य तिर्यच तो तीन पत्योपम स्थितिको धार रहे हैं। अर्थात्—मोगभूमियोंमें विकल्प्य और लब्ध्य-पर्याप्तक जीव नहीं पाये जाते हैं। हां, पांचों कायके स्थावर जीव वहां विद्यमान हैं। उत्कृष्ट स्थिति बाईस हजार वर्ष, सात हजार वर्ष, तीन दिम, तीन हजार वर्ष, दस हजार वर्ष, यथाक्रमसे पृथ्वी,

जल, तेज, वायु, वनस्पतिकायिक जींबोंकी है, इनकी जधन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त भी वहां पायी जाती है । जैसे कि उत्तरकुरुमें जघन्य आयु एक समय अधिक दो पत्य और उत्कष्ट परे तीन पत्यकी है ये भोगभूमियां मनुष्य या तिर्येच दोनों जी और पुरुषका युगल होकर उपजते हैं। पाहिले युगलकी सियां छीकसे और पुरुष केवल जैभाई लेनेसे पूर्ण आयुक्ते अन्तमें मर जाते हैं, विध-त्के समान उनका शरीर विघट जाता है। नवीन युगल सात दिनतक अपने अंगूठेका पान करते हुये जपरको मुख करके छोटते रहते हैं। पीछे सात दिनतक मूमिमें रेंगते रहते हैं। तीसरे सप्ताहमें अव्यक्त मध्र भाषण करते हुये गिरते पडते पात्रोंसे चलते हैं। चौथे सताहमें पात्रोंको जमाकर चल लेते हैं। पांचवे सप्ताहमें कलागुणोंको धार लेते हैं। छड़े सप्ताहमें तरुण अवस्थाको प्राप्त होकर मोगोंको भोगते हैं और सातवें सप्ताह करके सम्यक्त प्रहणकी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं। जघन्य भोगभियां मनुष्योंका शरीर दो हजार धनुष ऊंचा है। एक दिन बीचमें देकर दूसरे दिन एक बार आमले बराबर भोजन करते हैं। मध्यम भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर चार हजार धनुष ऊंचा है। दो दिन बीचमें देकर तीसरे दिन एक बार बहेडे समान आहार छेते हैं। यह आहार अतीय गरिष्ठ होता है, जैसे कि चंक्रवर्ती या नाराक्ण, प्रतिनारायणके भोजनको साधारण मनुष्य नहीं पचा सकता है, भोगभूमियोंका आहारयोग्य इन्य उससे भी कहीं अत्यधिक गरिष्ठ होता है । उत्तम भोगभूमियां मनुष्योंका शरीर छह हजार धनुष यानी तीन कोस ऊंचा है और आठवें भक्त यानी तीन दिन बीचमें देकर चौथे दिन छोटे बेर तल्य एक बार आहार छेते हैं । कर्म भूमिक मनुष्योंकी अपेक्षा जैसे हाथी, घोडे, बैछ, आदिका शरीर जिस क्रमसे बढ़ा हुआ है, उसी प्रकार वहां भी तिंथेचों का शरीर मनुष्य शरीरसे बढ़ा है। हां, गेंह, चने, जी, आदिमें कोई विशेष अंतर नहीं है । यो देश भेदसे इनमें थोड़ा बहुत अब भी अंतर पाया जाता है । जो वनस्पतियां बीज अनुसार उपजती हैं वे गेहूं, चना, आम, नीचू, अनार, आदि भोगभूमि-थींमें अवस्य पायां जातीं हैं। मले ही उमका उपयोग नहीं हीय। आज कल भी तो लाखों वनस्पतियां वनमें यों ही नष्ट होजाती हैं। बीज सैतान उनकी बनी रहती है। भरत, ऐरावत, क्षेत्रोंमें भोगभूमियोंके समय भी बीजांकर न्यायते अनादि कालीन उक्त वनस्पतियां अवस्य थी । हां, कर्मभूमियोंके वृक्षोंके तार-तम्य अनुसार भोग मुमिमें भी मनुष्योंकी अपेक्षा कुक्ष महान हैं। वनस्पतिकायिक कल्पकक्ष भी हैं। दश प्रकारके प्रथ्वी विकार कल्पवृक्ष जघन्य भोगमुमिमें दश कीस उंचे हैं। मध्यम भोगभूमिमें बीस कीस ऊंचे और उत्तम भोगभिमें तीस कोस ऊंचे कुक्ष है। उन कल्पवृक्षोंसे उत्पन हुये भोगोंको भौगभूमियां जीव सदा भौगते रहते हैं। मचांग जातिके वृक्षींसे वे मचको प्राप्त कर छेते हैं, जैसे कि ताड कृतींसे भील ताडीको प्राप्त कर लेते हैं। यहां मचका अर्थ सुरा (शराब) नहीं है, किंतु दूध, दहीं, भी, इक्षुस्स, आम्ररस, आदिकीसीं सुगैधियोंको धार रहा पीने योग्य द्रवदन्य है। कामशक्तिका जनक होंने से उसके। उपचारसे मद कह दिया जाता है। बादिशंग जातिक कल्पवृक्षींसे मुदंग, ढील, बंटा, बीणा आदि कर पूछ रहे बाजे प्राप्त होजाते हैं। तीसरे भूषणांग जातिके कल्पवृक्षांसे भीग भूमियां पछ पूछ रहे कडे.

करधीनी, हार, कुंडल, अंगूठी आदि अलंकारोंको लेकर पहन लेते हैं। चौथे माल्यांग कल्प हुक्षोंसे चंपा, चमेळी, केवडा, जुही, गुळाब, आदिकी फलती, फूलती मालाओं या पुष्पोंको तोडकर व्यय-हारमें छाते हैं । पांचवें ज्योतिरंग कल्पवृक्षोंसे ऐसे चमकीले पदार्थोंको प्राप्त कर लेते हैं जिनसे कि सूर्य, चंद्रमा, शुक्र आदि विमानोंकी कांति भी छिप जाती है। इस ही कारण तीनों भोग भूमियोंमें अमिभूत सूर्य चंद्रमा आदि ज्योतिष्क्रमंडलका दर्शन नहीं होपाता है, जैसे कि दिनमें तारामंडल नहीं दीखता है। छठे दीपांग जातिके कल्पवृक्षोंसे चमकदार फले हुये लाल, हरे, पीले, दीपोंको तोड छाकर वे अपने घरमें घर छेते हैं । सातवें गृहांग जातिके कल्पवृक्ष तो रत्नमय कोठियां, कोट, महल. कमरा. आदि रूप करके परिणमते हुये फल जाते हैं। आठवें भोजनांग कल्पवृक्ष तो छह रस यक्त अमृतमय दिव्य आहार रूप होकर फलते हैं। नीवें भाजनांग कल्पवृक्ष सीने, चांदी, रलोंके बने हुये कलश, थाली, कटोरा, डेग, आदि रूप फल जाते हैं तथा दशवें वस्नांग, जातिके कल्पवृक्षांसे अनेक प्रकारके सुन्दर वर्षीको वे प्राप्त कर छेते हैं । ये पार्थिय कल्पवृक्ष इन पांचों भरत और ऐरावत क्षेत्रोंमें भोगभूमि सम्बन्धी व्यवहार कालको निमित्त पाकर उपज जाते हैं। कर्मभूमि सम्बन्धी व्यवहार कालकी प्रवृत्ति होनेपर विनश जाते हैं । किन्तु स्वर्ग, हैमवतक, देवकुरु, हरिवर्ष, सूर्यविमान, श्रीदेवी-गृह. भवनवासी या व्यंतरोंके भवन आदिमें ये कल्पवृक्ष सर्वदा बने रहते है। आजकल भी प्रायः सभी भोगोपभोगोंके उपयोगी पदार्थ इन्हीं एकेन्द्रिय बृक्ष या खानोंसे उपजते हैं। भूषण या प्रकाशके उप-योगी सुवर्ण, रत्न, आदि पदार्थ तो खानोंसे प्राप्त कर छिये जाते हैं। खानोंसे मही, पत्थर, कंकड, लोहेको लाकर सुन्दर, गृह, किले, कोठियां, महल, बना दिये जाते हैं। बृक्षोंकी लकडीसे किवाड बन जाते हैं । पुष्प या माला अथवा भोजन तो प्रायः वृक्ष या वेळोंसे ही प्राप्त किये जाते है । अन्तर इतना ही है कि कार्तिक मासमें गेंहू वो देनेपर इमको वैसाखमें फलकर छह या पांच महीने पश्चाद खेतसे गेंडू प्राप्त होता है और उस उस जातिके कल्पवृक्षोंसे अन्तर्मुहूर्त्तमें ही नियत अभिलाषित वस्तुकी इच्छा अनुसार प्राप्ति हो जाती है । इसमें कोई आश्चर्य नहीं है । कदाचित् किसी किसी व्यक्तिकी इच्छाओं अनु-सार तत्क्षण मलसाव (मृंतना हंगना) जंभाई लेना मद (नशा) हो जाना आदि क्रियांचे हो जाती हैं। जगत्के सम्पूर्ण कार्य अपने अपने कारणों द्वारा सम्पादित हो रहे हैं। अन्तर इतना हीं है कि कोई कार्य विलम्बसाध्य हैं। तथा पुण्यशालियों के अनेक कार्य क्षिप्र हो जाते हैं। वर्तमान कर्मभूमिमें भी उत्पाद प्रक्रियाका तारतभ्य देखा जाता है। इथिनी अठारह मही-नेमें प्रस्व करती है। गर्भधारणके तेरहमास पीछे उटिनी बचाको जनती हैं। घोडी बारह महीनेमें, मेंस दश महीनेमें, गायें या स्त्रियां नौ मासमें अपत्यको उपजाती हैं। छिरिया छह महीनेमें कुतिया तीन महीनेमें न्याय जाती हैं। गर्भ स्थितिके पश्चात् मुर्गी दश दिन पीछे अण्डा देना प्रारम्भ कर देती है। कबूतरी गर्भास्थातिके सात दिन पश्चात् प्रस्ता हो जाती है। भिन्न भिन्न ऋतु या न्यारी न्यारी देशपरिस्थिति अथवा विज्ञान प्रयोगप्रिक्रिया द्वारा शीलोष्णता अनुसार

उक्त कार मर्यादाने न्यूनता, अधिकता भी हो जाती है । निज्ञानप्रक्रिया द्वारा कबूतरी, मुर्गी, आदिका प्रसव शीघ भी करा दिया जा सकता है। पदार्थोंमें अचित्य निमित्त नैमित्तिक शक्तियां भरी हुई हैं। वर्षींके कार्य महीनोंमें और महिनोंके कार्य दिनोंमें तथा दिनोंके कार्य चण्टोंमें उपज जाते हैं। इस द्दीनताके तारतम्य अनुसार कल्पवृक्षोंसे भी उसी प्रकार उचित भोगोपमोगके योग्य पदायौकी प्राप्ति होजाती है। कल्पवृक्ष चाहे जो भी सभी पदार्थीको नहीं दे सकते हैं। आमके पेडपर अमरूद नहीं फळते हैं। इसी प्रकार पुत्र, गाय, घोडा, हाथी, मक्खी, चीटी, या चरखा, खात, कुडा, समाचारपत्र, पुस्तकों, अस्त, रास्त्र, आदि पदार्थीको वे दस १० जातिको कल्पवृक्ष नहीं दे सकते हैं। क्योंकि पुत्र आदि हे उपजानेकी उन कल्पवृक्षोंमें निमित्त नैमित्तिक शक्तियां या उपादान, उपादेय, व्यवस्थायें नहीं हैं। जब कि जगत्में पोरुषार्थिक या प्राकृतिक नियम अनुसार कार्योत्पत्तिमें अनेक विचित्रतायें द्यप्रेगोचर होरहीं हैं। छकडों या बैठगाडियों द्वारा जो मार्ग महीनोंमें परिपूर्ण किया जाता था रेलगाडियों या विमानों द्वारा वह मार्ग दिनों या घंटोंमें गमन कर लिया जाता है। मिनिटों या सैकिंडोंमें हजारों कोस दूर समाचार पहुंचा दिये जाते हैं। गुलाब शीघ उपजा लिया जाता है। उसका इन्छ दस गुना वडा कर छिया है। प्रयोगों द्वारा नीवकी कटुता न्यून कर दी जा सकती है। साङ्कर्य यानी कलम लगा देनेसे आम, लकाट, सन्तरों आदिकी दशायें परिवर्त्तित हो जाती हैं। दुर्बल मनुष्य अतिशीघ्र सबल और बलवान जीव प्रयोगों या औषधियों द्वारा शीघ्र निर्बल किया जा सकता है । तथा भूमियां ऋतुर्ये या फल्ने, फुल्ने, के न्यवहारकाल उपादान द्रन्य आदिके अनुसार प्राकृतिक नियमोंमें विलक्षणतायें हैं। बीज बोये जानेसे पचास वर्ष पीछे खिरनीका वृक्ष फलता है। अखरोट कदाचित् इससे भी अधिक समय छे छेता है। इमली, कटहर वपन होनेके पश्चात् बीस, पश्चीस, वर्षमें फलित होते हैं। आग्रफल पांच, छह वर्षके वृक्षपर ही आ जाते हैं। बीज डाळनेके दो वर्ष पीछे आडू या आछू बुखारे ये बृक्षपर लग जाते हैं। अरण्ड एक वर्षमें फल जाता है। बोये पीछे ग्यारह महीनेमें अरहर पक कर आ जाती है । गैंह पांच महीनेमें, बाजरा मका तीन महीनेमें, समा चावल दो महीनेमें फल दे देता है। भूमिमें बोये जानेके पश्चात् पोदीना पन्द्रह दिनमें, मेंथी तीन दिनमें और सणी एक दिनमें नवीन पत्ते दे देती है। इसी प्रकार कल्प बृक्षोंसे कुछ मिनिटोंमें हैं। नियत पदार्थ उपज जाते हैं। ताडबृक्षकी छाछ ताना बाना पुरे हुये वस्त्रके समान है। कई बृक्षींपर कटोरा कटोरी सरीखे पते या फूळ लग जाते हैं। तोरईका बाजा बजाया जा सकता है। छीकातुम्बी तो बीन, सितार, तमूरा, आदिमें उपयोगी हो रहे हैं। भाग, महुआ, ताडी, अंगूर, अफीम डोंडा आदि बूक्ष मदकारक पदार्थीके उत्पादक हैं। गेंह, चावछ, आम, अमरूद, केटा आदि भोतान्य पदार्थीके बुक्ष प्रसिद्ध ही है। बहुमाग बन्न कापीस बुक्षीके फलोंसे बनाये जाते हैं। दीपकके उपयोगी पदार्थ तो तिल, सरसंकि, बुक्षांसे या पार्थित खानोंसे ही प्राप्त होते हैं। पुरुलोंकी रगडसे चमकनेवाछी बिजली बन जाती है। बात यह है कि गम्भीर दक्षिसे विचारनेपर कल्पबक्षांसे

नियत बस्तुओं श्री प्राप्तिका सिद्धान्त पृष्ट हो जाता है। विशेषज्ञ पुरुष इसको अनेक अन्य युक्तियों द्वारा भी समझ समझा सकते हैं। अनेक स्थलोंपर मेरे लेखोंमें पुनरुक्त दोष आ गया है। किन्तु मन्द बुद्धि-बाले श्रोताओं को समझानेकी अपेक्षा वह दोष गणनीय नहीं है। प्रतिमाशाली विद्वानोंके लिये महर्षि-योंके प्रन्थों या स्वकीय जहापोइ द्वारा विशेष सन्तोत्र प्राप्त हो सकेगा । कोई कोई बात तो मूळ सूत्रमें और बार्चिकमें तथा उस वार्चिकके विवरणमें यों तीन बार एवं इनकी देश भाषा कर देनेपर तीनों बार इस प्रकार स्वतः विना प्रयत्नके छह वार आ गई है । युक्तियों द्वारा मन्द्बुद्धि शिष्योंको समझा-नैका उद्देश्य कर पुनरपि एकाध बार वही मन्तव्य पुनः पुनरुक्त हो जाता है तथा विशेष व्याख्यान करते करते कचित जैनसिद्धान्त जैनन्याय और जैन व्याकरणसे भी मेरा प्रमादवश या अज्ञानवश-स्वलन हो जाना सम्भव है। तथापि देशभाषा करनेमें बुद्धिपूर्वक कषाय ईर्षा, निह्न, मिध्याभिनिवेश, नहीं होनेसे स्वकीय संवेतना अनुसार कोई त्रुटि नहीं रक्खी गयी है। "सर्राष्ट्रज्ञानवृत्तानि धर्म धर्मे-भरा विदः " इस वाक्यका केवल प्रथमा, द्वितीया, विमक्तिका अर्थ करते हुये कोई पण्डित यदि " धर्मके ईश्वर सम्यग्दरीन ज्ञान चारित्रोंको धर्म जानते हैं।" इस प्रकार अर्थ कर देवे तो ऐसी दशामें ब्रुटि नहीं रह सकर्ता है, जैसे कि प्रामीण द्वअर स्त्री द्वारा पेट भरनेके लिय बनायी गयी केवल मोटी रोटीमें कोई बुटि नहीं निकाली जाती है। किन्तु नोंनके या मीटे कचौडी, सकलपारे, सेव, छड्डू, गृष्टा, घेवर, इमर्ती, गुलाबजामुन अथवा अनेक प्रकारकी तरकारियां आदि भोज्य पदार्थीमें कई श्रदियोंकी समाछोचना की जाती है। सभी प्राणियोंको सन्तोषके छोटे बढे उपाय प्राप्त हो ही जाते हैं । मुझे भी नीरक्षीरकी विवेचक हो रही इंस प्रकृतिको धारनेवाले उदात्त, गम्भीर, सञ्जन विद्वानोंसे सन्तोष प्राप्तिका सौभाग्य मिळा हुआ है। समझा जायगा जब कि त्रुटियोंपर लक्ष्य नहीं देते हुये वे प्रमेयका सुधार कर अध्ययन करेंगे। " विद्यते स न हि कश्चि-द्रपायः सर्वछोकपरितोषकरो यः। सर्वथा स्वहितमाचरणीयं किं करिष्यति जनो बहुजल्पः " यह किसी कविका वाक्य सर्वीगसुन्दर है। प्रकरणमें यही कहना है कि अनेक निमित्त कारण तो वर्षीमें कार्योको करते हैं, कितने ही कारण महिनों, दिनों, वण्टोंमें ही कार्यको बना देते हैं । आकाशमें अदृश्य उपादान कारणोंसे झट मेघ, बिजली, बादल, बन जाते हैं, उपादान कारणके विना जगत्का कोई भी कार्य नहीं उपजता है । शब्द, बिजली आदिके भी उपादान कारण है। भकें ही वे दीखें नहीं, यह हमारी निर्वछता है । कार्य कारण पद्धतिका कोई दोष नहीं है । अक्षीण महानस, ऋदिधारी मुनियों के किये जिस पात्रसे मिक्षा दी जाती है, उस भाजनसे चक्रवसीं की सेना भी भोजन कर है तो उस दिन उस पात्रका अन नहीं निवट पाता है । यहां भी छाखों मन असस्य उपादान कारण विद्यमान हैं। अंकुरके विना बीज और बीज विना अंकुर नहीं उपजता है। विश्वास भोगभूमि या स्वर्ग तो क्या मोक्षमें भी यदि अंकुर पाया जायगा तो उसका बाप बीज वहां प्रथमसे हीं मानना पडेगा । हां, विलम्ब या शीवताका अन्तर पड सकता है, कर्मभूमिके अपुण्यशाङी

जीवोंको जो पदार्थ वर्तमान वृक्ष या खानेंद्वारा वर्षी अथवा महीनोंमें प्राप्त (नसीब) होते हैं, किन्तु ये मोगभूमियोंके इक्ष अन्तर्मुहुर्त्तमें ही उन अधिक सुन्दर अभीष्ट पदार्थ रूप फल जाते हैं। यहां भी आमके हक्षांसे अमरूद या अनार नहीं मिछ सकते हैं । उसी प्रकार भोगभूमिमें भी वादित्रांग हुक्षोंसे मोजन या वस प्राप्त नहीं हो सकते हैं। उपादान उपादेय शाक्तिका या निमित्त नैमित्तिक भाव का कहीं भी अतिक्रमण नहीं हो सकता है, भोगभूमियोंमें अमृत रसके समान स्वादवाली चार अंगुल ऊंची और मुखकी वाफसे ही टूट जाय ऐसी कोमळ घास उपजती रहती है। गाय, मेंस, आदि पद्म उस घासको चरते हैं, वहांकी भूमियां बढी सुन्दर बनी हुई हैं । कहीं कहीं सिद्वीदार बावढी, सरोवर, नदियां, और जीडापर्वत भी विद्यमान हैं। नदीके किनारोंपर रत्नचूर्ण मिश्रित वालुके ढेर लग रहे हैं | जैसे कि आजकल भी कचित् वाल्में भुड मुड या चांदीके कण, माणिक रेती आदि पायी जाती है। मांस भक्षण नहीं करनेवाले और परस्परमें अविरोध रखते हुये वहां पंचैद्रियतियेच जीव भी 🕻 । चूहे, सर्प, नौखा, उल्लु, बगला आदि तिर्यच और विकल्प्य जीव अथवा असंझी जीव या नपुंसक पंचेद्रिय एवं जलचरत्रस ये भोगभूमिमें नहीं पाये जाते हैं। सभी मनुष्य तिर्यच विनीत, मन्दक-षाय, मधुरमाषी, कळाकुराळ, अमायाचारशाळ आदिसे संयुक्त है। इच्टवियोग अनिष्टसंयोग, स्वेद, ईर्षा, मात्सर्य, अनाचार, उन्माद, शरीरमङ, पसीना चिन्ता, रोग, जरा, कृपणता, भय, आदिसे रहित हैं । सर्वथा अच्छादश दोषोंसे रहित तो जिनेंद्र ही हैं । फिर भी आजकळके मनुष्य तिर्थेचों समान तीत्र रोग, चिन्ता, भय, क्षुधा, जरा, नहीं होनेसे देव या भोगभूमियां निर्जर, निर्भय, नीरोग, कह दिये जाते हैं। कर्मभूमिमें मनुष्य तिर्यंच या बतियोंको दान देनेसे या अनुमोदना करनेसे जीबोंकी उत्पत्ति भोगभूमिमें होती है। भरत और ऐरावतसे अतिरिक्त अन्य देवस्थानों या क्षेत्रोंमें तथा ढाई द्रापके बाहर असंस्थात द्वीपोंमें सदा एकसा प्रवर्तन रहता है । हां, उत्सर्विणी, अवसर्विणी, द्वारा मरत और ऐराक्त क्षेत्रोंमें विशेषतया इनके आर्य खण्डोंमें कर्मभूभिसे भोगभूमि और भोगभूमि काळसे कर्मभूमि काछकी परावृत्ति होती रहती है। भरत, ऐशवत, सम्बन्धी विजयार्थ पर्वत और म्लेच्छ खंडोंमें चौथ कालके आदि, अंत, सदश काल वर्तता है। मोक्षमार्ग चाल नहीं है। आर्य खंडमें सुषम-सुषमा कालकी प्रशासि होनेपर म्लेष्छ खंडोंमें शरीर पांचती धनुष और आयु कोटिपूर्व वर्ष है। तथा आर्य खंडोंमें दु:षमदु:पमा कालकी प्रश्ति होनेपर विजयार्थ और म्लेच्छ खंडोंमें शरीर सात हाथ और आयुः एक सौ बीस वर्ष होजाती है। जधन्य आयुः अन्तर्मुहूर्त है। श्वासके अठारहवें भागवाला अन्तर्मुन हुर्त नहीं छेना। इससे बडा अन्तर्मुहुर्त पक्तडना। क्योंकि इन विजयार्घ और म्लेच्छ खंडोंमें सम्यप्यांत ह मतुष्य नहीं हैं । बीस कोटाकोटी अद्वासागरके कल्प कालमें अठारह कोटा कोटी सागर तो भोग नृभि काल है और केवल दो कोटा कोटी सागर कर्मभूमि रचनाका काल है। कर्मभूमिका प्रारम्भ होते ही ये पार्थिव कल्पवृक्ष नष्ट होजाते हैं। मोगभूमिक प्रारम्भमें पुनः उपज जाते हैं, जैसे कि यहां इस कार्कमें भी कितने ही पर्वत उपजते बिनसते रहते हैं। किन्तु बीजसे उपजने वाले वृक्षोंकी संतान नहीं

नष्ट होती है। क्योंकि कारणके विना कार्य नहीं उपन्न होसकता है। हां, मनुष्योंकी आयु अवगाहना आदिके समान कृतोंकी आयु या अवगाहना न्यून अधिक होती रहती है, जैसे कि भोगभूमियां मनुष्य तीन, दौ, एक, कोस ऊंचे या हाथी छह, पांच, चार कोस ऊंचे अथवा वृक्ष तीस, बीस, दश कोस होते हैं, उसी प्रकार घटते, घटते, हुये इस समय मनुष्य साढे तीन हाथ, हाथी दस हाथ, हुन्न बीस प्रचास, हाथ, ऊंचे रह गये हैं। हां, किसी परार्थमें घटी, बढ़ीका तारतम्य अधिक है और किसीमें क्यून है। गेंहू, चावछों, आदिके वृक्षोंमें उस त्रैराशिकके अनुसार हानि या वृद्धि नहीं होती है। धोडा कंतर अवस्य पड जाता है। चतुर्निकाय देवोंके या अन्यत्र स्थानोंपर पार्थित कल्पवृक्षोंके अतिरिक्त कल्पवृक्षों का पाये जाते हैं। अछम् विस्तरेण।

विदेहेषु किंकाळा यतुष्या इत्याह ।

कोई विद्यार्थी प्रश्न करता है कि विदेह क्षेत्रोंमें कितने आयुष्य काळको धारने वाळे मनुष्य निवास करते हैं ? ऐसी विनीत शिष्यकी तत्त्वबुमुत्सा होनेपर श्री उमाखामी महाराज आप्रिम सूत्रको कहते हैं ।

विदेहेषु संख्येयकालाः ॥ ३२ ॥

पांचों महाविदेहोंमें अथवा पांच मेरु सम्बन्धी एक सौ साठहू विदेहोंमें छौकिक गणना अनुसार संख्या करने योग्य आयुष्य काळतक जीवित रहने वाळे मनुष्य निवास करते हैं ।

संख्येयः कालो येषां ते संख्येयकालाः संवत्सरादिगणनाविषयत्वात्तत्कालस्य ।

जिन मनुष्योंका जीवन काल संख्या करने योग्य है, वे मनुष्य " संख्येयकाल " हैं। क्योंकि वर्ष, दिन, मास, आदि करके गिनी गयी गणनाका विषय हो रहा वह काल है। मावार्थ—विदेह क्षेत्रोंमें सर्वदा अवसर्पिणीके तीसरे काल सुषमदु: प्रमाके अन्त समान काल व्यवस्थित रहता है। मनुष्योंके शरीर पांच सौ धनुष ऊंचे हैं। नित्य एक बार भोजन करते हैं। जधन्य रूपसे मनुष्योंकी आयु: अन्त-मृहूर्च है और उत्कृष्ट रूपसे वे एक कोटि पूर्व वर्षतक जीवित रहते हैं। चौरासी लाख वर्षका एक पूर्वाङ्ग होता है और चौरासी लाख पूर्वाङ्गोंका एक पूर्व होता है। ऐसे करोड पूर्वतक विदेह क्षेत्रवासी मनुष्य जीवते हैं। हाथी, वोडे, मैंसा, बैल आदिकी आयुओंको इसी प्रकार समझ लेना चाहिये। विदेह क्षेत्रमें द्रव्य रूपसे जैन धर्मका विनाश नहीं होता है। सदा जैन धर्मकी प्रवृत्ति बनी रहती है। भावोंमें मलें ही मिथ्याल हो जाय।

अथ प्रकारांतरेण भरतविष्कंभमतिपन्त्यर्थमाह ।

अब श्री उमास्त्रामी महाराज दूसरे प्रकारसे भरत क्षेत्रकी चौडाईको प्रतिपादन करनेके छिये अप्रिम सूत्रको कह रहे हैं।

भरतस्य विष्कंभो जम्बद्वीपस्य नवतिशतमागः॥३३॥

भरत क्षेत्रकी दक्षिण, उत्तर, जीकई जम्मूडीपके एक सी नजीवें भाग परिमाण है। अर्थात्— प्रथम स्थानको एक नग (अदत) मानकर उससे परखी ओरके सात स्थानोंतक दूना दूना विस्तार किया जाय। पुनः सातवें स्थानसे छह स्थानोंतक आधा आधा विस्तार किया जाय, ऐसी दशामें वे सम्पूर्ण नग (डाग) एक सी नज्वे हो जाते हैं। अतः सम्पूर्ण जम्मूहीपमेंसे भरत क्षेत्रकी जीढाई एक सी नजीवें भाग आ जाती है।

नवत्याधिकं सतं नवतिसतं नवतिसतेन स्रम्भी भागो नमित्रतसागः । अत्र तृतीयांत-पूर्वादुक्तरपदे लोपश्रेत्यनेन द्वतिर्द्ध्योदनादिवत् । स पुनर्नवतिसतभागो जंबृद्दीपस्य पंचयोजन सतानि पद्विसानि पद्वैकाअविसतिभागा योजनस्येत्युक्तं वेदितस्यं । पुनर्भरतिष्कंभवचनं मकारांतरमतिपस्वर्यग्रुक्तरार्थे वा । तदेवं—

नवतिसे अधिक रात यों मध्यम पद छौपी समास कर " नवतिरात " यह पद बना लिया जाता है। एक सी नन्त्रे भाजक द्वारा प्राप्त दुये भागको नवतिरातमाग कहते हैं। यहां " तृतीयांत-पूर्वादुत्तरपदे लोपश्च " इस सूत्र करके समासवृति हो जाती है। जैसे कि " दर्भा उपसिक्तमोदन दम्योदनं ,, " गुडेन सकाः धानाः गुडधानाः, वृतेन संयुक्तो घटः वृतघटः " इत्यादि स्थलें।पर मध्यम पदोंका छोप करते हुये सामर्थ्य प्राप्त कर तत्पुरुष समास कर दिया जाता है। उसी प्रकार "नवत्या" इस तृतीयान्त पद है पूर्व वृत्ति होनेपर उत्तरवर्ती शत पद के परे रहते समास होजाता है और अधिक इस पदका छोप होजाता है। फिर वह एक जास कोजन चीहै अंबुद्धीपका एकसी नन्वैमां भाग तो पांचसौ छन्त्रीस पूरे योजन और योजनके छह उन्नीसने भाग हैं। इस बातको पूर्व सूत्र द्वारा कहा जा चुका समझ छेना चाहिये। जब कि " भरतः षड्विंशतिपंचयोजनशतविस्तारः षट् चैकोनविंशतिभागा योजनस्य " इस सूत्र द्वारा भरतका विस्तार कहा ही जा चुका था। अब जो फिर भरतका विष्कंभ कहा जारहा है वह शिष्यबुद्धि वैशद्यार्थ अन्य प्रकार करके प्रतिपत्ति करानेके लिये है अथवा उत्तरवर्ती " हिर्घातकी खण्डे, पुण्करार्धे च " सूत्रों करके जो प्रमेय कहा जायगा। उसका अभिरंबंध करनेके छिये यह सूत्र कहा गया है। भावार्थ-जंबूद्वीपमें चौरासी शलाकार्ये पर्वतोंकी और एकसी छह शकाकारों क्षेत्रोंकी यों एकसी नन्त्रे माग हैं। धातकी सम्बंध दो महसम्बन्धी बारह कुळाचळ और चीदह क्षेत्र हैं। सभी कुछाचछ और दो इन्याकार पर्वतोंसे चिरे इये स्थानसे अवशिष्ट स्थळमें चौदह क्षेत्रोपयोगी दो सी बारहका माग देनेसे एक मरतक्षेत्रका स्थान निकलता है। यो ही पुष्करार्धके मर-तका क्षेत्र जान केना । इसी संबंधको जतानके किये इस सूत्रका निर्माण किया है । तिस कारण इस प्रकार होनेपर:---

तत्सेत्रवासिनां नृणामायुषः स्थितिरीरिता । सूत्रत्रयेण विष्कंभो भरतस्यैकसूत्रतः ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराजने " एकदित्रिपल्योपमस्थितयो हैमवतकहारिवर्षकदैवकुरुवकाः, तथोत्तराः, विदेहेषु संख्येयकाळाः " इन तीनों सूत्रों करके उन क्षेत्रोंमें निवास करनेवाळे मनुष्योंके जीवित काळकी स्थितिको कह दिया है और " भरतस्य विष्कम्भो जम्बूदीपस्य नवतिशतभागः " इस एक सूत्रसे भरतकी चौढाई कह दी गयी है।

तनृणामित्युपस्रक्षणात्तिरश्चामपि स्थितिरुक्तेति गम्यते ।

जैसे "काकेम्यो दिव रक्ष्यतां " यहां काकपद सभी दिविक उपधातकोंका उपलक्षण है, यानी काकपदि दहीको बिगाडनेवाले अन्य पशु, पक्षी, छोकरा आदि सर्व ही पकड लिय जाते हैं। उसी प्रकार उक्त वार्तिकमें कहे गये " नूणां " यानी उन क्षेत्रनिवासी मनुष्यों यह पद उपलक्षण है। इस कारण वहांके पंचेदिय तियेचोंकी स्थिति भी उन ही तीन सूत्रों द्वारा कह दी गयी, यों समझ लिया जाता है।

धातकीखंडे भरतादिविष्कंभाः कथम् श्रमीयत इत्साइ।

धातकी खण्ड द्वीपमें भरत आदि क्षेत्रोंकी चौडाई मला किस प्रकार अच्छी नापी जाती है ? यो जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

द्विर्धातकीखण्डे ॥ ३४ ॥

दूसरे द्वीप धातकी खण्डमें क्षेत्र, पर्वत, कमल, हद, निदयां आदिक संख्या द्वारा जम्बूदीपकी अपेक्षा दो दो होकर दुगुने नापे जाते हैं। अर्थात्—दो मेरु सम्बन्धी क्षेत्र पर्वतादिकी संख्या दूनी है तथा चौडाई भी दुगुनीसे कथमपि न्यून नहीं है।

नतु च जंबृद्दीपानंतरं छवणोदो वक्तव्यस्तदुर्छघने प्रयोजनाभावादिति चेषा, जंबृद्दीप-भरतादिद्दिगुणधातकीखंडभरतादिमतिपादनार्थत्वात्, छवणोदवचनस्य सामर्थ्यछन्धत्वाच । महीतळमूळयोर्दश्रयोजनसङ्खविस्तारो छवणोदः।

यहां श्री विद्यानन्द स्वामीके प्रति कोई शिष्य अनुनय करता है कि कृपासागर सूत्रकार महाराजजीको तेतीसवें सूत्रतक जम्बूद्धीपका वर्णन करनेके पश्चाद चौंतीसमें सूत्रमें छवणसमुद्रका निरूपण करना चाहिये था। उस छवणसमुद्रके वर्णनको उछुंचन करनेमें उनका कोई विशेष प्रयोजन नहीं सधता है, जिससे कि धातकी खण्डका वर्णन झट मध्यमें आ कूदे। अब प्रन्थकार कहते हैं कि यह

तो नहीं कहना। न्योंकि जम्बूदीप सम्बन्धी भरत आदि क्षेत्र या पर्वत, नदी, कुण्ड, आदिकोंसे संख्यामें दुराने धातकी खण्ड सम्बन्धी भरत, हिमवान् , गंगा, गंगाकुण्ड, आदि हैं। इस सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिये धातकी खण्डका वर्णन सप्रयोजन हैं। दूसरी बात यह है कि " तन्मन्यपतितस्तद्प्रह्णेन गृह्यते " इस नीतिके अनुसार जम्बूद्वीप और धातकी खण्डकी वर्णना कर देनेसे छवणसमुद्रका निरूपण तो बिना कहे ही पूर्वापर अभिधानकी सामर्थ्यसे ही स्वतः छन्ध हो जाता है। सर्वह सम्प्रदायका अति-कमण नहीं कर आम्नायसे प्राप्त हो रहे आगमों द्वारा या गुरुपरिपाटी द्वारा छवण समुद्रका स्वरूप इस प्रकार समझ छेना चाहिये कि समभूमितलपर एक लाख योजन चौडे जम्बूद्वीपका परिक्षेप करनेवाले कंकण समान लवण समुद्रकी चौडाई दो छाख योजन है। गायोंके जल पीनेके घाट समान कमसे गृहरा होता हुआ उरलीपार, परली पार दोनों ओरसे पिचानवै हजार योजन तिरछा चलकर हजार योजन गहराई रखता हुआ बजा पृथ्वीके ऊपर और चित्रा पृथ्वीके अधस्तत्में छ्वण समुद्र नीचे दश हजार योजन चौडा हो गया है। " पुष्णिदिणे अमनासे सोलक्कारससहस्स जल उदयो, नासं महभूमीए दसम सहस्सा य वे छक्खा '' इस गाया अनुसार चित्राके उपरिम भूमितछसे सदा ग्यारह हजार योजन जलकी ऊंचाईको धारने बाले लवण समुद्रका क्रमसे बढ़ता हुआ जल पूर्णिमाको सोलह हजार योजनतक ऊंचा उठ जाता है। वहां ऊपर जलतलकी चौडाई दस हजार योजन है। अतः लवण समद्रक्ष्पी कंकणको कहींसे भी काट कर यदि तिरक्षा देखा जाय तो उसका कटा हुआ आकार सर्वत्र मूदंग सारिखा मिलेगा । लवण समदके अतिरिक्त और किसी भी समुद्रका जल चित्राके समतलसे ऊंचा उठा हुआ नहीं है। हां, वेदिके परें उरले परले द्वीपसे पोखरियाके समान क्रमसे तिरला निम्न होरहा हजार योजन जल उनमें भरा हुआ है। लक्षण समुद्र सम्बन्धी सूर्य चंद्रमा या इतर ज्योतिष्क्रमण्डलका कवण जलमें ही संचार होता रहता है मळिटियोंके समान देवों और देवविमानों या चैतन्य, चैत्यालय, आदि पदार्थोंको हानि नहीं पहुंचती है। जैसे कि वायु समुद्रमें इब रहे अस्मदादिकोंको वायु द्वारा कोई क्षति नहीं पहुंच पाती है । ज्योतिष्क विमानोंके कचित् स्थलोंमें प्रयोगों द्वारा जलका अवरोध भी कर दिया जाता है। समद्रमें चरने वाले मछली, मगर, आदि जीवोंके शरीरोंमें भी तो जलावरोधके निमित्त विद्यमान है। इम लोग भी फैली हुई वायुका यथायोग्य न्यूनाधिक प्रवेश या अवाञ्क्रनीय अप्रवेश कर छेते हैं।

तन्यच्ये दिश्च पातास्त्रानि योजनश्चतसङ्ख्यानगाङ्गानि, विदिश्च श्चद्रपातास्त्रानि दश्चयोजन सङ्ख्यानगाङ्गानि, तदंतरे श्चद्रपातास्त्रानां योजनसङ्ख्यानगाङ्गानां सङ्खं ।

उस छवण समुद्रके ठीक मध्यमें चारों दिशाओंमें चार पाताछ बने हुये हैं, जो कि जंबूद्रीपकी रक्षवेदिकासे पिचानम्बे हजार योजन तिरक्ष चाछकर रत्नप्रभा भूमिक कुठिया या कुआ समान विवर हैं। इन चारोंकी गहराई एक छाख योजन हैं। इन गोछ पाताछोंकी अधस्तछ और उपरितल्में चौडाई दश हजार तथा मध्यमें एक लाख योजन है। उंची खडी कर दी गयी ढोळक या पखबाजकासा

इनका आकार है। इनकी पांचसी योजन चौडी मीतें और तल वन्नमय हैं। मध्यलेंक सम्बन्धी सम्पूर्ण हर्य, अलंब, अवयवी, पदार्थोमेंसे ये ही पाताल चित्रा पृथ्वीके नीचे तक चले गये हैं। वन्ना, बेह्यं, यहांतक कि लोकके अन्त तक फैल रही रक्षप्रभाके सोलह हजार योजन मोटे पूरे खर पृथ्वीभाग और चौरासी हजार योजन मोटे पंकबहुलमागतक ये पाताल घुस गये हैं। उन महापातालोंके तिहाई नीचले तेतीस हजार तीनसी तेतीस और एक बटे तीन योजन भागमें वायु भरा हुला है। मिक्कों तीसरे भागमें वायु और जल ठस रहे हैं। उपरले त्रिभागमें जल है। कितिपय निमित्तों द्वारा वायुका सेक्ष्में हो जानेसे समुद्र जलकी बृद्धि हो जाती है। इन चार महा पातालोंके ठीक मध्य विदिशाओंमें चार क्षुद्र पाताल दश हजार योजन गहरे अन्य भी हैं। जो कि मुख और मूलमें हजार योजन तथा मध्यमें दश हजार योजन चौडे हो रहे मुरज समान हैं। इनमें भी निचले त्रिभागमें वायु और बिचले त्रिभागमें जल, वायु मिलकर दोनों तथा उपरिम त्रिभागमें केवल जल मर रहे हैं। उम दिशा, विदिशाओंमें बन रहे पातालोंके आठों अन्तरोंमें हजार योजन गहराईको धार रहे अति क्षुद्र पातालोंकी सहस्र संख्या और भी समझ लेनी चाहिये। इन हजार पातालों (बढवानलों) की मध्यमें चौडाई हजार योजन और मुख या मूलमें पांचसी योजन चौडाई है। इनके तीन त्रिभागोंमें भी यथाक्रम नीचेकी ओरसे वात और जल, वायु, तथा जल भर रहे हैं। जो कि समुद्रके जलकी वृद्धि या हानिमें सहायक हैं। ये सम्पूर्ण पाताल जनादि अनिधन हैं।

दिश्च वेलंधरनागाधिपतिनगराणि चत्वारि द्वादशयोजनसङ्ख्रायामविष्कंभो गौतमद्वीप-श्रेति श्रूयते ।

जम्बूदीपके अन्तिम भाग हो रही राजवेदिकासे तिरछे वियालीस हजार योजन चलकर चारों दिशाओं में समुद्रकी वेलाको धारनेवाले नागकुमाराधिपति भवनवासी देवोंके चार नगर बने हुये हैं। जिनमें निवास करनेवाले हजारों भवनवासी देव स्वकीय नियोग अनुसार लवणसमुद्रकी अभ्यन्तर वेला, बाह्यवेला, और अप्रजलको वहांका वहीं नियत स्थानोंपर रोक कर धार रहे हैं। उचित हानि, या हृद्धिके सिवाय उठे हुये जलको इधर उधर नहीं गिरने, फैलने, उछलने देते हैं। यहापि निश्चयनय अनुसार सभी पदार्थ अपने अपने स्वक्रपको धार रहे हैं। जलकी बूंद या कटोराका पानी यों भी कुछ ऊपर उठा हुआ रह सकता है। तथापि व्यवहार नय अनुसार कतिपय बादर पदार्थोंके अवलम्ब हो रहे यथा व्यवस्थित पदार्थोंका आचार्य महाराजने निरूपण कर दिया है। राजवेदिकासे तिरछे बारह हजार योजन चलकर बारह हजार योजन लंबा चौडा गोल " गौतम " नामका द्वीप लवण-समुद्रके विद्यान है, जिसमें लवणसमुद्रके अधिपति गौतम देवका निवास है। जवण समुद्रके तटसे पिचानवे हजार योजन चलकर समुद्रकी गहराई हजार योजन होगई है। अतः पिचानवे प्रदेशोंपर एक प्रदेश गहरा, पिचानवे हाथ चलकर एक हाथ गहरा, पिचानवे कोस तिरछा चलकर एक कीस गहरा, इस क्रमसे समुद्रकी गहराई मिछती चली जायगी। नीचे जाकर मध्यमें दश हजारकी चौडाईपर

हजार योजनकी गहराई है। इससे अधिक गहराई कहीं नहीं है। छवण समुद्रमें जैन्द्रीपकी और बोबीस और धातकी द्वीपकी और चोबीस यों कुभोगभूमियोंक अडताछीस द्वीप अन्य भी बने हुये हैं। मागब आदि भी कई द्वीपोंकी रचना है, इत्यादिक करणानुयोग सम्बन्धी सिद्धान्त तो सर्वज्ञ आम्नात शाकों द्वारा या साम्प्रदायिक ऋषियों द्वारा सुना जा रहा है। इस आर्ष सिद्धान्तमें किन्हीं प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंसे बाधा नहीं उपस्थित होती है। बाधकासम्भवते अतीन्द्रिय पदार्थोकी भी निर्विवाद, अवि-सम्बादिनी, सिद्धि हो जाती है।

नतु च पूर्वपूर्वपरिक्षेपिद्दीपसग्रद्भमाश्वकतत्र सामध्यां जंबृद्दीपपरिक्षेपी छवणोदो हायते सामान्यत एव । तद्विशेषास्तु कयमजुक्ता इहावसीयंत इति न शंकनीयं, सामान्यगतौ विशेष-सद्भावगतेः सामान्यस्य स्वविशेषाविनाभावित्वात् संक्षेपतः सूत्राणां अवृद्धेः सूत्रैस्तद्विशेषान-भिधानं जंबृद्दीपादिविशेषानाभिधानवत् । वार्तिककारादयस्त्वर्याविरोधेन तद्विशेषान् सूत्रसाम-ध्याङ्घ्यानाचक्षाणा नोत्स्त्रवादितां छभते ' व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिनिहि संदेहादछक्षणम् ' इति वचनात् ।

यहां किसीका शंका अनुसार आक्षेप है कि इस तृतीय अन्यायके सातवें, आठवें, सूत्र अनुसार पूर्वका परिक्षेप करनेवाले असंख्य द्वीप समुद्रोंका प्रकाश किया जा चुका है, उनमें जंबूद्वीपका परिक्षेप करनेवाळा लवणसमृद तो सामान्यरूपमे विना कहे सामर्थ्यसे ही जान लिया जाता है। किन्तु उस ञ्चणसमुद्रके पाताल, क्षुद्रपाताल, द्वीप, कुभोगभूमि ये विषेष तो यहां सूत्रोंद्वारा नहीं कहे गये हैं, फिर बिना कहे ही उन विशेषोंका निर्णय कैसे कर लिया जाता है ! बताओ । प्रथकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि सामान्य रूपसे ज्ञाति होचुकने पर उसके विशेष अंशोंके सद्भावकी भी परिन्छिति होजाती है। कारण कि सामान्य अर्थ अपने विशेष अर्थोंके साथ अविनाभाव रखने वाळे होते हैं। " निर्विशेषं हि सामान्यम् भवेत् खराविषाणवत् " । कोई मनुष्यसामान्य या घोडा सामान्य अपने उचित विशेषोंसे रीता होकर अकेषा अषायधि नहीं देखा गया है। जैन सिदांतमें पदार्थको सामान्य विशेषात्मक स्वीकार किया गया है। हां, शहोंके संक्षेपसे सूत्रोंकी प्रवृत्ति होती है। अतः अनेक छोटे छोटे विशेष अयोके प्रतिपादक सत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने लवण समद्रके उन विशेषोंका कंठोक्त निरूपण उसी प्रकार नहीं किया है, जैसे कि जंबूहीपके मदसाल, देवारण्य, भूतारण्य, आदि वनों, विजयार्थ यमकादि, बूचभाचल, गजदंत, वेदाव्य आदि पर्यतों, या उन्मग्रनला, निमग्रज्ञा, विभेगा आदि नदियों तथा अन्य अन्य शालमछी वृक्ष, नेदी, पाण्डुक शिला, म्लेन्छ खण्ड, खण्डप्रपातगुहा आदिका सूत्रों द्वारा पृथक् पृथक् निरूपण नहीं किया गया है। अर्थात्—यों सभी विदेशनेंका सूत्रों द्वारा निरूपण करने पर मूळ सूत्रप्रत्यका अत्यक्षिक विस्तार होजायगा । फिर टीका... प्रत्य किस रेगा की औषाधि हैं । बताओं तो सही । इस तत्वार्थसूत्र की समीचीन टीकाओं या त्रिलोक. सार, जंबूदीपप्रज्ञति, आदि प्रंथोंकी रचना करने वाले आचार्योंके वचन भी प्रमाण हैं। सिद्धांत अर्थके अविरोध करके सूत्रोंकी सामर्थ्यसे विना कहे ही प्राप्त होचुके उन उन विशेष अर्थोंका व्याख्यान कर रहे वार्ति ककार श्री अकलंक देव, श्री विद्यानन्द खामी अथवा अन्य श्री नेमिचन्द सिद्धांतचक्रवर्ती, श्री वीरनन्दी सिद्धांतचक्रवर्ती, आदि प्रकाण्ड विद्वान् तो उत्सूत्रवादीपन दोषको नहीं प्राप्त होजाते हैं। अर्थात्—जो परमागम सूत्र सिद्धांतोंका उल्लंचन कर मनमानी झूंटी सांची गणोंको झांकते हैं वे उत्सूत्र भाषी हैं। किन्तु श्री अकलंक देव, श्री नेमिचन्द्र महाराज आदि आचार्य तो गुरुपरिपाटी अनुसार उन्हीं सिद्धांत सूत्रोंका स्वकीय प्रंथोंमें व्याख्यान करते हैं। लोकमें प्रसिद्ध होरहा यह वचन है कि व्याख्यान कर देनसे परिज्ञात सामान्य अर्थके विशेषोंकी प्रतिपत्ति होजाती है, संदेह कर देनसे वह सामान्य रूपसे सिद्धांतित कर दिया गया लक्षण कोई कुलक्षण या लक्षणामाव नहीं होजाता है। हां, यह लक्ष्य रखा जाय कि वह अतीन्द्रिय पदार्थोंका निरूपण दृष्ट, इष्ट, और पूर्वापार प्रकरणोंस अविरुद्ध होना चाहिये। कोई भी विचारशील विद्वान् सर्वज्ञधारासे चले आरहे प्रमेयका प्रातिपादन करदे वह उत्सूत्रभाषीपन दोषका पात्र कालप्रयमें भी नहीं होसकता है।

नतु च धातकीखंडे द्वी भरती द्वी हिमवंतावित्यादिद्रव्याभ्यादृती द्विरित्यत्र सुजसंभव इति चेश्व, मीयंत इति कियाध्याहारात् द्विस्तावानिति यथा, तेन धातकीखंडे भरतादिवर्षो-हिमवदादिवर्षभरश्च द्वदादिश्च द्विमीयत इति सुत्रितं भवति ।

यहां कोई पण्डित दूसरे प्रकारकी शंका उठाता है कि धातकी खण्डमें दो भरत क्षेत्र हैं। दो हिमबान् पर्वत हैं, दो हैमबत क्षेत्र हैं, दो महाहिमबान् पर्वत हैं, इत्यादि रूपसे इव्यक्ती अभ्याद्यति करनेपर द्विर् इत पदमें सुच् प्रत्यय करने का असम्भव है। क्योंकि " दित्रिचतुर्भ्यः सुच् " इस सूत्र अनुसार कियाकी अभ्याद्यति गिननेमें सुच् प्रत्यय हो सकता है। भरत हिमबान् आदि इव्योंके बार बार गिननेमें सुच्पत्ययका विधायक कोई व्याकरणका सूत्र नहीं है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि " मीयंते" यानी नापे जा रहे हैं, इस कियाका अध्याहार अर्थात् उपस्थित उपस्कार कर केनेसे उसी सूत्र द्वारा सुच्क्रत्यय कर किया जाता है, जैसे कि यह प्रासाद (इवेर्छा) उस परिनाणवाळा दो बार है। इस वाक्यमें " नापा जाता है " इस कियाका अध्याहार कर दो बार उतना नापा जाता है। यों दिस्तावान् पदमें सुच् प्रत्ययकी घटना हो जाती है। उसी प्रकार " दिर्धातकीखण्डे" यहां भी संख्यावाची दि शहसे कियाकी पुनरावृत्ति गिननेमें सुच्पत्यय तिहतवृत्तिमें कर किया जाता है। तिस करके धातकी खण्डमें भरत, हैमबत, आदिक क्षेत्र हिमबान्, महाहिमबान्, आदि पर्वत तथा हद, नदी, मेरु, आदि दो, दो होकर संख्या दारा नापे जाते हैं, यह मूत्र द्वारा अर्थ उक्त हो जाता है।

कियान् पुनर्धातकीखण्डे भरतस्य विष्कंभ इत्युच्यते-पट्षष्टिश्चतानि चहुर्दशानि योजनानामेकाकार्त्रिश्च भागश्चतं योजनस्याभ्यंतरविष्कंभः। सैकाश्चीतिपंचश्चताधिकद्वादश्च- सहस्राणि पद्त्रिश्च भागा योजनस्य मध्यविष्कंगः । सप्तचत्वारिशत्यंचशताधिकाष्टादश-सहस्राणि योजनानां पंचपंचाश्च भागशतं योजनस्य बाह्यविष्कंभः ।

कोई जिज्ञास पछता है कि श्री विधानन्द ख़ामिन महाराज ! यह बताओ कि धातकी खण्डमें भरत क्षेत्रकी चौढाई भछा कितनी है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर प्रन्थकार करके यों उत्तर कहा जाता है कि छह हजार छह सी चौदह पूरे योजन और एक योजनके दो सी बारह भागोंमें एक सी उन्तीस भाग इतना धातकी खण्डके भरतका अभ्यन्तर विष्कंभ है। बारह हजार पांच सी इक्यासी योजन और योजनके छत्तीस बटे दो सी बारह भाग धातकी खण्डके भरतका मध्यम चीडाई है तथा अठारह हजार पांच सी सेतालीस और एक सी पचपन बटे दो सी बारह योजन धातकी खण्डके भरतका बाह्य विष्कंभ है। मावार्य-धातकी खण्डका भीतरका व्यास पांच लाख है। वही लवण समुद्रका अन्तिम व्यास है। मध्यम व्यास नी लाख और धातकी खण्डकी बाह्य सूची तेरह लाख योजन की है। '' विक्खंभवगगदहगुणकरणी बद्दस्स परिरयो होइ " स्थलपरिधि न्याससे तिगुनी समझी जाती है। किन्त सूक्ष्म परिधि तो न्यासके वर्गको दश गुना करनेपर पुन: उसका वर्गमूल निकाला जाय तब ठीक बैठती है। पांच लाखके वर्गके दश गुने प्रचीस खर्व संख्याका वर्गमूळ निकाळनेपर पन्द्रह लाख इक्यासी हजार एक सौ उन्तालीस (१५८११३९) योजन धातकी खण्डकी अभ्यन्तर परिधि बैठती है। इन्यासी खर्व (८१००००००००) का वर्गमूळ निकाळनेपर अद्वाईस ळाख छियालिस हजार पचास (२८४६०५०) योजन धातकी खण्डकी मध्यम परिधि आती है। धातकी खण्डके बाह्य व्यास तेरह लाखके वर्गके दश गुने एक नील उन्हत्तर खर्व (१६९००००००००) का वर्गमूल निकाला जाय तो इकतालीस लाख दश हजार नौ सौ इकसरु (४११०९६१) योजन धातकी खण्डकी बाह्य परिधि आ जाती है। जम्बृद्धीपमें जैसे पर्वत या क्षेत्रोंका विन्यास है वैसा धातकी खण्डमें नहीं है । परे पहियाके समान धातकी खण्डमें अरोंके स्थानपर पर्वत पड़े हुये हैं । और (अरविवर) रीते स्थानींपर भरत आदि क्षेत्र रचे हुये हैं । जम्बूद्वीपमें हिम-वान, महाहिमवान, आदि पर्वतोंकी जितनी चौदाई है, उससे ठीक दूनी धातकी खण्डके हिमंत्रान आदि पर्वतोंकी चीडाई है। धातकी खण्डमें भी हिमनान आदि पर्वत भीतके समान नीचे ऊपर एकते और छवण समुद्रके अन्तिन भागसे प्रारम्भ कर कालोदानि समुद्रके आदि भागतक समान एकसी चौडा-**ईको किये हुये उम्बे पडे हुये हैं। पूर्व धातकी खण्ड और पश्चिम धातकी खण्ड ये दो विभाग कर**-नेके लिये धातकी खण्डके दक्षिण और उत्तर प्रान्तमें हजार योजन चौड़े चार सौ योजन ऊंचे चार बाख योजन लम्बे ऐसे दो इण्ताकार पर्वत पडे इये हैं। जम्बूदीपके पर्वतोंसे धातकी खण्डके हिमवान आदि पर्वतोंकी चौडाई ठीक दूनी है और पर्वतोंकी संख्या भी दूनी है। प्रस्युत दो इन्त्राकार पर्वत और भी अधिक हैं। जम्बूदीपमें छह पर्वत हैं तो भातकी खण्डमें दो इचाकारों सहित चौदह पर्वत हैं। जम्बूदीपमें हिमबान् आदि पर्वतोने दक्षिण, उतर, चश्राठीस इजार दो सौ दस और दस बटे उन्नीस योजन आकाशको घेर रक्ता है। छहाँ पर्वतीकी शलकार्य चौरासी हैं। एक सौ नब्दै शलकाओंके लिये

जन्द्र पिमें एक छाख योजन क्षेत्र मिछे तो चौरासी श्रष्टाकाओं में कितना क्षेत्र विर जायगा ! को औरा-शिक करनेपर पर्वतोंसे अवरुद्ध हुआ उक्त संख्याबाला क्षेत्र निकल आता है। धातकी खण्डके संख्यामें और चींबाईमें दुगुने पर्वतोंसे रुके हुये क्षेत्रको निकालनेके लिये जम्बूदीपके उक्त पर्वतावरुद्ध क्षेत्रको चौराना कर देनेपर एक छाख छिहत्तर हजार आठ सी नियालीस और दो बटे उजीस योजन क्षेत्र निकलता है। इसमें दो इत्याकार पर्वतोंकी दो हजार योजन चौडाईको मिला देनेपर धातकी खण्डमें पर्वतोंसे घिरा हुआ एक छाख अठत्तर हुजार आठ सी बियाछीस (१७८८४२) योजन क्षेत्र हुआ। अंश (बटे) संख्याकी विवक्षा नहीं है। जम्बूद्वीपमें सातों क्षेत्रोंकी एक सौ छह रालाकार्ये हैं। इनसे दूनी दो सौ बारह रालाकायें धातकी खण्डमें क्षेत्रोंकी हैं। क्योंकि क्षेत्रोंकी दूनी यानी चौदह संख्या है। उन अभ्यंतर, मध्य और बाह्य तीन प्रकारकी धातकी खण्ड द्वीपसम्बन्धी परिधियोंमेंसे पर्वत रुद्ध क्षेत्रको घटाकर शेष बचे क्षेत्रमें दो सौ बारहका भाग देनेपर और भरतके छिये नियत एक शळाकासे गुणा-कर देनेपर धातकी खण्डके भरतकी भीतरली, बिचली, और बाहरी, चौडाईमा क्षेत्र निकल आता 🕯। भीतरस्त्री परिधि १५८११३९ में से १७८८४२ को घटाकर बचे हुये १४०२२९७ में २१२ का भाग देनेपर छह हजार छड़ से। चौदह और एक सी उन्तीस बटे दो सी बारह योजन धातकी खण्डके भरतकी भीतरी चौडाई निकल आती है। इसी प्रकार भरतकी मध्यम परिधि और बाह्य परिधिको निकाल लेना चाहिये। ऐसी दशामें धात ही खण्डका मरत आदिमें छह हजार छह सी चीदह योजनसे क्रम कर कदता हुआ अन्तमें अठारह हजार पांच सी सेतालीस योजन चौडा हो गया है और चार छाख योजन छम्बा पड़ा है। जम्बूद्विपके भरतसे यह सैकड़ों गुणा बड़ा है। वाहिरसुईवर्गं अन्वंतरसुइवरगपरिहीणं, जम्बूवासविभत्ते तत्तियमेत्ताणि खंडाणि '' इस गाथा अनुसार जम्बद्वीपसे धातकी खण्ड एक सौ चत्राछीस गुने क्षेत्रफलको धार रहा है।

वर्षाद्वर्षश्रवरार्गिवस्तार आविदेहात् । वर्षधराद्वर्षधर् आनिषधात् । उत्तरा दक्षिणतुल्या इति च विश्वयं । भरतैरावःविभाजिनी च दक्षिणोत्तरायती स्ववणोदकास्रोदश्पर्शिनी स्वणो-दादक्षिणोत्तराविष्वाकारगिरी प्रतिपत्तस्यौ । धातकीखंडवस्रयपूर्वापर्विभागमध्यगी मेरू च ।

धातकी खण्डमें पिहिले भरत क्षेत्रसे अगले, अगले वर्ष चौगुने, चौगुने विस्तारवाले हैं। विदेह पर्यन्त यहां दशा है। क्योंकि पिहले क्षेत्रसे दूसरेकी, दूसरेके तीसरे की, तीसरेसे चौथकी, शलाकार्य चौगुनी, चौगुनी, हैं। हां, लंबाई सर्व क्षेत्र या पर्वतोंकी एकसी चार लाख है। इसी प्रकार पिहले हिम-बान् पर्वतसे अगले अगले पर्वतोंकी चौडाई निषधपर्वतपर्यन्त चौगुनी, चौगुनी, है। तथा उत्तर दिशा सम्बन्धी क्षेत्र या पर्वत तो दक्षिण दिशावतीं कहे जा चुके इन पर्वत और क्षेत्रोंके समान है, यह भी समझ लेना चाहिये। चार लाखकी लंबाई विदेह क्षेत्रकी मध्यम या बाह्य परिधिकी अपेक्षा चौडाई समझी जायगी। धातकी खण्डमें पूर्व मेरु सम्बन्धी भरत और पश्चिम मेरु सम्बन्धी ऐरावत अथवा पूर्व मेरु सम्बन्धी ऐरावत और पश्चिममेरु सम्बन्धी भरतका विभाग करने वाले इष्वाकार पर्वत पढे हुये

समझ छने चाहिये। सुवर्णमय इन पर्वतोंका आकार ऋजु (सीधे) छने बाणके समान है। अतः इनका नाम अन्वर्ध है। ये धातकी खण्डमें दक्षिण और उत्तर दिशाओंकी ओर छंबे पड़े हुये हैं। मीतर छवण समुद्र और बाहर कालोदिध समुद्रकों छूरहे हैं। पिडळा इन्नाकार छवणसमुद्रसे दक्षिणकी ओर और दूसरा छवणसमुद्रसे उत्तरको ओर पसर रहा है। इन इन्नाकारोंसे धातकीखण्डस्वरूप कंकणके पूर्व धातकी खण्ड और पिश्वम धातकी खण्ड दीप यों विभाग होजाते हैं और उन दोनों विभागोंके मध्यमें दो मेरु पर्वत प्राप्त होरहे हैं। जोकि जंबूद्रिपके सुदर्शन मेरुसे कुछ छोटे हैं। चौरासी हजार योजन ऊंचे हैं। जंबूद्रीपमें जहां जंबूद्रक्ष है, उसी प्रकार धातकी खण्डमें धातकी खण्डका परिक्षेप करनेवाला आठ छाख योजन चौड़ा कालोदिध समुद्र है। कालोदिधमें मी बाह्य तट और अध्यन्तर तटसे पांच सी, साड़े पांचसी, और छह सी, योजन चळकर अडतालीस अंतरदीप है। उनमें कुभोगभूमिकी रचना है।

अथ पुष्करार्धे कथं भरतादिमीयते तद्विष्कंभाश्रेत्याइ ।

इसके पश्चात् किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि दयानिधे यह बताओं कि पुष्करार्ध द्वीपमें भरत आदिक मला किस प्रकार नापे जारहे हैं ! और उनकी चौडाई आदिकी क्या व्यवस्था है ! यों प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको स्पष्ट कह रहे हैं ।

पुष्करार्धे च ॥ ३५ ॥

संपूर्ण पुष्करमें नहीं किंतु पुष्कर द्वीपके मीतरले आधे मागमें भरत आदिक दो बार संख्या-द्वारा गिने जाते हैं। अर्थात्—जंबूद्वीप के भरत आदि या हिमवान् आदिकी अपेक्षा पुष्करार्धमें दो बार यानी दो भरत, दो हिमवान्, यों क्षेत्र, पर्वत, नदी, हृद, मेरु, कुण्ड आदि हैं।

संख्याभ्याष्ट्रस्य नुवर्तनार्थश्रक्षद्धः । धातकीखण्डवत्युष्करार्धे च भरताद्यो द्विमीयंते । तत्रैकामाशीत्युत्तरपंचशताधिकैकचत्वारिश्रयोजनसद्दासाण सत्रिसप्ततिभागशतं च भरतस्या-भ्यंतरिवष्कंभः, द्वादशपंचश्रतोत्तराणि त्रिपंचाश्रयोजनसद्द्वाणि नवनवत्यधिकं च भागशतं योजनस्य मध्याविष्कंभः, पद्चत्वारिश्रश्रद्धःशतोत्तरपंचपद्धिसद्द्वाणि त्रयोदश्च च भागा योज-नस्य बाह्यविष्कंभः।

" द्विधीतकीखण्डे " इस पूर्व सूत्रसे " दिर् " इस संख्याकी अभ्यावृत्तिका अनुवर्तनके लिये यहां सूत्रमें च शद्ध किया गया है । धात की खण्ड के समान पुष्करार्धमें भी जम्बूदीपकी अपेक्षा भरत आदि दो बार गिने जाते हैं । इस पुष्करार्ध द्वीपमें भरत क्षेत्रकी भीतरकी वौडाई इकतालीस हजार पांच सौ उनासी और एक सौ तिहत्तर बटे दो सौ बारह योजन है । पुष्करदीप के भरतकी त्रेपन हजार पांच सौ बारह और एक सौ निम्बानवे बटे दो सी बारह योजन मझिली चौडाई है तथा

पेंसठ हजार चार सी छियालीस और तेरह बटे दो सी बारह योजन पुष्करके भरतकी बाहरली चौडाई है । भावार्थ-कालोदिध समुदसे बाहरकी ओर चुपटी हुई पुष्करार्धकी भीतरकी परिधि इक्यानने छाख सत्तर हजार छह सी पांच (९१७०६०५) योजन है और पुष्करार्धको सेतीस लाख न्यासवाले मध्यदेशकी " विक्खंभवगगादहगुणकरणी वहस्स परिस्यो होदि " इस नियम अनुसार एक करोड सन्नष्ट लाख चार सौ सत्ताईस (११७००४२७) योजन परिधि होती है। पेंतालीस ठाखवाळे पुण्करार्ध द्वीपकी बाहरली परिधि एक करोड बियाळीस ठाख तीस हजार दी सौ उनचास (१४२३०२४९) योजन है। एक अंकके बटे हुये मागोंका यहां छक्ष्य नहीं रक्ला गया है। धातकी खण्डके बारहऊ कुळाचळोंसे पुष्करार्धके बारहऊ कुळाचळोंकी चौडाई दूनी दूनी है। किन्तु इष्वाकार पर्वत दोनों द्वीपोंके एकसे एक एक हजार योजन चौड हैं। अतः पुण्कराधिमें चौदह पर्वतोंसे रुका हुआ क्षेत्र तीन लाख पचपन हजार छह सौ चौरासी (३५५६८४) योजन है। उन तीनों प्रकारकी परिधियोंमेंसे पर्वत रुद्ध क्षेत्रको न्यून कर पुनः चौदद्द क्षेत्रोंकी दो सी बारह शलाकाओंसे भाजित कर पश्चात् भरतकी एक शलाकासे गुणा कर देनेपर पुष्कराधिके भरतकी भीतरी, निचली और बाहरी चौडाई निकल आती है। अतः इक्ततालीस हजार पांच सौ उनासी योजनसे कमबार बढता हुआ पेंसठ हजार चार सी छियाछीस योजन चौडा हो रहा और आठ लाख योजन लम्बा यह पुष्करार्धका भरत क्षेत्र उस जम्बूद्वीपके भरतमे हजारों गुणा बडा बैठता है । हां, जम्बूद्वीपका हिमनान् पर्वत दस सौ बावन और बारह बटे उन्नीस योजन चौडा तथा चौतीस हजार नौ सौ बत्तीस और एक बटे उन्नीस योजन उम्बा है । किन्तु पुष्करार्धका एक हिमवान् पर्वत इससे चौगुना चार हजार दो सौ दश और दश बटे उन्नीस योजन चौडा तथा आठ लाख योजन लम्बा है । हां, जम्बूद्धीपके कुलाचल, वक्षार, नदी, हद आदिकी गहराई और ऊँचाईके समान ही धात की खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपों के कुछाचाछों आदिकी गहराई या ऊंचाई है। यों जम्बूदीपके हिमवान और पुष्करार्धके हिमवान पर्वतका अन्तर स्पष्ट समझ लिया जाता है। मलें ही ढाई द्वीपमें छोटेसे जम्बूद्दीपको पूरा एक और विचारे पुष्करार्धको आधा गिन छो, " नाम बडे दर्शन धोडे "।

वर्णाद्रपेश्वतुर्गुणविस्तार आविदेशत् । वर्षघराद्रपंघरश्चा निषधात् । मातुषोत्तरशैलेन विभक्तार्धत्वात् पुष्करार्धसंग्ना, पुष्करद्वीपस्यार्धे हि पुष्करार्धमिति मोक्तं । अत्र धातकीखंडव-द्रपंधराश्वकारवदवस्थितास्तदंतराळवद्रपाः। काळोदमानुषोत्तरश्चेलस्पर्शिनाविष्वाकारगिरी दक्षि-णोत्तरी पूर्ववद्वेदितव्यी [पुष्करार्धवलयपूर्वापरविभागमध्यवर्तिनी मेक चेति प्रपंचः सर्वस्य विद्यानन्दमहोदये प्रतिपादितोवर्गतच्यः तदेवं-

पहिले क्षेत्रसे अगला क्षेत्र चौगुना चौडा है। विदेहपर्यन्त यह व्यवस्था समझना चाहिये और निषधपर्वतपर्यन्त पहिले वर्षघर कुलाचलसे अगिला वर्षघर पर्वत चौगुना चौडा है तथा उत्तर दक्षिण-वर्ती रचना तुल्य है। अर्थात्-पुण्करार्धके भरतसे हैमवत क्षेत्रकी चौडाई चौगुनी है और हिमवानसे

महाहिमवानकी चौडाई चौगुनी हैं, यह दशा विदेह और निषध या नीलपर्वततक है। परली ओर आधी आधी चौडाई होती चली गयी है । जंबूद्वीपमें तो मरत क्षेत्रसे हिमवान पर्वतकी दुनी चौडाई थी । किन्तु पृष्करार्धके हिमवान पर्वत यथानिकट केवल दशवां भाग चौडा है, यानी दशमी गुणी हानिको छिये हुये हैं। धातकी खण्ड और पुष्करार्धके इष्टाकार और मन्दर मेरु उतने ही एकसे परिमाणवाले हैं। जंबद्वीपमें जहां जंब्बूक्ष है, उसी रचनाके अनुसार पुष्करार्ध द्वीपमें परिवारसहित पृथ्वीकाय कमल अकृत्रिम बना हुआ है। इस ही कारण इस द्वीपका नाम पुष्करार्धद्वीप रूढ हो रहा है। पुष्कर द्वीपके ठीक बीचमें कं रूणके समान गोछ सत्रह सौ इक्कीस (१७२१) योजन ऊंचा इससे चौथाई चार सौ सवातीस योजन गहरा दश सौ बाईस (१०२२) योजन मूळमें चौडा सात सौ तेईस (७२३) योजन मध्यमें चौड़ा और चार सौ चौबीस (४२४) योजन ऊपर चौड़ा मानुषोत्तर पर्वत पड़ा हुआ है। प्रकरार्घ द्वीपकी ओर भीतके समान एकसा उठ रहा है और परली ओर कमकमसे घटता हुआ शिखाऊ घुनक या पीलपायेके समान ∧ खडा हुआ है। इस मानुषोत्तर पर्वत करके आधा विभाग प्राप्त हो जानेसे इस द्वीपकी " पुष्करार्घ " संज्ञा यथार्थनामा है। कारण कि पुष्कर द्वीपका आधा ही पुष्करार्ध है, यों निरुक्तिद्वारा अच्छा कह दिया गया है । यहां पुष्करार्ध द्वापमें भी धातकीखंडके समान वर्षवर पर्वत तो पहिथेमें अरोंके समान अवस्थित हैं और अरोंके अन्तराङ समान क्षेत्रमें भरत आदि वर्ष व्यवस्थित हैं। इस पुष्करार्धमें भीतरकी ओर कालोदधि समद्र और परळी ओर मानुषोत्तर पर्वतको स्पर्श कर रहे आठ लाख योजन दक्षिण उत्तर लम्बे पूर्वोक्त धातकी खण्डके चार लाख योजन लम्बे इष्वाकारोंके समान दो इष्वाकार पर्वत समझ छेने चाहिये । इनसे पुष्करार्घवळयके दो विभाग हो जाते हैं। पूर्व दिशा सम्बन्धी विभागके और पश्चिम दिशा सम्बन्धी विभागके मध्यमें वर्त रहे दो मेरु पर्वत हैं। मेरुऑपर चारों वन, पाण्डकशिला, अकृत्रिम चैत्यालय आदिकोंका वर्णन अधिक मनोहारी है। प्रण्यवान् जीवोंको उन चैत्याल्योंके दर्शनका सीभाग्य प्राप्त होता है। प्रकराईमें गंगा, बिजयार्ध, विभंगा, विदेह क्षेत्र, उत्तम भोग मूमियां आदिकी बडी सुन्दर रचना है। मानुषोत्तरमें पुष्करार्ध सम्बन्धी नदियोंके निकलनेके द्वार हैं। उनमेंसे निकलकर परले पुष्करार्धमें बहकर नदियां पुष्कर समद्रमें मिल जाती हैं। इन सबका विस्तारसे प्रतिपादन हमने विद्यानन्द महोदय नामक महान् प्रन्थमें कर दिया है। विस्तार रुचिवाले विद्वानों करके सम्पूर्ण विस्तृत रचनाकी वहांसे प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये। न्याय विषयकी प्रधानता होनेसे इस स्रोकवार्तिकमें आगमगम्य कतिपय सिद्धान्त विषयोंका ऊहापोह पूर्वक त्रिस्तृत वर्णन नहीं किया गया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर-जो निर्णीत हुआ उसकी आगेकी वार्त्तिकमें सनी ।

> जम्बृद्वीपगवर्षादिविष्कंमादिरशेषतः । सदा द्विर्धातकीखंडे पुष्करार्धे च मीयते ॥ १॥

जम्बूई।पमें प्राप्त हो रहे क्षेत्र, पर्वत, आदिकोंकी चौडाई आदिक तो परिपूर्ण रूपसे धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वांपमें गणना द्वारा दो बार सदा नापी जाती है। वार्तिकमें पडा हुआ सदा शद्ध तो जम्बूद्धीप, धातकीखण्डकी उक्त रचनाओंको अनादिनिधन घोषित कर रहा है। शेष मध्यलेक या उर्ध्वलोक, अधोलोककी, रचनाय भी अनादि, अनन्त हैं।

एकेनैकेन सूत्रेणोक्तं यथोदितसूत्रवचनात् ।

मध्यवर्ती छोटेसे जम्बूदीपका वर्णन पवीस सूत्रों द्वारा किया गया है। किन्तु " बाहिरसूईवर्गा अम्बन्तरसूइवरगपरिहीणं, जम्बूदीपको तित्तयमेत्ताणि खंडाणि " इस नियम अनुसार जम्बूदीपसे एक सी ववालीस गुने धातकीखण्डका और जम्बूदीपसे ग्यारह सी चौरासी गुने पुष्करार्ध द्वीपका निरूपण श्री उमास्वामी महाराजने एक एक सूत्र करके ही परिभाषित कर दिया है। अर्थात्—नामके मूंखे और शरीरसे बडे महाशय सदासे ही छोटे और महाले पदार्थोंके मालको हडप लेते चले आये हैं। इस लोकदक्ष स्त्रार्थी पुरुषोंकी नीति अनुसार जम्बूदीपके लिये महानना श्री उमास्वामी महाराज द्वारा दिये गये अमृतमय पद्मीस सूत्रोंके बहुभाग प्रमेयको बडे पेटवाले धातकीख़ब्ब और पुष्करार्ध द्वीपने भी झपट लिया है और अपने लिये प्राप्त हुये सूत्रोंका बांट रत्तीभर भी इन्होंने किसीको नहीं दिया है। "संस्तृती व्यवहारस्तु न हि मायावित्रर्जितः"। छोटोंका न्याय बडे करें। किन्तु बडोंका न्याय फिर कौन करें। वे न्यायरहित ही बचे रहते हैं। सच बात तो यह है कि समुद्रका जलपिण्ड छोटी छोटी बूंदों द्वारा ही निष्यल हुआ है। छोकमें बडण्यनकी स्पर्जा रखनेवाले पुरुषोंको छोटे छोटे पुरुषोंने ही वैता बडा दिया है प्रकरणमें यह कहना है कि यथायोग्य पूर्ववर्ती पद्यीस सूत्रोंके निरूपणसे इन दो दीपोंकी ख्याति करनेमें बडे सहायता प्राप्त हो रही है।

कस्मात् पुनः पुष्कराधीनिरूपणमेव कृतमित्याह ।

क्योंजी, फिर यह बताओं कि किस कारणसे पुष्कर द्वीपके आधेका ही निरूपण किया गया है। पूरे पुष्कर द्वीपमें क्यों नहीं भरत आदिकोंकी संख्या दूनी कही गयी है है इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिमसूत्रको कहते हैं।

प्राज्यानुषोत्तरान्मनुष्याः ॥ ३६ ॥

पुष्कर द्वीपके ठीक बीचमें पढ़े द्वये मानुषोत्तर पर्वतसे पहिले द्वी मनुष्य हैं। मानुषोत्तर पर्वतसे परली और मनुष्य नहीं दें। अतः पुष्करार्घतक द्वी इस मनुष्य लोकसे मोक्षमार्ग न्यवस्था चालू रहती है। मानुषोत्तर पर्वतसे परली और विद्याघर या ऋदि प्राप्त मनुष्य भी सिवाय उपपाद और समुद्धात अवस्थाके बाहर नहीं पाये जा सकते हैं। विद्यक्षीक या अध्योतीक वा कर्वलोकसे आकर मनुष्य लोको जन्म लेनेवाले जीवके निम्नह गातिमें षहिले समय मनुष्य लाखुका उदय है। यह उपपाद

अवस्था है । मनुष्य छोकका मनुष्य जीव बाहर जाकर मारणान्तिक समुद्धात या केवळी समुद्धात करते हुये नृखोकसे बाहर भी चळा जाता है । अन्यदा नहीं ।

न परतो यस्मादित्यभिसंबंधः। मनुष्यलोको हि प्रतिपाद्यितुप्रुपक्रांतः स चेयानेव।

जिस मानुषोत्तर पर्वतसे परळी ओर मनुष्य नहीं हैं, द्वीपोंमें केवळ तियंच ही पाये जाते हैं, उन द्वीपोंमें जवन्य भोगभूमिकीसी रचना है। हां, सबसे परळी ओरका आधा द्वीप और पूरा स्वयम्भू-रण समुद्र तथा त्रसनाळी तक चारों कोने, यहां कर्मभूमि की रचना है। स्वयम्भूरमण द्वीपके उत्तरार्ध स्थळ भागमें पांचवे गुणस्थानको धारने वाळे भी असंख्याते तियंच यहां पाये जाते हैं। चूंकि इस प्रकरणमें मनुष्य छोककी प्रतिपत्ति करानेके छिये उपक्रम चलाया गया है। अतः वह मनुष्य छोक तो पुष्करार्ध द्वीपपर्यंत पैतालीस छाल योजन परिमाणवाळा इतना ही है।

यद्येवं किंपकारा मनुष्यास्तत्रेत्याइ।

कोई प्रश्न करता है कि यदि इसी ढंगसे मनुष्य छोककी व्यवस्था है तो बताओ उस ढाई द्वीपमें रहनेवाले मनुष्य कितने प्रकारके हैं ? ऐसी बुभुत्सा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं |

आर्या म्लेच्छाश्च ॥ ३७ ॥

आर्य और म्लेच्छ यों दो प्रकारके मनुष्य हैं। भावार्थ—यद्यपि संमूर्च्छन मनुष्य भी इन पर्याप्त मनुष्योंसे असंख्यातें गुणे अधिक इस जगत्में हैं। तथापि भूमिपर गमन करनेवाले पा आकाशमें उडनेवाले मनुष्योंकी अपेक्षा मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन जो नहीं कर सकें ऐसे जीवोंकी विवक्षा अनुसार उक्त दो भेद ही मनुष्योंके किये हैं। संमूर्जन मनुष्य भी यदि देवों हारा पकड कर ले जाये जांय तो मानुषोत्तर पर्वतका उल्लंघन नहीं कर सकते हैं। संमूर्जन मनुष्य तो इन पर्याप्त मनुष्योंके आश्रित होकर ही ठहरते हैं। अतः आर्य खण्डमें उपजी हुई कतिषय क्षियोंके निरूपणके समान ये गतार्य हो जाते हैं। वस्तुतः यह पर्याप्त मनुष्योंका ही सूत्रण है। जिस प्रकार विजलीके प्रवाह (करेन्ट) वाले तारको सर्वाङ्ग छूते हुये परली ओर मनुष्यका जाना नहीं हो सकता है, उसी प्रकार बलात्कारसे मानुषोत्तरके परली ओर जानेपर मनुष्य शरीर कट कर, टूट इटकर, वहीं गिर पढ़ेगा। आगं नहीं जा सकेगा।

एतदेव मरूपयति ।

इस है। सूत्रकारके अभीष्ट सिद्धान्तको श्री विधानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा कहे देते हैं।

प्राचानुषोत्तराद्यस्मान्मनुष्याः परतश्च न । आर्या म्लेन्डाभ ते द्वेयास्तादकर्मबलोद्धनाः॥ १ ॥ जिस कारणसे कि मानुवात्तर पर्वतसे पहिले पिहले ही ढाई द्वीपमें मनुष्य हैं, किन्तु मानुवात्तरके परली ओर मनुष्य नहीं हैं। तिस प्रकारके कर्मकी सामर्थ्यसे उत्पन्न हुये वे मनुष्य आर्थ और म्लेष्क समझ लेने चाहिये।

उचैर्गोत्रोदयादेरार्या, नीचैर्गोत्रादेश म्लेच्छाः।

तिस तिस प्रकारके पौद्रविक कर्मों अनुसार आर्य अथवा म्लेच्छ मनुष्य उपज जाते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संतान क्रमसे चले आ रहे उच्च आचरणके सम्पादक उच्चगोत्रका उदय हो जानेसे अथवा क्षेत्र, जाति, कर्म, आदिकां ज्यवस्था अनुसार या गुणसेन्यता, भोगभूमि सम्बन्धी मनुष्य शरीर, आदि कारणोंसे आर्य मनुष्य हो जाते हैं। तथा नीच आचरणके सम्पादक नीच गोत्रका उदय, क्रभागभूमि या म्लेच्छ खण्डोंमें उत्पत्ति, नीच क्रियायें निर्करण भाषण आदि निर्मित्तोंसे म्लेच्छ मनुष्य हो जाते हैं। मावार्थ-पुर्वत्र अन्तरंग बहिरंग कारणोंसे ही प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति हो रही है। यश्वपि धोबी, नाई, छहार, कुम्हार, आदिक शिल्पकर्मी आर्योंके शूद्र होनेके कारण नीच गोत्रका उदय माना गया है। तथा म्डेच्छ खण्डोंके मनुष्योंको भी संयमकी प्राप्ति हो सकनेके कारण उच्चगोत्रका उदय मानना पडेगा । क्योंकि " देसे तादियकसाआ णीचं एमेत्र मणुस सामण्ये " पांचवें गुणस्थानमें नीच गोत्रकी उदयन्युष्क्रिति हो जाती है तथापि बहुभाग आर्थ मनुष्योंकी अपेक्षा उद्यगोत्रका उदय और बहुभाग म्हेच्छोंकी अपेक्षा नीच गोत्रका उदय मानना पडता है। राजवार्तिकमें नाऊ, धोबी, कुम्हार, को आर्योमें गिना है और लिभ्यसार प्रन्थमें सकलसंयम लिभ्यको धारनेवाले स्वामियोंके मेदका निरूपण करते समय '' तत्तो पडिवन्न गया अन्जमिलेन्छे मिलेन्छ अन्जेय । कमसो अवरं अवरं वरं वरं होदि संखं वा '' इस गाधाकी टीकामें यों लिखा है कि '' म्लेच्छभूमिजमनुष्याणां सकल-संयमप्रहणं कथं संभवतीति नार्शकितन्यं, दिन्वजयकाछे चक्रवर्तिना सह आर्यखण्डमागतानां म्हेन्छ-राजानां चत्रवर्त्यादिभिः सहजातवैवाहिकसम्बन्धानां संयमप्रतिपत्तेरविरोधात अथवा तत्कान्यकानां चक्रवर्व्वादिपरिणीतानां गर्भेषूत्पनस्य मातृपक्षापेक्षया म्छेच्छ व्यपदेशमाजः संयमसंभवात् तथाजातीय-कानां दीक्षाईत्वे प्रतिषेधामावात् ''। म्लेच्छ भूमिमें उत्पन्न हुये मनुष्येकि सकल संयमका प्रहण कैसे सम्भवता है ! यह आशंका नहीं करनी चाहिये । क्योंकि दिग्विजय करते समय चक्रवर्तीके साथ आर्यखण्डमें चले आये और चक्रवर्ती, मण्डलेखर, आदिके साथ जिनका वैवाहिक सम्बन्ध हो गया है, अपनी या उनकी कन्यायें के की, दे दी, गई हैं, ऐसे म्लेन्ज राजाओंक संयमक्रिकी प्राप्ति हो जानेका कोई विरोध नहीं है अथवा चक्रवर्ती आदिके साथ परिणाई गई कन्याओंक गर्भीमें उत्पन हुये इन म्लेन्छ नामधारी मनुष्योंके सकलसंयम सम्भव जाता है। तिस प्रकारकी जातिवाले म्लेन्छ मन्ष्योंकी दीक्षा योग्यतामें कोई प्रतिषेध नहीं है। सागारधर्मामृतमें " शृहोण्युपस्कराचार वपु:-शुभ्याऽस्तु तादराः, जात्या द्वीनोऽपि कालादिकभी ह्यात्मास्ति धर्मभाक् " । किला है श्री सक्त-भद्राचार्यने " सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातक्गदेहजम्, देवा देवं विदुर्भसम्पदाक्मारान्तरीजसन् " यो

रलकरण्ड श्रायकाचारमें घोषित किया है। श्री रिवर्षणाचार्यने एमपुराणमें "न जातिर्गर्हिता काचिद्
गुणाः कल्याणकारणम् , वतस्थमि चांडालं तं देवा बाह्मणं विदुः " लिखा है। श्री अकलंकदेवने
राजवार्तिकमें दशों प्रकारके सम्यग्दर्शनको धारनेवाले जीवोंको "दर्शनार्य " कहा है। ऐसी दशामें शृद्ध
या तिर्येच अथवा केच्छ भी आयोंमें गिने जा सकते हैं। किन्तु सम्पूर्ण तिर्यचोंके भले ही वे उत्तम
मोगभूमियां क्यों न हो, श्री गोम्मटसारमें नीच गोत्रका ही उदय माना गया है। शृद्धोंके भी नीच
गोत्रका उदय है। साधमें " जातिगोत्रादिकर्माणि श्रुक्छव्यानस्य हेतवः, येषां स्युस्ते त्रयो वर्णाः शेषाः
शृद्धाः प्रकीर्तिताः " यह सिद्धांत भी जागरूक है। सर्वया म्लेच्छोंकेसे व्यवहारमें लवलीन होरहे यवन,
खुरपल्टा, कसाई, चर्मकार, आदिको क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य कहा जा रहा है। शृद्ध, श्रावक या तिर्येच
श्रावकको अल्प सावष्य कर्मा आयोंमें गिनाया है। ऐसी पर्यालोचना करनेपर यह प्रतीत होजाता है कि
आयोंके उच्चगोत्रका उदय और म्लेच्छोंके नीचगोत्रका उदय मानना बाह्नल्यकी अपेक्षा स्वरूप कथन
मात्र है। लक्षण नहीं है। विशेषज्ञ विद्वान इस पर और भी अधिक विचार कर सकेंगे।

प्राप्तद्वितरभेदेन तत्रायी द्विविधाः स्मृताः । सद्गुणेर्यभाणात्वाद्गुणवद्भिश्च मानवेः ॥ २ ॥ तत्र प्राप्तद्वयः सप्तविधार्थमधिसंसृताः । बुद्ध्यादिसप्तधा नाना विशेषास्तद्विशेषतः ॥ ३ ॥

उन मनुष्यों में आर्य मनुष्य तो ऋदि प्राप्त और इतर यानी " जो ऋदि प्राप्त नहीं हैं " इन दो मेदों करके दो प्रकारके आन्नाय द्वारा माने गये हैं । आर्यशद्धकी निरुक्ति इस प्रकार है कि समीचीन गुणों करके अथवा गुणवान् मनुष्यों करके जो सेवित होरहे हैं, इस कारण वे सेवनीय पुरुष आर्य मनुष्य कहे जाते हैं । उन आर्यों में ऋदियों को प्राप्त होचुके मनुष्य तो सात प्रकारकी ऋदियों पर अधिकार करते हुये ऋदियोंसे संगत होरहे हैं । अपने अपने उन भेद प्रभेदोंसे अनेक विकल्पोंको धार रहीं वे ऋदियां बुद्धि ऋदि, तप ऋदि, आदि सात प्रकार है ।

ऋदिमाप्तार्थाः सप्तविधाः सप्तविधिमास्ता हि ते । सप्तविधिधः पुनर्बुध्धादिस्तथाहिबुद्धितपोविक्रियोषधरसवलाक्षीणर्द्धयः सप्तं प्रक्रापिताः नाना विश्वेषाश्च प्राप्तधियो भवंत्यार्थास्तदिश्वेषात् । बुद्धिविशेषधिपाप्ता हि बीजबुध्धादयः, तपोविश्वेषधिपाप्तास्तप्ततपःप्रभृतयः, विकियाविशेषधिपाप्ता एकत्विविक्रियादिसमर्थाः, औषधिवशेषधिपाप्ताः जल्लोषधिपाप्तादयः, रसिर्धमाप्ताः क्षीरसाविश्भृतयः, बल्लविश्वेषधिपाप्ता मनोबल्प्रभृतयः, अक्षीणिवशेषधिपाप्ताः पुनरक्षीणमहाल्याद्य इति । अन्ये त्वादुः ऋदिपाप्तार्था अष्टितिथाः बुद्धिकियाविकियातपोवलेषधरससेष्रभेदादिति । ते कृतः संभान्या इत्याह ।

जब कि वे ऋदियोंको प्राप्त होन्द्रके आर्य सात प्रकारकी ऋदियोंके आश्रय होरहे हैं, इस ई कारण साल प्रकारवाळे माने गये हैं । साल प्रकारकी बुद्धि आदिक ऋद्वियां तो फिर यह हैं। उन हीकें भंगकार दिखलाते हैं। बुद्धिऋदि, तपऋदि, विकियाऋदि, औषधऋदि, रसऋदि, वलऋदि, अक्षीणऋदि, ये नाना प्रभेदवाळी सात ऋदियां अच्छी जतायीं गयीं हैं । उन ऋदियोंकी विशेषतासे आर्य ऋदिकी प्राप्त कर चुके होजाते हैं। बुद्धिऋदिके विशेष मेद हो रहीं बीजऋदि, कोष्ठऋदि, आदिको प्राप्त हो रहे आर्ट ैं। इस कारण वे बीजबुद्धि, कोष्टबुद्धि, पदानुसारी, संभिन्नश्रोता, आदि माने जाते हैं तथा तपोन्हांद्धिने विकल्प हो रहीं उप्रतप, दीप्ततप, तप्तऋदि आदिको प्राप्त हुये आर्य तप्ततपाः, महाघोरतपाः, उप्रतपा:, आदिक कहे जाते हैं और विक्रियाके विशेष हो रहीं ऋदियोंको प्राप्त हुये आर्य एकत्वविक्रिया, आणिमा, महिमा, गरिमा, आदि क्रियाओं को करनेमें समर्थ हो रहे स्मरण किये गये हैं एवं औषध ऋदिके विशेष अंशोंको प्राप्त हो चुके आर्य जल्लीपधिप्राप्त, मलीपाधिप्राप्त, दृष्टिविष, आदि गाये गये हैं। रस ऋदिको प्राप्त हो रहे आर्य तो क्षीराखर्वा, मध्यास्रवी, आदिक हैं। मनोबछी, वचनबछी, आदिक आर्य जिनागममें बलके विशेष हो रहीं ऋदियोंको प्राप्त हुये समझे गये हैं। अक्षीण ऋदिके विकल्प होरहीं ऋदियोंको प्राप्त कर चुके आर्य मनि फिर अक्षीण महाख्य आदिक बोले गये हैं। इस प्रकार ऋदि प्राप्त आयोंके सात मेद हैं | दूसरे भी अकलंक देव प्रभृति आचार्य ऋदि प्राप्त आयोंको आठ प्रकार स्वीकार करते हैं। वे आठ प्रकार बुद्धिऋदि, कियाऋदि, विकियाऋदि, तपऋदि, वल्ऋदि, औषधऋदि, रसकादि, क्षेत्रकादि इन आठ भेद बाली क्राइयों के धारनेसे होजाते हैं। अर्थात-उन सातोंका इन आठोंसे अविरोध है। कियाऋदिका विक्रिया ऋदिमें ही अंतर्भाव कर छिया जाता है। अक्षीण ऋदि और क्षेत्रऋदिका अभिप्राय एक ही है। प्रवक्ताओंकी वचनभंगी अनुसार भेद करनेमें शहकत अंतर मछे ही पड जाय, अर्थमें कोई अंतर नहीं है। चाहे अनुमानके प्रतिज्ञा, हेतु ये दो अवयव मान लिये जांय अथवा पक्ष, साध्य, हेतु, ये तीन अंग मान लिये जाय एक ही ताःपर्य बैठता है। किसीका प्रश्न है कि वे ऋदियां या ऋदिधारी आर्य भला किस प्रमाणसे निर्णीत होकर संभावना करने योग्य हैं ? प्रत्यक्ष प्रमाणसे अत्र, अधना, ऋदिधारी मनुष्योंके दर्शन होना दर्रुभ है। एक बात यह भी पंछनी है कि अष्ट महानिमित्तका ज्ञान अण शरीर बना छेना, मेरुसे भी बडा शरीर बना छेना छोटेसे स्थानमें असंख्य जीवोंका निर्वाध बैठ जाना इत्यादिक ऋदियोंकी शक्तियां कैसे समझ छी जांय ? यों जिञ्चासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी समाधान वचैनको कहते हैं।

संभाव्यंते च ते हेतुर्विशेषवशवर्तिनः । केचित्रकृष्यमाणात्मविशेषत्वात्ममाणवत् ॥ ४ ॥

वे ऋदिको प्राप्त हुये कितने ही एक आर्य (पक्ष) अपने अपने विशेष हेतुओंकी अधीनतासे वर्त रहे संते संमावित होरहे हैं (साध्य)तारतम्य मुद्रा अनुसार प्रकर्षको प्राप्त होरहे अपने अपने विशेष

स्वरूपोंका धारक होनेसे (हेत्) लम्बाई, चीडाई, मोटाई, रूप विशेषताओंको धारनेवाले परिमाणके समान (अन्वयद्दर्शन्त) अधवा प्रमाण ज्ञानके समान । अर्थात्—जैसे परपदार्थोकी अपेक्षा न्यून होते होते और आत्म विद्यद्विके बढते बढते जैसे ज्ञानमें प्रमाणता बढती जाती है, उसी प्रकार जीवोंमें ऋदि राक्तियां भी बहती जाती हैं। थीडे थीडे ज्योतिषविद्या, भूशास्त्र, स्वरशासके, जाननेवाले आजकल भी पाये जाते हैं। एक विचार्यी पहिली बार अष्टसहसीको छह महीनेमें पढता है। पुनः पाठको विचारता हुआ पन्द्रह दिनमें हृदर्यगत कर छेता है । पश्चात परिशीलन करता हुआ चार ही दिनमें पूरे अष्टसहस्री प्रन्थका अनुगम कर छेता है। यो अन्यास करते हुये वह छात्र परीक्षा कीलमें अष्टसहस्रिके प्रमेयको अन्तर्भक्तिमें ही अनुगत कर छेता है। कब्तर, बिच्छके मछ, मूत्रमें, कितनी ही लाभदायक शक्तियां हैं। हर्ष अवस्थामें वा व्यायाम करनेपर शरीर कल जाता है। चिन्ता, शोक, अवस्थामें शरीर कृष हो जाता है । शारीरिक वांयुको वशकर प्राणायाम द्वारा कतिपय चमकार दिखा दिये जाते हैं । आकाश या जलमें मनुष्यका चलना बन सकता है । अनेक जीवींका वशमें कर लेना कोई अशक्य नहीं है । कई साधुओंकी घोर तपस्या प्रसिद्ध है। मांत्रिक, तांत्रिक, पुरुषोंके देखने मांत्रसे कतिपय विष उतर जाते हैं। हां, उत्कट तपस्यावोंकी आचरनेवाले आर्य मुनियोंके उक्त ऋदियां अल-धिक रूपसे वढ जाती हैं। जो अतिशय क्रम क्रमसे वढ रहा है। वह आकाशमें परिमाणके समान पूर्ण प्रकर्षताको भी प्राप्त कर लेता है । जब कि जड पदार्थ ही विक्रान प्रयोग अनुसार अनेक चम-कारोंको कर रहे हैं, तो अनन्तराक्तिवाले आत्माकी ऋदियोंके साधनेमें कोई संशय नहीं रह जाता है।

यथा परिमाणमापरमाणोः प्रक्रष्यमाणस्वरूपमाकाञ्च परमप्रकर्षपर्यतमाप्तं सिद्धपर्रादेत-राले अनेकघा परिमाणमकर्षे साधयित तथा सर्वजघन्यज्ञानादिग्रणधिविशेषादारभ्यधिविशेषः प्रक्रष्यमाणस्वरूपं परमप्रकर्षपर्यतमाप्लवसंतरालधिविशेषप्रकर्षे साधयतीति संभान्यते सर्वे बुध्य-तिशयधिविशेषादयः परमागमपसिद्धाश्चेति न किंचिदनुपपश्चं। के पुनरसंप्राप्तर्थय इत्यावेदयित ।

जैसे कि प्रत्येक द्रव्यमें पाये जा रहे प्रदेशक्त गुणका विवर्त लम्बाई, चौडाई मोटाई, रूप परिमाणसे जैसे एक प्रदेशी परमाणुसे प्रारम्भ कर अपने अपने शनैः शनैः बढ रहे स्वरूपको धार रहा सीमापर्यन्त पहुंचकर आकाशमें परमप्रकर्षको प्राप्त हो चुका सिद्ध हो जाता है और उसके अन्तरालमें पाये जानेवाले अनेक प्रकार परिमाणोंके प्रकर्षको साध देवा है। अर्थात—सबसे छोटा परिमाण परमाणुका है और आकाशका सबसे बडा नाप है। विचले घट, गंगानदी, जम्बूदीप, स्वयंभू-रमण समुद्र, लोकाकाश ये मध्यम परिमाणवाले हैं। उस ही प्रकार सबसे छोटे लब्ब्यपर्यातक निगोदिया जीवके जधन्यज्ञान, अत्यल्प कायबल, आदि गुणस्वरूप ऋदि विशेषोंसे प्रारम्भ कर बुद्धि, बल, आदि ऋदियोंके विशेष मला अपने बढ रहे स्वरूपके पश्म प्रकृषे पर्यन्त प्राप्त हो रहे सन्ते अन्तराल-वर्ती ऋदिविशेषोंके प्रकृषको साथ देते हैं। इस हंगसे सभी बुद्धिका लितिश्रम रूप किशेष ऋदि या

विकिया विशेष ऋदि, बळ ऋदि, आदिको घारनेवाले आर्य मनुष्य सम्भावित हो रहे हैं। यों अनुमानसे ऋदिधारी मनुष्योंकी सिदि हो रही है। तथा सर्वज्ञ आम्नायसे प्राप्त हुये सर्वेत्कृष्ट आगम प्रमाण हारा भी ऋदिप्राप्त आर्य प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार कोई भी ऋदि या ऋदिधारियोंकी अनुपपित नहीं है। यहां कोई पुनः प्रश्न उठाता है कि ऋदिप्राप्त आर्य मनुष्योंको हम निणीत कर चुके हैं। अब महाराज फिर यह समझाइये कि वे ऋदियोंको मले प्रकार श्रीपित रहित हो रहे आर्य मला कौनसे मनुष्य हैं ! इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा समाधानका विज्ञापन करते हैं।

असंप्राप्तर्थयः क्षेत्राद्यार्था बहुविधाः स्थिताः । क्षेत्राद्यपेक्षया तेषां तथा निर्णीतियोगतः ॥ ५ ॥

ऋदियोंकी सम्प्राप्तिसे रीते हो रहे दूसरे आर्थ तो क्षेत्र आर्य, जाति आर्थ, इत्यादिक बहुत भेद, प्रभेदवाले व्यवस्थित हो रहे हैं। क्षेत्र, कर्म, आदिकी अपेक्षा करके उन मनुष्योंका तिस प्रकार क्षेत्रसे आर्य, जातिसे आर्य, आदि स्वरूपोंकरके निर्णय हो जानेका योग मिल रहा है।

क्षेत्रार्या, जात्यार्थाः, कर्मार्योश्वारित्रार्या, दर्शनार्याश्वेत्यनेकविधाः क्षेत्रायपेक्षया अरुद्धि-माप्तार्थाः मत्येतव्या तथाः प्रतीतियोगात ।

क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य, दर्शनार्य, इस ढंगसे क्षेत्र आदिककी अपेक्षा करके अनेक विकल्पवाछे ऋदि श्राप्तिसे शून्य हो रहे आर्य समझ छने चाहिये। क्योंकि तिस प्रकारकी प्रतीतियोंका योग पाया जा रहा है। अर्थात्—इस आर्यखण्डमें काशी देश, अवध्यान्त, विहार प्रदेश, आदिमें जन्म छेकर बस रहे मनुष्य तो क्षेत्रकी अपेक्षा आर्य हैं। इक्ष्त्राकुवंश, नाथवंश आदि कुछोंमें उत्पन्न हुये पुरुष जाति अपेक्षा आर्य हैं। पाप कर्मा, अल्प पाप कर्मा और निष्पाप कर्मा, की अपेक्षा कर्मायोंके तीन भेद हैं। यों—अध्ययन, अध्यापन, असि, मधी, आदि कर्मोंके अनुसार श्राह्मण, क्षात्रिय, वैश्य, शूद वर्णवाछे मनुष्य या श्रावक, मुनि, भी कर्म आर्य हैं। चारित्र पाछनेकी अपेक्षा ग्यारहवें, बारहवें, गुणस्थानवर्त्ती मनुष्य अथवा अन्य भी चारित्रवान् पुरुष चारित्र आर्य हैं। दश प्रकारके सम्यन्दर्शनको धारनेवाछे दर्शन आर्य हैं।

के पुनर्म्छेच्छा इत्याह ।

आयोंकी प्रातिपत्ति हो चुकनेपर कोई शिष्य पूंछता है कि फिर म्लेष्छ मनुष्य कौनसे हैं ! यों जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिमवार्तिक द्वारा समाधान वचनको कहते हैं ।

> तथान्तर्द्वीपजा म्लेच्छाः परे इस्युः कर्मभूमिजाः। आद्याः षण्णवतिः स्याता वाधिद्वयतटद्वयोः ॥ ६ ॥

तथा अंतद्वीपोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ हैं और उनसे न्यारे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये तिस प्रकारके दूसरे म्लेच्छ मनुष्य हैं। आदिमें कहे गये अंतद्वीपनासी म्लेच्छ तो छवण, कालोदाधि, दोनों समुद्रोंके मीतरले, बाहरले, उमय तटोंपर बने हुये छियानवें अंतद्वीपोंमें निवास कर रहे वखाने गये हैं।

स्त्रच्छा द्विविधाः अंतर्द्वीपजाः कर्मभूमिजाश्च । तत्राद्यास्तावञ्चवणीदस्योभयोरष्ट्रचत्वा-रिश्चत् तथा काळोदस्य इति वण्णवितः ।

म्लेच्छ दो प्रकारके हैं । एक अंतर्द्वापोंमें उत्पन्न हुये और दूसरे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ हैं। उन दोनों भेदोमें आदिमें कहे गये मनुष्य तो छवणसमुद्रके दोनों तटोंपर अडताछीस द्वीप और तिस ही प्रकार कालोदिय समुद्रके दोनों तटोंपर जलमें उभर रहे अडतालीस द्वीप यों छियानवै द्वीपोमें निवास कर रहे हैं। एक एक डीपमें लाखों म्लेच्छ निवास करते हैं। मावार्थ-जंबूदीपकी वेदीसे तिरछा चलकर आठ दिशा, विदिशाओं में लवण समुद्रमें भीतर आठ अंतरद्वीप हैं और उनके बीच बीचमें आठ न्यारे द्वीप हैं एवं हिमत्रान पर्वतके दोनों ओर, शिखरी पर्वतके दोनों ओर, दो विजयाधींके दोनों ओर, यों आठ द्वीप अन्य भी हैं। छवण समुद्रके बाहरले पसवाडेमें भी इसी प्रकार चौवीस द्वीप बन रहे हैं। दिशाओं में बने हुये द्वाप तो रत्नवेदिकासे तिरछे पांचसी योजन समुद्रमें प्रसक्तर सी योजन विस्तारवाले हैं तथा विदिशा और अंतरालोंमें बने हुये द्वीप तो जंबूदीपकी वेदीसे तिरका साढे पांच सौ योजन जानेपर पचास योजन विस्तारवाले हैं। पर्वतोंके अंतमें जो द्वीप माने गये हैं वे छह सौ योजन समुद्रमें उरलीपार और परलीपारसे घुसकर पचीस योजन विस्तारवाले निर्मित हैं। इसी प्रकार कालोदिध समुद्रमें भी अडतालीस द्वीप बने हुये हैं । अंतर इतना ही है कि धातकीखंडके हिमवान पर्वत और उसके निकटवर्ती विजयार्थ दोनोंकी रेखाओंके अनुसार काळोदधिमें एक अंतरद्वीप है। इस ही रेखा अनुसार परली ओर एक द्वीप है यही दशा शिखरीपर्वत और उसके विजयार्थके संब-धमें छगा छेना चाहिये। इन अंतर द्वीपोंमें पूंछवाछे, सींगवाछे, गूंगे आदि कई विकृत आकृतिओंकी धार रहे म्लेच्छ मनुष्य निवास करते हैं। ये द्वीप जलतलसे एक योजन उंचे उठे हुये हैं। इन दीपोंको कुमोगभूमिमें भी कह दिया जाता है।

ते च केचिद्रोगभूमिसममणिषयः परे कर्मभूमिसममणिषयः श्र्यमाणाः कीदगायुक्त्सेष-

तथा वे म्छेच्छ कोई कोई तो द्वीपवर्तिनी भोगभूमियोंकी समान रेखा अनुसार निकटवर्ती होरहे हैं और कोई दूसरे अंतद्वींपवासी म्छेच्छ जो कि कर्मभूमियोंके निकटसमकोटीपर बने हुये अंतद्वींपोंमें निवास कर रहे सुने जा रहे हैं। किसीका प्रश्न है कि मछा उनकी आयु या शरीरकी ऊंचाई तथा प्रमुख्तियां किस प्रकारकी है ! ऐसी प्रतिपित्सा होनेपर श्री विचानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिक द्वारा समाधान बचनका व्याख्यान करते हैं।

मोग मून्यायुरुत्से धवृत्तयो भौंग भूमिभिः । समप्रणिधयः कर्म मूमिवत्कर्म मूमिभिः ॥ ७॥

भोगभूमियोंकी समरेखापर निकटवर्ती बन रहे अन्तर्द्वापोंमें निवास करनेवाले म्लेच्छ तो भोगभूमिवाले जीवोंके समान आयुष्य, ऊंचाई और प्रवृत्तिको धार रहे हैं तथा कर्मभूमियोंकी निकटवर्तिनी समरेखापर लवणसमुद्र या कालोदिधमें बने हुथे अन्तर्द्वापोंमें निवास कर रहे म्लेच्छोंकी आयु या शरीरकी ऊंचाई तथा भोजनादिकी प्रवृत्तियां कर्मभूमिवाले जीवोंकी आयु, ऊंचाई, और प्रवृत्तियोंके समान है। किन्तु कर्मभूमिके समान उन म्लेच्छोंमें देशव्रत या महावंत नहीं पाये जाते हैं।

भोगभूमिभिः समानप्रणिधयोंतर्द्वीपजा म्लेच्छा भोगभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयः प्रतिपत्तव्याः, कर्मभूमिभिः समप्रणिधयः कर्मभूम्यायुरुत्सेधवृत्तयस्तथा निमित्तसद्भावात् ।

भोगभूमियोंकी समाननिकटतावाले अन्तर्द्धीपोंमें उपजे हुये म्लेच्छ तो उन उन भोगभूमियोंके जीवोंकी आयु, ऊंचाई, प्रवृत्तिके समान आयुष्य उच्चता, प्रवृत्तियोंको धार रहे समझ लेने चाहिये। और कर्मभूमियोंकी समप्रणिधिवाले म्लेच्छ तो उस कर्मभूमिमें नियत हो रही आयु, ऊंचाई, प्रवृत्तियोंके अनुसार आयु, रारीरोत्सेध, और प्रवृत्तियोंको धार रहे हैं। क्योंकि तिस प्रकारके निमित्त कारणों का सद्भाव है। कारणके विना किसी भी कार्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। जैसे पुण्य, पाप, उन भोगभूमि या कर्मभूमिमें जन्म ले चुके मनुष्योंके हैं, उस ही प्रकारके कुछ न्यूनाधिक पुण्य, पाप, उन उन भूमियोंके निकटवर्त्ती अन्तरद्वीपोंके निवासी म्लेच्छ मनुष्योंमें भी पाये जाते हैं। जैसा कारण होगा वैसा कार्य बन जायगा, यह निर्णीत सिद्धान्त है।

अय के कर्मभूमिजा म्केच्छा इत्याह ।

अब इसके अवन्तर कोई प्रश्न पूछता है कि दोनों प्रकारके आयोंको मैं समझ चुका हूं, दे प्रकारके म्लेच्छोंमें अन्तर द्वीपके म्लेच्छोंकी प्रतिपत्ति भी की जा चुकी है । अब महाराज, यह बतलाओ कि दूसरे प्रकारके कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेच्छ मला कीन है ? इस प्रकारकी जिह्नासा होनेपर प्रश्नकार अभिन वार्तिक द्वारा उत्पर कहते हैं ।

कर्मभूमिभवा म्लेन्छाः प्रसिद्धा यवनादयः । स्यः परे च तदाचारपालनाद्रहुधा जनाः ॥ ८॥

और वे दूसरे कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुये म्लेष्क तो यवन, शबर, पुलिन्द, किरात, वखर, आदिक मैसिद ही हैं, जो कि बहुत प्रकारके चाण्डाल आदि मनुष्य उन म्लेष्क्रोंके आचारको पालनेसे म्लेष्क्र ही समझे जाते हैं। अर्थात्—जिन जातियोंमें मध, मांस, आदिक कुक्रमोंसे घूणा नहीं है, धर्म,

अधर्में, या मक्यं, अमक्ष्यका, विवैक नहीं हैं, वर्णाश्रमें स्यवस्था नहीं हैं, धर्मको वर्त समझ कर नहीं पार्छत हैं, उन जातियोंके मनुष्य भन्ने हैं क्षेत्र आर्य क्यों नहींयं, क्लेक्झोंमें हैं। परिगणित किये जाते हैं।

कृतः पुनरेवमार्यम्केच्छन्यवस्थेत्याइ ।

महाराज, फिर यह बताओं कि जगर्में मनुष्योंके इस प्रकार आर्यपन या म्लेष्क्रपनकी व्यवस्था मला किस कारणसे नियत हो रही हैं ! यों जिज्ञासा होनेपर आचार्य महाराज समाधान वचन नको कहते हैं ।

संप्रदायान्यवच्छेदादार्यम्लेच्छन्यवस्थितिः । संतानेन विनिश्चेया तद्विद्विन्यवद्वारिभिः ॥ ९ ॥ स्वयं संवेद्यमाना च गुगदोषनिवंधना । कथंचिदनुमेया च तत्कार्यस्य विनिश्चयात् ॥ १० ॥

सन्तानक्रम अनुसार उन आर्थ या म्छेच्छ पुरुषोंको जाननेवाले व्यवहारी मनुष्यों करके सम्प्र. दायका नहीं ट्रटना होनेसे आर्य और म्लेच्छ मतुष्योंकी व्यवस्थाका सैतान प्रतिसंतान रूपकरके विशेषतया निर्णय कर छेना चाहिये। यों बृद्धपरम्पराप्त चले आ रहें आप्तबाक्यों द्वारा मनुष्योंनें आर्यपन या म्लेम्क्रपन हा नियत बना रहना जान लिया जाता है तथा प्रत्यक्ष द्वारा भी गूण और दोषों को कारण मानकर हुई आर्थज्यवस्था या म्लेक्ज्ज्यंवस्थाका स्वयं सम्बदन किया जा रहा है। जिन पुरुषोंमें धर्म प्रमिव बार, असि, मबी, आदि प्रवृत्तियां, गुरुविनय, पापभीरुता, आदि गुण है. वे आर्य मनुष्योंके यहां अपनी अपनी आत्मामें आर्य मनुष्य अनुमवे जा रहे हैं। धर्म कर्मको स्वीकार नहीं करना, आस्तिकोंकी निन्दा, मध मांस आदिका सेवन आदि दोष जिन मनुष्योंमें हैं. वे जातियां स्वयं अपनेको म्लेन्छरूपते सम्वेदन कर रही हैं। तथा उन आर्य मनुष्य और म्लेन्छ मनुष्योंके अध्यभिचारी कार्यों का विशेषतया निश्चय हो जानेसे आर्यप्लेच्छ्रप्यवस्था किसी ढंगसे अनुमान द्वारा भी जानी जा सकती है । यों आगमप्रमाण प्रत्यक्षप्रमाण या अनुमान प्रमाणसे जगतमें आर्थ. म्लेक्क्यवस्था नियत हो रही ज्ञात कर ली जाती है। जब कि आफ्रफल, चावल, गेंहू, घोडा, बैल, कब्तर, आदिकी निकृष्ट और प्रकृष्ट जातियों का परिचय हो रहा है तो विशेषज्ञों करके आर्थ, म्लेच्छ न्यबंस्थाका निर्णय भी सुलभ है। यदि दूर देशके मनुष्य या मायाचारी मनुष्यके आर्यत्व अथवा म्छेन्छत्वका किसी व्यक्तिको निर्णय नहीं होय ती यह उस व्यक्तिकी प्रशाका दोष है। आर्थत्व. ्रिक्टेन्डल, परिणातीओंमें कोई ब्राटि नहीं है । अनुमयगंग्य या प्रत्यक्षज्ञानीगम्य अनेक सत्म विषयोंमें अल्पन्नोंको अन्नान या जान्ति हो जाती है।

न संप्रदायान्यवच्छेदोऽसिद्धस्तद्विदां नास्तिकसंप्रदायान्यवच्छेदवत्, नाप्यप्रमाणं श्रितासंभवद्वाधकत्वात्तद्व् । ततः संतानेनार्यम्छेच्छन्यवस्थितिस्तद्विद्वितिश्रेतिन्या । नार्ष्सितान्यवस्थितिवत् । सर्वः सर्वदार्यत्वम्छेच्छत्वज्ञन्यां मनुष्यसंतान इत्यत्रापि संप्रदाया च्छेद एव नास्तिकानां शरणं प्रत्यशानुपानस्य च तत्राच्यापारात् । यथा चाइं नास्तिकः सर्वे पूर्वकालवर्तिनां नास्तिका जात्यादिन्यवस्थानिराकरणपरा इत्यपि संप्रदायादेवाविच्छि दवगंतन्यं नान्यथा । अयभेव संप्रदायः प्रमाणं न पुनरार्यम्छेच्छन्यवस्थितिप्रतिपादक पनोर्यमात्रं प्रतीत्यभावात् ।

आम्नायका ज्ञान रखनेत्राचे पुरुषों के यहां धाराप्रत्राह रूपसे चली आ रही सम्प्रदायका टटना असिद्ध नहीं है, जैसे कि नास्तिकपने की सम्बदायका व्यवच्छेद नहीं होना असिद्ध नहीं अर्थात् — जो नास्ति राजन सभी मनुष्यों में आर्थपन और म्लेच्छवको स्वीकार नहीं कर रहे, यों नते हैं कि हम सम्पूर्ण मनुष्यों की एंकसा मानते हैं, जाति, वर्ण, कुळोनता, कोई वस्तु नही पुरुखापंकिसे हमारे यहां ऐसा ही नास्तिकपनेका प्रवाद चला आ रहा है। उन नास्तिकोंके यह अपनी इष्ट सम्प्रदायका नहीं ट्रटना अनिप्रेत किया गया है। उसीको दृष्टान्त बनाकर श्री विद भानार्थने सम्प्रदाय अनुसार आर्थपन और म्छेष्छपनकी व्यवस्थाको साध दिया है। तथा वह आ और म्हेन्छवन भी सम्प्रदायका अन्यवन्छेद (पश्च) अनुमाण भी नहीं है (साध्य), बायकोंके म्भव होनेका अच्छा निश्चय हो चुकनेसे (हेतु) जैसे कि नास्तिकोंने अपने नास्तिकपनके स यकी अट्टटको अनमाण नहीं माना है (अन्वयद्यन्त)। अथवा वास्तविक रूपसे विचार क नास्तिकपनके सम्प्रदायका नहीं ट्रटना अप्रमाण भी है और उसके बाधकप्रमाणीका सद्भा निर्धात हो रहा है। ऐसी दशामें नास्तिक सम्प्रदायका अन्यवच्छेद व्यतिरेक्ट्यन्त माना जा स है। सम्प्रदायान्यवन्छेदरूप तित निर्दोष हेत्से मातापिताओंकी सन्तान द्वारा आर्यन्छेन्छन्यवस उस उस सम्प्रदायके जाननेवाले पुरुखाओं करके निर्णय कर लेना चाहिये. जैसे कि नास्तिका पितामह, प्रपितामह, आदिकी सन्तान द्वारा नात्तिकपनकी व्यवस्था उनके यहां निर्णीत हो रही जो कोई नास्तिक यों कह रहे हैं कि मनुष्योंकी आगे पीछे यहां वहांकी सम्पूर्ण सन्तानें सदा-आर्यपन म्लेच्छपनसे शून्य हैं, प्रन्थकार कहते हैं कि यों इस सिद्धान्तके करनेमें भी तो नास्ति सम्प्रदाय ने अन्यवच्छेरका ही शरण लेना पडेगा। तभी पुरुवाओंसे चली आ रही किम्बदन्ती अनुर सम्पूर्ण मनुष्योंमें आर्यम्छेच्छरिहतपनेका ज्ञान कर सकेंगे । क्योंकि प्रत्यक्षप्रमाण और अनुमानप्रमा उस आर्थपन या म्लेन्लपनकी सून्यताको जाननेमें न्यापार नहीं है। वह नास्तिक यदि अनुमान बनायगा तो सम्प्रदायकी सामर्थ्यके भरोक्षेपर ही यों बन सकता है कि जिस प्रकार कि मैं नास्तिक हूं प्रकार पूर्वकालोंने वर्तनेवाले सम्पूर्ण मनुष्य भी जाति, क्षेत्र, कुल, आदिकी व्यवस्थाके निराकरणमें तत्पर ह नास्तिक ही थे। प्रन्थकार कहते हैं कि यह भी तो अविच्छित्र हो रही सम्प्रदायसे ही नास्तिकको समझना पड़ेगा, अन्य प्रकारोंसे वह पूर्वकाछवर्ती या क्षेत्रान्तरवर्ती अथवा चाहे किसी भी कर्ममें छग रहे मनुष्योंके नास्तिकपनका निर्णय कथमपि नहीं कर सकता है। नास्तिकवादी यदि दिंदोरा पीटकर यों ही आग्रह करता फिरे कि यह मेरा सम्प्रदाय ही प्रमाण है, किन्तु फिर सनातन या स्याद्धादियोंका आर्यम्छेच्छ व्यवस्थाको प्रतिपादन कर रहा सम्प्रदाय तो प्रमाण नहीं है, आचार्य कहते हैं कि यह नास्तिकका केवल मनोरथ ही है। इसमें यथार्थता अणुमात्र भी नहीं है। क्योंकि नास्तिक के सम्प्रदाय में प्रमाणपन और आर्यम्छेच्छप्रतिपादक आम्नायमें अप्रमाणपनकी व्यवस्थाको करानेवाली प्रतीति-योंका अभाव है।

जातमात्रस्य जंतोरार्येतरभावश्चत्यस्य प्रतितः प्रमाणं तद्भावाभावविषयः संपदाय इति चेका, तस्याप्यार्येतरभावप्रसिद्धरन्यथा व्यवहारिवरोधात् । कल्पनारोपितस्तद्भवहार इति चेत्, तिक्विजायाः कल्पनाया एवासंभवात् कचित्कस्य चित्तस्वतः प्रसिद्धस्याऽन्यत्रारोगे हि कल्पना दृष्टा विकल्पमात्रम्वा गत्यंतराभावात् उभयथा चार्येतरभावकल्पनायां वास्तवी तद्भावसिद्धिः ।

नास्तिक पण्डित कह रहा है कि बुद्धिमान, या बृद्ध पुरुषोंकी तो बात ही क्या है, केवल थोडे दिनोंके उत्पन्न हुये मनुष्य या पद्मपक्षियों तकको आर्यपन और उससे न्यारे म्हेच्छपन हैं रहितपनकी अपनेमें और अन्य प्राणियोंमें प्रतीति हो रही है। इस कारण उस आर्थपन म्हेच्छपन परिणितिके अभावको विषय कर रहा हम नास्तिकोंका सम्प्रदाय तो प्रमाण है। तम आस्तिकोंका सम्प्रदाय प्रमाण नहीं है। अर्थात्—अन्वश्रद्धावाले अतिवृद्धपुरुष भले ही आर्थपन म्लंब्छपनको कहें जावें, भिन्तु यावतु प्राणियोंमें आर्यपा, म्लेन्छपन, खजाति, कुचीनता, उच्चवर्णपना, नीच वर्णपना आदिकी प्रतीति नहीं हां रही है। आर्यों ने शरीरमें नोई दुव नहीं भरा है और म्लेच्छ या चाण्डाळोंकी देहमें कीच नहीं भर गई है। प्रन्थ तार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस उत्पन्न हुये प्राणिमात्रको भी आर्थपन और उससे न्यारे म्हेच्छपत्रकी प्रसिद्धि हो रही है। अन्यथा आर्यन्यवहार या म्लेच्छन्यवहारका विरोव हो जायगा । देखो, चमार, कोरियों के छो तरा भी अपनेमें नीचगोत्रका अनुमव कर रहा है, जब कि उच्च आचरणवाले त्रैयर्णिक पुरुष अपनेमें संतान क्रमसे चली आ रही उचगोत्र व्यवस्थाका सम्वेदन किये जा रहे हैं। कुलीनताका प्रमाव आता है, पर आता है। यदि नास्तिकवादी यों कहे कि वह आर्यपन म्छेच्छपनका व्यव ार तो झंठी कल्पनाओंसे आरोपा गया है। वास्तविक परिणामींकी भित्तिपर अवलिकत नहीं है, यें कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि उस व्यवहारकी बीजरहित कल्पनाका ही असम्भव है। उत्पादक बस्तुभतन्त्री कर्का सहारा पश्र अकर ही कल्पना की जा सकती है। कल्पनाका उक्षण यह है कि कहीं न कहीं स्थ उपर वास्तविक रूपसे प्रसिद्ध ही रहे किसी न किसी पदार्थ का अन्य पदार्थमें आरोप कर छेना ही जल्पना करना देखा गया है.

जैसे कि सत्य दोरहे सिंहपशुकी मिडीके खिळीनेमें या श्र्वीर पुरुषमें कल्पना कर ली जाती है । अथवा विकल्पनान करनेको भी कल्पना कह सकते हैं जैसे कि जहां जहां घूम होता है, वहां अप्रि होनी चाहिये, दिनमें नहीं खाते जो मोटे शरीरवाले होंगे के जीव रातको अवश्य खाते होंगे, यह चंचल बालक अप्रि है, बोझ ढोनेबाला मनुष्य बैल है, सिद्ध परमात्मा शरीररिहत होंगे, प्रत्येक उद्योगी मनुष्यको कुछ न कुछ धुन चढी रहती है, इत्यादि विकल्पोंका उठाना भी कल्पना है। उक्त दो लक्षणोंके अतिरिक्त तीसरा कोई उपाय कल्पनाका नहीं है। अतः दोनों प्रकारसे आर्यपन और म्लेच्लपनकी कल्पना करनेमें नास्तिकके यहां वास्तविक उस आर्यपन या म्लेच्लपनकी सिद्धि होजाती है। कोई खटका नहीं रहा।

त्रधानाद्देतादिकस्पनानामपि हि निर्वीजानामनुपपत्तिरेव सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्थस्य प्रधानत्वेन नराधिपादौ प्रसिद्धेनाध्यारोपस्य प्रधानकस्पनात्वाद् । क्रिचिकत्वस्याद्वैतस्य प्रमाणतः सिद्धस्य सर्ववस्तुष्यध्यारोपणस्याद्वैतकस्पनात्वादन्यथा तदसंभवाद् ।

नास्तिक पदि यों आक्षेप करें कि जब सभी कल्पनायें वस्तुभत परिणतियोंके अनुसार वास्त-विक सिद्ध होजायंगी तब तो सांस्थमतियोंके यहां निर्णात किये गये प्रधानकी कल्पना भी यथार्थ बन बैठेगी । बेदांतियोंने ब्रह्मादैतको खीकार किया है । जैनोंने उसकी ब्रह्मादैतकी कल्पना करना ठहराया 🔁 । ऐसी दशामें वह ब्रह्माद्वेत भी वस्तुभूत बन बैठेगा । इसी प्रकार ईश्वर, अलाह, ईसा या नरसिंह, गजानन, बुद्ध, आकाशपुष्प आदि की कल्पनायें भी परमार्थ बन जायेंगी। संय झूंठका विवेक उठ जायगा । कोई भी मतानुयायी अन्य मतानलम्बीका खंडन नहीं कर सकेगा, ऐसा आक्षेप उत्पन्न होय, इसके प्रथम ही प्रथकार बहुत अच्छा सिद्धांतसमाधान करे देते हैं कि प्रक्राति, ब्रह्मादेत, ज्ञानादेत, श्चिरकर्तृत्व, आदिक कल्पनाओंकी भी विना बीजके सिद्धि नहीं हो पाती है। कारण कि सांख्योंने " सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः " सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण, इनकी समानताको छिये हुये जो अवस्था है उसको प्रकृति माना है। प्रकृति कही चाहे प्रधान कही एक ही अर्थ है। वह प्रधानपना राजा. समापति, जज आदिमें वास्तविक प्रसिद्ध होरहा है । सांख्योंने सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणती साम्य अवस्थामें उसका अध्यारोप कर प्रधानकी कल्पना कर छी है। इसी प्रकार किसी एक आकाश या सुदर्शन मेरु अथवा अन्य किसी अकेले अनुपम पदार्थमें अद्भैतस्वरूप एकल की प्रमाणोंसे सिद्धि की जाचुकी है। ब्रह्माद्वेतवादियोंने उस प्रमाणसिद्ध एकत्वका संपूर्ण वस्तुओंमें अध्यारीप कर अद्वेत की कल्पना उठाळी है। क्योंकि अन्य प्रकारोंसे उस कल्पनाका असंभव है। भावार्थ-कातिपय पदार्थीका कत्तीपन मन्ष्य या पशुओं में देखा जाता है। नैयायिकोंने शुद्ध आत्मामें यावत् कायीका कर्तापन झूंठमूठ गढिछया है। अलाह या ईसा भी कोई विशेष पुरुष हुये हैं, उनके भक्तोंने उनमें मोश्चदायकत्व, ज्यापकत्व, जगत्कर्तृत्व आदिक धर्म मनमाने गढ लिये हैं। मनुष्य के घड और हाथी के शिरका योग हो कर एक जीवका अनेक दिनोंतक जीवित रहना असम्भव है। फिर भी प्राकृत सिद्धान्तों को नहीं विचार करनेवाले गणेशभक्तोंने वास्तविक

मनुष्यका घड और दूसरे वास्तविक गजमस्तककी मितिपर एक गजाननकी कल्पना कर छी है। इसी प्रकार मनुष्य और सिंहका योग बनाकर नरितंह अनतार किएत किया गया है। इक्षपर आकाशमें छटक रहा या आकाशमें उछ्छ रहा आकाशका प्रष्ठ किएत हो जाता है। घी का घड़ा रुपयोंका वक, ये सब कल्पनायें वास्तविक परिणतियों के अनुसार कहीं से कहीं आरोप दी गयी है। मण्डूकशिखा, कच्छपरोम, आदिक सर्वथा असम्भव माने जा रहे पदार्थों की कल्पनायें भी जब वस्तु भित्तिपर उठी हुयीं साथ दी गयीं है तो प्रधान, ब्रह्माहेत, सानिकर्षप्रमाणता, निर्गुणमोक्ष, क्षाणिक-वाद, कृदस्थता आदिक कुछ सम्भव और कुछ असम्भव हो रहे पदार्थों की कल्पना तो सुष्ठभतया बीजिमितिमहित साथी जा सकती है तथा परिपूर्ण रूपसे वस्तुभूत परिणतिओं अनुसार सम्भव रही आर्यत्व, म्लेच्छत्व, उच्चगोत्रता, नीचगोत्रता आदिकी कल्पना तो अतीव सुरुभतासे समझायीं जा सकतीं है। मनुष्यपन, पशुपन, या सदाचार, असदाचार, अथवा अपराध, अनपराधका विवेक रखनेवालोंके सन्मुख आर्यपन म्लेच्छपनका निर्णय सुकर है।

कथं वा कवित्संपदायात् पारमाथिकीं न्यवस्थामानक्षाणो मतुष्येष्वेवार्येतरभावन्यवस्थां काल्पनिकीमानक्षीत ? प्रमाणांतराविषयत्वादिति चेत् न, अर्थम्छेच्छन्यवस्थाया ग्रुणदोष-निवंधनायाः प्रत्यक्षातुमानाभ्यामिति प्रसिद्धेरतः । तथादि स्वसंतानवर्तिनी हि मनुष्याणां आर्थत्वन्यवस्थितिः सम्यद्र्ञनादिगुणनिवंधना म्छच्छन्यवस्थितिश्च मिध्यात्वादिदोषनिवंधना स्वसंवेदनिक्षद्धा स्वरूपवत् । संतानांतरवर्तिनी तु सा न्यापारन्यवद्याराकारिक्षेत्रपस्य कार्यस्य विनिश्चयादनुमेया चेति न प्रमाणांतरागोचरा प्रत्यक्षातुमानाभ्यां प्रसिद्धायां च गुणनिवंधना-यामार्यत्वन्यवस्थायां काद्यचित् मनुष्यन्यक्षितु युगादावन्यविक्ष्यसंतानास्तथाभूतगुणैरर्यमाणा जात्यार्याः प्रसिद्धा भवंति क्षेत्राद्यार्थवत् तथा म्छेच्छाः ।

एक बात यह भी है कि नास्तिकपन, मनुष्यपन, पशुपन, आदिमें कहीं न कहीं सम्प्रदायसे वास्तविक व्यवस्थाको वखान रहा यह नास्तिक मछा मनुष्योंने ही आर्यपन म्छेष्छपन की व्यवस्थाको क्यों कहपनानिर्मित कहेगा ! बताओ । सम्प्रदाय अनुसार मानी गयी व्यवस्थाको या तो सर्वत्र कल्पित कहे अथवा कहीं भी कल्पित नहीं कहे । कहीं कुछ और कहीं कुछ, यों "अर्थजरतीय" न्यायका अनुसरण उचित नहीं है । यदि नास्तिक यों कहे कि आर्य, म्छेष्डव्यवस्था तो किन्हीं अन्य प्रमाणोंका विषय नहीं है, इस कारण काल्पित है, आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि गुणोंको कारण मानकर हुयी आर्यव्यवस्थाकी और दोषोंके निमित्त कारणपनसे हुई म्छेष्डव्यवस्थाकी इन प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणोंसे यों वस्यमाण प्रकार अनुसार प्रसिद्धि हो रही है । उसीको मन्यकार स्पष्ट कर दिखळाते हैं कि अपने निज आत्माकी उर्ध्वतासामान्य हारा पूर्वकाळी स्थि अनु सही संतानमें वर्त रही मनुष्योंकी आर्य-

पनेकी व्यवस्था तो सम्यग्दर्शन, क्षमा, ब्रह्मचर्य, आदि गुणोंको कारण मानकर हुई स्वकीय सम्वेदनसे प्रतात हो रही है और म्छेच्छमन्थोंके अपनी अपनी संतानमें वर्त रही म्छेच्छपनकी न्यवस्थिति इन मिथ्यात्व, हिंसा, निर्कण्जता, आदि दोषों के निर्मित्तसे हो रही अपने स्वसम्वेदन प्रत्यक्षी द्वारा प्रसिद्ध हो रही है, जैसे कि अपने अपने आत्मसद्भावका सम्पूर्ण मनुष्योंको स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। हां, स्वकीय आत्मासे न्यारे अन्य आत्मा रूप संतानोंमें वर्त रही वह आर्यपन या म्लेच्छपनकी न्यवस्था तो आर्यपन, म्लेच्छपनके कार्य हो रहे विशेष न्यापार, विशेषवचन प्रवृत्तियां, या विशेषआकारोंका विशेषतया निश्चय हो जानेसे अनुमान करने योग्य है। इस कारण वह आर्य, म्छेच्छपनकी व्यवस्था अन्य प्रमाणोंका अविषय नहीं है, जैसा कि तुमने पहिले आक्षेप किया था। किन्त अपनी अपनी आत्मायें स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष द्वारा और परकीय आत्माओंमें अनुमान द्वारा आर्थ, म्लेन्छ, व्यवस्थाको हमने साध दिया है। जब कि किन्हीं किन्हीं सजन सदाचारी बती मनुष्य व्यक्तियोंमें गुणोंको कारण मानकर आर्यपन व्यवस्थाकी प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणों करके प्रसिद्धि हो चकी है. ऐसा हो जानेपर कर्मभूमिकी आदिमें नहीं टूटी हुयी संतानवाळे मनुष्य तिस प्रकारके वस्तुभूत गुणों करके सेवित किये जा रहे जात्यार्य प्रसिद्ध हो जाते हैं. जैसे कि क्षेत्र या कर्म आदिकी अपेक्षा आर्य मनुष्य प्रसिद्ध हो रहे हैं । अर्थात-मोग मियोंके मनुष्य आर्य हैं, उन्हींकी संतान, प्रतिसंतान नहीं ट्रटती हुई कर्मभूमि कालमें भी चली आ रही है। जाति या कुलोंके नाम भले हा परिवर्तित हो जांय, इज्याक्तवंश, सीनवंश, नाथवंश ये संज्ञायें इस युगकी अपेक्षासे हैं, तो भी इनकी संतानधारा अट्ट है। अतः तिस प्रकार सम्यग्दर्शन आदि गुणोंकरके जुए हो रहे मनुष्य आर्य हैं। क्षेत्र आर्य, कर्म आर्य, चारित्र आर्य, इनके समान ही कुळपरम्पराते चळे आ रहे जात्यायोंकी भी सिद्धि कर केनी चाहिये । तिस ही प्रकार कुळपरम्परा अनुसार अविच्छित्र संतानवाले मनुष्य मिध्याला, हिंसा, आदि दोषों करके सेवित हो रहे म्लेच्छ प्रसिद्ध हो रहे हैं, म्लेच्छोंको स्वयं अपनी आत्मामें म्लेच्छपन का स्वसम्मेदन प्रत्यक्ष हो रहा है। हां, उनके पत्र, मित्र, या देशान्तरीय अन्य म्लेष्क्रोंके म्लेष्क्रपन का शरीर व्यापार, वचनप्रवृत्तियां आदि करके अनुमान कर लिया जाता है। आयौँकी दूसरेक म्लेच्छ पनका या म्लेक्क्रमनुष्यों को दूसरों के आर्यपनका भी अनुमान हो जाता है। भलें ही कोई ऐंदू या अभिमानी पुरुष अपनेकी बडा मानता रहे, किन्तु समय समयपर गुण और दोषोंका ठीक ठीक विवेक तो बालक, बालिकाओं, तक को हो जाता है। पण्डितपन या मूर्वपन, नीरोगता, सरोगता, बलबता, निर्वलता. सदाचार कदाचारके समान आर्यपन म्लेच्छपनका भी संज्ञी जीवींको परिज्ञान हो सकता है कोई कठीन समस्या पाळे नहीं पड गयी है।

> नित्यसर्वगतामूर्तस्वभावा सर्वथा तु या। जातिर्बाह्मण्यचांडाल्यप्रमृतिः कैश्रिदीर्यते ॥ ११ ॥

सान सिद्धा प्रमाणेन बाध्यमाना कदाचन ।

बात यह है कि क्षेत्र आर्य या कर्म आर्य अथवा चारित्र आर्य मनुष्योंकी सिद्धि करना सरह है । हां, जात्यायोंकी इस युक्तिप्रधान जगत्में सिद्धि करा देना श्रमसाध्य है । कारण कि प्राय: संपूर्ण मनुष्य जन्मपरम्पराको तो स्वीकार कर छेते है । विष्णु या ब्रह्माके द्वारा हुई आदि सृष्टिको माननेवाछ अथवा चाहे जितनी आत्माओं की सृष्टि या प्रख्यको कर देने वाछे अल्लाहके अनुयायी मोहमदियों की संपूर्ण युक्तियां निर्वेट (पोच) पड गयी हैं । परिशेषमें चार्वाक, साइन्सवेत्ता, यवन, पौराणिक बीद इन सबको गर्भज मनुष्य, पशु, पक्षियोंकी सृष्टि संतानरूपसे अनादिकाळीन माननी पडेगी। हां. कतिपय आधुनिक पंडित संतानक्रमेत चले आरहे जीवाचरणका आत्माओं में संस्कार पढ जाना नहीं स्वीकार करते हैं । कोई कोई तो तत्कालीन सदाचार, असदाचारसे शटिति आर्यसे म्लेच्छ और म्लेच्छमे आर्य होजाना अंगीकृत कर छेते हैं। कोई तो जाति, कुछ, व्यवस्था को स्वीकार ही नहीं करते हैं। किन्त यह बात जगत प्रसिद्ध है कि विशेष जातिक आमसे भिन्न प्रकारका आम्रफल उपजता है। सांकर्य (कलम लगा देनेसे) हो जानेसे अन्तर पड जाता है। बढिया घोडेमें भी पित्रवंश, मातवंशका लक्ष्य रखा जाता है। कपायों या क्षमा की वासनायें बहुत दिनोंतक बस जाती हैं। इसी प्रकार इक्ष्वाक वंश, प्रमावतीपुरव छ, अत्रवाछ, खण्डे उवाछ आदि जातियों की अपेक्षा संतानत कमसे चछे आ रहे आर्य पनका नियामक हेत् जन्मक्रम और कर्मक्रम दोनों ही मानने चाहिये। श्री विद्यानन्द आचार्य वैजीब-कों भी मानी हुई जातिका प्रत्याख्यान करते हैं कि किन्हीं वैशेषिक या नैयायिकों करके सर्वथा नित्य. सर्वन्यापक, अमृतिस्त्रमात्रत्राजीं जो ब्राह्मणत्व, चाण्डालत्व, वैश्यत्व आदि जातियां कही जा रही है. वे तो कदाचित् भी सिद्ध नहीं हो सकती हैं ! वयों कि प्रमाणोंसे वे बाधाको प्राप्त हो रही हैं। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, कोई भी प्रमाण उन जातियोंको विषय नहीं करता है, जिनका कि स्वरूप वैशेषिकोंने नित्यपन, व्यापकत्व, और अमूर्तत्व मान रक्खा है।

ब्राह्मणत्वादिजातिः सर्वगता सर्वत्र स्वमत्ययहेतुत्वादाकाशवत् सत्तावद्वा, तथा नित्या सर्वदात्पादकविनाशकशारणराहितत्वात् तद्वदेव इत्येके। तेत्र मष्ट्रच्याः,सा सर्वगता सती व्यक्त्यं-तराले कस्मात्स्वमत्ययं नोत्पादयतीति १ स्वच्यंजकिविश्वेषाभावादनभिव्यक्तत्वादिति चेक्न, तदिभिव्यक्तेः साकल्येन करणे किविदुपलंभे सर्वत्रोपलंभमसंगात्, देशतः करणे सावय-वत्वमसक्तेः।

वैशेषिकका मन्तन्य है कि ब्राह्मणत्व, वैश्यत्व, चाण्डालत्व, आदिक जातियां (पक्ष) सर्वत्र व्यापक हैं (सान्य), क्योंकि सभी न्यक्तिस्थलोंपर अपने अपने ज्ञानके उत्पादका हेतुपना उन जाति-योंमें वर्त रहा है (हेतु) आकाशके समान, अथवा सत्ताजातिके समान (अन्वयहष्टांत)। तथा ब्राह्मणत्व आदि जातियां (पक्ष) नित्य हैं (सान्य) उत्पत्ति करानेवाले और जातियोंका विनाश

करनेवाले कारणोंका सदा रहितपना होनेसे (हेंत्र) उन ही आकाश या सत्ताके समान (अन्वय दृष्टान्त) । तीसरा अनुमान जातिके अमूर्तपन स्वमावको साधनेके छिये यों बना सकते हैं कि जाति अमृत है (प्रतिज्ञा) परिमाण गुणका अभाव होनेसे (हेतु) कियाके समान (अन्वयदृष्टान्त), आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार कोई एक पण्डित कर रहे हैं। वे पण्डित यहां यों पूछने योग्य हैं कि सर्वव्यापक हो रही संती वह जाति भठा व्यक्तियोंके अन्तराठमें किस कारणसे स्वकीय ज्ञानको नहीं उपजा पाती है ! बताओ। यदि वैशेषिक यों कहे कि अन्तरालमें अपने प्रकट करनेवाले आश्रय हो रहे व्यक्तिविशेषोंका अभाव हो जानेसे वह जाति वहां अभिव्यक्त नहीं है, तिस कारण मध्यवर्ती अन्तरालमें विद्यमान हो रही भी जाति स्वकीयज्ञान भी उत्पादक (उत्पादिका) नहीं है । अर्पाद --एक ब्राह्मण मनुष्य व्याकरण पढ रहा है। दूसरा ब्राह्मण व्यक्ति एक कोश दूरपर भोजन कर रहा है। उन दोनों व्यक्तियों में ब्राह्मणल जाति है और मध्यदेशवर्ती अन्तरालमें भी वह व्यापक ब्राह्मणल-जाति तिष्ठ रही है। परन्त अप्रकट होनेसे बाह्म गपन की ब्रिप्त नहीं करा पाती है। किन्त जहां बाह्मण पुरुष व्यक्तियां विद्यमान हैं, वहां प्रकट हो रही ब्राह्मणत्व जाति स्वज्ञानको करा देती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि सकलक्ष्यमे उस जातिकी व्यक्तिविशेषों द्वारा अभिव्यक्तिके कर देनेपर यदि कहीं एक स्थलपर जातिका उपलम्भ होगा तो सम्पूर्ण रूपसे प्रकट हो चुकी जातिके सर्वत्र (अन्तरालमें) भी उपलम्भ हो जानेका प्रसंग आवेगा । यदि व्यंजक कारणों द्वारा एक एक देशमे जातिकी अभिव्यक्ति करना अभीष्ट किया जायगा तब तो जातिको अवयव सहितपनेका प्रसंग आता है। जातिके अनेक अत्रयव होनेपर ही तो कहीं प्रकटता अन्यत्र कहीं अप्रकटता सम्भव सकेगी। अन्यया नहीं। किन्तु जातिको नित्य, निरवयव, व्यापक, अखण्ड, अमूर्त, माननेवाले वैशेषिक पण्डित जातिका सावयवपना तो अमीष्ट नहीं करेंगे। उनको अप्रसिद्धान्त दोष लग जानेका भय बना हुआ है ।

नतु च कात्स्न्येनाभिन्यकाषि जातेन सर्वशेषलंभः सामग्र्यभावात्, स्वव्यक्तिदेश एव हि तदुपलंभसामग्री मतीता इन्द्रियमनआकाशादिबत् न च व्यक्त्यंतराले सास्तीति केथित् । तद्प्यसंगतं, घटादेरेवं सर्वगतत्वमसक्तेः । स्वयं हि वनतुं घटादीनां सर्वगतत्विपि न सर्वशेष्यंभः सामग्र्यभावात् कपाल्यदिदेश एव हि तदुपलंभसामग्री न च सा सर्वशास्तीति कपाल्यदिरप्यवयिनः सर्वगतत्विपि न सर्वश्रोपलंभः स्वावयवोपलंभसामग्र्यभावादित्यवयनंतशः परमाण्नामनवयित्वादसर्वगतत्वे सर्वश्रोपलंभाभावात्प्यनुयोगनिष्वतिरिति । यदि पुनर्घटादेः सर्वगतत्वकस्यनायाः मत्यक्षविरोधः मतिनियतसंस्थानस्य मत्यक्षत्वात् अनुपानविरोधश्च । न सर्वगतो घटादिः सावयवत्वात् मृतिमस्वात् परमाणुवत् इत्यनुपानादसर्वगतत्वसिद्धेरिति मतं, तदा जातिसर्वगतत्वकस्यनायाः पर व्यवत्वात् मृतिमस्वात् परमाणुवत् इत्यनुपानादसर्वगतत्वसिद्धेरिति मतं, तदा जातिसर्वगतत्वकस्यनायाः पर व्यवत्वात् मृतिमस्वात् परमाणुवत् इत्यनुपानादसर्वगतत्वसिद्धेरिति मतं, तदा जातिसर्वगतत्वकस्यनायाः पर जातेरसर्वन्यनायाः पर व्यवत्वात्वात् सर्वावाद्विरीयः सार्वव्यवस्थायाः एव जातेरसर्वन्यन्यस्थानस्य सर्वावादाः सार्वविष्यानायः पर जातेरसर्वन्यस्य सर्वावादाः सर्वविष्यानायः पर जातेरसर्वन्यस्यक्षायाः पर जातेरसर्वन्यस्य वाद्यस्यक्षायाः पर जातेरसर्वन्यस्य वाद्यस्य सर्वावादाः सर्वविष्यस्य सर्वावादाः सर्वविष्यस्य सर्वावादाः सर्वावादाः सर्वविष्यस्य सर्वविष्यस्य सर्वावादाः सर्वविष्यस्य सर्वविष्यस्य सर्वविष्यस्य सर्वावाद

गतायाः प्रतिनियतम्यक्तिगतायाः प्रत्यक्षत्वात् । तथा न जातिः सर्वगता प्रतिनियतम्यक्ति-परिणामत्वाद्विशेषवदित्यनुमानाज्जातेरसर्वगतत्वसिद्धेः । कुतः पुनः साहत्त्यस्रक्षणं सामान्यं सिद्धिपति चेत् ।

यहां वैशेषिक अपने मतका अवधारण करते हैं कि जातिकी पूर्णरूपसे अभिन्यक्ति होनेपर भी उस जातिका सर्वत्र उपलम्भ नहीं होसकता है। क्योंकि अंतराल देशोंमें उपलम्भकी साम-प्रीका अभाव है। उन जातियोंको उपलम्भकी सामग्री अपने अपने आधार होरहे व्यक्तिस्वरूप देश ही प्रतीत होरहे हैं । जैसे कि बहिरंग इन्यां या अंतरंग इन्द्रिय मन अथवा आकाश आदिक उपकंप सामग्री हैं। किन्तु व्यक्तियों के अंतरालमें वह व्यक्तियां स्वरूप सामग्री नहीं है। इस कारण अंतरालमें जातिका प्रत्यक्ष नहीं होपाता है। इस प्रकार कोई वैशेषिक कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं उनका वह कहना भी संगतिशून्य है । क्योंकि इस प्रकार तो घट, पट, आदिके भी सर्वगतपनेका प्रसंग आजा-वेगा। हम बहुत अच्छे ढंगसें यों कह सकते हैं कि घट, पुस्तक आदिकोंका सर्वगतपना होते हुये भी सर्वत्र उपलंभ यों नहीं होपाता है कि वहां उपलंभ होनेकी सामग्री नहीं है। कपाल, तंत्र, पत्र आदि देश ही उन घट, पट, पुस्तक आदिकीके उपलंभ हो जानेकी सामग्री हैं। किन्तु वह सामग्री तो सर्वत्र नहीं है। जिस प्रकार कपाल आत्मक अवयवेंसे बने हुये अवयवी घटका व्यापकपना आपादित कर दिया गया है, इस ही प्रकार कपालिकास्वरूप अवयवींसे बनाये गये कपालरूपी अवयवी या तंत संबंधी अन्यवोंसे बने छंबे तंतु आदि अययवियोंके सर्वगत होते हुये भी उनका सर्वत्र उपर्छम नहीं। होता है। क्योंकि अपने अपने अन्यवस्त्रह्म उपलम्भ सामग्रीका वहां वहां अभाव हो रहा है। इस प्रकार और भी उत्तर उत्तर अश्यवोंके न्यापकत्वकी आपित दी जा सकती है। हां, पंचायक, बत-रणुक, त्र्यणुक, इयणुक, अवयवियोंके व्यापकत्वका आपादन करते हुये अन्तर्ने जाकर अनन्ती, अनन्ती, परमाणुओंको निरवयत्र होनेसे असर्वगतपना माननेपर उन परमाणुओंका सर्वत्र उपक्रम नहीं होनेसे पर्यनुयोगकी निवृत्ति हो सकेगी । द्रवणुकतक तो सर्वगतपने या सर्वत्र उपलब्ध होनेका आपा-दन अवस्य कर दिया जायगा, जो कि वैशेषि भोंको इष्ट नहीं है। यदि फिर वैशेषिक यों कहे कि घट. वस्त, आदिके सर्वत्र व्यापक पनकी कल्पना करनेका प्रत्यक्ष प्रमाणसे ही विरोध कन जाता है। क्येंकि प्रतिनियत हो रहे अल्पदेशवृत्तिपनेकी रचना या आकृतिको धारनेवाले घट आदिका बाल, इ.स. कीट, पतेगों, तककी प्रत्यक्ष हो रहा है। तथा घट, आदि पदार्थोंके न्यापकपनकी साधनेमें अनुमान प्रमाणसे भी विरोध आता है। देखिये, घट, आदिक (पक्ष) सर्वत्र वर्त रहे होंय ऐसे ज्याप र नहीं 🖹 (सान्य), क्योंकि वे अल्प परिमाणवाले स्वनिर्मापक अवयवाँसे सहित हैं (पहिला हेत्) । अपकृष्ट परिमाणस्वरूप भृतिके आश्रय हैं (दूसरा हेतु) । परमाणुके समान (अन्वयद्धान्त) । इस अनुमानसे घट आदिकके अव्यापकपन भी सिद्धि हो रही है। यों वैशेषि मोंका मन्तव्य होनेपर आचार्य कहते हैं कि तब तो जातिक सर्वगतपनकी कल्पना करनेमें भी वैशेषि होंको वही प्रत्यक्ष आदि प्रमाणींस

विरोध आवेगा । हां " सदशपरिणामस्तिर्यक् खण्डमुण्डादिषु गोत्ववत् " जातिके इस सिद्धांतकक्षण अनुसार प्रतिनियत व्यक्तियोंमें प्राप्त होरही असर्वगत और सादशत्वरूप ही जातिका प्रत्यक्ष होरहा है। अतेन, मनुष्योंमें चाहे वे चांडाल या म्लेच्छ ही क्यों न होय, ब्राह्मण, क्षत्रिय, मनुष्योंका साहस्य वती रहा है ! संपूर्ण घोडे समान हैं, चाहे पांच रुपये का टट्र आ हो अथवा भले ही पांच हजार रुपयों का बढिया घोडा होय, सबमें अञ्जलक्ष्प करके सादस्य वर्त रहा है। मुखमें चंदकी सदसता या गवय (राह्म) में गायकी सहराता दूसरी वस्तु है। जातिस्वरूप साद्य तो एक ही जातिकी अनेक व्यक्ति-मोंसे अभिन होरहा है। यद्यपि गत्रय निरूपित गोनिष्ठ साद्यय भी गोसे अभिन है और गोनिरू-पित गवयनिष्ठ सादश्य गवयसे अभिन्न हैं। सदश बस्तुओंसे निराली कोई तीसरी जातिका सादश्य बहा दीखता नहीं हैं । तथापि आरोपित सादर के जातिस्त्ररूप सादश्य निराका ही है, जो कि समान जाति बाली व्यक्तियोंमें ही ठहरेगा। जब कि अव्यापक होरही घट, पुस्तक, गो, आदि व्यक्तियोंका आबाल, गोपालत मनो प्रत्यक्ष हो हो, ऐसी दशामें न्यक्तियोंसे अभिन होरही जातिको अध्यापक मानना ही युक्तिपूर्ण हैं। तैसा होनेपर जाति (पक्ष) संगित नहीं है (साध्य) प्रत्येक नियत होरहीं व्यक्तियोंका परिणाम होनेसे (हेतु) विशेष पदार्थके समान (अन्वयहश्चन्त) इस अनुमानसे जातिके अव्यापक-पनकी सिद्धि होजाती है। यदि यहां कोई वैशेषिक यों प्रश्न करे कि फिर वह साइस्यस्वरूप सामान्य भुजा किस प्रमाणसे सिद्ध कर दिया गया है ? बताओ। इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी अप्रिमवार्त्तिकको कहते हैं।

सिद्धं साद्यसामान्यसमाना इति तद्बहात्। कुत्रश्चित्सदृशेष्वेव मनुष्येषु गवादिवत् ॥ १२ ॥

श्रह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, राद्र, त्राय, पतित, म्लेच्छ, भीग भूमियां, कुभोग भूमियां, ल्रुच्यपर्यासक, इन संपूर्ण मनुष्योंमें सहरापरिणाम स्वरूप साहश्य माना जा रहा सामान्य प्रसिद्ध है (प्रतिज्ञा) किसी व किसी अंतरंग परिणितिस्वरूप कारण से "सहरोोंमें ही ये समान है" ये सहरा है" इस रूपते जन पदार्थोंका ज्ञान द्वारा परिप्रहण होनेसे (हेतु) गी, अश्य आदिके समान (अन्वयहष्टांत)। भावार्थ—जैसे खंड, मुंड, आदि अनेक प्रकारकी गायोंमें यह इसके समान है, यह इसकी सजाति है, या परिप्रहण होरहा होनेसे सहरापरिणामरूप गोत्वसामान्य प्रतिद्ध है, उसी प्रकार मनुष्योंमें जाति हारा सभी मनुष्य समान है, यह प्रतिपत्ति होरही है। अतः सहरापरिणामरूप मनुष्यस्वजाति सिद्ध होजाती है। अन्यथा व्यक्तियोंको जातिसे भिन माननेपर अनवस्था दोष आवेगा। वैशेषिकोंके "नित्यत्व सिति व्यापक्तवे च सित गोसमवेतं गोलं" और "गवेतरासमवेतत्वे सित सक्छगोसमवेतत्वे सित व्यापक्तवे च सित गोसमवेतं गोलं" और "गवेतरासमवेतत्वे सित सकछगोसमवेतत्वे गोलंवा " ये सब ळक्षण अविचारितरम्य है। सहरापना पदार्थोंकी एक परिणति है, वहाँ जाति है। पदार्थोंके तदात्म ह स्वरूपने निराला कोई न्यारी जातिका बोध जन पदार्थोपर छदा हुआ नहीं है, जैसे

कि धोबीकी गर्धेयापुर कपडोंकी छादी छरी रहती है। वास्तविक रूपसे परपदार्थ काळत्रयमें अपना नहीं होसकता है, इति निर्णेष्यते स्वयं प्रथकारः ।

स एव बहुष्य इति वत्ययाच समाना इति तद्वहोस्ति यतः साहश्यसामान्यं सिध्येदिकि चैत् न, सर्वे कहुष्यादी स प्राथमिति वत्ययस्योपचितिकत्वविषयत्वात् । दिविषं हि एकत्वं पुरुषप्रापचितिच, पुरुषप्रपूर्णतासामान्यप्रपचिति तिर्यक् सामान्यं साहश्यमिति सुनिश्चितमन्यव ।

कोई नैयायिक कटाक्ष करता है कि अनेक मनुष्योंको देखनेपर यह वही मनुष्य है यह दूसरा भी मनुष्य ही है, यह तीसरा भी वही मनुष्य है, इस प्रकार एकत्वका परिचायक परिज्ञान हो रहा है। अतः " यह मनुष्य उसके समान है, अमुक मनुष्य तिस मनुष्यके समान था " इस प्रकार सादस्यको जाननेवाला प्रहण नहीं हो रहा है, जिससे कि जैनोंका अभीष्ट सादस्य परिणामकर्प सामान्य सिद्ध हो जाता। आचार्य कहते हैं कि यह तो न कहना। क्योंकि यह तो मन्द्युद्धि भी समझ सकता है कि सहश हो रहे दूसरे, तीसरे, चीथे, मनुष्य आदिमें यह वही मनुष्य है, यह दूसरा भी वही मनुष्य है, इस प्रकार हो रहे ज्ञान तो उपचरित एकत्वको विषय करते हैं। एक ही व्यक्तिमें यह वही है, यह प्रत्यभिज्ञान मुख्य एकत्वकी विषय करता है। अनेक व्यक्तियोंमें हुआ एकत्व प्रत्यभिक्कान प्रमाणामास होगा अथवा उपचरित एक्तवको विषय करनेवाला होगा । तीसरा कोई उपाय नहीं । देखो, एकल दो प्रकारका माना गया है । पढिला मुख्य एकल है, दूसरा उपचरित एकत्व है। " परापः विवर्तव्यापि द्रश्यमूर्ण्यतासामान्यं " एक द्रश्यकी अनेक कालोंमें होनेवाली नाना अवस्थाओं में म्यापनेवाला परिणाम ऊर्घ्वतासामान्य है । जैसे कि देवदत्त की बाल, युवा बृद्ध अवस्थाओं या जन्मान्तरोंकी पूर्वोत्तरपर्यायोंने जो सवान परिणाम है, वह ऊर्ध्वतासामात्य है। इस ऊर्ध्वता-सामान्यको विषय करनेवाळे ज्ञानका गोचर मुख्य एकत्व है और अनेक व्यक्तियोंमें एक काळ पाये जानेबाछ तिर्यकु सामान्यको जाननेवाछ ज्ञानका विषय हो रहा सादश्य ती उपचरित एकत्व है, इस सिद्धान्तका इम अन्य अष्टसहस्री आदि प्रन्योंमें बहुत अच्छा निर्णय कर चुके हैं।

सा तुनर्जाद्मणत्वादिजातिनैकाततो नित्या भवया व्यवस्थापयितुमनित्यव्यक्तितादान्स्यात्, सर्वया तस्यास्तद्तादात्म्ये प्रतिविक्तव्यानवस्थादिदोषानुषंगात् । नाप्यकातिमान्यूर्ता मृतित्यदात्म्यविरोषात् । ततः स्याभित्या जातिनित्यसाद्द्रयस्वस्तात्, स्यादनित्या नश्यर्भस्यभावत्यात्, स्यात्मविगता सर्वयदार्थान्ययित्वात्, स्यादम्बर्गता प्रतिमियतपदार्थान्भयत्वात्, स्यान्यूर्तिमती मृतिभदद्रव्यपरिणामत्वात्, स्यादमूर्ता गानाद्यपूर्तेद्रव्यपरिणामः-त्यात्, स्यादमूर्ता गानाद्यपूर्तेद्रव्यपरिणामः-त्यात्, स्यादम्बर्गताम्पत्यस्यभावा सर्वथा अवस्य गत्वादिजातिरधुक्ता प्रमाणन वाष्यमानत्यात् दिति स्वकः । तद्ववं—

वैरोषिकोंने बासणल, राद्रल आदि जातियोंको सर्वया नित्य मान लिया है। किन्तु वे बासणल कादि जातियोंको फिर एकान्तरूपसे नित्यपनकी व्यवस्थाको करानेके छिये समर्थ नहीं हो सकते हैं। अनिस्य व्यक्तियोंके साथ तादाल्य सम्बन्ध बन रहा होनेते, वे जातियां सर्वथा नित्य नहीं कहीं जा सकती हैं। यदि बैरोबिक उन बाह्मणान आदि जातियों हा उन बाह्मण आदि न्यक्तियोंके साथ संभी प्रकारोंनेंसे किसी भी प्रकारसे तादाल्य सम्बन्ध अभीष्ट नहीं करेंगे तब तो शृत्ति, विकल्प, अनवस्था बादि दोषोंकी प्राप्तिका प्रसंग होगा । भावार्थ-एक जातिकी अनेक देशस्थ व्यक्तियोंमें यदि पूर्ण रूपसे क्ति मानी जायगी तब तो प्रत्येक व्यक्तियोंमें ठइरनेवाली जातियां वैशेषिकोंको अनेक माननी पढेंगी। बदि एक जातिका अनेक व्यक्तियोंमें एक एक देशसे वर्तना माना जायगा, जैसे कि आकाश वर्तरहा है. तब तो जातिको अवयवसहितपना प्राप्त होगा । उन अवयर्वोमें भी जातीकी एकदेश या सर्व देशसे बृत्ति मानते मानते वही पर्यत्योग चलेगा । यों अनवस्था दोष खडा हो जाता है । तथा घटकी उत्पत्ति होनेवाछे देशमें प्रथमसे सामान्य था तो वहां घटके विना वह घटत्वसामान्य भला किस **बाधारपर बैठा हुआ था ! आश्रय है** विना सामान्य ठहर नहीं सहता है। '' अन्यत्र नित्यद्रव्येभ्य **आभितत्वमिद्दोष्यते " नित्य द्रम्यों के अतिरिक्त सभी पदार्थ आश्रित माने गये हैं । घटकी उत्पत्ति हो** खे स्थकमें सामान्य अन्य स्थानसे आ नहीं सकता है। क्योंकि वैशेषिकोंने सामान्यको कियारहित स्वीकार किया है। पूर्व आधारको यह छोड भी क्यों देगा ! इसी प्रकार घटके छूट जानेपर घटल सामान्य कहां चळा जाता है ! बताओ । भला सर्वथा एक सामान्य प्रत्येक व्यक्तियों में परिसमात कैसे होगा ! तुम ही विचारो । भिन्न पढे हुये समवाय द्वारा भिन्न पडी हुई जाति भिन्न भिन्न व्यक्तियों में नहीं चुपक सकती है। यों वैरोषिकों के उत्पर कातिपय दोप आते हैं। अतः जातिको सर्वथा नित्य नहीं मान बैठना चाहिये। तथा जाति एकान्त रूपसे अमूर्त माननेपर घट, पट, आदि मूर्त द्रव्योंके साथ तादाल्य सम्बन्ध होनेका विरोध हो जायगा । मूर्तीके साथ तादाल्य रख रहा पदार्थ मूर्त समझा जाता है। तिस कारणसे स्यादाद सिद्धान्त अनुसार यों निर्णय कर छो कि जाति कथंचिद् नित्य है। (प्रतिहा) क्योंकि कथंचिद् नित्य माने जा रहे पदार्थीका तदात्मक साइज्य रूप वह है । नित्य माने **मा रहे सम्पूर्ण द्रम्य या कर्यचिद् नित्य मानी** जा रहीं सूर्यविमान, कुळाचळ, अकृत्रिम प्रतिमार्ये आदिक नित्य पर्यायोंमें वर्त रहा साद्यसम्प सामान्य कर्थचित् नित्य ही है। साथमें वह जाति (पक्ष) कथांचित् अनित्य भी है (साध्य), नाश होनेवाले साहस्यरूप स्वभाव होनेसे (हेतु) अर्यात्—घट, पट, आदि नाशशील परार्थीका सादश्य क्यंचित् अनित्य है। इसी प्रकार वह जाति क्यंचित् सर्वव्यापक भी है। क्योंकि सत्ता, वस्तुल आदि जातियोंके समान वह जाति सम्पूर्ण पदा-बौमें अन्तित हो रही है। और वह जाति कथंचित् असर्वगत है। क्योंकि न्यारे न्यारे देशोंमें वर्त रहे प्रति नियत पदार्थोंके आश्रित हो रही है। तथैत घट, पट, संसारी जीव, आदि मूर्त द्रव्योंका परिणाम होनेसे वह जाति कथंचित् मूर्तित्राठी है । आकाश, गुद्ध आमा,

आदि अमूर्तद्रक्योंका परिणाम स्वरूप हो रही वह जाति कथंचित् अमूर्त मी है। इस प्रकार जातिके कथंचित् नित्यत्व, अनित्यत्व, पा कथंचित् सर्वगतत्व, असर्वगतत्व अथवा कथंचित् मूर्तत्व, अमूर्तत्वका विवेचन कर दिया है। वैशेषिकोंका ब्राह्मणत्व आदि जातिको सर्वथा नित्यत्वभाव, सर्वगतस्वभाव और अमूर्तस्वभाव मानना युक्तिरहित है। क्योंकि ऐसा माननेमें अनेक प्रमाणोंकरके बाधायें उपस्थित की जा रही हैं। इस कारण हमने उक्त ढाई वार्तिकोंमें बहुत अच्छा जातिका विचार कर समीचीन सिद्धान्त कह दिया है। तिस कारण इस प्रकार होनेपर जो हुआ सो सुनो।

सार्भद्रिद्वीपविष्कंभत्रभृति प्रतिपादितं । समनुष्यं चतुष्टय्या सूत्राणामिति गम्यते ॥ १३ ॥

तीसरे पुष्करद्वीपके आधे मागसहित जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड द्वीप इन दो द्वीपों यानी ढाई द्वीपके विष्करम आदिका मनुष्योंसहित श्री उमास्वामी महाराजने सूत्रोंकी चतुष्टयीकरके प्रति-पादन कर दिया है, यह समझ लिया जाता है। अर्थात्—दिर्धातकीखण्डे, पुष्करार्धे च, प्राच्या-नुषोत्तरानमनुष्याः, आर्या म्लेष्डाश्च, इन चार सूत्रोंकरके मूल्प्रम्थकारने ढाई द्वीप और मनुष्योंका प्रबोध करा दिया है, यों माना जाय।

काः पुनः कर्मभूमयः काश्र भौगशूमय इत्याइ।

कृपानिधान गुरुवर्य, अब यह बताओ कि फिर कर्मभूमियां कौनसी हैं ? और भोग सूमियों के स्थान कीन हैं ? यों प्रश्न होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिमस्त्रको कहते हैं।

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।

पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेह ये पन्द्रह कर्मभूमियां हैं । हां, विदेहोंके मध्यमें वर्त रही पांच देवकुठओं और पांच उत्तरकुठओंको छोड देना चाहिये । क्योंकि वे उत्तम भोगभूमिय। मानी गयी हैं ।

कर्मभूगय इति विशेषणानुपपितः सर्वत्र कर्मणो न्यापारादिति चेश्र वा, प्रकृष्टगुणानु-भवनकर्मोपार्जितनिर्जराधिष्टानोपपत्तः पर्कर्मदर्भनाच । अन्यत्रश्चन्दः परिवर्जनार्थः । श्रेषास्ता मौगभूगय इति सामर्थ्याद्गम्यत इत्यावेदयति ।

कोई शंका करता है कि छोकमें सम्पूर्ण स्थलोंपर जब आठ प्रकारके कमीका बन्ध और उनके फ़र्जोका अनुभवरूप व्यापार व्याप रहा है, सिद्धको हमें भी एकेंद्रिय जीव कमीका उपार्जन कर रहे हैं, मीग सूमियोंमें आदिके चार गुणस्थानों अनुसार कमें उपार्जन हो रहा है, देव या

नारिक्योंकी भी यही दशा है, स्थावर छोक्में कर्भफलचेतनाका व्यापार चमक रहा है, तो फिर इन पद्रह स्थलेंको ही कर्मभूमियां कहूना यह विशेषण तो युक्तिभिद्र नहीं बन पाता है। प्रथकार कहते 🔾 कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि परिहारविश्वादि, उन्कृष्ट देशाविष, परमाविष, सर्वाविष, मनःपर्ययु-क्षम, केबल्हान या उत्कृष्ट ऋद्वियां, उत्कृष्ट सम्यादर्शन, चारित्र आदि प्रकृष्ट गुणीका अनुभव या उपार्जित कमीकी निर्जराके अधिष्ठान ये पंदह क्षेत्र ही बन रहे हैं । अथवा " न वा प्रकुष्टशुभाशुप्र-कर्मीपार्जननिर्जरिधष्टानीपपत्तेः '' यो पाठ माननेपर यह अर्थ इआ कि उक्त शंका उठाना उचित नहीं है। क्योंकि जो सर्वार्धिसिद्धि विमानके प्रापक या तीर्थकरत अथवा महती ऋदियोंके संपादक असाधारण प्रकृष्ट शुभकर्म हैं, उनका उपार्जन इन कर्मभूमियोंमें ही किया जाता है और सातमें नरकको प्राप्त करा देनेवाले जो तीन पापकर्म हैं. उन कमीका संख्य भी इन ही कर्मभूमियोंमें होसकता है। तथा प्रत्येक कार्यमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, सार्वोक्षी अपेक्षा है। अतः ये कर्सभूमियां क्रिप पेदह क्षेत्र ही सर्वेक्टिप्यकर्म और सबसे बडे पापकर्मके उपार्जन स्थल हैं । संसारश्रमणको न्यून करने-बाली निर्जरा या मोक्षतत्त्वकी प्राप्ति भी इन ही स्थलेंगेरे होती है। दूसरा एक बात यह भी है कि क्षत्रिय उपयोगी असिकर्म और वैस्पर्वणके उपयोगी मिषकर्म, विणक्कर्म, कृषिकर्म, तथा शह उप-योगी विधाकम, शिल्पकर्म इनका इन कर्मभूमियोंमें ही अनुष्ठान करना देखा जाता है। ब्राह्मण वर्णके उपयोगी यजन, याजन, अध्ययन, अध्यापन, दान और प्रहण ये छह कर्म इन कर्मभूभियोंमें प्रवर्त रहे हैं। मुनिजन अपने छह सामायिक आदि आवश्यक कर्मीको, श्रावकजन देवपूजा आदि षट् आव-श्यकोंको पंदह कर्मभूमियोंमें पालते हैं। इस सूत्रमें अन्यत्र शहुका अर्थ परित्याम करना है। अतः परिशेष न्यायसे भरत, ऐगवत, और देवकुरु, उत्तरकुरुवर्जित विदेहसे अतिरिक्त ढाई द्वीपमें शेष रही बे भूमियें भोगभूमियें हैं, यह बात कहे विना ही सामध्येत जान की जाती है। इस बातका निकेदन प्रंथकार अग्रिम वार्तिको द्वारा करे देते हैं।

> भरताद्या विदेहांताः प्रख्याताः कर्मभूमयः । देवोत्तरकुरूंस्त्यक्त्वा ताः शेषा भोगभूमयः ॥ १ ॥ सामर्थ्यादवसीयंते सुत्रेस्मिन्नागता (न श्रुता) अपि । समुद्रद्वितयं यद्वत्पूर्वसूत्रोक्तशक्तिः ॥ २ ॥

भरतको आद्य स्थानमें घर कर विदेह क्षेत्रपर्यंत कर्मभूमियें बढिया ढंगसे वखादी गयीं हैं। चिदेहक्षेत्रके मध्यभाममें वर्त रहे देवकुरु, उत्तरकुरू, स्थानोंको छोडकरके विदेहक्षेत्रका प्रहण करना चाहिये। भरताचा में आदि शहको व्यवस्थावाची मानकर आद शहसे ऐरावतका ही प्रहण करना चाहिये। पांच मेरुमम्बन्धी पांच भरत, पांच ऐरावत और पांच विदेहोंको छोडकर शेष ढाई द्वीपकी

वे भूमिये मोगभूमियां हैं। ये भोगभूमियां श्री उमास्तामी महाराजने पूर्वसूत्रोंमें या इस स्क्रमें यद्यपि कंठोक्त नहीं कहीं हैं, तो भी सामर्थ्यसे अर्थापात्तिप्रमाण करके निर्णात कर छी जाती हैं, जिस क्क्सर कि पूर्वसूत्रमें कहे जानुके प्रमेय की सामर्थ्यसे दोनों छत्रणसमुद्र और काछोद्धि समुद्रका निर्णय कर छिया जाता है।

सार्धद्वीपद्ध्यमतिपादनस्त्रे वचनसामध्यादश्र्यमाणस्यापि समुद्वद्वितयस्य यथावसायौ अधुद्वीपलवणोदादिद्वीपसमुद्राणां पूर्वपूर्वपरिक्षेपित्ववचनात् तथास्मिन् सूत्रेनुक्तानामि भोमभू-मीनाम् निश्चयः स्यात् । भरतैरावतविदेहा देवकुरूत्तरकुरुभिर्वाजिताः कर्मभूमय इति वचन-सामध्यति देवकुरूत्तरकुरवः शेषाश्च हैमवतहरिगम्यकहैरण्यवताख्या भूमयः कर्मभूमिविस्क्षण-त्वाद्रोगंभूमय इत्यवसीयते ।

ढाई दीपों का प्रतिपादन क नेवाले उक्त सूत्रों में लवण समुद्र और कालोदिध समुद्रों का वर्णन सूत्रों द्वारा नहीं सुना गया है । फिर भी सूत्रकारके गम्मीर वचनोंकी सामर्थ्यसे जिस प्रकार अश्वयमाण दोनों समुद्रोंका निर्णय कर लिया जाता है, क्योंकि पहिले तो जम्बुद्धीप, छवणोद आदि असंख्यात द्वीप समुद्रोंका वर्णन किया गया है। पश्चात् सूत्र द्वारा पूर्व पूर्वके द्वीप, समुद्रोंका पिछ्छे पिछके द्वीप समुद्रों करके घरा डाले रहना कहा गया है, अतः विना कहे ही जन्मूद्रिय परिक्षेपी लवण समुद्र और धातकीखण्डके परिक्षेपी कालोदींधे समुद्रका निश्चय कर छिया है, उसी प्रकार इस सूत्रमें कण्ठोक्त नहीं भी कही गयी भोग मुनियोंका निश्चय कर छिया जाता है। भरत, ऐरावत, विदेह, व देवकुरुओं और उत्तरकुरु भागोंसे वर्जित हो रहे कर्मभूमि स्थान हैं। इस प्रकार इस सूत्रके कथनकी सामध्येंसे पांच मेक्सन्बन्धी पांच देवकुरुये, पांच उत्तर कुरुयें और पांच मेक्सन्बन्धी उक्त तीन क्षेत्रोंसे क्षेष रही पांच हैमवत, पांच हरि, पांच रम्यक, पांच हैरण्यवत, संज्ञावाली भूमियां भोगभूमियें यों निर्णीत कर छी जाती हैं। क्योंकि ये कर्मभूमियोंसे विलक्षण है। यद्यपि कर्मभूमिसे विलक्षणपना स्वर्ग, नरक, स्थावरछोक, सिद्धालय, आदिमें भी विद्यमान है। फिर भी पूर्यदास पक्ष अनुसार भूमि-पना, मनुष्पक्षेत्रत्व आदि विशेषणोंका अन्तर्गर्भ होनेसे उक्त हेतु व्यभिचारदोषकरके प्रसित नहीं है। यों पांच मेरुसम्बन्धी पन्द्रह कर्मभूमियां और पांच पांच देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरि, रम्पक, हैंस्प्यवत, इन नामोंसे तीस मोग गूमियां विन्यस्त हैं। छियानवें अन्तदीपों ही कुभोग गूमियोंमें गिनाया जा चुका है। किन्हीं जैन विद्वानोंका मन्तन्य है कि दिशाओंमें वर्तनेवाले समुद्रद्रयस्य अन्तरद्वीप या कर्मभूमियोंके निकटवर्ती अन्तरदीय कर्मभूमि सदश हैं। किन्तु इस मतमें अपना विशेष ऑदर नहीं है। कारण कि प्रकृष्ट पुण्य, पापों का, अनुष्ठान, मोक्षमार्ग, देशवत, महावत, आदिका परिपालन नहीं होनेसे कतिपंप अन्तर्द्वीपोकी कर्मभूमि कहनेमें जी हिंचाकिचाता है। अधिकरी अधिक इनके चीथा गुणस्थान हो सकता है। क्रियानवे अन्तरद्वीपोने उपने म्डेप्डमनुष्य विचारे भूका, क्रि. रिहत हो रहे और गुहा या बृक्षमें निवास करते सन्ते एक टांगवाले, सींगवाले, पूंछवाले आदि या अश्वमुख, सिंहतुख, महिषमुख, आदि अवस्थावाले शरीरोंको घार रहे, सदा भोगोंको भोगते रहते हैं। एक पत्य अपनी आयुःप्रमाण पर्यन्त अपने समान पत्नीके साथ निराबाध भोगोंको भोग कर अन्तमें मरकर स्वर्गमें वाहनजातिके देव हो जाते हैं। अथवा ज्योतिषी, व्यंतर अथवा भवनवासी होकर पुनः दुर्गतिके दुःखोंको भोगते हुथे संतारमें अमण करते हैं। यों भोगभूमियोंके छक्षणकी घटना हो जानेसे अन्तहींपवासी स्लेड्डोंको कुभागभूमियां कह देना जच जाता है। मानुषोत्तरपर्वतसे परली ओर आधे अन्तिम हीपतक एकेन्द्रिय या पंचेन्द्रिय तिर्यच ही हैं। ये स्थान भी कुस्सित भोगभूमियां कहे जाते हैं। जघन्य भोगभूमिवत भी माने जा सकते हैं। इन तिर्यचोंकी भी असंख्यात वर्षकी आयु है। एक कोश उंचा शरीर है। इनको आदिके चार गुणस्थानतक हो सकते हैं। सभी भोगभूमियां मरकर कषायोंका आवेग कुछ न्यून होनेसे देवगतिको प्राप्त करते हैं। हां, स्वयंत्रभ पर्वतसे परली ओर आधे स्वयन्भूरमण होप और पूरे स्वयंभूरमण समुद्र तथा चारों कोने कर्मभूमियां हैं। इनमें स्थलनिवासी तिर्यच पांचें गुणस्थानवर्ती भी असंख्याते पाये जाते हैं। यहां प्रकरणमें दाई दीपतन्त्रन्थी कर्मभूमियोंका सुबद्वारा और दाई दीपतन्त्रन्थी भोगभूमियोंका अर्थापित प्रमाण दारा परिज्ञान करा दिया गया है।

अथ तिश्वासिनां तृणां के परावरे स्थिती भवत इत्याइ ।

भली भांति तृप्त हो चुके शिष्यका दूसरे प्रकारका प्रश्न है कि गुरु महाराज, यह बताओं कि उन ढाई द्वीपोंमें निवास करनेवाले मनुष्योंकी उन्क्रहस्थिति और जवन्यस्थिति क्या होती है ! इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिमसूत्रको कहते हैं।

नृस्थितीपरावरे त्रिपल्योपमांतर्ग्रहूर्ते ॥ ३९ ॥

मनुष्योंकी उत्कृष्टिशित तीन अद्भामन्योपम है, जो कि उत्तम भोगभूमियां मनुष्योंके संभव रही है और जघन्यस्थिति अन्तर्मुहुर्त है, जो कि श्रासके अठारहवें भाग काल की लब्ज्यपर्यातक मनुष्योंमें पायी जाती है। अडतालीस मिनटके मुहुर्तमें तीन हजार सातमी तिहत्तर ३७७३ श्रास माने गये हैं। जन्यपर्यातक मनुष्य श्रासके अठारह भागतक जीवित रहता है। श्रासका अर्थ मनुष्योंके पोंचेमें वात, पित्त, कफकी, चल रही नाडीकी एक बार गतिका कालपिमाण है। मुख या नाकसे निकल रही प्राणवायुकी खास माननेपर जन्म, मरणका गणित ठोक नहीं बैठता है। श्रास गतिसे नाडीकी गतिका काल कुछ न्यून, अधिक दुगुना बैठ जाता है। उत्कृष्ट स्थिति भोगभूमिके मनुष्य की है और जघन्यस्थिति सन्मूर्जन जनमवाले लब्ज्यपर्यासक मनुष्यकी है।

यथासंख्यमभिसंबधित्रपल्योपमा परा नृस्थितिरंतर्ग्रहूर्तावरा इति । मध्यमा नृस्थितिः केत्याह ।

सूत्रमें पर और अवरके साथ त्रिपल्योपम और अन्तर्मुहूर्तका यथासंस्थरूपसे सम्बन्ध कर छेना चाहिये। यों यथाक्रम अनुार दोनोंका सम्बन्ध करने पर मनुष्योंकी तीन पल्योपम उत्कृष्ट स्थिति और मनुष्योंकी जधन्यास्थिति अन्तर्मुहूर्त्त यों समझ छी जाती है। मनुष्योंकी मध्यमस्थितियां कौन हैं। ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी अग्रिमवार्त्तिकको कहते हैं।

परावरे विनिर्दिष्टे मनुष्याणामिह स्थिती । त्रिपल्योपमसंख्यांतर्मुहूर्त्तगणने बलात् ॥ १ ॥ मध्यमा स्थितिरेतेषां विविधा विनिवेदिता । स्वोपात्तायुर्विशेषाणां भावात्सूत्रेत्र ताहशां ॥ २ ॥

इस सूत्रों मनुष्यों है। उत्कृष्ट स्थिति तीन पत्योपम संख्यावाठी और जवन्यस्थिति अन्तर्महर्त्त नामक गणनाबाळी विशेषरूपसे कह दी गर्थी है। विना कहे ही आदि, अन्त, स्थितियोंकी सामध्येसे इन मनुष्योंकी नानाप्रकार मध्यमस्थितियां तो अर्थापतिद्वारा श्री उमास्वामी महाराजकरके इस सन्नम थिशेषतया निवेदन कर दी गयीं समझ छेनी चाहिये। क्योंकि पूर्वजन्मसम्बन्धी अपनी अपनी कषायों के अनुसार इन मनुष्यों के निज उपार्जित विशेष विशेषिदि तिको लिये इये तिस तिस दंगके आयुष्य कर्मीका सद्भाव है। अर्थात्-पूर्वजन्मोंमें विशुद्ध परिणामोंसे उपार्जी गयी मनुष्य आयुक्ते अनुसार जीवोंका एक समय अधिक कोटीपूर्ववर्षसे प्रारम्भ कर तीन पत्यकी आयुवालोंका भोग-म्भियोंमें जन्म होता दै । और संक्लेश परिणामें अनुसार नाडीगतिके अठारहवें भाग जघन्य आयुः स्थितिसे प्रारम्भ कर कोटि पूर्व वर्षतककी आयुवाले जीवोंका कर्मभूमि मनुष्योंमें उपजना होता है। खतः एक समय अधिक अन्तर्भुहुर्तेसे प्रारम्भ कर एक समय कम तीन पल्यतककी असंख्यात प्रकार मध्यम स्थितियां तो सूत्र उच्चारण किये विना ही " तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते " इस नियम अनुसार गम्यमान हो जाती हैं । एयादीया गणना वीयादीया हवंति संखेरजा, तीयादीणं णियमा-कदित्ति सण्णा मुणेदच्या " इस गाथा अनुसार एक आदिको गणना कहते हैं । और दो आदिको संख्या कहते हैं । असंख्यात या अनन्त भी संख्याविशेष हैं । पल्य एक असंख्यातासंख्यात नामकी संख्याका मध्यम भेद है । चूंकि ढाई सागरके समयप्रमाण असंख्याते द्वीप समुद्र हैं और दश कोटा कोटी पल्योंका एक सागर होता है। तथापि सम्पूर्ण द्वीपसमुद्रोंसे जबन्य, मध्यम, उत्तम भोग सुमियोंके मनुष्योंके आयुष्य समय अत्यधिक हैं । क्योंकि द्वीपसमुद्रोंकी गणना तो उद्घार पत्योंकी पश्चीस कोटा-कोटी संख्यासे है। किन्तु उद्धारपल्यसे सी वर्षके असंख्यात समयों गुना एक अद्धापन्य होता है। भोगभूमियोंकी स्थिति अद्वापल्यसे गिनायी गयी है । जघन्य युक्तासंख्यात-समयपरिमित आवळीसे संख्यात गुना मुहुर्त काछ होता है। जो कि प्रतरावळीकाळका असंख्यातवा भाग है। मनुष्योंकी जिनदृष्ट संख्यात—आवळीप्रमाण जघन्य स्थिति समझनी चाहिये । कोटिपूर्व वर्षकी स्थिति भी संख्यात आवळियां हैं । प्रतरावाळिका असंख्यातवां भाग वह मध्यमस्थिति है ।

तिरश्चां के परावरे स्थिती स्थातामित्याइ।

पुनः जिज्ञासुका प्रश्न है कि मनुष्योंकी स्थिति समझ ली, तियैचोंकी उत्कृष्ट स्थिति और जघन्य स्थिति क्या होगी ? बताओ, ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्त्रामी महाराज अगळे सूत्रको कहते हैं ।

तिर्यग्योनिजानां च ॥ ४० ॥

तिर्यगाति नामकर्मके अनुसार तिर्यच योनियोंमें जन्म छेनेवाले जीमोंकी उत्कृष्ट स्थिति तीन पत्योपम और जघन्य भवस्थिति नाडीगातिके अठारहर्वे भागप्रमाण अन्तर्सुहूर्त्त है ।

त्रिपल्यापमांतर्धुहृतें इति वर्तते, पृथग्योगकरणं यथासंख्यनिष्ट्रत्यर्थे । एकयोगकरणं हि नृतिर्थक्स्थिती इति निर्देशे नृस्थितिः परा त्रिपल्योपमा, तिर्थक्स्थितिरवरान्तर्धुहूर्तेति यथासं-ख्यमभिसंबंधः प्रसङ्यते । ततस्तिश्ववृत्तिः पृथग्योगकरणात् ।

" नृश्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते " इस स्त्रसे " त्रिपल्योपमा " और " अन्तर्मुहूर्त " शह्यकी अनुवृत्ति कर छी जाती है स्थिति और परा, अपराका प्रकरण चल ही रहा है। अतः तिर्यचोंकी उन्कृष्ट स्थिति तीन पल्य है। जो कि उत्तम भोगभूमियोंके तिर्थचोंके पायी जाती है। तिर्यचोंकी जघन्यस्थिति अन्तर्मुहूर्त्तकी लब्ध्यपर्याप्तक तिर्थचोंके सम्भव रही है। पूर्वस्त्रके साथ इस स्त्रका एक्योग नहीं कर पृथक् पृथक् योगिवभाग करते हुये श्री उमास्वामी महाराज करके दो स्त्रोंका कथन करना तो संख्या अनुसार यथाकमसे होजानेवाले अनिष्ट्रप्रसंगकी निवृत्तिके लिये हैं। कारण कि यदि दोनों स्त्रोंको मिल्डाकर " तृतिर्यक्रिथती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते " यो जोडकर दिया जायगा तो मनुष्य और तिर्थचोंकी स्थिति वो ल्युतापूर्वक कथन करने पर इस प्रकार यथा संख्यसे दोनों ओर पर और अवरके सम्बन्ध होजानेका प्रसंग होजावेगा कि मनुष्योंकी उन्कृष्ट स्थिति तीन पल्योपम है और तिर्थचोंकी जघन्यस्थिति अंतर्भुहूर्त है। किन्तु केवल इतना ही अर्थ तो स्त्रन्कारको अमीष्ट नहीं था। अतः त्यारे दो सूत्र बनाकर तिस योगका पृथक्षाग कर देनेस उस अनिष्टप्रसंगकी निवृत्ति होजाती है।

तिर्यङ्नाम क्रमींदयापादितजन्म तिर्यग्यानिस्तत्र जातास्तिर्यग्योनिजाः एकेंद्रियविकलेंद्रिय-पंचेंद्रियविकल्पाक्षिविधाः तेषां च यथागमं मध्यमा स्थितिः सामध्यक्रभ्या प्रतिपत्तव्या पराव-रास्थितवत् ।

जिन संसारी जीवोंका जन्म लेना नामकर्मके भेद होरहे गतिनाम कर्मकी उत्तरप्रकृति मानी गयो तिर्थगाति संक्रक नामकर्मके उदय होने पर सम्पादित होरहा है, वह जन्म तिर्थग्योनि कहा जाता

है। उस तिर्यग्योनिमें उत्पन्न हुये जीव तिर्यग्योनिज हैं। तिर्यचेंकि स्थूलरूपेंस एक स्पर्शन इन्द्रियवाले और दो इन्द्रिय तीन इन्द्रियें या चार इन्द्रियां, यों विकल होरही इन्द्रियोंको धारने वाले तथा पांचों इन्द्रियोंको धारनेवाले यों तीन प्रकार हैं। इस सूत्रमें तिर्थेचोंकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिको कह दिया गया है। पर, अपर, स्थितियोंके कह देनेसे बिना कहे हैं। सामर्थ्य द्वारा छन्ध होगई मध्यमा स्थितिकी प्रतिपत्तिको आगम अनुसार कर छेना चाहिये। जैसे कि कई प्रकारके तिर्धेचौंकी अध्यय या उत्कृष्टिस्थितियोंको सर्वज्ञोक्त आम्नाय द्वारा निर्णीत कर छिया जाता है। अर्थात-मृद् प्रध्वीकायिक जीवोंकी उत्कृष्टिस्थिति नारह हजार वर्ष है। पर्वत, रत्न. कंकण, आदि कठिन प्रध्वीकायिक जीवोंकी परा स्थिति बाईस हजार वर्षकी है। जलकायिक जीवोंकी सात हजार, तेजस्कायिक जीबोंकी तीन दिन, बायुकायिक जीवोंकी तीन हजार वर्ष, और क्नस्पति-कायिक जीवोंकी दस हजार वर्ष उत्कृष्ट स्थिति है। शंख, सीप, आदि द्वीन्द्रियोंकी बारह वर्ष, त्रीदियोंकी उनंचास दिन, मक्खी वर्र आदि चतुरिदिय जीवोंकी अह मास उत्कृष्ट स्थिति है। पंचोंन्द्रेय तिंथेचोंमें जलचर मत्त्य, मकर, आदि जीवोंकी उत्क्रष्ट स्थिति कोटिपर्व वर्ष है। सर्पट चलनेवाले गोह, नीला, विपखपरा, आंदिक जीव नी पूर्वाङ्गतक जीवित रह सकते हैं। सर्पों भी उत्कृष्ट आयु वियालीस इजार वर्ष है । पक्षियोंकी उत्कृष्ट आयु बहत्तर इजार वर्ष है । भीग-भूमियोंमें पाये जा रहे पक्षियोंमें यह आयु सम्भवती है। चार पांक्वाले पद्मओंकी उत्कृष्ट आयु तीन पल्यकी है। सम्पूर्ण तिर्थेचोंकी जघन्य आयु धासके अठारहाँ भागप्रमाण अन्तर्सहर्त है. जो कि कर्मभूमियों के तिंभी चों में ही पायी जाती है। यहां विशेष इतना ही कहना है कि पत्यरका कोयला. मिही, कंकड, रत्न, आदि सचित्त पृथ्वीकी सरसों प्रमाण डेळीमें असंख्याते पृथिवीकायिक जीव हैं। यही दशा जलकी बूंद या अमिका दुकडा अथवा वायुके स्वल्प भागमें भी छमा छेना। यदि वितने ही दिनोंतक अप्नि जलती रहे तो भी उसका जीव तीन दिनसे ज्यादा ठहर नहीं सकता है। असंख्य जीव वहां क्रमसे जन्म केते और मस्ते सहते हैं। तेल, लकडी, विद्युत्पवाह, आदिसे जो चमकती हुई अप्नि ज्वालायें उपजतीं हैं, उन अप्निकायके जीवोंकी स्वल्पकाल स्थिति असिद्ध ही है। क्योंकि अग्निक्वालास्त्ररूप अनेक शरीनें का अग्निकायिक जांत्रोंकी भृत्यु के पश्चात्का जल आदि पर्यायोंमें परि-वर्तन हो जाता है। मधु मक्खियों या वरीं के छत्ता कई वर्षीत क बने रहते हैं। उनमें मक्खियां भी पायी जाती हैं। ये उन मक्खियों भी धारात्राहिकसंतान हैं। एक मक्खी या वर्र छह महीनेसे अधिक जीवित नहीं रह सकती है। समुदित मनिखयों भी संतान, प्रतिसंतानों, करके हुये मतिज्ञानों करके वे कार्य भी हो जाते हैं कि मक्खियां कुछ दिनके छिये पहाडोंपर या अन्य उचित स्थानोंपर चली जाती हैं । महीनों बाद उस स्थानपर छीट आती हैं । यद्यपि चों इन्द्रिय जीवोंके मनसे होनेवाला विचार आत्मक श्रुतज्ञान नहीं है। फिर भी जितना कुछ मतिज्ञान है, उसके द्वारा पूम फिर कर अपने स्थानपर छोट आना या अपने क्योंके शरीर उपयोगी सन्पूर्छन पदार्थीको दृंढ कर हे आना.

अपने या बचोंके उपयोगी घरका निर्माण करना, शीत, उष्ण, मेघबाधाओंसे या घातकमनुष्य, पश्च, पश्चिगोंके उपद्रवसे बचाकर उचित स्थळमें गृह बनाना, खाद्यपदार्थीका संप्रह कर रखना, आदि अनेक कार्य सम्पन्न हो जाते हैं। दितकी प्राप्ति और अहितका परिदार करना झानका कार्य है। यो प्रन्थकारने तिर्थेचोंकी एक एक प्रकार उत्कृष्ट और जघन्य स्थिति तथा असंद्र्य प्रकारोंकी मन्यम स्थितिगोंको साथ दिया है।

किमर्थिमहोक्ते तिरश्चां परावरे स्थिती मकरणाभावेपीत्यादशीयति ।

इस तृतीय अध्यायके अन्तमें आर्य या म्लेक्ड मनुष्यों का प्रकरण आ जानेसे पूर्व स्त्रद्वारा मनुष्योंकी जघन्य उत्कृष्ट आयुक्ता निरूपण कर देना उचित है। किन्तु तिर्थेचोंका प्रकरण नहीं होते हुये भी श्री उमास्वामी महाराजने यहां तिर्थचोंकी जघन्य—उत्कृष्टिश्यितिको किस लिये कह दिया है ? इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द आचार्य उत्तरवार्तिक द्वारा समाधान वचनको दर्पण-वद् दिख्छाते हैं।

ते तिर्यग्योनिजानां च संक्षेपार्थमिहोदिते । स्थिती प्रकरणाभावेष्येषां सूत्रेण सूरिभिः ॥ १॥

प्रकरण नहीं होनेपर भी श्री उमास्तामी महाराजने इस स्त्रकर के इन तिर्धियोनिमें जन्म छेने बाढ़े जीबोंकी उन जबन्य उत्कृष्ट स्थितियोंका निरूपण संक्षेप के छिये कर दिया है। अर्थात्—नार-कियों और देवोंकी स्थितिके निरूपण अवसरपर चीथे अध्यायमें यदि तिर्धचोंकी आयुको कहा जाता तो " तिर्धियोनिजनां स्थिती परावरे त्रिपल्योपमान्तर्भृहूर्ते " इतना छंगूरकी छांगूळतुल्य छम्बा सूत्र बनामा पडता। अक्षरों और प्रतिपत्तिका गौरव हो जाता। किन्तु यहांपर " तिर्धियोनिजानां च " इतने खल्प सर्वपसमान सूत्रसे ही समीहित अर्थकी सिद्धि होगई है। कर्मभूषि या भीगभूषि स्थानोंमें मनुष्योंके समान तिर्थेच भी निवास करते हैं। अतः मनुष्योंके साथ विर्थचोंका भी प्रवरण है। मनुष्योंकी संगति नारिक्योंसे सर्वथा नहीं है। हां, देवोंके साथ क्वाचित् कराचित् सम्मेळन हो जाता है। किन्तु मनुष्योंका तिर्थचोंके साथ धनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः मनुष्योंका वर्णन करते समय तिर्थचोंका प्रकरण भी बाटिति उपस्थित हो जाता है।

नन्वसंख्येयेष्वपि द्वीपसमुद्रेषु दृष्टेषु सार्वद्वीगद्यवपंचं निरूपवतः सूत्रकारस्य किं चैवसि स्थितमित्याइ।

यहां कोई वाषद्क पण्डित आशंका करता है कि पवीस कोटाकोटि उद्धार पत्यों के समय प्रमाण नव असंस्थातें द्वीपसमुद्र इस तिर्थक् छोकमें देखे जा रहे हैं, तो उन सभीमेंसे केवल ढाई द्वीपोंको ही किस्तारसिहत निरूपण कर रहे सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजके चित्तमें कौनसी बास

व्यवस्थित हो गयी है ! बताओ । या तो हजारों, टाखों, समी द्वीपोंका थोडा निरूपण करना चाहिये था । अथवा सातवें, आठवें सूत्रों करके सामान्य कथन कर तृतीय अध्यायको पूरा कर देना था । नीवें सूत्रसे प्रारम्भ कर चाडीसवें सूत्रतक ढाई द्वीपकी ही स्तृति गाना तो उचित नहीं दीखता है । ढाई द्वीपसे बाहर भी असंख्य द्वीप समुद्रोंमें बढी बढी सुन्दर मनोहारी रचनायें हैं । ढाई द्वीपसे बाहर मनुष्य और तेरह दीपके बाहर सर्व साधारण अकृत्रिम जिनचैत्यालयोंके नहीं होनेसे उन असंख्य द्वीपोंकी अवहा नहीं की जा सकती है । व्यन्तरोंके अकृत्रिम नगरोंमें तो वहां भी चैत्यालय है । इस आक्षेपका उत्तर देनेके लिये आ विधानन्द स्थामी अभिमवार्तिकको कहते हैं ।

सार्धद्वीपद्वये क्षेत्रविभागादिनिरूपणं। अध्यायेस्मिन्नसंख्येयेष्विप द्वीपेषु यत्कृतं॥२॥ मनुष्यलोकसंख्या या जिज्ञासविषया मुनेः। तेन निर्णीयते सद्भिरन्यत्र तदभावतः॥३॥

असंख्याते द्वीपोंके होनेपर भी इस तृतीय अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने जो ढाई द्वीपोंमें ही क्षेत्र विभाग, पर्वत, नदी, आदिका निरूपण किया है, उससे अधीपति द्वारा सज्जन विद्वानों करके निर्णय कर लिया जाता है कि जो मनुष्यलोककी संख्या है, वही सूत्रकार मुनिकी जिज्ञासाका विषय है। क्योंकि ढाई द्वीपसे अतिरिक्त अन्य द्वीपोंमें उस मनुष्यलोककी संख्याका अमाव है। अर्थात्—असंख्य द्वीपोंमेंसे ठीक भीतरले ढाई द्वीपोमें ही उत्कृष्टरूपसे द्विरूप वर्गधाराकी पंचम कृतिके धनस्वरूप ७९२२८१६२५१४२६४३३७५९३५७५९३५५०३३६ यो उन्तीस अंक प्रमाण पर्याप्तमनुष्य पाये जाते हैं। अन्य द्वीपोंमें मनुष्य नहीं हैं। शिष्यके मनुष्यलोककी जिज्ञासा अनुसार सूत्रकारको नृत्वोकका व्याख्यान करना पढ़ा है। अन्य कोई पक्षपात या अवज्ञा करनेका अभिप्राय नहीं है।

नजु च जीवतत्त्वमरूपणे मक्तते किं निरर्थकं द्रीपसधुद्रविशेषनिरूपणमित्याशंकां निवारयति।

पुनः किसीकी सकटाक्ष आशंका है कि पहिछे ही अन्यायसे प्रारम्भ कर पूरे दूसरेमें और तीसरे अन्यायके कुछ भागमें जीवतत्त्वका प्ररूपण करना जब प्रकरणप्राप्त हो रहा है, तो किर बीचमें ही न्यर्थ विशेषद्वीपों और विशेषसमुद्रोंका निरूपण सूत्रकारने क्यों कर दिया है ! निरर्थक बातोंको सुनने के छिये किसी प्रेक्षावान के पास अवसर नहीं है । निरर्थक बातोंसे बुद्धिमें परिश्रम उपजता है । पापप्रसंग भी हो जाता है । संवर और निर्जराके प्रस्ताव टळ जाते हैं । इस प्रकार की गपी आशंकाके निवारणको प्रस्थकार अप्रिमवार्तिक करके करते हैं ।

न च द्वीपसमुद्रादिविशेषाणां प्ररूपणं । निःप्रयोजनमाशंक्यं मनुष्याधारनिश्चयात्।। ४ ॥

द्वीप समुद्र, नर्दा. हद, खादि विशेषोंका प्रस्रपण करना प्रयोजनसहित है, ग्रह आशंका जहीं करनी चाहिये। क्योंकि इससे मनुष्योंक आधारमूत स्थलोंका निर्णय हो जाता है। सम्पूर्ण संसारियोंने मनुष्योंकी गणना उच्चकीटिक मीवोंने हैं। श्री अस्हन्तप्रमेष्ठी या उत्कृष्ट श्रोता, क्या, अथवा वादी, प्रतिवादी, ये सब मनुष्य ही तो हैं। अतः जीवोंका वर्णन करते समय मनुष्य और उनके अधिकरण हो रहे ढाई द्वीप और दो समुदोंका निरूपण करना व्यर्थ बही है। ज्ञान या प्यानके उपयोगी प्रकरणोंको अवश्य सुनना, समझना चाहिय। यही ज्ञान विचारआकान्त होकर ध्यान बन बैठता है और स्वसंत्रेष्ठ सुखका उत्सादक हो रहा स्वरंद, निर्क्रियका संभादक हो जाता है।

कानि पुनर्निमित्तानि न्दद्वीपस्युद्धनिक्षेत्रेक्ष्ययमानानां सनुस्माणाधित्साह ।

यहां किसीकी जिद्धासा है कि चन ढाई दीम्मिकोमां या छवणोद, सालोद, दो समुद्रविशेषों ने उपज रहे मनुष्यों के फिर निमित्तकारण कौन हैं ! अर्थाद—किन कारणों से मनुष्य इन ढाई दीपोंने उपज जाते हैं ! अन्यत्र क्यों नहीं उपजते हैं ! इसके उत्तरमें श्री विधानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिकको कहते हैं ।

नानाक्षेत्रविपाकीनि कर्माण्युत्पत्तिहेतवः। संत्येव तद्विशेषेषु अद्गलादिविपाकिवत्॥ ५॥

जैसे कि पुद्रल या जीव आदिमें विपाकको करने वाले पुद्रलविपाकी कर्म, जीविविपाकी कर्म, और भवविपाकी कर्म हैं, उसी प्रकार उन विशेषद्वीप या समुद्रविशेषोंमें उत्पत्ति होजाने के कारण अनेक क्षेत्रविपाकी कर्म भी संसारी आत्माक साथ बंधनबद्ध होरहे हैं।

यथा पुत्रलेषु शरीरादिलक्षणेषु विषवनशीलानि पुत्रलविषाकीनि कर्माणि शरीरनामा-दीनि, यथा च भवविषाकीनि नरकायुरादीनि, जीवविषाकीनि च सद्देशादीनि, तथा तश्रो-त्यती मनुष्याणामस्येषां च माणिनां हेतवः संति तद्दशानाक्षेत्रेषु विषवनश्रीलानि क्षेत्रविषा-कीन्यपि कर्माणि संति तत्र तत्रोत्यत्तौ तेषां हेतव इति तदाधारविशेषाः सर्वे निरूपणीया एव ।

जिस प्रकार शरीर, उपांग, हड़ी, रक्त, आदि स्वरूप पुद्रलेंमें विषाक होनेकी टेनको रखने-बाले शरीर नामकर्म, आदिक पुद्रलिवपाकी ६२ बासठ कर्म हैं। '' देहादी फासंसा पण्णासा णिमिणतान जुगलं च, थिर सुह पत्तेय दुगं अगुरुतियं पोग्गलिनाई ''। और जिस प्रकार नरक आयु, तियगायु, आदि बार कर्मप्रकृतियां मननिपाकी हैं और सहेदनीय आदिक अठतर कर्मप्रकृतियां जीननिपाकी हैं। अज्ञाणि अञ्चिवाई खेत्तिकाई य अम्पुपुन्तीओ। अठत्ति अवसेसा जीविवाई मुणेयका''। ये तीन जातिकी प्रकृतिक्षां ममुष्पोंके या अन्यजीवोंक तिस प्रकार वहां उपजनेमें प्रेरक निमित्त कारण होजाती हैं, उसीके समान अनेकक्षेत्रोंमें विपाक होनेकी टेक्को धारनेत्राल चौथी जातिके चार आनुपूर्व्य क्षेत्र-विपाकी कर्म भी उन उन स्थलों पर उन जीवोंके जन्म लेकर उत्पत्ति होनेमें प्रेरक हेतु हो जाते हैं। अर्थाद् जिन जीवोंके जिस जातिके कर्मका सद्भाव पाया जावेमा, तदनुसार उन उन द्वीप या समुद्रोंमें जीवका जन्म हो जायेगा। इस कारण उन जीवोंके संपूर्ण आधार विशेषोंका निरूपण करना आवश्यक ही पढ गया है।

तदशरूपणे जीवतत्त्वं निस्यात प्ररूपितं । विशेषेणेति तज्ज्ञानश्रद्धाने न प्रसिष्यतः ॥ ६ ॥ तिश्रवंभनमञ्जूष्णं च।रित्रं च तथा क नु । मुक्तिमार्गोपदेशो नो शेषतत्त्वविशेषवाक् ॥ ७ ॥

यदि उन क्षेत्रोंका निरूपण नहीं किया जायगा तो विशेषरूपकरके श्री उमास्वामी महा-राज द्वारा जीवतत्त्वका निरूपण करना नहीं समझा जायगा। ऐसी दशामें उस जीवतत्त्वका झान करना और जीवतत्त्वका श्रद्धान करना ये दो रत्न कभी भी प्रसिद्ध नहीं होसकते हैं। और तिस प्रकार सम्यग्दर्शन और सम्यग्द्धानकी प्रसिद्ध नहीं होनेपर उन दो को कारण मान कर होने वास्त्र तीसरा रत्न निर्दोष या पूर्णचारित्र तो भला कहां श्रसिद्ध हो सकता है ? और यों तीनों रत्नोंके नहीं प्रसिद्ध होने पर विचारा आधसूत्र द्वारा मोक्षमार्गका उपदेश देना भी कहां बना ! जीवको मूलभित्ति मानकर शेष छह तत्त्वोंका निरूपण किया जाता है । जीवतत्त्वकी प्ररूपणा हुये विना शेष अजीव आदि तत्त्वोंका विशेषरूपिक करना नहीं बन पावेगा। अतः मोक्षमार्ग माने गये रत्नत्रयके विषय हो रहे जीवादि तत्त्वोंकी समीक्षीनप्रतिपित्व करानेके लिये उन जीवोंके आधारस्थानोंका निरूपण करना सूर्वकारका उचित कर्तव्य हैं।

तेषां हि द्वीपसमुद्रविशेषाणाममस्यणं मनुष्याधाराणां नारकतिर्यन्वाधाराणामप्य-मस्यणमसंगाम विशेषण जीवतन्तं निरुपिते स्याद्य तिक्काणाभाव च न तिह्यानं श्रद्धानं च सिष्टात्, तदसिद्धी श्रद्धानद्यान्य स्थात् । ततो मुक्तिमार्गापदेशिमच्छता सम्यग्दर्शनम्यान्य हैवं १ श्रेषाजीवादितन्त्ववचनं च नैवं स्यात् । ततो मुक्तिमार्गापदेशिमच्छता सम्यग्दर्शनमान्यारित्राण्य स्थुपंगतच्यानि । तदन्यतमार्गार्थे युक्तिमार्गानुप्यत्वेः, तानि चार्युपंगच्छता तदिषय-भाषसञ्ज्ञान्य जीवतन्त्वमजीवादितन्त्वन्य स्थित्वच च तत्वक्षाने च तदिश्वेषा आधारादयः मित्रप्रच्याः। इति युक्तिद्वीपसमुद्रादिस्तिवेशादिविशेषस्यम्यमञ्ज्ञाये अस्मिन्। अत्रापरः माद्

कारण कि मनुष्योंके आधार हो रहे उन ढाई द्वीपविशेषों या दो समुद्रविशेषोंका निरूपण यदि नहीं किया जायगा, तब तो नारकी जीवोंके आधार हो रहे नरकस्थान तिर्येच प्राणियोंके आधारभूत तिर्यक् लोक और देवोंके आधारस्यानोंके भी निरूपण नहीं करनेका प्रसंग आ जावेगा। और ऐसा होनेसे विशेषरूपसे जीवतत्त्वका निरूपण कर दिया गया नहीं समझा जायगा ! तथा विशेषक्षपते उस जीवतत्त्वका निरूपण नहीं करनेपर उस जीवतत्त्वमें विज्ञान या श्रद्धान होना नहीं सिद्ध हो पार्थेंगे । उन विज्ञान और श्रद्धानकी नहीं सिद्धि होनेपर श्रद्धान और ज्ञानको कारण मान कर हुआ परिपूर्ण चारित्र मेळा कहां सम्मावित किया जावेगा ! और इस अन्वकारसदृश असिद्धि-यों भी काली रातमें सन्यन्दर्शन, सन्यन्द्वान, सन्यक्चारित्ररूप मोक्षमार्ग कहां बना ? जीवतस्वसे अयाशिष्ट अजीव, आदि छड तत्त्वोंका परिभाषण भी इस प्रकारकी दशामें नहीं बन पाता है। तिस व रिणसे मोक्षमार्गके उपदेशकी रुखा रखनेवाले विद्वान्को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, और सम्यक्चारित्र, अवस्य स्वीकार कर छेने पडेंगे । उन तीनोंमेंसे एकका भी विस्केष हो जानेपर मोक्षमार्गकी प्रसिद्धि नहीं हो सकती है । और उन सम्यग्दर्शन, सम्यग्नान, सम्यक् चारित्रोंको स्वीकार कर रहे विद्वान्करके उस रत्नत्रयके विषयपनका अनुभव कर रहे जीवतस्वकी अजीव, आखव, आदि तत्त्वोंक समान प्रति-पत्ति कर लेनी चाहिये और यों उस जीवतस्वकी प्रतिपत्ति करते सन्ते पण्डित हो उस जीवके विशेष हो रहे आधार आदि और आधारोंकी लम्बाई, चौडाई, आदिकी प्रतिपत्ति कर लेना आवश्यक पढ जाता है । इस कारण इस तृतीय अध्यायमें द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदी, आदिकी रचना, चौडाई, उनमें रहनेवाळे जीवोंकी आयु, आदिका विशेषरूपते सूत्रकारने प्ररूपण किया है, यह युक्तिपूर्ण है। यह, तक तीसरे अध्यायके प्रमेयका विवरण हो चुका है। अब यहां कोई दूसरा सृष्टिकर्ताबादी विद्वान अपने मतको बहुत बढिया समझता हुआ कह रहा है, उसको भी सनको ।

ननु द्वीपादयो भीमद्वेतुकाः संतु सूत्रिताः । सिन्नवेशिवशेषत्वसिद्धेर्घटवित्यसत् ॥ ८ ॥ हेतोरीश्वरदेहेनानेकांतादिति केचन । तत्रापरे तु मन्यंते निर्देहेश्वरबादिनः ॥ ९ ॥ निभित्तकारणं तेषां नेश्वरस्तत्र सिष्यति । निर्देहत्वाद्यथा मुक्तः पुरुषः सम्मतं स्वयं ॥ १० ॥

वैशोषिक अपने पक्षका अनुमान प्रमाण द्वारा अवधारण कराता है कि श्री उमास्वामी महाराज करके उक्त सूत्रों द्वारा तहे जा चुके द्वीप, ससुद्र, धृषीवियें, पर्वत, शरीर, इन्दियें, आदिक पदार्थ

(पक्ष) किसी बुद्धिमान् कर्तात्वरूप हेतु करके बनाये गये समझे जाओ (साध्य) निशेष प्रकारकी रचना बन रही होनेसे (हेतु) घटके समान (अन्ययद्यान्त) । आचार्य ऋहते हैं कि यों नैशेषिकका मन्तन्य प्रशस्त नहीं है । क्योंकि उक्त अनुमानके हेतुका ईश्वरके शरीरकरके व्यमिचार हो जाता है । पौराणिक विद्वानोंने ईश्वरका शरीर स्त्रीकार किया है । किन्तु उस शरीरका निमित्त कारण ईश्वर नहीं पडता है । अतः हेतुके ठइर जानेसे ईश्वरदेहमें साध्यका अभाव हो जानेपर सिक्षेशियत हेतु व्यमिचारी हो जाता है । यदि ईश्वरकरके अपने शरीरका निर्माण भी अन्य अन्य शरीरोंद्वारा स्त्रीकार किया जायगा तो अनवस्था दोष आ जावेगा । ईश्वर अपने शरीरोंको बनाते बनाते उपश्लीणशक्तिक हो जायगा । यों ईश्वरशरीर करके व्यभिचार दे चुकनेपर उस प्रकरणमें ईश्वरके देह को नहीं कहनेवाले कोई दूसरे वादी ते। यों मान बैठे हैं कि ईश्वरके देह ही नहीं है, शरीररिद्दित ही ईश्वर सम्पूर्णकार्योका निमित्तकारण हो जाता है । आचार्य कहते हैं कि उन बादियोंके यहां उन तनु तरु आदि कार्योमें ईश्वर निमित्तकारण सिद्ध नहीं हो पाता है (प्रतिक्रा), देहरिहत होनेसे (हेतु) जैसे कि स्वयं आपका भले प्रकार माना जा चुका मुक्त आत्रमा सृष्टिका निमित्तकारण नहीं है (अन्वयद्यान्त) । अतः द्वीप, समुद्र, आदि सब अक्रिय है । अनादि अनिधन हैं ।

विवादाध्यासिता द्वीपादयो बुद्धिमत्कारणकाः सिक्षेत्वशिवश्ववत्त्वात् घटनदिति कश्चित् । तदसत् । हेतोरीश्वरशरीरेण विश्वतश्चश्चरत विश्वतो ग्रुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्यात् । संबाद्धभ्यां धमित संपत्तेर्चावाभूभी जनयन् देव एकं इत्यागममिद्धिनानेकांतादिति । अपरे नेश्वरस्य शरीरमस्ति यतो हेतोर्च्यभिचारश्चोद्यत इति मन्यंते तेषां " अपाणिपादो जवनो प्रदीता पश्चरत्यचश्चः स श्रृणोत्यकणः, स वेत्ति विश्वं न हि तस्य वेत्ता तमाहुरप्रयं पुरुषं महांतं " इत्यागमं प्रमाणयतां नेश्वरस्तत्र निमित्तकारणं सिध्चति निर्देहत्वात् स्वयं संमतश्चकात्मवत् ।

किसी पौराणिक विद्वान्का अनुमान है कि द्वीप, समुद्र, आदि ये कृतिम हैं या अकृतिम हैं ! यों विवादमें निर्णयार्थ प्राप्त हो रहे द्वीप, पर्वत, आदिक (पक्ष) किसी बुद्धिमान् कारण करके बनाये गये कार्य हैं (साध्य)। सिन्नेवश यानी रचनाविशेष होनेसे (हेतु) घटके समान (अन्ययदृष्टान्त) यहांतक कोई कह रहा है। प्रन्थकार कहते हैं कि उसका कहना असत्यार्थ है। क्योंकि ईश्वरक तुम्हारे इस आगम द्वारा प्रसिद्ध हो रहे शरीरकरके सिनेवशिवशेषत्व हेतुका, व्यक्तिचार हो जाता है। तुम्हारा माना हुआ वह आगम इस प्रकार है। शुक्छ यजुर्वेद संहिता १८ वां अध्याय उनीसवां मंत्र है कि ईश्वरके सब औरसे चक्षुयें हैं, सम्पूर्ण ओर उसका मुख विद्यमान है, सब ओरसे उसकी बाहुयें हैं, वितर्कणा पूर्वक कहा जाता है कि अखिछ ओरसे उसके पांव हैं। जिस प्राणी के जे जे चक्षुः, मुख आदि हैं वे सब उस उस उस उपाधिवाछ परमेश्वरके ही हैं! यों सर्वत्र चक्षु आदि घटित होजाते हैं। पुण्य, पापोंके, अनुसार परमाणुओं करके वह एक ही देव

आकाश और भूमि सबको अन्य साधनोंके बिना बना रहा है। पंचभूतरूप उपादान अवयवों करके संगत करा देता है। यहां कोई दूसरे नैयायिक विद्वान यों मान बैठे हैं कि ईश्वरके कोई शरीर नहीं हैं, जिससे कि हमारे हेतुका व्यभिचार दोप बळात्कारसे प्रेरा जाता है। वे इस अपने आगमको प्रमाण कर रहे हैं। खेताश्वतरोपनिषद्के तृतीय अध्यायमें १९ वा श्लोक है कि वह ईश्वर हाथों से रहित हो रहा ही चाहे जिस छोटे या बढे पदार्थको पकड सकता है। पांवोंसे रहित हो रहा बढे वेगसे दौढ सकता है। आंकोंक बिना सबको देख छेता है, कानोंक बिना संपूर्ण शह्रोंको सुन छेता है, वह सबको जानता है, उस ईश्वरका परिज्ञान करनेवाला कोई नहीं है। योगीपुरुष उसको सबका अपवर्ती प्रधानपुरुष कहते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उक्त आगमको प्रमाण माननेवाले उन नैयायिकोंके यहां माना गया शरीररहित ईश्वर भी उन द्वीप, समुद्र, आदिकी रचनामें निमित्तकारण सिद्ध नहीं होपता है। क्योंकि ईश्वर देहरहित है। जो जो देहरहित है वह वह द्वीप, आदिका निमित्तकारण नहीं, जैसे कि नैयायिकोंका स्वयंसंमत होरहा मुक्तात्मा निर्देह होनेसे द्वीप आदिका निमित्तकारक नहीं है।

नतु च युक्तात्मनामज्ञत्वास जगदुत्पत्तौ निमित्तत्वं ईश्वरस्य तु निर्देहस्यापि नित्यका-नत्वात्तिशिमित्तकारणत्वमेवति चेत्-

पुनः नैयायिकका अवधारण है कि भो महाराज, मुक्त आत्मा तो ज्ञानरहित अब हैं। क्योंकि मोक्ष अवस्थामें बुद्धि, सुख आदि गुणोंका विनाश हो जाता है। अतः मुक्त आत्मा विचारा जगत् की उत्पत्तिका निमित्तकारण नहीं हो सकता है। हां, ईश्वर तो देहरिहत हाता हुआ भी नित्य ज्ञानका अधिकरण होनेसे इस जगत्का निमित्तकारण हो ही जाता है। कर्त्ताके निकट ज्ञान होनेकी आवस्यकता है। पोंगा शरीर अकिनित्कर है। इस कारण यों अवधारण प्रवर्तने पर श्री विद्यानन्द स्थामीकी अग्रिमवार्तिक को सुनो—

नित्यज्ञानत्वतो हेतुरीश्वरो जगतामिति । न युक्तमन्वयासत्त्वाद्यतिरेकाप्रसिद्धितः ॥ १॥

ईश्वर (पक्ष) तीनों जगत्के निर्माणका हेतु है (साध्य) क्योंकि उसका ज्ञान नित्य है (हेतु) नित्यज्ञानवाळा ईश्वर जगत्को बना ळेता है। आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नैयायिकोंका कथन युक्तिपूर्ण नहीं। क्योंकि इस अनुमानमें अन्वयद्ष्ष्टांतका सद्भाव नहीं है। अन्वयद्ष्ष्टान्तके विना साध्यके साथ हेतुकी व्याप्ति मळा कहां निर्णात की जावेगी ? आप नैयायिकोंके सिद्धान्त अनुसार एक ही व्यक्ति नित्य ज्ञानवान है, और वही जगत्का निर्माता है। उसीको तुमने पक्ष बना रखा है। ऐसी दशामें अन्वयद्ष्यान्तका सद्भाव नहीं सम्भवनेसे व्यतिरेककी भी असिद्धि हो जाती है। कारण कि अन्वयक्षी मित्तिपर व्यतिरेककी सामर्थ्य बहुत बढ जाती है। अर्थात्—यदि द्ष्यान्तके विमा ही चाहे जिस हेतुसे अन्व सन्द किसी भी साध्यकी सिद्धि कर छोगे, तब तो जुम्हारा द्र्या छाख क्रम्योंका

सिद्ध हो जावेगा, इसके छिये यों अनुमान बनाया जा सकता है । मदीयोऽलको छाक्षिकः विछ-भ्राणगतिमच्यात्, खंजलाद् वा । विछक्षण छंगडी, छूछी, गति, अनुसार चछनेवाछा होनेसे मेरा छंगडा टट्टू बहुमूल्य है ।

नत्नु बित्यज्ञानत्वादित्येतस्य देतोरन्वयासन्वेषि न व्यतिरेकासन्वं जगदकारणस्यास्मदा-देनित्यज्ञानत्वाभावादिति न मंतव्यं, ज्ञानसंतानापेश्वयास्मदादेरपि नित्यज्ञानत्वात् । न हि ज्ञानसामान्यरहितोस्मदादिः संभवति, विरोधात् । यदि पुनर्ज्ञानविशेषापेश्वया नित्यज्ञानत्वं देतुस्तदा न सिद्ध इत्याह—

नैयायिक अपने मतका अवधारण करते हुये कहते हैं कि यद्यपि हमारे " नित्यज्ञानत्वात " इस हेत्के किसी दृष्टान्तमें अन्वयका सद्भाव नहीं है । क्योंकि ईश्वरके अतिरिक्त किसी भी व्यक्तिमें नित्य श्चानसे सहितपना नहीं पाया जाता है। तथापि हमारे हेतुके व्यतिरेकका असद्भाव नहीं कहा जा सकता है। " प्राणादिमस्त्र आदि " अनेक केवल्यतिरेकी हेतुओंमें अन्वय नहीं होनेपर भा व्यति-रेक बड़ी प्रसन्ततासे खुखपूर्वक मिल जाता है। देखिये, जगत्का निर्माण करनेमें कारण नहीं बन रहे इम आदि अनेक संसारीजीवोंके नित्यज्ञानवान्पनेका अभाव है। इस ढंगसे साध्यके नहीं होनेपर हेतुके नहीं ठहरनेसे अस्मदादिक ही व्यतिरेकदृष्टान्त ठहर जाते हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये । क्योंकि हम आदिक अनेक जीवोंके भी ज्ञानसंतान अपेक्षा करके नित्यज्ञान सहितपना विद्यमान है । इम आदिक जीव सोते, जागते, बैठते, उठते, मरते, जन्मते, कदाचित भी सामान्यज्ञानसे रहित नहीं सम्भवते हैं । आत्माका ज्ञान रहितपनेके साथ विरोध है । विप्रह्रगति. मत्त. मुर्चित, गर्म, अण्डज, या भरणदशामें भी आत्माके ज्ञान पाया जाता है। अन्यथा लक्षणके नष्ट हो जानेसे रुक्ष्य आत्मा जड बन बैठैगा । बहुत कहनेसे क्या फर है । आत्मा नष्ट ही हो जावेगा । शीतकाल या हिम आदिका सिनिधान होनेपर अग्निमें स्वल्प उण्गता भले ही रह जाय, किन्त उष्ण-ताका सर्वथा अमाव हो जानेपर वह अग्निपर्याय ही नहीं स्पिर रह सकती है। अत: अनादिकालमे अनन्तकालतक धाराप्रवाह चले आ रहे नित्य ज्ञानसे सहित अस्मदादिक संसारी जीव तुम्हारे यहां सृष्टिकत्ती नहीं माने गये हैं । अतः जो जगत्निर्माता नहीं वह नित्यज्ञानवान् नहीं, इस व्यति-रेकमें न्यभिचार आ जानेसे तुम नैयायिकोंका नित्यझानत्व हेतु केवळच्यतिरेकी नहीं सिद्ध हो सका है। यदि फिर आप धाराप्रवाहरूप नित्यताको नहीं पकडकर ईश्वरमें विशेष व्यक्तिरूप ब्रानकी अपेक्षासे नित्यज्ञानसहितपना हेतु करोगे तब व्यतिरेक्द्रष्टान्त तो बन गया । किन्तु ईश्वरके ब्रान हा नित्यपना सिंद्ध नहीं हो पाता है। इसी बातको प्रन्थकार वार्त्तिक द्वारा कड़ते हैं।

> बोधो न वेधसो नित्यो बोधत्वादन्यबोधवत् । इति हेतोरसिद्धत्वान्न वेधाः कारणं भुवः ॥ १२ ॥

निभाता माने गये ईश्वरका ज्ञान (पक्ष) नित्य नहीं है (साध्य) ज्ञान होनेसे (हेतु) अन्य जीवोंके ज्ञान समान (अन्वयद्द्यान्त)। इस प्रकार पक्षमें नहीं वर्त रहे नित्यज्ञानत्व हेतुका असिद्धहेत्वामासपना हो जानेसे पृथ्वी, पर्वत, द्वीप, आदिका निमित्तकारण ईश्वर नहीं स्थ पाता है।

बोधत्वं च स्यादीश्वरबोधस्य नित्यत्वं च स्याद्विरोधामावादस्मादृशविशेषत्वादीश्वरस्य विशिष्ट्वोधोपपत्तेः अन्यथा सर्वश्रत्वसिद्धिविरोधात् इति कश्चित् । सोप्ययुक्तवादी, तद्दोधस्य ममाणत्वे ततोऽपरस्य फलझानस्यानित्यस्य तत्र शसिद्धेरफलस्य प्रमाणस्यासम्भवात् । तस्य फलत्वे नित्यत्वविरोधात् । फलं हि प्रमाणकार्ये तत्कयं नित्यं युक्तं १ प्रमाणफलात्मकमीश्वर-श्रानमेकमित्यपि न्याइतं, स्वात्मनि क्रियाविरोधात् तस्य स्वजननासंभवात् ।

यहां कोई नैयायिक यों प्रतिकृष्ठ तर्क उठता है कि ईम्बरके ज्ञानमें ज्ञानपना रहे और नित्य-त्वाभाव साध्य नहीं रहे । अर्थात् — नित्यपना भी बना रहे, कोई विरोध नहीं पडता है । कारण कि अस्मद आदि अल्पन्न जीवोंसे विलक्षण ईश्वर है । हमारे अनित्य ज्ञानसे उस ईश्वरका ज्ञान जित्य होता हुआ निशिष्ट सिद्ध होरहा है । अन्यया यानी हम छोगोंकी अपेक्षा ईस्तरमें यदि विशेष अतिशय नहीं माने जाकर दूसरे सामान्य ढंगोंको अपनाया जायगा । तब तो सर्वज्ञपनकी सिद्धिका विरोध होजायगा कारण कि हम छोग सर्वन्न नहीं हैं। बैसा ही अल्पन्न ईश्वर होना चाहिये। किन्तु जैनजन परमात्माका सर्वेद्वपना इष्ट करते हैं । उसीके समान ईश्वरके ज्ञानको नित्य भी अभीष्ट कर छिया जाय । अतः बोधल हेतुसे ईसरका ज्ञान अनित्य नहीं सवा, तब तो हमारे नित्यज्ञानल हेतुसे यह जगत्का हेतु सब गया, इस प्रकार कोई ईश्वरवादी कह रहा है। प्रथकार कहते हैं कि वह भी युक्तिशून्य बोलने की ठेव को रखनेवाला है, क्योंकि प्रमाक करण होरहे प्रमाणोंका फल अवस्य होना चाहिये। अब बताओ, वह ईश्वरका ज्ञान विचारा प्रमाणस्वरूप है १ या फळआत्मक है १ उस ईश्वरके नित्यज्ञानको यदि प्रमाण माना जायगा तो उससे न्यारे दूसरे अनित्य होरहे फळक्कानकी उस ईश्वरमें प्रसिद्धि होजा-यगी । फछते रहित होरहे प्रमाणज्ञानका असंभव है । द्वितीय पक्ष अनुसार यदि उसी एक ज्ञानको फक मान छोगे तो उस ज्ञानके नित्यपनका निरोध होगा। फल तो कारकींका कार्य होरहा अनिरय हुआ करता है । भछा प्रमाणके कार्य होस्हे उस फलको नित्य कहना किस प्रकार युक्त होसकता है ? तुम ही विचार करो। तुम्हारा यह कहना भी व्याघात दोषयुक्त है कि ईश्वर हा एक ही ज्ञान प्रमाण आत्मक है और फलस्वरूप मी है। स्याद्वादियों के यहां एक धर्मीमें प्रमाणत्व, प्रमेयत्व, प्रमातृत्व, प्रमाफळत्व आदि कतिपय धर्म अक्षुण्य ठहर जाते हैं । किंतु तुम एकान्तवादियों के यहां करणत्व और फळलका विरोध है। तुम्हारे यहां ईश्वरज्ञानमें प्रमाणता माननेपर फळल नष्ट हो जाता है। और फक्पना माननेपर करणपना नष्ट हो जाता है। " नैकं स्वस्मात्प्रजायते " अपनी आत्मामें अपनी उत्पत्तिरूप क्रियाका विरोध है। हां, ब्रतिकियाका विरोध नहीं है। अतः उस प्रमाणआत्मक ईश्वरज्ञानसे स्यक्षा उपजनाह्य-फलक

असम्भव है। स्वयं अपनेसे अपनेमें उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस सिद्धान्तको हम स्याद्वादी भी अनेक युक्तियोंसे परिपुष्ट समझते हुये मानते हैं।

यदि पुनरीश्वस्य ममाणभूतं क्वानं नित्यं, फलभूतं त्वनित्यमिति मतं, तदा ज्ञानद्वयप-रिकस्पनायां मयोजनं वाच्यं । तस्याश्वरीरस्य सृष्टुः सदा सर्वज्ञत्वसिद्धिः मयोजनमिति चेन्न, अज्ञानस्याया एव सिन्निक्षीदिसामग्र्याः ममाणत्वाभ्युपगमेपि सदा सर्वार्थक्वानस्यानित्यस्य तस्फलस्य करपनात् सदा सर्वज्ञत्वसिद्धेर्थ्यवस्थापनात् ।

यदि फिर वैशेषिक अपना मत यों कहे कि ईश्वरके दो ज्ञान हैं। प्रमाण हो रहा ज्ञान तो नित्य है और ईश्वरका ज्ञान फलभूत हो रहा अनित्य है, यों मन्तन्य होय तब तो आचार्य कहते हैं कि तुम वैशेषिकों को ईश्वरके दो ज्ञानों की प्रकल्पना करने में प्रयोजन कहना चाहिये। केवल एक ज्ञानवाले ईश्वरके ऊपर व्ययमें दो ज्ञानों का बोझ लादना अनुचित है। यदि वैशेषिक यों कहें कि शरीररिहत हो रहे उस सर्जनेवाले ईश्वरको सर्वदा सर्वज्ञपना सिद्ध होता रहे यही दो ज्ञानों की कल्पनाका फल है। एक करणकान दूसरे फलकान के स्वीकार कर लेने से ईश्वरका सर्वज्ञपना सदा रिक्त रह जाता है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्यों कि तुम्हारे यहां मानी गयी अज्ञानस्वरूप सिक्तर्य, अदि सामग्रीको ही प्रमाणपना स्वीकार करनेपर भी सदा सर्व अर्थको विषय करनेवाले और उस सामग्रीको फलस्वरूप अनित्य ईश्वरज्ञान एक ही माना जायगा। सिक्तर्य आकारा, काल, आदिसे उसकी सर्वदा उत्पत्ति होते रहनेसे सर्वज्ञपना साथ लिया जाय, कोई क्षांति नहीं पढती है। क्ट्रस्थ हो रहे पदार्थों को अपेक्षा सर्वदा अर्थिकेया करते हुये उपज रहे पदार्थ परमार्थभूत समझे जाते हैं। इस जैनोंके यहां भी आकाश कालण्य, केवलज्ञानावरण कर्मों का क्षय, आदि जड कारणों से परमात्माके सतत केवलज्ञानकी धाराप्रवाहसे उत्पत्ति होते रहनेपर परमात्माके सर्वज्ञता परिपूर्ण बनी रहती मानी गयी है।

नन्वश्वरीरस्येद्रियसिक्वर्षभाववद्तः करणसिक्वर्षस्याप्यभावात् सिक्वर्षादिसामग्री-विरहे ततो अनादिसर्वार्थविषयं नित्यक्षानमेव तस्य प्रमाणमिति चेन्न, आत्मार्थसिन्नकर्षस्य प्रमाण-त्वोपगमात् । महेश्वरस्य हि सक्तत्सर्वार्थसिक्वर्षमात्रात्सर्वार्थक्षानोत्पत्तिरिष्यतं कौश्चित् ततो न नित्यक्कानत्वं सिद्धं, येन न जगिक्वियसिश्वरो निर्देहत्वात् ग्रुक्कात्मवदित्यनुमानं प्रतिहन्यत ।

नैयायिक विद्वान् आक्षेप करते हैं कि शरीररहित ईश्वरके जब बहिरंग इन्द्रियां या अन्तरंग इन्द्रिय नहीं हैं तो इन्द्रिय सिनक्षिक्ष्य सामग्री न होनेसे और अन्तरंग इंद्रिय कहे गये मनके साथ भी पदार्थीका सिनक्ष नहीं होनेसे सिनक्ष, परामर्श, आदि सामग्रीका विरह है, ऐसा होनेपर ईश्वरमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। तिस क्षारण अनादिकाळसे सम्पूर्ण पदार्थीको विषय कर स्वा किस्सान हो। उस ईस्थका प्रमाण है। ईस्यानको अनित्य माननेपर अनेक सागडे उठ बैठेंगे। श्री विधानन्द स्थामी समझाते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि कुम्हारे यहां आत्मा और अधिक सिक्किको प्रमाणपना स्थीकार किया गया है। कही सुवर्ण आदिमें आत्मा, मन, इन्हिय, अर्थ, जारोंका सिक्किक है। होनर ज्ञान उपजता माना है। किसी सुख आदिका मन अर्थ और आत्माक त्रय सिक्कि है। ज्ञान उपज जाता है। किसी तुख आदिका मन अर्थ और आत्माक त्रय सिक्कि है। ज्ञान उपज जाता है। किसी तुख आदिका मन अर्थ और आत्माक त्रय सिक्कि है। त्रामारे यहा प्रमितिके करण स्थीकार किये गय सिक्कि के अभाण इप्ट कर ठिया है। क्यापक और नित्य हो रहे महेस्वरका एक बार ही सम्पूर्ण अर्थोंके साथ सिक्कि हो जानेसे सम्पूर्ण अर्थोंके ज्ञानकी उत्पत्ति हो जानेसे सम्पूर्ण अर्थोंके आत्मा उत्पत्ति हो जानेसे सम्पूर्ण अर्थोंके साथ सिक्कि हो। तिस कारण ईस्वर का ज्ञान नित्य नहीं सिद्ध हो सका, जिससे कि ईस्वर (पक्ष) जगत्का निमित्त कारण नहीं है (साध्य) शरीररहित होनेसे (हेतु) मुक्त आत्माके समान (अन्वयद्दशन्त), यह हमारा अनुमान प्रतिचातको प्राप्त हो जाता। भावार्थ—नैयायिकोंने देहरहित भी ईस्वरकी नित्यज्ञानकी सामर्थ्यद्वारा जगत्निर्माता माना था। किन्तु ईस्वरका ज्ञान उनके बृते नित्य नहीं सिद्ध हो सका। अतः निर्देहत्व हेतुसे ईस्वरमें जगत् निमित्तपनके अभावको साधनेवाला हमारा अनुमान अप्रतिहत है। नित्यज्ञानसे सिहत कीई भी जीव देहरहित होता हुआ मुक्तआत्माके समान जगत्का निर्माता नहीं है।

काळादेरशरीरस्य कार्योत्पत्तिनिमित्तता । सिद्धेति व्यभिचारित्वं निर्देहत्वस्य चेन्मतं ॥ १३ ॥ न तस्य पुरुषत्वेन विशिष्टस्य प्रयोगतः । काळादेरशरीरत्वेश्वरत्वाव्यभिचारतः ॥ १४ ॥

नैयायिक कहते हैं कि शरीररिहत भी आकाश, काळ अदृष्ट आदिको यावत् कार्योकी उत्पत्ति में मिमिसकारणपना सिद्ध है । इस कारण तुम जैनोंका निर्देहल हेतु व्यभिचारहेत्वाभास दोक्से सिद्धित है, ऐसा मन्तव्य होनेपर तो आजार्य कहते हैं कि यों नहीं कहना। क्योंकि वह केवळ ''निर्देहल'' इतना ही हेतुका शरीर नहीं है । किन्तु पुरुषपने करके विशिष्ट हो रहे उस निर्देहल हेतुका प्रयोग किया गया है । अतः काळ आदिकसे व्यभिचार दोष नहीं है । क्योंकि काळादिकमें अशरीरिल है । किन्तु विशिष्टपुरुष (ईश्वर) पना वहीं है । काळादिकमें शरीररिहत ईश्वरपनका व्यवहार नहीं होता है । अतः काळादिमें हेतुका पूरा शरीरिषटित नहीं होनेसे व्यभिचारदोष नहीं फटक पाता है ।

देशिषकाता निर्देश पुरुषविश्वेषा महेश्वरस्तत्त्वनिर्देशुरुषत्वं ततः पुरुषत्वे सति निर्देश-त्वादिति पुरुषत्वेन विश्विष्ठस्य निर्देश्वतस्य मयोगाम कालादिना सर्वकार्यात्पत्तिनिरित्तेनाश्चरीरेण व्यक्षित्वारित्वं यताऽमतिहत्तियमञ्जूमानं न स्यादश्चरीरेश्वरजगिमित्तत्वाभावद्याधनं । कि. च— हमारे निर्देहल हेतुक पेटमें ही पुरुषिरिश्चपना बुसा है। जैसे कि अज्ञानी कह देनेंसे पर्यु-दासहित करके जीव उसके पेटमें बुसा हुआ है। अज्ञानी कोई डेल नहीं होता है। देहसे जो निष्कांत हंग्हा है वह विशेषपुरुष महेकार निर्देह है " निरादयः ज्ञान्तावार्थे पंचन्याः " इससे वहां तत्पुरुष समास होजाता है। उस निर्देह पुरुषके भावको निर्देहपुरुषक कहते हैं। " मार्थे लक्छों " मार्थेने ल प्रत्यय कर दिया गया है। तिस कारण " पुरुषत्वे सित निर्देहत्वात् " पुरुष होते हुचे निर्देहपना इतना हेतु बना है। इस पुरुषत्व करके विशिष्ट होरहे निर्देहत्व हेतुका प्रयोग कर देनेसे सर्व कार्योक्ता उत्पत्तिमें निमित्त माने जारहे किन्तु शर्थराहित जड़ काल, आकास, आदि करके हेतुका व्यमिचार दोष नहीं आता है। जिससे कि हम जैनोंका यह अशरीर ईस्वरमें जगत्के निमित्तपनके अमावको साधनेवाला अनुमान अप्रतिहत (अकाल्य) नहीं होजाय। अर्थात् हणारा अनुमान निर्देष्य है। दूसरी बात एक यह भी है, उसको अगली वार्तिकसे घुने।

जगतां नेश्वरो हेतुरज्ञत्वादन्यजंतुवत् । न ज्ञोसावशरीरत्वान्युक्तवत्सोन्यथा सवित् ॥ १५ ॥

ईखर (पक्ष) तीनों जमत्त्का निर्माणकर्ता हेतुः नहीं है- (साध्य) अन्नः होमेसे (हेतु) अन्य जंतुओंके समान (अन्वयद्ष्ठान्त) इस अनुमानका हेतु पक्षमें ठहर जाता है। अतः असिद्ध हेत्वाभास नहीं है | देखिये, वह ईवर (पक्ष) जाता नहीं है (साध्य) जारीस्रहितः होनेसे (हेतु) मुक्त आत्माके समान, अन्यथा यानी शारीररहित भी ईश्वरको यदि हायक मान लिया जायगा तो वह मुक आत्मा भी झानी बन बैठेगा । अर्थात् - वैशेषिकांने मोक्ष अस्पामें आत्माके बुद्धि आदि नी विशेष गुणीका अत्यन्त उच्छेद इष्ट कर छिया है। '' नवानामात्माविशेषगुणानामत्यन्तोच्छेदो मुक्तिः ''। कोई विद्वान् यों भी वखानते हैं " एकविंशतिदःखन्त्रंसी मोक्षः "। छह इन्ह्रियां, ६ छह इन्ह्रियोंके विषय १२ और ६ इन्द्रियों के बान १८ सुख १२ दुःख २० और शरीर २१ यों इक्कींस दःखों का मुक्ति अवस्थामें विनाश होजाता है। यद्यपि घट, डेल आदि पदार्थीमें आत्मसंबंधी नी विशेष गुण या इसीस द:ख नहीं हैं। अतः घट आदिको भी मक्तपनैका अतिप्रसंग यो नहीं होसकता है कि मोक्ष अवस्थामें गुणोंका या दुःखों का खंस उपजना चाहिये। प्रति योगियोंका प्रथम सद्भावं होने पर तो पुनः उनका जंस हो सकता है। किन्तु घट आदिमें बान आदि गुणों या दुःखीका प्रथमेंसे के अत्यन्ताभाव है। अतः असिव्यापि दोषः नहीं जाता है। जैनोंके यहां भी इस अतिप्रसंगके निवारणार्थ कर्मोंके ध्वंसको मौक्ष मानते हुये इक्षी उपाथका अव-जम्बन किया जा रहा है। तभी डेल, बड़ा, आदिमें मुक्तपनका अतिप्रसंग टल सका है। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकोंके यहां मुक्ति अवस्थामें आत्मा शरीररहित होता संता ज्ञानरहित भी हो जाता है । इसी मुक्कारक्ष्मरके अनुसार सर्विस्पेहित होनेसे बाह वन गया हैयरकराके जनस्का निर्माण

नहीं हो सकना साध दिया जाता है। यहां इतना और समझ लेना चाहिये कि क्षेय और ज्ञानवान्में अन्तर है। " जानाति इति इः " जो आत्मा निज ज्ञानपरिणितिके साध तदात्मक हो रहा सन्ता जानता है, वह इ है। नैशेषिक और नैयायिक विद्वान् तो गुण और गुणीका भेद मानते हैं। उनके यहां " इ " शद्ध ही अलीक है। ने दण्डवान् पुरुषः के समान ज्ञानवान् आत्मा यों कह सकते हैं। आत्माका गांठका निजस्वरूप ज्ञान नहीं है। ऐसी दशामें केवल ईश्वर या मुक्त आत्मायें ही नहीं, किन्तु सभी जीवोंकी आत्मायें अञ्च ठहरती हैं। जो मूल स्वरूपसे अञ्च है आकाशके समान वह ज्ञानके योगसे भी " इ " नहीं हो सकता है। अतः आचार्योकी ओरसे कहा गया अञ्चपना हेतु सामिप्राय है।

एतेर्नानत्यक्कानत्वेपीक्ष्यस्य ज्ञात्वा जगित्रामित्तत्वसिद्धेर्न मुक्तात्मवत्तदिनिमित्तत्विमित्त्वि। तिमरस्तमग्ररीरस्य, तन्मते सर्वथाप्यज्ञत्वात् । तस्य ज्ञत्वे मुक्तात्मनोपि ज्ञत्वमसंगाद्वि-वेषाभावात् ।

इस उक्त वाथन करने वैशिषिकों के इस कथनका भी निराकरण किया जा चुका समझ छो कि अनित्य ज्ञानसे युक्त हो रहे भी ईश्वर को कारणों का परिक्वान कर जगत्का निमित्तपना सिद्ध हो जाता है। इस कारण मुक्त आत्मा के नमान ईश्वर को उस जगत्का अनिमित्तपना नहीं है। अर्थात् मुक्त आत्मा तो सर्वथा ज्ञानसे रहित है। किन्तु ईश्वर अनित्यज्ञानसे युक्त है। अतः जगत्का निमित्तकारण हो सकता है। इस वैशिपिकों के मतका निराकरण यों हो जाता है कि उनके मतमें शरीररिहत आत्माको सभी प्रकारिसे अज्ञ माना गया है। यदि अशरीर भी उस ईश्वर को ज्ञामान जायगा तब तो मुक्त आत्माको ज्ञ-पनेका प्रसंग होगा। क्योंकि ईश्वर और मुक्त आत्मामें विशेषाधायक अन्तर का अभाव है।

सदेहबुद्धिमद्धेतुर्दष्टांतोषि घटः कथं । निर्देहबुद्धिमद्धेतौ साध्ये जगति युज्यते ॥ १६ ॥

जगतमें निमित्तकारण माने गये देहरहित बुद्धिमान् को साध्य करते संते भळा देहसिहत बुद्धिमान्, कुलाळको अपना हेतु मानकर उपजा घट दृष्टान्त भी किस प्रकारसे युक्त हो सकता है ? अर्थात्—साध्यकोटिमें देहरित बुद्धिमान् है और घटदृष्टान्तकी सामध्येस देहसिहत बुद्धिमान् निमित्तकारण सध जायगा । ऐसी दशामें हेतुके विरुद्धहेत्वाभास हो जानेकी सम्भावना है ।

धीमद्भेतुत्वसामान्यं साध्यं चेत्रिविशेषकं । नानाधामत्रिमित्तत्वसिद्धेः स्यात् ।सिद्धसाधनम् ॥ १७ ॥ नानात्मपरिणामास्यभावकर्मनिमित्तकं । सिद्धं हीदं जगत्तस्य तद्भोग्यत्वप्रसिद्धितः ॥ १८ ॥

वैशेषिक यदि विशेषोंसे रहित केवल बुद्धिमान् हेतुसे जन्यपन सामान्यको साध्य करेंगे तब तो जगत्का निमित्तपना नानाबुद्धिमानोंको सध जायगा । ऐसी दशामें वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष लगा । अर्थात — धूम हेत द्वारा जैसे तृणसम्बन्धी पत्तोंसम्बन्धी और घास या धौकी आग इत्यादि विशेषताओंको नहीं कर कोरे अग्निसामान्यको साधा जाता है. उसी प्रकार जगतका निर्माण कत्ती सामान्यरूपसे बुद्धिमान् साधा जाता है। सर्वज्ञता, अल्पज्ञता, बहुज्ञता, मतिज्ञानीपन, प्रत्यक्ष-ज्ञानिपन आदि विशेषताओंको नहीं खोला गया है। यो मान लेनसे वैशेषिकोंके ऊपर आये हुये पूर्व कटाक्षोंका तो निवारण तो होजाता है। किन्तु बृक्ष, शरीर, इन्द्रिय आदि कार्यजगत्के निर्माणकर्ता अनेक आत्माओंकी सिद्धि बन बैठती है हम स्याद्वादियोंके यहां दक्ष, फल, फल, आदिको पौद्रालिक नामकर्मकी प्रेरणा अनुसार बनानेवाले उनमें निवास कर रहे जीव ही माने गये हैं। देयदत्तकी आत्मा देवदत्तके शरीरको बना छेती है। चींटीकी आत्मा चींटीके शरीर, अवयव, इन्द्रियां, रक्त, धात. मल आदिको बना लेती है। पौद्रलिक अदृष्ट या अन्यपदार्थ भी भले ही उपादान कारण या निमित्त कारण हो जांय. गर्भमें ही पत्नीके शरीरको बनानेमें पतिका अदृष्ट निमित्त होजाय. किन्त कर्ता स्वरूप निमित्त कारण वे वे जीव ही पडते हैं । अतः हमारे माने हये सिद्धांतको ही तम अनुमान द्वारा साध रहे हो. तम पर यह सिद्धसाधन दोष हुआ । यह जगत् (पक्ष) अनेक आत्माओं के नैमित्तिक परि-णामों नामक भावकर्मको निमित्त मानकर उपजा सिद्ध होरहा है (साध्य) क्योंकि उस जगत्को उन अनेक आत्माओं के भोग्यपनकी प्रसिद्धि होरही है (हेतु) वैशेषिकोंने भी संपूर्ण कार्योंके प्रति साक्षात् या परंपरया अदृष्टको निमित्तकारण अभीष्ट किया ही है। एकेन्द्रिय, दीन्द्रिय, सभी जीव अपने पुरुषार्थ द्वारा स्वोपार्जित कर्मीकी सामध्ये अनुसार अंतरंग, बहिरंग, अनेक कार्यीको बना छेते हैं। दीमक अच्छा घर बना लेती है. चिडिया उत्तम घोंसला बना लेती है. चौ इन्द्रिय जीव घरघली मिटीका संदर घर बना लेती है। महलोंके समान इन घरोंमें भी द्वार, बचोंके स्थान, सोने, बैठनेके स्थल, खाब सामग्रीके एकत्रित करनेके स्थान, विपत्तियोंसे बचे रहनेके उपाय ये सब क्षद्र कीटों द्वारा बुद्धिपूर्वक या अबुद्धिपूर्वक निजपुरुषार्थ द्वारा बना छिये जाते हैं । ज्ञान या ज्ञानी सभी कार्योको बना बाळता है। हिताहितप्राप्तिपरिहार कर छेता है। आत्मा अपनी पर्याप्ति शक्तिद्वारा शरीर. इन्द्रिय. आदिको बना हेता है। काल, आकाश, आदिको निमित्त पाकर और भावकमीको प्रेरक निमित्त पाकर यह आत्मा अनेक चमत्कारक कार्योको बातको बातमें बना डालता है। इसमें कृतकृत्य ईस्वरको घसीटनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। संपूर्ण जगत्को अनेक बुद्धिमान् बना डालते हैं, जैसे कि प्रत्येक पुरुष व्यक्ति अपने अपने भूत्र, मल, रेचन, भोजन, गमन, आदि कार्योको बना लेता है. अथवा प्रत्येक गृहस्य अपनी गृहस्य उचित क्रियाओंका स्वयं विधाता है। सिपाई या राजा अपने कत्तिव्योंको पाछ रहे हैं। उसी प्रकार अनेक कार्यीका पिण्ड होरहा यह जगत भी अनेक आत्माओं करके ही बना छिया जाता है। प्रायः समी कार्य पदार्थ किसी न किमीके अदृष्ट द्वारा बनाये जाकर साक्षात् या परंपरया मोग्य बने इये हैं।

न हि भीमद्धेतुत्वमात्रं जगतां पर्यायार्थादेशाद्रभ्युपगच्छतः स्याद्वादिनोऽपसिद्धांतः, सिद्धांतेपि नामात्राणिपरिणामाख्यभावकर्मनिमित्तजगद्यवस्थितः अन्यथा जगतस्तदुपभोग्यत्वविरीधात् ।

पर्यायार्थिक नयकी अपेक्षासे तीनों या संपूर्ण जगत्के सामान्यरूप करके हेतु होरहे नाना बुद्धिमानीको स्वीकार करते हुये स्यादादी पण्डितके यहां कोई अपिस्तांत दोष नहीं है। अर्थात्— बुद्धिमान् जीवोंको जगत्का कारण मान छेनसे स्यादादीका अपने सिद्धांतसे स्वलन नहीं होजाता है। क्योंकि जैनसिद्धांतमें भी अनेक प्राणियोंके परिणामसंबक भावकर्मोको निमित्त पाकर जगत निर्मा-णकी व्यवस्था की गई है। अन्यथा यानी अनेक प्राणियोंको निमित्त नहीं मानकर यदि जगत्के कारण की दूसरे ढंगका माना जायगा तो जगतको उन प्राणियोंके उपभोग करने योग्यपनका निरोध होजा-बेगा । बात यह है कि आत्माके पुद्रलस्वरूप कर्मीको निमित्त पाकर हुये परिणाम भी चेतन आत्मक भावकर्म हैं। क्योंकि ऋोध, गति, वेद, उत्साह आदि भावकर्मीका उपादानकारण आत्मा ही तो है। अतः आत्मा चाहे स्वपुरुषार्थसे अथवा मले ही स्वकीयपरिणाम होरहे भावकर्मींसे कार्योंको करे, उन सर्व कार्योका यथायोग्य भोग कर छेता है। '' कर्त्तुत्वभोक्तृत्वयोः सामानाधिकरण्यात् ''। जो ही कर्त्ता है वही भोक्ता है। एक स्नी यदि दश मनुष्योंकी रसीई बनाती है तो भले ही वह दशवें भागक। उपभोग करती है। फिर भी गृहस्थतम्बन्धी कर्त्तन्य या प्रेमप्राप्ति, यशः आदिका आनंद पुरा के लेती है। कुम्हार हजारों घडोंको बनाता है, सूचीकार (दर्जी) सैकडों कपडोंको सीयता है। सुनार दूसरोंके वीसों भूषणींको रचता है। ये सब शिल्पकार उनका पारिश्रमिक व्यय यानी मूल्य प्राप्त कर उन कार्योंको भोग छेते हैं । कोई निःस्वार्थ देशसेवक या परोपकारी साब अथवा औषधदानी वैद्य यदि अनेक कार्योका संपादन कर रहे हैं तो उनको भी निःस्वार्यसेवा, स्वकर्त्तव्यपालन, स्वदेशीय अभि-मान, यशः प्राप्ति, पुण्यसंचय, आदि उपभोगोंकी प्राप्ति विना चाहे ही होजाती है। अकामनिर्जरा मी होजाती है। यदि किसीको स्वकृतकार्योका उपभाग न भी भिल्न सके तो हमारी यह ज्यापि नहीं बनी है, जो जिसका कार्य है वह कार्य उसका उपभोग्य अवस्य है । हमने तो अनेक स्थलों पर वैसा देखकर स्वरूपकथन कर दिया है। अन्यभिचारी कार्यकारणभाव नहीं बना दिया है। दो. चार. स्थलपर घटित हो जानेसे ही हमारा प्रयोजन सध जाता है। कार्यका अपने कारणोंके साथ अन्वयन्यसिरेक है। व्यापक, अशरीर,नित्य, ईस्वरके साथ कायोंका अन्वयव्यतिरेक नहीं है। एतन्मात्र हमें सुझाना है।

> सशरीरः कुळाळादिः कुर्वन् दृष्टो घटादिकं । स्वयमात्मा पुनर्देहमशरीरोपि विश्वतः ॥ १९ ॥ सदेहेतरसामान्यस्वभावो जगदीश्वरः । करोतीति नु साध्येत यदा दोषस्तदा क सः ॥ २० ॥

इत्येके तदसंबंधं स्वश्नरीराणि कुर्वतां । शरीरांतरसंबंधात्मनां स्यान्नान्यथा किया ॥ २१ ॥ परापस्श्वरीराणां कल्पनान्नानवस्थितिः । तेषामनादिसंबंधात्कार्यकारणभावतः ॥ २२ ॥

यदि वैशेषिक यों कहे कि कुम्हार, कोली आदि आत्मार्थे शरीरसिहत होरही घट आदि कार्योको करती हुयी देखी गयी हैं और फिर जन्मकी आदिमें स्वयं अशरीर होता हुआ भी आत्मा नवीनदेहको बना रहा प्रसिद्ध होरहा है। अतः जगत्का निमित्तकारण बुद्धिमान् आत्मा है। यहां देह सिंहत और देहरिहत दोनों प्रशास्के विशेष जीवोंमें वर्तरहे सामान्य स्वमावको धार रहा ईश्वर जगतको बना रहा साधा गया है। साध्यकोटिमें देहसहित या देहरिहत ऐसी कोई विशेषता नहीं डाछ दी है। भावार्थ-कार्योको बनानेमें कर्त्ताका शरीरसहितपना और शरीररहितपना उपयोगी नहीं है। शरीर-सहित आत्मा भी अनेक कार्योको कर देते हैं, और शरीररहित भी आत्मा पहिले पहिले नये शरीरको या ज्ञान, इच्छा, प्रयत्नीको बना देता है । अतः दोनों प्रकारकी आत्माओंका सामान्य स्वभाव होरहे आत्मत्वधर्मसे युक्त बुद्धिमानको इम वैरोषिक जगत्का कर्ता साध रहे हैं। मले ही दृष्टान्तमें शरीरसहित कर्ता होय और दार्ष्टन्तमें अन्य प्रमाणों करके वह कर्त्ता अशरीर साध दिया जाय, हमारी कोई क्षति नहीं है। ज्ञान, इच्छा, और प्रयत्नके साथ कर्त्तापनकी व्याप्ति है। शरीरसिंहतपन और शरीर-रहितपन कोई कर्त्तापनके प्रयोजक नहीं हैं । देखिये " पर्वतो वन्हिमान् धूमात् महानसवत् ,, यहां दशन्त होरहे रसेई घरमें लक्कडोंकी आग है और पर्वतमें सूखे तृण या पत्तोंकी आग सुद्धा रही है। किन्तु सामान्य अग्निको साध्य करने पर कोई दोष नहीं आता है। इसी प्रकार यहां भी सामान्य स्वभावनाले बुद्धिमानको जब अनुमान द्वारा साधा जावेगा तब तुम जैनोंकी ओरसे दिया गया सिद्धसाधन दोष कहां आया ? अर्थात - हमारे ऊपर सिद्धसाधन दोष कागू नहीं है । तुम्हारे यहां असिद्ध होरहे पदार्थको हम साथ रहे हैं, तुम्हारे यहां सिद्ध होरहे ही को हम नहीं साथ रहे हैं, यहांतक कोई एक वैशेषिक पण्डित कह चुके हैं। आचार्य कहते हैं कि वैशेषिकोंका वह कहना संबंधयोज-नासे शून्य है। असम्बद्धप्रलापी होनेसे उनके पूर्वापरवचनोंकी संगति ठीक नहीं बैठती है। क्योंकि पूर्वकालीन अन्य सूक्ष्मशरीरोंके साथ संबंध रख रहे आलाओंकी ही अपने शरीरोंको करते संते क्रिया होसकती है। अन्य प्रकारोंसे यानी शरीररहित आत्माओंकी किया अपने नवीन शरीरको बनानेके लिये नहीं होसकती है। जैसे कि स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरोंसे राहेत होरहा मुक्त आत्मा पन: अपने शरीरेंको नहीं बना सकता है। शरीररहित आकाश भी निजके पौद्रत्विक शरीरका निर्माण नहीं कर पाता है । बीजांकुरधाराकरके अनादिकाळसे चळा आया छिळकासहित धान ही उपज

सकता है। यह बार छिलका निकाल देनेपर वह धान्य पुनः नहीं उग सकता है। इसी प्रकार अनादिकाल कार्यकारणप्रवाहकरके कर्म नीक्षमींद्वारा सशरीर हो रहा आत्मा ही उत्तरोत्तर अनेक अस्तिको बना लेता है। कर्म, नोक्षमं, शरीरोंसे रहित हो गये शुद्ध सिद्धपरमेष्ठी पुनः शरी- पेंको नहीं रच पाते हैं। यदि यहां कोई अनवस्था दोष उठावे कि आत्मा इस वर्तमान शरीरको पूर्व शरीरसे सिहित होकर बनावेगा और उस पूर्व शरीरको उससे भी पहिलेके शरीरसे सम्बन्धी होकर बनावेगा। यों पर, अपर, अनेक शरीरोंकी परिकल्यना करनेसे महान् अनवस्था दोष आता है। प्रत्यकार कहते हैं कि ऐसी अनवस्था दोषस्वरूप नहीं है। प्रत्युत गुण है। क्योंकि आत्माके साथ कार्यकारणभावमुद्वासे उन शरीरोंका अनादिसे सम्बन्ध होता चला आ रहा है, जैसे कि बीज दृक्ष या अण्डा मुर्गी इनमें अन्योन्याश्रय या अनवस्था दोष नहीं आते हैं। मूलको नष्ट करनेवाली अनवस्था तो दूषण है। किन्तु मूलको पुष्ट करनेवाली या कुलपरम्पराको बढानेवाली अनवस्था मूषण है। अतः युक्तियोंसे यह बात सिद्ध हो जाती। है कि शरीरसिद्धित आत्मा है। अन्य शरीरोंको बनाता है। अतः तुम्हारे बुद्धिमान् कर्चाको साधनेवाले अनुमानमें घटद्यान्तकी सामर्थिस सशरीरकर्त्त ही सिद्ध हो पायगा। अशरीर नशे और सामान्य बुद्धिमानोंको साध्य कोटिमें घरनेपर नाना बुद्धिमानोंको निमित्त-पना सिद्ध हो जानेसे सिद्धसाधन दोष तुम वैशोधकोंके ऊपर वैसाका वैसा ही अवस्थित बना रहता है।

पूर्वमतनुत्वे नरस्य।

कोई मी जीव पूर्वशरीरके विना अन्य शरीरोंको नहीं बना सकता है। यदि शरीर बनानेके पूर्वमें आत्माको शरीररहित माना जायगा तब तो —

मुक्तस्येव न युज्येत भूयोन्यतंनुसगतिः। पारतन्त्र्यनिमित्तत्वं धर्माधर्मयोर्नुद्धिवत् ॥ २३ ॥

मुक्त आत्माके समान इस संसारीजीवका पुनः बहुतसे अन्य शारीरोंके साथ सम्बन्ध होना नहीं उचित हो सकेगा। अशरीर आत्मा फिर परतंत्र नहीं हो। सकता है। यदि वैशेषिक मों कहें कि अशरीर होता हुआ भी आत्मा अपने अदृष्टसंज्ञक धर्माधर्म गुणों करके परतंत्र हो रहा बन्धनबद्ध हो जाता है, इसपर आचार्य कहते हैं कि जैसे आत्माका ज्ञानगुण आत्माको पराधीन नहीं करता है, उसी प्रकार आत्माके तुम्हारे यहां माने गये धर्म, अधर्म, गुण भी आत्माको परतंत्र बनानेके निमित्त नहीं हो सकते हैं। यदि अपने ही अंग, स्वभाव या गुण अपनेको पराधीन करने छगे तो सम्पूर्ण पदार्थ अपने स्वक्त्योंका परित्याग कर बैठेंगे।

सा यद्यदृष्टसद्भावान्मता तस्य तु सिष्वतु । पूर्व कर्मशरीरेण संबंधः परवित्रहात् ॥ २४ ॥ यदि वह संसारी जीवोंकी परतंत्रता वैशेषिकोंके यहां धर्म, अधर्मस्त्ररूप अदृष्टका सद्भाः होनेसे मानी जायगी तब तो उस आत्माके पहिले कर्मशरीरके साथ सम्बन्ध सिद्ध हो गया, (हो जाओ) और वह कर्मका सम्बन्ध उससे मी पिंडलेके दूसरे शरीरसे प्राप्त होकर सम्बन्धित हुआ समझा जायगा, यो जैनसिद्धान्तके सदृश तुमको भी मानना पडेगा।

शरीरमात्मनोऽदृष्टं पुद्गलात्मकमीरितं । सर्वथात्मगुणत्वेस्य पारतंत्र्यानिमित्तता ॥ २५ ॥

आत्माका कर्मशरीर जो अदृष्ट माना गया है, वह पुद्गक्रस्तरूप कहा गया है। यदि इस अदृष्टको सर्वथा आत्माका गुण माना जायगा तो अदृष्टको इस आत्माके परतंत्र होनेमें निमित्त कारण-पना नहीं सघ सकेगा। द्रव्यको वैसाका वैसा ही अनादि, अनन्त, जीवित रखनेवाळे गुण हुआ करते हैं। अपने हाथ, पांव, पेट ही यदि अपनेको फंसाने छुगें तो ऐसी दशामें कोई पुरुष जीवित नहीं रह सकता है। बाद ही खेतको खा जाय तो रक्षा कौन कर सकता है।

न हि सर्वथात्मगुणत्वे धर्माधर्मसंक्षकस्यादृष्टस्यात्मपारतंत्र्यनिमित्तत्वं युक्तं बुद्धिवत् । इच्छाद्देषयोरात्मगुणत्वेप्यात्मपारतंत्र्यनिमित्तत्वसिद्धेर्युक्तमेवेति चेश्वः, तयोः सर्वथात्मगुणत्वा-भावात् कर्मोद्यनिमित्तत्वेन भावकर्मत्ववचनात् । तयोरेवात्मपारतंत्र्यस्वभावत्वाच न पार-तंत्र्यनिमित्तत्वं । मोहविश्लेषपारतंत्र्य एव हि पुरुषस्यच्छाद्वेषौ तद्परतन्त्रस्य कचिद्भिछाष-द्वेषासंभवात् । ततो न धर्माधर्मौ पुरुषगुणौ पुरुषपारतंत्र्यनिमित्तत्वान्मोहविश्लेषाश्चिणखादिवत् । किं तिर्हे १ पुद्रछपरिणामात्मकौ तौ तत एव तद्वत् पुद्रछपरिणामविश्लेषात्मकत्वाचादृष्टस्यात्म-शरीरत्त्वग्रुपगतमिति नौदारिकादिशरीरसंवंधात्पूर्वमदृष्टवश्लवर्त्तात्मा निर्देशे युक्तः । यस्तु निर्देशे ग्रुक्तात्मा स न कस्यच्छिरीरस्यारंभको भवति यतस्तद्दिश्वरोपि जगतोऽहेतुः स्यात् ।

यदि धर्म, अधर्म, इस संज्ञाको धारनेवाले अदृष्टको सभी प्रकारेंसि आत्माका गुण होना माना जायगा तो उस अदृष्टको आत्माकी परतंत्रताका निमित्तकारणपना समुचित नहीं पढ़ेगा, जैसे कि आत्माक गुण होरही बुद्धि उसी आत्माक "सिन्नपातपिरभाषा" अनुसार पराधीन नहीं कर डालती है। यदि वैदेशिक यों कहे कि इच्छा और देशको आत्माका गुणपना होते हुये भी आत्माकी परतंत्रनताका निमित्तपना सिद्धं होरहा है, जैनोंके यहां भी इच्छा और देशकरके संसारी आत्माओं के कर्म बन्ध होरहा अभीष्ट किया है। इस कारण वर्म अधर्म गुणोंको भी आत्माकी परतंत्रताका निमित्तपना युक्तिपूर्ण ही है। ग्रंथकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उन इच्छा देशोंको सभी प्रकारोंसे आत्माका गुणपना नहीं है। कर्मोंके उदयको निभित्त पाकर हुये उन इच्छा और देशोंको भावकर्मपनेसे

निरूपण किया गया है। औदयिक भाव आलाके गुण नहीं हैं। गुण तो त्रिकालवर्ती, अनुजीवी, हों हैं। अपने आत्मलाभमें दूसरे पदार्थकी अपेक्षा नहीं करते हैं। पुण्य, पाप, या क्रीय,इण्ला, देष आ औदियिकभावोंको आत्माका गुण कहना गुणशद्भका भारी तिरस्कार करना है। दूसरी बात यह कि परिपूर्ण चारित्रस्वरूप आत्माकी राग, द्वेष, मोह, इच्छा आदि विभावों करके परिणति होजाना । तो परतंत्रता है। अतः आत्माके विभावपरिणाम इच्छा और द्रेष तो परतंत्रस्वभाव ही है। परतंत्रतारं निमित्त नहीं हैं। मोहनीय कर्मकी क्रोध, लोम, रति, अरति आदि विशेषप्रकृतियोंके विशेष मोहस्वरूप परतंत्रता ही तो आत्माके इन्छा और द्वेषपरिणाम हैं। जो क्षीणमोह आत्मा उ मोहनीय कमीवशेषके पराधीन नहीं है. उसके कहीं भी अभिलाषा और देख नहीं सम्भवते हैं तिस कारणसे यों अनुमान बना कर सिद्ध कर दिया जाता है कि धर्म और अधर्म (पक्ष) आत्मार्व गुण नहीं हैं। (साध्य) आत्माकी परतंत्रताके निमित्तकारण होनेसे (हेतु) सांकल, लेज, वशी करण चूर्ण आदिके समान (अन्वयद्दशन्त)। इस युक्तिसे धर्म, अधर्म या इच्छा द्वेष ये आत्मावे परिणाम नहीं सब पाते हैं। तब तो यह अदृष्ट क्या पदार्थ है ! इसका समाधान यह है कि वे धर्म अधर्म (पक्ष) पुद्रलद्दन्यके परिणामस्वरूप हैं (साध्य) । उससे ही यानी आत्माके परतंत्रपनक निमित्त कारण बन रहे होनेसे (हेतु) उसीके समान यानी सांकल, जाल, फीजरा आदिके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमान द्वारा अदृष्टको पुद्रकका परिणाम साध दिया है, जैसे कि यह स्थ्रट शरीर पुरुखका परिणाम होनेसे आत्माका गुण नहीं होता हुआ आत्माका बहिरंगशरीर म्यूना जाता है, उसी प्रकार पुद्रलद्रव्यका विशेष परिणामस्वरूप होनेमे अदृष्ट भी आत्माका सूक्ष्मशरीर स्वीकृत कर लिया जाता है । इस कारण जन्मते समय औदारिकादि शरीरोंके साथ सम्बन्ध होनेसे पहिले अदृष्टके वशमें वर्त रहा यह आत्मा सर्वथा देहरहित कहा जाय यह युक्तिपूर्ण नहीं है। अर्थात् --देह रचनेके पहिले भी आत्मा अदृष्ट नामक सूक्ष्मशरीरसे युक्त हो रहा सशरीर है। निःशरीर नहीं है। हां, जो मुक्त आत्मा स्थूल, सूक्ष्म, सभी देहोंसे रहित है वह तो किसी भी शरीरका आरम्भ रच देनेवाळा नहीं है । जिससे कि उस मुक्त आत्माके समान शरीररहित ईश्वर भी जगतुका निमित्त कारण हो जाता । भावार्थ-अशारिर, मुक्त, आत्माके समान शरीररहित ईस्वर भी जगतका निमित्तकारण होकर कर्त्ता नहीं है।

संपति सदेहे अरकादिमतमा शंक्य प्रतिविधत्ते ।

अब इस समय प्रन्थकार ईश्वरको देहघारी माननेवाळ पौराणिकवादियोंके मतकी आशंका उठाकर उस पौराणिकोंके मतका भी खण्डन करें देते हैं।

क्षित्यादिमूर्तयः संति महेशंस्य तदुद्भवे । स एव हेतुरित्यादि व्यभिचारो न चेद्भवेत् ॥ २६ ॥

तथान्येपि किमात्मानः स्वमृत्युंत्पत्तिद्देतवः । स्वयं न स्युरितीशस्य क सिध्येत्सर्वहेतुता ॥ २७ ॥

पुराण या स्मृतियोंको माननेवाछे पौराणिक या स्मार्त सम्प्रदाथवाछोंको यह मत है कि "या सृष्टिः स्रष्टुराचा वहाति विधिद्धतं या हिवर्ण च होत्री, ये दे कोछं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विक्ष्तं । यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति मया प्राणिनः प्राणवन्तः । प्रत्यक्षाभिः प्रपनस्तनुभि-रवतु वस्ताभिरष्टााभिरीशः ॥ १ ॥ (शकुन्तछा नाटक) । महेशकी १ जळ २ अप्रि ३ होता ४ सूर्य ५ जन्द्रमा ६ आकाश ७ पृथ्वी ८ वायु ये आठ मूर्तियां (शरीर) हैं । विशेषक्रपंसे विष्णु सम्प्रदायवाछे विष्णु भगवान् के दश या चौनीस अवतारोंको मानते हैं । शैव आम्नायवाछोंने भी महादेवके कतिपय शरीरधारी अवतार इष्ट किये हैं । यहां प्रकरणमें यह कहना है कि " भूतानि यज्ञा सूर्यान्वन्त्रमती च " महेशकी पृथिवी आदि आठ मूर्तियां (शरीर) हैं । उन मूर्तियोंके उत्पन्न करनेमें वही महेश निमित्तकारण है । आचार्य कहते हैं कि आठ मूर्तियों या वराह, मत्स्य, आदि या महानकाछ आदि अपने शरीरोंको बनानेमें यदि व्यभिचारदोष, नहीं आवेगा, तब तो महेश या विष्णुके समान अन्य भी आत्मार्ये स्वयं अपने अपने शरीरोंकी उत्पत्तिक कारण क्यों नहीं हो जावेगीं ? ऐसी दशामें भछ। ईश्वरको सम्पूर्ण जगत्का निमित्तकारणपना कहां सिद्ध हो सका ? अर्धात्—ईश्वर अपने शरीरको बना छेता है, और अन्य प्राणी अपने अपने शरीरोंको रच छेते हैं । बिचारा अके इंक्वर सम्पूर्ण जगत्का कत्ती नहीं है ।

कुर्वन् क्षित्यादिमृतींश्च स्वमृति तत्मयोगतः।
मृत्यंतराणि कुर्वीत यदि वानादिभियंतः॥ २८॥
गत्वा सुद्रमप्येवं यदि मृतींने काश्चन ।
कुर्याचाभिस्तदा हेतोरनेकांतिकता न किं॥ २९॥

वैशेषिक कहते हैं कि जिस प्रयोगसे वह ईस्वर पृथ्वी, जल आदि अपनी आठ मूर्तियोंको बना रहा है, उसी प्रयोगसे अनादि धारावाले पृथिवी आदि मूर्तोंकरके अपने शरीरको और दूसरे प्राणियोंके शरीरोंको कर देवेगा । आचार्य कहते हैं कि यदि तुम यों कहोगे तब तो उन मूर्तियोंको बनानेके लिये पहिले क्षिति आदिको बनाया होगा और उन क्षिति आदि मूर्तियोंके लिये उससे भी पहिली क्षिति आदि मूर्तियोंको बनाना पड़ा होगा। यों अनवस्था आती है। इसके निवारणार्थ बहुत दूर भी जाकर यदि विश्वा क्षिति आदि मूर्तियोंको ईस्वरकृत नहीं माना जावेगा तब तो उन्हीं मूर्तियों करिने सुनित सुनित अपनित्यों करिने हिंगे। अर्थीत अनवस्थाको दूर करनेके लिये

बहुतकाल पहिलेको जिन मूर्तियोंको आपने ईलरक्ररके बनाई हुई नहीं माना है, उनमें सिनेवेश यह हेतु तो रह गया और बुद्धिमान् कारणसे जन्य होना यह साध्य नहीं रहा । अतः व्यभिचारी हुआ ।

> अनादिम् तिभिक्तस्य संबंध इति वेन्मतं । किं इन्त्यनादिता तासां सिन्नवेशविशिष्टतां ॥ ३० ॥ न वेत्ताभिर्महेशेनाकृताभिर्व्यभिनारिता । साधनस्य कृताभिर्वा तेनेतामनवस्थितिं ॥ ३१ ॥ केवलं मुखमस्तीति यत्किंचिदभिधीयते । मिथ्योत्तराणामानंत्यात्प्रेक्षावत्ता न तत्र का ॥ ३२ ॥

इस व्यभिचारका निवारण करनेके लिये अनादिकालसे बनी चली आरही क्षिति, आदि मूर्ति-योंके साथ वह ईस्वरका संबन्ध यदि इष्ट किया जायगा, यों मंतन्य होनेपर तो आचार्य पूछते हैं कि उन मुर्तियोंकी अनादिता क्या रचनाकी त्रिशिष्टता (हेत्)को मार डाळती है ? बताओ। यदि अनादि मृतियोंमें सनिवेशविशेष है तो तुम्हारे ऊपर हेतुका व्यभिचार दोष तदवस्थ है । जब कि उन मृति-योंका अनादिपन सिनवेशिवशेषका विघात नहीं कर सकता है और अनादिकालीन पृथिबी आदि मृतियां महेराकरके नहीं की जानुकीं हैं तो तुम्हारे " सनिवेशविशिष्टल " साधनका उन मृतियों करके व्यभिचार हुआ। यदि उन अनादि मूर्तियोंको तिस ईश्वर करके किया हुआ माना जायगा तो व्यभिचार-दोष दर होजायगा किंतु उन मूर्तियों हो बनानेके लिये पुनः मूर्तियां बनाई गई होंगी और उनके लिये भी पूर्व मूर्तियां बनाई गई होंगी, यों मूर्तियोंकी धारा करके हुये इस अनवस्थादोषको तुम दूर नहीं कर सकते हो। " मुखमस्तीति वक्तव्यं " यदि फोकटका मुख है तो कुछ न कुछ बोलते रहना चाहिये, इस लोकनीतिके अनुसार जो कुळ भी अन्ट, सन्ट, तुम कहे जाते हो । जगतमें मिथ्या उत्तर अनन्त हैं। इम ईस्वरके कर्तृत्वका निराकरण करनेके लिये जितने समुचित आक्षेप करते हैं. तम उनके अनन्त मिथ्या उत्तर दे देते हो। यह तो वही एक प्रामीणपुरुषका विजय जैसा हुआ कि कोई गमार यों कहता फिरता था कि मैं काशी गया और सब पण्डितोंको हरा आया। उन्होंने सैकडों बातें कहीं मैंने उनकी एक भी नहीं मानी। कुछ न कुछ बके ही चला गया। देखो, ऐसी दशामें वहां प्रेक्षावानपना भला कहां रहा ? युक्तिरहित बक्तनेवाले पुरुष हिताहितका विचार करनेवाले नहीं माने जाते हैं। ऐसे पुरुषोंका न्यायपूर्वक बाद विवाद करनेमें अधिकार नहीं है।

ततः स्क्मेतत् सदेहेश्वर्वादिनां सिववशिविश्वत्वादिति हेतुरीश्वरदेहेन व्यभिजारीति ।

तिस कारण हमने वहीं नैंबिं वार्तिकमें यह बहुत अच्छा कह दिया था कि देहसहित ईश्वरको मानने वाळे पौराणिकवादियोंके यहां " सिनिवेशिवशिष्ट वात् " यह हेतु ईश्वरके शरीरकरके ही ज्यभिचार दोषवाला है। यहांतक आचार्योंने सिनिवेशिवशिष्ट वेतुके ऊपर नैंबिं वार्तिक पूर्वार्ध करके उठाचे गये ज्यभिचारदोषकी पुष्टिको परिसमाप्त कर दिया है, यहां इति शहका भाव है।

बुद्धिमद्धेतुकं याद्दग्दष्टं हर्म्यगृहादिषु । संनिवेशविशिष्टत्वं ताद्दग्जगति नेक्ष्यते ॥ ३३ ॥ इति हेतोरसिद्धत्वं केश्चिदुक्तं न युज्यते । तथा सर्वेष्टहेतृनामसिद्धत्वप्रसंगतः ॥ ३४ ॥

श्री विद्यानंद आचार्य कहते हैं कि किन्हीं किन्हीं विद्यानोंने वैशेषिकोंके सिनेशिविशिष्टल हेतुको यों असिद्ध हेत्वाभास कहा है कि जिस प्रकारका हवेळी, गृह, झोंपडे, आदिमें बुद्धिमान् हेतु-अमेंदे जन्य हो रहे सन्ते सिनेशिवशिष्टपना देखा जाता है, वैसा रचनाविशेष तो जगत् स्वरूप पक्षमें नहीं देखा जाता है। इस कारण पक्षमें हेतुके नहीं ठहरनेसे हेतुका असिद्ध हेत्वाभास दोष हुआ। अर्थात्—प्रमेयकमळमार्तिडमें भी थों लिखा है कि "अस्तु वाऽविचारितरमणीयं बुद्धिमत्कारणस्व व्याप्तं कार्यत्वं तथाप्यत्र याद्यभूतं बुद्धिमत्कारणस्वऽभिनवक् प्रप्रासादादौ व्याप्तं कार्यत्वं प्रमाणतः प्रसिद्धं यदिक्रयादिशेनोपि जीर्णकूपप्रासादादौ ळोकिकेतरयोः कृतबुद्धिजनकं ताद्यभूतस्य क्षित्यादावसिद्धे-रिसदो हेतुः सिद्धौ वा जीर्णकूपप्रासादादाविवाऽक्रियादिशिनोऽपि कृतबुद्धिप्रसंगः " इत्यादि पंक्ति करके पक्ष और दृष्टान्तमें थोडासा अन्तर दिखळाकर असिद्ध हेत्वाभास उठाया गया है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह असिद्ध हेत्वाभासका कथन युक्त नहीं है। क्योंकि यों तो तिस प्रकार इष्ट हो रहे सम्पूर्ण हेतुओंके अभिद्धपनका प्रसंग हो जायगा, जैसा धुआं महानसमें समान आकृतिबाळा देखा जा चुका है, वैसा पर्वतमें नहीं दीख रहा है। " शद्धोऽनित्यः कृतकत्वात् घटवत् " यहां जैसा कुळाळ, दंढ, मृतिका आदि कारणोंसे बनाया गयापन बटमें दृष्टिगोचर हो रहा है, वैसा कृतकपना शद्धमें नहीं प्रतीत होता है। शद्धके उपादान कारणका ही प्रत्यक्ष नहीं है। बात यह है कि थोडे थोडे अन्तरसे हेतु स्वरूपासिद्ध हेतामास नहीं हो जाता है। गुच्छतापूर्ण दोषोंसे किसीका तिरस्कार हमें नहीं करना है।

कृतभीजनकं ति नािकयादिशिनो यथा। क्विच्या न धूमादिरग्न्यादिज्ञानकारणं ॥ ३५॥ वन्ह्यादिबुद्धिकारित्वं स्वयंसिद्धस्य सिद्धता। धूमादेः साभनस्येतित्सद्धौ वन्ह्यादिभीरिति ॥ ३६॥ यथान्योन्याश्रयस्तद्वत्प्रकृतेपि हि साधने । कृतधीजनकत्वेस्य सिद्धतायां कृतत्वधीः ॥ ३७ ॥ ततोनैकांतिको हेतुरेष वाच्यः परीक्षकैः । कार्यत्वार्थिकयाकृत्वप्रमुखोऽनेन वर्णितः ॥ ३८ ॥

जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, समुद्र आदि स्वरूप काचित् जगत्में अन्नियादर्शी पुरुष के '' किया गया '' इस बुद्धिका जनकपना नहीं है, उसी प्रकार धूम आदिक हेतु भी अप्रि आदि साध्योंकी इप्तिके कारण नहीं हो सकेंगे। अर्थात् नवीन कुऐं, कोठियां, महल आदि कोंको बनता हुआ देख कर साधारण मनुष्योंके भी '' ये किये गये हैं " यह बुद्धि उपज जाती है । उसी प्रकार जीर्ण कुए, गृहोंके खंडहर, पुराने मंदिर, मूर्तियां, घडे, इन्टे, आदिमें भी '' ये किसी न किसी करके बनाये गये हैं '' यह बुद्धि उपज जाती है। भर्छे ही आधुनिक पुरुषोंने हजार वर्ष पहिले बने हुये पुराने खण्डहरोंके बननेकी क्रियाको आंखोंसे देखा नहीं है। किन्तु पृथिवी, सूर्य, चेहमा आदिमें किसी भी अकिया दशींको " ये बनाये गये हैं " ऐसी बुद्धि नहीं होती है। अतः हेतु असिद्ध है । आचार्य समझाते हैं कि यों थोडासा अंतर तिस प्रकार पक्ष और दृष्टांतमें पडजानेसे धूम आदि भी अग्निका अनुमान नहीं करा सर्केंगे । असिद्ध हेत्वाभासको उठाने वाले दूसरा कटाक्ष करते हैं कि जिस प्रकार धूम आदि हेतुओंको अप्नि करके स्वयं निर्मितपना सिद्ध होजाय तब तो वन्हि आदिकी बुद्धि कर देना होकर सिद्धता आवे और धूम आदिकी सिद्धता होजानेपर वन्हि आदिकी बुद्धि कराई जा सके । यों जिस प्रकार अन्योन्याश्रय प्रसिद्ध हेतुमें दिया जासकता है, उसी प्रकार प्रकरण प्राप्त सिनेवेशविशिष्टत्व हेतुमें भी परस्पराश्रय दोष दिया जा सकता है कि इस हेतुके द्वारा सूर्य, पृथिवी आदिमें " किये गये हैं " इस बुद्धिका जनकपना सिद्ध होय तब तो सूर्य आदिमें कृतपनेकी बुद्धि होय और सूर्य आदिमें किया गयापन सिद्ध होय तब " किये गये हैं" इस बुद्धिका उत्पादक पना प्रसिद्ध होसके । अर्थात्—सिन्नवेशविशिष्टल हेतुमें जैसा अन्योन्याश्रय दोष उठाया जाता है वैसा धूम आदि प्रसिद्ध हेतुओंमें भी अन्योन्याश्रय जमाया जा सकता है। तिस कारणसे परीक्षक विद्वानों करके यह " सिनिवेशिविशव्य " हेतु अनैकांतिक हेलामास ही कहना चाहिय । केवळ व्यक्तिचार दोष करके ही इस हेतुकी निंदा करना थोडा नहीं है। इस सिन्निक्सविशिष्टल हेतुका कथन कर देनेसे वैशेषिकीके कार्यत्व हेतु, अर्थिकियाकारित्व हेतु, स्थित्वाप्रवृत्ति हेतु, अचेतन्त्व हेतु, विनाशित्व हेतु, आदिका भी वर्णन कर दिया समझ लेना चाहिये । अर्थात्-कार्यत्वादि हेतु भी ईश्वरको जगत्का कर्त्तापन साधनेमें ईश्वर देह करके व्यमिकार दोषवान् हैं। इनमें भी उक्त रीत्या निर्वेख असिद्ध दोषको नहीं उठाकर पुष्टं व्यभिचार दोपको रिवियेगा ।

यथैव हि सिश्विवश्वविशिष्टत्वादिति हेतुर्नासिद्धः शक्यो वक्तुमिष्टहेतुनामप्यसिद्धत्वप्रसंगात्। किं तिर्हे १ परीक्षकैरनैकांतिको वाच्यस्तथा कार्यत्वाद्चेतनोपादानत्वाद्यीकियाकारित्वात् स्थित्वाप्रवृत्तेः, इत्येवमादिरपीश्वरदेहेनानैकांतिक एव सर्वथा विश्वेषाभावात् । अपि च—

कारण कि जिस हो प्रकार " सिनेवेशविशिष्टत्वात् " यह हेत् असिद्ध हेत्वाभास नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि यों अन्ट, स्न्ट, दोष लगादेनेपर तो धूम आदि इष्ट हेतुओंको भी असिद्र हेलाभास होजानेका प्रसंग आजावेगा, जो कि जैनोंको अभीष्ट नहीं है। तो फिर इस वैशेषिकोंके हेतुमें क्या दोष लगाया जाय ! इसका उत्तर यही है कि परीक्षकों करके यह हेतु अनैकांतिक हैत्याभास कह कर ठहरा दिया जाय, तिस ही प्रकार कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, अधीक्रिया-कारित्व, स्थित्वाप्रवृत्ति, इत्यादि इस प्रकारके अन्यहेत भी ईश्वरके शरीर करके अनैकान्तिक हेत्वाभास ही हैं । क्योंकि सिन्नेवशिवशिष्टत्वसे कार्यत्वादि हेतुओंमें कोई अन्तर नहीं है । अर्थात्— वैशोषिकोंने अपने कर्तृत्ववादको पुष्ट करनेके छिये विशेष स्थळोंपर यों कहा है कि " क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत् '' जो जो कार्य होते हैं, वे बुद्धिमान्से जन्य हैं, जैसे कि घडा है । इस ही प्रकार जिन कार्योंके अचेतन उपादान कारण हैं । उनकी ठीक ठीक व्यवस्था जमानेके लिये चेतन कत्तीकी आवश्यकता है। जो पदार्थ अर्थिकयाओंको कर रहे हैं. वे चेतनसे अधिष्ठित होकर ही नियत कार्योको कर सकते हैं। जो कारण टहर ठहर कर कभी कुछ और कभी कुछ कार्योंके करते हैं, वे चेतन द्वारा प्रेरित हो रहे हैं। जैसे कि कभी हथोडा सोनेको कूटता है, कभी केंची पत्तरको काटती है, कमा पंत्री सोनेको खींच रही है, इन ठहर ठहर कर कार्योंके प्रवर्तनेमें सुना-रका अस्तित्व आवश्यक है। इसी प्रकार कपडा बुनते समय ठहर ठहर कर अनेक कारणोंकी प्रवृत्ति करानेमें कोळी बुद्धिमान कत्ती है। तथा रूपादिमान या अचेतन पदार्थ भी चेतन कत्ती द्वार कार्योंका सम्पादन कर सकते हैं। इत्यादि उनके सभी हेतु व्यभिचार दोषयुक्त हैं। और एक बात यह भी है, उसको धुनो-

स्थावरादिभिरप्यस्य व्यभिचारोनुवर्ण्यते । कैश्चित्पक्षीकृतैस्तेषामधीमद्भेतुतास्यितैः ॥ ३९ ॥

किन्दी विद्वानों करके इस सनिवेशविशिष्टल हेतुका खार्ने, कृपजल, वायु, वन्हि, वनस्पति, इन स्थावर और सूर्य, समुद्र, आदि करके व्यभिचार प्राप्त हो जानेका पीछे वर्णन किया गया है। जो कि वे स्थावर आदिक पदार्थ नैयायिकांके यहां पश्चकेटिमें अन्तः प्रविष्ट किये जा चुते हैं। किन्तु किसी सर्वज्ञ, अशारिर, बुद्धिमान्को, उनका निमित्तकारणपना व्यवस्थित नहीं हो सका है। अर्थीत्—उपवनकी वनस्पतियोंको कोई बालकोंसी बुद्धिको धारनेवाला पंडित मर्ले ही माली करके

निर्माण की गयीं कह देवे, चूल्हेकी आगको रसोइयाकी बनायी हुई कह देवे, नलके जलको पुरुषके प्रयत्नसे उपजा हुआ मान ले, बाजनाकी बायुको बुहिमान् जीव करके बनाई गई अभीष्ट कर ले, खेतकी मिटीको किसानके व्यापारसे बनी हुई स्वीकार कर लेवे, किन्तु वह बुद्धिमान् वनकी वमस्पितयों या खानों, नदीं जलों, दावानल, आंधी, सूर्य, आदि पदार्थोंको बुद्धिमान् करके बनाये हुये नहीं मान सकता है। यदि कोई साहसी अन्ध श्रद्धावान् उन स्थावर आदिको भी शरीर, पर्वत, पृथिवी, आदिके समान पक्षकोटिमें डालकर स्थावर, सूर्य, आदिका निमित्तकारण ईश्वरको मान बैठे तब तो यों कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं हो सकेगा। ''घूमवान् वन्हे:'' यहां अंगार या अयोगोलक इन व्यभिचार स्थलोंको पक्षकोटिमें गिना जा सकता है। जलते हुये अंगार या लोहगोला अथवा कोयलेको जाममें रखकर कुछ दूरसे देखो दूसरे प्रकारका विलक्षण घूआं निकलता हुआ दीखता है। यों कहनेवालेका कोई मुख टेडा नहीं हो जाता है। जिस पुरुष या स्रीके निमित्तसे किसी की या पुरुषको व्यभिचार दोष लगनेका प्रसंग आया है, निर्लग्ज पुरुष उन निकल्ट स्वीपुरुषोंको भी स्वस्नीपक्ष या स्थपितक्क्षमें डाल लेवे, एतावता अपयश, राजदण्ड, मर्सना, पापसंचय, नरकगमनसे स्नुटकारा नहीं मिल सकता है। अतः नैयायिकोंके हेतुमें स्थावर आदिकोंकरको भी व्यभिचार दोष लग गया, कोई स्वटका नहीं है।

क्यं पुनः स्थावरादीनामबुद्धिमत्कारणकत्वस्थितिर्यतस्तैरनैकांतिकत्वं कार्यत्वादिहेतूना-मुद्राच्यत इत्यावेदयति ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उन स्थावर आदि पदार्थोंका निमित्तकारण कोई विशेष बुद्धिमान् पुरुष व्यवस्थित नहीं है, यह आपने फिर किस प्रकार निर्णीत कर लिया है ! जिससे कि कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व आदि हेतुओंका उन स्थावर आदिकों करके व्यभिचार दोष उठामा जा रहा है ! बताओ । ऐसी निर्णेतुमिन्छा होनेपर प्रन्थकार बडी प्रसमताके साथ उस जिज्ञासुके सन्मुख निवेदन कर देते हैं ।

दृष्टिश्वत्यादिहेतूनामन्वयव्यतिरेकतः । दृश्यते स्थावरादीनां सर्वगत्वेन बेधसः ॥ ४० ॥ न देशे व्यतिरेकोस्ति क्षितावस्य सदा स्थितेः । सर्वगस्यान्वयस्त्वेको न तज्जन्यत्वसाधनः ॥ ४१ ॥

साधारण प्राणियोंके भी दृष्टिगोचर हो रहे पृथिवी, जल, खेत, बीज, ऋतु, योग्यता, सहकारी-समवधान, आदि हेतुओंके अन्वय, व्यतिरेक्ते स्थावर आदिकोंका भाव या अभाव देखा जा रहा है। ईस्वरके साथ इनका अन्वय, व्यतिरेक, नहीं देखा जाता है। क्योंकि तुम वैशेषिकोंका गढा गया जगद्विधाता ईस्वर सर्वव्यापक माना गया है। इस कारण किसी भी देशमें उसका व्यतिरेक नहीं पाया जा सकता है। जिस देशमें ईश्वर नहीं वहां स्थावर आदिक कर्म नहीं है, इस व्यतिरेकको घटानेके छिये तुम्हारे पास कोई स्थल शेष नहीं है। तुम्हारा माना हुआ ईश्वर सर्वत्र प्राप्त हो रहा है। तथा पृथिवीमें इस नित्य ईश्वरकी सर्वदा स्थिति बनी रहनेसे यह कालव्यतिरेक भी नहीं बन सकता है कि जब जब ईश्वर नहीं तब तब स्थावर आदि कार्य नहीं। हां, सर्वत्रव्यापक हो रहे ईश्वरका केवल एक अन्वय ही तो स्थावर आदिकोंको उस ईश्वर करके जन्यपनकी सिद्धि करानेवाला नहीं है।

क्षित्युदक्कवीजादितया कारणान्वयव्यतिरेकात् स्थावरादीनां भाव्यभावकयोखपळंभाष्म बुद्धिमत्कारणान्वयव्यतिरेकातुविधानं । न हि बुद्धिमतो वेधसः कविदेशे व्यतिरेकोस्ति सर्व-गतत्वात्, नापि काले नित्यत्वात् । तथा च नान्वयो निश्चितः संभवति तद्भावाविभीवदर्शन-मात्रान्वयो वा स न तज्जन्यत्वं साधयति करभादेर्भाव धूमाविभीवदर्शनात्त्वज्ञन्यत्वसिद्धिमसंगात् ।

भूमि, जल, बीज, वायु आदि स्वरूपकरके कारणोंके अन्वय और व्यतिरेक्से स्थावर आदि कार्योंके उत्पाद्य, उत्पादकभावका उपलंभ होरहा है। अतः किसी बुद्धिमान कारणके साथ स्थावर आदि-कोंका अन्वयन्यतिरेक अनुसार, विधिविधान नहीं देखा गया है। पौराणिकोंके बुद्धिमान स्रष्टाका किसी भी देशमें व्यतिरेक नहीं पाया जाता है। क्योंकि वह सर्वगत माना गया है तथा किसी काळमें भी **ई**बरका व्यतिरेक नहीं मिलता है । क्योंकि ईश्वर अनादि अनंत कालतक नित्य मान लिया है और तिस प्रकार कोई भी देशव्यतिरेक या काळव्यतिरेक नहीं बननेपर अन्वयका निश्चय हो चुकना भी नहीं सम्भवता है। क्योंकि हेतका प्राण विपक्षव्यावातिकरूप व्यतिरेक है। व्यतिरेक नहीं होनेपर अन्वय हो रहा भी आनिश्चित है। एक बात यह भी है कि व्यापक नित्य हो रहे उस विधाताका सद्भाव होनेपर स्थावर आदिकोंका आविर्मात होना देखने मात्रसे हो रहा वह अन्वय तो स्थावर आदिकोंके उस ईश्वरसे जन्यपनको नहीं साथ डालता है। यों तो ऊंटका बचा, कण्डाओंको ढोनेवाले गधा आदि तटस्थ पदार्थीका सद्भाव होनेपर धुएंका आविर्भाव देखा जाता है। इतनेसे ही धूमको उस ऊंट आदिसे जन्यपनकी सिद्धि होजानेका प्रसंग आजावेगा। प्रत्येक कार्य होनेके निकट देशमें अनेक उदासीन पदार्थ पडे रहते हैं । एतावता उनमें " कार्यकारणभाव " का प्रयोजक अन्वय बन रहा नहीं माना जाता है। अन्यथा तुम्हारे यहां व्यापक मानी जारही अन्य जीवात्माओं या आकाशके साथ भी मुलमतया अन्वय बन जानेसे ईश्वरके समान अन्य आत्मायें मी संपूर्ण कार्योका निमित्तकारण बन बैठेंगे, (बैठेंगी) जो कि हम, तुम, दोनोंको इष्ट नहीं है।

कथमदृष्टस्य स्थावरादिनिमित्तत्वमित्याइ।

यहां कोई पूंछता है कि तब तो आप जैन यह बताओ कि स्थावरजीवोंका पुण्य, पाप, या भोक्ताजीवोंका पुण्य, पाप, भछा उन स्थावर आदिकोंका निमित्तकारण कैंसे होजाता है ? पुण्य, पापके साथ स्थावर आदिकोंका अन्वय और व्यतिरेक तुम कैसे बना सकोगे ? समझाओ ।

नश्वरत्वाददृष्टस्यासर्वगत्वाच सिध्चति । व्यतिरेकस्तत्र तस्य (स्यात) स्थावरादिनिमित्तता ॥ ४२ ॥

नाशशील (अनित्य) होनेसे और अन्यापक होनेसे अदृष्टके साथ उन स्थावर भादिकोंमें काल्य्यतिरेक या देशन्यतिरेक सिद्ध हो जाता है। अतः उस अदृष्टको स्थावर आदि कृतक पदा-थौंका निमित्तकारणपना सध जाता है। कोई अनुपपत्ति नहीं है।

न ग्रदृष्टं धर्माधर्मसंत्रितं क्रूटस्थं सर्वगतं वा ग्रहेश्वरविद्वते यतस्तस्य देशकाल-व्यतिरेको न सिध्येत्। क्षित्यादिदृष्टसामग्रीसद्भावेपि कचित्स्थावरादीनामनुपलंभाददृष्टकारणत्वं सिध्यत्येव। कथमेवं तदुत्पत्तौ कालादेईतुत्विमिति सर्वगतस्य व्यतिरेकासिद्धेरीश्वरविदिति वदंतं प्रत्याह।

धर्म और अधर्म इस संज्ञाको प्राप्त हो रहे अदृष्टको हम जैन तुम्हारे महेश्वरके समान कृटस्थ नित्य अथवा सर्वत्र प्राप्त हो रहा व्यापक नहीं अभीष्ट करते हैं. जिससे कि उस अदृष्टका देशव्यति-रेक या काळ्व्यातिरेक नहीं सिद्ध हो सके । साधारण जीवोंद्वारा कारणपने करके देखी जा रही पृथिवी, बीज, आदि सामग्रीका सद्भाव होनेपर भी किसी देशमें या किसी समय स्थावर आदि कार्योकी उत्पत्ति हो रही नहीं देखी जाती है। अतः अदृष्टको कार्योका कारणपना सिद्ध हो जाता है। अर्थात्—खेतीमें वाणिज्यलाभमें, बढिया नीरोगतामें पुण्यको और अतिष्टृष्टि अनाष्ट्रष्टि, आर्थिकहानिमें, सरोगतामें, दारिद्यमें, नाव डूब जाना, रेलगाडी 😎 जाना, वायुयानघात, आदि कार्योमें दृष्टकारणोंका व्यभिचार दीख रहा होनेसे पापरूप अदृष्टको कारणपना स्पष्ट शिला प्रसिद्ध हो रहा है। जहां जहां या जब जब पुण्य, पाप हैं, तहां, तहां तब तब स्थावर आदि कार्योंकरी उत्पत्ति हो जाती है। और जहां जहां या जब जब अटए नहीं वहां वहां या तब तब छौकिक कार्य नहीं उपज पाते हैं। यह अन्वय व्यतिरेक प्रसिद्ध है। यहां कोई पूछता है कि अदृष्ट तो अव्यापक, अनित्य है । किन्तु काल, आकारा, द्रव्य तो नित्य और व्यापक हैं । अतः इस प्रकार व्यतिरेकको साधनेपर यदि कार्य कारणभाव माना जायगा तो उन स्थावर आदिकोंकी उत्पत्तिमें सर्वगत हो रहे काळ आदिको मला निमित्तकारणपना किस प्रकार सिद्ध हो सकेगा ? क्योंकि ईश्वरके समान नित्य, व्यापक, काल, आदिका देशव्यातिरेक या काळव्यतिरेक असिद्ध है. इस प्रकार कह रहे वादीके प्रति श्री निधानन्द आचार्य समाधानवचनको अप्रिम वार्तिक द्वारा कहते हैं । उसको सनो ।

> काळादिपर्ययस्यापि नित्यत्वाद्यप्रसिद्धितः । सर्वथा कार्यनिष्यचौ हेतुत्वं न विरुध्यते ॥ ४३ ॥

काल, शाकाश, आदि द्रध्योंकी पर्यायोंको भी नित्यपन, व्यापकपन, आदिकी अप्रसिद्धि होनेसे कार्योके करनेमें निमित्तकारणपना सभी प्रकारोंसे विरुद्ध नहीं पढता है। अर्थात्—अर्थ कियाओंको करनेवाली अनित्य पर्यायोंसे कथांचिद् अभिन हो रहे काल आदि द्रव्योंको सम्पूर्ण कार्योंके प्रति निमित्तपना अन्याहत है।

न हि कालाकाशादिपर्यायाणां नित्यत्वं सर्वगतत्वं वा मसिद्धं कालाण्यनामेव द्रव्यर्था-देशाशित्यत्वोपगमात् । निःपर्यायस्य नित्यस्य सर्वगतस्य च कालस्य परोपगतस्याममाणकत्वात् , सर्वगतस्य नित्यस्य चाकाशद्रव्यस्यैव व्यवस्थापनाशिःपर्यायस्य तस्यापि प्राहकप्रमाणाभावात् । धर्मास्तिकायस्याधर्मास्तिकायस्य च लोकव्यापिनोपि द्रव्यत एव नित्यत्वोपगमात् पर्यायतोऽसर्व-गतत्वादनित्यत्वाश्च । ततो युक्तं स्वकार्योत्पत्तौ निमित्तत्वं सर्वथा विरोधाभावात् ।

काल. आकारा, आदि द्रव्योंकी पर्यायोंका सर्वथा नित्यपना अथवा सर्वगतपना प्रसिद्ध नहीं है। जैनसिद्धान्त अनुसार काळाणुओंको ही द्रघ्यार्थिकनयकी विवक्षासे नित्यपना स्वीकार किया गया है। दूसरे विद्वान वैशेषिकोंने कालको पर्यापरहित और नित्य, तथा सर्वगत जो स्वीकार किया है, वैसा कालद्रव्यको सिद्ध करनेमें उनके यहां कोई प्रबल प्रमाण नहीं प्रवर्तता है। अतः पर्यापरहित नित्य, व्यापक काल्डब्रव्यकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकनेके कारण वह काळद्रव्य बिचारे पौराणिकाँके नित्य, व्यापक, ईश्वरका द्रष्टान्त या कटाश्वस्थळ नहीं बन सकता है । हां, जिनागममें सर्वगत और नित्य हो रहे आकाशद्रव्यकी ही तो व्यवस्था कराई गई है। किन्तु सम्पूर्ण दन्य स्वकीय द्रव्यत्वगुणके अनुसार प्रतिक्षण नवीन नवीन पर्यायोंको धारण करते हैं। कोई द्रव्य कूटस्थनित्य नहीं है। पर्यायोंसे रहित हो रहे सर्वथा नित्य उस आकाशका भी प्राह्क कोई प्रमाण नहीं है। अतः अनित्यपर्यायोंके साथ तादात्म्य सम्बन्धका अनुभव कर रहा कथंचिद् अनित्य आकाश ही यावत् कार्योका निमित्त है। इस कारण सर्वथा नित्य और सर्वथा व्यापक हो रहे ईर्वरका उपमान कथंचित् अनित्य आकाश भका कैसे हो सकता है ! यानी नहीं हो सकता है । अर्थात् - जब कि अखण्डित अनेक देशीय आकाश द्रव्यके देशांशरूप प्रदेश कल्पित कर छिये जाते हैं । मुख, कूप, गृह, गुदस्थान, शुद्धभाजन, अशुद्धभाजन, ये सब रीते स्थानस्वरूप हो रहे आकाशप्रदेश एक ही नहीं है । स्वर्गप्रदेश, नरक, आकाश, जम्बूद्दीप, स्वयम्भूरण, त्रसनाली, स्थावर लोक, ये सब आकाशके न्यारे न्यारे प्रदेशींपर व्यवस्थित हैं। जो आकाश सिद्ध परमात्माओंको अवसाह है, एहा है, वह अवसास नारकियोंको स्थान नहीं दे सकता है। आकाशके प्रदेशोंमें गति नहीं है। मालवा, पंजाब, बंगाल, यूरोप, अमेरिका, आष्ट्रिया, आष्ट्रेलिया, आदि आकाशकी पोलें न्यारी न्यारी है। जहां प्रभूत जल या बल्लान् नकुल प्रसन्नतापूर्वक बैठे हुये हैं, वहां स्वल्प अग्नि या समिको अवकारा बही विक पाता है । यद्यपि अग्नि, जल या नकुछ, सर्प आदिमें निज़म्ही गाँउके, विरोध अक्षाक परिवास विरोध हैं, फिर भी '' याचित कार्याणि

तावन्तः प्रत्येकं स्वभावमेदाः" इस नियम अनुसार अवगाह देनेमें उदासीन अप्रेरक कारण हो रहे आकाशमें भी वैसी वैसी न्यारी न्यारी परिणतियां माननी पढती हैं। एक एक वस्तुमें अनन्ते स्वभाव हैं। अतः अन्यापक देशांशोंसे अभिन्न हो रहे न्यापक आकाशद्वन्यमें कर्यचित् असर्वगतपना भी समझ लिया जाय । तथा चौदह राजू ऊंचे या तीनसी तेतालीस ३४३ घन राजू प्रमाण परे लोकमें व्याप रहे भी धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकायका द्रव्यक्रपते ही नित्यपना स्वीकार किया गया है। पर्यायोकी अपेक्षा वे धर्मान्तिकाय, अधर्मास्तिकाय दोनों असर्वगत और अनित्य हैं। अधीत--द्रव्यत्व गणके अनुसार प्रतिक्षण नृतन पर्यायोंको धार रहे धर्म, अधर्म, द्रव्यके मछे ही सहशपरिणाम होते रहें. किन्त अनित्यपर्यायोंसे अभिन हो रहे धर्म, अवर्म द्रव्य सर्वथा नित्य नहीं कहे जाते हैं। कोई भी द्रव्य कदाचित भी पर्यायोंसे रीता नहीं है । सम्पूर्ण पदार्थ द्रव्यरूपसे नित्य और पर्यायरूपसे अनित्य हो रहे कथंचित नित्यानित्यात्मक हैं। घोडा, मळ्ळी, पथिक, विवार्थी, आदिकी उन उनके नियत देशोंमें गति करानेवाली धर्मद्रव्य और स्थिति करानेवाली अधर्मद्रव्य अपनी न्यारी न्यारी प्रयोजक. अन्यापक पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहीं अन्यापक भी है । लोकाकाश स्वयं एक छोटासा अन्या-पक पदार्थ है । उसमें भर रहे धर्म, अधर्म, द्रव्य दोनों वैसे ही अव्यापक हैं । तिस कारणसे काल, आकाश, धर्म, अधर्म, इन चारों पदार्थोंको अपने, अपने कार्योकी उत्पत्ति करनेमें निमित्तकारणपना युक्तिपूर्ण सथ जाता है। सभी प्रकारोंसे कोई विरोध नहीं आता है। हां, सर्वधा नित्य या व्यापक हो रहा तुम्हारा ईश्वर विचारा स्थावर आदि कार्योंका निमित्तकारण नहीं बन सकता है।

यद्यवं महेश्वरगुणस्य सिस्टक्षालक्षणस्यानित्यत्वादसर्वगतत्त्वात् च तिक्षिमित्तत्वं स्थाव-रादीनां युक्तं व्यतिरेकप्रसिद्धेरिति पराकृतमनूद्य दुषयति ।

ईश्वरवादी कह रहे हैं कि यदि इस प्रकार आप जैन अनित्य और अञ्चापक पदार्थको स्थावर आदि कार्योका निमित्तकारण माननेमें विशेष अभिरुचि रखते हैं तो महेश्वरके सृजनेकी इच्छा स्वरूप गुणको अनिव्ययन और अन्यापकपन होनेसे उस गुणको स्थावर आदि कार्योका निमित्तकारणपना उचित बैठ जाता है। ईश्वरकी अन्यापक इच्छाके साथ कार्योका देशन्यतिरेक और अनित्य इच्छाके साथ कार्योका काळ्यतिरेक भी प्रसिद्ध होजाता है इस प्रकार दूसरे पौराणिकोंके चेष्टितका प्रथम अनुवाद कर श्री विद्यान्द आचार्य दूषणप्रयोग करते हैं।

महेश्वरिसम्क्षाया जगजन्मेति केचन । तस्याः शाश्वततापायादिवभुत्वाददृष्टवत् ॥ ४४ ॥ तद्युक्तं महेशस्य सिस्क्षांतरतो विना । सिस्क्षोत्पादने हेतोस्तयैव न्यभिचारतः ॥ ४५ ॥

सिसृक्षान्त्रतस्तस्याः प्रस्तावनबस्थितेः। स्थावरादिसमुदुभूतिर्न स्यात्कल्पशतैरपि॥ ४६॥

उस ईश्वरकी सृजनेके लिये द्वयी इच्छाको नित्यपनका अभाव होजानेसे और अन्यापक होजानेसे अह अह समान महेश्वरकी इच्छासे जगत्वर्ती यावत् कार्योक्षी उत्पत्ति हो जाती है। इस प्रकार कोई गण्डित कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि उन पण्डितोंका कहना युक्तिरहित है। क्योंकि महेश्वरकी ख़ु जब अनित्य है तो दूसरी सिस्धाके विना ही उस सिस्धाकी उत्पत्ति माननेपर तिस ही प्रकार रितुका व्यभिचारदीय लग जायगा। अर्थात्—सिस्धामें कार्यत्वहेतु ठहर गया, किन्तु दूसरी सिस्धाको उसका निमित्तकारणपना नहीं प्राप्त हुआ। हां, यदि ईश्वरकी अनित्य सिस्धाको जन्म दूसरी सिस्धासे माना जायगा, और उस दूसरी अनित्य सिस्धाके प्रवि करनेमें तीसरी सिस्धाको हैत माना नायगा, यों चौथीमें पांचवीं सन्दुमिच्छा, और पांचवींमें छठी, आदि सिस्धाओंको कारण मानते मानते अनक्त्या होजायगी। अनेक सिस्धाओंको उत्पन्न करनेमें ही ईश्वरकी सिस्धाओंका बल निवट जायगा। में सैकडों कल्प कालों करके भी स्थावर आदि कार्योकी समुचित उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

तद्भोक्तृपाण्यदृष्टस्य सामर्थ्यात्सा भवस्य चेत् । प्रसृतिः स्थावरादीनां तस्मादन्वयनात्र किम् ॥ ४७ ॥ स्वातंत्र्येण तदुद्भूतौ सर्वदोपरमञ्युतेः । सर्वत्र सर्वकार्याणां जन्म केन निवार्यते ॥ ४८ ॥

उन स्थावर आदि कार्योका भोग करनेवाले प्राणियोंके अदृष्ट (पुण्यपापेस) की सामर्थ्यसे ह्राह्म स्थावर आदि कालसे उपज रही यदि मानी जायगी तब तो अदृष्टके ह्रोनेपर स्थावर आदिकांका उपजना यों अन्वयके बन जानेसे उस अदृष्टसे ही साक्षात स्थावर आदि कार्योकी उत्पत्ति शि क्यों नहीं मान ली जावे। परम्परासे अदृष्टको कारण माननेकी अपेक्षा पुण्य, पापको, अन्यवहित कारण मानना समुचित है। अदृष्टकी अधीनताके विना ही यदि स्वतन्त्रता करके उस सिस्क्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो ईश्वरकी सिस्क्षायें सर्वदा उपजतीं रहेंगी। कदाचित् भी उन इच्छाओंकी उत्पत्तिका विराम नहीं हो सकेगा। ऐसी दशामें सभी स्थलोंपर सम्पूर्ण कार्योका उपजना भला किस करके रोका जा सकता है? अर्थात्—विना कारण अपनी स्वतन्त्रतासे उपज रहे कार्योमें नियत देश । नियत कालकी सीमा नहीं रह पाती है। सभी कार्य अटोक उपजते ही रहेंगे।

व्याख्यातात्रेश्वरेणैव नित्या साध्यातिरेकिणी । कविद्यवस्थितान्यत्र न स्यादन्वयभागपि ॥ ४९ ॥ इस प्रकरणमें ईश्वर करके ही वह नित्य इच्छा भी ज्याख्यान कर दी गयी समझ छेनी चाहिये। कारण कि वह इच्छा प्रकृतसाच्यका अतिक्रमण करनेवाळी है। अतः अन्वयको धार रही भी वह इच्छा कहीं भी अन्य स्थळोंपर व्यतिरेकको धारनेवाळी नहीं होनेसे व्यवस्थित नहीं समझी जायगी। भावार्थ—व्यापक नित्य ईश्वरका जैसे स्थावर आदि कार्योके प्रति अव्यभिचारी कार्यकारणभाव नहीं घटता है। उसी प्रकार साधे जा रहे जन्य कार्योसे अतिरिक्त स्थळोंपर भी पायी जा रही निस्य सिस्क्षा कोरे अन्वयसे ही कहीं कारणपने करके व्यवस्थित नहीं हो सकती है।

नन्वेवं काळादिपर्ययस्य स्वकायोंत्यत्तौ निमित्तभावमञ्जभवतः प्रादुर्भावे यद्यपरः काळादिपर्यायो न निमित्तं तद्वदन्यकार्योत्यत्ताविष काळादिपर्यायो निमित्तं माभूत्, अथ निमित्तं तदुत्पत्तावप्यपरो निमित्तमित्यनवस्था स्यात् काळादिपर्यायस्य कारणमन्तरणोत्पत्तौ देश्वकाळादिनियमानुपपत्तेः सर्वत्र सर्वदा भावात्सर्वकार्याणामनुपरतोत्पत्तिप्रसंगः । तस्य नित्यत्वे काळादिद्वव्यवद्यतिरेकासिद्धिरन्वयमात्रसिद्धाविष सर्वदोत्पत्तिस्तेषापनिमित्तत्वमसंगः सिद्धक्षावत्स्थावराद्यत्यत्ताविति केचित्, तेषि न तत्त्वशः। स्याद्वादिनां स्वकार्योत्पत्तिनिमित्तस्य काळादिपर्ययस्य निमित्तत्वसिद्धस्तदुत्यत्ताषि तत्त्यूर्वकाळादिपर्यायस्य निमित्तत्वमित्त्वनादित्वा-क्शिमित्तनैमित्तिकभावस्य तत्पर्यायाणां बीजांकुरादिवद्नवस्थानवतारात् । कथंचित्स्यातन्त्र्येणोन्त्यमानस्यापि सर्वत्र सर्वदा च भावानुत्यत्तेः नित्यत्वानभ्युपगमात्रः।

यहां कोई कर्तुवादी पण्डित अपने पक्षका अवधारण करनेके छिये आक्षेप उठा रहे हैं कि इस प्रकार जैनसिद्धांत अनुसार अभीष्ट होरहे कार्यकारणभावमं भी गोटाला मच जायगा, जैनोंने काल, आकाश, अदृष्ट, आदि पर्यायोंको अपने अपने कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण माना है। जैनोंने जैसे हमारी ईस्वरसिस्क्षा पर कुचेाच उठाया है हम भी उनके यहां माने गये कारणों पर आक्षेप चला सकते हैं कि अपने कार्योके उपजानेमें निमित्तकारणपनका अनुभव कर रहे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें यदि दूसरे काल आदि पर्याय निमित्तकारण नहीं हैं, तब तो उन्हीं काल आदि पर्यायोंके समान अन्य कार्योकी उत्पत्तिमें भी काल आदि पर्याय निमित्तकारण नहीं होवें। अब यदि काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी निमित्तकारण माना जायगा तब तो उन दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी निमित्तकारण माना जायगा तब तो उन दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी काल कादि पर्यायोंकी निमित्तकारण माना जायगा तब तो उन दूसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी तीसरे काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी काल आदि पर्यायोंकी काल आदि पर्यायोंकी काल कादिका कारावित् कृपा करती हुगी निवृत्त होसकती है किन्तु कारक पक्षकी निस्तुर अनवस्था एक बार गले लगी, पुनः कभी छूटती नहीं है। यदि जैन महाशय काल आदि पर्यायोंकी कारणके किना ही उत्पत्ति मान बैठेंगे, तब

तो देश, काल, आदिका नियम नहीं बन सकेगा, नियत देश, नियत कालवाले कारणोंके विना ही कार्योकी उत्पत्ति माननेपर सभी स्थळोपर सदा ही काल आदि पर्यायोका सद्भाव पाया जायगा और ऐसा होजानेसे संपूर्ण कार्योकी अविराम उत्पत्ति होती रहेगी। अर्घात्—कार्यके होजानेपर भी पनः पुनः वह लाखीं, करोडों, बार उपजता रहेगा, उपजनेसे विराम (क्रूटी) नहीं मिल सकेगा, इस प्रकार अतिप्रसंग जैनोंके ऊपर आता है, जैसा कि अबताछीसने नार्तिकमें उन्होंने हमारे ऊपर कहा था । यदि जैनजन निश्चयकाल द्रव्य आदिके समान उन न्यवहार काल आदि पर्यायोंका नित्यपना मानागे तो केवल अन्वय सिद्धि हो चुकनेपर भी न्यतिरेककी सिद्धि तो कथमपि नहीं होसकेगी। तथा काल आदिकी नित्य पर्यायों द्वारा सदा ही उन कार्योंकी उत्पत्ति होती रहेगी । यो स्थावर आदिकोंकी उत्पत्तिमें सिसक्षाको जैसे जैनोंने निमित्तकारण नहीं बनने दिया था. उसीके समान काल आदि पर्या-योंको भी निमित्तकारणपन नहीं होसकनेका प्रसंग जैनोंके यहां प्राप्त हुआ । यहांतक कोई पण्डित कह रहे हैं। आचार्य कहते हैं कि वे महाशय तत्त्वव्यवस्थाके हाता नहीं है क्योंकि स्यादादियोंके यह। अपने, अपने, कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्त होरहे काल आदि पर्यायोंको निमित्तकारणपना सिद्ध होरहा है। उन काल आदि पर्यायोंकी उत्पत्तिमें भी उससे पूर्ववर्ती काल आदि पर्यायोंको निमित्तपना था. उन पर्यायोंकी भी निमित्तकारण पूर्व, पूर्व कालकी कालादि पर्यायें थीं । इस प्रकार बीजांकुर, मुर्गी अंडा, द्रव्य कर्म, भाव कर्म, आदिके समान उन पर्यायोंका पूर्वकाळीन पर्यायोंके साथ होरहे निमित्तनैमित्तिक भावको अनादिपना है। इस कारण अनवस्था दोषका अवतार नहीं होपाता है। भावार्थ-कालाणुर्ये द्रव्य है. वे प्रतिक्षण परिणामोंको धारती है। जगतके संपूर्ण कार्योंकी बर्तनामें काछ निमित्तकारण है। अन्य कार्योंमें कालपरमाणुओंके परिणमन जैसे निमित्त हैं उसी प्रकार इस समयके काल परिणामोंका निमित्त-कारण पूर्वसमयवर्ती कालपरिणाम हैं, और पूर्व समयकी काल पर्यायोंका निमित्तकारण उससे पहिलेके समयकी कालपर्यायें हैं. यों अनादिसे अनन्तकालतक प्रक्रम चल रहा है। घडियोंकी ठीक ठीक चाल को पहिली पहिली चिंदया ठीक बताती चली आ रही हैं। पहिले पहिले बांटोंसे उत्तर)त्तरके बांट ठीक ठीक तोळकर परीक्षित कर लिये जाते हैं। देखिये, अन्य इच्योंके परिणमन काळह्व्यके अधीन है। किन्तु काल्द्रव्यके उत्तरीत्तर समयक्ती परिणमन पूर्व पूर्वकाल पर्यायोंके अधीन हैं। आकाश द्रव्य अन्य अनन्तद्रव्योंको अवगाह देखा स्वयंको भी अवगाह देता है। अधर्म द्रव्य निजका भी स्थापक है। यों कथंचित् स्वतंत्रताके उपज रहे भी ब्रतिनियतकाल आदि पर्यायोंकी सर्वत्र और सर्वदा उत्पत्ति नहीं बन सकती है । दूसरी बात यह भी है कि सर्वया नित्यपना हमारे यहां स्वीकार नहीं किया गया है। अर्थात-हम चाहे जीबद्रव्यकी पर्याय होय, चाहे काल, आकारा, आदि द्रव्यकी पर्याय होय, सम्पूर्ण पर्यायोंको नियत हो रहे निमित्त नैमित्तिक मावसे गुँथा हुआ मानते हैं। पूर्व समबकी पर्यार्थे उत्तरसमयवर्ती कार्योको बनाती हैं। अतः महेश्वरकी सिसुक्षाका साहस्यकाल आदि पर्यायोंमें बारू नहीं हो पाता है बाळ आदि पर्यार्थोंके निमित्तपनका मार्ग निर्दोष है।

ननु महेश्वरसिस्क्षापि तर्हि स्थावराष्ट्रस्या निमित्तभावमनुभवतीति पूर्वसिस्क्षातः सापि स्वपूर्वसिस्क्षातः इत्यनादित्वात् कार्यकारणभावस्य कथमनवस्थादोषणोपद्भ्येत कथं वा वयेव हेतवो जनकातिकाः स्युः १ न स्थावरादिकार्यानुपरमः स्वातंत्र्येणानुत्यादात्। नान्यतिको नित्यस्वानभ्युपगमात् सिस्क्षायाः, तिक्वत्वते सर्वदा कार्योत्यत्तिमसंगात्। सर्वदा सहकारिणामभावाक तत्यसंग इति चेक्न, तेषामपि महेश्वरसिस्क्ष्रया तज्जन्मत्वे सर्वदा सद्भावापत्तेस्तदनावत्तजन्मकृतेवेव हेत्नां व्याभिचारात्। तत्सहकारिणोपि स्वोत्यत्तिहेत्नामभावात् न सर्वदोत्त्यद्यंत इति चेक्न, तेषामपि ईश्वरसिस्क्षायास्तज्जन्मत्वेतरयोकक्तदोषानुषंगात्। तत्सहकारिणां नित्यत्वे स एव सर्वदा कार्योत्यत्तिमसंगः सिस्क्षायास्तज्जन्मत्वेतरयोकक्तदोषानुषंगात्। तत्सहकारिणां नित्यत्वे स एव सर्वदा कार्योत्यत्तिमसंगः सिस्क्षायाः सहकारिणां च नित्यत्वादनित्येष सा युक्ता। " ब्राक्षेण वानेन वर्षक्षतांते प्राणिनां भोगभूतये भगवतो महेश्वरस्य चतुर्दक्षभुवनाधिपतेः सिस्क्षोत्ययत्त " इति वचनवाच न नित्यासौ तयोत्पत्तिविरोधादिति केचित्।

पुनः वैशोषिक या पौराणिक अपने पक्षका अववारण करते हैं कि तब तो काल आदि पर्यायोंके समान महेश्वरकी सिस्ट्रक्षा भी स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें निमित्तकारणपनका अनुभव कर हेती है या अनुभव करती सन्ती यों वर्तमान कालकी सिसुक्षा पूर्व कालकी सिसुक्षासे उपजती जाती है और वह पूर्वकालकी सिसुक्षा भी अपनेसे पूर्वकालकी सिसुक्षासे उपज गयी थी, इस प्रकार कार्यकारणभावका अनादिपना होनेसे तुम्हारे समान हम वैशेषिकोंको भी अनवस्था पूर्णरूप अभीष्ट है. कोई क्षति नहीं है। पुनः अनवस्थादोष करके हमारे उत्पर क्यों उपदव उठाया जा रहा है ! और इस सिसक्षा करके ही हमारे कार्यत्व, सिनेवेशविशिष्टत्व, हेतुओंको किस प्रकार व्यभिचार दोषसे युक्त किया जा रहा है। अर्थात् - जन्य सिस्द्रक्षाओंकी अनादिधारा मान छेनेसे हम वैशोषिकोंके ऊपर अनवस्था-दोषका ऊथम नहीं उठ पामेगा और इमारे हेतु व्यभिचारी भी नहीं हो सकेंगे । साथमें स्थावर, शरीर, आदि कार्योकी उत्पत्तिका बिराम नहीं पडना दोष भी नहीं आता है। क्योंकि स्वतंत्रता करके स्थावर आदि कार्योका उत्पाद नहीं होता है। उपज रही सिस्क्षाके अधीन नियत देश और नियत कालमें स्थावर आदि कार्य उपजेंगे । कारणों के नहीं मिलनेसे वे सर्वदा उपजते ही नहीं रहेंगे तथा व्यतिरेक नहीं बनना दोष भी हमारे ऊपर नहीं आता है। क्योंकि सिस्क्षाका नित्यपना हमने स्वीकार नहीं किया है। हां, यदि उस सिस्धाको नित्य माना जाता तब तो सदा कार्योकी उत्पत्ति होनेका प्रसंग हो सकता था। अन्यथा नहीं। यदि हम बैरोषिकोंको कोई वंचक यो सदायता देना चाहे कि सिस्क्षाको नित्य ही बने रहने दो, अकेली नित्यसिस्क्षा तो कार्यको नहीं बना देती है। अनेक सहकारी कारण भी चाहिये उन सहकारी कारणों का अमान होनेसे सदा उन कार्योंकी उत्पत्ति होते रहनेका प्रसंग नहीं आ पायेगा । उन गोमुख-व्याघ्रोंके प्रति हम वैशोषिक कहते हैं कि इस प्रकारकी सहायता इमको नहीं चाहिथे। क्योंकि उन सहकारी कारणोंकी भी महेश्वरसिस्क्षा करके वह

उत्पत्ति मानी जायगी । ऐसी इशामें सर्वदा उन सहकारी कारणोंके सद्भावकी आपत्ति होती है । अतः नित्यसिसृक्षा और तद्यीन सहकारी कारणोंका सद्भाव पाया जानेसे सर्वदा कार्योंकी उत्पत्ति होते रइनेका प्रसंग टळ नहीं सकता है । यदि उम सहकारी कारणोंका जन्म उस सिस्क्षाके अधीन नहीं मानीगे तब तो उन सहकारी कारणों करके हमारे कार्यत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष बन बैठेगा। यदि हमारे सहायक वे पण्डितजी में कहें कि वे सहकारी कारण भी अपनी उत्पत्तिके हेतओंका अभाव होनेसे सदा नहीं उपजते रहते हैं वैशेषिक कहते हैं कि यह भी नहीं कहना । क्योंकि उन सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतुओंका भी ईश्वरकी सिस्क्षासे उपजना माना जावेगा ? या ईश्वरकी इच्छासे उनका उपजना नहीं माना जावेगा ! इन दोनों पक्षोंमे पूर्वोक्त दोघोंके आनेक प्रसंग होता है। अर्थात -- सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतु यदि ईनिरकी सिस्क्षासे उपजेंगे तो वे नित्य सिसक्षासे शीव उपजकर सहकारी कारणोंको झट बना देंगे और सहकारी कारण सदा स्थावर भादि कार्योको बनाते रहेंगे। हां, यदि उन सहकारी कारणोंके सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति यदि ईश्वरिस्कृक्षा करके नहीं मानी जायगी तब तो सिन्नेवेशविशिष्टल आदि हेतुओंका उन सहकारी कारणोंके उत्पादक हेतुओं करके व्याभिचार बन बैठेगा । उन सहकारी कारणोंका नित्यपना माननेपर तो वहका वही सर्वदा कार्योंके उपजते रहनेका प्रसंग दोष आ पडता है। क्योंकि सिस्क्षा और सहकारी कारण नित्य होकर सदा वर्त रहे हैं । उक्त दोषोंको टालनेका समीचीन उपाय यही है कि वह ईश्वरकी सिस्रक्षा अनित्य ही मान ली जाय । युक्तियोंसे ईश्वरकी सिस्रक्षा अनित्य ही सिद्ध होती है। तथा हमारे शाखोंमें भी इस प्रकार कथन किया है कि " ब्रह्मासम्बन्धी परिमाण करके सौ सौ वर्षके अन्तमें प्राणियों को भोगोंकी अनुभूति करानेके छिये चौदह भुवनके सर्व तंत्र स्वतंत्र प्रभु हो रहे भगवान् महेश्वरकी सिस्हक्षा उपजती है। " इस आगम वाक्यसे भी वह इच्छा नित्य नहीं मानी गयी है। अन्यथा तिस प्रकार सी, सी वर्षमें इच्छाकी उत्पत्ति होनेका विरोध हो जायगा । अपने शास्त्रोंसे ही निरोध पड जाय ऐसे वचनको हम कहना नहीं चाहते हैं । अर्थात्--" कृतं, त्रेता, द्वापरं, च किश्विति चतुर्यगम् । प्रोच्यते तत्सहस्तं तु ब्रह्मणो दिवसो मुने " विष्णु पुराणमें लिखा है कि सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग ये चार युग एक हजार बार हो जांय तब नसाका एक दिन और इसी प्रकार एक रात होती है। यों एक दिन रातकी गणना अनुसार सौ वर्षोंको बना कर ब्रह्मा की आयु सौ वर्षकी मानी गर्या है " ब्रह्मणो वर्षशतमायः" ब्रह्मा संबंधी सौ वर्षीके पश्चात् खंडप्रलय होजाता है। पश्चात् महेस्वरक्ती स्रष्ट्रमिच्छा उपज कर सृष्टिको रचती है मनुस्मृतिमें ब्रह्माके एक दिनरातकी समाप्ति होनेपर सृष्टिप्रकिया मानी है। " दैविकानां युगानां तु सहस्रं परिसंख्यया । बाह्ममेकमहर्बेर्यं तावती रात्रिमेव च " ॥ १ ॥ तद्दे युगसहस्रातं बाह्मं पुण्य-महर्विद्:, रात्रिं च तावतीमेव तेऽहोरात्रविदो जनाः। तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रतिबुध्यते। प्रति-बुद्धश्च सुजित मनः सदसदात्मकम् ॥ ३ ॥ मनः सृष्टि त्रिकुरुते चेत्वमानं सिस्क्षया । आकाशं

जायते तस्मात्तस्य शब्दं गुणं विदुः ॥ ४ ॥ इत्यादि १ भूर्छोक २ मुवर्छोक ३ स्वर्छोक ४ महर्छोक ५ जनछोक ६ तपोछोक ७ सत्यछोक ८ अतछ ९ वितछ १० मुतछ ११ नितछ १२ तछा-तछ १३ रसातछ १४ पाताछ इन चौदह मुवनोंका सर्वाधिकारी सम्राट् महेश्वर है । यहांतक बढी देरसे कोई पौराणिक या स्मार्त पण्डित कह रहे हैं ।

तंत्रकेषां द्षणं सिस्रक्षाया नित्यत्वाभावेषि दृष्टक्षित्यादिकारणसाकल्येषि स्थावरदीनां कदाचिदनुत्पत्तिप्रसंगः । कदाचित्तदभावसंभवात् तदंत्यसहकारिकारणसन्निधानानन्तरमेव सिस्रक्षोत्पत्तेस्तद्भावासंभवे तस्याः सहकारिकारणभभवत्वप्रसंगः तदनन्तरभावनियमस्यान्यथा-जुप्पत्तेः तेषां सहकारिणां सिस्रक्षामुत्यादयतां सिस्रक्षान्तरादुत्वत्तौ स्थावरादिवत् कदाचिद्जुत्प-ित्तपसंगस्तस्य कदाचिदसात्रिधानादन्त्यकारणसंनिधानानन्तरमेव सिस्रक्षातरस्योत्विनियमात् तद्दपसंगे तत्कारणप्रभवत्वपसंगस्तदनंतरभाव्यनियमस्यान्यथानुपपत्तेः इत्यादि युनरावर्तत इति चक्रकमेतत् । सिस्क्षांतरेणामेरितानामेव सहकारिणाम्रत्यत्ती तैरेव हेत्नामनेकांतिकत्वं सहका-रिणां सिस्रक्षया सइ नियमनोत्पत्तेः स्थावरादीनां सकत्ककारणानां कदाचिदनुत्पत्तेः । प्रसंगा-भावे सिख्यक्षाया सहकारिणां च क्षित्यादीनायेकं कारणप्रपपद्येत अन्यया सहभावनियमा-योगात् । तचैकं कारणं यदि सिस्क्षांतरेणामेरितं तज्जनकं तेनैव हेतुच्याभेचारस्तेन मेरितस्य तज्जनकत्वे कदाचिचज्जननमसंगः पूर्ववचस्यापि मेर्येण सह नियमेनोत्पत्तौ तयोरप्येकं कारणं स्यात्, तचैकं कारणं यदि सिम्हक्षांतरेणात्रेरितं तज्जनकं तेनैव हेतुच्यभिचार इत्यादि पुन-रावर्तत इति चक्रकमपरम् क्षित्यादिभिः मागनन्तरं नियमोत्पत्तौ सिम्रक्षायाः सहकारिहेतुभि-रेकसामग्रयथीनता स्यादन्यथा प्रागनंतरं नियमोत्पत्त्ययोगात् सा वैका सामग्री यदि सिएक्षां-तरेणात्रीरेता तज्जनिका तदा तयैव हेत्रव्यभिचारः । यदि पुनः वेरिता सा तज्जनिका तदा प्रेयात्त्रागनंतर नियमेनोत्यच्या तस्या भवितन्यभन्यथोक्तदोषानुषंगात् तथा च सिस्हर्गातरं प्रेर्यात्सामग्र्यविश्वेषात्प्रागनंतरं नियमेनोत्पद्यमानं तदेतुभिरेकसामग्रयधीनं स्यात् । सा वैका सामग्री यदि सिस्टक्षांतरेणामेरिता तज्जनिका तदा तयैव इतुन्यभिचार इत्यादि पुनरावर्तत इत्यन्यचक्रकम् । तदेतददृषणं परिहर्तुकामेन क्षित्यादिभ्योनंतरं भाक् सह वा तैः सिस्रक्षोत्पत्ति-नियमतो नाभ्युपगंतन्या तथा च तदृचतिरेकानुविधानग्रुपछभ्येत न चोपछभ्यते, क्षित्युदकवी-जादिकारणसामग्रीसिक्षधाने अपतिबंधे चाऽसति स्थावरादिकार्यस्यावश्यंभावदर्श्वनादिति तदेत-दयुक्तं, स्थावरादीनामदृष्टादिहेतुत्वेप्येतद्दोषमसंगात् स्वसिद्धांतिवरोधात् । यदि पुनरदृष्टक्षित्या-दिकारणसाकल्योपे स्थावरादीनां परिणामवैचित्र्याददृष्टादिसिद्धिः चश्चरादिकारणसाकल्येपि रूपादिश्वानपरिणामवैचित्र्यादिन्द्रियञ्चक्तिचदिति मतं, तदेश्वरसिस्रक्षासिद्धिरपि तत एवास्तु तस्यास्तत्सिञ्चा विरोधामावादित्यपरे ।

उस पौराणिकोंके मंतन्य पर अन्य एक विद्वानोंकी ओरसे यों दुषण उठाया जाता है " सिस-क्षाणां नित्यत्वभावेषि '' यहांसे प्रारम्भ कर " स्थावरादिककार्यस्यावस्थम्भावदर्शनात् '' यहांतक कोई एक विद्वान दूषण दे रहे हैं यह दूषण प्रंथकारको अभीष्ट नहीं है। अतः प्रंथकार '' तदेतद्युक्तं " से प्रारंभ कर "विरोधाभावात " यहांतक किन्हीं दूसरे विद्वानों करके इस दूषणका प्रत्याख्यान करा देंगे पश्चात " तेत्र प्रष्टव्याः " इस प्रथमे प्रारम्भ कर स्वयं प्रथकार इस केचित्के पक्षपर सिद्धांत इषण उठावेंगे । केचित्तके ऊपर एक विद्वानोंका दूषण इस प्रकार है कि उन किन्हीं पौराणिकोंने ईक्राकी सिसक्षाको अनित्य सिद्ध किया है। सिसक्षाको नित्यपना नहीं होते ह्रये भी बाल गोपालेंतक देखे जारहे स्थावर आदिकोंके कारण प्रथियी, जल, बीज आदिकी परिपूर्णता होनेपर भी कभी कभी स्थावर आदिकोंके नहीं उपजनेका प्रसंग आवेगा। क्योंकि सिसक्षा अनित्य है। कभी कभी उस सिसक्षाका अभावसम्भव हो जायगा । अर्थात्-अनित्य सिसुक्षाके नहीं होनेपर अन्य संपूर्ण कारणोंके होनेपर भी कभी कभी स्थावर आदिक कार्य नहीं उपज सकते हैं। स्थावर आदि कार्योके कारणोंका शनै: शनै: एकत्रीकरण होते होते तबतक यदि ईश्वरकी अनित्य सिसक्षा उपज कर नष्ट भी होगयी होय तो हम क्या कर लेंगे । इच्छाके विना सब कारण यों ही व्यर्थ धरे रहेंगे । अतः कदाचित स्थावर आदिक कार्योंकी उत्पत्ति नहीं होसकेगी। यदि केचित् यों कहें कि उन स्थावर आदि कार्योंके उत्पादक अंतिम सहकारी कारणींके संनिधान पश्चात् है। सिसृक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी, अतः कारणोंकी पूर्ण-ताके अवसरपर उस क्षिसक्षाका अभाव नहीं संभवेगा. यों कहनेपर तो हम एक पण्डित यों कहते हैं कि यों तो उस सिसकाकी सहकारी कारणोंसे उत्पत्ति होनेका प्रसंग आवेगा. क्योंकि उन परिदृष्ट श्विति आदि कारणोंके अनंर सिस्काके उपजनेका नियम अन्यथा बन नहीं सकता है। यानी जो पदार्थ जिल सहस्त्रारी कारणोंका कार्य होगा. वही उनके अन्यवहित उत्तर काल्में उपज सकता है ऐसी दशामें जिस सिस्धाको तुमने बळवती शक्ति समझ रक्खा है, वह महेन्वरकी सिस्धा स्वयं सह कारी कारणोंसे उपज रही बन बैठी, अब बताओं कि सिसक्षाके पिता होरहे उन सहकारी कारणोंको कीन बनावे ? यदि सिस्क्षाको उपजा रहे उन सहकारी कारणोंकी दूसरी सिस्क्षासे उत्पत्ति मानी जायगी तब तो स्थावर आदिके समान कभी कभी उन सहकारी कारणोंके नहीं उपजनेका प्रसंग आवेगा। क्योंकि कारणीके अधीन होनेवाली दूसरी उस अनित्य सिमुक्षाका कभी सिनधान नहीं होपाता है। जो कार्य अपने कारणकृटके अधीन है खल्प भी कारणकी त्रुटि होजानेसे आवश्यकता होनेपर भी कदाचित् वह कार्य नहीं उपजता है अथवा कथंचित् उपज छेनेपर भी दूसरे कारणोंके जुटनेतक वह दूसरी सिल्क्षा नष्ट हो जायगी । ऐसी दशामें पहिली सिल्क्षाको उपजानेवाले कारणोंकी अनुत्पत्ति हुई। दादीके विना पिताकी उत्पत्ति नहीं है और पिताके विना पुत्रीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

यदि केचित् पौराणिक पूर्वके समान यहां भी यों कहें कि कार्यकी उत्पत्तिके अन्यवहित पूर्वकालमें एकत्रित हुये अन्तिम समर्थ कारणोंके सन्निधान पश्चात् ही दूसरी सिसुक्षाकी उत्पत्तिका नियम है। अतः वह अनुत्पत्तिका प्रसंग हमारे उपर नहीं आता है, यो पौराणिकोंके कहनेपर तो हमें कहना पडता है कि उस दूसरी सिस्क्षाको उन परिदृष्ट कारणोंसे उपजनेका प्रसंग आता है। क्योंकि उन कारणोंके अन्यवहित उत्तरकालमें नियमसे उपजना अन्य प्रकारसे यानी उनका कार्य माने विना बन नहीं सकता है। इसी प्रकार आगे भी घुमा कर ये ही चोध उठाये जा सकते हैं। तीसरी, चौथी, आदि सिस्क्षायें और सहकारी कारण तथा चरमकारणोंकी जिक्कासायें उत्तरीत्तर बढती ही जावेंगी। यों बार, बार, अनित्यसिसुक्षा, कार्योंकी कदाचित् अनुत्पत्ति, अन्तिम सहकारी कारणोंके पश्चात् सिसक्षाका जन्म, पुनः सहकारी कारणोंके छिये अन्य सिसक्षाओंकी उत्पत्ति, इत्यादि ढंगसे आवृत्ति होती जाती है यह चक्रक दोष है। " स्वापेक्षणीयापेक्षितसापेक्षत्व— चक्रकलं अपने अपेक्षणीयसे अपोक्षेत निबन्धनप्रसङ्गत्वं हो रहेकीसापेक्षताको कारण मानकर प्रसंग प्राप्ति कर। देना चक्रक दोष है। यदि दूसरी सिस्क्षा करके नहीं प्रेरे जा चुके ही सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो उन्हीं सहकारांकारणों करके तुम्हारे सिन्नेवेशविशिष्टत आदि हेतुओंका न्यभिचार दोष हो जायगा । क्योंकि इस सिस्रक्षाके साथ ही सहकारी कारणोंकी पूर्वसिस्रक्षाके विना यों ही नियम करके उत्पत्ति हो रही है। स्थावर आदि कार्योंके सम्पूर्ण कारणोंकी कभी कभी नहीं उत्पत्ति हो जानेके कारण यदि प्रसंगका अभाव माना जायगा तब तो सिसक्षा और प्रथित्री आदिक सहकारी कारणोंका जनक एक कारण बन बैठेगा अन्यथा यानी एक कारण माने विना दोनोंके सहभावका नियम नहीं बन सकता है और वह कारण यदि अन्य सिसुक्षा करके प्रेरित नहीं हुआ ही उन सहकारी कारण और सिसुक्षाका जनक माना जायगा तब तो उस एक कारण करके ही तुम्हारे कार्यत्व आदि हेतुओंमें व्यभिचार दोष लगा । यदि अन्य सिसक्षा करके प्रेरित हो रहे एक कारणोंको अपने उन कार्योका जनकपना अभीष्ट किया जायमा तब तो पूर्वके समान कभी होने और कभी कभी उन कार्योकी उत्पत्ति नहीं होनेका प्रसंग होगा । यदि उस एक कारणकी भी सिसक्षा करके प्रेरे जा रहे कारणके साथ नियम करके उत्पत्ति मानी जायगी तब तो साथ उपज रहे उन दोनोंका भी एक कारण बन बैठेगा और वह एक कारण यदि अन्य चौथी, पांचवीं, सिमुक्षा करके नहीं प्रेरित हो रहा ही उन कार्योंका जनक है, ऐसी दशामें उस एक कारण करके ही " सनिवेशविशिष्टल" आदि हेतुओंका व्यभिचार होगा, इत्यादिक रूपसे पुनः पुनः चोद्योंकी आवृत्ति कर छी जाती है। इस कारण यह दूसरा चक्रक दोष तुम्हारे ऊपर आता है। तीसरा चक्रक इस प्रकार है कि श्लिति आदिकों करके पहिन्ने अन्ववहित पूर्व यदि नियमसे उस सिसक्षाकी उत्पत्ति मानी जायगी तब तो सहकारी कारणों करके सिस्क्षाकी एक सामग्रीकी अधीनता हो जायगी । यानी सिसुक्षा और सहकारी कारणोंकी उत्पत्ति एक सामग्रीके

वश बन बैठेगी । अन्यथा अञ्यवहितपूर्व नियमसे उत्पत्ति होनेका अयोग होगा तथा सिसुक्षा और सहकारी कारण दोनोंकी वह एक सामग्री यदि पूर्ववर्ती अन्य सिस्क्षाओं करके प्रेरित नहीं होती सन्ती उन सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी उत्पादक मानी जायगी, तब तो एकसामग्री करके ही हेतुओंका व्यभिचार हुआ । यदि फिर अन्य सिसृक्षासे प्रेरित हो रही वह सामग्री उन सिसृक्षा और सहकारी कारणोंकी जननी मानी जावेगी तब तो प्रेरणा करने योग्य कार्यीसे अन्यबहितपूर्व उस सामप्रीकी नियम करके उत्पत्ति होनी चाहिये । अन्यथा उक्त दोषोंका प्रसंग आवेगा और तिस प्रकार होनेपर छठीं, सातवीं, न्यारी सिसृक्षा भी प्रेरणा योग्य सामग्राविशेषसे अन्यवहितपूर्वमें नियम करके उपज रही सन्ती उन हेतुओंके साथ एकसामग्रीके अधीन हो जायगी। और वह दोनोंकी वशर्मे करने वाली एक सामग्री यदि अन्य सिसृक्षाकरके प्रेरित नहीं हो रही सन्ती उनकी जनक (जनिका) मानी जायगी तब तो उस सामप्रीकरके हैं। सन्निवेशाविशिष्टत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष छगा इत्यादिक रूपसे पुनः पुनः चक्कर देकर चोद्योंकी आवृत्ति कर ठी जाती है। इस प्रकार तीसरा अन्य चक्रकदोष तुम्हारे ऊपर आ पडता है। " स्वप्रहसापेक्षप्रह सापेक्षप्रहसापेक्षप्रहक्तवं चक्रकत्वं " इस कारण इन सब चक्रक या व्यभिचार दूषणोंको परिहार करनेकी अभिलाषा रखनेवाले पौराणिक पण्डित करके क्षिति आदिकोंसे अन्यवहित पूर्व अथवा साथ उन कारणों करके सिस्क्षाकी नियमसे उत्पत्ति नहीं स्वीकार कर छेनी चाहिये। और तैसा होनेपर नहीं उपज रही सिस्रक्षाके साथ उन स्थावर आदि कार्योंके व्यतिरेकका अनुविधान कैसे जाना जा सकेगा ? यों अनित्य मान छी गयी भी ईश्वर इच्छाके साथ व्यतिरेक तो नहीं दीख रहा है । क्षिति, उदक, बीज, ऋतुकाल आदि सामग्रीके निकट होनेपर और प्रतिबन्धकोंके नहीं होनेपर स्थावर आदि कार्योका अवस्य उत्पाद हो रहा देखा जाता है। ईस्तरकी सिस्ट्रक्षाको सामग्रीमें डाङनेकी कोई आव-स्यकता नहीं है । यहांतक केचित् पौराणिकोंके ऊपर एकदेशीय जैन निद्वान्के निचार प्रगट हो चुके हैं। यहां किन्हीं अपर विद्वानोंका निरूपण है कि तिस प्रकार यह जैनपक्षीय-विद्वानोंका कथन अयुक्त है। केवल परको निर्मुख करनेवाला खण्डन हमको अभिष्ठ नहीं है। यों तो स्थावर आदि कार्योंके यदि अदृष्ट आदिको कारण माना जायगा वहां भी इन दोषोंके प्राप्त हो जानेका प्रसंग आ जायगा । अतः तमको अपने जैन सिद्धान्तसे विरोध ठन जायगा । यदि फिर आप का यह मत होय कि सबको परिदृष्ट हो रहे पृथिवी, काछ, आदि कारणोंकी परिपूर्णता होनेपर भी स्थावर आदि कार्योंके परिणाममें विचित्रता देखी जाती है । इस कारण पुण्य, पाप, स्वरूप अदृष्ट अथवा अन्य भी परोक्ष कारणींकी सिद्धि कर छी जाती है। जैसे कि चक्षु, आछोक आदि कारणोंकी सक्छता होनेपर भी अनेक जीवोंके भिन्न भिन्न प्रकार हो रहे रूप आदिके ज्ञानपरिणामोंकी विचित्रतासे अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका या शक्तियोंका अनुमान कर छिया जाता है। यों तुम्हारा मन्तव्य होय तब तो कर्तृत्रादि-योंके यहां ईस्वरकी सिख्धाकी सिद्धि भी तिस ही कारणसे यानी चमत्कारक स्थावर आदिके परिणा-55

मोंकी विनिन्नतासे हो जाओ । उस स्थावर आदिकी विचित्रताका उस सिस्क्षासिद्धिके साथ कोई विरोध नहीं है। प्रत्युत अनुकूछता है। अर्थात्—बालक, बृद्ध, रोगी, पशु, आदिकी बहिरंग इन्द्रियां स्थूळदृष्टिसे समान दीखती हैं। किन्तु भिन्न भिन्न जातिके रूपादि ज्ञानोंके अनुसार अतीन्द्रिय इन्द्रियोंका परिज्ञान कर लिया जाता है। उसी प्रकार ईश्वरकी अतीन्द्रिय सिस्क्षाका भी परिज्ञान कर लिया जा सकता है। फिर सिस्क्षाका खण्डन कहां हुआ ?। यहांतक अपर विद्वान् कह रहे हैं।

तेऽत्र प्रष्टच्याः । स्थावराद्युत्पत्तौ निमित्तभावमञ्जभवन्ती महेश्वरस्य सिस्टक्षा यदि पूर्वसिस्टक्षातो भवति, सापि तत्पूर्वसिस्टक्षातस्तदा सोत्तरां सिस्टक्षां प्रादुर्भावयति वा न वा १ न
तावदुत्तरः पक्षस्तदनंतरस्थावरादिभ्य उत्तरीत्तरस्थावराद्यञ्जत्यित्तमसंगात् । तत एव तदुत्पत्तौ
च्यर्थानादिसिस्टक्षापरंपरापरिकल्पना, कथिचेदक्यैवाभेषपरापरस्थावरादिकार्याणामुत्पाद्यितुं
भक्यत्वात् पूर्वसिस्टक्षया अप्युत्तरोत्तरासिस्टक्षां प्रत्यच्यापारात् । यदि पुनराद्यः पक्षः कक्षीक्रियते
तदा चोत्तरसिस्टक्षायामेव प्रकृतसिस्टक्षाया च्यापारात् ततः स्थावरादिकार्योत्पात्तिनं भवेत् । एतेन
पूर्वपूर्वसिस्टक्षाया अप्युत्तरोत्तरसिस्टक्षायामेव च्यापृतेः पूर्वमपि स्थावराद्युत्पत्त्यभावः प्रतिपादितः ।

अब प्रथमार सिद्धांत रीतिसे केचित्का सिद्धांत खंडन करते हैं कि वे केचित् विद्वान यहां प्रकरणमें यो पूंछने योग्य हैं कि स्थावर, सूर्य, तनु आदि की उत्पत्तिमें निमित्तभावका अनुभव कर रही महेश्वरकी सिस्क्षा यदि पूर्वकाळवर्तिनी दूसरी सिस्क्षांस उपजती है तब तो वह दूसरा सिस्क्षा भी उससे पाइले की तीसरी सिस्प्रक्षासे उपजेगी. उस समय हमारा प्रश्न यह है कि स्थावर आदिकोंको उपजा रही वह पूर्वकालीन सिस्क्षा क्या उत्तरकालवर्तिनी सिस्क्षाको उपजावेगी ? अथवा नहीं प्रकट करेगी? बताओ । पिछले पक्षका प्रहण करना तो ठीक नहीं पढेगा, क्योंकि पूर्वसिस्टक्षा यदि उत्तर सिसक्षाको पैदा नहीं करेगी तो उसके अनंतर होनेवाले स्थावर आदिकांसे पुनः उत्तरोत्तर स्थावर आदिकी उत्पत्ति नहीं हो सकेगी, तुम्हारे यहां सिस्रक्षाके विना कोई कार्य उपजता नहीं माना गया है, किन्तु स्थावरींसे अगले अगले स्थावरींकी उत्पत्ति हो रहो देखी जाती है। यदि एक उस पहिली सिसक्षांसे ही उस उत्तर सिसक्षाकी उत्पत्ति मान की जायगी, तब तो परम्परासे अनादिकालीन सिसक्षाओंकी लंबी चौड़ी कल्पना करना व्यर्थ पड़ेगा। उस एक ही सिसुक्षा करके उत्तरोत्तर होनेवाले संपूर्ण स्थावर आदि कार्योंको कथंचिद् उपजाया जा सकता है। पूर्वकालकी सिस्क्षा करके भी उत्तरोत्तर होनेवाली सिस्क्षाओं । प्रति कोई व्यापार नहीं किया जासकता है, जो तुम मान बैठे हो । यदि आप करके आदिके पक्षका अंगीकार किया जायगा तब तो पूर्व भिस्कासे उत्तर सिस्क्षाकी उत्पत्ति करनेपर प्रकरण प्राप्त सिसक्षाका केवल उत्तरकालवर्तिनी सिसक्षाको उपजानमें ही व्यापार होता रहेगा । उस प्रकृत सिसक्षासे स्थावर आदि कार्योक्षी उत्पत्ति नहीं होसकेगी । इस कथन करके यह भी प्रतिपादन कर दिया गया समझ को कि अनादिकाकीन पहिकीं पहिकीं सिस्क्षाओंका भी उत्तरोत्तर काककी सिस्का-

ती उत्पत्ति करनेमें ही ज्यापार होता रहेगा, अतः पहिले भी स्थावर आदि कार्योकी, उत्पत्ति नहीं किगी, सिस्क्षाको अवकाश नहीं मिल जायगा, ऐसी दशामें सिस्क्षाकी शरण लेना न्यर्थ ही है जो । अपने ही शारीरिक कार्योसे अवकाश नहीं पाता है, वह प्रचंड प्रभुकी सेवा क्या कर गा १ कुछ नहीं ।

यदि पुनिरयं सिस्क्षांतरोत्पचौ स्थावरादिकार्योत्पचौ च व्यिषयित पूर्वा पूर्वा च सिस्क्षा परां च सिस्क्षां तत्सइभाविस्थावरादीं श्र मित व्यापियमाणाभ्युधेयेत, तदैकैव सिस्क्षा लोत्पत्तिमताभ्रत्यचौ व्यापारवती मतिपत्तव्या। तथा च सक्रत्सर्वकार्योत्पत्तेः कृतः पुनः किमभावप्रतीतिः ?

यदि फिर ईश्वरवादी यों कहे कि यह पूर्वकालीन सिस्क्षा दूसरी दूसरी सिस्क्षाओं को उत्पन्न तेमें और स्थावर, त्रस्तरीर, आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें व्यापार करेंगी तथा पूर्वसिस्क्षांसे भी ली पहिली सिस्क्षायें स्वस्वजन्य उत्तरोत्तर सिस्क्षाओंको और उन सिस्क्षाओंके साथमें होनेवाले वर आदि कार्योंके प्रति व्यापार कर रहीं स्वीकार कर ली जायगी। आचार्य कहते हैं कि तब एक ही ईश्वरके स्जनेकी इच्ला इन उपजनेवाले सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्तिमें व्यापार कर रही समझ। चाहिये, और तिस प्रकार एक ही सिस्क्षाको यावत् कार्योंकी उत्पत्तिमें व्यापार करनेवाली नेपर एक ही वारमें सम्पूर्ण कार्योंकी उत्पत्ति होना बन बैठेगा। अतः फिर कार्योंके क्रम क्रमसे की प्रतिति होना भला कैसे सब सकेगा ! सो बताओ । अर्थात् एका सिस्क्षाद्वारा युगपत् प्रकार उपज बैठेंगे जो कि पहिले प्रसंग उठाया गया था।

स्यान्मतं, क्रमशः स्थावरादिकार्याणां देशादिनियतस्वभावानाग्रुभयवादिमसिद्धत्वात् मिनतभावमात्मसात्कुर्वाणा महेश्वरसिद्धक्षाः क्रमभाविन्य एवानुमीयंते कार्यविशेषानुमे-॥त् कारणविशेषव्यवस्थितेरिति । तर्हि सिद्धक्षांतरोत्यत्तावन्याः सिद्धक्षाः स्थावरादि-गेंत्यत्तौ चापरास्तावंत्यो अभ्युपगंतव्याः कार्यविशेषात्कारणविशेषव्यवस्थितरन्यथानुपपत्तेः।

ईस्तरवादियोंका यह भी मन्तन्य होने कि नियत देशमें होना, नियत कालमें उपजना, प्रति
त आकारको धारना, आदि स्वमाववाले स्थावर आदि कार्योकी यों नियतरूपसे उत्पत्ति होना
तुम दोनों वादी प्रतिवादियोंके यहां प्रसिद्ध हो रहा है इस कारण इन नियत कार्योके निमित्तणपनको अपने अधीन कर रहीं महेखरकी सिस्प्रक्षायें कम कमसे हो रहीं सन्ती ही अनुमानप्रमाण
जानी जा रही है। क्योंकि विशेष विशेष कारणोंकी व्यवस्थाका तज्जन्य विशेष विशेष कार्यो। अनुमान कर लिया जाता है, जिस प्रकार आप जैन कमकमसे उपजनेवाले कार्योके कम
वर्ती कारणोंका निर्धारण कर लेते हैं। उसी प्रकार कमवर्तिनी सिस्प्रकार्य भी कमवर्ती कार्योको

क्रमक्रमसे करेंगी। अतः युगपत् सकल कार्योकी उत्पत्तिका प्रसंग नहीं आ पाता है। प्रन्थकार कहते हैं कि तब तो दूसरी दूसरी सिसुक्षाओं की उत्पत्तिमें अन्य अन्य सिसुक्षायें और स्थावर आदि कार्योंकी उत्पत्तिमें उतनी ही न्यारी सिसुक्षायें कारण हो रहीं स्वीकार करनी पढेंगीं, क्योंकि कार्योंका विशेष रूपसे देखना होनेसे उनके विशेष कारणोंकी न्यवस्था हो जाना अन्यथा बन नहीं सकता है। अर्थात् --- त्यारे न्यारे कारणोंसे ही न्यारे न्यारे कार्योंकी उत्पत्ति होनेका अविनाभाव है। दूसरे भ्रण, तीसरे क्षण, चौथे क्षण, आदिमें ईश्त्ररकी न्यारी न्यारी सिस्क्षायें तभी उपज सकती हैं, जब कि उनको उपजानेवाली पाहिले क्षणमें अनेक सिस्कार्ये मानी जावें और क्रमभावी स्थावर आदि कार्योंको उपजानेमें भी उतनी पहिले सिसक्षायें चाहिये कारणोंने भेद माने विना कार्योंमें विशेषतायें नहीं आ सकती हैं । जैनसिद्धान्तमें भी " यावन्ति कार्याणि तावन्तः प्रत्येकं स्वभावभेदाः " जितने छोटे मोटे कार्य हो रहे हैं, उतने कारणोंके स्वभावमेद माने जाते हैं। एक कारणसे भी यदि अनेक कार्य हो रहे हैं, तो उस एक कारणमें अनेक स्वभाव घुस रहे हैं। नानी या बडनानीमें भी धेबतेको उपजानेका स्वभाव अन्तर्गृह है। जैसे कि बावा पडवावामें नाती. पंतीको उपजानेकी कारणता निहित है। इकतरा, तिजारी, चौथेया, ज्वरोंकी या एक एक, दो दो पीडी बीचमें देकर उपजनेवाले कोलिक रागोंके उपजानकी शक्ति भी कारणोंमें सदा छिपी हुई विद्यमान है। आप कत्तीवादी पण्डित तो पदार्थीमें अनेक धर्मीको स्वीकार नहीं करते हैं। अतः आपको अनन्तिसिक्षायें स्वीकार करनी पढेंगी यह महागीरव या आनंत्यदोष तुम्हारे ऊपर हुआ।

नानाशक्तिरेकैव सिस्टक्षा तिभिमित्ति चेत्, तिई सकलक्रमभावीतरकार्यकरणपदुर नेकशक्तिरेकैव महेन्द्रसिस्टक्षास्तु । सा च यदि सिस्टक्षांतरिनरपेक्षोत्पद्यते तदा स्थावरादि-कार्याण्यपि तिश्वरपेक्षाणि भवंतु किपीश्वरसिस्टक्षया ? सिस्टक्षांतरात्तदुत्यत्तो तत एव सकल-क्रमभाशीतरस्थावरादिकार्याणि शादुर्भवंतु । नानाशक्तियोगात्तदभ्युपगमे च स एव पर्यतु-योग इत्यनवस्था दुर्निवारा ।

यदि कर्तृवादी यों कहें कि उत्तरोत्तर अनेक सिमुक्षाओं और असंख्य स्थावर आदि कार्योंको उपजानेमें उपयोगिना हो रही अनेक शक्तियोंको धारनेवाछी एक ही सिमुक्षा उपज रही उन सिमृक्षाओं और स्थावर आदि कार्योंको निमित्त कारण मान छी जायगी यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि तब तो क्रम कमसे होनेवाछ या उनसे न्यारे युगपत् होनेवाछ सम्पूर्ण कार्योंको करनेमें चतुर हो रहीं अनेक शक्तिवाछी महेश्वरकी सिमृक्षा एक ही मान छी जाओ। जैनसिद्धान्त अनुसार तुमने यह मार्ग अच्छा पकड छिया है। अनेक स्वभाववाछी एक सिम्हक्षा ही जगत्के सम्पूर्ण कार्योंको कर डाछेगी। मध्यमें अनेक सिस्क्षाओंको माननेकी आवश्यकता नहीं है। इससे ईश्वरकी भी प्रशंसा हुई और आनन्त्य दोषका परिहार भी हो गया। किन्तु हां, यह तो बताओं कि वह एक सिस्क्षा वर्तमान

कालमें उपज रही यदि पूर्व कालकी अन्य सिस्धाओंकी कारण रूपसे नहीं अपेक्षा रखती हुई उपज जाती है ! तब तो स्थावर आदिक असंख्य कार्य भी उस एक सिस्धाकी कारण रूपसे अपेक्षा नहीं करते हुये ही उपज जायंगे । ईश्वरकी सिस्धा करके क्या लाभ हुआ ! अर्थात्—ईश्वरकी सिस्धासे कुछ प्रयोजन नहीं निकला । हां यदि अन्य सिस्धासे उस अनेक स्वभाववाली सिस्धाकी उत्पत्ति मानी जायगी । तब तो उस दूसरी सिस्धासे ही सम्पूर्ण क्रमभावी और अक्रमभावी स्थावर आदि कार्य भी प्रकट हो जाओ । अनेक शक्तिवाली सिस्धाको मध्यमें कारण मानेनका बोझ व्यर्थमें क्यों लादा जाता है ! कर्तृत्ववादी यदि दूसरी सिस्धामें भी नानाशक्तियोंका योग होजानेसे उस स्वानुकूल कार्यकारणमावको स्वीकार करेंगे तब तो वही पर्यनुयोग उठाया जायगा कि वह सिस्धा स्वतः उपजेगी ! अथवा दूसरी सिस्धासे उत्पन्न होगी ! इसी प्रकार तीसरी, चौर्था, पांचवी, कोटियोंपर भी चोद्य चलाना बढता ही चला जायगा । इस ढंगसे हुई अनवस्थाका निवारण करना तुमको अतिकठिन कर्त्तव्य होजायगा ।

यदि पुनर्नित्यानेकशक्तिरेकैन महेश्वरसिसृक्षा तदा अस्याः स एव व्यतिरंकाभावो महे-श्वरन्यायवत् । तदव्यापित्वे एतच्छून्येथि देश्चे स्थावरादीनाम्रुत्यक्तेः कुतोऽन्वयस्यापि प्रसिद्धिः १

उक्त संपूर्ण दूषणोंके प्रसंगसे भयभीत होकर यदि फिर तुम ईस्तरकी अनेक शाक्तिवाली एक ही सिस्क्षाको नित्य स्वीकार कर लोगे तत्र तो महेस्वरको हुये न्यायके समान इस नित्य सिस्क्षाका भी वहीं व्यतिरेकका अभाव दोष लग बैठेगा। अर्थात्—नित्य महेस्वरका जैसे देशव्यतिरेक या काल्क्यतिरेक नहीं बन पाता है उसी प्रकार महेस्वरकी सिस्क्षाका भी व्यतिरेक नहीं बन सकेगा। जब जब या जहां जहां सिस्क्षा नहीं है, तब तब, वहां वहां स्थावर आदि कार्य नहीं उपज पाते हैं। नित्य व्यापक सिस्क्षाके इस व्यतिरेकका अभाव होजानेसे अन्वय भी ठीक नहीं घट पाता है। अन्वयमें तो असाधारण कारणोंका और आकाश आदि साधारण कारणोंका पदस्थ समान है, अतः अन्वय व्यतिरेकोंके नहीं घटनेसे अनेक शक्तिवाली नित्य एक सिस्क्षाको स्थावर आदि कार्योका निमित्तपना नहीं सधता है। यदि देश व्यतिरेक बन जानेकी रक्षा करनेके लिये उस सिस्क्षाको अल्पदेशवृत्ति अन्यापक माना जायगा तब तो इस किस्क्षासे रीते होरहे देशोंमें भी स्थावर, ऋतुपरिवर्तन आदि कार्योकी उत्पत्ति अविराम होरही देखी जाती है। इस कारण विचारे अन्वयकी भी प्रसिद्धि मला किस ढंगसे होसकी ! अर्थात्—सिस्क्षाके होनेपर ही कार्य उपजने चाहिये थे। किन्तु अन्यापक सिस्क्षा जहां नहीं है वहां भी कार्य उपज रहे हैं। अतः अन्वय विगड गया।

यदि पुनरनित्यापि सिस्क्षा बाग्नेण मानन वर्षक्षतांते जगज्रीक्लुपाण्यदृष्टसामध्यदिकै-बोत्यद्यते न सिस्क्षांतरादिति मतं, तदा तत एव जगदुत्पचिरस्तु किमीश्वरसिस्क्षया ? ततो न स्थावराद्युत्पत्ती महेश्वरो निमित्तं तदन्वयव्यतिरेकाञ्जविधानविकलत्वात् । यद्यकिमित्तं तम तदन्वयन्यतिरेकानुविधानविकलं दृष्टं यथा कुविंदादिनिमित्तं वस्नादि । महेश्वरसिम्धक्षान्य-यन्यतिरेकानुविधानविकलं च स्थावरादि तस्माम तिकामित्तिमित्ति व्यापकस्य तदन्वयन्यति-रेकानुविधानस्यानुपलंभाद्व्याप्यतिभामित्तत्वस्य स्थावरादिषु प्रतिषिद्धे सिद्धे सित सिक्षवेश्ववि-शिष्टत्वादेईतोरनैकांतिकत्वं स्थावरादिभिः केचिन्यन्यंते ।

यदि फिर तुम पौराणिकोंका यह मन्तव्य होय कि हम ईवरकी सिस्क्षाको नित्य नहीं मानते हैं। जिससे कि ज्यतिरेक नहीं बन पाने किन्तु वह अनित्य भी सिस्क्षा ब्रह्मासम्बन्धी परिमाण (नाप) करके सी सी वर्षके अन्तमं जाकर जगद्वत्तीं भोक्ता प्राणियोंके अदृष्टकी सामध्यसे एक ही उपजती है। दूसरी सिसुक्षासे उसकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती है। अर्थात् —सत्रह लाख अडाईस हजार वर्षका सत्ययुग है। बारह छाख छियानवै हजार मानुष वर्षोका त्रेतायुग है। आठ छाख चौसठ हजार वर्षोंका द्वापर है। और चार छाख बत्तीस हजार मानुष वर्षोंका कछियुग है। यो सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुगकी सहस्र संख्याके बीत जानेपर ब्रह्माका एक दिन समझा जाता है। इसी प्रकार हजार चार युगोंके समान चार प्रहरोंकी एक रात मानी गयी है । यो इन रात, दिनोंसे महीना और वर्ष बनाकर सौ वर्षके पीछे एक ही सिस्क्षा उपजती है। उसको उपजानेमें अन्य सिस्क्षा कारण नहीं है। हां, जगत्के प्राणियोंके पुण्य, पाप, उस सिस्धाको उपजानेमें निमित्त पड जाते हैं। जैसे कि न्यायाधांशकी नियुक्तिमें अपराधी या निरंपराधी पुरुषोंका पाप, पुण्य निमित्त हो जाता है। आचार्य कहते हैं कि तब तो उस ही कारणसे यानी सुख, दुःखको भोगनेवाले संसारवर्ती प्राणियोंके अदृष्टकी सामर्थ्यसे ही कार्य जगत्की उत्पत्ति हो जाओ जैसा कि हम जैन मानते हैं। ईस्वरकी सिसक्षा करके क्या प्रयोजन संधा ? नियत कारणों द्वारा नियत कार्योंका उपजना बड़ा उत्तरदायी कर्तच्य है। अतः कारणकोटिमें अप्रमित ठलुआ पदार्थीका बोझ बढाना हितकर नहीं है। तिस कारण सिद्ध हुआ कि स्थावर आदि कार्यीकी उत्पत्तिमें महेश्वर या उसकी सिस्रक्षा निमित्तकारण नहीं है। (प्रतिज्ञा) उन कार्यों साथ अन्वय और व्यतिरेकके अनुविधानका रहितपना होनेसे (हेतु) जो कारण जिस कार्यका निमित्त है। वह कारण उस कार्यके साथ हो रहे अन्वयव्यति-रेकोंके अनुविधान करनेसे रीता नहीं देखा गया है। जैसे कि कोरिया, तुरी या कुळाळ, दण्ड, आदिको निमित्त पाकर हुये वस्त, घट आदि कार्य हैं। (ब्यतिरेक्ट्यान्त) महेश्वर या उसकी सिसक्षाके साथ अन्वय व्यतिरेकका अनुविधान करनेसे विकल हो रहे स्थावर आदि कार्य हैं। (उपनय) तिस कारणसे वे स्थावर आदि कार्य उस महेश्वर या सिस्टक्षाको नहीं निमित्त पाकर उपजे हैं। (निगमन) इस पांच अवयववाछे अनुमान द्वारा व्यापक हो रहे तदन्वय व्यतिरेकानुविधा-नके अनुपरुम्भसे स्थावर आदि कार्योंमें तिनिमित्तपन का प्रतिवेध हो जाना सिद्ध होते सन्ते सिन्नेवेश-विशिष्टल, कार्यल, आदि हेतुओंका स्थावर, खनिज, आदि कार्योक्तरके व्यभिचार दोष होनेको कोई कोई विद्वान मान रहे हैं। अर्थात्—कार्य कारण भावका व्यापक अन्वयव्यतिरेकानुविधान है।

व्यापक नहीं होनेसे व्याप्यका अभाव साथ छिया जाता है। ईरवर या ईरवर इच्छाके साथ कार्य उस अन्वय—व्यतिरेकपद्धतिका अनुसरण नहीं करते हैं। इस कारण कार्योंके निमित्त ईरवर या ईर्वर इच्छा नहीं है। यों स्थावर आदि कार्योंके प्रति ईरवर या ईर्वर इच्छाका निमित्तपना जब युक्तियोंद्वारा निषद्ध हो चुका तो ईर्वरवादियोंद्वारा पहिले कहे गये सिनवेशविशिष्टल, अचेतनोपादानल आदि हेतुओंका व्यभिचार दोष तदवस्थ रहा, यों कोई पण्डित जैनोंकी चाटुकारता करते हुये मान रहे हैं। प्रथकारका इनके प्रति कोई अत्यधिक आदर अथवा घृणाका भाव नहीं है। यह उनका परिणाम अडतीसवीं वार्तिकसे ही ध्वनित हो जाता है।

एवमीशस्य हेतुत्वाभावसिर्द्धि प्रचक्षते । व्यापकानुपलंभेन स्थावरादिसमुद्भवे ॥ ५०॥

श्री विद्यानन्द आचार्य कहते हैं कि यहां कोई विचारशास्त्री विद्वान इस प्रकार उक्त रूपसे बहुत अच्छा स्पष्ट कथन कर रहे हैं कि स्थावर, मेचबृष्टि, आंधी आदिकी भले प्रकार उत्पत्ति होनेमें ईश्वरको निमित्तकारणपनके अभावकी न्यापकके अनुपत्तम्भ करके सिद्धि हो रही है। अर्थात् — कार्य कारण भावका न्यापक अन्वय न्यतिरेकभाव है। जहां न्यापक नहीं है वहां न्याप्य नहीं ठहर सकता हैं। अडतीसवीं वार्तिकमें वैशेषिकोंके हेतुओंका जो न्यभिचार दोष किन्हीं विद्वानी करके उठाया गया है वह अनुचित नहीं है।

एवं जगतां बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कार्यत्वादिहेतोः स्थावरादिभिर्व्यभिचारमुद्धाव्य पुनः स्थावरादीनामीश्वनिमित्तत्वाभावसिद्धिं व्यापकानुपर्छभेन केचित्प्रचक्षते ।

इस प्रकार किसी बुद्धिमान् ईश्नरमें तीनों जगत्का कारणपना साध्य करनेपर दिये गये कार्यत्य सिनेवेशिविशिष्टत्व आदि हेतुओंका स्थावर, पर्वत, आदिकोंकरके व्याभिचार हेत्वाभासकी उठाकर फिर ईस्वरमें स्थावर, पृथिवी, आदि कार्योंके निभित्तकारणपनके अभावकी सिद्धिको व्यापकानुपलम्मकरके जो कोई बखानते हैं वे विद्वान् अच्छा निरूपण कर रहे हैं, हमें उनके कर्तव्यपर संतोष हैं।

पक्षस्यैवानुमानेन बाभोद्भाव्येति चापरे । पक्षीकृतैरयुक्तत्वाद्वयभिचारस्य साधने ॥ ५१॥

दूसरे कोई निदान यहां यों कह रहे हैं कि वैशेषिकों के पक्षकी अनुमानकरके हैं। बाधा उठानी चाहिये वैशोषिकों करके पक्षमें पिहले नहीं किये किन्तु पुनः पक्षकोटिमें घर लिये गये स्थावर आदिकों करके कार्यत्व आदि हेतुओं में व्यमिचार हैत्वाभासका उठाना युक्तिरहित है। भावार्थ—जैनमतका पक्ष के रहे केचित् विदानके उपर जैनसिद्धान्तपर मिक्त रखनैवाले अपर विदानोंका यह आक्षेप

है कि त्रिजगत्का निमित्तकारण ईश्वरको साध्य करनेमें कार्यल आदि हेतुओंका पहिले व्यभिचार दोष उठाना और फिर बाधित हेल्वाभास दोष उठाना यह मार्ग प्रशस्त नहीं है। हां, यह मार्ग सुंदर है कि वैशेषिकोंके अनुमानको झटिति नष्ट करनेवाले इस अनुमानकरके बाधित दोष उठाना चाहिये कि महेश्वर (पक्ष) स्थावर, बीज, आदि कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण नहीं है। (साध्य) उनके साध अन्वय व्यतिरेकोंके अनुविधानकी विकलता होनेसे (हेतु) यह निर्दोष अनुमान जैनोंकी ओरसे समुचित प्रयुक्त किया जासकता है, केचित् विहानोंको स्थावर, हीरा, पना, आदि करके व्यभिचार दोष उठाना अनुचित है। क्योंकि वैशेषिकोंके यहां स्थावर, समुद्रज, खनिज आदि पदार्थोंको भी पक्षकोटिमें डालकर उनको ईश्वरका कार्य मान लिया गया है वे एक एक अनके दाने या फूलकी पांखरी तक कोई ईश्वरकी इच्छा पर निर्भर मानते हैं। "नहि पक्षे पक्षसमे वा व्यभिचार:" पक्ष या पक्षसममें दिया गया व्यभिचार दोषाधायक नहीं है, जब बाधक अनुमान हारा प्रतिपक्षीके बाध्य अनुमानका साक्षात खंडन किया जा सकता है तो अनुमितिके कारण होरहे व्यापिक्कान या परामर्षको बिगाडनेवाले व्यभिचार दोषका उठाना छोटापन है।

अनेनैवात्नुमानेन न्यापकानुपलंभेन पक्षबाधोद्धावनीया कालात्ययापदिष्टत्वं च हेतोस्त-थोद्धावितं स्यात्र पुनः पक्षिकृतैः स्थावरादिभिः साधनस्य न्यभिचारस्तत्रोद्धावनीयस्तस्यायु-क्तत्वात् । एवं हि न कश्चिद्धतुरन्यभिचारी स्यात् कृतकत्वादेरिप शन्दानित्यत्वादौ पक्षीकृतैः शन्दैरेव कैश्चिद्वयभिचारस्योद्धावितं अन्यत्वात् ।

" महेश्वरो स्थावराषुत्पत्तों न निमित्तं " इस ही अनुमान करके अन्वय, व्यतिरेक अनुविधान स्वरूप व्यापकके अनुप्रकंभ द्वारा वैशेषिकोंके पक्षकी बाधा उठानी चाहिये, और तैसा होनेपर वैशेषिकोंके कार्यत्व आदि हेतुओंका काळात्ययापिदछ्ल यानी बाधितहेत्वाभासपना भी उठाया जा चुका समझा जायगा, किंतु फिर वैशेषिकों द्वारा पक्षमें करित्ये गये, स्थावर, जंगम, प्राणियोंके शरीर आदिकों करके कार्यत्व आदि हेतुओंका व्यभिचार तो वहां वैशेषिकोंके अनुमानमें नहीं उठाना चाहिये, क्योंकि पक्ष कर छिये गये स्थळों करके ही उस व्यभिचार दोषका उठाया जाना अयुक्त है। इस प्रकार के चित्र विद्वान् यदि पक्षमें कर छिये गये स्थळों करके ही व्यभिचार दोषका उठाया जाना अयुक्त है। इस प्रकार के चित्र विद्वान् यदि पक्षमें कर छिये गये स्थळों करके ही व्यभिचार दोष उठायंगे तब तो कोई भी हेतु विचारा व्यभिचारदोषसे रहित नहीं हो सकेगा। पक्ष किये गये पर्वतमें अग्निकी उपळव्धि नहीं होने-पर भूम हेतुको भी व्यभिचारी कहा जा सकता है। पक्षमें सांध्य विवादापन हो ही रहा है। सर्वथा निर्दोष होकर प्रसिद्ध हो रहे कृतकत्व, सन्त, आदि हेतुओंका भी शब्दके अनित्यपन, परिणामीपन आदिकों सिद्धि करनेमें पक्ष कर छिये गये शब्द करके ही कोई अञ्च पुरुष व्यभिचार दोषको उठासकता है। ईर्षा खियां इठलाती हुयीं सुंदर क्रियोंपर यों ही झूंठ, मूठ, व्यभिचार दोषका आरोप कर बैठती है। एतावता वह दोष यथार्थ नहीं समझ छिया जाता है।

न कश्चिज्ञगद्बुद्धिमिश्विमित्तं साधियतुं स्थावरादीन् पक्षीकुरुते । तैः साधनस्य व्यभि-चारोद्भावने वा कृते साति पश्चाब पक्षीकुर्वीत येन व्यभिचाराविषयस्य पक्षीकरणाद्भतोर-व्यभिचारे न कश्चिद्धेतुर्व्यभिचारी स्यात् ।

कोई कोई कर्नृशादी तो जगत्के बुद्धिमान् निमित्त कारण द्वारा बनाये जानेको साधनेके छिये पिहेलेसे ही स्थावर, सूर्य, चन्द्रमा, आदिकोंको पक्षकीटिमें कर छेता है। हां, कोई वैशेषिक पृथिवी, पर्वत, शरीर आदिकोंको पक्ष करता है। ऐसी दशामें किसी प्रतिवादी द्वारा उन स्थावर आदिकों करके कार्यत्व हेतुका व्याभिचार दोष उठाना कर चुकनेपर पीछेसे स्थावर आदिको पक्षकीटिमें कर छेता है। किन्तु ऐसा कोई कर्तृवादी नहीं जो वन्य वनस्पति, खनिज, स्थावर, आदिको पक्ष कोटिमें नहीं करें क्योंकि ईश्वरवादी तो आत्मा, आकाश, परमाणु, आदि नित्य पदार्थोंको छोडकर शेष सभी स्थावर, खानिज, बीज, अंकुर, अदृष्ट, सूर्य, पर्वत, आदि अनित्य चराचर जगत्का निर्माण करनेवाछा ईश्वरको मानते हैं। अतः वे सब पक्षकोटिमें आ जाते हैं। व्यभिचारके विषय हो रहे स्थळको पक्ष करते हुये भी बळात्कारसे व्यभिचार उठाया जायगा। तब तो कोई भी हेतु व्यभिचार दोषरित नहीं हो सकेगा। अतः यहां व्यभिचार दोष उठाना उचित नहीं है। जिससे कि वस्तुतः व्यभिचार दोषके विषय नहीं किन्तु असदाप्रह करके व्यभिचार दोषके विषय हो रहे स्थळको पक्ष कर देनेसे हेतुका अव्यभिचार माननेपर कोई भी हेतु व्यभिचार वोषको विषय नहीं किन्तु असदाप्रह करके व्यभिचार दोषके विषय नहीं किन्तु असदाप्रह करके व्यभिचार दोषके विषय हो रहे स्थळको पक्ष कर देनेसे हेतुका अव्यभिचार माननेपर कोई भी हेतु व्यभिचारी नहीं बन बैठे यानी सभी हेतु व्यभिचारी नहीं बन जाय। एतदर्थ वैशेषिकोंके अनुमानमें पक्षीकृत स्थावर आदिकों करके व्यभिचार दोषको नहीं उठाओ।

पकान्येतान्याम्रफलान्यंकशारवामभवत्वादुपयुक्तफलवदित्यादिषु तदेकशारवामभवानाम-पकानामाम्रफलानां व्यभिचारविषयाणां पक्षीकरणादित्युपालंभः स्यात् । यथा चात्र न पर्धा-कृतैः कश्चिम्यभिचारमुद्भावयति किंतु प्रत्यक्षवाधा पक्षस्य हेतोश्च कालात्ययापदिष्टत्वं तथा मकृतातुमानेषि । यथा च पक्षस्य प्रत्यक्षवाधोद्भावयितुं युक्ता तथानुमानवाधाषि । यथा च मत्यस्ववाधितपक्षानिर्देशानंतरम् प्रयुज्यमानो हेतुः कालात्ययापदिष्टस्तथानुमानवाधितपक्षनिर्देशा-नन्तरमपि सर्वथा विशेषाभावात् पक्षवाधोद्भावने च हेतुभिः परिदानमपि न भवेदिति सोद्भाव-नीया, तहुपेक्षायां प्रयोजनाभावादिति चापरे प्रचक्षते । अन्ये त्वाहुः ।

आश्रवसकी एक शाखा पर कितने ही कचे, पक्के, फल लग रहे हैं किसी लोभी आतुर वेकेताने बानगीके ढंगसे दो एक मीठे फल भोले केताको चला दिये शाखाके सम्पूर्ण फलों का खाना बवाना प्रयोजनीभूत नहीं है। अतः विकेता अनुमान बनाता है कि ये सन्मुख देखे जारहे सभी माम्रफल (पक्षा) पके हुए हैं (साध्य) बक्षकी एक शाखामें उपजना होने दे (हेतु) उपयोगों में माम्रफल क्षे हुये आमके समान (अन्वय द्रष्टाम्त)। अथवा मित्रा नामक काली खीका गर्भस्थ पुत्र

गोरा है, अबकी बार काले पनके पत्र, शाक, आदिका मक्षण बहिरंग कारण और अन्तरंग कारण कृष्ण वर्ण नामक प्रकृतिका उदय नहीं मिलनेसे गर्भका पुत्र गोरा है, कोई स्थल बुद्धि पुरुष अनुमान बनाता है कि गर्भीस्थित पुत्र होनेसे (हेतु) इतर तीन, चार, देखे जारहे पुत्रोंके समान (अन्वय-इप्रान्त) । इसी प्रकार यह तीसरा अनुमान किसीने उठाया कि यह छात्र (पक्ष) न्युरपन्न है (साध्य) इस प्रसिद्ध विद्यालयमें प्रकाण्ड विद्वान् द्वारा प्रन्थाध्ययन करने वाला होनेसे (देत्) परिदृष्ट न्युरपन्न विद्यार्थियोंके समान (अन्वयदद्यान्त) वस्तुतः वह छात्र अन्युरपन था इत्यादिक स्थलोंमें न्याभिचारके विषय हो रहे उस एक शाखापर उपने हुये कचे आम्र फलोंको या गर्भस्थ पुत्रको अथवा उपद्रवी, अविनीत, छात्रको पक्ष कोटिमें कर देनेसे यों उपालम्म हो जाता। अर्थात्—न्यभिचार स्थलोंको पक्षकोटिमें डाल देनेसे पुनः व्याभेचार दोष नहीं उठाया जाना चाहिये जिस प्रकार कि यहां एकशाखाप्रभवत्व आदि हेतुओंमें पक्षकोटिमें कर छिये गये कहे फल आदिकों करके कोई भी विचारशील पण्डित पुनः उन करके व्यभिचार नहीं उठाता है। किन्त प्रत्यक्षप्रमाणसे पक्षकी बाधा देना दोष ही उपस्थित करता है और ऐसी दशामें हेतका बडा दृढ दोष कालात्ययापदिष्टपना यानी बाधितपना उठाकर वादीकी सम्पर्ण मनोरथ-भित्तियोंको वह प्रतिवादी ढाइ देता है। उसी प्रकार प्रकरणप्राप्त वैशेषिकोंके अनुमानमें भी जैनोंको व्यभिचार दोष नहीं उठाकर बाधितहत्वामास उठाना चाहिये । जिस प्रकार कि पक्षकी प्रत्यक्षप्रमाणसे वाधाको उठानेके लिये समुचितपना है उसी प्रकार अनुमानप्रमाण करके भी पूर्वपक्षीके अनुमानमें प्रसन्तता र्विक बाधा उठाई जा सकती है। " विहरनुष्णः द्रव्यत्वात् जळवत् अग्नि (पञ्च) शीतळ है (साध्य) द्रव्य होनेसे (हेत्) जळके समान (अन्वयदृष्टान्त) । इस अनुमानमें जैसे स्पार्शन प्रत्यक्षसे बाधितपना आपादित कर दिया जाता है । उसी प्रकार '' अपरिणामी शब्दः कृतकत्वात '' इस अनुमानको शब्द परिणामी 🕻 सत होनेसे इस अनुमान द्वारा बाधित किया जाता है। प्रकरणमें दीप आदिक (पक्ष) किसी बुद्धिमान् करके बनाये गये हैं (साध्य) विशेष रचनावाले होनेसे या कार्य होनेसे (हेतु) इस वैशोषिकोंके पक्षकी स्थावर आदिकी उत्पत्तिमें महेश्वर (पक्ष) निमित्त कारण नहीं है (साध्य) अन्त्रय-व्यतिरेककी घटना नहीं होनेसे (हेतु) इस अनुमान द्वारा बाधा उठाई जा सकती है। तथा प्रत्यक्षप्रमाणसे बाधित हो रहे पक्षनिर्देशके अनन्तर प्रयुक्त किया जा रहा हेत जिस प्रकार बाधित हैत्वाभास है उसी प्रकार अनुमानप्रमाणसे बाधित हो रही प्रतिज्ञाके निर्णीत निर्देशके पश्चात प्रयुक्त किया जा रहा हेत भी काळात्ययापदिष्ट है प्रत्यक्षवाधित और अनुमानवाधित पक्षसे अनुमिति तत्कारणान्यतरविरोधित्व सम्बन्धकरके सहित हो रहे हेतुओंमें सभी प्रकारोंसे कोई विशेषता नहीं है। एक बात यह भी है कि हेतुओं करके वादी के पक्षकी बाधाको उठानेपर पुनः परिवर्तन भी नहीं हो सकेगा । अर्थात्—एक हेत्रसे पश्चिसिद्धि न सही दूसरे हेत्रओंसे कर छेंग यों भी पक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती है। जब प्रत्यक्षमें अग्निका उष्णपना या अनुमानसे शब्दका परिणाभीपना प्रसिद्ध है। तो

हजारों हेतुओंसे भी अग्निका अनुष्णपना या राग्दका कृदस्य नित्यपना कथमपि नहीं साथा जा सकता है। अथवा पहिलेसे बाधित हेत्वाभासके उठा देनेपर पुनः अन्य हेतुओं करके भी वादीका पक्ष रिक्षत नहीं किया जा सकेगा। बलवती बाधाके उपस्थित कर देनेपर सम्पूर्ण हेतुओंकी शिक्तयां मर जाती हैं। इस कारण कर्त्वावादियोंके पक्षमें वह बाधा उठा देनी चाहिये उस बाधाको उपस्थित करनेकी उपेक्षा (लापरवाही) करनेमें कोई प्रयोजन नहीं है। पाप या कृष्ण सर्पको अविलम्ब पृथक् कर दिया जाय यही सबका इष्ट प्रयोजन होना चाहिये उनको रखनेमें कोई प्रयोजन नहीं सधता है। प्रत्युत महती हानि होनेका खटका है। यों यहांतक कोई दूसरे विद्वान् अच्छा बखान कर रहे है। श्री विद्यानन्द आचार्यने बडी विद्वचाके साथ कर्तृवादका निराकरण किया है जैसे गुरुजी महाराज अपने अनेक शिष्योंकी परीक्षा लेते हुये भिन्न भिन्न वचनभंगियों द्वारा एक ही प्रमेयकी न्यारी न्यारी व्याख्या करा कर प्रसन्न होते हैं प्रन्थकार भी जिनमार्गभक्त अनेक विद्वानों द्वारा कर्तृवादके निराकरणके पाठकी प्रक्रि-याको मानो सुन रहे हैं। केचित् और अपरे विद्वानों क्षात् अन्य विद्वान् तो यहां यों कह रहे हैं कि—

सर्वथा यदि कार्यत्वं हेतुः स्याद्वादिनां तथा । न सिद्धो द्रव्यरूपेण सर्वस्याकार्यतास्थितेः ॥ ५२ ॥ कथंचित्र विरुद्धः स्याद्वीमद्भेतु जगत्स्वयं । कथंचित्साधयित्रष्टविपरीतं विशेषतः ॥ ५३ ॥

वैशेषिकोंने जो यह अनुमान कहा था। कि " द्विपिक्षियंकुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वाद् घटवत् " इस अनुमानमें कहे गये कार्यत्व हेतुका अर्थ यदि सभी प्रकारोंसे कार्यपना है तब तो स्याद्वादियों के यहां द्वीप, पृथिवी, आदिमें तिस प्रकार सर्वथा कार्यपना हेतु सिद्ध नहीं है क्योंकि द्रव्यस्वरूप करके सम्पूर्ण पदार्थोंको कार्यरहितपना व्यवस्थित हो रहा है घट, पट आदिक भी द्रव्यार्थिक नय करके कार्य नहीं हैं। अर्थात्—जिन अनादि अनन्त द्रव्योंके पर्याय घट, पट, आदि हैं वे द्रव्य कार्य नहीं हो कर नित्य हैं। अतः पक्षमें नहीं ठहरनेसे कार्यत्व हेतु असिद्ध हेत्वामास हुआ। हां, इस असिद्ध दोषके निवारणार्थ सर्वथा पक्षको छोडते हुये तुम वैशेषिक यदि कथंचित कार्यपनको हेतु मानोगे तब तो तुम्हारा हेतु विरुद्ध हेत्वामास होजायगा क्योंकि तुम जगत्का बुद्धिमान हेतु करके सर्वथा उपजना साथ रहे हो यानी जगत्में सर्वथा ईस्वर नामक कारणकी कार्यता है किन्तु कथंचित् कार्यत्व हेतु तो विशेष रूप करके इष्ट साघ्य विपरीत हो रहे कथंचित् बुद्धिमान्के निमित्तकारणपनको साथ रहा है। अतः तुम्हारा हेतु विशेष रूपसे विरुद्ध होरहा विरुद्ध नामका हेत्वामास हुआ।

नाकोशंतः पलायंते विरुद्धा हेतवः स्वतः । सर्वगे बुद्धिमद्धेतौ साध्येन्येर्जगतामिह् ॥ ५४ ॥ अन्य विद्वान वैशेषिकों करके इस प्रकरणमें तीनों जगतोंके हेतु होरहे सर्व न्यापक किसी बुद्धिमान्को साध्य करनेपर दिये गये वे कार्यत्व आदि हेतु तो विशेष विरुद्ध हेत्वामास हैं, इस प्रकार ताध्यसे विपरांत कथंचित् बुद्धिमान्को निमित्तकारणपनकी सिद्धि होजानेकी बढ़े बळसे पुकार करमेवाछे ये हेतु अपने आपहीसे नहीं दूर भग जाते हैं। अर्थात्—न्यापक, सर्वज्ञ, बुद्धिमान्को निमित्तपना साधनेमें प्रयुक्त किये गये कार्यत्व आदि हेतु जब कथंचित् बुद्धिमान्को जगत्का कारणपन साध रहे हैं। तो ऐसी दशामें उस बैशेषिकके सिद्धान्तको गालिप्रदान कर रहे ये हेतु यों ही स्वतः नहीं मग जायंगे किन्तु वैशेषिकोंके विरुद्ध होकर जगत्में कथंचित् बुद्धिमान् द्वारा किये गये पनका ढिंढोरा पिटते रहेगे। जैसे कोई सन्मार्ग प्रचारक, उद्देगी, मछा, मनुष्य यदि किसी असत् पक्षवाछे पुरुषके साथ पंस जाय पुनः वह भठा मानुप अपने साथिकि दुर्गुणोंको देखता है तो उससे विरुद्ध होकर कटु शब्दों द्वारा उसकी मर्सना करता है यों ही चुपके नहीं भग जाता है उसी प्रकार कथंचित् कार्यत्व हेतु उन वैशेषिक या पौराणिककी अच्छी प्रतरणा करता हुआ उनके अभीष्ट साध्यसे विपरीत पक्षको साधनेक छिये कमर कस छता है।

यदि सर्वथा कार्यत्वमचेतनीपादानत्वं, सिश्विकाविशिष्टत्वं, स्थित्वा प्रवृत्त्यादि वा हेतुस्तदा न सिद्धस्तन्वादेगि द्रव्यार्थादेकादकार्यत्वात् । कार्यत्वं ताबद्सिद्धं तथा तस्य नित्यत्वव्यवन्ध्यतः सर्वथा कस्यचिद्नित्यत्वेऽर्थिकयाविरोधात् । तत एव सर्वस्यानुपादानत्वादचेतनोपादानत्वं न सिद्धं ज्ञानादेः पक्षीकृतस्यापि चेतनोपादानत्वात् तदभ्युपगमो नापि भागासिद्धं वनस्यवित्तेतन्यं स्वापवत् । सित्रविशिष्टत्वमपि न द्रव्यस्य पर्यायविषयत्वात्तस्येत्यसिद्धं ज्ञानादीं स्वयमनभ्युपगमात्र भागासिद्धं तद्देव स्थित्वा प्रवृत्तिरिप न द्रव्यार्थिदेशात् कस्यचित्तया सर्वस्य नित्यप्रवृत्तत्वादिति तदसिद्धः । अर्थिकयाकारित्वं पुनर्दव्याद्यीन्तरभूतस्य पर्यायस्यैकातेन तद्दुरुपपादमित्यसिद्धमेव ।

स्याद्वादियों के पक्षका आदर कर रहे कोई अन्य विद्वान् उन कर्तृवादियों से पूंछते हैं कि शरीर, पृथिवी, द्वीप, पर्वत आदिमें ईश्वरकृतपना साधने के लिये प्रयुक्त किये गये कार्यल, अचेतनोपादानत्य, सिन्नेशाविशिष्टल्य, स्थित्वाप्रवृत्ति, अर्थिनियाकारिव आदिक हेतु यदि सर्वथा हैं। अर्थात्—पृथिवी, शरीर, आदिमें सभी प्रकारों से कार्यपना या सभी प्रकारों से अचेतन उपादान कारणों से जन्यपना आदि हैं तब तो तुम्हारे हेतु सिद्ध नहीं हैं असिद्ध हेत्वामास हैं क्यों कि द्व्यार्थिक—नय—हारा निरूपण करने से तन्तु, द्वीप, पर्वत, आदिक भी कार्य नहीं हैं सम्पूर्ण द्व्य अनादि अनन्त हैं शरीर आदि पर्यायें मछे ही अनित्य होय किन्तु शरीर आदिका पुद्रछ द्व्य नित्य है। अतः सभी प्रकारों से यानी द्वय्यक्रपसे भी कार्यपना मानना तो तनु आदिकों को सिद्धिकों भी अनित्य माना जायगा तो अर्थिकया नित्यपना व्यवस्थित हो रहा है। यदि सभी प्रकारोंसे किसीको भी अनित्य माना जायगा तो अर्थिकया

होनेका निरोध होगा । एक क्षणमें ही उपज कर नष्ट होनेनाला पदार्थ जब आत्मलाभ ही नहीं कर सका तो फिर अपने योग्य अधीक्रयाको भळा क्या करेगा ! अनेक क्षणोंतक ठहरते हुये ही बाण आदि पदार्थ अभीष्ट स्थानपर पहुँच सकते हैं। काळान्तर स्थायी घट ही जलधारण कियाको कर पाता है । बहुत देरतक ठहर रहे अन, जल, आदिक पदार्थ ही क्ष्मा, विपासा, आदिकी निवृत्ति कर सकते हैं । दीपकालिका, बिजली, बुदबुदा (बबूला) आदि पदार्थ भी सर्वधा नित्य नहीं हैं । असंख्य समयोंतक इनकी स्थिति है द्रव्यरूपसे तो ये भी नित्य हैं। अतः तुम्हारा सर्वथा कार्यत्व हेत् प्रकृत पक्षमें नहीं घटित होनेसे स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। तित ही कारणसे यानी द्रव्यार्थिकनयकी अपेक्षा कथन करनेसे जगतके सम्पूर्ण पदार्थीको उपादान कारणसे रहितपना है जब कि सम्पूर्ण चरा-चर पदार्थ द्रव्यरूपसे नित्य हैं ऐसी दशामें वे उपादान कारणोंसे जन्य नहीं हो सकते हैं अतः शरीर, पृथिवी, आदिकोंमें अचेतन उपादान कारणोंसे उपजना हेतु भी सिद्ध नहीं है तब तो अचे-तनोपादानत्व हेतु भी स्वरूपासिद्ध हुआ । दूसरी बात यह है कि अचेतनोपादानत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास भी है। पक्षके एक देशमें हेतु रहे और पक्षके दूसरे देशमें हेतु नहीं रहे वह भागासिद हेत्वाभास होता है। शरीर, पृथिवी, वृक्ष, आदिके उपादान कारण अचेतन माने गये हैं। किन्तु ज्ञान, सुल, इच्छा आदिक कार्य भी पक्षकोटिमें किये गये हैं । परन्तु ज्ञान आदिके उपादान कारण तो चेतन आत्मार्थे माने गये हैं । अतः उस स्वीकृति करके भी पक्षके परिपूर्ण देशोंमें नहीं ठहरनेसे अचेतनोपादानत्व हेतु भागासिद्ध हेत्वाभास है। जैसे कि वनस्पतियोंमें चेतनपना सिद्ध करनेके छिये प्रयुक्त किया गया स्त्रापहेर्त भागासिद्ध है वनस्पतियां (पक्ष) चैतन्यश्राली हैं। (साध्य कोटि) शयन करनेवाली होनेसे (हेतु) दो दिनके जन्मे हुये बालकके समान (अन्वयदृष्टान्त) इस अनुमान द्वारा निदाक्रमेका उदय होनेपर से रहीं बनस्पतियों में तो चैतन्य चटित हो जाता है । किन्तु हुछन. कम्पन, कर रही जागती हुयीं वनस्पतियोंमें स्वाप हेतुते चेतनपना क्षिद्ध नहीं हो पाता है। सम्पूर्ण जागते हुये मनुष्य, पश्च, पक्षी जीवोंमें भी स्वाप हेतुते चैतन्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। तथा तीसरा सिनेवराविशिष्टपना हेत भी द्रव्यके घटित नहीं होता है। क्योंकि वह रचनाविरोष या तिकाने, चीकाने, गोल, अदि परिमाणोंकी रचनायें पर्यायोंमें पार्यी जाती हैं। इस कारण सर्वैधा सर्विवेशविशिष्टल हेतु स्वरूपासिद्ध है। चारी ओर देखी जा रहीं रचनायें जब कि पर्यायोंकी नियत हैं तो द्रव्यार्थिकरूपसे विशेष सिनेवेश उन पक्षोंमें नहीं वर्तता है एक वात यह भी है कि वैरोक्सोंने ज्ञान, सुख, आदि गुणोंमें या अमण, चलन आदि कियाओंमें सिनिवेशिवशोषको स्वयं स्वीकार नहीं किया है " गुणादिर्निर्गुणिकयः " गुण, किया, जाति, आदिमें परिमाण आदि गुण या कियायें नहीं ठहरते हैं गुण तो द्रव्योंमें ही पाये जाते हैं। अतः पक्षके एक देश हो रहे ज्ञान आदिमें सिनिवेशविशेषकी वर्तना नहीं होनेसे सर्वया सिनिवेशविशिष्टल हेतु भागासिद्ध हेल्वामास है उन सर्वथा कार्यत्व, सर्वथा अचेतनोपादानत्व, सर्वथा सन्तिवेशविशिष्टत्व हेतुओंके समान ही चौथ

ठहर ठहरकर प्रवर्तना हेतु भी सिद्ध नहीं है स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास है। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षासे किसी भी पदार्थकी तिस प्रकार ठहर ठहरकर विराम छेते हुये प्रश्वति नहीं होती है दव्यार्थिकनयस तो सम्पूर्ण पदार्थ सूर्य, चन्द्रमाने अविराम प्रकाश करनेके समान अविश्राम नित्य प्रवृत्ति कर रहे हैं। पुत्रल द्रव्यके रूप, रस, आदिक गुण नित्य ही काली, पीली, खडी, मीठी आदि पर्यायोंके धारनेमें प्रवर्त रहे हैं एक क्षणका भी अवकाश नहीं मिलता है। जीव द्रव्य सर्वदा जानना, अस्तिपन, बस्तुपन आदिमें अनवरत प्रवृत्ति कर रहा है। जीवकी पर्याय बर्ढई सुनार, कुळाळ, या पुद्रलकी पर्याय कुठार, हथोडा, चांक चूमना आदिके समान मध्यमें विराम छेते हुये प्रवृत्ति करना द्रव्योंमें नहीं है । चला दिये गये यंत्र (मशीन) के समान जिस और धुन बंध गयी उसमें द्रव्य सदा प्रवर्तते रहते हैं इस कारण उस स्थित्वा प्रवृत्ति हेतुकी भी असिद्धि हुई। पांचवां अर्थिकियाकारित्व हेतु फिर इन्यसे भिन्न हो रही पर्यायके पाया जाता है। घट, पट, आदि पर्यायें जल धारण आदि अर्थिकियाओं को कर रही हैं । पुद्रलकी जल पर्याय करके स्नान, पान, अवगाहन, अर्थिकियायें करी जाती हैं। एकान्त करके यानी सर्वथा शरीर, पृथ्वी, आदिकोंको वह अर्थक्रियाकारीपन कठिनतासे भी नहीं बन पाता है। अर्थात् --- इन्यरूपसे शरीर, पर्वत, आदिक किसी भी छैकिक प्रयोजन क्षाधक अधीकेयाका सम्पादन नहीं कर रहे हैं जैसे कि खेतकी भिट्टी मलें ही चना गेंहू, ईख, म्ंग, उर्द, बननेकी सामर्थ्यको रखती है किन्तु वर्तमान मिट्टी अवस्थामें रोटी, दाल, पेडा, या क्षुधा निवारण आदि कार्योको नहीं कर पाती हैं अथवा इस पंक्तिका अर्थ यों कर छिया जाय कि वैरोषिकोंके यहां द्रव्यसे सर्वथा भिन्न मानी गयी पर्यायको अर्थकियाकारीपना कथमपि युक्तियोंसे नहीं सध पाता है। द्रव्यसे कयंचित् अभिन्न हो रहीं पर्यायें ही अर्थिकयाओंको करती हैं पर्यायात्मक द्रव्य अर्थिकियाओंको साध रहे हैं। अतः अर्थिकयाकारिल हेतु उन पृथ्वी, शरीर, आदि केवछ पर्याय या स्वतंत्र द्रव्योंमें नहीं घटित हो पाता है इस कारण स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास ही है ! यहांतक पांचों हेतुओंको सर्वथा स्वीकार करनेपर वैरोषिकोंके ऊपर स्वरूपासिद्ध हे वाभासका प्रसंग दे दिया गया है दो हेतुओं में मागासिद्ध दोष भी जड दिया है।

यदि पुनः कथंचित्कार्यत्वमन्यद्वा हेतुस्तदा विरुद्धः स्यात् स्वयमिष्टविपरीतस्य कथं-चिद्धीमद्वेतुकत्वस्य साधनातः। सर्वया बुद्धिमत्कारणत्वे हि साध्ये जगतः कथंचिद्धीमद्वेतुकत्व-साधनो हेतुर्विश्वेषविरुद्धः सर्वो ऽपीति। नाकोशंतः मपलायंते विश्वेषविरुद्धा हेतवः। कार्यत्वादिना मौलेन हेतुना स्वेष्टस्य साध्यस्यामसाधनात्तेषां निरवकाशक्वाभावात् तैरस्य व्याघातसिद्धेः।

यदि फिर वैशेषिक कथंचित् कार्यपनेको हेतु स्वीकार करेंगे अथवा अचेतनोपादानत्व, सिनेवे-शिवशिष्टत्व, आदि अन्य हेतुओंमें कथंचित्पना लगाकर उनको हेतु अभीष्ट करेंगे तब तो उनके वे हेतु विरुद्ध हेत्वाभास होजायंगे स्योंकि कथंचित् कार्यपना आदि हेतु तो जगत्में कथंचित् बुद्धिमान् हेतुसे जन्यपनको सार्धेगे । अतः स्वयं दुष्ट होरहे सर्वथा बुद्धिमान् कारण करके जन्यपनसे विपरीत होरहे कथंचित् बुद्धिमान हेतु करके जन्यपनके साथ व्याप्ति रखने वाळे कथंचित् कार्यत्व आदि हेतु तो निरुद्ध हैं " साध्यविपरीतव्यासो हेतुर्विरुद्धः " जगत्का सभी प्रकार व्यापक, सर्वज्ञ, एक अशरीर, बुद्धिमान् कारणसे जन्यपना साध्य करनेपर पुनः कथंचित् अन्यापक, अल्पन्न, अनेक सशरीर, बुद्धि-मान् कारणोंसे जगत्की उत्पत्तिको साध देनेत्राले वे सभी हेतु विशेषविरुद्ध हैत्वामास होजाते हैं, अपना विशेष विरुद्धपना पुकार रहे वे हेतु यों ही सहजमें झट पळायन (भाग जाना) नहीं कर जाते हैं । बहुत दिनसे बिछुर गये अपने मूल्यवान पदार्थकी प्राप्ति होजानेपर पुनः वह पदार्थ यों ही श्रट शत्रुओंको नहीं सोंप दिया जाता है। कथंचित लगा देनेसे उक्त सभी हेतु वैशेषिकोंके विरुद्ध होकर स्याद्वादियोंके पक्षिसिद्धिकी पुकार मचाते रहते हैं। विशेष विरुद्ध हेतु अपने कर्तव्य कथंचित् बुद्धिमान्से जन्यपनको चराचर जगत्में साध रहे हैं । निकृष्ट कार्यको साध छेनेका प्रकरण आनेपर भछे ही कोई भाग जाय अच्छाही है किन्तु प्रकृष्ट कार्योंको साधनेके लिये साधन अपना धन्य माग समझते हैं वे अधिक देरतक ठहरना बांछते हुये बढ़ी प्रसन्नतासे उन कार्योंको साधते हैं। सबसे प्रथम मूलमें कहे गये निर्विशेषण कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, आदि हेतुओं करके वैशेषिकोंके यहां अपने इष्ट होरहे साध्यकी प्रसिद्धि नहीं होसकी है। हां कथंचित कार्यत्वको सर्वत्र आदरके साथ स्थान मिळ रहा है। किन्तु सर्वथा कार्यत्वको कहीं भी ठहरने के लिये अवकाश प्राप्त नहीं होता है। अतः उन कथंचित् कार्यत्व, कथंचित् अचेतनोपादानत्व, आदि हेतुओंके अवकाशरहितपनका अभाव होजानेसे उन कथंचित कार्यत्व आदि करके इस मूलमें उपात्त किये निर्विशेषण कार्यत्व या सर्वथा कार्यत्व आदि हेतुओंका न्याचात होजाना सिद्ध है। अर्थात्—सादर निमंत्रणपूर्वक सर्व स्थलेंपर अवकारा पारहे कयंचित् कार्यत्व हेतु करके सर्वत्रसे निरादर कर मगाये जारहे सर्वथा कार्यत्वहेतुका व्याघात कर दिया जाता है। यों वैशेषिकों के सिद्धान्तका प्रत्याख्यान कर जैन सिद्धान्त अनुसार कथंचित बुद्धिमान निमित्तलकी सिद्धि होजाती है।

न चैवं धूमादेरम्न्यायतुमानं प्रत्याख्येयं कथंचिदम्निमक्वादेरेव कचिल्लोकिकैः साध्य-त्वात् कथंचिध्दूमवक्वादेरेव हेतुत्वेनोपगमाचासिद्धत्वविरुद्धत्वयोरयोगात् । तर्हि जगतां कथं-चिद्वुद्धिमत्कारणत्वस्य साध्यत्वात् कथंचित्कार्यत्वादेश्व हेतुत्वोपगमात्परस्यापि न दोषः इति चेश्व, स्याद्वादिनां सिद्धसाधनस्य तथा व्यवस्थापनात् ।

यदि वैशेषिक यों कहें कि इस प्रकार विशेष विरुद्धताका कुचक यदि मले हेतुओंपर चल। जाद्यगा तब तो धूम, कृतकल, आदि हेतुओंसे अग्नि, अनित्यल, आदिको समझा रहे प्रसिद्ध अनु-मानोंका भी प्रत्याख्यान हो जाना चाहिये। धूममें सर्वथा धूमपना नहीं है पौद्रलिकपना या कंठ, आंखमें विक्षेप करा देना भी धर्म वहां विस्थान हैं। धूम सर्वथा अग्निको ही नहीं साधना है उच्या-

ताको भी सामता है। गीछे ईंधनके संयोगको भी समझा देता है। धूममें अनेक कुतर्क (तनाखियां) उठायी जा सकती हैं । कृतकव हेतुमें भी देश, कालके विशेषोंकी अपेक्षा लगाकर विशेष विरुद्धता धर दी जायगी । आचार्य कहते हैं कि यह नहीं समझना क्योंकि छोकदक्ष व्यवहारी जनों करके कथंचित अग्निमच, कथंचित अनित्यत्व आदिको ही साध्य किया है और कथंचित धुमवत्त्व, कथं-चित् कृतकत्व, आदि हो हेतुपने करके स्वीकार किया गया है। अतः धूमादि हेतुओंमें असिद हेत्वाभास, विरुद्ध हेत्वाभास, सहितपन हा योग नहीं हो पाता है, यदि सर्वथा धूम या सर्वथा अप्रिको हेतपने करके स्वीकार किया गया है। अतः धूमादि हेतुओंमें अपिद्ध हेत्वाभास, विरुद्ध हेत्वाभास, सिंहतपनका योग नहीं होपाता है । यदि सर्वथा धूम या सर्वथा आप्रिको हेतु और साध्य बना जायगा तव तो इनको भी उन्हीं तोपके गोले सहश हो रहे असिद्धपन, विरुद्धपनसे उठा दिया जायगा। बैरोपिश कहते हैं कि तब तो सम्पूर्ण जगतोंका कथंचित् बुद्धिमान कारणसे जन्यपनको साध्य ही जानेसे और कथांचित कार्यत्व, कथांचित सिनेवेशविशिष्टव आदि को हेतुपना स्वीकार कर छेनेसे परवादी इम वैशेषिकोंके यहां भी कोई दोष नहीं आता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि यों कहनेपर स्याद्वादियोंकी ओरसे सन्नहवीं वार्तिकमें वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोषको तिस प्रकार व्यवस्था करा दी गयी है। हम स्याहादी जब कि नाना आत्माओंको शरीर. खनिज. पर्वत, आदि जगद्वर्ती कार्योका निमित्तकारणपन प्रथम है। स्त्रीकार कर रहे हैं तो सिद्धको ही साधनेसे क्या लाभ ? वादींको प्रतिवादिके सन्मुख असिद्ध पदार्थकी सिद्धि करनी चाहिये, बुद्धिवृद्ध परुषोंको गतमार्गका पुनःगमन करना परिश्रमवर्धक ही है।

द्रव्यं गुणः किया नान्त्यविशेषोऽशाश्वतो ननु । विवादाध्यासितो धीमान्हेतुः साध्यस्थितो यदा ॥ ५५ ॥ कार्यत्वं न तथा स्वेष्टविपरीतं प्रसाधयेत । नाप्यसिद्धं भवेत्तत्र सर्वथापि विवक्षितं ॥ ५६ ॥ इत्येके तदसंप्रासं भेदैकांताप्रसिद्धितः । कार्यकारणयोरेक्यप्रतिपत्तेः कथंचन ॥ ५७ ॥

दूसरे कोई एक वैशेषिक विद्वान् स्वपक्षका अवधारण करनेके लिये यों कह रहे हैं कि हम सम्पूर्ण द्रव्योंको पक्ष नहीं बनाते हैं। किन्तु घट, पट, आदिक कार्यद्रव्योंको पक्षकोटिमें धरते हैं। इसी प्रकार अनित्य गुणोंको पक्ष स्थिर करते हैं। देशसे देशान्तर करा देना स्वरूप क्रियायें तो हमारे यहां सब अनित्य ही मानी गयी हैं। नित्य द्रव्योंमें वर्त रहे व्यावर्तक, अनन्त और अन्तमें वर्त रहे ऐसे अंत्यिक्शेषोंको भी हम धर्मी नहीं बना रहे हैं। सामान्य, नमकाय, नित्यगुण और नित्य द्रव्य भी धर्मी

नहीं हैं। किन्तु अनित्य द्रम्य, अनित्य गुण और सम्पूर्ण कियायें हो विवादमें प्राप्त हो रही पक्ष मानी गयी है और जिस समय इन अशाञ्यत द्रब्य गुण, कियाओंका निमित्तकारण एक बुद्धिमान् साध्यरूपसे न्यवस्थित किया गया है उस समय प्रयुक्त किया गया कार्यत्वहेत तिस प्रकार हमको निज अमीष्ट होरहे साध्यस विपरीतको कथमपि नहीं साथ पायेगा जोकि आप जैनोंने त्रेपनवीं वार्तिकमें विरुद्धपनेका कटाक्ष किया था यों कार्यत्व हेतु हमारे इष्ट साध्यको है। बढिया साधेगा । तथा वह कार्यत्वहेतु यदि सर्वथा भी विवक्षाप्राप्त कर लिया जायगा तो भी उन सर्वथा जन्य द्रव्य, गुण, कियाओंमें असिद्ध हेत्वा-भास नहीं होसकेगा, अशाश्वत माने गये द्रव्य, गुण, कियाओंमें, सर्वथा कार्यत्वहेतु निर्द्वन्द्व ठहर जाता है । अतः " सर्वथा यदि कार्यत्वं " इस वार्तिकद्वारा असिद्ध दोष उठाना जैनोंका उचित कार्य नहीं है। यहांतक कोई एक कर्तवादी कर रहे हैं प्रन्थकार कहते हैं कि उनका वह कथन संगतिस रहित हैं। क्योंकि वैशेषिकोंके यहां माने गये कार्य और कारणके एकान्तरूपसे भेदकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकती है जब कि कार्य और कारणके कथंचित् एकपनकी निर्वाध प्रमाणों द्वारा प्रतिपत्ति होरही है। ऐसी दशामें परमाणु, आत्मा, आकाश, आदि कारण नित्य हैं तो कथांचित् अभिन होरहे उनके कार्य घट, पट, ज्ञान, इच्छा, शब्द, आदि भी कथंचित् नित्य होजायंगे । अतः पक्षमें सर्वथा कार्यत्वके नहीं ठहरनेसे कार्यत्व हेत स्वरूपासिद्ध हो ही गया, कर्यचित् नित्य पदार्थीमें हेतुओं ने सर्वथा जन्यपना अनुमानान्तरसे बाधित भी है। अतः तुम्हारा कार्यत्व हेत् काळात्ययापदिष्ट हुआ. (अपीक करनेपर उनकी सजा बढ गयी)।

यदप्याहुः परे पृथिन्यादिकार्यद्रन्यमशाक्तं धर्मि तस्य विवादाध्यासितत्वाक पुनरा-काशं अभिलापात्तमेनं शान्ततं द्रन्यं, नाष्यात्मा सुखाद्यनुषेयो नित्यो, न कालः परत्वापरत्वा-घनुषेयो दिग्वा, नापि मनः सकृद्विज्ञानानुत्पत्त्यानुषेयं, नापि पृथिन्यादिपरमाणवः कार्यद्रन्या-नुषेयास्तेषापविवादापकत्वाद् । तत एव न सामान्यमनुष्ठत्तिमत्ययानुषेयं, नापि समवाय इहेदमिति प्रत्यपानुषेयो, नांत्यविश्रेषा नित्यद्रन्यवृत्तयोऽत्यंतन्यावृत्तिनुद्धिहेतवः ।

उक्त वार्तिकीकी व्याख्या इस प्रकार है कि दूसरे कर्तृवादी पण्डित जो भी यह कह रहे हैं कि पृथिवी, जल, तेज, वायु इस प्रकार चार जातिके अनित्य कार्यद्रव्योंको हम धर्मी बनाते हैं। क्योंकि उन अनित्य द्रव्योंका किसी बुद्धिमान् निमित्तहारा बनाया जाना ही विवादमें पढ़ा हुआ है। किन्तु फिर शाश्वत नित्य पांच द्रव्य तो कार्यक्रपसे विवादमस्त नहीं है। शब्दका समवायीकारण होकर गृहीत हो रहा नित्य द्रव्य आकाश इस प्रकार पक्ष नहीं किया गया है। अपना आत्मा स्व संवेध और दूसरोंका सुख, दुःख, आदिकरके अनुमान प्रमाणद्वारा जानने योग्य नित्य आत्माद्य्य भी बुद्धिमद्वेतुकपनाकरके विवादापच नहीं है। जेठापन, छोटापन, इन कालिक परत्व, अपराच आदिकरके अनुमान करने योग्य परीक्षकालद्रव्य भी नित्य है। अतः कर्तृसाधक

अनुमानके पक्षमें नहीं धरा गया है। अथवा दैशिक परत्व, अपरत्व, " इदमतः " यह इससे पूर्व है, अमुक यहांसे उत्तरमें हैं इत्यादि छिंगकरके अनुमानसे जानी गयी नित्य दिशा द्रव्यका भी पक्षमें नहीं प्रहण किया गया है। तथा " युगपञ्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो छिंगं " चक्षु आदि कारणोंकरके होनेपर भी युगपत् कई ज्ञानोंकी उत्पत्ति नहीं होनेके करके अनुमान किया गया नित्य हो रहा मन भी धर्मी नहीं किया गया है। मन अनन्ते हैं। घट, पट, बिन्दु, हिम, ज्वाला, अंगार, श्वास, व्यजनवात, आदिक कार्य द्रव्योक्तरके अनुमान प्रमाण द्वारा जान छिये गये प्रथिवीपरमाण, जलीय परमाण, तैजस-परमाणुयें, ये नित्य हो रहीं पृथिवी आदि चार जातिकी परमाणुयें भी धर्मी नहीं की गयी हैं। क्योंकि उन नित्य परमाणुओंको कर्तुजन्यपनके विवादमें प्रसितपना नहीं है । नित्य पदार्थोंको कोई भी पिड़त ईश्वरकृत नहीं मानता है तिस ही कारणसे यानी विवादापन नहीं होनेसे ही यह गी. यह गी यह भी बैसी ही गौ, इस प्रकारके अनुवृत्ति ज्ञानोंकरके अनुमान प्रमाण द्वारा जानने योग्य चौथा गोल द्रच्यत्व आदि सामान्य (जाति) पदार्थ भी इमने पक्षकोटिमें नहीं रखा है । तथा इन तन्तुओंमें पट है, इस घटमें रूप है इस प्रकार ससम्यन्त और प्रथमान्त पदोंका समाभिव्याहार होनेपर " इह इदं " इस प्रतीतिके द्वारा अनुमान करने योग्य समवाय पदार्थ भी धर्मी नहीं बनाया है जो कि "एक एव समबायस्तत्त्वंभावेन, अयुत्तिस्द्वानामाधार्याधारभूतानामिहेदं प्रत्ययहेतुः सम्बन्धः समवायः, नित्यसम्बन्धः सम्बायः '' इस ढंगसे समवाय नित्य माना गया है तथा "अन्त्यो नित्यद्रव्यवृत्तिर्विशेषः परिकीर्तितः" अन्तमें होनेवाले और नित्यद्रव्योंमें वर्त रहे तथा अत्यन्त व्यावृत्तिबुद्धिके कारण ऐसे विशेष पदार्थ तो नित्य हैं उनको हम ईश्वरजन्य थोडा ही मानते हैं। अर्थात्—घटका न्यावर्तक कपाल, कपालका व्यावर्तक उसके अवयव कपालिकायें, यों दूर चलकर पंचाणक, पुनः इसका व्यावर्तक चतुरणुक और चतुरणुकका भेदकारक त्र्यणुक एवं त्र्यणुकका व्यावर्तन करनेवाला अणुक है। बणकोंकी व्यावृत्ति परमाणुओंसे हो जाती है। किन्तु अनन्तानन्त परमाणुओंकी परस्परमें विशेषताओंको करनेवाळा एक एक परमाणुके साथ एक एक विशेष पदार्थ लगा दिया गया है। जो कि विशेष पदार्थ स्वतः व्यावृत्त है स्वपरप्रकाशक दीपकके समान स्वपरव्यावर्तक उसको अन्य विशेषोंकी अपेक्षा नहीं है। इस कारण विशेषको सबके अन्तमें ठहरा कर अन्त्य माना गया है वे अनन्तानन्त विशेष पदार्थ तो चतुर्विध अनन्त परमाणुओं और आकाश, काल, दिक, आत्मा, मन इन नित्य द्रव्योंमें वर्तते हैं । परस्परमें या अन्य पदार्थींसे हो रही अत्यन्त व्यावृत्ति बुद्धिके हेर्तमें विशेष पदार्थ हैं । नित्य पदार्थ हो रहे इन विशेषों को पक्षमें नहीं किया गया है ।

तथा गुणोऽप्यश्चाञ्चत एव रूपादिर्धर्मी न पुनः श्चाञ्चतोऽन्त्यविश्वेषैकार्यसमवेतः।परिमा-णैकत्वैकपृथवत्त्वगुरुत्वस्नेइसाळिळादिपरमाणुरूपरसस्पर्शादिळक्षणी नापि द्रवत्वममूर्तद्रव्यसंयोगी वा तदाधारेतरेतराभावो वा तस्याजुत्पत्तिरूपस्याविवादाष्यासितत्वात्।

वैशेषिक ही कहते जा रहे हैं कि तिसी प्रकार यानी उक्त नित्य द्रम्योंके समान नित्य गुण पदार्थ भी पक्ष नहीं किये गये हैं। गुण भी अनित्य ही घटरूप, इक्षरस, पुष्यगन्ध, अग्निस्पर्श, आदि धर्मी पकडे गये हैं। किन्तु फिर अन्त्य विशेषोंके साथ एकार्थ समवायसम्बन्ध करके वर्त रहे नित्य गुण पदार्थको धर्मी नहीं किया गया है। अर्थात--जिन दो गुणोंकी एक अर्थमें समवाय सम्बन्धसे वृत्ति होती है सहोदर भाइयोंके एकोदरत्व सम्बन्ध समान उन दो गुणोंका परस्परमें सम्बन्ध एकार्थ समवाय माना गया है । नित्य द्रञ्योंमें विशेष पदार्थ समवाय सम्बन्धसे रहता है । और वहां ही नित्य द्रव्यके गुण रहते हैं । अतः उन गुणोंमें और विशेष पदार्थमें परस्पर एकार्थ समवाय सम्बन्ध हुआ नित्य द्रव्यमें रहनेवाले नित्य गुणोंको बुद्धिमान् हेतुसे जन्य साध्य करनेपर पक्षमें नहीं धरा गया है। यहां इतना विशेष समझ छेना कि नित्य द्रव्योंके कई गुण अनित्य भी हैं। जैसे कि संसारी आत्माके ज्ञान, इच्छा, सुख, दु:ख, आदि गुण अनित्य हैं। आकाशका शब्दगुण अनित्य है। मनका संयोग गुण अनित्य है। नित्य द्रव्यके इन अनित्य गुणोंको तो पक्षकोटिमें डाल दिया गया है । जो गुण नित्य होकर नित्य द्रन्योंमें समवायसम्बन्धसे ठहर रहे हैं ऐसे परममहापरिमाण. आकाश, काल, आदिकी न्यारी न्यारी एकत्व संख्यायें, एक एक नित्य द्रव्येमें न्यारे न्यारे वर्त रहे पृथक्त गुण, जलकी परमाणुओंमें ठहर रहे गुरुत्व और स्नेहगुण तथा जल, तेज, वायुओंकी परमाणु-ओंमें पाये जा रहे रूप, रस, स्पर्श, आदि स्वरूप गुण तो धर्मी नहीं हैं। हां, धटमें रहनेवाले परिमाण, एकत्व संख्या, प्रथक्त्व, गुरुत्व, रूप, रस, आदि अनित्य गुण तो पक्षमें धर छिये गये हैं। अवयवी जलका स्नेह गुण भी अनित्य है। पीलुपाकवादी विद्वान् पृथिवीके परमाणुओंमें अग्निसंयोग द्वारा पाक होनेको स्वीकार करते हैं । अतः पृथिवीके परमाणुओं में पाये जानेवाले रूप, रस. आदि गुण अनित्य हैं । अतः ये पक्षकोटिमें हैं । तथा आद्य स्यन्दनका असम-वायी कारण हो रहा दबत्वगुण भी परमाणुओंमें वर्त रहा नित्य है । घृत. मीम, आदि कार्योको बनानेवाठी पृथिवी परमाणु या तैजस सुवर्णको बनानेवाठी तैजस परमाणुओं में अथवा सम्पूर्ण जळ परमाणुओं में पाया जानेवाळा द्रव्यत्व गुण नित्य है । हां कार्यद्रव्य होरहे लाख रंग, आदिको द्रवत्व गुण अनित्य हैं ।नित्य द्रवगुण तो पक्षकोटिमें नहीं है। तथा अमूर्त द्रव्योंका संयोग भी पक्ष नहीं है । क्योंकि आकाश, काल, दिक, आत्मा और मन इन अज-द्रव्योंका संयोग नित्य है। नित्य परमाणुगुणोंका संयोग तो अनित्य माना गया है। क्योंकि कारणवश विघट जाता है। अतः अमूर्त द्रव्योंके संयोगको छोडकर अन्य सम्पूर्ण संयोगोंको पक्ष बनाछो. इसी प्रकार उन आधारभूत अनित्य द्रव्योंमें वर्त रहा इतरेतराभाव भी नित्य है। कार्तिपय वैशेषिक पण्डित एक कर्मोद्भव, इयकर्गजन्य, विभागजन्य, इन तीनों प्रकारके विभागोंको अनित्य है। मानते हैं । किन्त संसारी आत्मामें चौदह गुण माने गये हैं। तथा " संख्यादिपञ्चकं बुद्धिरिच्छा बल्नोऽपि चेश्वरे ! परापरत्वे संख्यादि पञ्च वेगश्च मानसे ॥ '' इन कारिकाओं द्वारा नित्य द्रव्योंमें भी विभाग माना

गया है । परमाणुओंका विभाग मछे ही अनित्य होय किन्तु अमूर्त नित्य हच्योंका विभाग तो नित्य माना जायगा । एक बात यह विचारकी है कि, जब कि व्यापक नित्य हच्योंमें सर्वदा अछिद्र नित्य संयोग होरहा है तो किर " संयोगनाशको गुणो विभागः" ऐसे विभागगुणको वहां माननेमें जी हिचिकिचाता है । जैन जन विभाग या पृथक्त गुणके प्रयोजनको अन्योन्याभावसे साध छेते हैं । किन्तु हम वैशेषिकोंके यहां अभाव पदार्थसे न्यारे पृथक्त और विभाग दो भावात्मक गुण माने गये हैं अतः नित्य द्व्योंमें पाया जा रहा अन्योन्याभाव तो पक्षमें परिगणित नहीं है । क्योंकि इस अन्योन्याभावकी कारणोंसे उत्पत्ति नहीं होरही है । नित्य स्वरूप वह अन्योन्याभाव तो कर्तृजन्य या कर्त्र-जन्यरूप करके विवादमसित नहीं है । सब कोई पण्डित नित्य, अन्योन्याभावको कर्त्रजन्य अमीष्ट कर रहे हैं ।

तथा किया धर्मिणी विनश्वरी परिस्पन्दलक्षणोत्क्षेपणादिन पुनर्धात्वर्थलक्षणा भावनादिः काचिकित्या तस्या अपि विवादापक्रत्वाभावात् । तस्य च बुद्धिमान् हेतुरस्तीति यदा साध्य-स्थितो भवत् तदा न कार्यत्वं स्वेष्टविपरीतं साधयेत् स्वेष्टस्यैव सर्वथा बुद्धिमत्कारणकत्वस्य साधनात् । सर्वथा विवक्षितस्यापि तस्यासिद्धत्वं च नोपपत्तिमदिति तदेतत्सर्वमसंबद्धम् । कार्य-कारणयोर्भेदैकान्तामसिद्धेः कथिन्दैवयमतिपत्तः। सर्वस्य तद्भेदैकान्तसाधनस्यानेकान्तग्राहिणा प्रभाणेन वाधितविषयत्वात् कालात्ययापदिष्टत्वव्यवस्थितेः ।

बैशेषिक है। कहे जारहे हैं कि तिस ही प्रकार हलन, चलन, अमण, ऊर्घ्यामन, आदि परिस्तरूप उन्होपण आदि विनाशशील कियायें भी पक्ष हैं यानी पक्षकोटिमें घरी गयी हैं। बन्धको एक देशसे देशान्तरमें करादेनेवालीं कियायें तो अनित्य ही हैं किन्तु फिर याजे, पिचे, आदि घातुओंके अर्धस्वरूप भावना, नियोग, आदि कोई कोई नित्य कियायें तो पद्म नहीं की गयी हैं। क्योंकि मीमांसक मतानुसार इन भावना आदि धाल्वर्ध कियाओंको भी यहां प्रकरणमें विवादापन्नपना नहीं है। सामान्य, विशेष, समवाय तो नित्य पदार्थ हैं। अभावों में प्रागमाय अनादि है। अतः वह भी कर्तृजन्यत्वेन विवादपित नहीं है। हां, ध्वंस नामका अभाव अनित्य है। उसको पक्षमें डाल लो। तादाल्य-सम्बन्धाविष्क्रिन्तप्रतियोगिताकोऽन्योन्याभावः और त्रैकालिकसंसर्गाविष्क्रिन्तप्रतियोगिताको अत्यन्तामावः ये दो अभाव एक प्रकार नित्य ही हैं। इस प्रकार पक्षकोटिमें डाले गये अनित्य द्व्य, गुण, कियायें, और व्यंसका हेतु कोई बुद्धिमान् निमित्तकारण है। इस प्रकार जब साध्य कोटिमें व्यवस्थित किया जावेगा तब हमारा कार्यत्व हेतु हमारे अभीष्ट साध्य हो रहे ईश्वरजन्यत्वसे विपरीत साध्यको नहीं साध सकेगा। क्योंकि सबको इष्ट हो रहे सर्वथा बुद्धिमान् कारणसे जन्यत्वका ही साधन किया जा रहा है। अतः हमारा कार्यत्व हेतु विरुद्ध नहीं है। आप जैन त्रेपनवीं कारिकामें उठाये हुये दोषको लोग लो। तथा यदि कार्यत्वका वर्ष सर्वथा कार्यत्व भी विश्वा प्राप्त कर लिया जाय तो भी बाब

नवीं कारिका अनुसार उस कार्यत्वको असिद्ध हेत्वाभासपना नहीं बननेवाला है। क्योंकि इम पक्ष ई रहे अनित्य पदार्थीमें सर्वथा कार्यपना वर्त रहा मानते हैं। " यदप्याद्वः " से यहांतक वैशेषिक अपने पक्षको इद करते हुये कह रहे हैं। अब आचार्य कहते हैं कि यह वैशेषिकोंका सम्पूर्ण कथन पुर्वापर संगतिस रहित होता हुआ असम्बद्ध है क्योंकि कार्य और कारणमें वैशेषिकोंके यहां अमीध किये गये एकान्त रूपसे भेदकी प्रमाणोंसे सिद्धि नहीं हो सकी है क्योंकि कार्य और कारणके कथं चित एकपनकी सबको प्रमाणों द्वारा प्रतिपत्ति हो रही है। उन कार्य और कारणके एकान्तरूपरे भेदको साधनेवाछे सम्पूर्ण ज्ञानोंके विषयमें अनेकान्तके प्राहक प्रमाणों करके बाधा उपस्थित कर दं जाती है। अतः मेदको साधनेवाछे हेतुको बाधित हेत्वामासपना व्यवस्थित कर दिया जाता है। जब कि घट, ज्ञान, शब्द, आदिके कारण होरहे परमाणु , आत्मा, आकारा, आदि कारण किसी भी बुद्धिमान्से जन्य नहीं हैं तो उनसे अभिन होरहे कार्य भी सर्वथा बुद्धिमान्से जन्य ही होय यह एकान्त नहीं किया जासकता है। अतः कार्यत्व हेतु बाधितहेत्वाभास है। तुम वैशेषिकोंने अनित्य द्रव्य, गुण, कर्मीको पक्षकोटिमें धरा और नित्य द्रव्य, गुण, सामान्य, विरोष, समवाय, और कित पय अभावोंको पक्ष नहीं बनाया भेदकी फुस फुसी भित्तिपर खडे होकर यह तुम्हारा परिश्रम करना पतनका हेतु समझा जायगा " तस्माद् धीरजायत " " आदावपो सृजत " इत्यादि वेदानुसार वाक्यो द्वारा कातिपय स्पृतिकार और पुराणकार विद्वानोंने आकाश, जल, आदिकी समूल सृष्टि स्वीकार की है। कोई पण्डित ईरवरके शरीर मानते हैं। अन्तार छेना स्वीकार करते हैं। अन्य पण्डित ईस्वरको अशरीर अकृगीकार करते हैं। ऐसी दशामें उक्त कथन पूर्वापरसंगतिसे शून्य होजाता है। शब्दको (विशेषतया वैदिक शन्दोंको) नित्य माननेवाळ मीमांसकोंकी शन्दभावना, आत्मभावनाको स्वीकार कर छेते हो और कदाचित वैशेषिक होकर शब्दको सर्वथा अनित्य मान बैठते हो संयोग या विभाग को आनित्य मानकर भी क्वचित् नित्य मान लिया गया है, परमाणुमें नहीं पाये जानेवाले गुरुत्वक। बोह्य बळात्कारसे परमाणुपर ठादा गया है। नित्य इञ्योंमें परस्पर भेद करानेके छिये अनन्त विशेष पदार्थीका मानना निरर्थक है। वैशेषिकोंकी अभीष्ट पदार्थ प्रतिपादक प्रणालीमें अनेक दोष आते हैं उपादान कारण और उपादेयका सर्वथा भेद माने रहना कोरा मिध्याभिनिवेश है।

नतु च कार्यकारणयोरेकस्य कथंचिकिश्रयात् कार्यद्रव्यस्य कारणद्रव्याद्भेदैकान्तो मासूत् गुणस्य चानित्यस्य कर्मणोपि च तत्कार्यत्वाविश्वेषात् सद्दश्यरिणामळक्षणस्य सामान्यस्य विसद्दश्यरिणामळक्षणस्य विश्वेषस्य चात्यापरविकल्पस्य समवायस्य चाऽविष्वग्भावळक्षणस्य द्रव्यकार्यत्वात् कथंचिचतोऽनन्यत्वमस्तु नित्याचु गुणाद्वणी भिक् एव तयोः कार्यकारणभावाभाषादिति मन्यमानं मत्याद ।

वैशोषक अपनी नीतिका प्रचार करनेके छिये पुनरिप अवधारण करते हैं कि कार्य और कारणके क्यांचित् एकपनका निश्चय हो जानेसे घट, पट, आदि कार्यहर्णोका मृतिका, तन्तु आदि

कारणदर्व्यासे एकान्तमेद नहीं होओ तथा अनित्यगुण और कियाओं का भी अपने समवायीकारण इन्य से एकान्त भेद नहीं होवे क्योंकि उन द्रव्योंका उपादेयरूपसे कार्यपना गुण कमीमें विषमान है। दम्यकी उपादेयता और गुण कियाओंकी उपादेयतामें कोई अन्तर नहीं है एवं तुम जैनोंके यहां माने गये सदृशपरिणामस्वरूप सामान्य पदार्यका और विसदृशपरिणामस्वरूप विशेषका जो कि इम वैशोषिकोंके यहां अन्त्य विशेष और अपर विशेष दो प्रकारका माना गया है। अपने कारण द्रव्यके साथ भटे ही सर्वथा भेद नहीं होओ एवं प्रथमाव नहीं होका तादाल्य सम्बन्धस्वरूप हो रहे सम-वायका भी अपने कारणके साथ सर्वधा भेद नहीं सही क्योंकि उक्त अनित्य पदार्थीको द्रव्यका कार्य होनेसे उस कारणसे कथंचित अभिक्यना बना रही कोई क्षति नहीं है। किन्तु नित्य गुणसे तो गुणी द्रव्य भिन्न ही होगा । क्योंकि उन नित्य गुण और नित्य गुणीमें कार्यकारणभाव नहीं है । अर्थात्—आप जैन कार्य द्रव्यों (पर्यायों) अनित्यगुण अनित्य क्रियाओं को जैसा मानते हैं तदनुसार कार्य और कारणका कथंचित अभेद अच्छा है " सहशापीरणामस्तिर्यकुसामान्यं " " अर्थान्तरगतो विसदृशपरिणामो व्यतिरेक्तविशेष: " ऐसे सामान्य विशेषोंका भी अपने कारणोंके साथ कथंचित् अभेद हमें अच्छा दीखता है। वैशेषिक्षोंने विशेषके दो भेद माने हैं एक अन्तमें ठहरनेवाला नित्यद्रव्यवृत्ति निरोष है दूसरा सत्ता या द्रव्यत्वके व्याप्य होरही पृथिवीत्व, घटत्व, आदि जातियों या विरोष द्रव्य, गुण, आदिको दूसरा अपर विशेष इष्ट किया है अस्तु—" नयोपनयैकान्तानां त्रिकालानां अविभाड्भावसम्बन्धो द्रव्यमेकमनेकधा " यो अपृथरभाव (तादाल्य) स्वरूप समवाय सम्बन्ध भी क्यांचित अभिन बन जाओ हमारी कोई क्षति नहीं है। किन्त नित्य गुण परममहापरिमाण आदिसे आकाश आदि गुणवान् द्रव्योंको भिन्नही मानना आवश्यक है। उपादान कारण स्वयं उपादेयरूप परिणत होय तब तो अमेद मान छेना अच्छा जचता है किन्तु जहां परिणाम परिणामीभाव नहीं है गुण गुणीका तत्त्वान्तर रूपसे भेद अक्षुण्ण बना रहो । अतः आप हमारे सर्वथा भेदका सहारा पाकर बाधाओंको नहीं उठा सकते हैं इस प्रकार कोई वैशेषिक पण्डित मान रहे हैं उनके प्रति श्री आचार्य महाराज उत्तर वार्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

नैकांतभेदमृत्सिद्धो नित्यादिष गुणाद्गुणी । द्रवस्थानादिपर्यन्तपरिणामात तथा स्थितेः ॥ ५८ ॥

नित्य होरहे भी गुणसे सर्वथा मेदको धार रहा गुणी द्रव्य सिद्ध नहीं है क्योंकि अनादि कालसे अनन्त कालपर्यन्त सहभावी परिणामोंसे द्रव्यकी तिस प्रकार व्यवस्था होरही है। अर्थाद अखण्ड द्रव्यके नियत कार्यो द्वारा अनुमित किये गये अनन्त गुण अविष्यामावरूपसे द्रव्यमें वर्त रहे हैं जबसे द्रव्य है तभीसे वे गुण हैं द्रव्यके सहभावी परिणाम गुण माने गये हैं। अतः नित्य गुणोंके साथ नित्य द्रव्यका अभिनयना सुक्रम है प्रत्युत अनित्य गुण, क्रियाओं, सहसापरिणाम,

आदिका अपने द्रव्यके साथ अमेद साधना कठिन कसाला है क्योंकि नील बटका ही अग्निसंयोगसे लाख घट होजाता है आत्मा बना रहता है उसका गुण या पर्याय होरहा ज्ञान निघट जाता है। नर्तकी अनेक शरीरिक्रियाओंको विनाशती, उपजावती, घण्टों तक बहकी वही नाचती रहता है, सामान्य या विशेषोंमें भी सर्वथा अभेद दुर्लभ है। अतः नित्य गुण और गुणी द्रव्यका सर्वथा भेद माने जाना वैशेषिकोंका असत् आग्रह है।

न केवलमनित्याट्गुणात्कर्मादेश्व गुणी जीवादिद्रव्यपदार्थः सर्वया भिन्नो न सिद्धः । किं तिर्दे नित्यादिष गुणाइक्षेनादिसामान्यात्र सर्वथा भिन्नस्तस्य तथानादिपर्यन्तपरिणामात्तथा व्यवस्थितत्वाज्जीवत्वादिवत् । कथंचित्तादात्म्याभावे तस्य तद्गुणत्वविरोधाद्वव्यांतरगुणवत् ।

अनित्य होरहे गुणसे अथवा कर्मसामान्य आदिसे सर्वथा मित्र होरहे गुणवान जीव, पुत्रल आदिक ब्रन्य पदार्थ ही सिद्ध नहीं होसकते हैं केवल इतना ही नहीं है तो और क्या क्या है! इसका उत्तर यह है कि नित्य ब्रन्थके अनुनिवी होते हुये नित्य हो रहे दर्शन, चारित्र, वीर्य, रूप, रस, आदि सामान्य गुणोंसे भी जीवादिक पदार्थ सर्वथा मित्र नहीं हैं। जैसा कि सर्वथा भेदको वैशेषिक मान बैठे हैं। क्योंकि तिस प्रकार ब्रन्थ और गुणका तदात्मकपने करके अनादिसे अनन्तकाल तक परिणाम हो रहा है। अतः तिस प्रकार सर्वथा मिन्नता नहीं होते हुये कथेंचित अभेद व्यवस्थित हो रहा है। जैसे कि जीवब्र्व्यमें चैतन्य या ब्रन्य प्राण अथवा भावप्राणोंका धारण करा देनेवाल स्वरूप जीवत्व गुण या पुद्रलमें रूप, रस, आदिके साहचर्य परिणामका प्रयोजक पुद्रल्ख इसी प्रकार आकाश आदि ब्रन्थोंमें अवगाहप्रयोजक आकाशत्व आदि गुण उपजीव्य उपजीवक रूपसे तदात्मक होते हुये कथेंचित् अभिन्न हैं। यदि गुण और गुणींमें कथेंचित् तदात्मकपना नहीं माना जायगा। तो उस प्रकृत गुणको नियत गुणींके गुण हो जानेपनका विरोध हो जायगा जैसे कि अन्य ब्रन्थोंके गुण इस प्रकृरण प्राप्त ब्रन्थके गुण नहीं माने गये हैं। आत्मासे भिन्न पड़ा हुआ इपया या पैसा जैसे किसी नियत व्यक्तिका नहीं है। बजाज, सराफ, पंसारी, हल्लाई, मृत्य, बालक, सभीका हो सकता है उसी प्रकार आत्मासे भिन्न पड़ा हुआ झान गुण आकाशका या घटका भी हो जाय तो वैशेषिकोंके यहा कीन रोकनेवाला है हो, अभेद पक्षमें यह आक्षेप नहीं चल सकता है।

तत्र समवायात्तस्य तद्गुणत्विमिति चेषा, समवायस्य समवायितादात्म्यस्य प्रसाधि-तत्वात् । ततः सर्वस्य विवादाष्यासितस्य तजुकरणभुवनादेः सर्वया बुद्धिमत्कारणत्वे साध्ये कथंचित्कार्यत्वं साधनं स्वष्टविपरीतं कथंचिद्बुद्धिमिषिपत्वं मसाधयदेवेति विरुद्धं भवत् । सर्वयात्र कार्यत्वमसिद्धिमिति तुष्यरिहरमेवैतदद्षुषणद्वयं ।

यदि त्रेशेषिक यों कहें कि उस नियंत गुणी ब्रन्यमें उस गुणका समवाय सम्बन्ध हो रहा है । अर्थात्—आत्मामें ज्ञानका समवाय है अतः ज्ञान

गुण आत्माका है और शन्दका आकाशमें समनाय है इस कारण आकाश गुण शन्द है तथा घट पट, आदिमें रूप, रस, आदिका समनाय होनेसे वे उनके गुण नियत हो रहे हैं। जब कि जगत अपने अपने शरीर पुत्र, कलत्र, धन, वल, पशु, आदि कुछ संयुक्त हो रहे किन्तु बहुसाग ना संयक्त हो रहे भिन्न पदार्थोंकी भी नियत व्यवस्था हो रही है। कोई भी दसरोंकी सम्पत्तिपर अधिक नहीं जमा सकता है तो फिर अयुत्तिसद्ध पदार्थोंके समवाय सम्बन्धसे नियत हो रहे प्रकृत गुणींव उन नियत द्रल्योंके गुण हो जानेका कौन विरोध कर सकता है ? । यदि समवेत गण ही दूसरे द्रव्य करके छीनछिये जांय तो ऐसी पोलकी दशामें संयुक्त या असंयुक्त वस्त, भूषण, गृह, उपवन, गोधन आदिको चाहे कोई भी दिन दहाडे छट सकता है। राजा या पंचायतका प्रवन्ध करना धूळमें मिछ जायगा प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना क्योंकि समनायी पदार्थीमें तदात्मकपनको प्राप्त हो रहे तादात्म सम्बन्धको ही समनाय सम्बन्ध बहुत अच्छा साधा जा चुका है। जब समनायका अर्थ कर्यकि। तादाल्य है तो कार्य और कारणका एकान्त भेद प्रसिद्ध नहीं हो सका । किन्तु कार्य और कारणो क्यंचित अभेद प्रसिद्ध हुआ । जब कि आत्मा, परमाणुर्ये, आदिक कारण ईश्वरकृत नहीं है तो इनरं करांचित अभिन हो रहे बान, घट, शरीर, मुक्न, आदि कार्य भी सर्वधा ईव्यकृत नहीं है । हां कथंचित बुद्धिमान्से किये गये भछे ही ये मान छिये जाय तिस कारणसे विवादमें प्राप्त हो रहे शरीर. इन्द्रियां, भुवन, द्वीप, पर्वत, आदि सम्भूणे कार्य पदार्थीका बुद्धिमान् कारणद्वारा सर्वथा जन्य पना साध्य करनेपर प्रयुक्त किया गया कथंचित कार्यपना हेत अपने इष्ट साध्यक्षे विपरीत बुद्धिमान निमित्तद्वारा कथंचित् जन्यपनकी ही बढिया सिद्धि करा देगा इस प्रकार तुम वैशेषिकोंका कार्यल हेत विरुद्ध हेत्वाभास हो जायगा और इन शरीर, इन्द्रियों, मुक्त आदिमें सर्वथा कार्यपना हेतु तो असिद्ध हेत्वाभास है इस प्रकार कयंचित कार्यत्व और सर्वथा कार्यत्वके विकल्प अनुसार तम्हारे ऊपः उठाये गये ये विरुद्ध और असिद्ध दोनों दूषण कठिनतासे भी परिहार करने योग्य नहीं हैं उन्हीं के इमने बावनवीं और त्रेपनवीं वार्त्तिकमें दिखा दिया है।

संप्रति साधनांतरमन्य द्षयभाह ।

अब इस समय प्रन्थकार उन कर्तृवादी वैशोषिकोंके अन्य साधनोंका अनुवाद कर उनवे सिद्धान्तोंमें दूषण दिखळाते हुये अप्रिम वार्तिकोंको कह रहे हैं।

विवादाध्यासितात्मानि करणादीनि केनचित् । कत्रीधिष्ठतवृत्तीनि करणादित्वतो यथा ॥ ५९ ॥ वास्यादीनि च तत्कर्तृसामान्ये सिद्धसाधनं । साध्ये कर्त्विशेषे तु साध्यश्चन्यं निद्शनम् ॥ ६० ॥ शरीर, मुक्न, आदिके विवादमें प्राप्त हो रहे स्वरूप करण इन्द्रियां, अदृष्ट, परमाणु, आदिक पदार्थ (पक्ष) किसी एक कर्ता करके अधिष्ठित हो रहे सन्ते प्रवर्तते हैं (साध्य दल) करण आदिपना होनेसे (हेतु) जैसे कि बस्ला, ह्योदा, मोंगरा, लेखनी, स्वी, लेनी, आदिक करण किसी न किसी बदर्ड, सुनार, घोबी, लेखक, स्वीकार, मिली, आदि कर्ताओंसे अधिष्ठित होकर स्वयोग्य कियाओंमें वर्त रहे हैं । आचार्य कहते हैं कि इस अनुमान द्वारा यदि सामान्यरूपसे उनके अधिष्ठाता चाहे किसी भी कर्ताको साधा जायगा तब तो तुम वैशेषिकोंके ऊपर सिद्धसाधन दोष आता है क्योंकि जिस सिद्धान्तको हम स्वीकार कर रहे हैं उसकी पुनः सिद्धि कराना व्यर्थ है । सत्रहवीं वार्त्तिकमें हम पाईले भी इस बातको कह चुके हैं । हां, यदि विशेषरूपसे नित्य, व्यापक, अशरीर, ईत्वर कर्ता करके अधिष्ठितपना यदि साध्य किया जायगा तब तो उदाहरण साध्यसे शून्य हो जायगा वस्ला आदि कारणोंके अधिष्ठाता बन रहे बर्दा लहार, आदिक कर्ता तो अशरीर या सर्वज्ञ नहीं हैं । अर्थात्—तुम्हारा उदाहरण साध्यविकल दोषसे मस्त हुआ ।

विवादापश्रस्थभावानि करणाधिकरणादीनि केनचित् कर्जाधिष्ठितानि वर्तते करणाधि-करणत्वाद्वास्यादिवत् । योऽसौ कर्ता स मद्देश्यर इति कक्षित्, तस्य कर्तृसामान्ये साध्ये सिद्ध-साधनं । कर्तृविश्चेषे द्व नित्यसर्वगतामूर्तसर्वश्चादिग्रणोपेते साध्ये साध्यविकलश्चदाहरणं, वास्या-देरसर्वगतादिक्ष्यतक्षादिकर्जिधिष्ठतस्य मद्दक्तिनात् ।

वैशेषिकोंका अनुमान यों है कि विवादमें प्राप्त हो रहे स्वमाववाले करण, अधिकरण, सम्प्रदान आदि कारक (पक्ष) किसी न किसी चेतन कर्चांसे अधिष्ठित हो रहे सन्ते किया करनेमें प्रवर्त रहे हैं (साध्य) क्योंकि वे करण या अधिकरण आदि हैं (हेतु) वसूला, आरा, आदिके समान (अन्वयद्यान्त)। वह जो इनका अधिष्ठायक कर्चा है वह हमारे यहां महेक्कर माना गया है। यहांतक कोई कर्तृवादी कह रहा है। प्रन्यकार कहते हैं कि उस कर्तृवादीके यहां सामान्य रूपके कर्चांको साध्य करनेपर सिद्धसाधन दोष आता है। हां, नित्य, व्यापक, अमूर्त, सर्वज्ञ, निकर्मा, सदामुक्त आदि गुणोंसे सिहत हो रहे विशेष कर्चांको साध्य करनेपर तो तुम्हारा दिया गया उदाहरण साध्यसे रीता हो जायगा क्योंकि वस्त्वा आदिकी असर्वगत, अल्पज्ञ, सकर्मा आदि स्वरूप बढई आदि कर्चांओंसे अधिष्ठित हो रहों की प्रवृत्तियां देखीं जा रहीं हैं। अतः तुम्हारा अनुमान दृषित है।

तत्सामान्यविशेषस्य साध्यत्वाचेदद्षणं । सोऽपि सिद्धाखिळव्यक्तिव्यापी कश्चित्यसिद्धयति ॥ ६१ ॥ देशकाळविशेषाविष्ठमागिनव्यक्तिनिष्ठतं । साष्यते धिमसामान्यं धूमामासिद्धभेदगं ॥ ६२ ॥ यदि वैशेषिक यों कहें कि हम केवल सामान्य या विशेष कर्ताको साष्यकुक्षि नहीं बनाते हैं। किन्तु उस कर्तापन सामान्य और विशेष दोनोंसे अधिष्ठित होनेको साष्य करते हैं। अतः हमारे उपर कोई दूषम नहीं आता है। जैन पण्डित जैसे आपति पढनेपर सामान्य विशेषात्मक दुर्ग (किल या गढ) का आश्रय के लेते हैं उसी प्रकार हमने भी सामान्य, विशेष, कर्ताको साधनेका ढंग निकाला है। आचार्य कहते हैं कि वह सामान्य विशेष रूप कर्ता भी सम्पूर्ण व्यक्तियों में व्यापक हो रहा ही कोई न कोई प्रसिद्ध हो सकता है। धूम हेतुसे जो अग्निसामान्य साधा जाता है वह अग्निसामान्य सम्पूर्ण देशविशेष और कालविशेषों परिनिष्ठ हो रहीं अग्निव्यक्तियों में प्रविष्ट हो रहा है। जो सामान्य अपने विशेषों प्राप्त हो रहा सिद्ध नहीं है वह अग्निसामान्य तो धूमकेतुसे नहीं साधा जाता है उसी प्रकार यहा भी कर्तुसामान्यकी यावत् कर्तुविशेषों प्रतिष्ठित हो रहे की ही सिद्धि हो सकती है किन्तु जब अश्ररीर, व्यापक, नित्य, ईश्वर कोई कर्त्तीवशेष अभी तक सिद्ध ही नहीं हुआ है तो सश्रीर, अन्यक्क, संसारी, अनेक कर्त्ताविशेषों ही वह कर्तुसामान्य ठहर रहा साधा जा सकता है। अतः तुम्हारे अभीष्ट हो रहे कर्त्ता, ईश्वरकी सिद्धि नहीं हुई। सिद्ध हो रहे सामान्य विशेष आत्मक संसारी जीवस्वरूप कर्त्ताओंसे अधिष्ठितपनकी सिद्धि हो जानेसे तुम्हारे उपर सिद्ध-साधन दोष तदवस्थ रहा।

न करणादिधर्मिणः करणादित्वेन हेतुना कर्तृसामान्याधिष्ठितश्चत्तित्वं साध्यते, नापि कर्तृिविश्वेषाधिष्ठितश्चत्तित्वं येनोक्तद्षणं स्यात् । किं तिर्हे १ कर्तृसामान्यविशेषाधिष्ठितत्वं साध्यते, रूपोपल्रब्ध्यादिक्रियाणां क्रियात्वेन करणसामान्यविशेषाधिष्ठितत्ववत् । न हि तासां करणसामान्याधिष्ठितत्वं साध्यं, सिद्धसाधनापत्तेः । नाप्यमूर्तत्वादिधर्माधारकरणविशेषाधिष्ठितत्वं, विच्छिदिक्रियाद्यदाहरणस्य साध्यविकल्रत्वप्रसंगात् । तस्य मूर्तत्वादिधर्माधारदात्रा-दिकरणाधिष्ठितस्य दर्शनात् ।

वैशेषिक मान रहे हैं कि करण, अधिकरण, कारक आदि धर्मियोंकी सामान्य रूपसे कर्ताद्वारा अधिष्ठित होकर वृत्ति होनेकी हम करण आदिकपन हेतु करके नहीं साध रहे हैं और उनसठवाँ वार्तिक द्वारा करण आदि पक्षमें विशेषरूप करके कर्ताद्वारा अधिष्ठित होरही वृत्तताको भी हम नहीं साधते हैं जिससे कि आप जैनों द्वारा साठवीं वार्तिकमें कहे जाचुके दूषण हमारे ऊपर होजाय तो हम वैशेषिक क्या साधते हैं ! इसका उत्तर यह है कि सामान्य और विशेषोंसे आक्रान्त होरहे कर्तासे अधिष्ठितपना कारण आदिमें साधा जा रहा है जैसे कि छिदिकियाका दृष्टान्त देकर रूपकी उपलब्धि या रसकी इसि आदि कियाओंका कियापन हेतु. करके सामान्य विशेषाकान्त करणसे अधिष्ठितपना भी हम वैशेषिक नहीं साधा जाता है, देखिये उन क्रियाओंका सामान्य करणसे अधिष्ठितपना साधनपर हमारे ऊपर

सिद्धसाधन दोक्की आपत्ति होजाती है। कोई मी किया किसी न किसी सामान्यकरणसे होती ही है किन्तु हम अतीन्द्रिय, इन्द्रियोंकी सिद्धि करनेके लिये तत्पर हैं। सामान्य करणकी साध्य करनेपर ती प्रतिवादी कह सकता है कि प्रदीप, आखोक, उपनेत्र, (चन्मा) अंजन, आदि करणों करके रूपकी उपलब्ध होना हमारे यहां पहिलेसे ही सिद्ध है यों सिद्धसाधन दोष उठाया जा सकता है तथा अमूर्तत्व, अतीन्द्रियत्व, आदि धर्मीका आधार हो रहे विशेषाकान्त करणकरके अधिष्ठितपना भी हम नहीं साथ रहे हैं जिससे कि विच्छेद या छेदन, भेदन, किया आदि उदाहरणोंको साध्यरहितपनका प्रसंग हो जाय क्योंकि उदाहरण हो रहे उन छिदि, भिदि, आदि क्रियाओंका मूर्तत्व, इन्द्रियप्राद्यत्व आदि धर्मीके आधार हो रहे दांतुआ, हेंसिया, दरेंता आदि करणोंसे अधिष्ठित हो रहापन देखा जाता है। अर्थात्—हम वैरोषिक चक्षः, रतना, घाण, आदिक परोक्ष इन्द्रियोंकी सिद्धि करनेके छिये जो अनुमानप्रमाण कहते हैं उसमें दिये गये कियात्वहेतका सामान्यविशेषाक्रान्त करणों करके अधिष्ठितपन साधा जाता है। रूपइति, रसइति, आदि क्रियार्ये तो अतीन्द्रिय मूर्त या अल्पपरिमाणवाळे तथा शन्दसे इतर उद्भूत विशेष गुर्णोका अनाश्रय हो रहीं चक्षु, रसना, आदि इन्द्रियनामक करणोंसे अधिष्ठित सध जायगीं और सुखोत्पत्ति, अनुमिति आदि कियार्थे अमूर्तत्व, ज्यापकद्रव्य समवेतत्व आदि धर्मीको धारनेवाले अदृष्ट. व्याप्तिज्ञान आदि करणोंपे अधिष्ठित हो रही सध जायगी तथा विशेष छिदि, भिदि, आदि क्रियायें तो मूर्तत्व, गुरुत्व, प्रत्यक्षयोग्यत्व आदि धर्मीके आश्रय हो रहे वसूछा. चाकू, चक्की, आदि करणों द्वारा निष्पन्न हो रही सध जायगी । अतः साध्यकोटिमें सामान्य विशेष करणते अधिष्ठितपना जैसे कियाओंमें कियात्व हेत्रसे साधा जाता है उसी प्रकार करण आदि पक्षमें कर्तसामान्य विशेषसे अधिष्ठितपनको करण आदि पन हेत् करके हम वैशेषिक साध रहे हैं।

यथा वा लौकिकपरीक्षकप्रसिद्धं धूमादम्त्यतुमाने सामान्यविशेषः साध्यते तथात्रापी-त्यद्षणमेव, अन्यथा सर्वातुमानोच्छेदप्रसंगादिति मन्यमानस्यापि सोपि कर्तृसामान्यविशेषः मसिद्धाखिळकर्तृच्यक्तिच्यापी कश्चित् सिध्यति न पुनरिष्ट्यविशेषच्यापी। न समसिद्धागिन सामान्यं केनचित्साध्यते देशकालविशेषाविष्ठभागिनव्यक्तिनिष्ठितस्यैव तस्य साधियतुं शक्यत्वादन्यथा नित्यसर्वगतामूर्वागिनसाधनस्यापि प्रसंगात्।

वैशोषिक ही कहें जा रहे हैं कि अकेल सामान्य या अकेल विशेषकी साध्यकोटिमें न धर कर सामान्य विशेष दोनोंकी सामान्यरूपसे निविष्ट करनेका एक दृष्टान्त यह भी है कि जिस प्रकार धूमद्वारा हुये अभिके लीकिक या परीक्षक पुरुषोंके यहां प्रसिद्ध हो रहे अनुमानमें सामान्यिवशेषको ही साथा जाता है। तिश्वी प्रकार हमारे '' करणादीनि कर्जिशितवृत्तीनि करणादित्वात् '' इस अनु-मानमें भी यों सामान्य विशेषको साध्य करनेपर कोई भी दूषण नहीं आता है। अन्यथा सभी अनुमान नोंके उच्लेदका प्रसंग हो आयगा। अर्थात् बिस्मान् धूमात् इस प्रसिद्ध अनुमानमें यदि सामान्य

अग्निको साध्य किया जाय तब तो सिद्धसाधन दोष है। क्योंकि अग्निसामान्य तो पहिलेस ही सिद्ध है व्यक्तिकानदारा अग्निसामान्य जाना जा चुका है। यहां यदि अग्निविशेषको साधा जायगा तो महा-नसमें पर्वतीय पत्ते सम्बन्धी या वांस सम्बन्धी अग्निके नहीं होनेसे दृष्टान्त साध्यविकछ हो जायगा विशेष अभिको साध्य करनेपर हेत व्यभिचारी भी हो जाता है। जैनोंके दोष उठानेका यही उंग रहा तो सभी अनुमानोंका जगत्से उच्छेर हो जायगा चार्वाकमत फैल जायगा । अतः सामान्यविशेषको साध्यकोटिमें धरकर हमारा अनुमान है। अब आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार मान रहे वैशेषिकके यहां भी वह कत्तीका सामान्य विशेष भी प्रसिद्ध हो रहीं सम्पूर्ण कत्ती व्यक्तियोंमें व्यापक हो रहा ही कोई सिद्ध हो जायगा । किन्तु फिर तुम्हारे घरमें ही अभीष्ट हो रहे अप्रसिद्ध विशेष कर्तांच्यक्तिमें स्यापक मान छिया गया तो नहीं सिद्ध हो सकता है। जैसे कि नीव, बबूछ, अमरूद, वट, आदि प्रासिद्ध विशेष व्यक्तियोंमें वर्त रहा कुक्षत्व नामका सामान्य विशेष तो मानने योग्य है। किन्त घोडा. पहरा. जुता, टोपी. खाट, दीपक, आदि प्रसिद्ध न्यक्तियोंमें या खरविषाण आदि अप्रसिद्ध न्यक्तियोंमें कक्षत्व नामका सामान्यविशेष नहीं साधा जा सकता है। अप्रसिद्ध हो रही। अग्नियोंमें ठहर रहा मान किया गया अग्निसामान्य तो किसी भी विचारशील विद्वान करके नहीं साधा जाता है अन्यया शीतल, नीरूप, अदाहक अग्निकी भी धूमहेत्रसे सिद्धि वन बैठेगी । किन्त देशविशेष या कालविशेष अथवा आकारविशेषोंसे परिमित हो रहीं प्रसिद्ध अभिन्यक्तियोंमें निष्ठित हो रहे ही उस अभिसमान्यविशेष का साधन किया जा सकता है। अन्यथा यानी अप्रसिद्ध अलीक, अग्निके सामान्यविशेषको यदि साधा जायगा तो नित्य, व्यापक, अमूर्त, गुरु, अप्निके क्षिद्ध हो जानेका भी प्रक्षंग होगा। द्रव्यत्व या सत्ताकी अपेक्षा अफ्रिल धर्म उनका न्याप्य हो रहा निशेष है और सम्पूर्ण अफ्रिन्यक्तियोंकी अपेक्षा अफ्रिल जाति व्यापक हो रही सामान्य है इसी प्रकार द्रव्यत्वकी अपेक्षा तो विशेष हो रहा और आन्न. अम-रूद आदि प्रसिद्ध न्यक्तियोंकी अपेक्षा सामान्य हो रहा बृक्षत्व धर्म भी सामान्यविशेष है ऐसे बृक्षत्व या अफ़्रिलको तो साध्य बना लिया जाता है। किन्तु अशरीर, न्यापक, नित्य, सर्वज्ञ, हो रहा कोई कत्तीविशेष अवापि प्रसिद्ध नहीं है। अतः कत्ती सामान्यविशेषकी साध्य करनेपर भी करणादिपन हेतसे सरारीर, अन्यापक, अल्पन्न कर्ताओंसे अधिष्ठितपना सिद्ध हो सकता है अन्य तुम्हारा इष्ट विशेष हो रहा कोई ईस्वर नहीं सध पाता है।

तथा रूपोपछन्ध्यादीनामपि कियात्वेन शसिद्धकरणन्यक्तिन्यापिकरणसामान्यविश्वयपूर्वकत्वमेव साध्यते नामसिद्धकरणन्यापि । न्यक्तिर्दिं किचन्मृतिंमती दृष्टा यथा दात्रादिछिदिकियायां, किचदमुर्ता यथा विश्वेषणझानादिर्विश्वेष्यझानादी। तत्र रूपोपछन्ध्यादी करणसामान्यं
कुतिश्वित्सिध्यति तदुपादानसामध्ये सिध्येत् तद्द्रन्यकरणं मूर्तिमत्युद्रछपरिणामात्मकत्याद्भावकरणं पुनरमूर्तमपि तस्यात्मपरिणामत्वादिति तस्य क्रियाविश्वेषात् मसिद्धस्य संझाविश्वेषमात्रं
कियते चश्चः स्पर्वनं रसनमित्यादि । ततो भवतीष्टिसिद्धिस्तावन्यात्रस्येष्ट्त्तात् ।

. तिंसी प्रकार रूपोपनिय, रसञ्चति, आदि कियाओं के भी कियापन हेतुकरके प्रसिद्ध हो रहीं करण व्यक्तियोंमें व्याप रहे करण-सामान्यविशेष नामक करण द्वारा जन्यपना साधा जा सकता है। अप्रसिद्ध हो रही करणव्यक्तियोंने व्याप रहे करणत्व नामक सामान्यविशेषसे जन्यपना नहीं साथा जा सकता है। अन्यथा रूपोपछन्धिमें आकाश, परमाणु, पिशाच, आदिको भी करणपना बन बैठेगा अपने अपने गृहमन्तव्य अनुसार चाहे जिसको करण बनानेकी ढपली बजायी जा सकती है। हां, यह बात दूसरी है कि करणव्यक्तियों में कोई कोई व्यक्ति तो किसी क्रियामें व्यापार कर रही भूतिंमती देखी गयी है। जैसे कि छेदन, भेदन, आदि कियाओं में दांतुआ, आरा, छोढा आदि करण मूर्त हैं। और कोई कोई करण किसी किसी कियाके करनेमें अमूर्त हैं। जैसे कि विशेषणज्ञान, व्याप्तिज्ञान. सादस्यज्ञान, आदिक उन विशेष्यज्ञान, अनुमितिज्ञान, उपमिति आदि क्रियाओंके साधनेमें अमूर्त करण 💆 । किन्तु ये सब करणब्यक्तियां प्रमाणरूपसे सिद्ध हैं । तुम्हारे ईश्वरके समान कोई भी मूर्त या अमूर्त करण मळा प्रमाणोंसे असिद्ध नहीं है। हमारे जैनसिद्धान्त अनुसार उस रूपोपळिश्व आदिमें किसी भी अविनाभावी हेत्से जो करणसामान्य सिद्ध हो सकता है। वह उपादानकारणकी सामर्थ्य ही सिद्ध होगी। ज्ञान, घट, आदि पर्यायें सभी अपने उपादान कारणोंकी शक्तियोंको करण पाकर उप-जती हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार पांचों इन्द्रियां और मन बाह्यनिर्वृतिरूप ही इन्द्रियपने करके निर्णित किये गये हैं। इन्द्रियपर्यापि नामक पुरुषार्थ बाह्य निर्वृत्तिको बनाता है। अतः ये छहों बाह्य निर्कृतियां अतीन्द्रिय हो रहीं पुद्रलकी पर्याय हैं । आप वैशोषिक भी निकटवर्ती (लगभग) इसी मार्गका अनुसरण कर रहे हैं । स्पर्श, रूप, रस, गन्च, इन चारों गुणोंमेंसे एक, दोनों, तीनों, चारों गुणोंको भार रही कमसे स्परीन, चक्ष, रसना, ब्राण इन्द्रियां मानी गयी है। हां, कान इन्द्रि-यको आकाश और मनको नित्य, अमूर्त, इच्य तुमने मान रक्खा है। अस्तु इस मान्यतामें आयी हुयी आपत्तियोंको तुम्ही मोगोगे । प्रकरणमें यह कहना है कि रूपकी उपलब्धि आदिमें करण हो रही वे इन्य इन्द्रियां मूर्तिमान् पुद्रल द्रव्यकी पर्यायस्वरूप होनेसे द्रव्य करण है। अतः रूप आदिकी उप-लिक्समें ये मूर्त करण हैं । हां, विशिष्ट क्षयोपशमकी लिक्स और रूपक्कान ये भावकरण तो फिर अमूर्त भी हैं। क्योंकि वे अमूर्त आत्माके परिणाम हैं। यहां बन्धकी अपेक्षा संसारी आत्माके अमूर्तपनकी विवक्षा नहीं की गयी है। इस प्रकार किया विशेषोंसे अनुमान प्रमाण द्वारा प्रसिद्ध हो रहे करणोंकी चक्कः, स्पर्शन, रसना, इत्पादिक केवल विशेष संज्ञायें कर ली जाती हैं। द्रव्यकरणस्वरूप चक्षुः मूर्त है। और मावकरणस्वरूप चक्ष अमूर्त है। अतः " रूपोपछन्धिः करणकार्या क्रियात्वात छिदिकिया-वत " इस अनुमान द्वारा जो करणसामान्य की सिद्धि की गयी है वह करणत्य सामान्यविशेष तो लौकिक या परीक्षकोंके यहां प्रासिद्ध होरहे मूर्त या अमूर्त करणोंमें प्रतिष्ठित हैं उस ढंग करके हेत या सान्यसे आकित होरहे अनुमान दारा हमारे इष्टसाच्य की सिद्धि होजाती है। क्योंकि केवल उतनाही सामान्य करणोंसे जन्यपनकी लिक्टि करना अभीष्ट होरहा है किन्तु तुम्हारा ईन्वर विशेष तो कोई कर्ता

व्यक्ति प्रासिद नहीं है। अतः व्याप्ति या दृष्टान्तकी सामर्थ्यसे उस तुम्हारे मनमानी कत्तींसे अधिष्ठित-पना करण आदि पक्षमें नहीं सध पाता है।

नतु च यथात्मनि रूपोपळव्यादिकियाग्रुपळभ्य तस्यैव तत्र व्याप्रियमाणस्य स्वतंत्रस्य कर्तुः करणं चश्चरादि सिद्धचिति, तथा जगति करणादिसाधनग्रुपळभ्य तस्यैव करणादीनां कर्त्र-िषिष्ठितत्वं सिद्धचिति सकळजगत्करणाद्यिष्ठायीश्वर इति संज्ञायमानः कथिमेष्ठो न सिध्येत् ताबन्मात्रस्य मयापीष्ठत्वादिति पराकृतमनूद्य निराकरोति ।

वैशेषिक अपने पक्षको पृष्ट करनेके लिये पुनः अनुमान करते हैं कि जिस प्रकार आत्मामें होरही रूपकी उपलब्ध, रसकी प्रतीति, आदि कियाओंको देखकर उन क्रियाओंमें ब्यापार कर रहे स्वतंत्र कर्ता उस आत्माके ही सहकारी करण चक्षुः आदिक साथ लिये जाते हैं। उसी प्रकार जगन्तमें करण, अधिकरण, आदि साधनोंको देखकर उस जगन्तके हैं। करण आदिकोंका कर्तासे अधिष्ठितपना सथ जाता है। अर्थात्—आत्मा कर्ताके अनुरूप जैसे चक्षु आदिक इन्द्रियां सिद्ध होती हैं। उसी प्रकार जगन्तके निर्मापक करणोंके अनुरूप ही कोई कर्ता उनका अधिष्ठायक हो सकता है। इस प्रकार जगन्तके सम्पूर्ण करण, अधिकरण, आदिका अधिष्ठाता जो कि ईश्वर इस नाम करके कहा जा रहा है वह इष्ट भला क्यों नहीं सिद्ध होगा है क्योंकि हमको भी केवल उतना है। ईश्वरका अधिष्ठातापन इष्ट है। जैसे कि तुमको रूपकी उपलब्धिमें आत्माका प्रेरक सहकारी करण इष्ट था। जिस प्रकार आप जैन चक्षुः आदि परोक्षकरणोंकी अपने अनुमानसे सिद्धि करते हुये उन करणोंकी चक्षुः, रसना, आदि संज्ञायें घर लेते हैं उसी प्रकार हम वैशेषिक भी जगन्तके अधिष्ठाता कर्ताको केवल साथ रहे उसका नाम निर्देश ईश्वर कर लेते हैं। यहांतक वैशेषिक कह रहे हैं अब यों दूसरे वैशेषिकोंके चेष्टितका अनुवाद कर श्री विद्यानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिकोंकरके उस आकृतका निराकरण करते हैं।

सिद्धे कर्तिर निःशेषकारकाणां प्रयोक्तरि । हेतुः सामर्थ्यतः सिद्धः स चेदिष्टो महेश्वरः ॥ ६३॥ नैवं प्रयोक्तुरेकस्य कारकाणामसिद्धितः । नानाप्रयोक्तुकत्वस्य कचिद्दष्टेरसंशयं ॥ ६४॥

सम्पूर्ण कारकोंके यथा विनियोग प्रधोग करनेवाछ कर्त्ताके सिद्ध होनेपर सामर्थ्यसे ही कोई न कोई हेतु यानी निमित्त कारण कर्त्ता व्यापक सर्वन्न सिद्ध हो है। जाता है। सम्पूर्ण जगत्के कार-कोंका ठीक ठीक यथा स्थान यथा समय प्रबन्ध करनेवाछा विशिष्ट आत्मा ही होना चाहिये और वह हमारे यहां ईस्वर इष्ट किया गया है। यों वैशेषिकोंका मत होनेपर आचार्य कहते हैं कि इस प्रकार नहीं कहना चाहिय क्योंकि सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोक्ता एक ही होय इस निर्णयकी सिद्धि नहीं हो सकती है। कहीं कहीं अनेक कारणोंका नाना प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त किया जाना निःसंशय देखा जा रहा है। एक विवाहरूप कार्यमें अनेक नियोगी (नेगी) स्वतंत्र न्यारे न्यारे कार्योंके प्रयोजक हैं। जगत्में सूर्य, चन्द्रमा, आकाश, पृथ्वी, ये सब अपने अपने उचित कार्योंके विधाता हैं इनको किसी प्रयोक्ताकी आवश्यकता नहीं है। बारह धम्भोंपर छदी हुई शिखरको सभी धम्मे स्वतंत्रतासे धार रहे हैं इस कियाका कोई चेतन अधिष्ठाता प्रयोजक नहीं है। वनमें पडे हुये अनेक वीज अपने अपने न्यारे न्यारे अंकुरोंको उपजा रहे हैं। क्षुधाको अन दूर कर देता है। प्यासको जछ मेट देता है अग्नि काष्टको जखा देती है वायु पत्तोंको हिला रही है। आकाशमें शन्द गूंज रहा है इत्यादि अनेक कार्योंका कोई एक मुखिया प्रयोक्ता नहीं देखा जाता है।

न हि करणादित्वस्य हेतोरेककर्तृत्वे सामर्थ्य येन ततो निःश्चेषकारकाणामेक एव भयोक्ता खेष्टो महेश्वरः सिध्येत्। कवित्वासादादी करणादीनां नानाप्रयोक्तृकत्वस्याप्यसंदेह-मुपलक्षेः। ननु प्राधान्येन चात्रापि तेषामेक एव प्रयोक्ता सूत्रकारो महत्तरो राजा वा, गुणभावेन तु नानाप्रयोक्तृकत्वं जगत्करणादीनामपि न निवार्यत एव, ततः प्रधानभूतो अमीषामेक एव प्रयोक्तेश्वर इति चेत् न, प्रधानभूतानामपि समानकुलवित्तपीकषत्यागाभि-मानानां कविकागरादी करणादिषु नाना प्रयोक्तृषामुपलंभात्।

तुम वैशेषिकोंके कहे गये करणादिल हेतुकी एक ही कर्तास अधिष्ठितपनको साधनेमें सामर्थ्य नहीं है जिससे कि उस हेतुसे सम्पूर्ण कारकोंका एक प्रयोक्ता तुम्हारे यहां निज अभीष्ट हो रहा महेश्वर सिद्ध हो जाता। अर्थात् —तुम्हारा असमर्थ हेतु तुम्हारे अभीष्ट साध्यका साधक नहीं है। क्योंकि प्रासाद, कोठी, पंचायत, मार्गगमन, पंक्तिभोजन, आदि कार्योमें करण, अधिकरण आदि हो रहे पदार्थोका अनेक प्रयोक्ताओं द्वारा प्रयुक्त होना भी संदेहरित देखा जाता है। हवेळींके न्यारे न्यारे भागोकों कातिपय स्थपित स्वाधीन होकर कर रहे हैं। कई महळोंको तो अनेक पीडियोंमें कातिपय धनपतियोंने बनवाया है। महळके कार्मोसे होनेवाळे कार्ष्योको बढई पत्थरका है छोहेसे होने वाळे कार्योको छुहार बनाना है। पत्थरका काम करने वाळे छुहार या बढईपर प्रमुख नहीं जमा पाते हैं, अजमेरमें एक महळ सेठोंकी चार पीडीसे बन रहा है, ऐसी दशामें उसका अधिष्ठायक एक आत्मा केस कहा जासकता है! यदि वैशेषिक पुनः अनुज्ञा करें कि यहां कोठी आदिमें भी प्रधानपनेसे उन कार्योका प्रयोक्ता बढ़ा महान् प्रतिष्ठित पुरुष अथवा राजा एक ही प्रयोक्ता है हां गीण रूपसे तो वे कार्य अनेक प्रयोक्ताओं करके प्रयुक्त किये गये हैं। इसी प्रकार जगत्के करण, अधिकरण, आदिकोंके भी गीण-रूपसे मळे ही अनेक प्रयोक्ता होजांय हम उनको नहीं रोकते हैं। हां प्रधान प्रयोक्ता एक ही सबका

होना चाहिये । तिस कारण उन जगत्के निस्तेष कारणोंका प्रधानभूत प्रयोक्ता एक ही ईस्कर है यों कहनेपर तो प्रन्थकार कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि प्रधान होचुके भी समान कुल्वाले, समान धनवाले, समान पुरुषार्धवाले, समान त्यागवाले, समान अभिमानवाले, अनेक प्रयोक्ताओंका कहीं नगर आदिमें अथवा करण आदिमें प्रयोजकपनसे दीखना होरहा है। अर्थात्—एक नगर कई स्वतंत्र जमीदार या उद्भट पण्डित अन्यानधीन होकर निवास करते हैं। समान कुल्वाले कई कुलीन पुरुष स्वतंत्रत्या बस रहे हैं कई सेट, अनेक मल्ल, बहुतसे दानवीर, नाना अभिमानी स्वतंत्र होकर सुखपूर्वक निवास करते हैं। करण, अधिकरण आदिकोंमें अनेक स्थलेंपर स्वतंत्रता देखी जाती है '' मुनयो ध्यानं विदधति, मज्यते हक्षः शाखाभारेण, असे विद्योतते विद्युत्, परोपकाराय सता विभूतिः, हक्षात् पर्ण पतित, सूर्यस्थालोकः '' इन कार्योमें किसी अधिष्ठाताकी आवश्यकता नहीं है। वनमें अनेक पक्षी या प्रवृत्त स्वापत्त निवास करते हैं। समुद्रमें अनेक जलचर जीव या प्रवाल, मुक्ता आदि स्वतंत्र उपज रहे हैं। साध्यायशालामें अनेक सज्जन मनमाने प्रन्थोंका स्वाध्याय कर रहे हैं। हाटमें अनेक केता विकेता अपने प्रयोजनको साध रहे हैं। अपनी उदराग्रिसे सभी प्राणी अपने अपने मोच्यको पचा रहे हैं। धार्मिक गृहस्य अपने कर्तव्योमें प्रवर्त रहे हैं। मुनिजन दिनरात स्वतंत्रत्या आत्महितमें लग रहे हैं उपाध्यायमहाराज पढानेमें खवलीन हैं। अपने अपने कर्तव्य अनुसार सभी जीव पुण्य या पार्योका उपार्जन कर रहे हैं। अतः सबके अधिष्ठायक एक प्रयोक्ताकी सिद्धि नहीं हो पाती है।

तेषामपि राजाचार्यादिर्वा मयोक्तैक एवति चेत्, तस्यापि राक्नोन्यो महाराजः श्रधानः मयोक्ता तस्याप्यपरः ततो महानिति कव नाम प्रधानप्रयोक्तृत्वं व्यवतिष्ठेत । महेश्वर एवति चेक्न, तस्यापि प्रधानापराधिष्ठापकपरिकल्पनायामनवस्थानस्य दुर्निवारत्वात् । युद्रपपि गत्वा व्यवस्थितिनिमित्ताभावाकः ।

यदि वैशेषिक यें। कहें कि उन समान कुळवाछे, समान धनवाछे आदि या कुम्हार, छुहार, आदि नाना प्रयोक्ताओंका भी अन्तमें जाकर प्रयोक्ता हो रहा राजा अथवा गृहस्थाचार्य, जमीदार, प्रधान प्रवन्धकर्त्ता, स्यपित, आदि एक ही प्रयोक्ता है। यों कहनेपर तो प्रन्थकार कहते हैं कि उस राजाका भी प्रधान प्रयोक्ता अन्य महाराजा होगा और उसका भी उपरिवर्ती प्रयोक्ता कोई तीसरा उससे वहा मण्डलेश्वर होगा और उससे भी बहा अधिकारी महामण्डलेश्वर उसका प्रयोक्ता होगा इस प्रकार चक्रवर्ती आदिके प्रधान प्रयोक्तापनकी मला कहां आगे चलते चलते विश्वाम लेनेकी व्यवस्था की जावेगी ! अनवस्था दोष होगा। यदि तुम वैशोषिक यों कहो कि परिशेष जाकर सबका अंतिम प्रयोक्ता हमारा अभीष्ट महेश्वर है। है। आचार्य कहते हैं कि उस महेश्वरके भी प्रधान हो रहे उपरिवर्ती उत्तरोत्तर अधिष्ठायक महामहेश्वर आदिकी लम्बी चौढी कल्पना करते सन्त अनवस्था दोषका निवारण कठिनतासे भी नहीं हो सकता है और बहुत दूर भी जाकर तुम वैशेषिकोंके पास व्यवस्था कर देनेका कोई परिनिष्ठित निमित्त नहीं है।

स्यान्यतं, नेन्यरस्यान्योऽिषष्ठाता श्रष्टः सर्वज्ञत्वादनादिशुद्धिवैभवभाक्ताव । यस्य त्यन्योऽिषष्ठाता श्रष्टः स न सर्वज्ञीऽनादिशुद्धिवैभवभाषा यथा विष्टिकर्मकरादिः न च तथेन्यर-स्तस्यास्य तस्यान्योऽिषष्ठाता श्रष्टारित । नात्र धर्मिणोऽिसद्धिरितस्य स्वान्यात्र्यात्त्रस्याद्धान्तिद्धत्वात् , नापि हेतुरसिद्धस्तस्य सर्वज्ञत्वमंतरेण समस्तकारकप्रयोग्तत्त्वस्याद्धान्तिद्धत्वात् । न च सञ्चरीरोऽसौ तच्छरीरमृतिपादकप्रमृत्याभाषावात् इति । तद्य्यसत् सर्वज्ञत्वस्य हेतो स्वेर्व्यभिचारात् । तेषां दि सर्वज्ञत्वस्यक्षेत्रस्य योगिनान्येन वाधिष्ठितत्वं महेन्यरस्यानादेरिषष्ठापकस्य तेषामादिमतं स्वय-सम्युपगमात् , तद्वअप्युपगमे अपसिद्धांतप्रसंगात् । तथानादिशुद्धिवैभवमप्याकाक्षेनानेकातिकं, तस्य जगदुरमत्तौ वाधिकरणस्य प्रदेशराधिष्ठितत्वोपगमात् ।

बदि तम वैद्यापिकोंका यह भी मन्तव्य होब कि ईखरका पुनः कोई अन्य अधिष्ठाता प्रमु नहीं है (प्रतिक्षा) सर्वन्न होनेसे (प्रथम हेत्) अनादि कालीन ग्राहियों के वैभवका धारण करनेवाला होनेसे (दितीय हेतु) देखो जिस अधिष्ठित व्यक्तिका अधिष्ठाता अन्य प्रमु हुआ करता है वह पदार्थ सर्वज्ञ नहीं है और अनादि कालीन शुद्धिके वैभवको धारनेवाला भी नहीं है जैसे कि पीनस या बोखी, पालकिक ढोनेकी क्रियाको करने वाले धीमर या कारागृह (जेळखाना हवालात) आदिमें बलाकारसे ठेल देनेकी क्रियाको करनेवाले चपरासी आदि पुरुष हैं। अर्थात् --पीनसको ढोने वाले धीवर भीतर बैठे हुये वैष, प्रमु, (मालिक) महारानी आदि अन्य अधिष्ठाताओंके अधीन होकर चक्र रहे हैं। न्यामकर्ता अधिकारी (अफसर) की आहा अनुसार सिपाई उन अपराधियोंको कारा-गृहमें खींच केजाता है। ये सेक्क जन विचारे सर्वज्ञ अथवा अनादि श्रुद्ध तो नहीं हैं । " साध्याभावे साधनाभावः " (व्यतिरेक दृष्टान्त) और उस प्रकारका असर्वञ्च या सादि ग्रुद्ध अथवा अनावग्रुद्ध हमारा ईक्कर नहीं है (उपनय) तिस कारणसे उस ईक्करका कोई अन्य प्रभु अधिष्ठाता नहीं है । (निगमन) । इस अनुमानमें कहे गये ईस्वर नामक धर्मीकी असिद्धि नहीं है जिससे कि मेरा हेतु आश्रयासित हो जाता क्योंकि जगत्के सम्पूर्ण करण, अधिकरण, सहकारीकारण, क्रिया आदिकोंका प्रयोग करनेवाछे उस क्ष्मरकी अनुमानप्रमाण द्वारा सिद्धि हो चुकी है ऐसे प्रसिद्ध ईश्वरमें अन्य अधिष्ठाताकी अधीनताका अभाव साधा जा रहा है तथा इस अनुमानमें कहा गया सर्वज्ञ होते हुये अमादि सिंह होना एक हेतु अथवा सर्वहल और अनादिशुद्धल ये दोनों हेतु स्वरूपासिद्ध हेलाभास भी नहीं हैं क्योंकि अनुमानसे सिंद हो रहे उस ईत्वरको सर्वक्रस्वके विना समस्त कारकोंका प्रयोक्तापम नहीं वन बाता है और अनादिकालंसे ग्राहिका वैभव नहीं माननेपर उस अशरीर. इंस्वरके सर्वक्षपना नहीं जा सकता है। जैसे कि सादि ग्रद मुक्त आत्माके अशरीर होनेपर भी सर्वह्रपनका योग नहीं है। कतियय पौरामिकोंके विचार अनुसार मान लिया गया वह ईश्वर हारीर-

सहित तो नहीं है क्योंकि उस व्यापक ईश्वरके शरीरोंका प्रतिपादक कोई प्रमाण नहीं है " न तस्य मूर्तिः " ऐसा भी कचित् छिखा है अवतारोंपर अखण्ड श्रद्धा करानेवाले पुराणवाक्योंने अवाधित प्रामाण्य नहीं है । यहांतक कोई बुद्ध वैशेषिक कह रहे हैं प्रन्थकार कहते हैं कि उनक वह मन्तव्य भी सत्यार्थ नहीं है क्योंकि पहिले सर्वज्ञपन हेतुका रुद्रों करके व्यभिचार हो जायगा " भीमाविक जिर्मचू रुद विसाळणयण सुष्पदिङ चला, तो पुंडरीय अजिदंघर जिदणाभीय पीर सम्बद्ध्जो " ये ग्यारह रुद्र जैनोंके यहां माने गये हैं तुम पौराणिकोंके यहां भी " अस्त्रैकपाट हिर्बुच्नो विरूपाक्षः, सुरेश्वरः, जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बकोऽथापराजितः वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्राः ' यों ग्यारह रुद्र माने गये हैं कतिपय रुद्र माने गये होंय उनका नियमसे सर्वेद्धपना भी इष्ट किया गय है। किन्त योगी अथवा शक्ति नामक अन्य देवता करके अधिष्ठितपना स्वीकार किया है उन रुद्रोंक अधिष्ठापक एक अनादि कालीन महेक्तरको तुमने आदिमें ही माना है। यों स्वयं स्वीकार कर छेनेसे हेत सर्वज्ञत्वके रहनेपर और साध्य अन्यानधिष्ठितत्वके नहीं ठहरनेसे न्यभिचार दोष आया। यदि रुद्रोंबे भी अन्य अधिफापकोंकी स्वीकृतिके उस सिद्धान्तको नहीं अंगीकार करोगे तो तुम्हारे ऊपर अपिस द्धान्त यानी अपने सिद्धान्तसे स्विक्ति हो जाना दोषके लग जानेका प्रसंग हो जायगा तथा तुम्हार दसरा हेतु अनादि कालीन राद्धिका वैभव भी आकाश करके अनैकान्तिक हेत्वाभास है। अनादि काल्से शह हो रहा वह आकाश जगतकी उत्पत्तिमें अधिकरण कारक हो रहा है। साथमें उसक महेश्वरसे अधिष्ठितपना भी स्त्रीकार किया गया है। अतः हेतुके रह जानेपर और घ्रद्ध आकाशरे अन्यानिधिष्ठितत्व साध्यके नहीं ठहरनेपर व्यभिचार दोष जम बैठा ।

किं च, यदि प्राधान्येन समस्तकारकप्रयोक्तृत्वादीश्वरस्य सर्वक्षत्वं साध्यते सर्वक्षत्वाच्य्याक्त्रन्तरियेशं समस्तकारकप्रयोक्तृत्वं प्रधानभावेन तदा परस्पराश्रयो दोषः कृतो निवार्षेत ? साधनांतरात्तस्य सर्वक्षत्वसिद्धिरिति चेन्न, तस्यानुमानेन बाधितविषयत्वेनागमकत्वात् तथाहि—नेश्वरोऽश्रेषार्थवेदी दृष्टेष्टविरुद्धाभिधायित्वात् बुद्धादिवदित्यनुमानेन तत्सर्वक्षत्वावकोः धकमस्विलमनुमानमभिधीयमानमेकांतवादिभिरभिद्दन्यते, स्याद्वादिन एव सर्वक्षत्वोपपत्तेः युक्तिः शास्त्राविरोधिवाक्त्वा।दित्यन्यत्र निवेदितं । ततो नाशेषकार्याणामुत्पत्तो कारकाणामेकः प्रयोक्ता प्राधान्येनापि सिध्यतीति परेषां नेष्टसिद्धिः ।

दूसरी बात यह मी है कि तुम वैशेषिक यदि प्रधानतासे सम्पूर्ण कारकोंका प्रयोक्ता होनेसे ईस्वरको सर्वज्ञपना सावते हो और सर्वज्ञ होनेसे ईस्वरको अन्य उपरिम प्रयोक्ताओंकी नहीं अपेक्षा रख कर प्रधानता करके समस्त कारकोंके प्रयोक्तापनको सावते हो तब तो यह परस्पराश्रय दोष किससे हटाया जा सकता है ! अर्थात्—तुम्हारे ऊपर अन्योन्याश्रय दोष अटल होकर लग बैठा । यदि तुम वैशेषिक यों कहो कि हम अन्य हेतुओंसे उस ईस्वरके सर्वज्ञपनकी सिद्धि करलेंगे । " ईस्वर: सर्वज्ञः

अनुपायसिद्धत्वात् '' ' ईत्वरः सर्वज्ञः सदा कर्ममळैरस्पृष्टलात् '' मुक्त आत्माको व्यतिरेक द्रष्टान्त बनाया जा सकता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह नहीं कहना क्योंकि वैशेषिकोंके उन हेतुओंके सान्य विषयकी इस बक्ष्यमाण अनुमान करके बाधा उपस्थित हो जाती है। अतः वे हेतु ईश्वरमें सर्वज्ञत्वकी अनुमिति करानेवाले नहीं हैं । उसको यों स्पष्ट रूपसे समझियेगा कि ईश्वर (पक्ष) सम्पूर्ण अर्थोंका इता नहीं है। (साध्य) दृष्ट प्रमाण यानी प्रत्यक्षप्रमाण और इष्ट यानी अनुमान आदि प्रमाणोंसे विरुद्ध हो रहे पदार्थोंका कथन करनेवाला होनेसे (हेतु) जैसे कि बुद्ध, कपिल, अल्लाह आदिक आस्मार्ये सर्वज्ञ नहीं हैं। (अन्वय दृष्टान्त)। इस अनुमान करके ईश्वरके सर्वज्ञत्वका प्रतिपादक हेतु बाधित हेत्वाभास हो जाता है। भावार्थ-बौद्ध विद्वान् अहिंसाका प्रतिपादन करते द्वये भी कचित् मांस मक्षणको परिहार्य नहीं समझते हैं । कुरानमें कई स्थडोंपर दयाका विधान पाया जाता है फिर भी मियां छोग इष्ट देवताके नामपर जीवित पशुको संकल्प कर मारते हुए स्वच्छंदतया मांसभक्षण करते हैं। शक्तिदेवताकी उपासना करनेवाले शाक्तजन स्वच्छंदरूपसे देवताके नैत्रेय मथ, मांसका सेवन करते हैं। वदेमें " मा हिंस्याः सर्वाभूतानि " ऐसी प्रतिक्वा की गई है। यजुर्वेदके छत्तीसर्वे अध्यायका अठारहवां मंत्र है कि दतेद 🔭 हमा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे " इस मंत्रद्वारा सम्पूर्ण जीवोंको परस्परमें अहिंसाभाव, मित्रभाव, अदोहपरिणाम और प्रेमन्यवहार रखना पुष्ट किया गया है। सम्पूर्ण जीव मुद्दे मित्रके समान देखें और मैं सबको मित्रके समान देखें । मित्र अपने दूसरे परममित्रको कथमिप नहीं मारता है यह मछे प्रकार समझा दिया है। किन्तु पम्द्रहवें अध्यायका पन्द्रहवां मंत्र है कि " अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरश्मिस्तस्य रथगृत्सश्च रथौजाश्च सेनानीप्रामण्यौ । पुन्जिकस्थला च ऋतुस्थला चाप्तरसी दङ्क्णवः पशत्रो हेतिः पौरुषेयो वधः प्रहेतिस्तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽतन्तु ते नो मृडयन्तु तेयं दिष्मी यश्च नी द्वेष्टि तेमेषां जम्मे दध्मः " इस मंत्रद्वारा हिंसाभाव तथा अप्रीतिभाव प्रकट किया है। इसी प्रकार सोल्ड्वे, सत्रहवें, अठारह्वें, आदि मंत्रोंमें भी हिंसाभाव तथा अवीतिभावकी पुष्टि की है इक्कीसर्वे अध्यायके साठवें मंत्रमें हिंसाको ध्वनित किया है वह मंत्र इस प्रकार है कि '' सुमस्था अद्य देवो वनस्पतिरभवदश्विम्यां द्वयेन सरस्वायै, मेषेणेन्द्राय, ऋषभेणाश्वास्तान्मेदस्तः प्रति पत्रतामृभीषतावी वृधन्त पुरोडाशैरपुरिधना सरस्त्रतीन्द्रः सुत्रामा सुरासोमान् '' पश्चीसर्वे अध्यायके द्वितीय मंत्रका ऐसा ही हिंसापोषक अभिप्राय है " वातं प्राणेनापानेन नासिके उपयाममधरेणौष्ठेन सदुत्तरेण प्रकाशेनान्त-रमनूकाशेन बाह्यं निवेष्यं मूर्ध्वास्तनयित्तुं निर्वाधेन शनिं मस्तिकोण विद्युतं कनीनकान्यां कर्णान्या 🕯 🜓 श्रोत्र श्रोत्राम्यां कर्णो तेदनीमधरकण्ठेनापः शुष्ककण्ठेन चित्तं मन्याभिः रदिति ী 🌓 शीष्णी निर्ऋतिं निर्जल्पेन शीर्ष्णां सक्तोशैः प्राणान् रेष्पाण 🔐 स्तुयेन " इसके आगे भा कई मंत्रोंमें यक्सन्बन्धी हिंसाभावको वैधं बताया गया है। अधर्ववेदमें मी हिंसाकी मरमार है।

⁴⁴ न मांसम्बंधि दोषों न सबे न च मैथुने " ऐसे मतुस्मृतिके वाक्य मिळते हैं । गृहासूत्र नासका प्राचकी गढ़ी दशा है। क्वेचित गोमेघ, नरमेधतकका विधान किया गया है। 1 वेदमें असम्बद्ध या काजाजनक विषयोंकी भी कमी नहीं है । पश्चीसवां अध्याय सातवां मंत्र इस प्रकार है कि " पूर्ण विषेष्ठनात्वाहीनस्यूकगुदया सर्भानगुदाभिविन्द्रत आन्त्रैरयो वस्तिना वृषणमादास्यां वाजिस होपेन प्रजा 🥤 रेतसा चाषान्यितेन प्रदरान्यायुना कूश्माच्छक्रपिण्डैः " आठमां तीना मैंत्र भी ऐसाही चूणित है। वेदमें असम्बद्ध प्रकाप भी पर्यात है। युज्वेंद अखरहवें अध्याप " एका च मे तिस्रक्ष ये पञ्च च ये पञ्च च ये समच ये स्म च ये इत्यादि या चतस्त्रच येउही च मे हादश च ये द्वादश इत्यादि इन चौबीसर्वे पद्मीसर्वे मंत्रीमें एकसे आगे दो दो संख्या बढाकर अथवा चारसे आगे चार चार संख्या बढ़ाकर न जाने कीनसे गम्भीर अर्थका प्रतिपादन किया गया है ! इसके आगे छन्बीसर्वे, सत्ताईसर्वे भंत्रमें भी गईणीय असंगत विषयका नंगा प्रदर्शन है । यजुर्वेदसे ःतीसवां अध्याय नीवा मंत्र भ अञ्चल्य त्वा कृष्णः शका धपयामि देवयजने प्रथिव्याः । मरवाय त्वा मरवस्य त्वा शिष्पें । अञ्चल्य त्वा कृष्णः शक्ता धूपयमि देवयजते प्रथिव्याः । मखाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्ष्णे । मखाय त्वा मरबस्य त्वा शौर्णे मरवाय त्वा मरवस्य त्वा शीर्णे । " द्वारा तीन महाबीरोंको तीन मंत्रों द्वारा असकी विद्या करके भूप देनेसे न जाने कौनसी शुद्धिका रहस्य निकाला गया है। इत्यादि । प्रकरणमें यह कहना है कि नैयायिक या वैरोधिक पण्डित वेदको ईवरका बनाया हुआ स्वीकार करते हैं। पौराणिक पण्डित स्पृति या पराणोंकी रचना वेद अनुसार हुई बत्तकाते हैं। वेदके मंत्रभागसे उपनिषदें (ज्ञान-काण्ड) और ब्राह्मणभागंस कर्मकाण्ड प्रकट हुये माने जाते हैं किन्त '' अणोरणीयान महतो मही-यांनू 12 के समान उक्त शाखों में हिंसा, अहिंसा, मांसमक्षण मांसनिषेध, यह करना, व्याकी उपासना करना, आदि दृष्ट इष्ट प्रमाणों द्वारा निरुद्ध होरहे निषयोंका निरूपण पाया जाता है तिस कारण उन एकान्तवादी पण्डित करके उस ईस्वरके सर्वज्ञपनका प्रयोग कराने वाले जो सम्पूर्ण अनुमान कहे जारहे हैं वे सम्पूर्ण अनुमान क्षान हम अनेकान्तवादी विद्वार्गोक्षे निर्दोष प्रमाणों करके वाधित करा दिये जाते हैं। ऐसी दशामें ईश्वरको जान बुझकर समस्त कारकोंका प्रधान रूपमें प्रयोक्तापन नहीं सिद्ध होसकता हैं। कारकोंका मरिकायक जीव ही कर्चा होय या ब्रापक जीव ही कर्चा होवे यह दोनी एकान्त मत मुखाँसे भरे हुये हैं । वास्तविक बात तो यह है कि स्याद्वादियोंके यहां है। अर्हत परमेष्टीको सर्वज्ञपना बन सकता है क्योंकि उनके वचन युक्ति और शास्त्र प्रमाणोंसे अविश्वद हैं इस सिद्धान्तका इम अन्य प्रन्थोंमें निवेदन कर चुके हैं । विधानन्द महोदय प्रन्थमें निवेदन किया गया होगा जो कि मझ भाषा ठीका कारके दृष्टिगोचर नहीं दुआ है " स त्वमेवासि निर्दोषी युक्तिशास्त्राविरोधिवाकू । अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते " इस देवागम (आसमीमांसा) की कारिकाका व्याख्यान करते समय अष्टसहसीमें भी श्री विधानन्द स्वामीने उक्त सिद्धान्तको पुष्ट किया है तिस कारणसे सम्पूर्ण कार्योकी उत्पत्तिमें तस्पर होकर छम रहे कारकोंका कोई एक अरम प्रसोक्ता प्रधानपने करके भी सिह नहीं

होपाता है। इस कारण अन्य निद्वान् वैशेषिकोंके यहां अपने अभीष्ट ईस्वरकी सिद्धि कथमपि नहीं होपाती है उनके सभी हेतु दुषित होजाते हैं।

स्यान्यतं, नैकः त्रयोक्ता साध्यते तेषां माप्यनेकः त्रयोक्तृसामान्यस्य साध्यितुमिष्टत्वा-दिति । तद्प्यसंगतमेव, तथा सिद्धसाधनामिधानात् । न दि प्रयोक्तृमात्रे समस्तकारकाणां विमतिपद्यामद्दे यस्य यदुपभाग्यं तत्कारकाणां तत्प्रयोक्तृत्वनियमनिश्चयात् ।

फिर वैशेषिकोंका प्रबुद्ध होकर यह मन्तव्य होय कि उन सम्पूर्ण कार्योका प्रयोक्ता एक बुद्धिमान नहीं साधा जाता है और अनेक भी बुद्धिमान निमित्तकारण नहीं सध जाते हैं किन्तु हम वैशेषिकोंको प्रयोक्ता सामान्यकी सिद्धि कर छेना अभीष्ट होरहा है। अर्थात् हम इस तारपर्य पर पहुंचे हैं कि कारकोंका या कार्योक्ता स्वकीय पुरुषार्थ हारा कोई प्रयोक्ता होना चाहिये इस पर प्रन्थकार कहते हैं कि वह वैशेषिकोंका मन्तव्य भी पूर्वापरसंगतिस शून्य है क्योंकि तिस प्रकार सामान्य प्रयोक्ताओंके साध्य करने पर हम जैन सत्रहर्वी वार्तिक अथवा साठवीं वार्तिकोंके अनुसार सिद्धसाधन कह चुके हैं। जगत्के अनेक कार्योमें अदृष्ट द्वारा या साक्षात् सम्पूर्ण प्राणी प्रयोक्ता हो रहे हैं सम्पूर्ण कारकोंके सामान्य प्रयोक्ताको साधनेमें हम पहिलेसे ही कोई विवाद नहीं उठा रहे हैं। जिस प्राणीके जो जो पदार्थ साक्षात् या परम्परासे उपभोग करने योग्य हैं उस उस पदार्थिक कारकोंका प्रयोक्तापन नियमसे उस उस प्राणीमें निश्चित हो रहा है। भावार्थ जगत्के प्रायः सम्पूर्ण पदार्थ किसी न किसी प्राणीके साक्षात् या परम्परया उपभोगयोग्य हो ही रहे हैं। अदृष्टानपेक्ष या प्राणानपेक्ष होकर हो रहे कतिपय कार्योकी यहां न्यायशाक्षमें गणना नहीं की गयी है सर्वक्षोक्त स्वभ चर्चाका परिशीखन करनेवाले सिद्धान्तप्रभ्योंमें उनका गवेषण कीजिये।

इति कियानुमानानां माला नैवामला भुवः । कर्तर्येकत्र संसाध्येऽनुमित्या पक्षवाधनात् ॥ ६५॥

यहांतक प्रकरणमें यह सिद्ध कर दिया गया है कि पृथिवीके यानी जगत्के एक कर्ताको भन्ने प्रकार सिद्ध करनेमें दी गई कार्यत्व, करणत्व आदि हेतुबाने अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं है क्योंकि हम जैनोंके अनुमान प्रमाण करके वैशेषिकोंके पक्षकी बाधा उपस्थित हो जाती है अथवा एकसी अस्सी कियाबादी मिध्याइष्टियोंमें वैशेषिक भी पदार्थीमें कियाको माननेवाने परिगाणित हैं। अतः कियाबादी वैशेषिकोंके पूर्वोक्त कई अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं है यों संगति लगाकर कियान्यानानां "पदका अर्थ कर लो। "कर्ता माने गये ईस्वरकी कियाके प्रयोजक अनुमान " कियान्यानानां "पदका अर्थ कर लो। "कर्ता माने गये ईस्वरकी कियाके प्रयोजक अनुमान " मी भूष किया जा सकता है।

यथैव सिश्वेद्मविशिष्टत्वादिसाधनं न निरवदं व्यापकातुपर्छभेन पक्षस्य बाधनात् तथा करणत्वाद्यनुमानमपि जगतामेककर्तृत्वे साध्ये विश्वेषाभावात् । तथ समर्थितमेवेति नानुमान-मास्त्रा निरवद्या विधातुं श्वक्या तस्याः प्रतिपादितानेकदोषाश्रयत्वात् । तत एवागमादपि नेश्वरसिद्धिरित्याइ ।

जिस ही प्रकार ईश्वरकी सिद्धिमें वैशेषिकों द्वारा कहे गये सिन्नेशिविशिष्टल, कार्यल, आदि हेतु निर्दोष नहीं हैं क्योंकि व्यापक के अनुपल्कम करके पक्षकी बाधा दिखलायी जा चुकी है। अर्धात्—व्यापक हो रहे अन्वय व्यतिरेक के नहीं घटित होनेसे व्याप्य हो रहा कार्यकारणमाव भी नहीं घटित हो पाता है। अतः वैशेषिकोंकी प्रतिज्ञा बाधित हो जाती है। उस ही प्रकार करणत्व, कियाल, आदि हेतुओंसे उपजाये गये अनुमान भी जगतोंका एक कर्त्तीस जन्यपना साध्य करनेपर निर्दोष नहीं है कारण कि सिन्नेशिवशेष आदि हेतु और करणत्व आदि हेतुओंमें कोई अन्तर नहीं है। हेतुओंक उस हेत्वामासपनका हम पूर्व प्रकरणोंमें समर्थन कर चुके ही हैं जिस कारण कि वैशेषिकोंक कई अनुमानोंकी माला निर्दोष नहीं करी जा सकती है क्योंकि "१ द्वीपादयो बुद्धि-मद्वेत्वकाः सिन्नेशिवशिष्टत्वात् घटवत्, र क्षित्यादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् पटवत् ३ करणादीनि कर्जिधिष्ठितवृत्तीनि करणादित्वात् वास्यादिवत् " इत्यादि अनुमानोंकी की गयी उस मालाको पूर्वमें कहे जा चुके व्यभिचार, भागासिद्ध, बाध, व्यापकानुपल्यम, सिद्धसाधन, विरोध, साध्यविकलन्ति ज्ञानेक व्यभिचार, भागासिद्ध, बाध, व्यापकानुपल्यम, सिद्धसाधन, विरोध, साध्यविकलन्ति ज्ञानेक दोषोंक उपस्थित हो जानेपर बाधित पक्ष हो जानेसे आगमप्रमाण द्वारा भी ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकती है इस बातको प्रन्यकार अप्रिम वार्त्तिक द्वारा कहते हैं।

विश्वतश्रक्षरित्यादेरागमादपि नेश्वरः । सिध्येत्तस्यानुमानेनानुप्रहाभावतस्ततः ॥ ६६ ॥

यु जर्वेदके सत्रहवें अध्यायके उनीसवें मंत्र " विस्वतश्चक्षुरुत विस्वतोमुखो विस्वतो बाहुरुत विस्वतः पात् । संबाहुम्यां धमित संपत्तेर्यावाभूमी जनयन्देव एकः " और सत्ताईसवें मंत्र " यो नः पिता जनिता यो विधाता धामानि वेद भुवनानि विस्वा। यो देवानां नामधा एक एवत " संप्रक्रनं भुवनायन्त्यन्या ॥ तथा " अपाणिपादो जवनो गृहीता, संसारमही इहस्य बीजाय " इत्यादिक आगम प्रमाणोंसे मी ईश्वरकी सिद्धि नहीं हो सकेगी क्योंकि तिस बाधितपक्षके हो जानेसे उन आगम वाक्योंका अनुमान प्रमाण करके अनुमह होनेका अभाव है । जिन आगमोंको अनुमान प्रमाणोंसे संवादकपना प्राप्त नहीं होता है वे आगम प्रमाणभूत नहीं माने गये हैं ।

न हि नैयायिकानां युक्त्यननुगृहीतः कश्चिदागमः प्रमाणमतिप्रसंगात्। न च युक्तिस्तव काचियवतिष्ठत इति नेश्वरसिद्धिः प्रमाणाभावत् प्रधानाद्दैतादिवत् । ततः कि सिद्धमित्याह् । नैयायिकोंके यहां युक्तियों यानी सदेतुओंसे नहीं अनुप्रह प्राप्त होचुका कोई भी आगम भला प्रमाण नहीं माना गया है अन्यथा अति प्रसंग होजायगा। अर्थात् — युक्तियोंके विना प्रमाणपना मान हेने पर चार्वाक, बौद्ध, ईसाई, मोहम्मदमतानुयायी, अदैतवादी, आदिकोंके आगम भी प्रमाण बन बैठेंगे। किन्तु उन ईस्वर साधक वाक्योंमें कोई अच्छी युक्ति व्यवस्थित नहीं होपाती है। प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणों करके स्पष्ट बाधा उपस्थित होग्ही है। विज्ञान (साइन्स) जब ईस्वरबादकी जडको सर्वधा काट चुका है ऐसी दशामें नैयायिकोंके आगमकी सहायक कोई युक्ति नहीं ठहर सकती है। इस कारण साधक प्रमाणोंके नहीं होनेसे सांख्योंकी त्रिगुणात्मक प्रकृतियां अदैतवादियोंके संवेदनादैत पुरुषादेत अथवा बौद्धोंके क्षणिकत्व आदिके समान ईस्वरकी भी सिद्धि नहीं होसकती है। कोई पूंछता है कि तिस कारण आठवीं वार्तिकसे प्रारम्भ कर अबतक क्या सिद्ध हुआ समझा जाय १ ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री विद्यानन्द स्वामी निर्णीत सिद्धान्तको अग्रिम वार्तिक द्वारा कहते है।

लोकोऽकृत्रिम इत्येतद्वचनं सत्यतां गतं। बाधकस्य प्रमाणस्य सर्वथा विनिवारणात् ॥ ६७॥

यह सम्पूर्ण लोक अकृतिम है इस प्रकार यह सिद्धान्त वचन सत्यताको प्राप्त होचुका है क्योंकि इसके बाधक प्रमाणोंका सभी प्रकारोंसे विशेषतया निवारण कर दिया गया है। अर्थात् – त्रिलोकसारमें यह सत्य किवा है कि "लोगो अकिष्टिमो खल्ल अणाइणिहणो सहावणिक्वत्तो। जीवा-जीवेहिं फुढो सन्वागासवयवो णिच्चो" स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें कहा है कि "सन्वायासमणंतं तस्स य बहुमज्ज्ञि संठिओ लोओ। सो केण वि णेय को ण य धरिओ हरिहरादीहिं" "अण्णोण्णपवेसेण य दन्वाणं अत्थणं भवे लोओ। दन्वाणं णिच्चतो लोयस्स वि मुणह णिच्चतं" परिणाम सहावादो पाडिसमयं परिणमंति दन्वाणि। तेसि परिणामादो लोयस्स वि मुणह परिणामं "मूलाचारके आठवें अध्यायमें लिखा है कि "लोओ अकिष्टिमो खल्ल अणाइणिहणो सहावणिपणो। जीवाजीवेहिं भरो णिच्चो तालरुक्ख संठाणो " इत्यादिक सर्वज्ञोक्त आगम तो निर्वाध होनेसे सर्वागरूपसे सत्यार्थ हैं।

स्रोकः खस्वक्रित्रमोऽनादिनिधनः परिणामतः सादिपर्यवसानश्चेति प्रवचनं यथात्रेदानीं-तनपुरुषापेक्षया वाधविवर्जितं तथा देशांतरकात्यंतरवर्तिपुरुषापेक्षयापि विश्लेषाभावात् ततः सत्यतां शाप्तिविति सिद्धं सुनिर्णीतासंभवद्वाधकप्रमाणत्वादात्मादिपातिपादकप्रवचनवत् ।

नियमसे यह छोक किसी द्वारा नहीं किया गया अकृत्रिम है। अनादिसे अनन्तकाळ्तक स्थिर रहनेवाळा है। हां, पर्यायोंकी अपेक्षा सादि, सान्त, भी है। इस प्रकारके शाखवाक्य जैसे इस देशमें होनेवाळे या इस काळमें होनेवाळे पुरुषोंकी अपेक्षा करके बाधविवर्जित हैं उसी प्रकार देशान्तर कालान्तरवर्ती पुरुषोंकी अपेक्षासे भी निर्बाध हैं। इस देश और इस कालके पुरुषोंकी अपेक्षा अन्य देश और अन्यकालके पुरुषोंसे उक्त आगमको निर्बाध प्रामाण्य सम्पादन करनेके लिये कोई अन्तर नहीं पढता है। भावार्थ—यावत देश यावत कालोंके मनुष्योंमें दो हाथ, दो पांव, एक शिर, मुखसे खाना, नाक्ससे सूंचना आदिमें जैसे कोई अन्तर नहीं है उसी प्रकार वर्तमान काल या इस देशके मनुष्य इस लोकविन्यासको अकृत्रिम अनादि निधन जैसे साध रहे हैं वैसे ही देशान्तर, कालान्तरके मनुष्य भी जगत्को अकृत्रिम ही बाधारिहत साधते होंगे तिस कारणसे वे आगम वाक्य सत्यताको प्राप्त हुये समझो। इस कारण वश्यमाण अनुमान द्वारा सिद्ध हो जाता है कि लोकको अकृत्रिम या अनादि निधन कह रहा शास्त्रवाक्य (पक्ष) सत्यार्थ है। (साध्य) क्योंकि बाधक प्रमाणोंके असम्यव होनेका भले प्रकार निर्णय किया जा चुका है। (हेतु) आत्मा, आकाश, मोक्ष, आदिके प्रतिपादक शास्त्र वाक्योंको जैसे सत्यता प्राप्त है। (अन्वय दृष्टान्त)। यो आठवी वार्तिकसे कर्तृबा-दक्ता पूर्वपक्ष आरम्भ कर यहांतक प्रकरणोंकी संगति मिला दी गयी है।

अथानुमानाद्प्यकुत्रिमं जगात्सिद्धमित्याइ।

जिस प्रकार आगम प्रमाणसे छोकको नित्य सिद्ध किया गया है। अब अप्रिम वार्त्तिक द्वारा अनुमान प्रमाणसे भी श्रीविद्यानन्द स्थामी इस जगत्को कत्तीसे अजन्य सिद्ध करते हुये यों कह रहे हैं कि—

विशिष्टसिन्नवेशं च धीमता न कृतं जगत् । दृष्टकृत्रिमकूटादिविलक्षणतयेक्षणात् ॥ ६८ ॥ समुद्राकरसंभूतमणिमुक्ताफलादिवत् । इति हेतुवचः शक्तेरपि लोकोऽकृतः स्थितः ॥ ६९ ॥

विलक्षण रचनावाला यह जगत् (पक्ष) किसी बुद्धिमान् करके किया गया नहीं है (साध्य) जिन कृत्रिम पदार्थोंको बनानेवाले कर्ता देखे जाते हैं। उन कृट, गृह, गाडी, आदि कृत्रिम पदार्थोंसे विलक्षणपने करके देखा जा रहा होनेसे (हेतु) समुद्र या खानमें मले प्रकार स्वकीय कारणोंसे उपजे मोती, मृंगा, हीरा, पन्ना आदि पदार्थोंके समान (अन्वयद्द्रशन्त) इस प्रकार निदोंच हेतुके बचनकी सामध्येस भी यह लोक अनुमान प्रमाण हारा अकृत्रिम व्यवस्थित हो चुका है। अर्थात्—चौकी, सन्द्रक, किवाड आदिको बर्द्ध बना सकता है। किन्तु इसके उपादानकारण काठको नहीं बना सकता है। सूचीकार वस्त्रांको सींव सकता है किन्तु रुई, उन्न, रेशमको स्वतंत्रतया नहीं गढ सकता है। इई बनके पेडपर इमती है, पशु पक्षी, मनुष्योंके बाल अन है रेशमको कीड कराले हैं

यों ही युनार सुन्दर भूषणोंको बना छेता है किन्तु सोना, चांदी, तांबेको मूल्रूपसे नहीं उपजा सकता है, हलवाई मनोहर पक्षानोंको बना छेता है किन्तु इनके उपादान कारण रस या खांबको खांत्र नहीं बना सकता है। सुवर्णकार, अयस्कार, आदि नाम तो कोरे नामनिक्षेपसे हैं। रोटी, दाल, पेडा, वक्क उपादान या सोना, चांदी, काठ, हीरा, मोती, मांस, रक्त, आदिको वे एकेन्द्रिय, या दीन्द्रिय आदि जीवहीं कर्नपरवश होरहे अपने अपने व्यक्त, अव्यक्त, पुरुषार्थ द्वारा बनाया करते हैं। सूर्य, चन्द्रमां, समुद्र, पर्वत, धर्म, अधर्म, आकाश, जीव, पुद्रल, आदिका समुदाय रूप यह लोक किसी एक ही बुद्धिनान करके बनाया गया नहीं है।

दृष्ठकित्रमविस्वसणतयेक्ष्यमाणश्च स्यात् कुत्रिमश्च स्यात् संश्विवस्वविश्विष्टो स्रोक्षां विरोधाः भावात् । ततः सिद्धस्य हेतोः साध्येनाविनाभावित्वमिति मन्यमानं मत्याह ।

यहां उक्त अनुमानमें कोई नैयायिक पण्डित प्रतिकृत्व तर्क उठाता है कि हेतु रह जाय साध्य नहीं रहे । सुनिये, यह लोक कर्तासहित रूपसे देखे जा रहे कृत्रिम पदार्थों विलक्षणपने करके देखा जा रहा होय, और सिमेंवेशिवेशिवको धार रहा यह लोक कृत्रिम भी होय, कोई विरोध नहीं आता है । देखो धूम होय और अग्नि नहीं होय यों प्रतिकृत्व तर्क उठा देनेसे कार्यकारणभावका भंग होजाना यह विरोध खदा हुआ है । अतः " अग्निमान् धूमात्" इस प्रसिद्ध अनुमानमें प्रतिकृत्व तर्क नहीं उठा सकते हैं किन्तु यहां लोकमें हेतुके रहने पर भी साध्यका नहीं रहना आपादन किया जासकता है । आप जैनोंने स्वयं कहा है कि अन, मांस, पाषाण, आदि पदार्थ उन चीजोंसे विलक्षण हैं जिनके कि बनाने वाले उच कोटिके कारीगर देखे जाते हैं फिर भी अन आदि पदार्थ एक इन्दिय, दीन्हिय, आदि जीवोंके द्वारा बना लिये गये हैं तिस कारणसे इस तुम्हारे हुए कृत्रिम विलक्षण सामिमान माने चले जारहे नैयायिकोंके प्रति श्री विषानन्द आचार्य अग्निम वार्तिक हारा समान्यान कवनको कहते हैं ।

नान्यथानुपपन्नत्वमस्यासिद्धं कथंचन । कृत्रिमार्थविभिन्नस्याकृत्रिमत्वपसिद्धितः ॥ ७० ॥

हमारे इस हेतुका अन्यथानुपपित्तसे सहितपना किसी भी ढंगसे असिद्ध नहीं है। क्योंकि कृत्रिम अर्थोंसे विमिन्न हो रहे पदार्थों के अकृत्रिमपनकी प्रमाणोंसे सिद्धि हो रही है। मावार्थ—अन, काठ, सीना, दीरा, मांस, हड़ीको, भड़े ही वे एकृत्रिय आदि नाना जीव बना केवें। किन्तु सूर्य, चन्त्रमा, सुदर्शन मेरु, अक्रोकाकाश, काळ्ड्रच, कोक आदि अकृत्रिम पदार्थों को नाना जीव या एक जीव कथापि नहीं बना सकते हैं। जैनसिद्धान्त अनुसार हुस्क जीव अपनी योगशक्ति द्वारा नोकृष

वर्गणाना आकर्षण कर स्वकीय पुरुषार्थस्वरूप हो रही पर्याप्तिशक्तिकरके उन वर्गणाओंको काठ रूप बना केता है वह शरीर उस जीवका कायबळप्राण कहा जाता है। सोनेकी खानका एक इन्द्रिय जीव अनेक कमीके पराधीन हो रहा इसी प्रकार नोकर्म वर्गणाका स्वकीय शरीर सोना बना छेता है। हीरा, पना, पाषाणकी सृष्टि भी इसी ढंगसे हो जाती है। द्वीन्द्रिय सीपका जीव जल विशेषको अपने दैव या पुरुषार्थ द्वारा मुक्ताफल रूप परिणमा छेता है जैसे कि रेशमका कीडा रेशमको, या गाय भैंस जीव अपने खाये गये मुस, घास, खछ, बनोरे, आदिका दूध बना छेती हैं। कीडी, मकोडे, मकखी, बर्र, घोडा, हाथी, तोता, कबृतर, मनुष्य, सी, ये जीव कतिपय कर्मीका उदय होनेपर स्वकीय पर्याप्तियों द्वारा या अन्य अनेक व्यक्त अध्यक्त प्रक्षार्थी करके मांस, रक्त, मेद, चर्ची, आदि धात अथवा उपधात या मळ मूत्र तथा ज्वर, सनिपात आदि कार्योके कत्ती माने जा सकते हैं । किन्त अनादिनिधन छोक, सूर्य, अनेक द्वीप, समृद्र आदिका स्वतंत्र कत्ती कोई बुद्धिमान् नियत नहीं है। बढिया शिल्प कार, या वैज्ञानिक द्वारा बनाये गये नहीं होनेसे मुक्ताफल आदिको अकृत्रिम कह दिया है। वस्तुतः अन, मांस, मोती, आदिक किसी अपेक्षा कृत्रिम माने जा सकते हैं किन्तु छह द्रज्योंका समुदाय रूप यह छोक या सूर्य, चन्द्रमा, सुमेरु, द्वीप, समुद्र, स्वर्गस्यान, नरक्रस्थान, ऊर्घछोक, अधोछोक, अङ्गत्रिम चैत्यालय, आठ भूमियां, वातवलय आदिक पिण्डोंका समदाय रूप यह छोक तो अकृत्रिम है। है। अतः हमारे हेत्का नियत साध्यके साथ अविनाभाव बना रहना पुष्ट प्रमाणोंसे सिद्ध है । अनुकूछ तर्भवाछ। यह हेतु अपने साध्यको अवस्य साधेगा ।

न हि कुत्रिमार्थविकक्षणो गगनादिः कृत्रिमः सिद्धो येन साध्यव्याद्वतौ साधनव्याद्वाति । विश्वतान्यथानुपर्यत्तरस्य हेतोर्न सिध्येत् ।

कर्ता द्वारा बनाये गये कृत्रिम, घट, पट आदिक अर्थीस विलक्षण हो रहे आकाश, सूर्य, आदिक पदार्थ तो कृत्रिम सिद्ध नहीं हैं जिससे कि व्यतिरेक द्वारा साध्यकी व्याद्वाति हो जानेपर साधनकी व्याद्वाति हो रही स्वरूप निश्चित अन्यथानुपपत्ति इस हेतुकी सिद्ध नहीं होवे। अर्थात्— हमारा हेतु अविनामावी है।

असिद्धताप्यस्य इतोर्नेत्यावेदयति ।

हेतुके व्यमिचार दीवकी आशंकाका प्रत्याख्यान कर इस " कृत्रिमार्थविलक्षणत्व " हेतुका असिद्ध हेत्वामासपना भी नहीं है इस बातका श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम वार्तिकद्वारा विद्वापन करे देते हैं।

नासिद्धिर्मणियुक्तादौ कृत्रिमेतरतोऽकृते । कृत्रिमत्वं न संभाव्यं जगत्स्कन्थस्य ताहश्चः ॥ ७१॥

उपादान शक्तियोंके प्रत्यक्ष रूपसे परिज्ञापक, अशरीर, न्यापक, एक ऐसे विशिष्ट कर्ता द्वारा नहीं किये जा चुके मणि, हीरा, पन्ना, सोना, चांदी, काठ, कंकण, पत्थर, मही, मोती, गोळोचन, कस्त्री आदि पदार्थोंमें कृत्रिमविभिन्नत्व (विलक्षणत्व) हेतुसे नहीं कृत्रिमपना साध्य सम्भवने योग्य है । तिस ही प्रकारके अनेक पदार्थोंके स्कन्ध रूप हो रहे स्वरूप जगत्का कृत्रिमपना भी सम्मावनिभिन्नत्व नहीं है । अतः पक्षमें ठहर जानेसे हेतुके स्वरूपासिद्ध हेलाभास दोष नहीं लगा।

मणिश्वक्ताफलादीनां केषांचित्कृतिमत्वं त्रीहिसंमर्दनादिना रेखादिमस्वमतीत्या स्वयग्नुप्यन् परेषां सग्रदाकरोत्थानां तथा रेखादिमस्वासंमत्ययेनाकृतिमत्वं च तद्देलक्षण्यमालक्षयत्येव। तद्दद् दृष्टकर्त्वकमासादादिभ्यः काष्टेष्टकादिघटनाविश्वेषाश्रयेभ्यस्तद्विपरीताकारमतिपस्या भूभूघ-रादीनां वैलक्षण्यं मतिपच्चमहित च न चेदिमिनिविष्टमना। इति नासिद्धो हेतुर्मणिश्वक्तादावकु-त्रिमत्वव्यवद्यारक्षातिमसंगात् तद्दैलक्षण्यस्यापि तद्ददिसद्धेः।

प्रायः सम्पूर्ण वस्तुओंकी प्रतिकृति (नकल) करनेवाले इस युगमें नकली मोती, हीरा, पन्ना, माणिक्य (इमीटेशन) आदि बनने छगे हैं। ऐसे मणि, मुक्ता, आदिकोंको हम भी स्वतंत्र बुद्धिपूर्वक चाहे जैसे छोटा , बडा, बना देनेबाले कारीगर पुरुष करके कृत्रिमपना स्वीकार करते हैं । धानमें मिलाकर रगडनेसे यदि रेखा या कोई रगडका चिन्ह पढ जाय तो उससे उन माणि, मोती, माणिक आदिक नकर्जीपनका परिज्ञान हो जाता है। और भी रत्नपरीक्षाके उपायों द्वारा माणिक, मोती, आदिके नक्कीपन या असकीपनकी परीक्षा कर की जाती है। जिससे कि कैई नक्की पदार्थीके कृत्रिमपन और अनेक असळी पदार्थोंके अकृत्रिमपनका परिज्ञान कर छिया जाता है। आजकछ तो बृत, दुव, चून, खांड, वस भी नक्तजी पदार्थोंसे बने हुये आने जो हैं। सुना है कि मनुष्य भी नकळी बना दिये गये हैं। जो कि मनुष्योचित कतिपय कियाओं को भी करते हैं। कलको कोई स्वर्ग, नरक यहांतक कि मोक्षको भी नक्छी बनाछे तो कोई आश्चर्य नहीं है। रामचन्द्रके यगमें (जमानेमें) एक इन्द्र नामका राजा इस भरत क्षेत्रमें ही स्वर्गकी पूरी नकळ बनाकर स्वयं इन्द्र बन बैठा था। कैदलाने या दुःखियोंके घर तो अधोळोकस्य नरकोंसे उपमेय हैं। पुण्यशाली धनिकोंके स्थान स्वर्ग कल्पित किये जा सकते 🕻 । निराकुछ साधुओंकी तपोभूमिको कोई कवि एक देशसे मोक्षस्थानकी करपना कर सकता है। किन्तु इन सब उपचरित या अनुपचरित पदार्थोंके गीण. मुख्यपनकी परीक्षाके उपाय विश्वमान है। प्रकरणमें यह कहना है कि स्वयं नैयायिक पाण्डित भी किन्दी किन्दी मणि, मीती, घृत आदि पदार्थीका धान्योंके साथ रगडना, उष्ण जलमें तपाना आदि कियाओं करके रेखा पड जाना, खुरसट छग जाना, पानीमें विखर जाना आदिसे सहित-फ्लांकी प्रतीति हो जाने करके कृत्रिमपनको स्त्रीकार कर रहा है वह नैयायिक ऐसी दशामें समुद्र का कानसे उत्पन्न हुने दूसरे मोती, नृंगा, द्वीरा, पना, मणि, आदिकोंके तिस प्रकार रेखा आदिसे

सहितपनकी समीचीन प्रतीति नहीं होनेकरके अक्रुत्रिमपन और उन कृत्रिमसे विकक्षणपनका चारों ओरसे स्वरूपपरिज्ञान कर छेता ही है जैसे सूक्ष्मविचार बुद्धिद्वारा नकडी मणि, मोती, धृत आदिसे असकी मणि, मोती, आदिका विरुक्षणपना या अक्रिजमपना जान छिया जाता है उसी प्रकार सकर्तक देखे जा रहे और काठ चतुःकाष्टी (चौखट) ईट, चूना, छत्पर, किवाड, मनखण्डा, पुछ, पहिया आदिक विशेष अवयव घटनाओं के आश्रय हो रहे प्रासाद, कुये, नहर, बम्बा, गाडी, आदिकसे प्रथिवी, पर्वत, सूर्य, दरें, घाटियां, समुद्र, नदियां, आदिकोंका उन कृत्रिम गृह आदिके विपरीत ब्रितिपत्ति हो जानेसे विकक्षणपनको यह नैयायिक समझनेके लिये भी समर्थ हो जाता है इतनी स्टब्स सामग्री या दृष्टान्तके मिछ जानेपर भी यदि नैयायिक उन दृष्टकर्तक कोठी आदिकोंसे पर्वत आदिकोंके इस ब्रसिद्ध विकक्षणपनको नहीं समझ सकेगा तब तो इसकी चित्तवृत्ति एक खोटे अभिनिवेशसे युक्त ही मानी जा सकती है। समुचित वस्तुको यदि कोई कदाप्रहवश नहीं समझ पावे तो इसमें समझ। देनेबाछे बक्ता या बस्तुका क्या दोष है ! पूरा मूल्य देकर भन्ने ही नक्तकी अल्पमूल्य चीजोंको मोरू छेकर अविचारी या पेंगा बने रहो । असळी पदार्थोंको भोगनेवाला परीक्षक विद्वान कभी भी ऐसी अविचारित पोळम पोळ कियाको अभिरुचित (पसन्द) नहीं करता है इस कारण हमारा हेत असिद्धहेत्वामास नहीं है अन्यथा हीरा, पत्रा, मोती, मूंगा आदिमें अक्तत्रिमपनके व्यवहारकी क्षति हो जानेका प्रसंग होगा और उन पुराने गृहोंके समानही उन अकृत्रिम मोती, मणि आदिमें उन कृत्रिम मणि, मोती आदिकसे विलक्षणपनकी भी अधिद्धि हो जायगी। अर्थात् वैशोषक भूधर आदिकोंको कृत्रिम मानते हुये यदि महल, कोठी आदि कसे विलक्षणपना प्रथिवी, पर्वत आदिकमें नहीं मानेंगे तो समुद्र या खानसे उत्पन्न हुये असली मोती, मणियोंको भी अक्वत्रिमपना या क्वत्रिमोंसे विलक्षणपना ये नहीं साथ पार्येंगे आन्त, अआन्तका विवेक उठ जायगा । यह सोनेका मूल्य देकर मुख्यमा मोळ लिया जा रहा है पामर (गंवार) पुरुष भी मही, पत्थर, पीतल, खड आदि के बने हुये सांप, सिंह, घोडा, हायी, छीरा आदिकसे असली सांप, सिंह, हाथी आदिको विकक्षण और अकृत्रिम माननेके क्रेये उचक रहता है।

न हि वयं दृष्टकृतिमक्र्यदिविकक्षणतयेश्यमाणत्वमकृतिमतयेश्यमाणत्वं वच्मो येन साध्यसमो हेतुः स्यादिनत्यः बन्दो नित्यभमीज्ञुपल्लन्वेरित्यादिवत् । नापि भिन्नदेशकाला-कारमात्रतयेश्यमाणत्वं तदिभिद्धमहे येन पुराणप्रासादादिनानैकातिकः । किं तिर्हे १ घटना-विश्वेषानाश्रयत्येश्यमाणत्वं जगतः प्रतीतकृत्रिमक्यदिविकमणतयेश्यमाणत्वमिश्वियते । ततो निरवद्यपिदं साधनं ।

हम जैन ऐसे प्रतिमारहित या अदार्शनिक नहीं है जो कि कर्तांसे जन्य होकर दीख रहे कृत्रिम कूट (ऊंचा भन्मा, मीनार, ठोस गुष्मज) गृह, किलोने आदिसे विश्वभूजपूने

करके देखे जा रहेपनको ही अक्रुत्रिमपनकरके देखा गयापन झट कह देवें जिससे कि '' शम्द अनित्य है नित्य पदार्थीके भर्मकी अनुपछन्धि होनेसे '' या पर्वत अग्निमान् है अग्निवाका होनेसे इत्यादिक हेतुओं के समान हमारा दृष्टकृत्रिमविकक्षणतया ईक्यमाणत्व हेतु '' साध्यसम '' नामक दोषसे प्रसित होजाय ! तथा केवल भिन्न देश, भिन्न काल और मिन आकार सहितपने करके देखे गयेपनको भी वह दृष्ट कृत्रिम विलक्षणतया ईक्ष्यमाणत्व हम नहीं कह रहे हैं जिससे कि पुराने कोठी. किले. गढ. खंडहर, खेरा. आदि करके व्यमिचार होजाय। तो फिर हम जैन क्या कह रहे हैं ! इसका उत्तर यह है कि काठ, डिट, छोहा, गाटर आदिकी घटना (रचना) विशेषके नहीं बाश्रय होरहे पन करके देखा गयापन ही जगत पक्षका कृत्रिम होकर प्रतीत होरहे कृट आदिसे विलक्षणपने करके देखा गयापन हेत हम जैनों करके कहा जारहा है । अर्थात - हमारा हेत साध्य सारिखा नहीं है जिससे कि अबतक साध्यकी असिद्धि होनेसे प्रतिक्रार्थे कदेशासिद्ध दोषवान होजाय क्योंकि बुद्धिमान कर्राद्वारा होसकनेवाली विशेष विशेष दंगकी रचनाओंका आश्रय रूपसे जगत नहीं देका जारहा है। नदियां, टेढी, मेढी वह रही हैं। पर्वत ऊंचे, नीचे, कोई शीतळ कोई उच्चा है। प्रथिवी कहीं ठाल, पीली, काली, होरही है, समुद्रमें भी पानी बरसता है, मेंछ, दादी मुख्या देने बालोंके बाल पुनः उपज आते हैं कांखमें बाल व्यर्थ उपजा दिये हैं, कहीं अतिष्ठृष्टि कहीं अनाबृष्टि होरही है। अनेक स्थलीपर पापी जीव आनन्द भोग रहे हैं जब कि पुण्यात्मा सम्जन पुरुष अनेक द्व:खोंको क्षेत्र रहे हैं। ईल्राका निषेध करने वालेंका मुंह नहीं बन्द किया जाता है। सर्वज्ञ, व्यापक, दयाल भी ईश्वर भला चार, व्यभिचारी, हिंसकोंके हृदयमें बूरे भावोंको क्यों उत्पन्न करता है ! जब कि वह सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान स्विकार किया गया है। कोई भी हितेषी पिता या राजा अपने पत्र या प्रजाको जान बुशकर अनर्थीमें दकेलकर पुनः उसको दण्ड देनेके लिये अभिलापुक नहीं रहता है अन्यया यह सब उत्तरदायित पिता या राजांके ऊपर ही पढेगा । कृतकृत्य ईश्वर कहां बैठकर किन कारणोंसे किस लिये जगत्को बनाता रहता है ! इन आक्षेपोंका मन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलता है। सृष्टि, प्रलय, उत्पत्ति विनाश, कहीं बृद्धत्व, किसीमें युवत्व, आदि अनेक विरुद्ध कार्योंको एक ईश्वर यगपत कथमपि नहीं कर सकता है। जगतमें कहीं साध पुरुष या पतिवता खियोंपर विपत्तियोंके पहाड ढाये जारहे हैं । किसी किसी धर्मात्माके आवश्यकीय एक पुत्र भी नहीं है। कतिपय कसइयोंके घर जब कि कुटुम्ब, धन, सम्पति, प्रमुतासे, भरपूर हैं गरीबोंको सताया जारहा है । धार्मिकवादका तिरस्कार कर पंजीबादके गीत गाये जारहे हैं। गेंद्रऑके साथ निर्दोष भिनुवाभी पिस रहे हैं। स्थान स्थानपर शोक, अरति, के कारण बढ़ रहे हैं । अतः कृत्रिम इट आदिसे विद्यक्षण-पना ही जगत्का अक्रत्रिमपना नहीं है जिससे कि हेत और साध्य दोनों एकसे होजाय किन्त बढिमान सर्वन द्वारा होने वाळी रचना विशेषके आधार नहीं होरहेपन करके जग-व्का दीवाना ही हमारे पूर्वोपास हेतका वर्ष है रहकर्त्क पदार्थीकी अपेका मिन देश.

मिन आकाश, मिन काल, सिहतपने करके जगत्का दीख जाना अपने हेतुका अर्थ कहते तब तो पुराने कुयें, खण्डहरोंसे व्यामचार आसकता था क्योंकि पुराने खण्डहर भिन्न देशीय मिन कालीन और निमिन आकार नाले हैं किन्तु ने अकृतिम नहीं हैं। माई हम तो हेतुका शरीर बुद्धिमान् कर्तास होनेवाली निचारपूर्वक रचनाओंका अनाधार होकर दीख रहापन कहते हैं। तिस कारणसे हमारा यह दृष्टकृतिम पदार्थीसे निलक्षणपने करके देखा जा रहापन हेतु सम्पूर्ण दोषोंसे रिहत है। अतः अपने अकृतिमत्न नियत साध्यको साध डालता है। यहां अब किसी कुतर्कको अवकाश नहीं रहता है।

नतु चेदस्मदादिकर्तकक्ष्टादिविलक्षणतयक्षणं जगतोस्मदादिकर्त्रयक्षयेवाकृतिमत्वं साध-येत् मणिस्रक्ताफलादीनामिव समुद्रादिमभवानां न पुनरस्मद्विलक्षणमहेश्वरकर्तृविश्वेषापेक्षया तदुपभोवतृमाण्यदृष्ट्विश्वेषापेक्षयाच्यकृत्रिमत्वयसंगात् । न च तद्येक्षयाकृत्रिमत्वेऽपि तेषां सर्वत्र कृतिमाकृत्रिमत्वव्यवद्दारिवरोधः मतीतकर्तृ व्यापारापेक्षया केषांचित्कृत्रिमत्वेन व्यवद्दरणात् । परेषामतीदियकर्तृ व्यापारापेक्षणेनाकृत्रिमत्या व्यवद्दृतरनीश्वरवादिनाप्यभ्युपगमनीयत्वात्, अन्यधास्य सर्वत्रोत्पत्तिमति तदुपभोवतृमाण्यदृष्ट्विश्वेषदेतुके कथमकृत्रिमव्यवद्दारः कचिदेव युज्येत । ततोऽस्मदादिकर्त्रपेक्षया जगतोऽकृत्रिमत्वसाधने सिद्धसाधनमस्मदिलक्षणेश्वरकृतिश्वेष्ट्रपापेक्षया त्र तस्य साधने विरुद्धो हेतुः साध्यविपरीतस्यास्मदादिकर्त्रपेक्षयैवाकृत्रिमत्वस्य ततः सिद्धरिति केचित् ।

नैयायिक या पौराणिक अपने ईस्तर कर्तृवादको करनेके छिये पुनः अनुनय करते हैं कि आप जैनोंने जो इस हेतु द्वारा साध्यको साधा है वह अस्मदादिक राज, वर्ड्ड, मिखी, आदिक अर्ताओं द्वारा बनाये गये स्त्य, मीनार, आदिकसे विलक्षणपने करके दीखना तो जगत्को अस्मद् आदिक कर्त्तां-ओंकी अपेक्षा करके ही अकृत्रिमपनको साध सकेगा। जैसे कि समुद्र, खान, आदिसे उपजे हुये मणिमुक्ता आदिकोंको कर्त्ता अस्मद् आदिक नहीं होसकते हैं। अर्थात्—हम सारिखे अल्पवल, अल्पज्ञान, वाले जीव जगत्के कर्त्ता नहीं होसकते हैं यह हम नैयायिकोंको भी अभीष्ट है, किन्तु फिर हम लोगोंसे विलक्षण होरहे महेक्चर नामक विशेष कर्त्ताको अपेक्षासे जगत्का अकृत्रिमपना नहीं साधा जा सकता है। अर्थात्—हम लोग मले ही जगत्के कर्त्ता नहीं होय फिर भी हमसे विलक्षण होरहा महान् ईस्तर तो जगत्का कर्त्ता सुल्अतया सध जावेगा। यदि जैन विद्वान देखे जारहे वर्ड्ड, कोरिया, कुम्हार, अध्यापक, वैज्ञानिक, इन्जिनियर, आदिक एकदेशीय कर्त्ताओंसे विलक्षण होरहे महेक्चरको जगत्का कर्ता नहीं मानेंगे तब तो उन शरीर, इन्दिय, हक्ष, भूषण, वक्ष, आदिक कार्य पदायोंका जगत्का कर्ता नहीं मानेंगे तब तो उन शरीर, इन्दिय, हक्ष, भूषण, वक्ष, आदिक कार्य पदायोंका उपमोग करने वाले प्राणियोंके अदृष्ट विशेष (पुण्य पाप) की लपेक्षा करके भी जगत्को अकृत्तिम पनेका प्रसंग होजायगा। अर्थात्—जैसे जैन जन यो छट कह बैठते हैं के जगत्को कर्ता क्षिप पनेका प्रसंग होजायगा। अर्थात्—जैसे जैन जन यो छट कह बैठते हैं के जगत्को कर्ता हम आदिक कोई भी, संसरी नहीं हैं, हमसे विलक्षण होरहा ईश्वर भी जगत्का विधावक

नहीं है। उसी प्रकार हम नैयायिक भी कह सकते हैं कि शरीर, इन्द्रिय, राग, द्वेष आदिके करण कारक जैसे वसूळा, दण्ड, तुरी, आदिक नहीं हैं उसी प्रकार इन करणोंसे विलक्षण होरहा अद्देश भी शरीर आदिका करण नहीं होसकेगा किन्तु यह अदृष्टका करण नहीं बन सकना हम, तुम, दोनोंको इष्ट नहीं है। सात्रारण व्यक्तियोंको जगत्का कर्तृत्व नहीं होनेपर भी असाधारण परमात्माको जगतक। कर्तत्व सघ सकता है। ईश्वरको नहीं माननेवाले जैन या बौद्ध यों भय करें कि उस ईस्वर या अदृष्टकी अपेक्षा करके यदि अर्थीमें कृत्रिमपना माना जायगा तो सभी स्थानोंपर उन पदार्थोंके कृत्रिमपन और अक्रात्रिमपनके पृथक पृथक हो रहे व्यवहारका विरोध हो जायगा । सभी पदार्थ कृत्रिम बन बैठेंगे । इसपर इम नैयायिक यों समझाते हैं कि इस मीतिकी आशंका नहीं करना ईश्वरकी अपेक्षासे क्रात्रिमपना होते हुये भी उन पदार्थोंके क्रात्रिमपनके या अक्रुत्रिमपनके व्यवहारका विरोध नहीं हो पाता है क्योंकि जिन पदार्थीमें कत्ताओंके व्यापार देखे जा रहे हैं। उसकी अपेक्षा करके किन्हीं किन्हीं घट, पट, भूषण, गाडी, गृष्ट आदि पदार्थीका क्षत्रिमपने करके संसारमें व्यवहार हो रहा है । और इन पदार्थोंसे न्यारे सूर्य, चन्द्रमा, प्रायेवी, शरीर, पर्वत, आदिक पदार्थोंको इन्द्रि-योंके अगो चर हो रहे विशेष कत्तांके व्यापारकी अपेक्षा करके अकृत्रिमपन रूपसे व्यवहार हो रहा है। अर्थात-ईस्वरको उनका कत्तापन होते हुये भी वे अकृत्रिम हैं। ईस्वरको जगत्का कर्ता नहीं माननेवाले जैन, चार्वाक, बीद्ध, वादियों करके भी इसी दंगसे क्रात्रिमपन और अक्रुत्रिमपनका स्वीकार करना अनिवार्य पहेगा अन्यथा यानी दृष्टकर्तक पदार्थोंको ही कृत्रिम मानते हुये यदि अतीन्द्रिय कर्त्ता द्वारा उपज रहे पदार्थोंको अकृत्रिम नहीं माना जायगा तव तो इस अनीश्वर वादीके यहां उन उन शरीर, इन्द्रिय, आदि कार्योंके उपभोक्ता प्राणियाँके पुण्य, पाप, विशेषको कारण मानकर जन्म छे रहे सम्पूर्ण उत्पत्तिमान कार्योमेंसे किन्हीं विशेष कार्योमें ही भछा अक्रुनिमपनेका व्यवहार कैसे समिचित ही सकेमा ? तुम ही बताओ तुम जैन भी तो सीपके जीवके पुण्य, पाप, या पुरुषार्थसे उपजे हुये असळी मोतीको अक्रत्रिम मान रहे हो तिस कारणसे इम नैयायिक कहते हैं कि जैन विद्वान यदि हम आदि कर्ताओं की अपेक्षारी जगत्को अकृत्रिमपना उक्त अनुमानसे साध रहे हैं। तब तो जैनों के ऊपर सिद्धसाधन दोष है। इम ईस्वरवादी नैयायिक भी तो अस्मद आदिककी अपेक्षा जगतको सकार्द्रक नहीं मानते हुये अक्रिक्रम मान रहे हैं हम लोगोंसे विलक्षण हो रहे कर्ता विशेष ईस्वरकी अपेक्षा करके तो उस जगतुको यदि अकृत्रिम साधा जायगा तब तो जैनोंका दृष्टकृत्रिमविरुक्षणतया ईक्पमाणत्व '' हेतु विरुद्ध हेत्वाभास है क्योंकि प्रकरण प्राप्त अकृत्रिमत्व साध्यसे विपरीत हो रहे अस्मद् आदि कर्राओंकी अपेक्षा करके ही अक्रत्रिमपनेकी उस हेत्से सिद्धि हो। पार्ता है हम छोगोंसे निकक्षण ईश्वर कर्त्वांकी अपेक्षा भी अकृत्रिमपनकी उस हेत्रसे सिद्धि नहीं हो सकती है अतः जैनोंका हेतु साम्बंसे विपरीत हो रहे साम्याभावके साथ न्यासिको रखनेवाळा होनेसे बिरुद्र हुआ । यहांतक कोई नैयाधिक पण्डित कह रहे हैं।

तेपि न न्यायिदः, अनित्यः श्रन्दो नित्यविक्रक्षणतया प्रतीयमानत्वात् ककशादिवदि-त्यादेरप्येवमगमकत्वमसंगात् । श्रन्यं हि वकुं यदि निरितश्चयनित्यविक्रक्षणत्येक्षणात्सातिश्च-यानित्यत्वमनित्यत्वं साध्यते तदा सिद्धसाध्यता " तेनैवं व्यवहारात् स्यादकौठरुथ्येपि नित्य-तेति " स्वयं मीमांसकैरभिधानात् । अनेकक्षणश्चयस्थायित्वं साध्यं तदा विरुद्धो हेतुस्तद्विपरी-तस्य साविश्वयनित्यस्त्रक्षणस्यैवानित्यत्वस्य ततः सिद्धिरिति ।

अब आचार्य महाराज समाधान करते हैं कि वे नैयायिक पण्डित भी न्यायमार्गको नहीं समझ रहे जैसा नाम वैसा काम करनेवाछे नहीं है। देखिये तुमने शब्दको अमित्य सिद्ध करनेके क्रिये यह अनुमान बनावा है कि शब्द (पक्ष) अनित्य है (साध्यदन्त) क्योंकि नित्य पदार्थींस विच्ञक्षणपने करके प्रतीत किया जा रहा है (हेतु) कलसा, रोटी, दाल आदिके समान (अन्वय-द्यान्त) अथवा " पर्वतो वन्हिमान् घूमात् महानसवत् " इत्यादिक असिद्ध हेतुओंको भी इस प्रकार क्रचोघोंद्वारा तुम्हारे यहां अगमकपनेका प्रसंग होगा यहां भी शब्दको नित्य माननेवाले मीमांसकोकरके यों कहा जा सकता है कि नैयाथिक उक्त अनुमानद्वारा यदि निरितशय नित्य पदार्थींसे विकक्षणपने करके दीख जाना हेत्रसे सातिशय नित्यत्व स्वरूप अनित्यत्वको साध रहे हैं तब तो सिद्धसाध्यता दोष है। हम मीमांसक भी शब्दकी कूटस्थ नित्य नहीं मानते हैं अग्निका संयोग हो जानेपर अनित्यजळ अपने शीत अतिशयको छोड देता है और उच्चताका आधान कर छेता है। किन्तु कृटस्य नित्य पदार्थ ऐसा नहीं कर सकता है। कृटस्थका अर्थ " अनाधेयाप्रहेयातिशय " है । जो पदार्थ चाहे कितने भी प्रेरक कारणेंका सम्प्रयोग है। जानेपर उनके धर्मी अनुसार धर्मान्तरोंको प्रहण नहीं करता है और अपने उपात्त कर छिये गये अतिशयोंको छोडता भी नहीं वह वह कूटस्य है जैसे कि आकाश किन्तु नित्य हो रहा भी शब्द कृटस्य नहीं है वैदिक, छौकिक, महान् अभिव्यंजक, अल्प अभिव्यंजक ब्बनि, कण्ठ, तालु, आदि परिस्थितियों के वशशवतीं हो रहा परिणामी निस्य है। अतः ऐसे सातिशय नित्यस्वरूप अनित्यत्वकी सिद्धि करनेपर इम मीमांसक तुम नैयायिकोंके ऊपर " सिद्धसाधन " दोष उठाते हैं। स्त्रयं मीमांसकोंने अपने प्रन्थोंमें यों कहा है कि संकेत काळ न्यवहारकालमें वहका वही न्यापक हो रहा शन्र नित्य है । क्योंकि उस संकेतगृहीत शन्द करके हैं। मैं शन्द बोध करनेवाळा पुरुष यह व्यवहार करता हूं कि यह गी है, अमुक घट है इत्यादि, अतः कुटस्थपना नहीं होते हुये भी शब्दको नित्यपना युक्तिप्राप्त है। व्यंज-कोंकी तीवता, मन्दता, अल्पीयत्स्य, तत्तादेशीयत्व आदिकी अपेक्षा शब्दमें कुछ अतिशयोंकी संक्रान्ति होना अभीष्ट है ऐसे अनित्यत्वका हमने खण्डन कहां किया है ! हां अनेक तीन तीन क्षणोंमें स्थायी-पन यदि अनेक रान्दोंका अनित्यपना साधा जाता है तब तो तम नैयायि होता हेत विरुद्ध हेत्वामास है, क्योंकि उस तुम्हारे सर्वथा अनित्यस्य साध्यसे विपरीत होरहे साविशय नित्यस्यस्पही अनित्यपनकी

राष्ट्रमें उस हेतुसे सिद्धि होसकती है। अर्थात् शाणिकत्रादी बीद्ध तो. पदार्थीका प्रथम क्षणेंम आत्मकाम मान कर दूसरे क्षणमें हैं। व्यंत मानते हुये ज्ञान, घट, आदिको क्षणिक मानते हैं। जैनोंके यहां एक क्षण या दो, चार, छाखों, असंख्य, क्षणोंतक ठहरने वाळी सूक्ष्म पर्याय या स्थूछ पर्यायोंको क्षणिक कहा जा सकतां है कारण कि अनेक (संख्यात, असंख्यात) क्षणोंतक ठहरनेवाले बिजली, बबुला, दीपकालिका, आदि भी जगत्में क्षणिक पदार्थ माने गये हैं। अतः " दितीयक्षणवृत्तिष्वंसप्रतियोगित्व " या " अनेकक्षणवर्तिष्वंसप्रतियोगित्व " ये दोनों उक्षण स्तम समयवर्ती पर्याय अथवा कतिषय समयवर्ती स्थूछ पर्यायोंकी अपेक्षांसे समुचित हैं किन्तु वैरेषिकोंन तृतीयक्षणवृत्तिष्वंस-प्रतियोगित्व यानी प्रथम समयमें उत्पत्ति द्वितीय समयमें शब्दकी स्थिति (श्रुति) और तीसरे क्षणमें नाश हो जाना ऐसा क्षणिकपना शस्द या ब्रानोंमें स्वीकार किया है। हां, अपेक्षाबुद्धिका चौथे क्षणमें वे व्वंस होना मानते हैं। वैरेषिक पण्डित पांचवें क्षणमें नष्ट हो जानेवाली क्षणिक क्रियाओंका चार क्षणतक ठहरे रहना स्वीकार करते हैं। ईस्वर इच्छा या संयोग आदिसे प्रथम क्षणमें कियाकी उत्पत्ति, द्वितीय क्षणमें उससे विभाग, तृतीय क्षणमें पूर्व संयोगनारा, चतुर्य क्षणमें उत्तरदेशसंयोग पुनः पांचवे क्षणमें कियाका नाश होजाता है। यों क्षणिकत्वके कतिपय अर्थ हैं। इसी प्रकार नित्यके भी कूठस्य नित्य, सातिशय नित्य, परिणामी नित्य, धारा प्रवाह नित्य, बीजाङ्कुर न्याय अनुसार नित्यत्व, अनादि सान्त नित्यत्व, सादि अनन्त नित्यत्व, ऐसे कतिपय अर्थ हो सकते हैं । अतः शन्दका अनित्यपना साधनेपर नैयायिकोंके ऊपर हम मीमांसकोंने सिद्धसाधन और विरुद्ध दोष उठाये हैं । इसी प्रकार साध्यमें विकल्प कगा कर विश्वमान् धूमात् आदि अनुमानोंमें भी उक्त दोष बगाये जा सकते हैं। जैसे कि नैयायिकोंने जैनोंके उपर सिद्धसाधन या विरुद्ध हेत्वाभास उठा दिये हैं।

यदि पुनर्नित्यमात्रविकक्षणतयेक्षणादिति इतुरिष्टमेव क्षणिकत्वाख्यमानित्यत्वं साधयति, तत्मे न सिद्धसायनं परस्य, नापि विकद्धो इतुरिति मतं तदा दृष्टकृत्रिमसामान्यविकक्षणतये-क्षणादिति इतुरस्मदादिकत्रपेक्षयास्मद्दिकक्षणेत्यरादिकत्रपेक्षयापि वाञ्कृत्रिमत्वं साधयतीति कथं नैयायिकस्यापि सिद्धसाधनं विरुद्धो वा इतुः स्यात् ।

फिर नैयायिक पण्डित यदि मीमांसकोंके प्रति यों कहें कि सामान्य नित्यसे विकक्षणपने करके दीखना इस प्रकारका हेत तो शन्दमें हमारे इष्ट हो रहे ही दो क्षण या तीन क्षणतक ठहरना नामके अनित्यपनको साथ देता है। तिस कारणसे मीमांसकोंकी ओरसे दिया गया सिद्ध साधन दोष दूसरे हम नैयायिकोंके उपर नहीं आ सकता है। तथा हमारा हेत विरुद्ध भी नहीं है क्योंकि हम नैयायिक तुम मीमांसकोंके यहां सिद्ध हो रहे सातिशय नित्यपमको शन्दमें नहीं साथ रहे हैं। तथा हमारा हेत अञ्चक्ष साध्यक साथ हो रही ज्यांतिशे भारता है। इस प्रकार नैयायिकोंका मन्तन्य होय तब का

तो हम जैन भी कहते हैं कि देखे जा रहे सामामान्यरूपसे सम्पूर्ण कृत्रिम पदार्थोंसे विकक्षणपने करके दीखना इस प्रकारका हमारा हेतु अस्मदादिकत्तीओंकी अपेक्षासे अथवा हम छोगोंसे विकक्षण हो रहे महेश्वर, ब्रह्म, प्रकृति, ब्रह्मा, आदि कर्ताओंकी अपेक्षासे भी नहीं कृत्रिमपनको जगत्में बहुत अच्छा साध देवेगा मछे ही उन उन कतिपय पदार्थोंके कर्ता अनेक जीवात्मायें हैं । किन्तु एक किसी ईश्वर या प्रकृतिकी अपेक्षा जगत् कृत्रिम नहीं है । ऐसी दशामें नैयायिककी ओरसे भी हमारे उपर सिद्धसाधन दोष कैसे हो सकता है ? और हम जैनोंका निर्दोष हेतु '' दशकृत्रिमविकक्षणतय। ईक्षण " मला विरुद्ध हेताभास कैसे हो सकता है ? । यानी नहीं हो सकता है ।

यथैव हि निरितश्यनित्यात् सातिशयनित्याच वैलक्षण्यश्चत्यादकविनाश्वकारणकत्वं प्रतीयमानं शब्दे स्वेष्टं क्षणिकत्वं साधयेत्, तथैवास्मदादिकृतात्कृटप्रांसादादेरीश्वरादिकृताच त्रिपुरदाहांधकासुरविध्वंसनादेः सामान्यतो वैलक्षण्यं घटनादिविशेषानाश्रयत्वं जगित समीक्ष्य-माणं सकलबुद्धिमत्कत्रेपेक्षयैवाकृत्रिमत्वं साधयतीति सर्वे निरवदं ।

जिस ही प्रकार मीमांसकोंके उत्पर घड़क कर नैयायिक यों कह सकते हैं कि सांख्योंके यह माने गये पुरुषके समान निरितराय नित्य पदार्थ और मीमांसकोंक यहां माने गये जीवात्माओंक समान सातिशय नित्य पदार्थ अथवा और भी किसी प्रकारके नित्य पदार्थीसे विकक्षणपना यानी सृष्टिप्रिक्रया और प्रख्यप्रिक्रिया अनुसार सबकी उपादेय उत्तर पर्यायका उत्पादक होते हुये पुनः उसके विनाशका कारण होजाना यहां '' नित्यविञक्षणतया ईक्षण '' हेतु शब्दमें भन्ने प्रकार प्रतीत किया जारहा उस हमारे अभीष्ट होरहे दो तीन क्षणतक ठहरना स्वरूप क्षणिकलको साध देवेगा । हम जैन भी नैया-यिकों के सन्मुख आत्मगौरव सहित कह सकते हैं कि उस ही प्रकार हम तुम मिस्री, बढई, कारीगर आदि द्वारा बनाये गये स्त्प, चबूतरा, चौपारें, कोठियां गृह, झोंपडे, चौकी, मन्दिर आदि पदार्थोंसे और तुम पौराणिकोंके मतानुसार मान छिये गये कार्यविशेषोंके कर्ता ईश्वरस्वरूप महादेव, विष्णु, बसा, आदि करके किये गये त्रिपुरका दाह, अन्यकासुरका विष्वंसन करना, गंगाका धारण, कामदेवका भस्म करना, आदि या चक्र धारण, कंतमर्दन, कैटमका जीतना, शिशुपाळवध, अथवा तपस्या द्वारा चतुर्मुख बनाना, इंसपर चढ छेना, आदि कार्योंने सामान्यतया बिळक्षणपना यानी काठ. ईट, छोहे, चुनाका ठीकठीक जोडना, क्रपर बना छेना, शक्ष धारण कर छेना, तपस्या कर छेना आदिक विशेष घटनाओंका आश्रयरिहतपना भन्ने प्रकार जगतमें देखा जारहा है यह इम जैनोंका हेतु हमारे अमीष्ट साध्य होरहे सम्पूर्ण ही बुद्धिमान् कत्तांओंकी अपेक्षा करके अकृत्रिमपनको जगत्में साध देता है। भावार्थ-पौराणिकोंके विचार अनुसार यदि शिवजीने त्रिपरका दाह कर दिया अन्धक राक्षसका त्रिष्वंस कर दिया, गजासुरको मार डाउ। इत्यादिक कियापें कथंचित् थोडी देरके छिये मानी जासकती हैं । विष्यु मगवानूने नूसिंह, कृष्ण, आदि अवतार द्वारा हिरण्यकशिय, प्रतना,

केशी, का क्ष किया ये कियायें भी असम्भव नहीं हैं, किन्तु ईश्वर करके जगत्का निर्माण करना असम्भव है क्योंकि जगत्में कर्ताओं द्वारा होनेवाली विशेष घटनायें या योजनायें नहीं पायी जाती हैं जगत्में उक्त त्रिपरदाह आदि कर्तुसाध्य कार्योंसे विलक्षणपना भी सलभतया बढिया देखा जारहा है अतः यह अविनामावी हेतु जगत्में अकृत्रिमपनको साधिहा देता है। शैवसम्प्रदाय बाले पुराणोंमें त्रिपुरकी उत्पत्ति और विनाशकी कथा इस प्रकार लिखी है कि " ततस्ते सहिता राजन , संप्रधार्यासकृद्ध । सर्वलोकेश्वरं बाक्यं प्रणम्येदमथाहुवन् । अस्माकं त्वं वरं देव, प्रयच्छेमं पितामह ? वयं पुराणि त्रीण्येव समास्थाय महीमिमाम् । विचरिष्याम छोकेऽस्मिस्वत्प्रसादपुरस्कृताः । ततो वर्षसहस्रे तु समेध्यामः परस्परम् । एकीमार्थं गमिष्यन्ति पुराण्येतानि चानघ । समागतानि चैकलं यो हन्याद्भगवंस्तदा । एकेषुणा देववरः स नो मृत्युर्भविष्यति । एवमस्त्रिति तान्देवः प्रत्युक्त्वा प्राविशाहिवम् । ते तु छन्धवराः प्रीताः संप्रधार्य परस्परम् । पुरत्रयविसण्ट्यर्थमयं बहुर्महासुरम् । विस्वकर्माणमगरं दैत्यदानवपुजितम् । ततो मयः स्वतपसा चक्रे थीमान् पुराणि च । त्रीणि कांचनमेकं वैरीप्यं कार्णायसं तथा। काञ्चनं दिवि तत्रासी-दन्तरीक्षे च राजतम् । आयसञ्चाभवद्भौनं चक्रस्थं प्रथिवीपते । एकैकं योजनशतं विस्तारायामस-म्मितम् । गृहाद्वालकसंयुक्तं बृहत्प्राकारतोरणं । गृहप्रवर्ंबाधमसम्बाधमहापथम् । प्रासादैर्विविधैरचैव द्वारैश्चाप्यपशोभितम् । पुरेषु चाभवन् राजन् । राजानो वै पृथक् पृथक् । काञ्चनं तारकाक्षस्य चित्रमा-सीन्महात्मनः । राजतं कमलाक्षस्य विद्युन्मालिन आयसम् । त्रयस्ते दैत्यराजानवील्लोकानाञ्च तेजसा । आक्रम्य तस्थुरूचुश्च कश्चनायं प्रजापतिः । तेषां दानवमुख्यानां प्रयुतान्यर्बुदानि च । कोट्यश्च प्रति वीराणां समाजग्मुस्ततस्ततः । मांसादाश्च सुद्धाश्च सुरैविनिकृताः पुरा । महदैक्वर्यमिष्कन्तिकपुरं दर्गमा-श्रिताः । सर्वेषाञ्च पुनस्तेषां सर्वयोगवद्दो मयः । तमाश्रित्य हि ते सर्वे वर्त्तयन्त्यकृतोभयाः । ये हि यं मनसा कार्म दघ्यात् त्रिपुरसंश्रयः । तस्मै कार्न मयस्तं तं विदर्भ मायया तदा । तारकाक्षस्रतो वीरो हरिर्नाम महाबलः । तपस्तेपे परमकं येनातुष्यत् पितामहः । सन्तुष्टमवृणोद्देवं वापी भवतु नः पुरे । शक्षैर्वि-निहता यत्र क्षिप्ताः स्युर्वेळवत्तराः । स त ळब्ना वरं वीरस्तारकाक्षः स्रतो हरिः । सस्य ने तत्र वाणी तां मृतसञ्जीवनी प्रमो । येन रूपेण दैत्यास्त येन योगेन चैत्र ह । मृतास्तस्यां परिक्षितास्तादृशेनव जिहरे । तां प्राप्य ते पुनस्तांस्तु सर्वान् छोकान् बबाधिरे । महता तपसा सिद्धाः सुराणां भयवर्द्धनाः । नैतेषामभवदाजन् क्षयो युद्धे कथञ्चन ॥ इस प्रकार त्रिपुरकी उत्पत्ति है । त्रिपुरमें रहनेवाले मय आदि मध्।पराजमी दैत्योंने सम्पूर्ण छोकको बाधा पहुँचाया तब सम्पूर्ण देवोंने एकत्रित होकरके महादेवसे उसके मारनेकी प्रार्थना की । एक महान् इद्ध रथ बनाया गया। मारां प्रार्थना करनेपर पितामहने रथका सारथी होना स्वीकृत किया । उस रथपर चढकर महादेवने बाण करके तीनों नगरोंको दग्ध कर दिया और मय आदि असरगणोंको जलाकर पश्चिम समुद्रमें फेंक दिया। इस बृतान्तको पराणोंमें यों क्रिया गया है कि " सर्वछोकस्य तेजांसि हृष्ट्रैकस्थानि मारिषाः। युक्तं निवेदयामासुर्देवास्तस्मै-महात्मने " " मूर्ति सर्वी समाधाय त्रैकोक्यस्य ततस्ततः रथं ते कल्पयिष्यामो देनेश्वर महोजसम्

तथैव बुद्धधा विहितं विस्वकर्मकृतं महत् । ततो विबुधशार्द्द्रशास्तं रथं समकल्पयन् । विद्यु सोमं हुताशञ्च तस्येषुं समकल्पयन् । शृङ्मग्निर्वम्वास्य मल्छः सोमो विशाम्पते । अतिष्ठत् स्थाणुभूतः स सहस्रं परिवद्सरान् । यदा त्रीणि समेतानि अन्तरीक्षे पुराणि व । त्रिपर्वणा त्रिशल्येन तदा तानि बिमेद सः । पुराणि न च तं शेकुर्दानमाः प्रतिबीक्षितुम् । शरं काळाप्तिसंयुक्तं विष्णुसोमसमायुतम् । पुराणि दग्धवन्तं तं देवा याताः प्रबीक्षितुम् " " तान् सोऽसुरग-णान् दग्न्या प्राक्षिपत् पश्चिमाणर्वे । एवन्तु त्रिपुरं दग्धं दानवाश्चाप्यशेषतः । महेश्वरेण कुद्धेन त्रैळो-क्यस्य हितैषिणा " तथा व्यासकृत वैष्णव सम्प्रदायवाले हरिवंश पुराणके एकसी पेतालीसवें अध्यायमें अन्धक अपुरकी उत्पत्ति यों लिखी है कि दिति कहती भयी " हतपुत्रास्मि भगवन् देवैर्धमेमृताम्बर । अवन्यं पुत्रमिच्छामि देवैरमितविक्रमम् । इसके उत्तरमें करयप उवाच । अवन्यस्ते सतो देवि दाश्चा-यणि भवेदिति । देवानां संशयो नात्र कश्चित् कमललोचने । देवदेवमृते रुद्रं तस्य न प्रभवाभ्यह्रम् । आत्मा ततस्ते पुत्रेण रक्षितन्यो हि सर्वया । अन्वालभत तां देवीं कश्यपः सत्यवागध । अङ्गुल्योदर-देशे तु सा पुत्रं सुषुवे ततः ॥ यह अन्धक असुर अविचारक पाप पंकर्मे कसे हुये अन्धे मदान्ध प्ररु-वोंके समान स्वच्छन्द अमण करता हुआ देव या मनुष्योंको अनेक कष्ट देता भया। पश्चाद महेशसे उसको मारनेके छिये दुःखित जनोंने प्रार्थना की । हरिवंश पुराण एक सी छियाछीसमें अध्यायमें छिखा है कि '' सुमोच मगवाञ्छकं प्रदीसाप्रिसमप्रभम् । ततः पश्चात् हरोत्सष्टमन्थकोरसि दुईरम् । सस्म-साचाकरोद्रीदमन्थकं साधुकण्टकमिति '' इसी प्रकार गजासुर कामदेव आदिके विनाश किये जानेकी रोचक कथायें पुराणोंमें छिखी हैं। विष्णु करके प्रत्हादकी रक्षाके छिये हिरण्यकशिएका वध अच्छे ढंगसे लिखा गया है। इसी प्रकार कंस, मुर आदिका नाश करना भी बडी श्रदाबुद्धिसे उपदिष्ट किया गया है। सच पूछा तो यह स्पष्ट रूपसे संकल्पी हिंसा है। एक छोटी श्रेणीका जैन गृहस्थ भी जिस संकल्पी हिंसाको नहीं कर सकता है। परमात्मा या परमात्माके आंशिक गुणोंको धारनेवाछ। देव या पुरुष तो कथमपि ऐसी हिंसाको नहीं करना चाहेगा । सञ्जन पुरुषोंक प्रभावशाली उपदेशों हारा है। कर पुरुष शान्त हो जाते हैं। अस्तु कुछ भी हो वैशेषिक या नैयायिक दार्शनिकोंने उक्त पीराणिक कयाओपर अखण्ड विस्वास नहीं रक्खा है। ये ईश्वरको अदेह स्वीकार करते हैं। हां, ईस्वर द्वारा विशिष्ट शक्तियोंको प्राप्त कर कोई कोई जीवात्मायें जगत्में बढे बढे चमत्कारक कार्योंको कर पाडती हैं ऐसा वैशेषिक मान छेते हैं। जैन सिद्धान्त अनुसार देव या राक्षसोंकी आयुका मध्यमें ही छिन हो जाना नहीं माना गया है हां, तीर्थेकर, चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण आदि पुण्य-शाली पुरुषोंके या विद्याओंको साधनेवाले पुरुषोंके अधीन अनेक देवता हो जाते हैं। अनेक देवोंके ऊपर कई पुण्यात्मा पुरुषोंका प्रभाव स्थापित हो सकता है। जैन पुराणोंमें भी महादेव, राम-चन्द्र, कृष्ण, पाण्डव, आदिके चरित्रींका वर्णन हैं। इद्रोंकी उत्पत्ति तो चारित्रसे श्रष्ट हो चुते मुनि और अधिकाके सम्बन्न द्वाय दुई मानी गयी है। इस कल्पकालकी अब-

सर्पिणीमें इसे ग्यारह रुद्रोमेंसे सबसे प्रथम भीमानिल नामक रुद्रने श्री अजितनाथ स्वामीको बाल्याक्स्थामें अनेक उपसर्ग किये पश्चाद् बालक अजितनाथकी महती शक्तिको आश्चर्या-न्वित देखकर महादेवने अजितनाथकी स्तुति की और क्षमा मांगी । अन्तिम महादेव सारपिकने चौदह सो विद्यार्थे सिद्ध करली थीं, अनेक राजाओंका पराजय किया था। ये हद महाशय भोगोंमें दिनरात व्याक्षित रहते थे । विद्याओं करके अनेक कष्टसाध्य अनहोने कार्योंको करके बाखते थे। इसी प्रकार बद्धा भी एक तापसी हुये हैं. जिन्होंने सैकडों वर्षोतक तपस्या की और तिखो-त्तमा पर आसक्त होकर तपस्यस्की शक्तिसे चार, पांच, मुख बनाये इत्यादिक कृतियां उक्त पुरुषोंकी प्रसिद्ध हैं, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, पाण्डव प्रराणोंमें रामचन्द्र, कृष्ण, का विस्तृत कथनाक मिळता है। होछिकादाहकी प्रथा भी इसी मित्ति पर अवलम्बित होकर प्रसिद्ध है। जैन पुराण और वैष्णव या शिव पुराणोंके कतिपय प्रकरण मिल जाते हैं। किन्तु जहां कार्य कारणभावका भंग होय या असम्भव न्यबस्था होय वह अजैन पराणींका विषय बाधित होजाता है जैसे कि मनुष्योंके संसर्गसे देवियोंके संतानकी उत्पत्ति बनाना, कानसे कर्णकी उत्पत्ति मानना, मनुष्यका घड और हाथीका सिर जुडकर गणेराजीका उत्पाद मानना, ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मणीकी उत्पत्ति मानना, गायके सींगपर प्रथिवीका धर रहना, जटाओंमें गंगाका क्षेत्रना । फिर कितनेही दिनीतक गंगा नदीका जटाओंमें ही अन्तर्भृत रहना इत्यादिक विषय निर्बाध नहीं हैं। अलंकार पूर्ण साहित्यमें घटा, बढ़ा कर कह दिया जाता है किन्तु असम्भवके परिवारका बढ़ां भी उक्ष्य रखा जाता है। अतः किन्हीं किन्हीं शक्तिशाली पुरुषों करके कभी कचित् प्रसिद्ध हुये त्रिपुरका दाह या अधंक असुरका विष्यंस, कोटिशिलाका उठाना आदि सम्भ-वनीय विषयोंको मान छिया भी जाय । किन्तु एक बुद्धिमान ईस्वर करके जगत्का बनाया जान। कथमपि विश्वसनीय नहीं है। यों तो जिनसेनाचार्य कृत सहस्रनाममें महादेव, विष्यु, ब्रह्मा, सुगत, आदि देवोंके अनेक नामोंका उल्लेख है । अमरकोशमें " शम्मुरीशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः " **ईमर,** शंकर, मृत्युञ्जय, वामदेव, **इर, ईशान,** त्र्यम्बक, त्रिखोचन, त्रिपुरान्तक, अन्धकरिप आदि अनेक नाम महादेवको कहे हैं। इसी प्रकार ब्रह्माको परमेष्ठी, आत्मभू, पितामह, स्वयंभू, नेघा, नामेय आदि नाम हैं। सहस्रनाममें " श्रीमान् स्वयम्भूर्व्षभः शंभवः शभुरात्मभूः । नित्यो मृत्युंजयो मृत्युरमृतात्मामृतोद्भवः । युगादिपुरुषो ब्रह्मा पंचत्रक्षमयः शिवः " दुरितारिहरो हरः " त्रिनेत्रस्त्र्यम्बक्तस्त्र्यक्षः केवळज्ञानवीक्षण " त्रिपुरारिक्षिकोत्तनः" सर्वक्केशापदः साधुः सर्वदीषहरो हरः, शंकरः शंकरो दान्तो" "तीर्थकृत् केवलशानः" " नाभेयो नाभिजो जातः " स्वयम्ब्योतिरजोऽजन्मा, सर्वन्नः सर्वदर्शनः " " स्वगतिः स्रश्रतः सुश्रुक्, सुगतो इतदुर्नयः '' तिह्रो बुद्धः प्रबुद्धाल्मा '' " समन्तभदः शांतारिर्धर्मा वार्यो दयानिधिः'' सूक्ष्म-दशीं जिलानंगः " " कुपालर्धमंदिशकः " इत्यादिक कतिपय अन्वर्धनामोका निर्देश किया गया है। इनमेंसे अनेकोंका अर्थ सहस्रनामकी स्तुतिमें यों हिखा है कि " अनंतभवसंक्रानजयादासीरनंतजित् " हे भगवन् तुम अनन्तको अर्थात् मब-संतारको जीतनेकी अपेका "अनन्तजित्" है। छोटे छोटे शारी-

रिक बल्धारी मनुष्य या देवता अथवा नीला, गरुड, मोरपक्षी भी सांपको जीत सकते हैं जीतना तो क्या मार भी देते हैं । किन्त आप तो अनग्त हो रही संसारकी सन्तनका जय करनेसे अनन्तजित 🔾 😘 त्रैळोक्यनिर्जयावाप्तदुधर्ष्यमतिदुर्ज्जयं, मृत्युराजं विजित्यासीण्जिन मृत्युंजयो भवान् '' तीनों बोकके जीतनेसे जिस यमराजको खोटा अभिमान प्राप्त हो चुका है जो कि अतीव कठिनतासे जीतने योग्य है उस आयुष्यकर्मरूपी मृत्युराजको जीतकर हे जिन आप ही मृत्युंजय माने गये हैं। अर्थात्—यमराज नामका कोई एक देवता सबको मारनेवाळा नहीं है। क्यों जी उसका मारनेवाळा कौन है ! ब्रह्मा, विण्यु, महेराके वह अधीन है ! या उसके अधीन ब्रह्मा, विण्यु, महेरा है ! स्रिका पुत्र और यमुनाका भाई माने गये यमकी उत्पत्तिके प्रथम मृत्युयें कैसे होती थी ! धर्मराज, यमराजका क्या सम्बन्ध है ? क्या यमराजके पुत्र पुत्रियां अविनश्वर है ? या उनको मारनेवाला कोई दूसरा यमराज है ? इन संपूर्ण प्रश्नोंका पौराणिकोंकी ओरसे सन्तोषजनक उत्तर प्राप्त नहीं होता है । अतः आयुष्य कर्मके जीतनेकी अपेक्षा श्री जिनेन्द्र देव ही मृत्युंजय हैं " त्रिपुरारिस्वमीशेशो जन्ममृत्यु जरान्तकृत " जन्म, जरा, और मृत्यु इन तीन नगरोंका अन्त कर देनेसे तुम जिनेन्द्र देन ही " त्रिपुरारि " हो तुम ही ईश हो । त्रिकाल त्रिलोकवर्ती मिन मिन तत्त्वोंको युगपत् जाननेवाले केनळज्ञान नामक चक्षुको धार रहे तुम त्रिनेत्र हो । माथेमें तीसरे नेत्रका होना अठीक है । निर्माण कर्म शरीरमें दोड़ी नेत्रोंको बनने देता है। विक्रियाशक्तिया विद्याबल्ध भले ही दिखाऊ उत्तर आकार चाहे कैसे भी बनालो । ऐसे त्रिनेत्रपन या सहस्रनेत्रपनकी कोई विरोध प्रशंसा नहीं है '' त्वामंधकांतकं प्राहुर्मीहांभासुरमर्दनात् , अर्द्धन्ते नारयो यस्मादर्द्धनारीक्षरोऽस्यतः " वस्तुतः स्वयं अन्धा होरहा और दूसरे सम्बिधयोंको मदोन्मत्त होकर अन्धा कर रहा मोह नामके अन्धासुरका मर्दन कर देनेसे हे जिन भन्य जीव तुमकी ही " अन्धकान्तक " कहते हैं। सर्वज्ञ होते हुये भी भविष्यमें देवोंके लिये द:ख प्राप्तिका नहीं ज्ञान रखने वाले वे ही पहिले किसीको अवस्य होनेका वरदान करें पन: उसीको रथ बनाकर सारथी होकर बाण चळाकर ने ही उन त्रिपुरोंको मारें यह तथ्य बृतान्त नहीं प्रतीत होता है। तथा दिति माता किसीसे नहीं मारा जासके ऐसे पुत्रकी अभिछाषा करे और कश्यपके द्वारा पेट पर अंगुलियोंको फेरते रहने पर ऐसे पुत्रको उपजा देवे पुनः महादेव द्वारा उस अवध्य पुत्रका संहार किया जाय ऐसे कथानक प्रतीति की उच्च शिखरपर आरूढ होने योग्य नेही है। अतः त्रिपुरारि और अन्धकासुर मर्दनका कथानक श्रीजिनेन्द्र देवमें जन्म, जरा, मृत्यु और मोह राक्षसका क्षय कर देनेसे सुप्रतीत होजाता है। आठ कमींसे आधे चार घातिया कर्मस्वरूप प्रबंख राख्नु जिन अर्हन्त देवके नहीं हैं। अतः अर्ध+न+अरि अर्धनारीक्षर अर्हन्त परमेष्ठी हैं। आधा पुरुषका और आधा स्नीका यों एक शरीर बन कर चिर जीवित रहे या बढी भारी माहमाको पावे यह समझमें नहीं आता है। इसी प्रकार मोक्षपदमें आन्यासीन होनेसे शिव और पाप शत्रुओंका हरण करनेसे हर, छोकमें सुख करनेसे शंकर आदिक नाम भी जिनदेशके सुबटित हो जाते हैं । " शिव:

शिवपदाष्यासाहुरितारिहरो हरः, शंकरः कृतशंकोके संमवस्त्वं भवन्यखे वृषभोसि जगज्येष्ठः पुरुः पुरुगुणोदयैः नाभयो नाभिसंभूतेरिक्वाकुकुळनन्दनः " "जन्माभिषेकवामाय वामदेव नमोऽस्तु ते " "केवळक्कानसंसिद्धावीशानाय नमोस्तु ते " "नमः परमिवक्कान" नमःपरमदृष्ट परमार्थाय तायिने" " नमः सुगतये तुभ्यं शोभनां गतिमीयुषे " इत्यादिक शिव, सुगत, ब्रह्माके पर्यायवाची नामोंसे यथार्थ महत्त्वोद्योतिक सम्भवनीय घटित हो रहे अर्थ श्री जिनेन्द्रदेवमें स्थापन किये गये हैं इस कारण सम्पूर्ण बुद्धिमान् कर्ताओंकी अपेक्षा करके भी जगत्में अकृत्रिमपना साध दिया जाता है इस प्रकार हम जैनोंका सम्पूर्ण कथन युक्तिपूर्ण निर्दोष है। हमारे " दृष्टकृत्रिमविलक्षणतया ईश्वण हेतुमें किसी दोष की सम्भावना नहीं है।

न ही श्वरनारायणादयः स्याद्वादिनाममिसद्धा एव, नापि तत्कृतित्रपुरदाहान्धकासुर-विध्वंसनादयो येन तद्विलक्षणं साधनस्रुपादीयमानं विरुद्धचेत। महेश्वरादेरिकलजगत्कारणस्यैव तेषामनिभमतत्वात् ताहशो महतो जगत्स्कन्धस्य सकलघटनाविश्वेषानाश्रयस्येश्वरापेश्चयापि कर्तृमश्वमसंभाव्यं सिश्ववेश्वविशिष्टत्यादेः साधनस्य तत्मयोजकत्वायोगस्य समर्थनात्।

हम स्याद्वादियोंके यहां ईश्वर, नारायण, बल्डेच, राक्षस, देव आदिक जीव अप्रसिद्ध नहीं है। और उन महादेव आदि करके किये जा चुके त्रिपुरका दाह, अन्यक अपुरका विश्वंस, पार्वतीपरिणय, विद्यासाधन आदि या कोटिशिला उठाना, प्रतिनारायणका पराजय करना, अनेक व्यंतर देवोंका अधि-पतित्व, अनेक लीलायें, लौकिक मुख भीगना आदिक भी इम जैनोंके यहां अप्रसिद्ध नहीं हैं जिससे कि उन त्रिपरदाह आदि कृत्रिम कार्यीस विलक्षणपने करके दीख जाना हेतु विरुद्ध हेत्वाभास हो सके। अर्थात्-जगत्को अकृत्रिन सिद्ध करने रे छिये पूर्व अनुमानमें प्रहण किया जा रहा हमारा दृष्टकृत्रिम विलक्षणतया ईक्षण हेत्विरुद्ध नहीं है। त्रिपुर ते। क्या ऐसे भी इतिहासमें अवसर आ चुके हैं कि प्रचंड राजाओंने बीसों पुरोंका और उनमें रहनेवालोंका विष्यंस कर दिया गया है। कोधी मुनि अपने तैजस शरीर द्वारा सैकडों पुरोका विनाश कर देता है। वीर निर्वाण सम्बद २४५६ चौबससी छप्पन या विक्रम सम्बत् १९८६ में राज्याधिकारियोंने करे।डों टीडियोंका विध्वंस कर दिया था, ईसवीय सन् १९१४ से १९१९ तक दुवे यूरपदेशके महायुद्धमें छाखों मनुष्योंका संक्षय हो चुका है। सन् १९१८ और १९१९ में मयंकर युद्ध अवर (इनफुल्यूइ ज्जा) के कारण भारतीय ६० लाख मनुष्यकाल कवलित हो गये थे। द्वेग, हैजा, में असंख्य मनुष्योंका विनाश हो जाता है। विकृत पुद्रल और कृर जीवोंके निमित्तसे चण्टों या मिनटोंमें करोडो, अरबों, खरबों, कीट, पतंग, मार दिये जाते हैं। इसी प्रकार तीर्थंकर महाराज असंख्य जीवोंका उपकार करते हैं। श्रूभतेजस पुतका द्वारा मुनि कोसों तक सुभिक्ष फैका देते हैं। कोटिशिका या कैकाशको नारायण अथवा रावणने उठा किया यों जैन प्रराणोंमें प्रसिद्ध है इत्यादिक अनेक कार्य किये जा सकते हैं। किन्तु ये सन्पूर्ण उक्त कार्य उन घट, घट, आदि कार्योंसे विखक्षण नहीं हैं जिनको कि बनानेवाले कत्ती देखे जा रहे हैं। अतः इस जैन संभावना प्रयुक्त तुम पौराणिकोंके त्रिपुरम्बंस, आदि कार्योको कथंचित् मान मी लेंबे. निर्वाध विषयों के स्वीकार कर लेनेमें कोई हानि नहीं है। बात यह है कि उन स्याहादियों के यहां अखिल जगतके कारण माने जा रहे महेश्वर, विधाता, ब्रह्माद्वेत आदिको ही अमीछ नहीं किया गया है दशकर्तृक पदार्थीमेंसे तिस प्रकार विलक्षण हो रहे असंख्य योजन लम्बे, चौडे, अति-महान , और काठ, ईट, आदिकी जुडाई करना, खम्भे बनाते हुये बारहद्वारी बनाकर शिखरकी रचना करना इत्यादिक ढंगसे सम्पूर्ण त्रिशेष, विशेष, घटनाओंके आश्रय नहीं हो रहे जगत् स्वरूप स्कन्धका कर्त्तासहितपना तुम्हारे ईश्वरकी अपेक्षा करके भी असम्भव ही है। क्योंकि जगत् की ईश्वरकृत्यपना साधते हुये तुम वैशीषिकों हारा प्रयुक्त किये गये सिन्नेवश विशिष्टल. अचेतनोपादानत्व आदिक हेतुओंको उस ईशरकृतत्व साध्यकी सिद्धिमें प्रयोजकपनका अयोग्य है इसका समर्थन इम जैन पूर्व प्रकरणीमें कर चुके हैं । अर्थात् -- तुम्हारे ईश्वर, नारायण, आदिको इम जैन स्वीकार करते हैं ये भन्य मनुष्य पूर्व कालोंमें अपने अपने माता पिताओंसे उत्पन्न होकर अधिक शक्तिशाली हो चुके हैं। भीमावली आदि ग्यारह रुद्र हैं। " भीमावलि जिदसक् रुद्द विसालणयण सुष्प-दिइ चला। तो पुंडरीय अजिधर जिदणाभीय पीड सचइजो " ये ग्यारह रुद्रों के नाम है।। उसहदु-काले पढमद सत्तण्ये सत्त सुविहिपहुदीसु, पीडो संति जिणिदे वीरे सच्चा सुदो जादो " भीमावलि और जित सत्र ये दो रुद्र भी वृषभनाथ और श्री अजितनाथक काळमें हुये हैं और पुष्पदन्त, शीतळनाथ, श्रेयोनाथ, वासुपुज्य, विमलनाथ, अनन्तनाथ, धर्मनाथ, और शान्तिनाथके कालमें क्रमशः रुद्र, विशा-छनयन, सुप्रतिष्ठ, पुण्डरीक, अजितंत्रर, जितनाभि, पीठ, ये रुद्र हैं और सत्यिकसुत श्री महावीरके काल्में हुये हैं तथा श्री त्रिलोकसारकी गाथानुसार " तिविहदुविहसयंभू पुरिस्रुत्तम पुरिससिंह पुरि-सादी, पुण्डरीय दत्त णारायण किण्हो अद्भवन्कहरा '' इस अवसर्पिणीमें ये नी नारायण हुये हैं और असग्गीओ तास्य मेरमय णिसुंभकइउद्दंत मह । बि पहरण रावणया खचरा भूचर जरासंधो " ये नी प्रतिनारायण हुये हैं तथा '' बलदेवा विजयाचलप्रधम्मसुणहसुदंसणा णंदी, तो णंदिमित्त रामा पडमा उपरि तु पडिसत्तु '' इस गाया अनुसार नौ बळदेव हुये माने गये हैं और इस अवसर्पिणीके वियाजीस हजार वर्ष कम एक कोटाकोटी सागर परिमित चतुर्थ कालमें " बन्नी भरहे। सगरो मधवसणक्कमार संतिकुंश्जिणा, अरजिण सुसोम महापण्डमा हरिलेण जय ब्रह्मदत्तकला " ये बारह चक्रवर्ती हये माने गये हैं इन महापुरुषोंके द्वारा किये जानुके महान अतिशयित कार्य भी प्रसिद्ध है। व्यंतर, भवनवासी, आदि देव निकाय भी प्रमाणों द्वारा निर्णीत हैं किन्तु अनादि निधन जगत्की रचना ऐसी विख्छाण है जो कि किसी एक बुद्धिमान द्वारा कथर्मीप कर्तव्य कोटिमें नहीं आसकती हैं। अतः हमारे साध्यके साथ ज्याप्तिको अक्षुण्ण धारे रहना रूप समर्थनसे युक्त होरहा हेतु अपने नियत साध्यका प्रयोजक है। अतः जयद अक्रिय ही सिद्ध हुआ ।

एतेन समुद्राकरसंभूतमणिमुक्ताफछादिरद्यान्तस्य साध्यधमीविकछत्वं साधनधमीविकछत्वं च निराकृतं, तत्रापि सकछकृत्रिमविखक्षणतयेक्षणस्य महेश्वरकृतत्वासंभवस्य च कृतिनिश्व-यत्वात् । तदेवं निविक्षवाधकरितात् मवचनादनुमानाचाकृत्रिमकोकच्यवस्थानाक्षेकवुद्धिम-त्कारणो क्षेकः संकनीयः काछादिवत् ।

इम जैनोंके समर्थनपूर्वक इस उक्त कथनकरके समुद्र या खानोंसे उत्पन हुये अकृत्रिम (असली) मोती, प्रवाल, जम्छाल, मणि, सोना, चांदी, हिंगुल, हरिताल, अभक, ताम्र, वैहूर्य, गेरू, पीली-मिट्टी, कंकण, पत्थर, आदिक दशन्तकी साध्यधर्मसे विकलता और साधनधर्मसे रहितताका निराकरण किया जा चुका समझ लेना चाहिये। क्योंकि उन मणि मुक्ताफल आदिमें भी जीवोंके बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ द्वारा किये गये सम्पूर्ण कृत्रिम पदार्थीसे विकक्षणपने करके दीख जाना स्वरूप हेत् और महेश्वर करके किये गयेपनके असम्भव स्वरूप साध्यका मछे प्रकार निश्चय कर लिया गया है । अर्थात् — विशिष्ट रचनावाला जगत् (पक्ष) किसी भी ईस्वर, ब्रह्म, ब्रह्मा, महादेव या महेरा, अङ्काह, आदि बुद्धिमान् आत्मा करके स्वकीय पूर्ण हान या संभव, असंभव, चाहे जिस किसी भी कार्य करनेकी इच्छा अथवा कर्तुम-कर्तुमन्यथाकर्तु शक्तिरूप पुरुषार्थ द्वारा किया गया नहीं है (साध्य), कृत्रिमरूपसे देखे जा चुके कूट आदिसे विरुक्षणपने करके दीखना होनेसे (हेतु) समुद्र या खान अथवा वन्य बृक्षोंसे समीचीन, अनिर्वचनीय अदृष्ट, जीव, पुद्रल, आदि कारणोंकरके उपजे मणि, मोती, आदिके समान (अन्वयद्धान्त) इस प्रकार इम जैनोंद्वारा कहे गये अनुमानके दृष्टान्तमें साध्य और हेतु भन्ने प्रकार घटित हो रहे हैं । तिस कारण इस प्रकार सम्पूर्ण बाधकोंस रहित हो रहे आगमप्रमाण और अनुमान प्रमाणसे इस लोकके अकृत्रिमपनकी व्यवस्था हो रही है। अतः किसी एक बुद्धिमान् आत्माको कारण मानकर यह ठोक उत्पन्न हुआ है इस प्रकारकी शंका क्यमींप नहीं करनी चाहिये, जैसे कि काल, आकाश, स्वयं ईखर, आदिक पदार्थीमें जैसे कृत्रिम-पनका संदेह अणुमात्र भी नहीं किया जाता है।

ततो मध्यछोकस्य निवेषः कथितः । द्वीपसम्प्रदर्पर्वतक्षेत्रसरित्मभृतिविशेषः सम्यक् सक-छनेगमादिनयमयेन ज्योतिषा प्रवचनमूळमूत्रैर्जन्यमानेन कथमपि भावयद्भिः सद्भिः स्वयं पूर्वा-परमासार्थपर्यायछोचनेन प्रवचनपदार्थविदुपासनेन चाभियोगाविशेषविशेषण वा प्रपंचेन परि-वेषो अभोछोकसभिवेश्वविशेषविद्युपसंहरनाइ ।

तिस कारणसे उक्त प्रकार श्री उमास्वामी महाराजने यहांतक मध्यछोकको अनादिनिधन सिन-वेशका निरूपण कर दिया है। जम्बूदीप, धातकीदीप, पुष्करदीप आदि दीप और छवणसमुद्र, कालोदिधि, पुष्करवर आदि समुद्र तथा हिमबान, महाहिमधान, आदि पर्वत एवं भरत, हैमवत आदि क्षेत्र कि च गंगा, सिन्धु, आदि नदियां एवं च पद्म आदि सरोबर तथैब भोगभूमि, कर्मभूमि, आदिकोंकी

अन्य भी विशेष विशेष रचनाओंको भले प्रकार चारों ओरसे समझ लेना चाहिये। नैगम, संप्रह, व्यवहार द्रम्यार्थिक, पर्यायार्थिक, आदि नयोंसे तन्मय होरहे तथा सर्वज्ञप्रतिपादित और गणधर प्रन्थित द्वादशांग प्रयचनको मूळ मानकर उत्पन्न हुये श्रीउमास्वामिकृत सूत्रों करके उपज रहे झानप्रकाश करके द्वीप आदिर्क विशेषताओंको समझ छेना चाहिये, एक विषयको सनकर उसके सम्बंधी अनेक विषयोंकी भावना करने बाले सक्ष्मबुद्धि सज्जनों करके स्वयं शास्त्रके अर्थोकी पूर्वापर पर्यालोचना द्वारा द्वीप आदिकी विशेष रचनाओंका परिज्ञान कर छेना चाहिये एवम् सर्वेब्रोक्त शाखों या प्रकृष्ट वक्ताओंके वचनके द्वारा निर्णीर किये गये पदार्थीका परिज्ञान करनेवाले प्रकाण्ड विद्वानोंकी उपासना करके भी विस्तारसे ई दीप आदिकोंकी विशेषतार्थे जानी जासकती हैं । अभियोगोंको अन्तररहितपनकी विशेषताओं करके मध्य छोककी रचना विशेषोंको जैसे हो तैसे किसी भी प्रकार (उपाय) से समझ छेन योग्य है। जैसे कि अधोरोककी विशेष रचनाओंका विस्तारके साथ समझ लेना आवश्यक है भावार्थ - श्री उमास्वामी महाराजने तृतीयाध्यायमें पहिले छह सूत्रों द्वारा अधीलोकका संक्षिप्त वर्णन लिखा है । किन्तु इन मूलसूत्रोंके अनुसार अथवा सर्वज्ञोक्त सम्प्रदाय अनुसार प्रसिद्ध हो रहे अन्य प्रन्योंके परिज्ञान करके अधोलोककी रचनाओंका विस्तृत वर्णन समझ लिया जाता है। उसी प्रकार सिद्धान्तप्रन्थोंकी भावनाको धारनेवाले ब्युत्पत्तिशाली सञ्जनों करके प्रमाणनयात्मक प्रकाश करवे मध्यलोक सम्बन्धी विशेष विशेष रचनाओंका विज्ञान कर लेना चाहिये यद्यपि संक्षेपरूपसे उत्त सूत्रोंमें ही अधोलोक और मध्यलोकका सम्पूर्ण निरूपण हो चुका है। फिर भी विशेष इति करनेवे लिये अन्य आतोपन शालोंके प्रमेयोंकी भावना करनेवाले सजनों करके अपनी प्रमाणनयात्मक न्नान ज्योति करके गजदंत, यमकादि, जम्बूबृक्ष, स्वयम्भूरमण द्वीप, मध्यलोकके चारों कोन आदिक विचार कर छेना आवश्यक है। प्रवचन और प्रवचनके ब्राता पुरुषोंकी परिचर्यासे अनेक अतीन्द्रिय अर्थोंका निश्चय कर लिया जाता है। इतना लक्ष्य रक्षा जाय कि कोई अन्यवादी कुचीय या कुसु क्तियों द्वारा इम जैनोंके जपर अभियोग नहीं छगा सके। विद्वान्तशास्त्रोंके पूर्वापर विचार और प्रकृष्ट विद्वानोंकी सत्संगातिसे उक्त कार्य मुलभसाध्य हो जाता है। किसी लम्बे चौढे महलको बना नेके छिये पाईछे छोटा चित्र बना छिया जाता है । त्रिचक्षण गृहपति उतने ही इंगितसे प्रासादके पूरे प्रमेयको इदयंगत कर छेता है। आतोपङ्ग शास्त्रों द्वारा उत्थित हुई झानज्योति तो। विशेष रूप करवे ततोऽपि अधिक परिवृत्ति करा सकती है। त्रिलोकसार, त्रिलोकप्रवृत्ति आदि प्रन्थोंका परिशीलन करनेरे मध्यलोकके अतीव सुन्दर मनोहारी दश्य मानो सज्जनोंके सन्मुख ही उपस्थित हो जाते हैं। इस प्रकार इस संक्षिप्त वक्तन्यका उपसंहार कर रहे श्री विद्यानन्दस्वामी मालिनी छन्दः द्वारा अग्रिम वार्तिकको कहते हैं

> इति कथितविशेषो मध्यलोकस्य सम्यक् । सकलनयमयेन ज्योतिषा सन्निवेशः ।

प्रवचनभवस्त्रेर्जन्यमानेन सद्भिः। कथमपि परिवेद्यो भावयद्भिः प्रपंचात्॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्री उमास्त्रामां महाराजने मध्यलोकके कतिपय विशेषस्थलोंका सामान्य रूपसे तृतीयाध्यायके चौति सूत्रोंमें समीचीन वर्णन कर दिया है। सर्वज्ञ प्रतिपादित हादशांग मूलक शाखों या प्रकृष्ट वक्ताओंसे उत्पन्न हुये सूत्रों करके उपज रहे सम्पूर्ण नयतन्मय ज्ञानज्योतिर्द्वारा मावना-शाक्तिको धारनेवाले सज्जन पुरुषों करके किसी भी समुचित उपायोंके अनुसार मध्यलोकके सिनिवेशका विस्तारसे परिज्ञान कर लेना चाहिये। सूत्रोंमें इतना ही कथन करना पर्यास है।

इति तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम्।

इस प्रकार श्री उमास्त्रामी महाराजकृत तत्त्वार्थसूत्र प्रन्थके तीसरे अध्यायका श्री विद्यानन्दस्वामीकृत प्रकरणोंका समुदायस्वरूप दूसरा आन्हिक यहांतक समाप्त हुआ ।

अभोलोकश्चित्रो नरकगणना नारकजनस्तया लोको मध्यो बहुविधविश्वेषो नरगणः । तदायुर्भेदश्च प्रतिनियतकालो निगदितस्तिरश्चायध्याये स्थितिरपि तृतीयेत्र ग्रुनिना ॥ १॥

इस तीसरे अध्यायमें श्री उमास्वामी महाराजने प्रथमसूत्रकरके चित्र, विचित्र प्रकारका अधोळोक कहा है, रानप्रमा आदि सात भूमियां बातत्रळ्योंपर और वातवळ्य तो आकाशके आश्रयपर अवळंबित हैं। यों सुमेरु पर्वतके नीचे सात राज्तक अकृत्रिम अधोळोकका सुन्दर आश्चर्यकारक विचित्र सित्रवेश है। दूसरे सूत्रमें चौरासी ळाख नरकोंकी गणना की गई है तथा अप्रिम तीसरे, चौथ, पांचर्ये, छंड, सूत्रोंमें नारकी जीवोंकी दुर्व्यवस्था और उनकी आयुओंका निक्रपण किया गया है। इसके आगे सात्रवें आदि सूत्रोंमें मध्यळोकका वर्णन है, वहां द्वीप, क्षेत्र, पर्वत, हर, कमळ, नदियां, आदिका वर्णन करते हुये सूत्रकारने ढाई द्वीपमें रहनेवाळे भोगभूमियां, कर्मभूमियां, आर्थ, म्ळेच्छ, आदि बहुत प्रकारोंकरके मनुष्योंके समुदायका विशेष कहा है तथा उन मनुष्योंकी आयुक्ते विशेष भेद भी कह दिये हैं, जो कि जवन्य, उत्कृष्ट, आयुक्ते भेद श्वासके अठारहवें भाग, जवन्यदशासे ळेकर कोटि पूर्व वर्षतक कर्मभूमिमें और एक समय अधिक कोटि पूर्व वर्षसे प्रारम्भकर तीन पल्यतक मोगभूमियोंमें प्रत्येक नियतकाळको धारनेवाळे हैं। अन्तमें तिर्यञ्च जीवोंकी जवन्य, उत्कृष्ट, स्थितिका भी सूत्रकार मुनि महाराजने ळगे हाथ प्रतिपादन कर दिया है।

इति श्रीविद्यानन्दि आचार्यविरिचिते तत्त्वार्यभुगेकवार्तिकाळंकारे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३॥ इस प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्य करके विशेषक्रपेण रचना किये गये तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकाळंकार नामक महान् प्रन्थमें यहांतक तिसरा अध्याच परिपूर्ण हुआ।

तृतीयाघ्यायकी विषयसूची।

इस तीसरे अध्यायमें श्री विधानन्द स्वामी करके व्याख्या किये गये प्रकरणोंकी सूची इस प्रकार है कि प्रथम ही जीवोंके निवास स्थानोंकी जिड़ासा होनेपर कहे गये " रत्नशर्करा" सत्रकी उपपत्ति की गर्भा है। आगमप्रमाणसे समझायी गयीं भूमियें और बातवलय तथा आकाशके आश्रयपनको युक्तियोंसे सिद्ध किया है। पौराणिकोंके यहां माने गये कलवा, शेषनाग आदिको भूमिका आधारपना नहीं सम्भवता है। पश्चात भूमिका गोल आकार माननेवाले कतिपय प्राचीन पण्डित और आधानिक अनेक यन्त्रपीय पण्डितोंके मतानुसार भृषिके ऊपर नीचे अमणका अनुवाद कर पुनः भूअमणवादका ऊहापोहपूर्वक खण्डन किया है। कचित . कदाचित , भूमिका अव्यल्प कम्प हो जानेसे चित्तमें बडा मारी उद्देग (घवडाहट) व्याकुळतायें उपज जाती है, रहेंटक झूळा या गोळ झूळापर झूळनेवाळोंके हृदयमें भारी आघात पहुंचता है, तो फिर भूमिका वेगयुक्त श्रमण माननेपर इन शरीरधारी जीवोंकी कितनी दुर्दशा होगी ? इसका अनुमान सहजमें लगाया जा सकता है । सांपको उल्टा लटका देनेसे उसका निकृष्ट संहनन थोडी देखें स्वलित होकर सर्प मृतप्राय हो जाता है। इसी प्रकार भूमिके ऊपर नीचे छटक रहे ये टूटे चरखा सरीखे शरीरको धारनेवाछे प्राणियोंकी घुमा देनेपर भुरमुरी गजक, के समान दुर्व्यवस्था हो जायगी । भूमिकी आकर्षण शक्ति इस विपत्तिकी रक्षा नहीं कर सकती है। पचास मनकी महीके देखको यदि आकाशमें लटका दिया जाय और उस **देलपर नीचे**की ओर एक बालक या एक कटोरा जलको धारण कर दिया जाय तो वह झट नीचे गिर पडेगा क्या! पचास मन महीका डेळ उस सेरभर पानीको या पांच सेरके बालकको अपनी आकर्षण शक्ति द्वारा नीचेकी ओरसे खेंच नहीं सकता था ! यदि तुम यों कहो कि महती भूमिकी आकर्षणशक्ति अत्यधिक है। अतः दिनमें सर्यप्रकाशसे अभिभूत हये ताराओं के समान उस छोटेसे मृत्तिका पिण्डकी शक्ति दब जाती है। बढ़ी भूमि अपनी ओर बालक या जलको खींच लेती है इस पर हम जैनोंका यह कहना है कि पृथिवीमें आकर्षण शक्ति मध्य केन्द्रमें है ! या सर्वत्र खण्ड खण्डोंमें यथायोग्य बांटके अनुसार थोडी थोडी फैल रही है ! इन दोनों पक्षोंके अनुसार तुम्हारा उक्त सिद्धान्त रक्षित नहीं रह सकता है। क्योंकि महीको खोदकर एक ओर ऊंची और दूसरी ओर नीची ढ़लाऊ स्थानमें जमा देने पर ऊपर उभरी भूमि पर रक्खी हुई गेंद नीचे नहीं लंडकर्नी चाहिये तथा खण्ड, खण्ड, शक्ति मानने पर पचास मनका होस गोका नीचकी पोकी हलकी भूमिकी बांटमें आयी हुई थोडी शाकिसे कही बढ़ कर है। गोछ भूमि पर छम्बा, चौडा, समुद्र जल या नदीजल नियत निषीसे नहीं ठहर सकता है। प्रेरक नायुमोंका परस्परमें प्रतिचात होजायगा। देखो, गुरु पदार्थ अधःपतनशीय होते हैं । भूमिमें आकर्षण शक्ति है । जलभाग बीचमें कुछ उमरा रहता है। इन सिद्रान्तोंका हम कण्यन नहीं करते हैं। किन्तु नियत अमण कराने के कार-

णोंका अभाव होनेसे और प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम प्रमाणों करके विरोध होजानेसे इस अचला भूमिका अमण कथमपि नहीं होपाता है। यूरोपीय विद्वानोंने कोई चेतन कत्ती भूमिका अमण करानेवाला भी अभीष्ट नहीं किया है। जैसे कि जैनोंने सूर्य, चन्द्रमा, आदिके विमानोंको भ्रमानेवाले अभियोग्य जातिके देव माने हैं। अतः इस भूमिका ऊपर नीचे भ्रमण या पूर्व पश्चिम अमण कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता है। इसके आगे भूमिका अधःपतन माननेवाले मता-न्तरोंको दिखला कर श्री विद्यानन्द आचार्यने युक्तियों द्वारा उनका निराकरण कर दिया है। इसी प्रकार भूमिका उर्ध्वगमन या सूर्यकी ओर निकट, निकट गमन अथवा तारतम्य मुद्रासे सूर्यके दूर दूर हो रहे भ्रमणका निराकरण भी हो जाता है। अनादि काळसे सूर्य, भूमि आदि सुन्यवस्थित हैं। अन्यथा न जाने कितने समय पूर्व ही इनकी दुर्दशा हो गयी होती । अतः उक्त कल्पनायें सब निरा-धार हैं। अस्मदादि मनुष्य या जम्बूद्दीप, क्रवणसमुद्र आदि असंख्य द्वीप समुद्रोंकी आधारभूत ये रत्नप्रभा या शर्कराप्रभा आदि भूमियां अनन्त योजनोतक फैळी ह्रयी नहीं हैं। और अन्य अन्य अनेक भामियोंके आधारपर डटी हुई भी नहीं हैं। किन्तु प्रत्यक्षक्षानियों द्वारा ठीक ठीक नापे जा रहे किसी मध्यम असंख्यातासंख्यात नामकी संख्यावांछ योजनों करके छम्बीं चौडीं नाप छी गयीं हैं। सात पृथिवियों के मध्यवर्ती छह अन्तरालों में असंख्यात योजनोंका अन्तर है। अतः ये स्थूल भूमियां निश्चयनयसे स्वाश्रित और व्यवहार दृष्टिसे वातवलयके आश्रित समझा दी गयी हैं। उस उस जातिके पापकी विचित्रतासे उन उन भूमियोंमें कर्मबश जीबोंका गमन होते रहना बताया है। उन सात मुमियों के कतिपय भागों में निवास करनेवाले नारकी जीवोंकी उपार्जित कर्म अनुसार अपनी अपनी आयु:पर्यन्त स्थितिको कह कर नारिकयोंकी अञ्चम लेक्या आदिक परिणातियोंको युक्तियों द्वारा साधा है। रोद्रध्यानसे नरकोंमें उत्पत्ति होनेके कारण मैढा, तीतर, कुत्ता आदिके समान परस्पर छड मिड कर दुःख भुगतना साधा गया है असुर कुमारों द्वारा दुःख देनेके हेतुको समझा कर उन नरकोंमें जीवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको अनुमान द्वारा प्रसिद्ध किया है। उसके पश्चात मध्यलोकका वर्णन करते हुये और सूत्रोक्त पदोंकी सफलताको पृष्ट करते हुये श्री विचानन्द स्वामीने जम्बूद्वीप आदिपदसे बहु-बीहि बृत्ति द्वारा निकाल दिये जा रहे जम्बूद्वीपको वहे अच्छे ढंगसे बाल बाल बचा लिया है। मेरु और इसके इधर, उधर, भरत आदि क्षेत्रोंके प्रतिपादक सूत्रोंक। ज्याख्यान कर वृत्तवेदाढ्योंकी रचना बता दी है। भरत आदि सात ही क्षेत्रोंका अवधारण करते हुये आचार्य महाराजने अन्यं मतियोंकी कल्पित क्षेत्र संख्याओंका प्रत्याख्यान कर दिया है। दग्धमें घृतके समान जग-वर्में सर्वत्र स्याद्वाद सिद्धान्त ओतपोत होकर प्रविष्ट हो रहा है । उन क्षेत्रोंका विभाग करनेवाळे पर्वतोंकी उपपत्ति, परिणाम, पार्श्वरचना, विस्तार आदिका व्याख्यान कर अगले इद और पुष्करोंके प्रतिपादक सूत्रोंका विकरण तथा कमकनिवासिनी सूत्रका अर्थ समझा दिया है । नदियोंके प्रतिपादक सूत्रका पदकृत्य कर गंगा आदिक नादियोंका कुछ निवरण दिखाया है । महागंगा, महासिन्धु आदि नदियोंके चार कोशवाछे छोटे योजनोंसे इजारों योजनोंके विस्तार, ब्य्नाई, गहराईयों, को द्रष्टान्त पुरस्तर साध दिया है। मरत आदि क्षेत्रोंकी व्यवस्थाके प्रतिपादक सूत्रोंकी अनतिविस्तारसे टीका कर दी है। भूमियोंकी अवस्थिति नतानेवाछे सूत्रमें भूमिशन्दके प्रदणसे स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि भरत, पेरानत, क्षेत्रोंकी भूमियां उतने ही आकाशमें ऊंची नीची लम्बी चौडी होकर घटती बढती रहती है। उनमें रहनेवाले मनुष्य आदिके अनुभव, आयुः, आदिका घटना बढना तो प्रसिद्ध ही है। हां, भोगसूमियोंमें या नरक, स्वर्गी, में उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काळोंका परिश्रमण नहीं है। पश्चात् ढाईडीप सम्बन्धी मोगभूमियां, जीवोंकी आयुका क्खान कर विदेहस्य जीवोंकी आयुको दिन, मास, वर्ष, आदि द्वारा गणनाका विषय बताते हुये श्री आचार्य महाराजने जम्बूदीपके भरतकी आकाश सम्बन्धी नापको समझाया है। धातकी खण्डका व्याख्यान करनेके प्रथम छत्रण समुद्र और उसमें विराज रहे पाताल, गौतमद्वीप, का विशेष निरूपण कर दिया है। व्याख्यान कर्ताओंके उत्सूत्रवादीपन दोषका निराकरण कर धातकी खण्डके भरतक्षेत्रके अस्यन्तर मध्यम और बाह्यविष्करम योजनी द्वारा गिना (नपा) दिये गये हैं। इध्वाकार पर्वतीं के विवरणको भी छोडा नहीं है। इसके अनन्तर पुष्करार्ध द्वीप सम्बन्धी भरतक्षेत्रके अभ्यन्तर, मध्य, बाह्य, विष्करमीको गणितशास अनुसार निकालकर वर्षभर और भानुषोत्तर शैक्की मनोहर रचनाको दिला दिया गया है। यहां भी दोनों इष्टाकार पर्वतोंको संक्षेपसे कहते हुये गुरुवर्यने विस्तृत प्रतिपत्ति करनेवाळोंको विद्यानन्द महोदय प्रन्थके अध्य-यनकी ओर धुकाया है। आर्य, म्लेम्ल, मतुष्योंके भेद प्रभेदोंकी व्यवस्थाको अनुमान मुद्रासे साध कर क्षेत्र आर्य आदिकोंके सकारणपनको सुझाते हुये आचार्य महाराजने अन्तर्ह्यापज म्लेच्छोंकी आयु, शरीर उत्सेध, प्रवृत्तियोंका निरूपण कर दिया है। कर्मभूमि सम्बन्धी आठ सी पचास म्लेष्ड खण्डोंके सम्पूर्ण मनुष्य और ढाई द्वीपसम्बन्धी एक सौ सत्तर आर्य खण्डोंके कतिपय चाण्डाल, कसाई, आदि बीवोंको म्हेन्छाचारोंकी पालना करनेसे बहुत प्रकारके म्हेन्छोंकी व्यवस्था करा दी है। संतान परम्प-रासे चळी भायी सम्प्रदाय अनुसार यह आर्यव्यवस्था या म्लेच्छव्यवस्था विचारशील व्यवहारियोंके यहां प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम प्रमाणोंसे निश्चित है। कुछ, गोत्र, वर्ण, जाति, व्यवस्थाओंमें रहस्य अवस्य है । घोडे, कुत्ते, बन्दर, गेंडू, चना, नारंगी, आम, छुकाट, गुडाबका फूड आदिक पद्ध, अन्न, फ़ल, पुष्प इनकी सन्तान अनुसार भिन्न मिन्न जाति या कुलकोटी अनुसार संतिति (नस्छ) में महान् अन्तर पद जाता है । इसी प्रकार नास्तिकोंकी संतान या आर्य, म्लेम्ब, पुरुषोंकी संतान मी पारिणामिक रहस्यसे रीती नहीं है। कुलीनता, अकुली-नता, छिपी नहीं रहती है। बात इतनी ही है कि जो जिस विषयका मांपनेवाला है, बह उस विषयके सक्षमरहस्योंका प्रकमतया परिकान कर छेता है। मन्दकानी अन्य पुरुष उपेक्षा धारण करते हुये उस गूढ विषयतक नहीं पहुंच पाते हैं। चिर अन्यस्त अक्रमारी पुरुष अतिशीव ही

बियोंके सीन्दर्यको निरख छेता है। ब्रह्मचारी उदासीन पुरुष अधवा योगी या पशु उस युवती सुन्दर स्रीके लीला, स्मित, विलास, सुन्दरता, आदिको नहीं जान पाता है। मोटे, पतले, बढे, नाटे वोंमेंसे सहद्व शरीरसंगठनावाळे पुरुषकी परीक्षा जितना शीव एक कुशक मूळ कर केता है. उतना प्रविष्ट होकर कोई दूसरा मुनि या शास्त्रीय परीक्षामें उत्तीर्ण विद्वान् अथवा बालक, पश्च, जीहरी, क्यंचित नहीं कर सकता है। खरीदनेवाले या नहीं खरीदने वाले पुरुषों और भोली बुद्धि, चंचल बद्धिवाले प्राहकोंकी परीक्षाको पुराना दुकानदार जितना प्रविष्ट होकर कर लेता है उतना विशद रूपसे कोई नवीन दुकानदार नहीं कर पाता है। बढिया चोर या गठकटा जितना शीव दूसरोंके छिपे हये धनको भांप छेते हैं, खयं करवाछोंको घंटोंतक इंढने पर भी जब कि वह धन नहीं मिछता है. उस प्रकार कोई क्षेत्रक या राजा, महाराजा नहीं ताड सकते हैं । समीचीन न्यायकर्ता अनुभवी जज वडी स्रलभतासे मायाचारी, असत्यवक्ता, अभियुक्तों (मुलाजिमों) के वास्तविक अपराधीको समझकर निग्रह या अनुप्रह कर देता है इस न्यायशासनको कोई प्रतिष्ठाचार्य या पुरेहितजी महाराज कथम-मिप नहीं साथ सकते हैं। खिपीया पुलिसके प्रवर्तनको बसखोदा गवार नहीं समझ सकता है। वीणाकी हृदयतलस्पर्शी शंकारके तत्त्वको मैंस विचारी क्या जाने ! देशभक्त महामना स्वार्थत्यागी पढ-वोंकी समीचीन भावनाओंकी ओर स्वदेशके साथ प्रीति नहीं रखनेवाले विनोदी पुरुषोंका उपय नहीं जाता है। स्वर्ण रत्नमय भूषणोंकी भी अनुज्ञा कर देनेवाली राजमहिषीके परितप्त हार्टिक भावोंके अन्तस्तलपर विचारी गोंगची, कीडियों या पीतल, कार्सिक बने हुये गहनोंको बडे चावसे पहन रही प्रामीण श्री नहीं पहुंच सकती है। कुटुम्ब, परिवार, धन, महरू, राजविभूति आदिका परित्यागकर तपस्या कर रहे मुनिमहाराजकी परिणतिओंका परिज्ञान दीन, हीन, भिखारीको नहीं हो पाता है। प्रकरणमें यह कहना है कि छहार, सुनार, दुकानदार, पण्डित, साधु, व्यभिचारी, चोर, डाकू, कुटिला स्त्री, राजा, किसान, वैद्वानिक, महन, बाजीगर, माली, आदि सभी जीवोंके कार्योमें बढ़े बढ़े रहस्य छिपे हुये हैं । जड पदार्थी या चेतनपदार्थीकी परिणातियां अनेक सूक्ष्म, अति सूक्ष्म, अति-शयको धार रही हैं। जो जीव जिसका जितना आमिलाषी या अभ्यासी अथवा व्यसनी है, उसमें उतना प्रविष्ठ होकर परिकान कर सकता है, सम्पूर्ण पदार्थीमें अनन्तधर्म है। जढ या चेतमोंकी सम्पूर्ण स्थ्रुळसूक्ष्मपरिणतियोंको मन्द क्षयोपशमधारी जीव नहीं समझ पाता है। कुळ सम्प्रदायसे चळे आये सदाचार, असदाचारों, का प्रभाव संतान, प्रतिसंतानों, की आत्माओं पर अवस्थ पडता है । पूर्वजन्ममें जिन आल्माओंने उस उस जातिके कमीका उपार्जन किया है वे जीव उन उन आर्य या म्लेम्फ पुरुषोंमें जन्म धार रहे हैं। मध्यमें भी किसी सन्तानी व्यक्तिके आचारोंसे परिणतियें विकक्षण हो जाती हैं। कुछ, देश, जाति, क्षेत्र, काछ, भाव, की परिस्थितियोंके अनुसार आत्माओंकी बडी बडी बिशेष परिणतियां हो जाती हैं। शरीखेके छेटमेंसे सूर्य किरमोंके पढनेपर जो रज उडती फिरती दीखती है असका एक कम भी सरीरके जपर बोध

डालता है, भले ही उस बोझके दबावको स्थूल बुद्धिवाला पुरुष नहीं समझ पावे, इसमें विचारी सूक्ष्म परिणति क्या चिकित्सा करे ? यह बात किसी विचारशाली विद्वान्से छिपी नहीं है । मुखमें खाद्य पदार्थके घर छेनेपर और चलानेपर चारों ओरसे लारके कुलारोंकी बौछार होती है। रीते कियारहित मुखमें उतनी छार नहीं टपक पाती है। इसते, खेळते, हुये बाक्कको गोदमें छेकर बत्सल माता पिताके जो परिणाम हैं उनका अनुभव मानि महाराज या बन्ध्य पुरुष अथवा बन्ध्या स्त्रीको नहीं हो पाता है। अतः आर्यपन या म्लेच्छपनका किसीको अनुमव नहीं होय यह उसके क्षयोपशमका दोष है। मनुष्योंमें तो वस्तुभूत आर्यत्व या म्लेन्छत्व व्यवस्थित हो ही रहा है। प्राचीन मार्गसे चर्छा आ रहीं सम्प्रदायोंके प्रामाण्यका निर्णय भी कष्टसाध्य भले ही होय किन्त असम्भव नहीं है । अनेक संप्र-दायोंका निर्णय करना तो बुद्धिपर थोडा बल देनेपर सहजसाध्य हो जाता है। सांख्योंके प्रकृति तत्त्व या वेदान्तियोंके अद्देतवाद आदिकी कल्पनार्ये भी नयविवक्षा अनुसार किसी वस्तुभित्तिपर अवलंबित हैं, निष्कारण नहीं हैं। क्वचित् प्रसिद्ध हो रहे धर्मका ही अन्यत्र आरोप किया जा सकता है। अतः गुणोंको कारण मान कर हुये आर्यपन और दोषोंको कारण मान कर हुये म्छेच्छपनकी व्यव-स्थाको श्री विद्यानन्द आचार्यने मछे प्रकार दर्शा दिया है। वैशेषिकोंकी मानी हुई नित्य, व्यापक, अमूर्त होरही ब्राह्मणत्व, चाण्डाळत्व आदि जातियोंका युक्तियोंसे खण्डन किया है। वस्तुतः ऊर्घता-सामान्य या तिर्यक्सामान्यको जाति पदार्थ माननेमें महती शोभा है। अनेकान्तवाद तो सर्वत्र फैठ रही है। इसके आगे भरत आदि क्षेत्रोंमें कर्मभूमि, भोगभूमिका विवेक करते हुये मनुष्य और तिर्य-चोंकी जघन्य, उत्कृष्ट आयुके प्रतिपादक सूत्रोंका अनातिविस्तारसे विवरण किया है। असंख्याते द्वीप समुद्रोंमेंसे मध्यके ढाई द्वीपेंका ही और जीवतस्त्रका वर्णन करते करते बीचमें द्वीपसमुद्रोंका निरूपण क्यों किया ! इन आशंकाओंका प्रत्याख्यान कर उन द्वीपसमुद्रोमें मनुष्योंके उत्पादक अभ्यन्तर, बहि-रंग कारणोंका विचार किया गया है । जीवोंके आधारस्थानोंको समझानेके छिये अधोछोक, मध्यछोक, का निरूपण करना अत्यावश्यक है। इसके अनन्तर प्रकरण अनुसार श्री विद्यानन्द आचार्यने बडी विद्र-त्ताके साथ सृष्टिकर्तृवादका निराकरण किया है। अन्य प्रन्थोंमें नहीं देखनेमें आयीं ऐसी बहुतसी युक्तियों करके पौराणिक, वैशेषिक, नैयायिकोंको श्रकशोर डाला है। श्री विद्यानन्द आचार्य जिस विषयको पक्रड हेते हैं, उसको परिपूर्ण करके हैं। छोडते हैं। तृतीय अध्यायके चाळीस सूत्रोंके पूरे विवरणसे प्रन्थ अपेक्षा कुछ है। धोडा और गम्भीर अर्थ अपेक्षा बहुत बडा कर्तुखण्डनका प्रकरण इस छोटेसे '' तिर्यग्योनिजानां च '' सूत्रके नीचे उसी प्रकार श्री विद्यानन्द आचार्यने जोड दिया है, जैसे राजवार्तिकमें " छौकान्तिकानामष्टी सागरोपमाणि सर्वेषाम् " सूत्रके विवरणमें अनेका-न्तवादको हिल्मा दिया है। गजघण्टको बळीबर्दपर लगा देनेसे भी एक विनोदपूर्ण शोभा हो जाती है। स्वतन्त्र उद्भट टीकाकारोंके विषयमें हम सारिखे मन्दबुद्धि पुरुषोंको समालोचना करनेका कोई अधिकार नहीं है। केवल गुरुमक्तिका आचार्योकी खाति करते हुये मुखसे ये शब्द निकल पढते हैं।

कि जहां कहीं जब किसी विषयके प्रतिपादन करनेकी विवक्षा मगवान् श्री विद्यानन्द आचार्यक उपज बैठती है. निराकरणीय उस सदोष विषयका तभी वहां क्रण्डन कर यटियामेट कर देते हैं. और मण्डनीय निर्दोष प्रभेयको उन्नतिके शिखरपर विराजमान कर देते हैं । ऐसी प्रतिभातत्परता प्रशं-सनीय, प्रभावनीय या आदरणीय ही नहीं किन्त पूजनीय भी है। इसके विना स्वमताप्रही, एकान्तवादी पण्डितोंके अभिमानका निराकरण और अनेकात्मक वस्तुके गृढ गर्मस्थित अतिशयोंका प्रकाश नहीं हो पाता है। ईस्वरके कर्त्वादका प्रत्याख्यान करते हुये श्री विद्यानन्द आचार्यने वैशेषिकों के हेतुओंका मंड फेर दिया है। ईस्वरको सरारीर या अरारीर नित्यज्ञानवान या अनित्यज्ञानवान कैसा भी माना जाय वैशेषिकोंके अभीष्ट कर्तवादकी सिद्धि कथमपि नहीं हो पाती है। अनवस्था, साध्यविकल-द्रधान्त, न्यतिरेकाप्रसिद्धि, कदाचित्रकार्यान्त्यति ये दोष श्रादिति, उपस्थित हो जाते हैं। सर्वथा भिन्न हो रहे छहे पदार्थ समयाय करके सर्वया भिन्न माने गये ज्ञानका ईवरमें वर्तना स्वीकार करनेवाले वैशेषिकोंके यहां ईश्वर कथमपि " ज " या जाता नहीं बन सकता है। छोष्ठके समान अज्ञ ईश्वर या मुक्तारमाके समान अशरीर ईस्वर भला जगतको कैस बना देगा ! यहां और भी अनेक सक्स विचार किये गये हैं। ईश्वरको सशरीर माननेवालेंकी विशेष रूपसे अवहा की गयी है। जैसा कोठी आदिमें सिम्बेशविशेष है वैसा जगतमें नहीं है। इस प्रकार किसी एकदेशीय विद्वानके द्वारा वैशेषिकोंके ऊपर उठाये गये असिद्धत्व दोषको उचित नहीं बताकर सिनवेशिवशेशादि हेतुओंमें न्यामे-चार आदि दोष देना आवश्यक बताया गया है । इसके पश्चात् न्यतिरेककी असिद्धि बताकर ईस्वर और जगत्के कार्यकारणभावका भंग कर दिया है। काल, आकाश, आदि भी यदि कूटस्य नित्य या सर्वथा सर्वगत माने जांय तो ये भी किसी भी अर्थिक्रयाको नहीं कर सर्केंगे । यह पक्की बात समझो । महेश्वरकी सिस्का द्वारा जगत्की उत्पत्ति माननेपर बद्धत अच्छा विवेचन किया है। चक्रक दोषों के प्रहारका ढंग निराला ही है। क्रम कमते होने बाली अनित्य महेश्वरसिस्-क्षाओं अथवा नित्य एक सिसक्षा द्वारा जगतकी उत्पत्ति होनेमें अनेक दोष आते हैं । नित्य, व्यापक, होरहे ईक्यरहान और ईस्वर ईच्छा स्वरूप कारणोंका व्यतिरेक नहीं बननेसे व्यापकके अनुपरक्रम करके न्याप्य होरहे कार्यकारणमावकी असिद्धि दोषमें अठिच दिखाते हुये अपर विद्वानोंके मुखसे वाधित हेत्यामास उठाना समुचित बताया गया है । यहांका विचार भी सादर अध्ययनीय है । अन्य एकदेशीय विद्वानोंकी सम्मति अनुसार वैशेषिकोंके ऊपर उठाये गये असिद्ध, विरुद्ध, दोषोंका अनुमोदन किया गया है । इस अवसरपर श्री विद्यानन्द आचार्य महाराजकी मित्रनीति अनुकरणीय है । वैशेषिकोंने कई बार अपने पक्षको पुष्ट करनेके छिये उद्योग किया, किन्त आसंख्यशून्य भी परस्पर गुणित होकर यदि एकके अंकको परास्त करना चाहें तो उनका द्वासाहस निर्धक ही समझा जायगा। अस्त । निर्ध गुणी और उसके नित्य गुणको सर्वधा भिक्त ही कह रहे वैद्रोषिकोंके पूर्वपक्ष पर स्वाद्वादियोंने गुण, द्याणीका कर्यनित तादाल्य सम्बन्ध साध दिया है। कार्यन्त, सिनेवेशविशिष्टल, आदि हेतुओंमें वर 63

दिये । अनेक दोषोंका निराकरण करना वैशेषिकोंकी शक्तिका कार्य नहीं रहा । इसके आगे वैशेषिकोंके करणाव आदि अन्य हेतुओं की भी आचार्य महाराजने निःसारता दिखायी है। यहां नैयायिकोंने चिड कर जो कुचोब उठाये हैं उनको अपने प्रन्थमें पूर्णरित्या अनुवाद कर पश्चात उन कुचोबोंका निरा-करण कर दिया है। जगंत्में अनेक प्रकारके कार्य हो रहे हैं। सबका प्रयोक्ता कोई प्रधान व्यक्ति होवे ही, ऐसा कोई नियम नहीं है। एक के उत्पर एक, पूनः उसके भी अन्य अधिकारियोंकी कल्पना करते हुये अनवस्था दोष वैशेषिकोंके यहां दुर्निवार बता दिया है । ईश्वरके अनादिकाळीन श्रद्धि नहीं सम्भवती है। दृष्ट, इष्ट, प्रमाणोंसे विरुद्ध कथन करनेवाले ईश्वरको सर्वज्ञ कहना भी उपनामास्पद है। बैरोषिकोंके सभी अनुमानोंको आचार्य महाराजने दृषित कर दिया है । बैरोषिकोंका आगम माना गया बेद, प्रमाणभूत नहीं है। हां, समीचीन अनुमानोंसे जिनोक्त आगमसे छोक अकृत्रिम सिद्ध हो जाता हैं। छोकः (पक्ष) बुद्धिमता नैव कृतः (साच्य) दृष्ट, कृत्रिम, कूटादिविलक्षणतया ईक्षण होनेस (हेत्) समुद्र या खानमें उपजे हुये माणि, मोती, आदि के समान (अन्वयद्द्यान्त) इस अनुमानके प्रयोक अवयवको आवार्योंने बढी पृष्ट्यिकयोंसे सिद्ध कर दिया है। न्यर्थमें उठा दिये गये विरुद्ध आदि हेत्वाभारोंका अचूक विध्वंसन कर दिया है। अन्य भी कितने ही मध्य, मध्यमें सविनोद स्वप-क्षमण्डन और परपञ्चलण्डन करनेमें युक्तियां दी गर्यी हैं, जो कि स्रोक्तवार्त्तिक प्रन्थका प्रविष्ट होकर परिशोलन करनेवालोंक हृदयंगत होकर संतोषाधायक हैं । अनादि कालसे अनन्त कालतक इस जगत्की व्यवस्था जढ या चेतन कारणोंके अथवा अनन्त परिणमनोंके अधीन होकर प्रवर्त रही है। एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्य कालद्रव्य, अक्षय अनन्तानन्त जीवद्रव्य और इनसे अनन्तानन्त गुणे अक्षय अनन्त पुद्वखद्रव्य ये सम्पूर्ण द्वव्य साविदिक, नित्य हैं। इनकी स्वाभाविक और जीव पुद्रलों की वैभाविक भी पर्यायें न जाने किन किन कारणोंसे हो रहीं उत्पाद, व्यय, ध्रीव्य, स्वरूप व्यवस्थित हैं । अतः छह प्रकारके द्रव्योंका पिण्ड यह लोक अनादिनिधन चला आ रहा. अक्रुत्रिम. है। किसी एक प्रेरक बुद्धिमान करके बनाया गया नहीं है। अनेक छोकिक छोटी छोटी यक्तियों द्वारा है। जब कर्तृवादका जीर्ण वसके समान खण्डन हो जाता है। पुनः निर्दोष अनुमान और त्रिकोक त्रिकाल अवाधित आगमसे तो विद्वानीके हृदयमें छोकके अकृत्रिमपनका चमत्कारभाव स्थायी हो जाता है। जगतकी विशिष्ट परिणितयोंका अध्ययन करनेवाले सहदय सजन विद्वानों करके इस लोकका पूर्ण स्वरूप समझ लेना चाहिये। श्री उमास्वामी महाराजने तीसरे अध्यायमें जीवोंके अधिष्ठान विशेष अधीखोक और मध्यखोकका बढ़ी गर्छभीरतासे सत्रों द्वारा निरूपण कर दिया है। प्रमाण और नय नामके अन्यर्थ उपाय तत्त्रोंसे न्छोककी अन्य रचनाओंका भी परिज्ञान कर लिया जाता है। इस अकृत्रिम लोककी रचना इतनी अद्भत है कि लाखों, करोडों, प्रत्यों करके भी भरपूर नहीं कही जा सकती है। फिर भी जीवतत्त्वका सांगोपांग परिच्छेद करनेके लिये अथवा वर्माच्यानको भावनेके उपयोगी मध्यकोककी विशेषस्यकीय रचनाओंको ः जाननेके छिये आचार्य महाराजने मन्योंको आदेश दिया है। प्रबळ परचक्रसे विजय प्राप्त कर स्वतःसिद्ध गायनकी उपजी हुई इच्छाके अनुसार विजताको माळिनी छन्दःका प्रयोग विशेष हृदयप्राही शोभता है। तीसरे अन्यायके निरूपणको संक्षेपसे दिखाते हुये श्री विद्यानन्द स्वामीने शान्तिरस और प्रासादको बढानेवाळे शिखरिणी छन्दःकरके सूत्रकारके उदिष्ट कर्त्तव्यकी निर्विष्ठ परिपूर्णताको दर्शा दिया है। चाहे चारों अनुयोगोंमेंसे किसी भी अनुयोगका विषय होय, श्री विद्यानन्द आचार्य उसको युक्तियों द्वारा साधे विना छोडते नहीं हैं। छोकानुयोग अनुसार तत्त्वार्थसूत्रके करणानुयोग सम्बन्धी तृतीय अध्यायके प्रमेयको द्व्यानुयोगसम्बन्धी चर्चा करके मढ देनेवाळे श्री विद्यानंद आचार्यका प्रयास सर्वथा स्तुत्य है। सद्गुरुओंके हितवाक्य सर्वाङ्गीण पथ्य हैं। समन्तात् भद्रका आश्रय छेकर अकळंक पथपर मुमुक्चओंको चळानेके छिये श्री विद्यानन्द आचार्यके गम्भीरमन्थ विद्या और आनन्दके विधायक होने ही चाहिये। यों तीसरे अध्यायके ऊपर किये गये विवरणको श्री विद्यानन्द स्वामीने हो आन्हिकोंमें परिसमास कर दिया है।

चेतः सम्भ्रमकारणत्वविधुरा नोर्वी खबद्श्राम्यति । श्वभ्रम्छेच्छकुभोगभोगजगतीत्यादौ जनि प्राणिनां ॥ स्वस्वादछ्वशादकुत्रिममिमं छोकञ्च वै श्रद्द्भ्य । भन्यो ज्ञानचरित्रजुद्छिवकृते पुष्णातु सदर्शनम् ॥ १ ॥

इस प्रकार श्री तत्त्वार्थक्षोकवार्तिकालंकार नामक महान्प्रत्यकी आगरामण्डलान्तर्गत चावलीप्रामनिवासी सहारनपुरप्रवासी न्यायाचार्योपाद्धित माणिकचन्द्रकृत हिन्दी देशमाषामय '' तत्त्वार्थिचन्तामणि '' टीकामें तृतीयाध्याय परिपूर्ण हुआ।

निर्वाधसम्बिदितस्किसुधाः स्रवन्ती । संशीतिविश्रमविमोहतमांसि इन्त्री ॥ जीवादितस्बकुसुदानि विशोधयन्ती । वाक्चन्द्रिका त्रिसुवनं धिनुताङिजनस्य ॥

॥ औं नमोईत्परमेष्टिने ॥

अय चतुर्थोघ्यायः।

अब श्री उमालामी महाराज अधोलोक और मध्यलोकका निरूपण कर चुक्तेपर ऊर्घलोकका निरूपण करनेके लिये " तत्लार्याधिगममोक्षशाखग्रन्थके चौथे अध्यायका प्रारम्भ करते हैं। यद्यपि ऊर्घलोकिनिवासी कल्पोपपन और कल्पातीत देवोंसे असंख्याते गुणे उयोतिषी देव इस मध्यलोकमें निवास करते हैं। रत्नप्रभाके खरमाग और पंकमागमें असंख्यातासंख्यात भवनवासी और व्यन्तर निवास कर रहे हैं। फिर भी पूरे लोकके ठीक ऊपर नीचेके दो टुकड़ा कर देनेपर मध्यलोककी जड़ परसे डोरी निकल जाती है। अधोलोकके ऊपरका खरमाग और पंकबहुलभाग निकटवर्ती संयुक्त मित्र होनेसे उपचारतः ऊर्घलोकमें गिन लिया जासकता है। दूसरी बात यह है कि ऊर्घलोकमें विराज रहे अनन्तानन्त श्री सिद्धपरमेष्ठियोंके अनन्तवें भागसे भी थोडे ये भवनत्रिक देव हैं। अतः चतुर्निकायके देवोंका निरूपण करनेवाले इस अध्यायको ऊर्घलोकानुयोग कह देनेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है अथवा "देवस्थान " इतना ही इस चौथे अध्यायके प्रतिपाद आधारका नाम रख लेना उपपत्तिपूर्ण है।

कई बार देव शब्द आया है। उन देवोंका परिद्वान कराना आवश्यक है। और अधोलोक, मध्यलोकका वर्णन करनेके पश्चात् क्रमप्राप्त ऊर्धलोकका वर्णन करना भी अनिवार्य है। अतः सम्य-ग्दर्शनके विषयभूत जीवतत्त्वके कतिपय मेदोंके स्थान निर्णयार्थ श्री उमास्वामी महाराज चतुर्थ अध्याः यके आदिमें घनगर्जनोषम शब्द स्वरूप प्रथमसूत्रका उचारण करते हैं।

देवाश्चतुर्णिकायाः॥ १॥

देवगति नामकर्मके परवश हो रहे असंख्याते संसारी जीव देव इन भवनवासी, व्यंतर, क्योतिक और वैमानिक चार निकायों (मण्डिक्यां) को धार रहे विराज रहे हैं।

देवगतिनामकर्मोद्ये सित दीव्यंतीति देवाः युत्याययीविरोधात् । बहुत्वनिर्देश्नोतर्गत-भेदमतिपर्च्यशः । स्वधमीवश्चेषोपपादितसामध्यीभिचीयंत इति निकायाः चत्वारो निकायाः येषां ते चतुर्निकायाः । कुतः युनश्रत्वार एव निकाया देवानामिति चेत्, निकायिनां तेषां चतुः-मकारतया वक्ष्यमाणत्वात् । ते हि भवनवासिनो, व्यंतरा, ज्योतिष्का, वैमानिकाश्चेति चतु-विधाशिकायिभेदाच निकायभेदा इति । नैक एव देवानां निकायो नापि दावेब त्रम एव वा, पंचादयोप्यसंभाव्या एव तेषामत्रांतर्भावात् ।

नाम कर्मकी गति नामक प्रकृतिके उत्तरभेदस्वरूप देवगति संक्षक नामकर्मका उदय होते संते जो दीवते रहते हैं, इस कारण वे जीव " देव " कहे जाते हैं। " दिहुक्कीडाविजिगीवाध्यव-

हारपुतिस्तुतिमोदमदस्वप्रकान्तिगतिषु " इस धातुसे अन् प्रत्यय करनेपर देव शद्भ बनाया गया है प्रायः सभी देव श्रुति कान्ति, मगवत् स्तुति, मोद, क्रीडा आदिको धारते हैं। अतः देव शहा न्युत्पाचिसे प्राप्त हुये बोतन आदि अर्थीकी अविरोधक्तपसे घटना हो जानेसे मवनवासी आदि च निकायोंके उद्देश्यदलको व्यक्तियोंमें देवपना शोभ जाता है। अर्थात-अन्तरंग कारण हो रहे दे गति नामकर्मका उदय होनेपर बहिरंगमृत पृति आदि क्रियाओंके सम्बन्धको धारनेवाछे जीव है कहलाते हैं। यदि यहां कोई यों कहे कि सूत्रकारको लाधन गुणका लक्ष्य रखते हुये " देवन र्णिकायः " यों सूत्र कहना चाहिये था। जाति वाचक होनेसे देव शद्ध द्वारा स्वतः ही बहुत अर्थीः प्रतिपत्ति हो जावेगी । इस प्रकार कटाक्षके प्रवर्तनेके पूर्व ही श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान व देते हैं कि देव शहका बहुवचन रूपसे कथन करना तो देवोंके इन्द्र, सामानिक, आदि या स्थि प्रभाव, गति, शरीर, आदि करके हो रहे बहुतसे अन्तर्गत मेदोंकी प्रतिपत्ति करानेके छिये हैं अनेक शांकि आत्मक देवगति नामकर्मके उदयस्वरूप स्वधर्मविशेष करके प्राप्त करायी गयी सा र्थ्यसे निचयको प्राप्त हो जाते हैं, अर्थात्—देव अपने अपने उपार्जित कर्मकी सामर्थ्यसे कतिर समुदायमें पुष्टिको प्राप्त हो रहे हैं, इन कारण वे समुदित देवमण्डलियां निकाय मानी जाती हैं जिन देवोंकी निकार्ये चार हैं, वे देव चार निकायवाले हैं। यदि यहां कोई बादी यों प्रश्न करे फिर देवोंके चार ही निकाय किस प्रकारसे हैं ! यों प्रश्न होनेपर श्री विद्यानन्द आचार्य समाधान : देते हैं कि संघ या मण्डिक्योंमें रहनेवाके उन दी सी अपन प्रमाणांगुकोंकी प्रदेशसंख्याके वर्ग जगत्प्रतर प्रदेशोंमें भाग देनेपर छन्ध हुई संख्याप्रमाण ज्योतिषी देवोंसे कुछ अधिक हो। रहे देवों चार प्रकारवाळे स्वरूपसे भविष्यमें कहना है। अतः वे देव मवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, और वैर निक. यो चार प्रकारोंसे महामण्डलस्य व्यक्तियोंका भेद हो जानेसे नियम करके निकारोंके चार मे बाले हो जाते हैं। देवोंका निकाय (संघ) एक ही नहीं है। अथवा दो ही या तीन ही देवों निकाय भी नहीं हैं। तथा देवोंकी पांच, छः, सात, आठ आदि निकार्ये (टोलियां) मी असम्भ ही हैं। क्योंकि उन पांच आदिकोंका इन चारमें ही अन्तर्भाव हो जाता है। अर्थात्—पुराणें काचित् एक देवता शन्दसे ही सम्पूर्ण देवोंका प्रहण कर लिया है। अन्यत्र सर, असर या दैर आदित्य इन दो भेदोंमें सम्पूर्ण देवोंका संप्रह कर किया है। सर असुरोंके साथ परिपुज्य देवोंके मि देनेसे अन्य भी कतिपय देवोंके भेद हो जाते हैं। गणदेवताओंकी अपेक्षा, आदित्य, विका, वस, तुवि आभास्तर, अनिल, महाराजिक, सान्य, इद ये नी भेद माने गये हैं। योनिकी अपेक्षा देवोंके विद्याप अप्सरस. यक्ष, राक्षस. गन्धर्व, किनर, पिशाच, गुद्धक, सिंह, भूत, ये दश भेद स्वीकृत किये हैं। जै सिद्धान्तमें भी इन्द्र, प्रतीन्द्र, अहमिन्द्र आदि अनेक मेद गिनाये हैं । किन्तु इन सबका उक्त चार निकाये ही अन्तर्भव हो जाता है। पीपछ, संप, अब, नदी, ब्राह्मण, वायु, योनिज आदि कपोछकलि दैक्ताओंके अतिरिक्त वस्तुभूत सम्पूर्ण संसारी देवींका इन चार है। निकारोंमें अन्तर्भाव हो जाता है

नतु च ब्राह्मसौम्यमाजापत्यपेंद्रयक्षराक्षसभूतपिशाचानामष्ट्रपकाराणामष्टी निकायाः इतो न परोक्ता इति चेत्, परायमस्य तत्मतिपादकस्य ममाणत्वासंभवादित्यसकृदमिधानात्।

यहां पीराणिक पण्डितोंकी एक और शंका है कि बाहा (ब्रह्माहम्बन्धी) २ सीम्य (चन्द्रमाहम्बन्धी) ३ प्राजापत्य दक्ष, कश्यप, आदि प्रजापतियोंके अपत्य ४ इन्द्रहम्बन्धी ५ यक्ष ६ राक्षस ७ भूत ८ पिशाच इन आठ प्रकारवाछे देवोंकी आठ निकायें दूसरे विद्वानोंके यहां कही गयी हैं। अतः सूत्रकारने देवोंकी ये आठ निकायें क्यों नहीं कहीं ? यों शंका होनेपर तो श्री विद्यानोंके प्रमाणताका करते हैं कि उन दूसरे विद्वानोंके आठ निकायोंका प्रतिपादन करनेवाछे आगमकी प्रमाणताका असम्भव है, इस बातको हम कई वार अनेक प्रकरणोंमें कह चुके हैं। अपनी, अपनी, पोधियोंमें कोई भी चाहे जैक्षी अन्द सन्द बातोंको छिख देता है। किन्तु प्रमाण भूत आगमोंके विषयका आदर होता है। ब्रह्मा इन्द्र, दिति, अदिति, कश्यप, आदिसे देवोंकी सृष्टि होना कहना अछीक वचन है। अतः देवोंकी चार निकायें ही सत्यार्थ हैं।

नतु च नारकमनुष्याणामिवाधारवचनपूर्वकं देवानां वचनं किमर्थे न कृतमित्यार्शक-मानं भत्यावेदयति ।

पुनः किसी शिष्यका जिह्नासापूर्वक अनुनय है कि तृतीयाध्यायमें जैसे नारकी जीवोंके आधार होरहे रक्ता पाहिन्ने निरूपण कर पश्चाद नारक जीवोंका कथन किया है और मनुष्योंके आधार होरहे जम्मूद्रीप, भरत, आदिका पूर्वमें वर्णन कर पीछे मनुष्योंका प्रतिपादन कर दिया है, उसी प्रकार सूत्रकारको प्रथम देवोंके आधारस्थानोंका वर्णन कर पुनः आध्यभूत देवोंका वचन करना चाहिये था। ऐसा वचन श्री उमास्वामी महाराजने किस छिये नहीं किया १ पद्धतिभगदोषको क्यों स्थान देते हो १ इस प्रकार आशंका कर रहे विनीत शिष्यके प्रति श्री विद्यानन्द स्वामी बढ़िया ढंगसे वार्विकों हारा समाधान वचन कहते हैं।

देवाश्रतुर्णिकाया इत्येतत्सुत्रं यदम्बीत् । नारकाणामिवाधारमनुत्कवा देवसंविदे ॥ १ ॥ सूत्रकारस्तदेतेषां लोकत्रयनिवासिनां । सामर्थाद्र्वलोकस्य संस्थानं वक्तुमेहत ॥ २ ॥

नारिक्योंके आधार समान देवोंके आधारको प्रथम नहीं कहकर सूत्रकार श्री उमास्वामी महा-राज जो " देवाखतुर्णिकायाः " यो इस सूत्रको कह चुके हैं । वह तीनों कोकोंमें निवास करनेवाले चतुर्निकायसम्बन्धी इन देवोंकी सामध्येस उर्ध्यकोककी रचना विशेषको कहनेके लिये सूत्र बना दिसा है। अर्थात्—देवोंका कोई विशेष स्थान नियत होता तब तो सातों नरक या मनुष्य छोकके स देवस्थानोंका भी नियत रूपमे वर्णन कर दिया जाता। किन्तु देव तीनों छोकमें रहते हैं और सूत्रका अधोछोक और मध्यछोककी वर्णनाके पश्चात् उर्ध्वछोकका वर्णन करना है। अतः आधारपूर्वक अ योका कथन नहीं कर छघु उपाय द्वारा आधेयपूर्वक आधारोंका कथन करना न्यायप्राप्त है। वस प्रकरणकी सामर्थ्य इसी ओर झुका रही है।

न हि यथा नारकाणामाधारः प्रतिनियतोऽश्रोलोक एव मनुष्याणां च मानुषोत्तरान्म लोक एव, तथा देवानामूर्ध्वलोक एव श्रूयते । भवनवासिनामधोलोकाधारतयैव श्रवण न्यंतराणां तिर्यग्लोकाधारतयापि श्रूयमाणत्वात् । ततो लोकत्रयनिवासिनां सामर्थ्याद्ध्वलोव संस्थानं च मृदंगवद्ववतुमेहत मूत्रकारः आधारमनुक्त्वा निकायसंवित्तये सूत्रमणयनात् ।

जिस प्रकार नारिकयोंका आधार अधोछोक ही ठीक नियत हो रहा है और मनुष्योंका अ मानुषोत्तर पर्वतसे भीतरका मध्यंछोक ही प्रतिनियत है, तिस प्रकार देशेंका आधार स्थानप्रामा शाखों हारा केवल अर्ध्वलोक ही नहीं ज्ञात किया जा रहा है। क्योंकि भवनवासियोंका अवीलोक ही । आधारपने करके आम्नायप्राप्त शालोंद्वारा सुना जा रहा है। अर्थात्-त्रिक्रोकसारमें भी यों छिए कि " वैतर अप्पमहिश्रय मिन्समभवणामराणभवणाणि, भूमीदोधो इगिद्धगबादाळसहरसहगिळक्ष रयणपहपंकहे भागे असराण होति आवासा. भीम्मेस रक्खसाणं अवसेसाणं खरे भागे '' तथा ब देवोंका आधारपने करके तिर्थग्लोक भी सर्वज्ञ आम्नात शाखदारा ज्ञात किया जा रहा है। " नि इरादु जावय मेरुद्यं तिरियलोयवित्थारं, भोम्मा इवंति भवणे भवणपुराबास्गे जोग्गे "। ततीयाच्यायके प्रथम सत्रकी राजवार्तिकमें " तत्र खरप्रथिवीभागस्योपर्यथक्षेकैकं योजनर परित्यज्य मध्यमभागेश चतुर्रशस योजनसहस्रोस किन्तरिकपुरुषमहारगगंधर्वयक्षमुत सप्तानां व्यंतराणाः नागिश्वस्युपर्णाप्रिवातस्तनितोद्धिद्वीपदिकुकुमाराणां चावासाः । पंकबद्दुळभागेऽपुरराक्षसानामावासाः '' तिस कारणसे तीनों छोकोंमें निवास क शीक (देव, आदतको) धारनेवाले देवोंकी चार निकायोंके कण्ठोक निरूपणकी साम ही विना कहे अर्धलोकका मुदंग (पलावज) के समान संस्थानको कहनेके लिये सुर अमिकाषा रखते थे। अतः देवों के आधारस्थानको नहीं कह कर उनकी निकार्योका दन करानेके छिये श्री उमास्त्रामी महाराजने प्रथम है। " देवाश्वत्रणिकायाः " यह सन्न बना 🕯 िमावार्थ-अधीलोक और मध्यलोक हा निरूपण कर चुकनेपर अर्ध्वलोकका निरूपण तो आगे पछिके प्रस्पण द्वारा विना कहे ही ज्ञात कर किया जाता है। देवोंका स्थान एक उर्ध्व ही नियत भी नहीं है। तिर्धेश्व भी तीनों छेकोमें रहते हैं। अतः देवोंके स्थानविशेषको बत किये जर्भकीक स्थानका निक्रपण करना सूत्रकारको अनिवार्य नहीं पढ़ा । जो विषय विना को केवल सामर्थ्यसे ज्ञात कर लिया जाता है, उसके लिये सूत्र रचना करना पुनरुक्तसारिखा है। अतः आधारिवरोषको नहीं कह कर तीनो लोकके यथायोग्य आधेय हो रहे निकायोंका प्रतिपादक सूत्र चतुर्थ अध्यायमें प्रथम स्थान पा गया है।

अब उन देवोंकी टेश्याओंका निर्णय करनेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

आदितिश्रिषु पीतांतलेश्याः ॥ २ ॥

भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, और वैमानिक इन चार निकायोंमें आदिस प्रारम्भ कर भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायोंमें पीतपर्यन्त छेझ्यावाछे देव हैं। अर्थात्—भवनिक देवोंक कृष्ण, नीछ, कापोत, और पीत ये चार छेझ्यायें पायी जाती हैं। कोधादि कषाय परिणामोंक साथ जो मन, वचन, कायका अवछम्बन रखनेवाछे योगोंकी प्रवृत्ति हो जाती है, आत्माकी इस संकीर्ण परिणातिको छेझ्या कहते हैं। कौलुष्य या तृतीयगुणस्थान अथवा तृतीय गुणस्थानके दिधगुढ-मिश्रत स्वादके समान मिश्रमाब अथवा तीसरे गुणस्थानमें पाये जा रहे सम्यागिम्थापनसे मिछे हुये जान एवं '' शब्दायोंमयपूर्ण '' और '' आछोचनप्रतिक्रमणतंदुभय '' यहां पढे हुये जमय इनको समझनेवाछे विद्वान् छेझ्या स्वरूप संकर परिणातिके रहस्यको झिटित समझ छेते हैं। चारिश्रमोहनीय-कर्मकी चारो जातिके चार कोध या चार मान आदि और हास्य, रित, मय, जुगुप्सा, एक कोई सा वेद, यों एक साथ नी प्रकृतियोंका किसी मिथ्यादृष्टिके उदय होनेपर जैसे एक चारित्र गुणकी नी पर्यायात्मक एक संकर विभाव परिणाति होती है, इसी प्रकार कथाय और योगकी मिश्रणात्मक छेश्या नामकी चित्रपरिणाति हो जाती है।

संक्षेपार्थिमिहेदं सूत्रं छेक्यामकरणेऽस्य वचने विस्तरभसंगात् । तेन भवनवासिव्यंतर-ज्योतिष्कानिकायेषु देवाः पीतांतछेक्या इति । इह दु देवा इत्यवचनमनुष्ठचेभेवनवास्याध-वचनं च तत एव ।

स्त्रकारने प्रन्थका संक्षेप करनेके लिय केश्याका प्रकरण नहीं होनेपर भी यहां यह केश्याका प्रातिपादक स्त्र कह दिया है। यदि केश्याके प्रकरणमें इस स्त्रको कहा जाता तो शब्द सन्दर्भके अधिक विस्तार होनेका प्रसंग हो जाना, यह तुष्छ दोष लग बैठता। अर्थात्—" पीतपद्मश्चक्क केश्या दित्रिशेषेषु " इस स्त्रके पहिले या पीछे यदि भवनत्रिक देवोंकी केश्याको कहा जाता तो वहां प्रन्थ बढ जाता अथवा इसीको नवीन ढंगसे केश्याका प्रकरण मानकर यहां पीतपद्मशुक्क केश्या दित्रिशेषेषु " सूत्र कहा जाता तो यहां सीधर्म आदि स्वर्गोका निरूपण करना आक्ष्यक होता। अतः संक्षेपके लिये सूत्रकारको यो यथादछ मन्थका ग्रंथना ही समुचित प्रतीत हुआ है, जो कि सर्वांग सुचार है। तिस कारण इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार है कि भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषक, इन

तीन निकायों में विराज रहे देव यथांचित पीतपर्यंत यानी कृष्ण, नील, कापोत, पीत, लेक्यांवाले हैं यहां प्रकरणमें संक्षेपसे कथन करनेपर तो देवाः इस शब्द मा कथन करना नहीं पढ़ा। क्योंकि पूर्वसूत्रां '' देवाः '' पदकी अनुवृत्ति हो जाती है और सूत्रकारको भवनवासी, ब्यंतर, आदि निकायोंका म कण्ठोक्त निरूपण नहीं करना पढ़ा। क्योंकि तिस ही कारणसे यानी भवनवासी आदि निकायोंकी पू सूत्रसे ही अनुवृत्ति हो।ही है।

क्यमिह निकायेष्वित्यनुवर्तियतुं शक्यं, तेषामन्यप्रदार्थे दृत्तौ सामध्याभावात् चत्वारश्च ते निकायाश्वतुर्णिकाया इति स्वपदार्थायामपि दृत्तौ देवा इति सामानाधिकरण्याद्व पपत्तिरिति चेक्च, उभयथानि दोषाभावात् । अन्यपदार्थायां दृत्तौ तावाक्षकायेष्विति स्वव्य मनुवर्तियतुं । त्रिष्विति चचनसामध्यीत् त्रित्वसंख्यायाश्च संख्येयैविना संभवाभावादन्येषा मिहाश्चतत्त्वात् नकरणाभावाच त्रिनिकायैरेव तैर्भवितव्यमित्यर्थसामाध्याक्षिकायानुद्वत्तिः स्वपदार्थायामपि दृत्तौ तत एव तद्बुवृतिः प्रधानत्वाच निकायानां चतुःसंख्याविश्वष्णरादि तानामनुवृत्तिघटनात् त्रित्वसंख्यया चतुःसंख्याया बाधितत्वात् । देवा इति इति सामानाधि करण्यं तु निकायनिकायिनां कथंचिद्भेदास्र विरुध्यते ।

यहां किसी पण्डितका आक्षेप है कि इस दूसरे सूत्रमें त्रिष्ठ राद्धका सामानाधिकरण्य करने छिये " निकायेषु " ऐसे सतमी बहुवचनान्त पदकी अनुकृति करना आवश्यक है। किन्तु पूर्व सूत्र " निकायाः " ऐसा प्रथमा विभक्तिका बहुवचनान्त पद पडा हुआ है। और वह भी " चतुनि कायाः " यहां समासवृत्ति द्वारा चतुर शद्धके साथ चुपट रहा है। " पदार्थः पदार्थनान्वेति नत्वेकदेशेन एकयोगनिर्दिष्टानां सद वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः " इन नियमोंके अनुसार यहां निकायेषु इस प्रकार सतः बहुवचनान्त पदकी भला किस प्रकार अनुवृत्ति की जा सकती है ! क्योंकि उन निकायोंका अन्य पद र्थको प्रधान माननेवाळी बहुत्रीहि नामकी बृत्ति होनेपर स्वतंत्र बने रहनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है चत्वारो निकायाः थेषां '' यों बहुवीहि समास करनेपर " समर्थः पदिविधिः " के अनुसार दोनों पदींव सामर्थ्य परस्परमें भिड रही मानी गयी है। भाण्डागार (खजाना) में दो अधिपतियोंके ताळे छ चुकनेपर पुनः एक ही अधिपतिको भाण्डागार खोळनेकी सामर्थ्य नहीं रहती है। उसी प्रकार या " चतुर्निकायाः " में से निकायाः अथवा " अर्थवशात् विभक्तेविपरिणामः " इस न्यायसे त्रिषु पदं समिभव्याहार अनुसार निकायेषु पदकी अनुवृत्ति नहीं की जा सकती है। हां, चार जो वे निकाय : विष्णह कर बनाये गये चतुर्निकायाः इस शहुकी स्वपदार्धप्रधाना कर्मधारय समास नामकी वृति मानने पर यद्यपि स्वतंत्र रूपसे समर्थ हो रहे निकाय शहकी अनुवृत्ति की जा सकती है, तो भी '' देवा इस पदके साथ सामानाविकरण्य नहीं वन सकता है। क्योंकि अनुवृत्त किये गये ''निकायाः'' शद · साथ '' देवाः '' यह पद चळ रहा है । और '' पीतान्तळेश्याः '' पद:भी देवपरक है । कि

त्रिषु शहकी पराधीनतासे विपरिणत हो गया निकायेषु यह पद अपने संसर्गी देवाः इस प्रथमान्त बहुवचनके समानाधिकरणपनको कथमपि रक्षित नहीं रख सकता है। इस प्रकार आक्षेप प्रवर्तनेपर प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि अन्यपदार्थप्रधान या स्वपदार्थप्रधान दोनों प्रकार वृत्ति करनेपर भी कोई दोष नहीं आता है। देखिये, सबसे पहिले अन्य पदार्थको प्रधान रखनेबाली " चार हैं निकाय जिन्होंके " ऐसी बहुबीहि समासवृत्ति करनेपर तो निकायेषु यो सप्तमी बहुवचनान्त पदकी अनुवृत्ति की जा सकती है। क्योंकि त्रिष्ठ इस प्रकार सप्तमी बहुबचनान्त पदके कथनकी वैसी सामर्थ्य है। कारण कि त्रित्व नामकी संख्याका गिनने योग्य संख्येयोंके विना ठहर जाना असम्भव है। निकायोंके अतिरिक्त किन्हीं अन्य घट, पट, उदासीन पदार्थीका यहां श्रुतज्ञान नहीं किया जा रहा है और उनका प्रकरण भी नहीं है। यहां त्रिष् पदके विशेष्य दच्न होने योग्य उन भवनवासी आदि तीन निकायोंको ही होना चाहिये। इस प्रकार अर्थकी सामर्थ्यसे सप्तमी बहुवचनान्त बनाकर निकाय शब्दकी अनुवृत्ति कर छी जा सकती है। तथा दूसरी स्वपदार्थप्रधान कर्मधारय वृत्तिके करनेपर भी तिस है। कारणसे यानी त्रिष्का श्रनण होनेसे उस निकायेषु की अनुवृत्ति की जा सकती है और कर्मधारय समासमें चतुर शब्दके समान निकायोंकी भी प्रधानता हो जानेसे चतुर संख्या नामके विशेषणसे रहित हो रहे केवल निकायोंकी अनुवृत्ति हो जाना घटित हो जाता है। इस मुत्रमें कण्ठोक्त की गयी किल संख्या करके निकायाः के पुंच्छला हो रही चतुःसंख्याको बाधा युक्त कर दिया जाता है। अतः चार संख्या निकायेषुका पीछा छोड देती है। रही यह बात कि देवाः इसके साथ निकायेषुका सामाना-विकरण्य बिगड गया, इसपर हमारा यह कहना है कि निकाय (समुदाय) और निकायी (समुदायी) इनका कथंचित अभेद हो जानेसे '' देवाः पीतान्तलेश्याः '' यों सामानाधिकरण्य वन जाना तो विरुद्ध नहीं पढता है। यानी निकाय और निकायियोंकी भेदिनवक्षा करनेपर निकायेषु देवाः यों भेरसचक सप्तमी विभक्तिको बीचमें टाकर पीतान्तलेश्याःके साथ अभेद करते हुये वाक्यसन्दर्भ सुघ-दित हो जाता है। कोई आपत्ति होनेका प्रसंग नहीं है।

त्रिनिकायाः पीतान्तलेक्या इति युक्तमिति चेम, इष्टविपर्ययप्रसंगात् । आदित इति वचने त्वत्र सूत्रगौरवमनिवार्ये । ततो यथान्यासमेवास्तु ।

छपुता ही को अन्तिमछक्ष्य स्वीकार करता हुआ कोई पण्डित आक्षेप करता है कि "आदितिकाषु पीतान्तछेश्याः " इतना छम्बा सूत्र नहीं बना कर केबछ " त्रिनिकायाः पीतान्तछेश्याः " इतना छोटा सूत्र बनाना ही समुचित है । भवनवासी, ज्यंतर, ज्योतिष्क इन तीन निकायवाछ देव पीतपर्यंत छेश्याओंको धार रहे हैं । यह अभिप्रेत अर्थ प्राप्त हो ही जायगा । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि इष्ट अर्थसे विपरीत अर्थकी प्राप्ति हो जानेका प्रसंग बन बैठेगा । तीन निकासोंमें भवनवासी, ज्यंतर, वेमानिक, या ज्यन्तर, ज्योतिष्क, बैमानिक, बैमानिक, बैमानिक, यो इन तीन

निकायों में पीत पर्यन्त केश्याका विधान समझा जायगा। जो कि जैन सिद्धान्त अनुसार इस्वे विधरीत है। यदि वह पण्डित यों कहे कि आदितः सन्द जोडकर ''आदितिकिनिकायाः पीतान्तकेशां आदिसे केकर तीननिकाय वाले देव पीतपर्यन्त चार केश्याओं को धार रहे हैं, यों सूत्रद्वारा कुछ किये जानेपर इप्टसे विपरीत अर्थके प्राप्त हो जानेका प्रसंग नहीं आवेगा। आचार्य कहते हैं कि ये कहने पर भी तो यहां सूत्रका कम्बा, चौडा गौरव दोष अनिवार्य ही रहा। तुम्हारे ''आदितिकिनिकाया पीतान्तलेश्याः '' इसकी अपेक्षा तो सूत्रकारके '' आदितिकिषु पीतान्तलेश्याः '' यों सूत्र बनानेमें इ छाधव गुण है, दृष्ट अर्थ भी सुघटित होजाता है। तिस कारण जैसा सूत्रकारने सूत्रका विन्यास किय है वही बहुत अच्छा बना रहो।

किमर्थिमिहादित इति वचनं १ विपर्यासिनिद्दृत्यर्थे, अंतेन्यथा वा त्रिष्विति विपर्यासस्या न्यथा निवारियतुमञ्चक्तेः । ग्रेकिनिद्यूचर्थस्तु त्रिष्विति वचनं । चतुर्निद्यूचर्ये कस्माक भवति । आदित इति वचनात् चतुर्थस्यादित्वासंभवात् , अंत्यत्वात्यंचमादि निकायानुपदेशात् ।

कोई तटस्थ पुरुष प्रयत्न करता है कि यहां सूत्रमें आदितः यानी आदिसे प्रारम्भ कर र आदी इति आदितः आदिमें यह तीन अक्षरताला पद सूत्रकारने किसलिये कहा है ? श्री विद्यानन स्वामी इसका समाधान करते हैं कि विपर्यासकी निवृत्तिके लिये आदितः कहा गया है। अन्तर्मे तीन निकाय अथवा अन्य प्रकारोंसे मनुष्य, तिंथीच, देव इन तीनमें या भवनवासी, कल्पासी, कल्पा तीत इन तीनमें इत्यादि प्रकारसे प्राप्त हो रहे विपर्यासकी अन्यथा यानी आदितः इस पदका कवः किये विना निवृत्ति नहीं की जा सकती है। अतः आदितः पद सार्थक है। आदिसे प्रारम्भ कर तीः निकायोंमें या आदिभूत तीन निकायोंमें पीतपर्यन्त छेश्या है। यह अर्थ सुख्य हुआ । तथा ह मूत्रमें त्रिषु इस प्रकार बचन तो दो निकाय और एक निकायकी निवृत्तिके छिये हैं। अर्थात-आदिकी दो या एक निकायोंमें पीतपर्यन्त छेल्या नहीं, किन्तु आदिकी तीनों निकायोंमें पीतपर्यन छेऱ्या है। यदि यहां कोई यों आक्षेप करै कि संख्येयपरक त्रिशब्द करके नियत तीन निकायोंक कथन करते हुये जैसे दो, एक, इन न्यून संख्याओंकी व्याष्ट्रित कर छी जाती है, उसी प्रका प्रकरण प्राप्त अधिक हो रही चार संख्याकी निशाचिक छिये किस कारणसे त्रिष्ठ शहकी सकळत नहीं कहीं जाती है ! देखी " पंचेन्द्रियाणि " कह देनेसे एक, दो, तीन, चार, और छ सात, आठ, आदि इन्द्रियोंका पांच पदसे व्यवच्छेद हो जाता है। इसके उत्तरमें आचा कहते हैं कि आदितः इस प्रकार सूत्रकारने कथन किया है। यदि चारों निकाय ही अभी। होते तो आदितः कहनेकी कोई आवस्यकता नहीं थी। आदितः कहनेपर चार निकायोंमेंसे कमसे का एक निकायको तो छोडना चाहिये। तभी आदितः कथन सफल होसकता है। चौथे निकायको आदि पनेका असम्भव है। क्योंकि चौथा वैमानिक निकाय सम्पूर्ण कारों निकायके अन्तमें पड़ा हुआ है। हो, यह पांचवें, छठवें, कोई अन्य निकाय होते तो चौथा भी पांचवे, छठवेंका आदिभूत होसकता था, किन्तु सिद्धान्तमें पांचवें, छहे, आदि देव निकायोंका उपदेश नहीं किया गया है। अतः सूत्रकारने जितना कहा है विपर्यासोंकी निवृत्तिको करता हुआ उतना ही सूत्र सर्वीग सुन्दर है।

आधेषु पीतान्तलंक्या इत्यस्तु लघुत्वादिति चेन्न, विपर्ययमसंगात् । आदौ निकाये भवा आधा देवास्तेषु पीतान्तलेक्या इति विपर्ययो यथान्यासं मुन्नकः परिहर्त्ते, निःसंदेहार्थे वैवं वचनं ।

पुनः छघुताको ही जीवनप्राण स्वीकार कर रहा पण्डित कह रहा है कि लाघव गुण होनेसे "आधेषु पीतान्तलेक्स्याः" आदिमें होने वाली निकायोंमें पीतपर्यन्त लेक्या हैं, इतना ही छोटा सूत्र बनाया जायन चौथी निकायका आधपदसे प्रहण नहीं होसकोको आप जैन स्वयं स्वीकार कर चुके हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सिद्धान्तसे विपरीत होरहे अर्थके प्राप्त हो जानेका प्रसंग हो जायेगा। आदिकी निकायमें होनेवाले देव आधा कहे जायंगे, उन आदि निकायवाले दश प्रकार भवनवासी देवोंमें ही पीतान्तलेक्स्याका विधान होसकेगा। इस प्रकार निपरीत अर्थकी आपित होगी। हां, जैसा सूत्रकारने सूत्र रचा है उस ढंगसे विन्यासका अतिक्रमग नहीं किया जाय तो सम्पूर्ण निपर्यासों के प्रसंगका सुलभतया परिहार किया जास कता है और सबसे अच्छा समधान यह है कि किसी प्रकारका सूत्रप्रमेयमें सन्देह नहीं रह जाय। स्वश्रूष्टि अभिनेत अर्थका निर्णय हो जाय। अतः संरेहोके निरासको छये "आदितिलयु पीतान्तलेक्स्याः " इस प्रकार सूत्र पढ़ा गया है।

अय पीतान्तवचनं किमर्थे ? लंक्यावधारणार्थे, कृष्णा नीला कपोता पीता पद्मा शुक्ला क्रिक्येति पाठे हि पीतांतवचनात् कृष्णादीनां संभत्ययो भवतीति, पद्मा शुक्ला च निवर्तिता स्यात्।तेन त्रिष्वादितो निकायेषु देवानां कृष्णा नीला कपोता पीतेति चतस्रो लेक्या भवंतीति।

यहां अब कोई नवीन प्रकरणकी शंका उठाता है कि सूत्रकारने पीतपर्यन्त यह कथन किस छिये किया है! आचार्य समाधान करते हैं कि सम्भन रहीं छेश्याओं का नियम करने के छिये पीतान्त पद कहा गया है। "किण्हा णीला काऊ तेऊ पम्मा य सुनक छेस्साय, छेस्साणं णिहेसा छण्चेत्र हवंति णियमेण " (गोम्मटसार जीवकाण्ड) कृष्णा, नीला, कपोता, पीता, पद्मा, शुन्ला थे हह छेश्यायें हैं, इस प्रकार पाठ होनेपर पीतपर्यन्त कथन करनेसे कृष्ण, नील, कापोत, पीत, इन जातिकी चार छेश्याओंका मले प्रकार सम्बेदन हो जाता है। पद्मा और शुन्ला छेश्याकी निवृत्ति कर दी जावेगी। अर्थात्—" सम्भवन्यभिचारान्यां स्यादिशेषणमर्थवत्, स्वपरात्मोपादानापोहनन्यवस्थापाद्यं हि बस्तुनो बस्तुनं, स्वचतुष्टयापेक्षयास्तित्वं और परचतुष्टयापेक्षया नात्तित्वं ये दो स्वमात्र ही वस्तुको मृत्युसे या सांकरीस बचाकर खांशोंमें सर्तदा जीवित बनाये रखते हैं। स्वपक्षमण्डन, परपक्षखण्डन जैसे वादी, प्रतिवादी, करते हैं, उसी प्रकार इस युद्धको सम्पूर्ण वस्तुयें या वस्तुके अखिल अंश भी ठाने रहते

हैं । अन्यथा एक समय भी परचक्रसे स्व को रिक्षत रखना असम्भव ही समझो । तिस कारण आदिश्र तीन निकार्योंमें देवोंके कृष्ण, नीळ, कापोत और पीत इस प्रकार चार छेश्यामें होती हैं, यों सूत्रका अर्थ सुसंगठित हो जाता है ।

अन्यया कस्मास भवंति तेषु देवा इत्युच्यते ।

सूत्रोक्त अर्थमें युक्तियोंकी अभिछाषा करता हुआ कोई संशयाछ पण्डित प्रश्न करता है कि उन निकायोंमें देव अन्य प्रकारों करके किस कारणसे नहीं होते हैं ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द आचार्य अग्रिमवार्त्तिक द्वारा समाधान कहते हैं।

त्रिष्वाद्येषु निकायेषु देवाः सूत्रेण सूचिताः । संति पीतांतलेश्यास्ते नान्यथा बाधितत्वतः ॥ १ ॥

आदिमें होनेवाली भवनवासी, न्यन्तर, ज्योतिष्क, इन तीन निकायोंमें समुदित हो रहे देव ती पीतपर्यन्त लेश्याओं को धार रहे विद्यमान हैं। इस प्रकार श्री उमास्त्रामी महाराज करके इस सूत्र द्वारा तस्त्रसूचन किया गया है। वे भवनित्र देव भवनवासी, न्यन्तर, ज्योतिष्क के अतिरिक्त अन्य प्रकारोंसे न्यविधित नहीं है। तथा पीतान्त लेश्याधारीपन के सिश्य अन्य प्रकार पद्मशुक्ल लेश्यावाले भी नहीं है। क्योंकि यों अन्य प्रकारोंसे भवनित्र देवोंकी न्यवस्था माननेपर बाधा प्राप्त हो जावेगी निर्वाध सिद्धान्त सूत्र अनुसार ही है।

न ताबहेवाः सूत्रोक्ताः संतोन्यथा भवंति, सुनिश्चितासंभवद्वाधकत्वात्सुखादिवत् । नापि त्रिषु निकायेषु पीतांतलेक्याः सूत्रेणोक्तास्तदन्यथा पष्टलेक्याः शुक्ललेक्याः वा भवंति, तत एव तद्वत् ।

स्मान रहे हैं (प्रतिज्ञा) बाधक प्रमाणोंके नहीं संमननेका बहुत अच्छा निश्चय किया जा चुका होनेसे (हेतु) अपने अपने अनुमूत किये जा रहे सुख, वेदना, राल्य, आदिके समान (अन्वयदद्यान्त) इस अनुमान करके देवोंकी आगम द्वारा श्रूयमाण हो रही सूत्रोक्त व्यवस्थाको साध दिया गया है तथा तीन निकायोंमें पीतपर्यंत छेक्यावाछे देव जो इस सूत्रकरके कहे गये हैं। वे अन्य प्रकारोंसे पप्राछेक्यावाछे अथवा शुक्छ छेक्यावाछे भी नहीं सम्मवते हैं (प्रतिज्ञा)। तिस ही कारणसे थानी बाधक प्रमाणोंके असम्भवका अच्छा निश्चय किया जा चुका होनेसे (हेतु)। उसीके समान यानी अपनेसे अतिरिक्त प्राणियोंको अतीदिय हो रहे किन्तु निजको स्वसम्बेदन प्रत्यक्ष द्वारा परिगृहीत हो रहे अपने सुख, दुःख, शोक, संतोष, भय, आदिके समान (अन्वयदद्यान्त)। इस प्रकार दो अनुमानोंकरके सूत्रोक्त उद्देश्यदछ और विधेयदछ दोनोंके प्रमेयको श्री विधानन्द आचार्यने अवधारणका ताला छगाते हुथे सिद्ध कर

दिया है। छक्षणके आदिव्याप्ति, अञ्चाति और असम्भव दोषों तथा हेतुके व्यमिचार, विरुद्ध, आदि दोषोंसे रहित हो रहा इस सूत्रका प्रमेय निष्कर्णक है।

अब उन चारों निकायों के अन्तरंगमें प्राप्त हो रहे विकल्पोंकी प्रतिपत्ति करानेके िक्ये श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

दशाष्ट्रपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यंताः ॥ ३ ॥

दश, आठ, पांच, बारह ये विकल्प इन मयनवासी, ब्यन्तर, अयोतिष्क, और वैमानिक देवोंके हैं। किन्तु वैमानिकोंमें कल्पातीत देवोंको नहीं पकड कर षोडश स्वर्गवासी कल्पोपपन देवोंतक ही उक्त ब्यवस्था समझ छेनी चाहिये।

देवाश्रद्धणिकाया इत्यनुवर्तमानेनाभिसंबंधोस्य चतुर्णो निकायानामंतविकल्पमितपादनार्थ-त्वात् न पुनरादितस्तिष्वित्यादीनां पीतांतल्लेक्यानां कल्पोपपमपर्यतत्वाभावात् । तेन चतुर्णो देवनिकायानां दश्चादिभिः संख्याञ्चल्दैर्ययासंख्यमभिसंबंधो विज्ञायते, तेन भवनवासिन्यंतर्-क्योतिष्कवैमानिका दश्चाष्ट्रपंचद्वादश्चविकल्पा इति । वैमानिकानां द्वादश्चविकल्पांतःपातित्वे मसक्ते तत्र्यपादनार्थे कल्पोपपमपर्यतवचनं, ग्रेवेयकादीनां द्वादश्चविकल्पवैमानिकबिद्दर्भावमतीतेः। एतदेवाभिधीयते ।

देव चार निकायवाछे हैं, इस प्रकार अनुकृत्त किये जा रहे प्रथम सूत्रके साथ इस तृतीयस्त्रका बारों ओरसे सम्बन्ध हो रहा है। क्योंकि प्रन्थकारको चारों निकायोंके अन्तरंग हो रहे भेदोंकी शिष्योंको प्रतिपत्ति करा देना प्रयोजन अभीष्ठ हो रहा है। किन्तु फिर इस तृतीयस्त्रका द्वितीय सूत्रके स्वाध सम्बन्ध नहीं हैं। क्योंकि आदिसे छेकर तीन निकायोंमें इत्यादि दितीय सूत्रवाक्यकरके कहे गये पीलपर्यन्त छेक्यावाछे भवनत्रिक देवोंके कल्पोपपन पर्यन्तपनका अभाव है। चारों निकायके देव तो कल्पोपपनपर्यन्त कहे जा सकते हैं। तीन निकायके नहीं। तिस्र करके चारों देवनिकायोंका संख्यावाची दश, आठ, आदि संख्यावाचक शद्धोंके साथ यथासंख्य ठीक सम्बन्ध हो जाना जान किया जाता है। तिस कारण इस सूत्रका अर्थ यों सुघटित हो जाता है कि भवनवासी देव दश प्रकारके हैं। व्यन्तरनिकायके देव आठ प्रकारके हैं। अ्योतिष्क देव पांच विकल्पोंको धार रहे हैं। और वैमानिक देवोंके अन्तरंग मेद बारह है। यहां सूत्रका उत्तरार्ध नहीं करनेपर सम्पूर्ण कल्पोपपन और कल्पातीत वैमानिकोंका बारह मेदोंके मीलर ही। अन्तः प्रविष्ट हो जानेक। प्रसंग प्राप्त हो जाता। इस अनिष्ठप्रसंगका निराक्तरण करनेके छेथे सूत्रकार कल्पोपपन पर्यन्त ऐता वचन सूत्रके साथ खगाये देते हैं। क्योंकि मैनेपक आदि विमानवासी कल्पातीत देवोंका बारह भेदवाछे कल्पोपपन वैमानिक

देवोंसे पृथग्भाव प्रतीत हो रहा है। इस ही सिद्धान्तको श्रीकियानन्द स्वामी अप्रिम वार्त्तिक द्वारा युक्तिमूर्वक कहे देते हैं।

चतुर्ष्विप निकायेषु ते दशादिविकल्पकाः। कल्पोपपन्नपर्येता इति सुत्रे नियामतः॥ १॥

चारों भी निकायोंमें वर्त रहे वे देव (पक्ष) दश, आठ, आदि विकल्पोंको धार रहे हैं। (साध्य) क्योंकि सूत्रमें ही कल्पोपपन्नपर्यन्त इस प्रकार नियम कर दिया गया है (हेतु)। सर्वत्र असंभवद्वाधकत्वाद् इस युक्ति करके आगमोक्त सिद्धान्तींका निर्णय हो जाता है।

चतुर्निकाया देवा द्वादिविकस्पा इत्यभिसंबंधे हि वैमानिकानां द्वाद्यविकस्यांतः-पातित्वमसक्ती कस्योपपकापर्यता इति वचनाक्षियमी युज्यते, नान्यथा। इन्द्रादयी द्वामकारा एतेषु करूप्यंत इति कस्पाः सौधमीदयो कदिवज्ञाक भवनवासिनः। कस्पेष्पपकाः कस्पो-पपकाः साधनं कृता बहुल्लिमिति ब्रत्तिः मयूरम्पंसकादित्वाद्वा, कस्पोपपकाः पर्यते येषां ते कस्पोपपकापर्यन्ताः माग्रीवेयकादिभ्य इति यावत्।

पहिले सूत्र और तीसरे सूत्रका दोनों ओरसे सम्बन्ध कर जब कि चार निकायबाळे देव दश आदि भेदोंको धार रहे हैं, यह अर्थ वन बैठता है तो कल्पवासी और अहमिन्द्र इन सम्पूर्ण वैमा-निक देवोंको बारह भेदोंके भीतर ही प्रविष्ट होनेका प्रसंग आया । ऐसी दशामें सूत्रकारको एक ही अवलम्बनीय उपाय हो रहे " कल्पोपनपर्यन्त " इत कथनसे मर्यादाकी नियति कर देना युक्त पडता है। अन्य किन्हीं भी पातालफोड उपायोंसे उस अनिष्टमसंगका निवारण नहीं हो सकता है । इन्द्र, सामानिक, आदिक दश प्रकार इन देवोंमें वस्तुभूत कल्पित किये जा रहे हैं । इस कारण ये देव या सौधर्म आदिक सोछइ स्वर्ग कल्प कहे जाते हैं । यशपि भवनवासी. व्यंतर. और ज्योतिष्क देवोंके स्थानोंमें भी इन्द्र, सामानिक, आदि यथासम्भव दश या आठ प्रकार वस्तुभूत करुपे जारहे हैं । तथापि रूढिके वशसे सौधर्म आदि सोळह स्वर्ग ही करूप हैं। भवनवासी आदिकोंके स्थान करूप नहीं है। रूढि शब्दोंमें भावर्थ स्वरूप कियाका घटित करना केवळ व्यत्पत्तिके लिये ही शोभता है. अर्थोशमें नहीं । उससे अन्याप्ति, अर्ति-न्याप्ति, असम्भव दोषोंका परिहार नहीं होपाता है और करना भी नहीं चाहिये । ''कल्पीपपना'' इस शब्दमें सामी तत्पुरुष समास तो कल्पोंमें उपपाद जन्म द्वारा उपज चुके यों कर केना चाहिये। " साधनं कृता बहुई " इस सुत्रसे यहां तत्पुरुषद्वति होजाती है। यद्यपि " नखैर्मिनः नखिमनः स्वेन कृतं स्वकृतं '' क्र्यादि स्थळें पर साधनवाची शब्दका कृत् प्रस्ययान्त पदके साथ उक्त सूत्र करके ें समास होपाता है। फिर भी बहुई राष्ट्रकी सामध्येसे अधिकरणवालक सरम्यन्त पदका भी कुदन्त शब्दके साथ सम्भव जाता है। यद्यपि पाणिनीय व्याकरण अनुसार "कर्तृ करणे कृता बहुलं " इस सूत्रोक्त बहुल शब्दको सर्वोपाधिन्यभिचारार्थ नियत किया है। फिर भी "कचित् प्रवृत्तिः कचिदप्रवृत्तिः कचिद्वि-भाषा कचिदन्यदेव । वियेविधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुल कं बदन्ति " बहुल शब्दके इस व्यापक अर्थका लक्ष्य कर " साधनं कृता बहुलं " इस सूत्र अनुकूल यहां वृत्ति कर लेनी चाहिये । अथवा इसमें कुल अस्वरस होय तो " मयूर्व्यसकादयः " इस सूत्र अनुसार मयुर्व्यंसक, आदि गणमें प्रविष्ट होनेसे " कल्पोपनाः यहां तत्पुरुष वृत्ति कर लेना । जिन देवों के पर्यन्तमें कल्पोपपन देव हैं, वे देव कल्पोपपन पर्यन्त हैं यह बहुबीहि हृत्ति कर दी जाती है । प्रैवेयक आदिसे पहिले पहिलंके देव दश, आठ, पांच, बारह भेदवाले हैं, यह सूत्रका फलितार्थ हुआ ।

अब स्वामीजी सूत्रकार पुनरिप उन निकार्यों के विशेषों की प्रतिपत्ति करानेके छिये अगले सूत्रका रचते हैं।

इंद्रसामानिकत्रायश्चिशपारिषदात्मरक्षलोकपालानीक-प्रकीर्णकाभियोग्याकिल्बिषिकाश्चेकशः ॥ ४ ॥

१ परम ऐक्चर्यशाली और स्वकीय मण्डलका सर्वाधिकारी प्रमु इन्द्र है २ इन्द्रके समान परिवार, आयु आदिको धारनेवाले सामानिक देव हैं ३ मंत्री, प्रशेहित आदि तेतीस देवोंका मण्डल त्रायिक्षश है ४ सभामें बैठने वाले पारिषद हैं ५ इन्द्रकी मानूं रक्षा करनेके लिये नियुक्त होरहे, इद्ध चेष्टावाले और परचक्रको मारनेके लिये ही मानूं उचत होरहे तथा इंद्रके पीछे खडे रहनेवाले ऐसे देव आत्मरक्ष हैं ६ स्वकीय अधिकृत लोकप्रान्तको पाल रहे गवर्नर, कमिश्नर, कलकटर, कौतवाल, आदि सारिखे देव लोकपाल हैं ७ सेनामें नियुक्त हो रहे देव अनीक हैं ८ पुरनिवासी या देशनिवासी जनोंके समान प्रकीर्णक देवोंका मण्डल है ९ वाहन, यान, सेवकत्व आदि क्रिया करनेमें आज्ञा अनुसार झिटित अभिमुख होनेवाले दाससमान देव आभियोग्य हैं १० भंगी, चाण्डाल, कसाई, आदिके समान पापबहुलदेवोंको किल्विषिक कहते हैं। यो एक एक निकायके ये इन्द्र आदिक दश विकल्प हैं।

अन्यदेवासाधारणाणिमादिगुणपरमैश्वर्ययोगादिंदंतीतींद्राः ।

इन दशोंका विशेष अर्थ इस प्रकार है कि अन्य देवोंकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली असाधारण हो रहे अणिमा, गरिमा, प्रभुता आदि गुणस्वरूप परम ईश्वरताके योगसे जो प्रभावशाली होकर स्व निकायमें सर्वोपिर विराज रहे हैं, इस कारण वे इन्द्र देव कहे जाते हैं। देवोंमें भवनवासीके चालीस ४० व्यन्तरोंके क्सीस ३२ कल्पवासियोंके चीकीस २४, ज्योतिषियोंमें सूर्य चन्द्र यें दो इस प्रकार ९८ इन्द्र या प्रतीन्द्र गिनाये गये हैं। किन्तु तीन निकायोंमें व्यक्तिमेदसे गिनती करनेपर ज्योतिष्क निकायमें असंख्याते इन्द्र और असंख्याते प्रतीन्द्र समझ छेने चाहिये। क्योंकि इस मध्यलोकमें असंख्याते चन्द्रमा और असंख्याते सूर्य हैं। चन्द्र विमानोंमें निवास कर रहे प्रधान देव इन्द्र हैं और सूर्यविमानोंके प्रधान अधिकारी देव प्रतीन्द्र हैं। सामानिक देवोंमेंसे प्रधान देव प्रतीन्द्र होता है। समापति, उपसभापति या मंत्री, उपमंत्री, अथवा कलक्टर, ढिप्टी कलक्टर, एवं तहसीलदार, नायव तहसीलदारके समान इन्द्र और प्रतीन्द्रका जोडा सुशोभित है।

आङ्गैश्वर्यवर्जितमायुर्वीर्यपरिवारभोगोपभोगादिस्थानमिद्गैः समानं तत्र भवाः सामानिका इन्द्रस्थानाईत्वात् , समानस्य तदादेश्वेति उक् । महत्तरपितृगुरूपाध्यायतुल्याः ।

सम्पूर्ण अधिकृतोंके उत्पर आज्ञाप्रचार और उन सबके उत्पर ईश्वरता इन दो शक्तियोंको छोडकर शेष आयु, वीर्य, परिवार, भोगोपभोग, स्थान आदि व्यवस्थायें जिन देवोंकी इन्होंके समान हैं उन देवोंके मण्डलको समान कहते हैं । उस समान नामक पिण्डमें होनेवाले देव सामानिक हैं । क्योंकि समय पडनेपर ये देव इन्द्रका स्थान प्राप्त करनेके लिये योग्य हैं, जैसे कि सभापतिकी अनुपस्थितिमें उपसभापति उस सभापति स्थानके योग्य समझा जाता है । समान शब्दसे "समानस्य तदादेश्व" इस तिहत सम्बन्धी सूत्र करके ठक् प्रत्यय हो जाता है । ये सामानिक देवकुलमें सबसे बढ़े महत्तर या इन्द्रके माता, पिता गुरु, उपाध्याय, बाचा, ताऊ, आदिके सदश हो रहे प्रतिष्ठित स्थानोंपर नियत होकर आदरणीय हैं । अर्थात्—जैसे आधुनिक, अत्रत्य, राजाओंके पिता, गुरु, पाठक, आदि पृज्यपुरुषोंका सद्भांव विशेष हर्षोत्पादक है तथेव इन्द्रका भी परिकर विद्यमान है । आवश्यक परिकरके विना सांसारिक सुख फीका रहता है । पुण्यके ठाठ तारतम्यको लिये हुये सर्वत्र एकसे हैं ।

त्रयस्तिशति जाताः त्रायस्तिशाः " दृष्टे नाम्नि च जाते च अण्डिद्वा विश्रीयत " इत्य-भिधानमस्तीति अण्डिद्विधीयते, कयं दृत्तिर्भेदाभावात् । मंत्रिपुरोहितस्थानीया हि ये त्रय-स्त्रिश्चेवास्त एव त्रायस्तिशा न तत्र जाताः केचिदन्थे संतीति दुरुपपादाद्वत्तिः । नैतत्सारं, संख्यासंख्येयभेदिववक्षायामाधाराधेयभेदोपपत्तेः, त्रयस्त्रिशत्संख्या तदाधारः संख्येयास्तु यथोक्तास्तदाधेया इति सूपपादा श्रतिः । अथवा त्रयस्त्रिश्चादेवा एव त्रायस्त्रिशाः स्वार्थिकोपि इत " इति बहुत्वनिर्देशात् अंतिमादिवत् ।

तेतीस नामक मण्डलीमें सद्भूत हुये देव त्रायिक्षश कहे जाते हैं "तन्न जातः '' इस सूत्रहारा अयितिशत् शन्दसे अण् प्रत्यय कर लिया जाता है। दृष्ट अर्थमें और नाम अर्थमें तथा जात अर्थमें किया गया अण् प्रत्यय विकल्प करके दित् कर दिया जाता है, इस प्रकार शन्दशासका अमिधान है। इस कारण यह अण् प्रत्यय दित् किया गया '' दिल्बाहि लोपः '' दित् होनेसे अत् इननी दि का

छोप होकर वृद्धि करते हुये त्रायखिंश शब्द बना लिया जाता है। यहां कोई आक्षेप करता है सुन्ने जातः स्नीष्टः यहां सप्तम्यन्त आधारभूत सूत्र (आगरा नगर) से उसमें उत्पन्न हुये देव आधेयका मेर है। अतः तद्वितवृत्ति सुलभतया होजाती है। किन्तु तेतीसमें उत्पन्न हुये त्रायित्वंश यहां आधार और आधेयमें कोई मेद नहीं दीख रहा है। मंत्री, परोहित, वाइसराय, वजीर, प्रध न्यायाधीश. आदि प्रतिष्ठित स्थानों (पदों) पर विराज रहे जो ही देव त्रयत्रिंशत् हैं, वे ही ह खिश हैं। कोई उन त्रयखिशत्में उपजे हुये न्यारे देव नहीं हैं। इस कारण भेद नहीं होनेसे यहां प्रत्यय विधायक तद्वितवृत्ति कठिनतासे भी नहीं बन सकती है । प्रन्थकार कहत हैं कि इस आवे कोई सार नहीं है। क्योंकि संख्या नामक भाव और संख्या करने योग्य भाववान, पदार्थीके भे विवक्षा करने पर यहां आधारआधेयभाव बन जाता है। तेतीस नामकी संख्या उन देवोंका आधार और यथायोग्य कहे गये अनुसार गणना किये गये देव तो उस संख्याके आधेय हैं। इस प्र तदित वृत्तिका बनना बद्दत अच्छा घटित होजाता है । अर्थात — नैयायिकोंके यहां निष्ठत्व, वृ या समवेतत्व सम्बन्धसे जैसे गुणमें गुणी ठहर जाता है, उसी प्रकार गुण, गुणीमें कथांचित् अमेर माननेवाले जैनोंके यहां तो अतीव ख़न्दरतासे संख्यामें संख्येय ठहर जाता है । नैयायिक तो समवे आदि बृत्यानियामक सम्बन्धों करके अधियोंमें आधारोंको धरते हैं। किन्तु स्याद्वादियोंके यहा डो वस्त्र या वस्त्रमें डीरे और शरीरमें हाथ पांव या हाथ पांवोंमें शरीर इस ढंगसे संख्यामें संख्येयका नि करना वृत्तिनियामक कथंचित् तादाल्य सम्बन्धसे नियत होरहा है । अथवा कुछ अरुचि रही होय संतोषकारी उपाय यह है कि तेतीस देव ही त्रायखिश हैं । इस प्रकार केवल निजप्रकृतिके अर्थको कहनेवाला स्त्रााथक अण् प्रत्यय भी यहां किया जासकता है। जात अर्थमें होनेत्राला अण् प्र स्वार्थमें भी होजाता है। क्योंकि " इत " ऐसा एकवचन नहीं कर इतः (तद्धिताः) यो बहुव नान्त अधिकार सूत्रका कथन किया है। वह बहुवचन व्यर्थ होकर ज्ञापन करता है कि स्वार्थमें तद्धित प्रत्यय होरहे हैं । जैसे कि अन्ते भवः अन्यः । अन्य एव अन्तिम, यहां स्वार्थमें डिमच् प्र होकर अन्तिम शब्द बना है। भेषजभेब भैषजं, शीखभेव शैखी इत्यादिक पदोंमें स्त्रार्थिक प्रत्यय हैं । इन्होंके समान यहां त्रायित्रंश शब्दमें अण प्रत्यय स्वार्थको ही कह रहा है, जात अर्थको नर्ह

परिषद्दस्यमाणा तत्र जाता भवा वा पारिषदाः परिषत्तद्वतां कथंविद्धेदात्ते च वयः पीठमर्दत्वल्याः । आत्मानं रक्षंतीतीत्यात्मरक्षास्ते श्विरोरक्षोषमाः ।

सुधर्मी सभा या बाह्य परिषद, मध्यपरिषद, अम्यन्तर परिषद, इस ढंगसे सभा या सर वखानी जावेंगी, उस (उन) सभामें सम्य होकर उपज रहे अधवा सभाओंमें सद्भावको धार रहे पारिषद हैं। अर्थात्—यद्यपि वस्तुतः विचारा जाय तो सभा कोई जह पदार्थ नहीं है। अनेक जीव समुदायको सभा कहते हैं। तथापि सभा और उस सभावाठे देवोंका समुदाय समुदायीकी अर्थ कथंचित् भेद होजानेसे जात अर्थ या मव अर्थमें परिषद् शब्दसे अण् प्रत्यय कर दिया गया अनितम उपाय स्वार्थिक अण् प्रत्ययका समझ लिया जाय। ये सभामें बैठनेवाले देव उस इन्द्रके सम-वयस्क मित्र (हम उमर) या पीठमर्द यानी सन्धिको करनेवाले संधानकारीपुरुष आदि सारिखे देव हैं, तथा आत्माकी (इन्द्रकी) रक्षा करते हैं, इस कारण वे देव आत्मरक्ष हैं। जैसे कि वर्तमानमें राजा महाराजाओंके शरीररक्षक या मस्तक (बीडी गार्ड) होते हैं उन्हींके समान ये हैं। यद्यपि इन्द्रोंका कोई शक्तु नहीं है, उनकी आयु मध्यमें किन्न भी नहीं होसकती है। तीन पुण्य होनेसे उनपर कोई अक्तस्मात् आक्रमण भी नहीं करता है। फिर भी विभूतियों या ऋदियोंकी विशेषतया जो स्थापना होरही है, उस वस्तुस्थितिका निरूपण कर देना ही आचार्य महाराजका लक्ष्य है। इन सब पिरकरोंके होनेसे प्रभुके प्रकर्ष रूपसे सदा प्रीति उपजती रहती है। आत्मगीरव झलझलाता रहता है। एक धनपित (सेठ) या महीपित (रईस) के बीस, पचास आदि सवारियां रहती हैं। यद्यपि उन सबका उपयोग नहीं होता है। किसी किसीका तो जन्मपर्यन्त भी उपभोग नहीं हो सका है। फिर भी सांसारिक सुखोंकी उत्पादक विशिष्ट पुण्यानुसारिणी सामग्री जो प्राप्त हुई है, वह टाली भी तो नहीं जा सकती है। अतः शिरोरक्षकोंके समान वे आत्मरक्ष देव इन्द्रके पिछे खडे रहनेवाले, रुद्र प्रवृत्तिक, शक्ताक्षपरिवृत, शोभ रहे हैं।

लोकं पालयंतीति लोकपालास्ते चारक्षकार्धचरसमाः । अनीकानीवानीकानि तानि दंडस्थानीयानि गंधर्वानीकादीनि सप्त । प्रकीर्णा एव प्रकीर्णकाः ते पौरजानपदकल्पाः ।

प्रजा समुदाय स्वरूप छोकको पाछते रहते हैं, इस कारण वे देव छोकपाछ कहे जाते हैं, अर्थचर या आरक्षक कर्मचारी जैसे आधुनिक राजाओंके होते हैं, उसी प्रकार इन्होंके यहां भी ये ठाठ छग रहे हैं। अर्थाद्—गांव आदिमें नियुक्त हो रहे आरक्षिक सिपाहियोंको तछवर कहते हैं। राजाओंके करभाग (तहसीछ) को गृहीत (वस्छ) करनेवाछे कार्यमें नियोगी हो रहे अध्यक्षोंको अर्थचर कहते हैं, जो कि तहसीछदार, खजानची, कछकटर, किमश्नर आदि हैं। नगरके प्रबंध या रक्षामें नियुक्त हो रहा कीतवाछ है। दुर्ग, किछा आदिकी रक्षा करनेवाछे महातछवर इत्यादिक अधिकारी छोकपाछ माने गये हैं। प्रान्तोंके रक्षक चीफ किमश्नर, छेक्टीनेण्ट गवर्नर भी इन हीं छोकपाछोंमें गणनीय हैं। यचिप स्वर्गोंमें तहसीछ प्राप्त करनेकी या गढकी रक्षा करने आदिकी आवश्यकता नहीं है। किर भी प्रकृष्ट हर्षकी उत्पादक सामग्री विद्यमान है। तथा सेनाके समान अनीक जातिके वे देव अनीक कहे जाते हैं। प्रजारक्षणमें विद्र डाछनेवाछ परचकको दण्डनीति अनुसार दण्डन्यवस्था कर देनेवाछा विभाग दण्ड है। ऐसे सेनाके स्थानपर नियुक्त हो रहे गंधर्त्रानीक १ हस्त्यनीक २ अश्यानीक ३ रथानीक ४ पदात्यनीक ५ हपभानीक ६ नर्तकी अनीक ७ इन सात प्रकारकी सेनाओंसे उपछित क्षित सात जातिके अनीक देव हैं। जैसे यहां राजप्रासादोंके इधर उधर निकटवर्त्ती प्रदेशोंमें नगर निवासी नागरिक अथवा देशनिवासी या प्रान्तिनवासी महोदय सज्जन विराजते हैं, उन पौर या

जानपद, महाशयोंके सहश इतस्ततः फैळ रहे ही वे प्रकीर्णक जातिके देव हैं। जो कि महाराजाके समान इन्द्रके नागरिक या राष्ट्रीय जनोंके तुल्य ये देव भी विशिष्ट हर्षके उत्पादक हैं।

बाह्रनादिभावनाभिम्रुख्येन योगोभियोगस्तत्र भवा अभियोग्यास्त एव आभियोग्याः इति स्वार्थिकः यण् चातुर्वर्ण्यादिवत्, अथवा अभियोगे साधवः आभियोग्याः अभियोगमई-तीति वा आभियोग्यास्ते च दाससमानाः । किल्विषं पापं तदेषामस्तीति किल्विषकाः तित्य-वासिस्थानीयाः । एकैकस्य निकायस्यैकत्र इति वीप्सार्थे त्रस् ।

सवारी छ जाना, छ आना, ऐसे वाहन, या दास्य कर्म आदि परिणतिरूपसे अभिमुखपने करके जो योग यानी किटिबद्धपना है, वह अभियोग कहा जाता है। उस अभियोगमें विद्यमान हो रहे देव अभियोग्य हैं और वे ही देव आभियोग्य कहे जाते हैं। मन अर्थमें अभियोग्य शब्द बनाकर पुनः स्वार्थिक यण् प्रत्यय किया गया है, जैसे कि चतुर्वर्णा एन चातुर्वर्ण्य, चतुराश्रमा एन चातुराश्रम्यं, त्रिछोका एन त्रैछोक्यं, त्रिकाला एन त्रैकाल्यं, आदिक पदोंमें स्वार्थिक यण् प्रत्यय किया गया है। अथवा अभियोग साधवः आभियोग्याः यों "तत्र साधुः" इस सूत्र द्वारा यण् प्रत्यय किया जा सकता है और अभियोगको करनेके छिये जो समर्थ हो रहे हैं, वे अभियोग्य हैं, इस अर्थमें भी आमियोग्य शब्दको बना छिया जाता है, चाकर, दासों (खिदमदगार) के समान ये देव हैं। किल्विष यानी पाप जिन देवोंके विशेषतया विद्यमान है, इस कारण वे देव किल्विषक हैं। प्राम या नगरके अन्तिमभागमें वस रहे चाण्डाल, श्वपच, भंगी, चर्मकार आदि निकृष्ट मनुष्योंके स्थानापच हो रहे ये देव हैं। यद्यपि यहांके चाण्डालोंक नीचगोत्रका उदय है और देवोंमें सबके उचगोत्रका ही उदय है। फिर भी कोई लौकिक विभूतिका परिकर रिक्त नहीं हो जाय, इसिल्ये यथायोग्य जितना सम्भव हो सके उतना उपमान उपमेयभाव घटित कर लेना चाहिये। एकशः यहां एक एक निकायके यों अर्थ कर वीप्सा अर्थमें शस्य किया गया है। यानी एक एक देव निकायके ये इन्द्र आदिक दश दश मेद पाये जाते हैं।

कुतः पुनरेकैकस्य निकायस्येदाद्ये। द्वाविकल्पाः प्रतीयंत इत्यावेद्यति ।

तर्काभिलाषी कोई जिज्ञासु पूंछता है कि फिर यह बताओ कि एक एक निकायके ये इन्द्र, सामानिक, आदिक दश भेद मला किस प्रमाणसे निर्णीत किये जा सकते हैं ! इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिक द्वारा समाधानकोटिका निवेदन करे देते हैं।

इन्द्रादयो दशैतेषामेकशः प्रतिस्त्रिताः । पुण्यकर्मविशेषाणां तद्धेतूनां तथा स्थितेः ॥ १ ॥ एक एक निकायके प्रति इनके इन्द्र आदिक दश मेद श्री उमास्वामी महाराजने सूत्र द्वार ठीक निरूपण किये हैं (प्रतिज्ञा) क्योंकि उन इन्द्र, सामानिक आदिके हेतु हो रहे विशेष विशेष पुण्यकर्मीकी तिस प्रकार व्यवस्था हो रही है (हेतु)।

यथैव हि देवगतिनामपुण्यकर्मसामान्यादेवास्तद्विशेषभवनवासिनामादिपुण्योदयाष भवनवास्यादयस्तथैर्वेद्रादिन।मपुण्यकर्मविशेषण इंद्रादयोपि संभाव्यंते, तेषां तद्धेतुनां: युक्त्याम माभ्यां व्यवस्थितेर्वाधकाभावात् ।

जिस ही प्रकार गित नामकर्मकी उत्तर प्रकृति हो रही सामान्य देवगित नामक पुण्यकर्मवे उदयसे उक्त चारों निकायके जीव देव हो रहे हैं और उस देवगितके भी उत्तरांत्तर भेद हो रहें मवनवासी, व्यंतर या असुरकुमार, किन्नर आदि विशेष पुण्यप्रकृतियोंका रसोदय हो जानेसे भवनवास व्यंतर, असुर, किन्नर, आदि देव हो जाते हैं उसी प्रकार देवगितके भेद, प्रभेद, हो रहे इन्द्र सामानिक, आदिक नामकर्म और अन्य शुभनाम, सातावेदनीय, शुभगोत्र इन पुण्यकर्म विशेषों उदयसे इन्द्र आदिक भेद भी हो रहे सम्भव जाते हैं, मिन्न मिन्न कारणोंसे मिन्न मिन्न कार्योंकी उत्पिर हो जानेका नियम है। उन इन्द्र आदिकोंके सृष्टा हेतु हो रहे उन पौद्रलिक कर्म विशेषोंकी युक्ति प्रमाण और आगमप्रमाण करके सुज्यवस्था हो रही है। कोई बाधक प्रमाण नहीं है। अतः मनुष्यों य पशुओंकी भिन्न मिन्न सूरतें, मूरतें, सुख, दुःख, बुद्धि, वैभव, आदिके समान देवोंके इन्द्र अहमिन आदि भेद भी पौद्रलिक कर्मविशेषोंकी अनुसार सुघटित हो जाते हैं। "असंमवद्वाधकत्वाद्रस्तुसिद्धिः"।

यों तो इन्द्र आदिक दशों भेद चारों भी निकायोंमें उत्सर्गविधिद्वारा प्रसंग प्राप्त हुये। तिः कारण अपवाद करनेके लिये विशेषसूत्रको श्री उमांस्त्रामी महाराज कहते हैं।

त्रायस्त्रिशलोकपालवर्ज्यां व्यंतरज्योतिष्काः ॥ ५ ॥

न्यन्तर और ज्योतिष्क निकायसम्बन्धी देव त्रायसिश और छोकपाछ जातिके देवोंसे रहित हैं।

इन्द्रादिदश्चविकल्पानाग्रुत्सर्गतो अभिहितानां चतुर्षु निकायेष्वविशेषेण मसक्तौ तदर्थमिदग्रुच्यते

सामान्यरूपकरके उत्सर्गविधिसे कहे जा चुके इन्द्र, सामानिक, आदि दश मेदोंका जब चारं निकायोंमें विशेषरिदत होकरके प्रसंग प्राप्त हुआ तो उस कुछ अनिष्टप्रसंगके निवारणार्थ श्री उमास्वारं महाराज इस अपवाद सूत्रको क्यानते हैं। अपवाद नियमोंको ढालकर, अतिरिक्त स्थानोंपर अनपोदिः उत्सर्गविधियां प्रवर्तती हैं " अपवादा उत्सर्गविधि बाधन्ते "

कृतः पुनर्न्यतरा ज्योतिष्काः त्रायिक्षित्रैर्लोकपाछैश्र वर्ण्या येन तेष्टविकल्पा एव स्युति त्यारेकायामिदमारः । कोई यहां शंका करता है कि क्या कारण है ? जिससे किर व्यन्तर और ज्योतिष्क निकाय-वाले देव विचारे त्रायिक्षंश और लोकपाल करके वर्जित हो रहे हैं, जिससे कि वे व्यन्तर या ज्योतिष्क देव इन इन्द्र, सामानिक, पारिषद, आत्मरक्ष, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य, किल्विषिक, आठ विकल्पवाले ही समझे जांय, इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिक द्वारा इस वश्यमाण समाधानको कहते हैं।

तत्रापि व्यंतरा वर्ज्या ज्योतिष्काश्चोपवर्णिताः। त्रायसिंशैस्तथा लोकपालैस्तद्वेत्वसंभवात् ॥ १ ॥

उन चारों निकायोंमें भी न्यंतर और ज्योतिष्क ये दो निकाय तिस प्रकार तेतीस देव और छोकपाछ देवों करके रीते हो रहे आगम द्वारा कह गये हैं। क्योंकि उन त्रायिक्षश और छोकपाछोंके उत्पादक हेतु विछक्षण जातीय पुण्यविशेषका दो निकायोंमें सम्भव नहीं है। अर्थात्—राजाओंको विशिष्ट जातिका पुण्य होनेपर ही निहोरे करते हुये, हितशासक, मंत्री, पुरेहित, आदिक पुरुष प्राप्त हो सकते हैं। वैसा पुण्य इन दो निकायोंमें नहीं है। तथा राजा बने विना ही पूर्ण राज्यपर अधिकार करना, यथायोग्य मनमानी चछाना, अधिकृत प्रजा वर्गसे अपनी प्रार्थना करवाना, आदि जातिका पुण्य भी किन्हीं किन्हीं जीवोंके होता है। वे ही मंत्री, पुरोहित आदिके स्थानापन्न हो। सकते हैं। राजाकी हानि हो या लाभ हो इनको दोनों अवस्थाओंमें निश्चिन्तता है। सुकाछ पडे, परचक्रके साथ युद्ध नहीं होय अच्छा ही है। किन्तु यदि दुष्काछ पड जाय अथवा परचक्रसे छडाई छिड जाय इनको वैसी चिन्ता या आकुछता नहीं है, जैसी कि न्याकुछता राजाको सताती है। अतः दो निकायोंमें उक्त दो मेद नहीं माने गये है।

न हि व्यंतरज्योतिष्कनिकाययोस्त्रयस्त्रिशङ्कोकपाछनामपुष्यकर्मविशेषस्त्रायस्त्रिशङोकपाछदेवविशेषकल्पनाहेतुरस्ति यतस्तयोस्त्रायस्त्रिशङोकपाछाश्च स्युरिति तद्वर्ष्यास्ते देवाः तदतिश्चय-विशेषस्य प्रतीतिहेतोर्निकायांतरवत्त्रशासंभवात् ।

उक्त वार्तिकका त्यास्येय अर्थ यह है कि न्यंतर और उयोतिक दो निकायके देव आत्माओं के श्रयिक्षशत् और लोकपाल नामक विशेष पुण्य कर्मोका सद्भाव नहीं है, जो कि त्रायिक्षश और लोकपाल जातिके विशेष देवोंकी वस्तुभूत कल्पनाका कारण माना गया है, जिससे कि उन मध्यवर्ती दो निकायों त्रायिक्षश और लोकपाल देव हो जावें। इस कारण वे न्यन्तर और उथोतिकदेव उन त्रायिक्षश और लोकपालंसे वर्जे गये हैं। क्योंकि त्रायिक्षश और लोकपालकी प्रतीतियोंके कारण हो रहे उन अतिशय उक्त पुण्यविशेषोंका अन्य निकायोंके समान उन दो निकायोंमें असम्भव है । अर्थात्—अन्य दो निकाय भवनवासी और कल्पवासी देवोंक तो ताहरा पुण्यविशेष हैं, जिससे कि उनमें त्रायिक्षश और

लोकपाल देव उपज जाते हैं । विशिष्ट कार्यके उत्पादक अतिशयत्राले कारणों के नहीं होनेसे व्यन्तर और ज्योतिष्क देव उन दो कल्पनाओं से बंचित है । जहां कारण होगा वहीं कार्य उपजेगा । मध्यवर्षी निकायों में कारणों के तथा इन्द्र आदि आठ भेद हैं । किन्तु मत्रनवासी और कल्पनासियों में दशों के हेतु सातिशय पुण्यविशेषों का सद्भाव होनेसे दशों प्रकार जातिक देव पाये जाते हैं ।

अब कोई जिज्ञासु प्रश्न करता है कि उन चारों निकायोंमें क्या एक ही एक इन्द्र है ? अथवा क्या कोई अन्य नियम (अपवाद) है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अप्रिम सूत्रको कहते हैं।

पूर्वयोद्वींन्द्राः ॥ ६ ॥

पूर्वकी भवनवासी, ब्यन्तर, इन दो निकायोंमें समुदित होरहे देव अपने प्रभु दो दो इन्होंको धारनेवाले हैं। अर्थात्—दो दो इन्होंके आधिपत्यमें इन देवोंकी टोलीको रहना पडता है। प्रत्येक देव तो एक ही इन्हेंके अधीन है। किन्तु समुदाय अपेक्षा यह कथन है।

भवनवः सिन्यंतरिनकाययोः पूर्वयोर्देवा द्वींद्रा न पुनरेकेंद्रा निकायांतरवदिति प्रति-पत्त्यर्थिमदं सूत्रं । पूर्वयोरिति वचनं प्रथमदितीयनिकायशितपत्त्यर्थे, तृतीयापेक्षया दितीयस्य पूर्वत्वोपपत्तेः द्विवचनसामध्यीचतुर्थापेक्षया तृतीयस्य पूर्वत्वेष्यप्रहणादमत्त्यासत्तेः ।

पूर्वववर्ती भवनवासी और ब्यंतर इन दो निकायोंमें देव दो दो इन्द्रवाले हैं। किन्तु फिर ज्योतिष्क या कल्पवासी इन अन्य निकायोंके समान एक एक इन्द्रवाले देव ये नहीं है। इस सिद्धान्तका प्रातिपादन करनेके लिये श्री उमास्त्रामी महाराजने यह सूत्र रचा है। चाहे हजारों, लाखों, असंख्यों, भी पदार्थ होवें उन सबका पूर्ववर्ती (पिहला) पदार्थ एक ही होगा। अतः प्रथम वाचक पूर्वशद्धकी एक वचनमें ही सामर्थ्य है। आब अर्थको कह रहे पूर्व शद्धका द्विवचन या बहुवचन अठीक ही समझा जाता है। किन्तु यहां सूत्रमें पूर्वयोः इस प्रकार दिवचन ओस् विभक्तिवाले पदका वचन है, जो कि पिहली निकाय भवनवासी और दूसरी निकाय व्यन्तरदेवोंकी प्रतिपत्ति करनेक लिये है। प्रथमका प्रत्यासन होनेसे द्वितीयको द्विवचनकी सामर्थ्यस पक्त लिया जाता है। तृतीयकी अपेक्षा करके द्वितीयको पूर्वपना त्यायसे भी बन जाता है। द्विवचनकी सामर्थ्यस पिहले और दूसरे निकायोंका पूर्वपना सुविदत है। यचिप चतुर्थ वैमानिक निकायकी अपेक्षासे तीसरी ज्योतिष्क निकायको पूर्वपना सुविदत है। यचिप चतुर्थ वैमानिक निकायकी अपेक्षासे तीसरी ज्योतिष्क निकायको पूर्वपना है, तो भी निकटवर्तिता नहीं होनेसे प्रथमके साथ तृतीयका प्रहण नहीं किया जा सकता है। हां, निकटवर्ती होनेस प्रथमका संगी दितीय बन जाता है। अर्थात् — " उपस्थित परित्यज्यानुपिश्यतकल्पने मानामावः "। प्रधानाध्यापकर्में दित्यकी अनुपपत्ति होनेपर द्वितीयाध्यापक (सैनिंड मास्टर) को उसका संगी बना कर दोपनकी रक्षा कर ली जाती है। चौथे, पांचवे, अध्यापकको मिला कर नहीं।

द्वी द्वी इन्द्री येषां ते द्वांद्रा इत्यंतनीतवीप्सार्थो निर्देशः । द्विपदिका त्रिपदिकेति यथा वीप्सायां धुनो विधानादिह वीप्सागतिर्युक्ता न प्रकृते किंचिद्विधानमस्ति । तर्हि सप्तपणीदि- बद्भविष्यति वीप्साविधानाभावेपि वीप्सासंप्रत्ययः । पूर्वयोर्निकाययोद्दीं द्वाविद्री देवानामिति निकायनिकायभेदविवक्षावशादाधाराधेयभावो विभाव्यते ।

निकायवाले जिन देवोंके दो दो इन्द्र हैं वे देव दो इन्द्रोंवाले हैं, इस प्रकार साकल्येन व्यापनेकी इच्छा रखते हुये पुनः पुनः कथन करना स्वरूप तीप्साको अन्तरंग गर्भमें प्राप्त कर इस सूत्रका अर्थ निर्देश किया जाता है। कोई आक्षेप करता है कि जिस प्रकार द्विपदिका, त्रिपदिका, द्विशतिका आदि पदोंमें '' पादशतस्य संख्यादेवींप्सायां बुन् छोपश्च '' इस सूत्र करके वुन् प्रत्ययका विधान होजानेसे यहां वीप्साका परिज्ञान होना समुचित है । किन्तु प्रकरणप्राप्त " द्वीन्द्राः " इस पदमें कोई प्रत्यका विभाग नहीं श्रयमाण है। ऐसी दशामें यहां वीप्साका अन्तर्गर्भ कैसे समझा जायगा ? अर्थात-दी दी पादी ददाति इति दिपदिकां ददाति, दुगुना दुगुना दो भागोंको देरहा है, द्विपदिका शब्दमें दो पादका गीत समझा जाता है। जिस गीत या पदमें दो दो पादोंकी टेक गानी पड़ती है या तीन तीन पदोंकी टेक जहां गायी जाती है वह त्रिपादिका गीति है। पंक्तिबद्ध तीन तीन पायों-बाली लम्बी, चौडी, तिपाईको भी त्रिपादिका कह सकते हैं। यहां द्विपदिका, त्रिपदिका, शब्दोंमें वुन प्रत्ययसे वीप्ता अर्थ उक्त होजाता है । व को अक आदेश कर देते हैं । किन्त वैसा कोई प्रत्यय द्वीन्द्राः शन्दमें नहीं है। अब आचार्य कहते हैं कि तब तो सतपर्ण, अष्टापद आदिके समान वीप्ता वाचक प्रत्ययका विधान नहीं होते हुये भी वीप्ता अर्थकी भले प्रकार प्रतीति होजावेगी | जिस वृक्षके एक एक पर्वमें सात सात पत्ते लग रहे हैं वह वृक्ष सप्तपर्ण है, पंक्ति पंक्तिमें आठ आठ पांववाला ब्रुत खेलनेका नकशा अष्टापद है, इसी प्रकार दो दो इन्द्रवाले निकाय द्वीन्द हैं। पूर्ववर्ती दो निकायोंमें निवास कर रहे देवोंके दो दो इन्द्र हैं। इस प्रकार निकायोंको कह रहे पूर्वयोः यह द्वित्रचनान्त सप्तमी और देवोंको कह रहे द्विन्दाः इस प्रथमान्त विभक्तिसे यक्त होरहे पदींके वाच्य अर्थीका निकाय और निकायी यानी समूह और समूहीके भेदकी विवक्षाके वशसे आवार आधेयभाव होजाना विचार छिया जाता है। पूर्वयोः शब्दको षष्ठी विभक्तिवाळा पद माना जाय तो भी कोई क्षांति नहीं है। अतः भान्योंकी राशि. रुपयोंका ढेर, रुपयेमें चांदी, मेछेमें मनुष्य इस ढंगसे अभिन पदार्थीने कथंचित भेद, अमेदकी विवक्षा होजाती है " सिद्धिरनेकान्तात "।

द्वींद्रा निकाययोर्देवाः पूर्वयोरिति निश्रयात् । तत्रेकस्य प्रभोर्भावो नेति ते स्तोकपुण्यकाः ॥ १ ॥

उक्त सूत्रका युक्तिपूर्वक अर्थ वार्तिकमें यों किया जाता है कि पूर्ववर्त्ती दो निकायोंमें बस रहे देव दो दो इन्द्रवाले हैं, यह सिद्धान्तशासदारा निर्णात है। उन दो निकायोंमें केक्क एक ही प्रभूका

सम्राव नहीं है। कारण कि वे देव स्वल्प पुण्यवाछे हैं अथवा वे दो दो इन्द्र स्वयं हीनपुण्य है। (प्रतिज्ञा हेतु)। अर्थात्—जब अधिकृतोंका पुण्यमन्दराक्तिक हो जाता है तभी अधिकृत प्रजावगिक एकसे अधिक दो तीन आदिक नेता प्रमु बन बैठते हैं। अच्छे पुण्यशाछी जीव या तो स्वयं प्रमु होते हैं अथवा एक ही प्रमुके तंत्र होकर रहते हैं। " अनायका विनश्यन्ति नश्यन्ति बहुनायकाः, एकः कृती शकुन्तेषु योन्यं शकान् व याचते " इन पर्धोंसे उक्त अर्थ व्यन्ति होता है। दूसरी बात यह है कि जिस पदार्थके दो अधिकारी हैं वे स्वयं दोनों स्वल्प पुण्यवान् हैं। छोटा या बडा यथायोग्य कोई कार्य होय उसका अधिकार एक व्यक्तिको ही प्राप्त होय तभी आधिपत्यका कर्तव्य पूर्णरीत्या निभता है। संशयाछ स्वामीको एक देश, एक काल, एक ही कार्यपर समान शक्तिवाले दो अधिकारियोंका नियुक्त करना दो नार्वोपर चढनेके समान भयावह है। "एको गोत्रे स मवति पुमान् यः कुटुम्बं बिमर्ति एकपातिकत " आदि वाक्य एकस्वामित्वको प्रतिपादन करनेमें तत्पर हैं। अतः हीनपुण्यवाले पूर्ववर्ती दो निकार्योंमें दो दो इन्द्र हैं।

भवनवासिनिकाये असुराणां द्दाविद्री चमरवैरोचनी, नागकुमाराणां घरणभूतानंदी, विद्युत्कुमाराणां इरिसंद्द्दिकांती, सुपर्गकुमाराणां वेणुदेववेणुधारिणो, अग्निकुमाराणां अग्नि-भिखाग्रिमाणवी, वातकुमाराणां वैज्वनमभं ननी, स्तिनितकुमाराणां सुघोषमद्दाघोषी, उद्धिकुमाराणां जलकांतजलमभी, द्वीपकुमाराणां पूर्णविशिष्टी, दिक्कुमाराणां अमितगत्यमितवादनी। तथा व्यंतरिनकाये किक्सराणां किक्सरिकंपुरुषी, किंपुरुषणां सत्युरुषमद्दापुरुषी, मद्दोरगाणाम्-तिकायमद्दाकायी, गंधर्वाणां गीतरितगीतयश्वसी, यक्षाणां पूर्णभद्रमाणिभद्री, राक्षसानां भीम-मद्दाभीमी, पिशाचानां कालमद्दाकाली, भूतानां मतिरूपामितरूपी। प्वमेतेषामेकैककस्य मभी-रभावाचे स्तोकपुण्याः मभवो निश्चीयंते।

भवनवासी नामक पहिली निकायमें निवस रहे अधुरकुपार जातिके देवोंके चमर और वैरोचन नामके दो इन्द्र हैं। नागकुमार जातिके देवोंके प्रमु धरण और मूतानन्द दो इन्द्र हैं, विषुत्कुमार देवोंके अधिकारी हरिसिंह और हरिकान्त दो इन्द्र हैं, सुपर्णकुमार जातिके असंख्य देवोंके नेता वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र हैं, अभिकुमार जातिके असंख्याते भवनवासी देवोंके अधिपति अभिराख और अभिमाणव हैं, वातकुमार भवनवासियों के स्वामी वैज्ञाब और प्रमंजन ये दो इन्द्र हैं, स्तनितकुमार देवोंके परिष्ठुद्ध तो सुधोष और महाधोष ये दो इन्द्र हैं, उद्धिकुमार देवोंके अधिप जलकान्त और जलप्रभ ये दो इन्द्र हैं, हिप्युकुमारोंके नायक पूर्ण और विरोध ये दो इन्द्र हैं तथा असंख्याते दिक्कुमार जातीय भवनवासियोंके ईश अमितगित और अमितवाहन इन्द्र हैं। तिसी प्रकार व्यन्तर नामकी दूसरी निकाय में किकर जातीय देवोंके अधिनायक किनाय और सिकार जातीय देवोंके अधिनायक किनाय के हिना और सिकार जातीय देवोंके अधिनायक किनाय और सिकार जातीय देवोंके अधिनायक किनाय और सिकार जातीय व्यन्तर किनाय और सिकार जातीय देवोंके अधिनायक किनाय और सिकार जातीय व्यन्तर किनाय और सिकार किना है सिकार जातीय व्यन्तर किना किना है सिकार किन

काय ये दो इन्द्र हैं, गन्धर्व जातीय व्यन्तरोंके नाथ गीतरित और गीतयशा ये दो इन्द्र हैं, यक्ष जातीय व्यन्तर देवोंके इंक्टर भीम और महाभीम दो इन्द्र हैं। पिशाच नामक व्यन्तरोंके अधीश्वर काल और महाकाल दो इन्द्र हैं। भूतोंके आज्ञापक प्रतिरूप और अप्रतिरूप दो दो इन्द्र हैं। इस प्रकार इन अमुरकुमार, किन्नर आदि देवोंके एक एक ही प्रभुक्ते नहीं होनेसे वे देव स्तोकपुण्यवाले और वे प्रभु भी स्तोक पुण्यवाले निश्चित किये जाते हैं। " अधिकस्याधिक फल्म " यह कचित्की नीति यहां लाभप्रद नहीं है। बीके एक पित समान प्रजाजनोंका एक पित ही बना रहे यही सर्वतोभद्र है। अनेक सदस्योंकी बहुसम्मित या सर्वसम्मितके अनुसार हो रहे कार्योंका अनुमोदन करनेवाले महाशय भी एक प्रमुताकी नीतिका उल्लंघन नहीं कर सके हैं। इस्रलं प्रपंचन।

इन देवोंके सुख किस प्रकारका है ? ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज अगले सूत्रको उतारते हैं।

कायप्रवीचारा आ ऐशानात्॥ ७॥

ऐशान नामक स्वर्गतक काय द्वारा मैथुन सेवन करनेवाले देव हैं। अर्थात्—भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क इन भरपूर तीनों निकायोंमें और सीधर्म, ईशान, स्वर्गसम्बन्धी देवोंमें मनुष्योंके समान काय द्वारा देवदेवियों के मैथुन व्यवद्वार है।

पतिपूर्वाचरः संज्ञायां घत्र् पविचरणं पवीचारो मैथुनोपसेवनं । काये पवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः । असंहितानिर्देशोऽसंदेहार्थः । ऐश्वानादित्युच्यमाने हि संदेहः स्यात् किमा-कंतर्भूत उत दिक्छक्रोध्याद्दार्थं इति विपर्ययो वा स्यात् । ऐश्वानात् पूर्वयोरित्यनुवर्तमानेनाभि-संवंधात् । असंहितानिर्देशे तु नायं दोषः ।

प्रति उपसर्ग पूर्वक चर धातुसे संज्ञा अर्थमें घन प्रत्यय किया गया है। प्रविचरणमान . ही प्रवीचार है, इसका अर्थ मैथुनका उपसेवन करना है। जिन देवोंका प्रवीचार कायमें होता है वे देव कायप्रवीचार हैं, यों बहुनीहि समास कर छिया है। इस सूत्रमें आङ्निपात और ऐशान इन दो पदोंमें संधि करके नहीं कथन करना तो असदेहके छिये हैं। यदि दोनोंके स्थानमें पेच एकादेश कर ऐशानात् यों सूत्र कहा गया होता तो श्रोताओंको संदेह हो सकता था कि यहां आकृ अन्तर्भत छिपा हुआ है! अथवा क्या आकृ छिपा हुआ नहीं है! ऐसी दशामें पूर्व प्रस्पक् आदि दिशावाचक शब्दका अध्याहार करने योग्य है। ऐशानसे पूर्व दिशातक यों अर्थ होगा तभी '' अन्यारादितरतेदिक्शद्वाञ्च् उरपंदाजाहि युक्ते '' इस सूत्रदारा ऐशानात् यह पंचनी विभक्ति होसकती है। अथवा पूर्वयोः इस पदकी पूर्वसूत्रसे अनुकृति करके ऐशानसे पूर्ववर्ती देवोंमें कायप्रवीचार यों

अभिसम्बन्ध होजानेसे विपरीत अर्थ होजानेका प्रसंग होजाता है। ऐशानके पूर्वमें तो कोई निकाय नहीं है। ऐशान स्वयं एक चौथी वैमानिक निकायके व्याप्य माने गये कल्पोपपनका व्याप्य होरहा है, तथा ऐशानमें भी तो कायप्रवीचार व्यवस्थित रखना है। हां, सिचको नहीं कर सूत्र कथन करनेपर तो यह कोई दोष नहीं आता है। आङ्को उडा देनेपर अनिष्ट होजानेका संशय है। क्योंकि पूर्वयोः का अधिकार चला आरहा है। अतः कथमि सन्देह नहीं होय इसिक्ये सूत्रकारने " आ ऐशनात्" ऐसा संधिरहित सूत्रनिर्देश कर दिया है। कुछ संक्लेश उत्पादक कर्मोका विपाक होनेसे ये विचारे देव मनुष्योंके समान श्रीसम्बन्धी विषयसुखोंका अनुभव करते हैं। यही वहांकी देवियोंकी व्यवस्था है।

देवाः कायप्रवीचारा आ ऐशानादितीरणात् । चतुर्ष्विप निकायेषु सुखभेदस्य सूचनं ॥ १॥

भवनवासी देवोंसे प्रारम्भ कर ईशान स्वर्गवासी देवोंतक काय द्वारा मैथुनप्रवृत्ति करनेवाछे देव हैं, इस प्रकार श्री उमास्वामी महाराज करके इस सूत्र द्वारा कथन करनेसे चारों भी निकायोंमें सुख बिरोषकी सूचना कर दी गयी है। अर्थात्—देवोंके पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोगोंकी पुष्कळ सामग्री विंध-मान है। स्पर्शन इन्द्रियजन्य पुष्पशय्यानित कोमळवस्त्रोंपर विलोडन, सुन्दर वस आमूषणोंका परि-चंग, कल्पवृक्ष या कल्पलताओं के सुक्रोमळ पुष्प, पत्र, प्रवाल आदिका स्पर्शन, चेतोहर सदा युवति देवांगनाओंका माहेन्द्र स्वर्गतक आलिंगनार्थ सोस्साह उपपूर्पण, इत्यादिक स्परीन इन्हिय सम्बन्धी भोग उपमोग नहां परिपूर्ण हैं । देवोंके मानसिक आहार है । मनुष्य या पशु, पक्षियोंके समान कवळा-हारको वे नहीं करते हैं। अतीव मन्द क्षुधावेदनीय कर्मके उदय या उदौरणा होनेपर उसी समय देवींक कण्ठसे परमदिन्य शक्तिवारी अनेकरसपूर्ण अमृतमय रसीठा छारसारिखा पदार्थ झरता है, जो कि महती तृप्तिका सन्पादक है। सूक्ष्मपर्यालोचना करने पर प्रतीत होजाता है या पशु भी कवलाहार द्वारा जो षट्रस युक्त पदार्थोका स्वाद लेते हैं, उस आनन्द प्राप्तिमें मी स्वकीय मुखसे निकली हुई लारको विशेष सहायक मानना चाहिये। यद्यपि पौद्रलिक भोज्य पदा-योंमें रसपरिणति विषमान है। किन्तु भिन्न भिन्न प्रकृतिके जीवोंकी न्यारे न्यारे मोज्य पदार्थींस उत्पन्न हुई लारकी बोछारें ही स्वादजन्य सुखिवरोषोंको उपजानेमें प्रेरक निमित्त हैं। क्षुधापीडित दो महिनेके बचेके मुखर्मे अंगुळी या खडकी स्तनी मुखर्मे दे देनेपर उसी समय उसके मुखसे लारके फुन्बारे छुटते हैं। और कुछ देरतक बबेको तृति हो जाती है। तीर्थेकरके जन्मकालें देवों हाल मगवान् के अंगूठेमें अपूतका स्थापन करना इसी रहस्य को ध्वनित करता है । भैस गायके मुखमें छार मिछ जानेपर घास या मुस विशेष सुखाद ही जाते हैं। ऊंटके मुखर्ने निषके पत्ते, उन राजाओं के पद्धसमुर्ण व्यंजनोंसे कही अधिक आनंदने उत्पादक है। गैड आके मुखर्मे मिडीके साथ उसकी छारके विक जानेपर वह कीर बहुत दुलादु हो जाला है। उपवास या एकासन वतकी अवस्थामें काराविद्

काती (ककेजा) पर शुष्कता आनेपर या मुंहमें सूखट आनेपर छार करके उस शुष्कताको मिटा क्या बाता है। मुनिजन भी दिन या रातमें स्वकीय पुरुषार्थसे लारको उपजा कर उक्त किया करते हुये दीवमाजन नहीं हो जाते हैं। हां. मखमें अंगुली डालकर चचारते हुये अधिक लारकी उपजानेके किय उन्हें आतर नहीं होना चाहिये । कवलाहारियों के मोजनमें लार मिळ जानेपर वह सस्वाध भी सपाच्य हो जाता है। कोई मनुष्य तो जार मिलानेके लिये दूध या पानीको रोंधकर पीते हैं. अस्त । मनुष्य या पञ्चपक्षियोंके स्पर्शन-इन्द्रियजन्य या रसना-इन्द्रियजन्य सुखोंकी प्राप्ति करनेमें उनके शारीरिक धातुओं या लारोंका हर्षक्षय जैसे होता है, उसी प्रकार प्राण, चक्ष और श्रोत्र इन्द्रियों द्वारा निशिष्ट भोग उपभोग करते हुये भी शारीरसम्बन्धी उपधातुओंका न्यय (खर्च होना) प्रवन र्तता रहता है, तभी तो युवा अवस्थामें धातु उपधातुओंकी अधिक उत्पत्ति होते रहनेसे इन्द्रियोंके भोग, उपभोग, विशेष आनन्दोत्पादक होते हैं। और दृद्ध अवस्थार्मे शरीरकी मुल्यं जीका घाटा हो जानेपर वे के वे ही अथवा उनसे भी अतिराय सुन्दर इन्द्रिय विषय विचारे सुखोत्पादक नहीं है। पाते हैं। " बृद्धस्य तरुणी विषम् "। बात यह है कि जैसे धनका उपार्जन कर विनियोक्ता पुरुष उसके बहुमागको भोग, उपभोग, या दानमें न्यय कर देता है, और अल्प भागको उपार्जक धनकी सन्तानमें मिछा देता है, उसी प्रकार शरीर के धातु, अपधातु या वैक्रियिक शरीरके अन्य जातीय रारीरावयव बहुभाग रारीर सुख के छिये हैं। उप व कर व्यय होते रहते हैं। यदि कंजूस प्रकृत तिका प्राणी वीर्य, कार या अन्य वैक्रियिक शरीर या बृक्ष आदि शरीरमें उप न रहे उन अमूल्य पश्चींका व्यय नहीं करता है तो त्रैराशिक अनुसार उस के पास माल टाल नहीं भिलता है। तभी तो विशेषतया इन्द्रियोंके उपभोगी रसिक पुरुष और शरीर शक्तियोंका अल्पन्यय करनेवाळे संयमी जीवोंके अपेक्षा ■त छार आदिके संचयका तारतम्य नहीं देखा जाता है। अतः न्यायप्राप्त सामग्रीका भोग उपभोग करनेसे ही कुपके स्रोत समान वह रहे छार आदि के अनुसार उपभोग करनेका प्रवाह प्रचलित हो रहा है। हां, पापों की प्रतिपक्षमावना या वैराग्यरसमें निमग्न होरहे अथवा भोगोमें उदासीन होरहे जीवोंके शरीरका कार्यालय (कारखाना) ही दूसरे ढंगका होजाता है। परितृप्त या रोगी अधका बीतराग साधु एवं शोधी, उदासीन, इनकी प्रवृतियोंपर सूक्ष्म छस्य देनेसे सब जीवोंको उक्त सिद्धान्त स्पष्ट प्रतिभासित हो जाता है । कुछ्धारासे जिनके शरीरसंस्थान सुन्दर सुदढ बने हुथे हैं अत्यल्प रुख मोजन करनेपर मी उनके शरीरोंमेंसे व्यवण्य फटा पडता है, जनकि दुर्ववहारी धनपतियोंके मख या शरीर इतकान्ति हो रहे हैं। पुण्य या सदाचार तो अम्यन्तर कारण है ही। किन्तु मुखरें **ष्टार और** शरीरमें धातु, उपवातुओं की पुण्कल उत्पाति ही बावण्य, सीन्दर्य, तृति, स्वाद, सुख आहि प्रधान कारण हो जाती हैं । देवोंके शरीरमें वही शारिरिक अपृत रसोपम छारसारिखे पदार्थीकी सुस्थ प्राप्ति विश्वमान है । अतः वे रोटी, दाङ, फल, मेवा, दूध, धृत, पेडा, धेवर, मोदक, आदि बहिर्भृत पदायोका करू आहार कदाचित् भी नहीं करते हैं। बस्तुतः आनन्दोत्पादक सम्पूर्ण सामग्रियां शरीरमें ही

विद्यमान हैं। और सच पूछो तो अक्षयसुखका मण्डार आत्मा ही है। शरीरकी माता या पितामझी होरहीं आहारवर्गणाओं में वह आत्माको सुख देनेवाळी शक्ति न है और न थी । प्रत्युत आत्माने ही शरीरको सुखोत्पादक शक्तिकी थोडी भीख दे दी है। बस, उसी उपचरित असद्भूतनय अनुसार भात्माके सुखसे होरहे शारीरिक सुखको अपना रहा यह जीव सेंठिकी गांठ मिळनेपर बन गये पंसारी चूहे के समान बहिरात्मा बन रहा है । तभी तो मुमुसु, वती, इन्द्रियजन्य सुखोंपर छात मारकर अती-न्द्रिय स्वात्मोपलब्धिजन्य सुखका रसास्वादन करनेके छिये उद्यत रहते हैं। प्रकरणमें यह कहना है कि देवोंका रसना इन्द्रियजन्य सुख बहिर्भूत पदार्थीसे नहीं प्राप्त होकर अपनी शारीरिक प्रकृति अनु-सार अपने अम्यंतर कारणों अनुसार उपज जाता है। तथा इदयहारी पुष्प, शरीर, आदिकी दिव्य गन्धको सूंघ कर देवांके घाण इन्द्रियजन्य सुख होरहा है। स्वकीय स्थानोंमें होरही सुन्दर रचनायें, देव देवांगनाओं के अनुपन सीन्दर्य, मध्यळोक सम्बन्धी अनेक द्वीप समुद्रोंकी स्वर्गीय छटायें, आदिको निरख कर देवोंके चक्षुः इन्द्रिय द्वारा उपमोग प्रवर्त रहे हैं। स्वयं गाना बजाना अथवा अन्योंके गीत, वादित्र, आदिका श्रवण कर श्रोत्र इन्द्रियजन्य सुख उनके उपजते रहते हैं। परिशेषमें जाका सब जीवोंको '' जगत् कायस्वभावो वा संवेगवैराग्यार्थ '' के अनुसार वैराग्य भावनापः ही हुक जाना आवश्यक पडेगा, तभी तो स्वर्गीमें ऊपर ऊपर या अहमिन्द्रोंमें गति, रारीर, परिष्रह, अभिमानकी, द्दीनता है । अहमिन्द्र देवोंकी तो ऐसी विलक्षण परिणित है कि जाने आने या शिक्षया करनेकी परिपूर्ण सामर्थ्य होते हुये पंचकल्याणक उत्सवोंमें भी मध्यछोकमें नहीं उत्तरते हैं। वहीं स्वस्थानसे सात पेंड चळक मगवान्को नमस्कार कर छेते हैं। यहां वहां बहुत भ्रमण करना कुछ अच्छा धोडा ही है। मन्द्रकषार या शुक्छ हेरयाकी जातियां नाना प्रकारकी हैं । सर्वार्थसिद्धिके एक भवतारी देवोंमें तो परम शुक्छ केरया सांसारितसुखोंकी चरमसीमापर पहुंचाती हुई उत्तरभवसम्बन्धी परम वैराग्य मावनाओंकी प्रयोजक हो रही है। उत्तरभवमें अपूर्ण पुण्यपायोंका क्षय करानेवाळी और इस भवमें उत्कृष्ट पुण्यकी सामग्री बन रही यह तर्वार्थिसिद्धिके देवोंकी भेद विज्ञानसे पगी हुई सुखानुभूति तो चमत्कारपूर्ण है। '' किमाश्चर्यमतः परम् '' भोगोंका चरमक्छ उपेक्षा है। अस्तु, इस वार्तिकर्मे चार निकायींके इन्द्रियजन्य सुखका सचन कर दिया है।

चतुर्णिकाया देवाः कायप्रवीचाराः इति संबंधाबतुर्ध्विष निकायेषु सुराणां सुरतसुख-विश्वेषस्य कथनं गम्यते आ ऐशानादिति वचनात् । तिई वैमानिकनिकाये सर्वसुराणां काय-मवीचारमसक्ती तिबद्धत्यर्थे ऐशानादिति वचनमभ्युपगंतुं युक्तं ।

देवोंकी चार निकारों हैं यो अनुबूत्त किये गये पहिले सूत्रके साथ काय प्रवीचारवाले देवोंक वाचक " कायप्रवीचाराः " इस शहूका सम्बन्ध कर देनेसे चारों भी निकायोंके देवोंके सुरत सुन्कर्य सुकाविक्षेत्रका कथन करना जान किया जाता है "आ ऐशानात्" ईशान स्वर्गतक ऐसा वचन करनेसे मर्यादा बांध दी गयी है, तब तो बीधी वैमानिक निकायमें सम्पूर्ण देवोंके मनुष्य, पद्य, पिक्सोंके समान शरीर द्वारा मेथुनप्रवृत्तिका प्रसंग प्राप्त हो जानेपर उस प्रसंग की निवृत्तिके लिये ऐशालाद् इस प्रकार सूत्रकारका वचन स्वीकार करनेके लिये युक्तिपूर्ण है। त्रैमानिक, मवनवासी और व्यन्तर ये तीनों जातिके देव उत्तरीत्तर असंख्यात गुणे अधिक हैं। हां, व्यन्तरोंसे ज्योतिषी देव तो संख्यात गुणे अधिक हैं। पिरिशिष्ट सम्पूर्ण वैमानिक देवोंसे असंख्यात गुणे देव केवल सीधर्म और ऐशान दो स्वर्गीमें बस रहे हैं। इस सूत्रद्वारा आदिकी तीनों निकायें और चौथी वैमानिक निकाय मेसे ईशान स्वर्गवासी देवोंतक एक सांसारिक विशिष्ट युख माने जा रहे कायप्रवीचारका प्रतिपादन हो चुका है। अब सनत्कुमार आदि अच्युत पर्यन्त वैमानिक देवोंके मिथुनजन्य सुखिवमागका प्रतिपादन करनेके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

रोषाः स्पर्शरूपशब्दमनःप्रवीचाराः ॥ ८ ॥

उक्त देवोंसे शेष बच रहे अच्युत पर्यन्त देव तो परस्पर स्वकीय नियत देव, देवियोंके स्पर्शमं, रूप अवलोकनमं, शद्वअवणमं और मनोजन्य मानसिक विचारोंमं, मैथुनोपसेवन क्रियाको धार रहे हैं। अर्थात्—उक्तम देवोंमें मैथुनप्रवृत्ति उक्तरोक्तर न्यून होती गयी है। देव स्वदा प्रवीचारमें ही लवलीन नहीं रहे आते हैं। मनुष्य, बी, पशु, पिक्षयोमें भी सर्वदा ही काम वेदना जागरूक नहीं रहती है। किन्तु अन्तरंग या बहिरंग कारणोंके मिलनेपर कामवासनार्ये जग जाती हैं या जगा ली जाती हैं। सभी जीवोंको चाहे वे धर्मात्मा न भी होय कामसेवनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक आवश्यक कर्त्तव्य बने रहते हैं। मनुष्योंको शरीरप्रकृतिके अनुसार शौच, स्नान, मोजन, शयन आदि कार्योमें आवश्यक काल्यापन करना पढ़ता है। अनेक पशु, पश्ली, तो स्वकीय नियत ऋतुओंके अतिरिक्त कितने ही महीनोतक अरितवान् उदासीन रहे आते हैं। हां, श्रृंगारी पुरुषोंको आसवलकी व्यूनता हो जानेसे विषयवासनायें अधिक सताती हैं। देवदोवियोंके भी जब कभी कामशासनायें उपजर्ती हैं तो वे परस्पर स्पर्श, रूपावलोकन, आदि हारा लीकिकत्तृतिको प्राप्त होते हुथे प्रीतिलाभ कर केते हैं। " वण्णामिन्द्रियाणां स्वेषु स्वषु विषयेषु आनुकूल्यतः प्रवृत्तिः कामः " स्पर्शन इन्द्रियके समान या उससे भी अधिक कामसेवन इन अन्य इन्द्रियों हारा भी होता है, यह बात इस स्वसं क्वित हो जाती है।

शेषा इति षचनं एकाषश्चिष्टसंब्रहार्ये, ते बोक्तावश्चिष्टाः सानत्कुमारादयः कल्योपपणा रवाच्युतान्ताः परे अवीचारा इति वश्यमाणत्वात् कल्योपपणपर्यन्तानामेष द्वादश्वविकल्पत्वेन निर्दिद्वानां शकरणाच्यः। इस सूत्रमें " रोषाः " यह वचन तो कहे जा चुके भवनित्रक और सौधर्म, ईरानवासी देवोंसे अवशिष्ट वच रहे कल्पत्रासी देवोंका संप्रह करनेके छिए हैं और वे उक्तोंसे अवशिष्ट रहे देव तो तृतीय स्वर्गवासी सानत्कुमार आदिक अच्युत स्वर्गपर्यन्तके कल्पोपप्रम देव ही प्रहण किये जाते हैं। क्योंकि अप्रिम सूत्र द्वारा परछे कल्पासीत देव प्रवीचाररहित हैं। यों परिभाषण भविष्यमें किया जानेवाला है। तथा " दशाष्ट्रपंचदादशाविकल्पाः " इस सूत्र द्वारा बारह विकल्पधारीपने करके कहे जा चुके कल्पोपपत्रपर्यन्त स्वर्गवासी देवोंका ही यहां प्रकरण प्राप्त ही रहा है। अतः कल्पातीत देवोंमें कोई अतिप्रसंग नहीं हो पाता है।

नन्वेवं के स्पर्शमवीचाराः के च रूपादिमवीचारा इति विचयविवेकापरिश्वानादगमकोऽयं निर्देश्च इत्याशंकायामिदमभिभीयते ।

यहां किसीकी शंका है कि इस सूत्र करके आधारभूत विषयोंका पृथक्, पृथक् रूपसे विचार नहीं किया गया है कि इस प्रकार कौनसे देव तो स्पर्श द्वारा मैथुनप्रकृत्तिको धार रहे हैं, और कौनसे देव भला रूप, शद्ध, आदि करके कायपुरुषार्थमें क्वळीन हैं यों विशेषतया परिवान नहीं होनेसे यह सूत्रका निर्देश करना अभिप्रेत अर्थका गमकं नहीं है। यों आशंका होनेपर श्री विधानन्द आचार्य द्वारा यह समाधान वचन कहा जाता है।

ते स्पर्शादिप्रवीचाराः शेषास्तेभ्यो पथागमं । क्षेयाः कामोदयापायतारतम्यविशेषतः ॥ १ ॥

उन उक्त देवोंसे शेष रहे वे कल्पवासी देव तो स्पर्श आदिमें मैथुनोपसेवन करनेबाले है। इस सिद्धान्तको आम्नायानुसार प्राप्त हुये आगमप्रमाणका अतिक्रमण नहीं कर समझ लेना चाहिये। चारित्रमोहनीय सम्बन्धी वेदकर्मके उदय या उदीरणास्करण कामोदयके अपाय (विनाश) की तरतमरूपसे विशेषता देखी जाती है। अतः स्पर्श, रूप, शब्द, इन उत्तरोत्तर विप्रकृष्ट होरहे सह कारियों द्वारा देवोंमें ऊपर ऊपर प्रवीचार अल्प अल्प है। अथवा यों अनुमान कर लेना कि वे उपित्र चीदह स्वर्गवासी देव (पक्ष) कामवेदनाकी न्यूनताके तारतम्य अनुसार स्पर्श, रूप, आदिमें प्रवीचार करनेवाले हैं (साध्य) क्योंकि काम वेदनाके सम्पादक वेदकर्मोके उदयका नाश होजानेकी तरतमताका विशेष होनेसे (हेतु)। अर्थात् — लुखाठिया, सिरकटा, लिहरिया, चीता, सिंह, इनको जैसे उत्तरोत्तर भय हीन हीन है या कृपण, सकुटुम्बधनी, अधमण, ज्यापारी, पण्डित, भोगभूमियां, देव, सम्पन्दि, मुनिमहाराज, उपशमक्षेणीवाले, इन जीवोंमें जैसे यय उत्तरोत्तर न्यून है अथव कृष्टगारी, रसिया, उपभोक्ता सद्ग्रहस्थ, मक्क, अणुकती आवक, उदासीन, इनमें उत्तरोत्तर कामवेदन स्वल्प है, इसी प्रकार सानकुमार आदि देवोंमें ऊपर ऊपर कामपुरुषार्थकी न्यूनता है। कामकी हीनताबे तारतन्यसे प्रकर्की प्रकर्वताका तारतस्य अविमानावी है।

ते देवाः शेषाः सानत्कुमारादयो वयागमं स्पर्शादिप्रवीचाराः प्रतिपत्तव्याः । सानत्कुमारमाहेंद्रयोः स्पर्शभवीचारा देवास्तेषायुत्पन्नमैथुनसुखिष्टिम्सानां सम्रुपस्थितस्वदेवीशरीरस्पर्शमात्रात्प्रीत्युत्पत्तो निवृत्तेच्छत्वोपपत्तेः । बद्धाबद्धोत्तरलांतवकापिष्ठेषु रूपप्रवाचाराः, स्वदेवीमनोक्कष्पावलोकनमात्रादेव निराकांक्षतया पीत्यितशयोपपत्तेः । शुक्रमहाशुक्रसतारसहसारेषु
शब्दप्रवीचाराः, स्वकांतामनोक्कशब्दश्रवणमात्रादेव संतोषोपपत्तेः । आनतप्राणतारणाच्युतकल्पेषु
मनःप्रवीचाराः, स्वांगनामनःसंकल्पपात्रादेव परमसुखानुभवसिद्धेरिति हि परमागमः श्रूयते ।

उक्त देवोंने पारिशिष्ट हो रहे वे सानत्कुमार माहेन्द्र आदिक देव तो आम्नाय प्राप्त आगम अनु-सार स्पर्श, रूप, आदिमें प्रवीचार करनेवाले समझ लेने चाहिये। वह आगमविधि इस प्रकार है कि सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गीमें निवास करनेवाले देव स्पर्श करनेमें मैथुनोपसेवन करनेवाले हैं। क्योंकि मैथुनजन्य सुखके प्राप्त करनेकी अभिकाषा उत्पन्न होते ही उन देवोंके उसी समय उपस्थित हो गयी निजदेवियोंके शरीरका केवल स्पर्श यानी आलगान या स्तन, मुखचुम्बन आदि क्रिया कर केनेसे प्रीति उत्पन्न हो चुक्रनेपर उन देवोंकी मैथुन इच्छा की निवृत्ति होनारूप कार्य सध जाता है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, छांतव, कापिष्ट स्वर्गीमें निवास कर रहे देव तो रूपमें प्रवीचार करनेवाले हैं । क्योंकि मैथुनकुत्यकी अभिलाषा होते ही उसी समय निकटप्राप्त हयी अपनी सुन्दर देवियोंके मनोज्ञ रूप यानी सुन्दर वेष, विलास, विश्रम, चातुर्व, श्रङ्गार, आकार, सीन्दर्यका, केवळ अवलोकन कर छेनेसे ही स्वकीय भोगा तांक्षाकी निवृत्ति होते हुये अतिशय यक्त प्रीति उपजनारूप कार्य बन जाता है। तथा नीवें, दशवें ग्यारहवें, बारहवें, शुक्र, महाशुक्र, सतार, सहस्नार, स्वर्गनिवासी देवोंके राद्वमें ही प्रवीचार होता है। अपनी अपनी रमणीय कान्ताओंके मनोज राद्वींके सुनने मात्रसे संतोषकी सिद्धि हो जाती है। देवियोंके मध्र संगीत, कोमल हास्य, भूषण शद्भ, नृत्यकी संकार आदिका श्रवण कर पूर्व देवोंकी अपेक्षा इनको अत्यधिक प्रेम रस उपजता है। आनत, प्राणत, भारण, अच्युत, इन स्वर्गीमें देव मनमें ही प्रवीचार करनेवाछे हैं। अपनी अंगनाओंके मानसिक संकल्प मात्रसे ही उक्त देवोंकी अपेक्षा अत्यधिक वैषायिक सुलका अनुभव साध केते हैं | इस प्रकार प्राचीन परम आगम वाक्य सुने जा रहे हैं । मात्रार्थ-वर्तमानमें भी इस ढंगसे मनुष्य या क्षियोंमें अंशरूप करके यें। कामपुरुषार्थ सेवन देखा जाता जाता है । परस्पर बीपुरुषोंक सुन्दर अवयवेंकी टकटकी छगा कर निरखने वाले रिक्षकों या बक्रमक धार्मिकोंमें चाक्षप मैथून बहुत पाया जाता है। तीव वेदना या चळाकर उपजायीं गयी वासनाओं के अनुसार कायप्रवीचारमें प्रवृत्ति होती है। इसके अतिरिक्त समयोंमें कामवेदनाका अल्प आधात होनेकी दशामें स्पर्श प्रवीचारसे ही बीपुरुषोंकी इच्छाये परिपूर्ण हो जाती है। कदाचित अध्यल्प वेदनाकी दशाओं में रूपावलोकन, परस्पर संभाषण, मनोज जन्य मानसिक विचारोंसे ही तुप्ति हों जाती है। उत्तरोत्तर दकती हुई अवस्थायें

शारीरिक शक्तिकी हानिशीळता अनुसार अर्बहृद्ध या हृद्धजनोंमें इक्षान्तरूपेण उक्त स्त्रार्थ घटित हो जाता है। इसी प्रकार देवोंमें भी उक्त सूत्रार्थको युक्तिपूर्वक घटित कर केना चाहिये। जो अहा पुरुष शरीरस्पर्श या शुकरजोमोचनसे ही प्रीति उपजना स्त्रीकार करते हैं, उनका विद्वान्त अवकृष्टक है। लौकिक प्रीतियोंकी उत्पत्तिके अनेक साधन हैं। बस्तुतः विचारा जाय तो विषयोंसे उत्पन्न इका सब कोरा सुखाभास है। जितनी जितनी विषयतृष्णा न्यून है उतना ही उतना यह जीव अतीन्द्रिय सुख को परखने लग जाता है। तभी तो देवोंके बाहरंग आर्लिंगन आदि सामग्री जितनी बितनी हीन होती। जायगी उतना ही उतना वे लौकिक सखकी भार बढते जायेंगे । अत्यधिक संसठींसे लौकिक सखींमें भी एक प्रकारका बिझ ही पड जाता है । श्रृंगारी किन भी कहता है कि " न पथ्यं नेपथ्यं बहुत-रमनंगोत्सवविधी " कामोत्सवमें बहुत श्रंझटे लगा लेना अडचनें। को निमंत्रण देना है। लतीस श्रंकारके व्यंजनोंकी अपेक्षा एक बारमें चार पांच सुन्दर व्यंजन ही अधिक तृतिकारक समझे गये हैं । हां, भिन्न समय न्यारी न्यारी छा होंमें छत्तीस क्या छत्तीस सी व्यंजन भी विचित्ररुचियोंके अनुसार त्रतिकारक होसकते हैं। भूखसे कुछ कम भोजन करनेमें जो आनन्द है वह नाकतक भोजनको ठंस छेनेमें नहीं है। जाडेकी ऋतमें अत्यल्प शीतबाधा सहते हुये उपयोगी परिभित वलों द्वारा उपभोग करना जितना स्वास्थ्यप्रद होते हुये मनोहारी है उतना आक्स्यकतासे अविक गूदरा छादे रहना सुखसम्पादक नहीं है। परिशेषमें जाकर मीष्म ऋतुमें जैसे क्क्षोंका परित्याग ही बांछनीय होजाता है, उसी प्रकार ठोस सुखको चाहनेवाले जीवोंके लिये संबदोंकों हदाकर केवल आत्मस्वरूप इकला रहजाना ही आदरणीय होजाता है। अलम्-पूर्वपूर्ववर्ती देवोंके अवलम्ब उत्तरोत्तर देवोंमें नहीं है। किन्तु उत्तरोत्तर देवोंके स्पर्श, रूप, शह्र, आदिमें होनेवाले प्रवीचार तो पूर्व पूर्व देवोंके आवश्यक रूपसे पाये जाते हैं। यानी जो देव रूप प्रवीचारवाले हैं वो स्पर्शप्रवीचारवाले नहीं हैं। किन्तु स्पर्शप्रवीचारवाले देव रूपप्रवीचार. शह्वप्रवीचार और मनः प्रवीचारोंको भी भारते हैं । परमागम द्वारा की गयी व्यवस्था सर्वेद्या निर्दोष है।

ततस्तद्नतिक्रमेणैव विषयविवेकविक्षानाभागमकोऽयं निर्देशः । पुनः ववीचारग्रहणा-दिष्टाभिसंबंधप्रत्ययादन्यथाभिसम्बन्धे चार्षविरोधात् । संभाव्यंते यथागमं स्पर्शादिपवीचारा देवाः कामोदयापायस्य चारित्रमोहसयोपशमविशेषस्य तारतम्यभेदान्मज्ञुष्य विशेषवत् ।

तिस कारणसे उस आतोक परमागमका अतिक्रमण नहीं करके ही देवोंमें स्पर्श, आदि विषयोंका विभाग जान दिया जाता है। अतः यह सूत्रकारका कथन अवोधक नहीं है। "काय प्रविचाराः आ ऐशानात्" इस पूर्वसूत्रसे यहां प्रधीचार शब्दकी अनुहार्च हो सकती है। किर जो सूत्रकारने उस सूत्रमें प्रवीचार प्रहण किया है उस भ्यर्थ पढ रहे प्रवीचार शब्दको महणसे आगम विधि अनुसार इष्ट अर्थका अभिस्मकन्ध कर छेना प्रतीत हो जाता है। यदि दो दोमें या चार चार कार कार्यों में यो अन्य प्रकारोंसे स्पर्ध क्रम आदि जिनमक प्रवीचारोंका अभिस्मकन्ध किया जानेगा तो ऋषि

प्रोक्त सिद्धान्तप्रन्थोंसे इस सत्रका विरोध ठन जायगा । खल्प भाषण करनेवाले उदात्त उद्भट विद्धानोंके शब्द म्यर्थ नहीं जाते हैं। अतः प्रवीचार शब्दकरके इष्ट अर्थकी हारि कर छी जाती है। इस सन्नार्थका यें। अनुमानवाक्य बना छेना कि सानत्कुमार प्रमृति देव (पक्ष) स्पर्श, रूप आदि विषयक मैथन प्रवृत्तियोंको धार रहे आगमविधि अनुसार जाने गये सम्माबित हो रहे हैं (साध्यदल) कामसम्पादक नेदकर्मके उदय या उदीरणाके निनाश स्त्रक्षप चारित्रमोहनीयकर्प प्रतियोगिक विशेष क्षयोपशमकी तरतमताका भेद होनेस (हेत्) मनुष्य विशेषोंके समान (अन्वयदृष्टान्त) । अर्थात-उत्तरोत्तर अधिक धर्मात्मा बन रहे सम्यग्दष्टि, पाक्षिकश्रावक, दर्शन प्रतिमा, वतप्रतिमा, दिवाऽभूक्त प्रतिमावाले श्रावकोंमें जैसे क्षायोपरामिकभाव अण्यत ब्रह्मचर्य है। '' देसविरदे पमत्ते इदरे य खओव-समियभावोद्, सो खल्च चरित्तमोहं पडिच भणियं तहा उवरिं " यों गोन्मटसार अनुसार पांचवे देश विरत गुणस्थानमें चारित्रमेष्ट्रनीयकी अपेक्षा क्षायोपशमिकभाव माना गया है। यद्यपि नेकिषायकी वेद नामक प्रकृति देशघाति है। तथापि देशघातियोंमें अपेक्षाकृत सर्वघातिस्पर्धकोंका सद्भाव पाया जानेसे पाक्षिक आदिमें सर्वधातिस्पर्धकोंका उदयाभाव क्षय और मिन्यमें उदय आनेवाले सर्वधाति स्पर्ध-कोंकी उदीरणा नहीं हो सकते योग्य वहांका वहीं उपराम बना रहना तथा देशचाति वेद प्रकृतिके निषेकोंका उदय यों क्षयोपराम बन जाता है। यद्यपि देवोंमें कोई इत नहीं है। देशविरतके नहीं होनेसे उनके क्षायोपशमिकचारित्र कहनेके छिये जी हिचकिचाता है। फिर भी अन्तरंग कारणवश कामोदय उत्तरोत्तर देवोंमें अत्यल्प है । अतः कषायोंकी मन्दता होनेने उन देवोंके निस्सन्देह चारित्र मोहका क्षयोपराम कहनेके लिये सडर्ष उत्साह हो जाता है। जब कि गोम्मटसारमें ही कहीं दर्शन मोह कवित् चारित्रमोहका अवलम्ब लेकर दूसरे गुणस्थानमें पारणामिक भाव और क्षपकश्रेणीमें क्षायिक भाव जो कि सिद्धोंमें कहने चाहिये भणित किये हैं, तो अन्तरंग कर्मोंकी शक्ति अनुसार मैथुनसंज्ञाकी उत्तरोत्तर हानिकी ओर झुक्तनेत्राले जीगेंके चारित्रमीहका क्षयोपराम कहना अनुचित नहीं है। अतः यह हेत पक्षमें वर्त जाता है। सर्वथा प्रवीचाररहित सर्वर्थासिद्धिके देवोंको मले ही चतुर्थ गुणस्थानवर्षी कहते रहो और कामतीवाभिनिवेश नामक अतीचारको धार रहे दर्शन प्रतिमा-बाले स्वकी-आसक्त मनुष्यको भले है। पंचमगुणस्थानवर्त्ता कहे जाओ, हम टोकते नहीं है। किन्तु वेदकर्मीके उदय, उदीरणा, पर सक्ष्म छस्य देनेसे सर्वार्थिसिद्धिके देवों या छीकान्तिक देवोंमें अखण्ड ब्रम्हचर्य पाया जा रहा है। स्रोक्तवार्तिकार्लकार उक्त सिद्धान्तका पोषक प्रतीत हो रहा है। भगवान्का अभिषेक करनेवाले पुरुषोंका या व्रतथारी श्रावकोंका रस, रुधिर, मल, मूत्र,मयशरीर मले ही पवित्र आत्मारूप उपाविकी अपेक्षा न्यवहारदृष्टिसे उपचरित पवित्र मान किया जाय, किन्तु सीधर्म इन्द्र, लौकान्तिक, सर्वार्षसिद्धिस्थ इन देवोंके धातु, उपधातु, मळपूत्रविद्दीन शरारों अथवा एकें-दिय जीवके वृक्ष, घास, जल, अग्नि शरीगेंको उपचारकी शरण लिये विना ही पवित्र कहनेके लिये उत्साहके मारे जीव बांसों उछकता है। कर्म, पुद्रछ, आत्मा, निज परिणाम, उपादान कारण आदिकी शक्तियोंपर विचार करनेसे उक्त सिद्धान्तका नग्नरहस्य स्पष्ट दीख जाता है । अन्नती उच्चर्ण अं नती नीचवर्णके तत्त्वको अथवा अहिंसक धीवर या चाण्डाळ और हिंसक मान्हणके तत्त्वको समझं वाळ सहदय उदात्त विद्धानोंको उक्त सिद्धान्तके सन्मुख सिर झुकाना पढेगा । अनुक्त मी चारित्र सिद्धे रखना पडता है । देवोंके क्षायोपशिमक चारित्रका निरूपण कर देनेवाळ निमीक श्री विधानन्द आच महाराजसे अपनी आत्माके उदात्तमाव बनानेकी शिक्षा छो—इत्यलम् पळ्ळवितेन । समझनेवाळोंके वि संकेतमात्र पर्यात है । छजाछुओंको समुद्र, नद, कृपकी आवश्यकता नहीं है । स्वल्प जळ पापका संकल्पपूर्वक त्याग करनेके छिये इष्टराधक हो जाता है ।

किसी जिज्ञासुका प्रश्न है कि गुरुजी महाराज, यदि सोख्ह स्वर्गतक इस प्रकार व्यवस्था है बताओ कि ऊपर प्रैवेयक विमानवासी अहमिन्द्रोंके किस प्रकारका सुखं प्रवर्तता है ! यों प्रश्न होने श्री उमास्वामी महाराज अहमिन्द्रोंके सुखका निर्णय करनेके छिये अप्रिम सूत्रको यों कह रहे हैं।

प्ररेऽप्रवीचाराः ॥ ९ ॥

सीलह स्वर्गीके उपर नवप्रैवेयक, नव अनुदिश, और पांच अनुत्तर विमानोमें उपन रहे पा अहमिंद्र देव तो मैथुनप्रवृत्तिसे सर्वथा रहित हैं। मनसे भी मैथुन सुलके अनुभवसे रीते होरहे कल्पातीत अहमिन्द्र परमहर्षका अनवरत अनुभव करते रहते हैं। अर्थात्-किसीको भूंख या प्य लगे उसकी षट्रस पूर्ण उत्तम, उष्ण, भोजनों या मधुर शीतल जल द्वारा निष्टित्त करके जो सुख अनुभव किया जाता है, वह सुख अविक्रिन, अनवरत, ठोस, निर्वाध, नहीं है। केवल रोगका प्रतीव मात्र है। हां, यदि किसी केवलज्ञानीको भूंख, प्यास, या नींद, रोग ही नहीं है, उसके अविक्रित्र पर सुख उच्च श्रेणीका माना जाता है। इसी प्रकार कल्पातीत देवोंके कामबेदनाके प्रतीकारकी शंकरं नहीं पढ़नेके कारण सतत परम हर्ष होता रहता है।

परं ग्रहणं कल्पातीतसर्वदेवसंग्रहार्थे । ततो अनिष्टकल्पनानिश्वचिः । अपनीचारग्रहणं मकुः धुलप्रतिपस्पर्थे, ते न पनःप्रवाचाराः । तेभ्यः परं कल्पातीताः सर्वदेवाः प्रवीचाररिह इत्युक्तं भवति ।

इस सूत्रमें पर शन्दका प्रहण करना तो सम्पूर्ण करपातीत असंख्याते देवोंका संप्रह करने हैं। तिस कारणसे अनिष्टकल्पनाओंकी निवृत्ति होजाती है। अन्यथा यानी परे शन्दका प्रहण य नहीं किया जायगा तो कतिपय स्वर्गवासी देवोंमें वा कुछ ही कल्पातीत देवोंमें प्रवीकाररहितयन अनिष्टकल्पना की जासकती है। इस सूत्रमें अप्रवीकार शब्दका प्रहण करना तो अहानिन्होंके हो प्रश्न छुखकी प्रतिपत्ति करानेके क्षिये है। वे देव मनते भी प्रवीकार करनेवाले नहीं हैं। यवपि प्रथ दितीय, तृतीय, या क्षार्थ गुणस्थानके भावोंको बार हहे मैनेपकवारों आहोनक और केमक का



गुणस्थानवर्षी नव अनुदिश, पांच अमुत्तर विभानवासी अहमिन्द्रोंके वेदकर्मका उदय है। अञ्चलार देनोंके पुरुषोचित उपांग भी है। किन्तु आलीय पुरुषार्थजन्य विलक्षण परिणातियोंके ना नेसे इक्कीद और भाववेद व्यर्थ पड आते हैं। छठें, सातवें, आठवें, गुणस्थानोंमें भी तो और भाववेद व्यर्थ पड आते हैं। छठें, सातवें, आठवें, गुणस्थानोंमें भी तो और भाववेदका सद्भाव है। किर भी देवेंसे अनन्तरागुणा निष्काम सुख साधुओंके माना गया है। महानतकी कडी महिमा है। कामको अनन्तकालतक कके लिये जीतनेवाले श्रीणकषाय या केवलका परम अतिन्तिय सुख अनन्तावन्त विश्वमान है। यद्यपि खी, पुरुषोंके मिथुन सम्बन्धी पुरुषार्थजन्य तो वृक्ष, घास, कीट, नपुंसक, नारकी आदिमें भी नहीं है, फिर भी इनके कामजन्य तीव दुः हैं, जोकि अहमिन्द्रोंके सर्वथा नहीं है। इस सूत्रका अर्थ इस प्रकार कह दिया गया होजाता है तीन निकाय सम्बन्धी और स्वर्गवासी देवोंसे परे होरहे सम्पूर्ण कल्पातीत देव तो मैथुनसेवाके पंक (दलदल) में निसप्तता (फंसे रहता) स्वरूप प्रवीचारसे रीते हैं। अर्थात् अनेक धर्मात्मा नहीं होते हुये भी जन्मने ही स्वभावतः कामवासनाओंसे दूर रहते हैं। उस दशामें बहा गम्भीर सुख मिलता है। प्रथम गुणस्थानवर्ती आधुनिक बीर पुरुषोंमें भी कराचित् प्ररित भाव पाये जाते हैं। कोई आश्वर्य नहीं है।

इतः पुनस्तेभ्यः परेश्यवीचारा इत्याइ ।

अब श्री विधानन्द खामीके प्रति किसीका प्रश्न है कि महाराज, बताओ, कहे जाचुके परछे देव फिर प्रवीचारसे रहित भछा किस युक्तिसे सिद्ध हो जाते हैं ! आगमउक्त विषयोंके युक्तियोंके प्रवर्त जानेसे ही आगमके ऊपर अनुप्रह होसकता है, अन्यथा नहीं । इस प्रकार जिज्ञासा श्री विधानन्द आचार्य अप्रिमवार्तिकोंको समाधानवचनस्वरूप कह रहे हैं । उनको सुनो, समझो ।

तेभ्यस्तु परे कामवेदनायाः परिश्वयात् ।

सुस्वत्रकर्षसंत्रातेः प्रवीचारेण वर्जिताः ॥ १ ॥
संभाव्यंते च ते सर्वे तारतम्यस्य दर्शनात् ।

नराणामिह केषांचित् कामापायस्य ताहराः ॥ २ ॥

लन उत्ता देवींसे परळी ओरके वे विवादापन सम्पूर्ण कल्पातील देव तो (पक्ष) मैथुनोप वर्जित होरहे सम्भव रहें हैं (साम्प) कामवेदनापीडाका परिक्षय होजानेसे (हेतु) काम । अत्यन्त तुन्छ या मैथुनकर्मकी जतीव हानिकारक समझ रहे और व्यायाम, दुग्धपान, निश्चि धृतमेवा मीजन, आदिके भीगी मलके समान (अन्वयरष्टान्त) । इस अनुमानसे अहमिन्द्रीमें प्रवर्षितपना साथ दिया जात्म है । तथा सुन्तके प्रकर्षकी भन्ने प्रकार प्राति होजानेस (हेतु) अहा

कामनेदनाका परिक्षय साथ दिया जाता है। यहां वर्तमानकाछमें मीं किन्ही किन्ही मनुष्योंके तिस प्रकारके कामके विनाशका तारतम्य देखा जाता है। अर्थात्—वर्तमानमें सम्पूर्ण युवा पुरुष कामुक ही होय ऐसा कोई अवधारण नहीं है। कई पुरुष तो जन्मपंथित कामसे नहीं सत्तिष देखे मये हैं। हां, वियोंके मासिकधर्म होनेके कारण मानसिक कामविकारोंसे रहितणना दुर्छम है। " इनि पुरिसे बत्तीसं"। तभी ती देखोंकी गणनासे बत्तीस गुनी भी गिनतीमें असंख्याती देवियां प्रवीचाररहित नहीं कही गयी है। आर्थिका मी उत्कृष्टसंयमको प्राप्त नहीं कर सकती है। किन्तु वीररस्प्रेमी, उदासीन, शान्तरसी, पुरुषोंमें कामवेदनाके विनाशकी तरतमता देखी जाती है। इस हेतुद्वारा विवादापकाजीवोंमें प्रवीचारसे रहितपना साथ दिया जाता है। जैसे अनेक पुरुष सदासे ही श्रृंगार रसके प्रेमी होते हैं, तद्वत् अनेक जन कामरससे सवीश उदासीन रहनेवाछे भी देखे जा रहे हैं। जब कि किन्ही किन्ही मनुष्योंके यहां वैसी कामवेदनाका अपाय है। अतः वे सभी अहमिन्द्र देव विचारे प्रवीचारसे रहित हो रहे सम्भव जाते हैं।

विवादापन्नाः सुराः कामवेदनाक्रांताः सन्नरीरत्वात् प्रसिद्धकामुकवत् इत्ययुक्तं कामवे-दनापायस्य न्नरीरित्वेन विरोधाभावात् । केषांचिदिद्दैव मनुष्याणां मंदमंदतमकामानां विनिध-यात् कामवेदनाहानितारतम्ये न्नरीरहानितारतम्यदर्शनाभावात् प्रश्लीणन्नेषकल्मषाणामपि न्नरी-रिणां प्रमाणतः साधनात् ।

रुषा, श्लीण, शरीरधारी शृंगार रसिक पुरुषकी अपेक्षा बार, योद्धा, मञ्ज, प्रतिमञ्ज पुरुषोंके शरीर दृढ, पुष्ट, बल्छि, जन्ये चौढे, पुढील होते हैं। निकृष्ट वेश्याओं के काममय शृणित शरीरोंसे महाचारिणी या स्वदेशरक्षणतत्वरा लजाल क्षियोंके शरीर उन्नत देखे जाते हैं। कहांतक कहें, सम्पूर्ण कामवासना सम्बन्धी पापोंका प्रकर्षरूपसे नाश कर देनेवाले या ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन सम्पूर्ण बातिया कर्मोका प्रक्षय कर चुके श्री जिनन्द्र देवोंका मी शरीर सिहतपना प्रमाणोंसे साधा जा चुका है। जब कि वेदकर्मका या बातियाकर्मोका प्रक्षय कर चुके शरीरधारी जिनेन्द्र मगवान्के अनन्त बलशाली, सर्वाग सुन्दर, लम्बा चौडा सुढील, प्रकि, परम औदारिक शरीर है, तो शरीरधारीपन हेतुकी कामवेदनासहितपन साध्यके साथ व्याप्ति नहीं बन पाती है। हां, कामवेदनाकी बृटि होते होते साथ में यदि शरीरकी भी बृटि होती जाती तो शरीरधारी देवोंका या तीर्थकरोंका भी कामपीडितपना साधनेमें सहायता मिल सकती थी। किन्तु यहां तो इसके विपरीत प्रस्ताव उपस्थित होगया, अतः पौराणिकोंका हेतु व्यभिचार दोषप्रसित है।

एतेन कामित्वे साध्ये सन्त्रमयेयत्वादयोपि हेतवः संदिग्धविपक्षण्याश्चिका इति मति-पादितं ततः संभाज्या एव केचिद्मवीचाराः।

इस इक्त कथन करके इस बातका भी प्रन्थकारनें प्रतिपादन कर दिया है कि कल्पातीत देवों में कामीपना साध्य करनेपर कहे जाने योग्य सत्व, प्रमेयत्व, जीवत्व, चेतनत्व आदिक हेतुओंकी भी विपक्षसे व्यावृत्ति होना संदिग्ध है। क्योंकि कामसेशी जीयोंके समान मन्दकामी या सर्वथा प्रविचार रहित जीवोंमें भी सत्त्व आदिक हेतु पाये जाते हैं। जब कि व्यामेचारीपुरुष भी कभी कभी तीव रोग, गाढ सुष्ठित, आदि अवस्थाओंमें कामपीडासे वर्जित हैं तो मळ, जितिन्द्रिय साधु, महामना त्यागी, क्षीणकषाय आदि जीवोंके विषयमें तो कहना ही क्या है! विपक्षमें हेतुके ठहर जानेका निश्चय नहीं भी होय, किन्तु विपक्षमें वर्तनेका पौराणिकोंको भी सन्देह होजायगा। अतः शारीरधारीपन या सत्त्व आदिक हेतु उस कामपीडितपनको साधनेमें संदिग्ध व्यभिचार हेत्वाभास दोषप्रस्त हैं। तिस कारणसे कोई देन यानी कल्पातीत देन या छीकांतिक देन बिचारे प्रजीचारसे रहित होरहे सन्मवने योग्य ही हैं, जैशा कि उक्त वार्तिकोंमें कहा गया है।

इत्येवं नविभः सुत्रैः निकायाद्यंतरस्य या । कल्पना संशयभात्र केषांचित्तिवराकृतिः ॥ ३ ॥

किन्हीं किन्हीं अजैन विद्वानोंके यहां चार निकायोंके अतिरिक्त दूसरे दूसरे ढंगसे देवोंकी दो ही तीन ही अथवा पांच आदिक ही निकाय यानी गणी हैं। केन्स्या या देवोंके अन्तर्गत भेद, इन्ह्रण्यचन्ना, प्रवीचार आदिकी दूसरे प्रकारोंसे कल्पनायें गढी जारही हैं और किन्हीं किन्हीं पण्डितोंके यहां देवोंकी निकाय, छेन्या, भेद, प्रभेद, आदिका जो संशय होरहा है, यहां चतुर्थ अध्यायकी आदिमें इस प्रकार ही सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने उन सब कल्पनाओं या संशयोंकां निराकरण कर दिया है। अर्थात्—उक्त नौ सूत्रोंके प्रभेपमें अन्याप्ति, अतिब्याप्ति दोष नहीं हैं।

मयमेन सूत्रेण तावत्केषांचिश्विकायांतरस्य कल्पना तत्संदेदः चात्र निराकृतिः । दिती-पेन छेक्पांतरस्य, तृतीयेन संख्यांतरस्य, चहुर्थेन कल्पांतरस्य, पंचमेन तद्पवादांतरस्य, षष्टेने-इसंख्यांतरस्य, सप्तमेनाष्ट्रमेन चानिष्टमबीचारस्य, नवमेन सर्वमबीचारस्येति नवभिः सूत्रैनिका-पाद्यंतरकल्पनसंश्चयनिराकृतिः मत्येतच्या ।

उक्त वार्तिकका विवरण यों है कि यहां चीथे अध्यायमें सबसे आदिके पाहले सूत्र करके तो किन्हीं किन्हीं पुराणकारोंके यहां मानी गयीं देवोंकी दूसरी निकायोंकी कल्पना और दूसरे ढंगकी उन निकायोंका जो सन्देह के रहा है उसका निराकरण कर दिया गया है। " आदितक्षिष्ठ पीतान्त-डेक्याः " इस दूसरे सूत्रकरके भवनत्रिक देवोंमें अन्य पद्म, जुक्छ, डेक्याओंकी निराकृति कर दी गयी है । तथा " दशाष्ट्रपंचद्वादशविकल्पाः कल्पोपपनपर्यन्ताः " इस सूत्र करके तो नियत हो रहीं रश, आठ, पांच, बारह, संख्याओंसे अतिरिक्त संख्याओंकी व्यावृत्ति कर दी गयी है। चौथे " इन्द्र प्रामानिक '' आदि सूत्रकरके दश विध कल्पनाके सिवाय अन्यविकल्पोंका निराकरण कर दिया है। गचर्वे " त्रायक्षिश " आदि सूत्र करके उन दश विकल्पोंके दो निकायोंमें हो रहे अपवादके सिवाय अन्य अपवादोंका निशम कर दिया गया है। छहे " पूर्वयोद्धीन्द्राः " सूत्र करके इन्होंकी उक्त मंख्याके आतिरिक्त संख्याओंका वारण कर दिया है। सातवें, आठवें, " कायप्रवीचारा आ ऐशानात् " और " शेषाः स्पर्शरूपशद्धमनःप्रत्रीचाराः " सूत्रों करके अनिष्ट प्रत्रीचारोंका प्रत्याख्यान किया गया है। नीवें " परेऽप्रवीचाराः " सत्र करके सब कल्पातीत देवोंके प्रवीचारसहितपनका व्यवच्छेद किया गया है। इस प्रकार नौ सूत्रों करके अन्य निकाय आदिकी असम्द्रत या सदसम्द्रत उमय-कोटिस्पर्शी संशयकी निराकृति हो रही समझ छेनी चाहिये। उक्त सूत्रोंके नौ वाक्य सावधारण हैं। कण्ठोक्त कही चाहे न कही, वाक्यमें निना बुलाये ही एनकार द्वारा अवधारण लग बैठता है। " वाक्येऽवधारणं तावदनिष्टार्थनिवृत्तये "।

आदिनिकायसम्बन्धी जो दश विकल्पवाले देव कहे जानुके हैं, उन देवोंकी सामान्य संज्ञा और विशेष संज्ञाका विज्ञापन करनेके छिये श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

भवनवासिनोञ्सरनागविद्यत्सुपर्णाग्निवातस्तानितो-दिधद्वीपदिक्कुमाराः ॥ १० ॥ भवनों में निवास करनेके शीलको धारनेवाले देव भवनवासी हैं। वे १ असुरकुमार २ नागकुमार ३ विश्वतकुमार ४ सुपर्णकुमार ५ अग्निकुमार ६ वातकुमार ७ स्तनितकुमार ८ उदधिकुमार ९ द्वीप-कुमार १० दिक्कुमार इन दश विशेषसंज्ञाओंको धार रहे हैं।

भवनवासिनामकर्मोदये सिव भवनेषु वसनश्चीला भवनवासिन इति सामान्यसंज्ञा प्रथम-निकाये देवानां । अग्रुरादिनामकर्मविश्वेषोदयादसुरकुमारादय इति विश्वेषसंज्ञा । कुमारशब्दस्य प्रस्थेकभिसंबंधात् तेषां कीमारवयोविश्वेषविक्रियादियोगः ।

गति संज्ञक नामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे भवनवासी नामक नामकर्मका। उद्देप होते सन्ते, भवनोंमें निवास करनेकी देववाछे, देव भवनवासी हैं। इस प्रकार पहिले निकायमें यह देवोंकी अखिल विशेषोंमें घटित हो रही सामान्य संज्ञा है। हां, उस भवनवासी नामकर्मके भी उत्तर भेद स्वक्रप अखुर, नाग, आदि विशेष नामकर्मोंका। उदय हो जानेसे अखुरकुमार, नागकुमार, आदिक विशेष संज्ञायें प्रवर्त जाती हैं। '' इन्द्रादी इन्द्राते च श्रूपमाणं पदं प्रत्येक मिसिस्वच्यते '' इस नियम अनुसार अन्तके कुमार श्रद्धका। प्रत्येक अखुर आदिमें पीछे सम्बन्ध जुड जाता है। उन भवनवासी देवोंके कुमार अवस्थामें हो रहे सारिले आयुष्यिवशेष, विकिया करना, वेष, भूषा, आयुध, क्रीडन, यान, वाहन, आमरण, आदिसे अत्यधिक प्रीति होनेका योग है, इस कारण उनको कुमार कह दिया जाता है। मावार्थ—लोकमें भी कई बालकोंका अजितकुमार, भानुकुमार आदि नामनिर्देश कर लिया जाता है। किन्तु वृद्ध अवस्थामें ये नाम शाद्विकोंके यहां उसी प्रकार खटकते हैं, जैसे कि इद्ध विवाह आक्षेप करने योग्य है। नाम परिवर्तनके लिये देवोंमें उतनी आवश्यकता नहीं उपजती है। जितनी कि बुद्धे अजितकुमार आदि मनुष्योंमें है। किन्तु क्या किया जाय ! नामपरिवर्तन करना अभीष्ट नहीं है। यद्यपि सम्पूर्ण देवोंके जनमसे अन्तर्मुकुत्तके पीछे और मरनेके छह मास पूर्वतक भरपूर युवा अवस्था नियत रहती है, फिर भी कुमारोंक समुचित विकिया, वेष, क्रीडापरता आदिमें अत्यधिक प्रेममाव होनेके कारण इनको कुमार शब्दसे कह दिया जाता है।

केचिदाहुः देवैः सहास्यंतीति असुरा इति, तदयुक्तं, तेषामेवमवर्णवादात् । सीधर्मादि-देतानां पहाप्रभावत्वादसुरैः सह युद्धायोगात् तेषां तत्प्रातिकृल्येनायुक्तेवैरिकारणस्य च परदारापहारादेरभावात् ।

कोई कोई पौराणिक पण्डित ऐसा कह रहे हैं कि "देवैः सह अस्यन्तीति असुराः" अदितिके पुत्र आदित्य देवोंके साथ दितिके पुत्र दैत्य यानी असुर सदा छडते रहते हैं। देवोंके साथ युद्धमें प्रहरण आदिकोंको क्षेपते हैं अथवा छडाईमें मारकर देवोंको नदी आदिमें फेंक देते हैं, इस कारण वे असुर हैं। अध्यक्तार कहते हैं कि वह उन स्पृतिकारोंका कथन युक्तिश्च्य है। क्योंकि उन देविक ऊपर इस प्रकार कहते हैं कि वह उन स्पृतिकारोंका कथन युक्तिश्च्य है। क्योंकि उन देविक ऊपर इस प्रकार कहनेपर अवर्णवाद बानी इंद्रा दोष क्या बैठता है। देखों, चौथी निकायके सौधर्म आदिक

वों या अहमिन्द आदि देवोंका महान् प्रभाव है। विचारे अल्पवली अमुरकुमारोंके साथ सौधर्म आदि वोंका कथमिप युद्ध होनेका योग नहीं लग पाता है। दूसरी बात यह है कि जैनसिद्धान्त अनुसार उन ममुरकुमारोंकी उन देवोंके या देवोंकी अमुरोंके प्रतिकृत्वपन करके प्रवृत्ति नहीं होती है। यदि जन्मकल्पाणक मा समवसरण आदिमें प्रवर्तोंगे भी तो अनुकृत्व होकर ही प्रवृत्ति करेंगे। वचन और कायसे तो क्या मनसे भी मित्रकृत्वताको नहीं ठान सकते हैं। तीसरी बात यह है कि परबीहरण या परधनप्रमोष अथवा दूसरेके अधिकृत शिपर स्वाधिकार जमाना आदि चेहायें ही वैरके कारण हैं। इन देवके हेतुओंका अभाव हो नोनेसे देव और अमुरोंमें युद्ध कथमिप नहीं ठनता है। मिध्याक्षानी आमहीजन चाहे कैसी भी झूंठी, मंचीं, कल्पनायें करें, प्रामाणिक विद्वानोंके यहां उन गपोडोंका कोई मूल्य या आदर नहीं है। भन्ने विवोपर झूंठा कलंक लगाना कोई अच्छा थोडा ही है।

अर्थेतेषां भवनवासिनां दश्चानामपि निरुक्तिसामर्थ्यादाधारविश्वेषमितपत्तिरिति मदर्श्वपति।

अब महाराज यह बतलाओ कि इन दशों भी प्रकारके भवनवासी देवोंके भवन कहां है ! सके उत्तरमें श्री विद्यानन्द स्वामी " भवनवासी " इस सामान्य संज्ञावाचक शद्भकी निरुक्तिके साम-यस है। हो रही विशेष आधारकी प्रतिपत्ति बन बैठती है, इस सूत्रकारके रहस्पको भले प्रकार देख लाये देते ह ।

दशासुरादयस्तत्र पोक्ता भवनवासिनः । अभोलोकगतेष्वेषां भवनेषु निवासतः ॥ १ ॥

उन देवोंमें असुरकुमार, आदिक दश भवनवासी देव भन्ने प्रकार कहे गये हैं (प्रतिहा)। ध्योंकि नीचे अधोन्नोकमें प्राप्त हो रहे भवनोंमें इन देवोंका निवास हो रहा है (हेतु)। यो अनुमान तरा भवनवासी शहकी निरुक्तिके अर्थको साध दिया है।

क पुनरघोळोके तथां भवनानि श्रूयंते ? रत्नप्रभायाः पंकषहुळभागे भवनान्यसुरकुणा-तथां, खरपृथिवीभागे चतुर्दश्रयोजनसहस्रेषु नागादिकुमाराणां । तत्रोपर्यधश्रैकैकस्मिन् योजन-प्रहस्रे तद्भवनाभावश्रवणात् । तत्र दक्षिणोत्तराधिपतीनां चमरवैरोचनादीनां भवनसंख्याविश्रेषः रिवारविभवविश्रयश्च यथागमं प्रतिपत्तव्यः ।

फिर महाराज यह बताओ कि अधोछोकमें कहां उन देवोंके मवन सर्वह्रप्रतिपादित शासा त्रारा झत किये जाते हैं ! आचार्योकी ओरसे इसका उत्तर इस प्रकार है कि इस राजप्रमाके दूसरे किंग्डुक भागमें असुरकुमारोंके मवन अनादिकाळीन रचे हुये हैं । और राजप्रभाके पहिके खरण्यियी तम्म जीवह हजार मेजन केट और असंस्थात योजन उन्ते जीके स्थानोंने जनशिष्ट जानकुमार, पुर्याक्तमार, आदि नौ प्रकार भवनवासियोंके भवन हैं। एक छाल अस्सी हजार योजन मोटी रत्नप्रमा पृथ्वीके उत्परके उस सौछह हजार योजन मोटे खरपृथिशी मागमें उपर नीचे एक एक हजार योजन मोटे स्थानमें उनके भवनोंका अभाव आम्नाय हारा सुना जाता है। उन देवोंमें दक्षिणदिशाके अधि-पति और उत्तरदिशाके अधिपति हो रहे चमर, वैरोचन आदि इन्होंके अधिकृत भवनोंकी संख्या और परिवार, विभूतिविशेषको आसोपन्न शाक्ष आम्नाय अनुसार समझ छेना चाहिये। त्रिछोक-स्थार, राजवार्तिक आदि प्रन्थोंमें भवनवासी देवोंके सात करोड बहत्तरछाल भवनोंका निरूपण किया है। देवोंका ऐश्वर्य संख्यात, असंख्यात, योजन छन्ने चौडे विमान, चैयाछय आदिका वर्णन किया गया है। युक्तिवादके प्रदर्शनका स्थछ नहीं होनेसे या अन्य प्रन्थोंमें मिछ जानेके कारण यहां कह देनेपर कोई विशेष अत्यधिक श्रद्धाभाव नहीं उपजनेकी सम्भावना अथवा चमत्कृति-जनक कोई विशेष उपयोगिता नहीं प्रतीत होनेसे यहां प्रन्थिस्तार नहीं किया गया है।

अब श्री उमास्वामी महाराज द्वितीय—निकायसम्बन्धी देत्रोंकी सामान्यसंज्ञा और विशेषसंज्ञाका अवधारण करनेके किये अप्रिम स्त्रको कहते हैं।

व्यंतराः किनरिकं पुरुषमहोरगगंधर्वयक्षराक्षसभूतिपशाचाः

दूसरे व्यन्तरदेव तो किंनर १ किम्पुरुष २ महोरग ३ गंधर्व ४ यक्ष ५ राक्षस ६ मूत ७ और पिशाच ८ इन विशेषसंज्ञाओंको धार रहे हैं।

च्यंतरनामकर्गोदये सित विविधांतरिनवासित्वाद्यंतरा इत्यष्टविकल्यानामिप दितीयिनकाये देवानां सामान्यसंज्ञा । किन्नरादिनामकर्माविश्वेषोदयात् किन्नरादय इति विश्वेषसंज्ञा । किन्नरात् कामयंत इति किन्नराः, किंपुरुषान् कामयंत इति किंपुरुषाः, पिश्वेताश्चनात् पिशाचा इत्याद्यन्वर्थसंज्ञायामवर्णवादमसंगात्, देवानां तथाभावासंभवात् । पिशाचानां मत्स्यादिमप्रतिदर्शनात् पिश्विताश्चित्वसंभव इति चेत् न, तस्याः कीडाप्चरतिमित्तत्वात् तेषां मानसाहारत्वात् ।

गति नामकर्मको भेद, प्रभेद, स्वरूप हो रहे किंनर, किंग्पुरुष, आदि विशेष नामकर्मीका अन्तरंगमें उदय होते संते और बहिरंगमें नाना प्रकारके देशान्तरोंमें निवास करनेवाले होनेसे ये देव ध्यन्तर कहे जाते हैं। दूसरी निकायमें पाये जा रहे आठों विकल्पवाले भी देवोंकी यह सामान्यसंज्ञा अन्वर्थ है। भवनवासी और ध्यन्तरशब्दोंकी निरुक्तिसे ही उक्त देवोंके निवासस्थानोंका निर्णय हो जाता है। असंख्यात विकल्पवाले नामकर्मके उत्तरोत्तर भेदक्रप किंनर आदि विशेष प्रकृतियोंके उदय से हो रही किंनर, किंगुरुष, आदिक यों विशेषसंज्ञायें हैं। जो पौराणिक पण्डित अपनी ध्याकरण-इताको यों कखान रहे हैं कि कुस्सित नरोंकी अभिकाषा रखते हैं, तिस कारण ये देव किंकर हैं, जोडेके

मुख समान मुख होनेसे कुस्सित नर हो रहे रमणकुराङ देवोंकी अनेक देवदेवियोंको अभिकाषा रही आती है । "विम्बोर्ध बहुमनुते तुरंगवक्त्रः" इत्यादि क्रोक करके स्वरचित शिद्यपालक्ष काव्यमें इसी भावको दिखलाया है। और किंग्यरुषोंकी कर रहे हैं, इस कारण किन्पुरुष देव कहे जाते हैं। " पिसितमाचामति या पिशितमस्नाति " इस निरुक्ति द्वारा मांसका मक्षण करनेसे पिशाच हैं। महान सर्पका आकार धारनेसे महोरग हैं, इत्यादिक शद्धनिरुक्ति अनुसार उक्त देवोंकी अन्वर्धसंक्षा माननेपर आचार्य कहते हैं कि बढे भारी अवर्णवाद होनेका प्रसंग आता है। क्योंकि देयोंके तिस प्रकार किस्तरोंके साथ रमण, मांसमक्षण, सर्पचेष्टा, आदिका असम्भव है। देव स्वतः बढे भोगी और सर्वागसंदर हैं। देवोंके वैकियक शरीर अत्यधिक पवित्र हैं। अञ्चद, दुर्गन्व, वृणायोग्य, मनुष्योंके निकृष्ट औदारिक शरीरोंकी वे कभी अभिलाषा नहीं करते हैं। मांस, पद्य, सेवन नहीं करते हैं। यदि कोई यों आक्षेप करें कि पिशाचोंकी मछली, मांस, मदिरा, नैवंद्य आदिमें प्रवृत्ति हो। ही दीखनेसे मांसभक्षण करना उनके सम्भव जाता है। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि कीडाजन्य सुलका निमित्तकारण मात्र वह प्रवृत्ति है। आहारके छिये मत्स्य, मांस, आदिमें प्रकृति नहीं है। क्योंकि उन देवोंके मानस आहार है। मनमें आहारकी अभिलापा उपजते ही झठ कण्ठसे अमृतोपम, सुस्तादु, रस झरकर पूर्ण तृतिको कर देता है। अर्थात्—देवोंमें तीव कषायवान या जीवोंको द:ख देकर भी कीडा करनेवांछ अनेक देव हैं। म्छेच्छ या कसाइयोंके छोकरे मेंडक, चुहा, बर्र, ततैया, चिरैया, पिञ्जा, मळ्ळी, मांसखण्ड, हण्डी आदिके साथ निर्दय होकर बेलते हैं। उसीमें विशेष हर्षका अनुभव करते हैं। विद्रोह कालमें प्रतिपक्षियोंके बालकोंको गैद बनाकर दृष्ट खिलाडियोंका कीडा करना सना जाता है। इस कियाम अनेक बालकोंकी मृत्युयें भी होचुकी हैं। किन्तु कवायवानोंको कोई चिन्ता (परवा) नहीं है। इसी प्रकार कीडा सुखके छिये अनेक मिच्यादृष्टि देव मल्य आदिमें प्रवृत्ति करते हैं। तांत्रिक विद्वान मल्य, मास, आदिको दिखाकर देवोंका परितृप्त होना मानते हुये मत्स्य, मांस, मध, रक्त, मछ, शब आदि द्वारा जीवोंकी मृतबाधाओंको मिटा देते हैं। ये सब कियायें कीहाप्रकृतिक देवोंके सुखनिमित्त भलें ही होजांय. किन्तु आहारसामग्री यह नहीं है। देवोंके मांसमक्षण या मानुष शरीरके साथ रमण अथवा धातुः उपधातु, सन्तानोत्पत्ति आदि स्वीकार कर छेना यह देवोंका सबसे बढा तिरस्कार है। देवोंके छिये इससे बढ़ी गाळी नहीं होसकती है। अतः व्यन्तरोंकी एक संज्ञायें या विधाता नामकर्मकी किनर आदि संबापें रूढि शहमात्र है। पालर्थ उतना ही घटाया जाय जितना कि युक्ति, शास, और बतुमक्से अवाधित होय । दोषको विचारशाळी विद्यान कात मारकर फेंक देते हैं ।

क पुनर्व्यतराणां विविधान्यंतराण्यवकायस्यानाख्यानि यतो निवक्तिसामर्थ्यादेवयामा-वारमतियाचितिसारः। कोई जिज्ञासु पूंछता है कि महाराजजी, फिर बताओ कि इन न्यन्तर देवोंके नाना प्रकारक देशान्तरवर्ती अवकाशस्यान नामके आवास और नगर कहां कहां हैं ? जिससे कि व्यन्तर शब्दकी निरुक्तिके सामर्थ्यसे इन किनरादि देवोंके आधारकी प्रतिपाचि हो सके ? इस प्रकार जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द आचार्य समाधान करते हुथे अग्रिमवार्तिकको कहते हैं।

अष्टभेदा विनिर्दिष्टा व्यन्तराः किन्नरादयः । विविधान्यंतराण्येषामधोमध्यमलोकयोः ॥ १ ॥

श्री उमास्वामी महाराज करके किकर, आदिक आठ भेदवाले ज्यन्तरदेव तो विशेषहरपते नाम मात्रतया उदिष्ट कर दिये हैं | इन ज्यन्तरोंके अधोलोक और मध्यलोकमें अनेक प्रकार अन्तर यानी मक्तपुर, आवास, और भवन, नामके असंख्यात निलय है । द्वीप या समुद्रमें होनेवाले मध्यभाग प्राप्त स्थानोंको भवनपुर कहते हैं । इद, पर्वत, वृक्षोंमें बने हुये ऊर्ध्वगत स्थानोंको आवास कहते हैं, चित्रा, पृथिवीमें बने हुये अधःप्राप्त स्थानोंको भवन कहते हैं ।

अधोकोके तावदीपरिष्टे खरपृथिवीभागे किंनरादीनामष्टभेदानां व्यंतराणां दक्षिणाधि-पतीनां किंपुरुपादीनां चोत्तराधिंपतीनामसंख्येयनगरश्चतसहस्राणि श्रूयंते, मध्यकोके च द्रीपाद्रिसमुद्रदेश्वश्रामनगरत्रिकचतुष्कचतुरस्रग्रहांगणरध्याजलाश्चयोद्यानदेवकुलादीन्यावासञ्चत-सद्ग्राणामसंख्येयानि तेषामाख्यायंते । तदिशेषसंख्यापरिवारविश्रृतिविशेषो यथागमं प्रति-पत्तक्यः पूर्ववत् ।

अघोलोकमें रत्नप्रभाके सोलह हजार योजन मोटे उपरिम प्रदेश सम्बन्धी खरपृषित्री भागमें किनर, सरपुरुष आदिक आठ मेदवाले दक्षिण दिशाके अधिपति हो रहे व्यन्तरोंके निवासस्थान बने हुये हैं तथा खरपृथितीमागमें ही उत्तरदिशाके अधिपति किम्पुरुष, महापुरुष, आदि व्यन्तर इन्होंके असंख्याते छाख नगर विचमान है, ये आप्तोक्त शाखोंद्वारा जाने जा रहे हैं। अर्थात् इस जम्बूदीपसे तिरके असंख्याते हीप समुदोंका उद्धंघन कर परली ओरके द्वीपसमुदोंमें उत्तरके खरपृथिवी भागमें उत्तरदिशाकी ओर किनर, स्तपुरुष आदि सात दक्षिण इन्होंके असंख्याते छाख नगर आदि अनादिकालसे विचमान हैं और इसी प्रकार उत्तरदिशामें किम्पुरुष आदि सात व्यन्तरेन्द्रोंके उतने ही असंख्याते नगर रचे हुये हैं। हां, राक्षसजातीय व्यन्तरोंके आवास तो रत्नप्रभाके चौरासी हजार योजन मोटे पंकबहुल भागमें असंख्याते छाख नगर बने हुये हैं और उत्तरदिशामें रत्नप्रभाके पंकबहुल भागमें उत्तर तीचे एक एक हजार योजन छोडकर मध्यम चौदह हजार योजन मोटे और असंख्याते योजन को एक एक हजार योजन छोडकर मध्यम चौदह हजार योजन मोटे और असंख्याते योजन को एक एक हजार योजन छोडकर मध्यम चौदह हजार योजन मोटे और असंख्याते योजन को स्वाहरण विश्व नी प्रकाह

भवनवासियोंक बाबास बने हुये हैं। रोष बचे हुये असुरकुमार और राक्षसोंके आवास तो पंकबहुछ-भागमें हैं। तीसरे अन्बह्लभागमें तीस लाख नरक हैं। तथा असंख्यात योजन कम्बे, चीडे, और ऊंचर्डमें मेरुसम एक काल चालीस योजन मध्यलोकमें भी दीय, पर्वत, समुद्र, देश, प्राम, नगर, तीन ओर पथवाळा त्रिक, चार और मार्ग जानेवाळे चौक, चौकीर प्रान्त, घर, आंगन, गढी, कंचा. सरोवर, उद्यान (वगीचा) देवस्थान, गुरुकुछ, वसतिका, शून्यगृह, प्राचीन खण्डहर आदिक असंख्याते लाख उन व्यन्तरोंके आवासोंको शास्त्रोंमें वर्णन किया है। अर्थात्—द्वीप, समुद्र, ुआदिमें असंख्याते अकृत्रिम स्थान, अनादिसे, अनन्त, काळतक रचे हुये हैं । हां, गळी, कृंचे, सरीवर, उप-वन, खण्डहर, शून्यगृह आदिमें भी कीडातत्पर न्यन्तरोंके अनेक कृत्रिमस्थान नियंत होरहे हैं। आजकुळ भी अनेक स्थलापर व्यन्तरदेवींका आवास या उपदव होरहा, कवित अनुप्रह हुआ सना जाता है। वह बहुमाग सत्य है। हां, वंचक भूतपुरुषोंने जो मायाजाङ रच रक्खा है अथवा अनेक बालक, बी, पशुओंमें भूतबाधा, (खोर) की आकुळताओंकी जो भरमार छारही है, उसमें तथ्यांस अत्यल्प है। जगतमें भोली भाली जनताको ठगनेके लिय स्थाने तांत्रिक, मांत्रिक, परुषोंने व्यर्धका प्रपंच अधिकतर फैला रखा है। अखण्ड सम्यग्दर्शन सूर्यके विना मिथ्यात्व मोहअंधकारका मला विनाश कैसे होसकता है ! । उन नगरोंकी विशेष विशेष संख्यायें तथा व्यन्तरेन्द्रोंके परिवार या विभृतिविशेषकी आगम अनुसार प्रतिपत्ति कर लेनी चाहिये. जैसे कि पूर्वमें भवनवासियोंके भवनसंख्या परिवार, विभात, आदिको आगम अनुसार समझ छेना स्वीकार कर चुके हो। त्रिछोकसार आदि प्रन्थोंमें इनका विशेष वर्णन मिलता है। भवनवासियोंके सात करोड बहत्तर लाख भवनोंमें एक एकमें असंख्याते देव निवास करते हैं। किन्तु व्यन्तरोंके असंख्याते नगरोंमें संख्याते देव या किसी किसीमें असंद्र्याते देव भी बस रहे हैं। " तिण्णिसय जोयणाणं कदिष्ठिदपदरस्स संखभागमिदे। भौमाणं जिणगेहे गणणातीदे णमंसामि " इस त्रिलोकसारकी गाथा अनुसार उक्तप्विन निकलती है। आवास स्थानोंको समझनेके छिये " विंतरणिखयतियाणि य भक्णपुरावासभवणणामाणि, दीवसमुद्दे दहागिरितरुम्ह चित्तविगिन्दिकमे । उद्दुगया आवासा अधोगया त्रितराण भवणाणि, भवणपुराणि य माञ्चिमभागगया इदि तियं णिक्यं ॥ वित्तवहरादु जावय मेरुदयं तिरियलोयवित्यारं, भोम्मा ह्रवंति मवणे मवणपुरावासगे जोगी ॥ ये तीन गायार्थे उपयोगी हैं । अतीन्द्रिय ज्ञानीकी प्रत्यक्ष होरहे सक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट, पदार्थीमें भी यसपि कतिपय यक्तियोंका प्रवेश है. फिर भी प्रतिवादियोंका विशेष आक्षेप नहीं प्रवर्त-नके कारण और अन्य प्रन्थोंमें विस्तृत कथन होनेसे यहां सविस्तर निरूपण नहीं किया गया है। अत्यधिक मनोहर दश्योंका कितना है। अधिक वर्णन किया जाय. जिनेन्द्रगणकीर्तनके समान वह अस्परंप ही गिना बायगा । अतः प्रथम हीसे संकोचपर संतोष कर केना अच्छा जचता है ।

थव तीस्त्रे निकायकी सामान्यसंज्ञाका निर्देश करनेके क्रिये श्री उमात्वामी महाराज व्यक्ति सूचको शाक्ते हैं।

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रहनक्षत्रप्रकीर्णकतारकाश्च॥

किन देवोंके निवासत्यान हो रहे विमानोंका स्वभाव चमकते रहना है या शरीर, आभरण, बादिमें चमक, दमक, जिनको अमीए हो रही है, वे देव ज्योतिषक इस सामान्यसंज्ञाको धारते हुये सूर्य, चन्द्रमा, और प्रह, नक्षत्र, प्रक्रिणिकतारक इन पांच विशेषसंज्ञाओं की प्राप्त हो रहे हैं। यथिप विमानोंके नाम सूर्य, चन्द्रमा, आदिक हैं । तथापि उनमें निवास करनेवाले देवोंको भी " तात्स्यात्त-क्रम्बासिद्धिः " उसमें ठहरना होनेके कारण इस आधेयको भी उस आधारवाचक शब्द करके उक्त कर दिया जाता है। अर्थात-अ्योतिकदेवों के गण सूर्य १ चन्द्रमा २ प्रह ३ नक्षत्र ४ प्रकीर्णक-सारक ५ इन पांच विशेषजातियोंमें विभक्त हो रहे हैं। इन्द्रस्वरूप एक चन्द्रमा सम्बन्धी विमानोंके परिवारका परिमाण यों है कि एक चन्द्रमाके साथ एक १ सूर्य प्रतीन्द्र है, अहासी ८८ प्रह विमान ੈ। अड्डाईस २८ नक्षत्र विमानोंके पिण्ड हैं। यांनी कृतिका नक्षत्रमें ६ छह तारे हैं, रोहिणीकी पांच तारे हैं। मृगशीर्षमें तीन हैं, इत्यादि तथा छियासठ हजार नौसी पिचत्तर कोटाकोटी ६६९७५००००००००००० तारक विमान है। इस प्रकार मध्यलेकिमें असंख्याते सूर्य और चन्द्रमा है। उन्हींके अनुसार प्रह आदिकोंकी संख्या लगा लेना। ढाई द्वीपमें एक एक चन्द्र-माका उक्त परिवार नियत है। अन्यत्र आगम अनुसार समझ छेना। एक एक ज्योतिष्क विमानमें सैकडों, हजारों, यों संख्याते देव निवास करते हैं। सम्पूर्ण देवोंमें ज्योतिषियोंकी संख्या बहुत बड़ी हुई है। दिन या रातके समय नभोमण्डलमें जो चमकते हुये पदार्थ दीख रहे हैं, वे देत्रोंके नित्रास स्थान हो रहे विमान है। स्वयं देव नहीं हैं। बीचमेंसे काटे गये आवे छड़्द्रके समान ये विमान निचले परिदृष्ट भागमें ढाल् प्रदेशवाले हैं। और ऊपर सपाट, चौरस, भागमें ज्योतिष्क देवोंके प्रासाद उनमें बने हुये हैं। केवळ प्रसिद्ध हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, ही उथीतिष्क नहीं हैं। किन्तु प्रह, नक्षत्र, और उछाछे हुये पुर्चोंके समान अनियत स्थानोंपर विखर रहे अनादिनिधन तारक भी उथीतिष्क हैं। अधवा केवल प्रह आदिक ही ज्योतिष्क नहीं हैं। किन्तु सूर्य, चन्द्रमा, भी ज्योतिष्कों में ही परिग-णित है। यों सुत्रोक्त चकार द्वारा परस्परमें हमुचय कर छिया जाता है।

ज्योतिषि एव ज्योतिष्काः को वा यावादेरिति स्वार्थिकः कः ज्योतिः श्रद्धस्य यावा-दिशु पाठात् । तथाभिषानदर्श्वनात् मकृतिर्ङ्गातिश्वतिः कुटीरः समीर इति यथा ।

धोतन या कान्तिस्वरूप ज्योतिः है। ज्योतिष्क हैं। ज्योतीषि एव ज्योतिष्काः चमक रहीं अनेक ज्योतियां ही ज्योतिष्क हैं। यों नपुंसक्रिंग ज्योतिः शहके बहुवचनान्त रूपवाले विप्रह करके स्वार्थमें क प्रत्य कर ज्योतिष्क शह बना लिया है। "को वा यात्रादेः " इस सूत्र हारा याव, मिन, आदि अनेक शहबाले यावादि गणमें ज्योतिष शहका पाठ होनेसे स्वार्थको ही कहनेवाले क प्रस्थयको लकर ज्योतिष्क सह साबु बना जिया जाता है। कोई आक्षेप करता है कि स्वार्थिक

प्रत्ययवाले पदका लिंग भी प्रकृतिके अनुसार होना चाहिये । जैसे सिंह एव सिंहकः, मृत् एव मृत्तिका, कर्मेंव कार्मणं, यहां प्रकृतिके लिंग अनुसार ही स्वार्थिक प्रत्ययान्त पदोंका भी लिंग वही है। उसी प्रकार अयोतिषु शह नपुंसक्रिंग है। स्वार्थमें क प्रत्यय करनेपर मी अयोतिष्क शह नपुंसक्रिंग ही बना रहेगा, किन्तु यहां ज्योतिष्काः ऐसा पुर्लिंग राद्धस्यरूप सुना जा रहा है। सो क्यों ! इसके उत्तरमें आचार्य कहते हैं कि तिस प्रकार लिंगका अतिक्रमण करते हुये भी शह्वस्थवहार हो रहा ' देखा जाता है । स्वार्थिक प्रत्ययवाले पदका कहीं कहीं प्रकृतिके लिंगसे अतिक्रमण हो जाना कहा गया है । अतः उयोतिष्क शहमें भी उयोतिष् प्रकृतिक लिंग नपुंसकका उल्लंबन होकर पुल्लिंग देव या निकाय शद्भकी विशेषणताको धार रहा ज्योतिष्कशद्भ पुर्छिग हो गया है। जिस प्रकार कि " कुटी-शमीद्भुण्डाम्यो रः " इस सूत्र करके कुटीर शमीर आदि शन्द बना क्रिये जाते हैं । हस्या कुटी कुटीरः, हस्या शमी शमीरः, छोटी कुटिया (सोंपडी) कुटीर है। छोटी शीशोंका पेड शमीर है। यहां बीलिंग कुटी और शमी शहरे स्वार्थमें र प्रत्यय कर पुर्छिग कुटीर, शमीर, शह बना लिये गये हैं। कटी या शमीका हत्यपना उसका निजशरीर ही है । अतः इस्य अर्थको कह रहा र प्रत्यय अवयवोंका छोटापन होते हुये भी स्वार्थको ही कह रहा है। किसी पुरुषके एक अंगुळी कमती होय या बढ़ती होय, एतावता वह विशिष्ट मंत्रसम्बन्धी विधियोंमें भले है। उपयोगी नहीं समझा जाय, किन्तु उपांगदीन या उपांगआधिक पुरुषका निज डील कोई विभिन्न नहीं हो जाता है। इसी प्रकार कृत एव कृतकः तालु एव तालुकः यहां शुद्ध प्रकृतिका जो अर्थ है, वही स्वार्धिक प्रत्ययान्त पदका है। न्यून, अधिक, नहीं है। किन्तु इस्त्रा कुटी कुटीरः, प्रशस्ता मृत् मृत्स्ता, कुत्सितीऽवः अश्वतः, छघुनमो छिप्रष्टः, अंगुजीय आंगुलिकः, यहां अवयवोंके न्यून, अधिक, प्रकृष्ट, निकृष्ट या सादश्य होते हुयें भी स्वार्थि रूपने हा ओई विरोध नहीं है । अतः कुटीर या देव एव देवता, ओषधि-रेव औषवम्, शर्तरैव शार्करम्, यहां भी कारणवश हो रही जिंगकी अतिवृत्तिके समान ज्योतिष्क शद्धमें लिंग का परिवर्तन हो जाता है। यों शद्धशासके साथ अर्थशासका सम्बन्ध समझते हुये न्याय प्राप्त अर्थका प्रहण कर छिया करो ।

सूर्याचन्द्रमसा इत्यत्रानक् देवतादृद्वकः। ग्रहनक्षत्रप्रकार्णकतारका इत्यत्र नानक्। पुनर्दन्द्रग्रहणात्तस्येष्टविषये व्यवस्थानादश्चरादिवत् किनरादिवत् ।

स्विश्व चन्द्रमाश्व इति सूर्याचन्द्रमशी इस प्रकार इन्द्र होनेपर यहां देवता वाचक शहोंकी इन्द्रसमास नामक इति हो जानेशे "देवता इन्द्रे " इस सूत्रकरके आनक् हो जाता है। देवता होनेपर भी प्रहाश्च, नक्षत्राणि च, प्रकीर्णकतारकाश्च, यों इन्द्र करनेपर बन गये प्रइनश्चत्रप्रकीर्णकतारकाः यहां जानक् प्रत्यय नहीं हो पाता है। क्योंकि " आनक् इन्द्रे " इस सूत्रसे इन्द्र इस शब्दकी अनुवृत्ति हो सकती थी। किन्दु क्याकरण सूत्रकारने "देवता इन्द्रे " इस सूत्रमें पुनः इन्द्रप्रहण किया है। वह इन्द्र पद व्यर्थ होकर हापन करता है कि अभीष्ट विषयोंने यह व्यक्तया है, जैसे कि

असर, नाग, विश्वत् इत्यादि सूत्रमें और किसर किम्पुरुष आदि सूत्रमें दवता वाचक पदोंका दन्द्र समास होनेपर भी आनक् नहीं किया गया है। इस कारण पुनः दन्द्रपदके प्रहण करनेसे उस आनक्की इष्ट हो रहे विषयमें व्यवस्था है। महोजि दीक्षितने भी " पुनर्द्रन्द्रप्रहणं प्रसिद्धसाहचर्यस्य परिप्रहार्ये " कहकर इसी अर्थको व्यक्त किया है।

कथं ज्योतिष्काः पंचिवकल्पाः सिद्धा इत्याइ।

यहां कोई तर्भ उठाता है कि सूत्रमें कहे जा चुके पांच विकल्पवाले ज्योतिष्कदेव भला किस प्रकार सिद्ध हैं ! सूर्य, चन्द्रमा, आदि विमान तो प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा प्रतीत हो रहे हैं । किन्तु उनमें रहनेवाले ज्योतिष्क निकायके देवोंका अस्मादश पुरुषोंको प्रत्यक्ष नहीं हो पाता है। ऐसी दशामें देवोंकी सिद्धि किस प्रमाणसे निर्णीत कर ली जाय ! बताओ । यों वैंडी तर्कके उपस्थित होनेपर श्री विधानन्द सामी वार्त्तिक द्वारा इस प्रकार वक्ष्यमाण समाधान वचनको कहते हैं।

ज्योतिष्काः पंचधा दृष्टाः सूर्याद्या ज्योतिराश्रिताः । नामकर्मवशात्तादृक् संज्ञासामान्यभेदतः ॥ १ ॥

दिन या रातको आकाशमें चमक रहे सूर्य आदिक पांच प्रकारके विमान देखे गये हैं। विमान और विमानोंमें रहनेवाछे देव दोनों ही ज्योतिके आश्रय हो रहे ज्योतिष्क निर्णांत किये जाते हैं। तिस तिस जातिके उदयापन्न नामकर्मकी अधीनतासे उन देवोंकी सामान्य और विशेषरूप करके ज्योतिष्क और सूर्य आदि तैसीं संज्ञायें हो जाती हैं।

ज्योतिष्कनामकर्मोदये सित तदाश्रयत्वाज्ज्योतिष्का इति सामान्यतस्तेषां संग्रा सूर्या-दिनामकर्मविशेषोदयात्सूर्याद्या इति विशेषसंज्ञाः । त एते पंचथापि रष्टाः मत्यक्षग्रानिभिः साभ्रात्कृतास्तदुपदेशाविसंवादान्ययानुपपत्तः ।

गातकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रही ज्योतिष्क संद्रक नामकर्मका उदय होते संते उस ष्योतिः (कान्ति) का आश्रय होनेसे देव ज्योतिष्क हैं। इस प्रकार उन देवोंकी ज्योतिष्क यह सामान्यरूपसे संद्रा हो रही है। हां, जीवविषाकी उस देवगित प्रकृतिके उत्तरोत्तर भेद, प्रभेद, हो रहे सूर्य, चन्द्रमा, आदि विशेष नामकर्मों के उदयसे विशेषदेवोंकी सूर्य, चन्द्रमा, आदिक ये विशेषसंद्रायें अनादिकाल्से प्रवृत्त रही हैं। जैसे कि मनुष्यगतिका उसके विशेष कहे गये आर्य, क्लेक्ड, भोगमूमि, आदि पौद्रलिक प्रकृतियोंका विपाक होनेपर हम, तम, आदि जीव मनुष्य या आर्य आदि कहे जा रहे हैं, उसी प्रकार अन्तरंग कारणोंकी भित्तिपर ज्योतिष्कदेव या सूर्य आदिक देवोंकी व्यवस्थायें स्युक्तिक प्रतिभासित हो जाती हैं। अनन्तानन्त सूक्ष्मविषयोंका केवल्डानियोंने प्रत्यक्ष किया है। हां, उपदिष्ठ बार्बोद्दारा साधारणदानी श्रदाल जीव भी जिविष्ठक प्रदार्थोंका क्रावान कर के हैं।

ने प्रसिद्ध हो रहे पांचों भी प्रकारके ये प्रकरण प्राप्त ज्योतिषी देव तो अवधि, मनःपर्यय, और केवक इन प्रत्यक्षज्ञानींको धारनेवाळे अतीन्द्रियदशीं प्रत्यक्षज्ञानियों करके देखे जा चुके हैं। यानी मुख्यप्रत्यक्ष आनोंकरके वे देन विशदक्रपेण साक्षात्कार किये जा चुके हैं। क्योंकि उन प्रत्यक्षज्ञानियोंके उपदेशका अविसम्बादीपना (निर्वाधपना) अन्यथा यानी किसी प्रत्यक्षज्ञानी द्वारा विषयोंका प्रत्यक्ष किये जा चुके विना नहीं बन सकता है। अर्थात् -वर्तमानमें सूर्य, चन्द्र, प्रहणव्यवस्था, विमानोंकी गति, प्रहोंका बारह राशियोंपर संक्रमण आदिको ज्योतिष भिषयके पण्डित ठीक ठीक बता देते हैं। इस दिशासे इतना टेडा, नीकीला, अर्धप्रास, या खप्रास, इतनी देरतका, आदि बखाना गया सूर्यप्रहण पडेगा. या चन्द्रप्रहण पडेगा, अमुक दिन शुक्र अस्त हो जायगा, फलाने दिन बृहस्पतिका उदय होगा. इत्यादि न्यवस्थाओंको यद्यपि ज्योतिषशास्त्र निर्णीत कर देता है, फिर भी उन प्रत्यक्षज्ञानीको धन्य है, जिसने अनादि, अनन्त, काळतक होनेव ली ज्योतिष्क विमानोंकी परिणतियोंका प्रत्यक्ष अवजेकन कर तदनुसार अन्यभिचरित नियमोंको ज्योतिषशासोंमें गूंथ दिया है। प्रत्यक्षज्ञानीको सिद्ध करनेके छिए यह भी बड़ी अच्छी एक युक्ति है। अतः ज्योतिष्क विमान और उनके निवासी देवोंका प्रत्यक्षपूर्वक और तदपदिष्ट आगम प्रमाणोंद्वारा निर्णय कर लिया जाता है। रूपी और रूपवान पदलके साथ सम्बद्ध हो रहे जीवका यथायोग्य प्रत्यक्ष करनेवाले अवधिज्ञानियों और मनःपर्यय ज्ञानियोंको भी देवोंका प्रत्यक्ष हो जाता है। यदि मनुष्य या तिर्थेच जीवोंके जीवित शरीरोंका प्रत्यक्ष होकर उन उन **आत्माओं**का भी उपचारसे प्रत्यक्ष हो जाना अभीष्ट है तब तो देवदेवियोंको भी परस्परमें अधवा स्वयंको भी स्वकीय वैकियिकशरीरोंका इन्दियोंद्वारा प्रत्यक्ष होना अभीष्ट कर किया जाय. कोई क्षति नहीं पढेगी। देव चाहे तो अपने वैक्रियिक शरीरका मनुष्य, तिर्यच या नारिक्योंको भी प्रत्यक्ष करा सकते हैं। विप्रकृष्ट पदार्थोंकी सिद्धि करनेका उपाय इतना क्या थोडा है ! अलम ।

सामान्यतोऽनुमेयाश्च छद्मस्थानां विशेषतः । परमागमसंगम्या इति नादृष्टकल्पना ॥ २ ॥

वर्गादशीं छमस्य जीवोंके अनुमान प्रमाण द्वारा वे ज्योतिक देव सामान्य रूपसे जानने योग्य हैं। और आयुः, शर्मर, केश्या, प्रमाव, आधारस्थान, आदि विशेष रूपोंसे तो ज्योतिषी देवोंको सर्व-बोक्त परम अमगमप्रमाण द्वारा मळे प्रकार समझ छेना चाहिये। इस कारण सूत्रकार द्वारा कहे गये ज्योतिक देवोंकी व्यवस्था पह अदृष्ट या अप्रमाणिक पदार्थकी कल्पना नहीं है। छ्यास्य जीवोंके प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण विचारे अल्प पदार्थोंमें ही प्रवर्तत हैं। इनसे अनन्तानन्त गुना प्रमेय अत-कृष्ण या केश्यक्षान द्वारा निर्णय करनेके छिये अवाशिष्ठ पढ़ा रहता है। कृपमण्ड्यबुद्धिसे पदार्थोंका निर्णम नहीं हो पता है। समुद्धंसक्ति उद्युष्ट कृष्टियोंसे क्रिकेक, त्रिकाववर्ती क्रिसूत पदार्थ परिकास कर किये जाते हैं। हां, अप्रामाणिक, विसम्बादी उपदेशोंसे सदा यसते रहना चाहिये। नहीं तो अक्षानकृपमें पतन होना अनिवार्य समझो।

अब भी उमास्वामी महाराजं विशेषतया अयोतिष्क विमानोंकी और विमानोंके साथ हो रही अ्योतिष्क देवोंकी गतिके विशेषका प्रतिपादन करनेके क्लिये प्रवचनैकदेश अप्रिम सूचका उचारण करते हैं।

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो चलोके ॥ १३॥

ढाई द्वीप और दो समुद्रों के समुद्रित स्थानस्वरूप पैताछीत छाख योजन छम्बे, चौढे, गोळ मनुष्य छोकमें (के ऊपर) ज्योतिष्क देव सुदर्शन मेहकी प्रदक्षिणा करते हुये, विश्वान्ति छिये विना सतत अमणरूप गतिको करते रहते हैं। आधार और आध्यमें एकताका उपचार कर छेनसे ज्योतिष्क देवों करके आरूढ हो रहे विमान अमण करते रहते हैं, यों सूत्रका अर्थ कर छेना चाहिये।

ज्योतिष्का इत्यनुवर्तते । वृलोक इति किमर्थमित्यावेदयति ।

पूर्वसूत्रसे " ज्योतिष्काः " इस पदकी अनुदात्ति कर की जाती है। अतः इस सूत्रका यह अर्थ हो जाता है कि मनुष्यकोक्तमें मेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे नित्य गतिबाले ज्योतिष्क देव हैं। कोई विनीत श्रोता प्रश्न करता है कि श्री उमास्त्रामी महाराजने सूत्रमें " चुलोके " इस प्रकार अधिकरण वाचकपद किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिय प्रयुक्त किया है। ऐसी जिहासा प्रवर्तनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी शिष्य प्रबोधनार्थ अप्रिमवार्तिकका आवेदन कर रहे हैं।

निरुक्तावासभेदस्य पूर्ववद्गत्यभावतः । ते चलोक इति प्रोक्तमावासप्रतिपत्तये ॥ १ ॥

पूर्वकी दो निकार्ये हो रहे भवनवासी और व्यन्तरोंके समान शब्दनिरुक्ति द्वारा ज्योतिषियोंके विशेष आवास स्थानोंकी ज्ञाति नहीं हो सकती है। अतः उथोतिषियोंके आवासकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सूत्रकारने " तुलोके " ऐसा अधिकरण ठीक कहा है। अर्थात्—भेरुकी प्रदक्षिणा देते द्वये नित्यगतिको कर रहे वे ज्योतिष्क देव मनुष्यलोकमें ही हैं। यद्यापे सुलोकसे बाहर भी असंख्याते ज्योतिष्क हैं। किन्तु वे नित्यगतिमान् नहीं होते द्वये स्थिर हैं। इस कारण नित्यगतिवाले ज्योतिष्क और नुलोक इन दोनों पदोंमें एवकार लगाकर अनिष्ट अर्थकी व्यावृत्ति कर छेनी चाहिये। एवकार लो चिना कहे ही बीचमें कूद पडता है।

न हि ज्योतिष्काणां निरुक्त्यावासमिवपित्रभैतनवास्यादीनायिवास्ति यतो हुस्नोकः इत्यावस्त्रमतिप्रपर्ये नोष्यते क पुनर्श्वकोके नेपामाबासाः भूगते । मवनवासी आदि देवोंके शहानिक्षि करके जैसे निवासस्थानोंकी प्रतिपत्ति हो जाती है, अर्थात् मवनोंमें निवास करनेकी टेव रखते हुये भवनवासी हैं और विविध देशान्तरोंमें अवकाश पा रहे व्यन्तर हैं, विमानोंमें निवास कर रहे वैमानिक हैं, इस प्रकार व्योतिष्क देवोंके निवास स्थानोंकी परिष्कित्ति केवळ " क्योतिष्क " शब्दकी निक्कि कर देनेसे नहीं हो पाती है जिससे कि ज्योतिषियोंके निवासस्थानोंकी प्रतिपत्ति कराने के छिथे सूत्रकार द्वारा " मुखोके " यह नहीं कहा जाय ! क्योतिष्क शह तो केवळ धुति, प्रकाश, या जमकना मात्र स्वमावोंका प्रतिपादन कर रहा है। किन्तु यहां क्योतिष्योंके आवासका परिज्ञान कराना अत्यावश्यक है। कोई नम्न श्रोता पूछता है कि मनुष्यकोकों उन क्योतिष्कोंके नियत हो रहे आवासस्थान फिर कहां शाख द्वारा शांत किये जा रहे हैं। बताओ, ऐसी बुमुत्सा होनेपर श्री विधानन्द आचार्य अप्रिम वार्तिकोंको कहते हैं।

अस्मात्समाद्धराभागादुर्धं तेषां प्रकाशिताः । आवासाः ऋमशः सर्वज्योतिषां विश्ववेदिभिः ॥ २ ॥

जगद्वर्ची सम्पूर्ण पदार्थोका साक्षात् वेदन करनेवाछे केवछज्ञानी मदाराजने बादी, प्रतिवादी या बक्ता श्रोताको पश्चिष्ट हो रही इस रत्नप्रमा भूमिके समतल भागसे ऊपर स्थानोंमें उन सम्पूर्ण ज्योतिषी देवोंके आवासस्यानोंको यों वस्यमाण प्रकार करके क्रम कमसे प्रकाशित किया है। अर्थात् - छट्ठे दु:पमा काल्के अन्तमें चल्नेवाले संवर्तक नामा बायु करके इस आर्यखण्डके गिरि, कुक्ष, भूप्रदेश ये सब कार्य नष्ट अष्ट हो जाते हैं। एक हजार पोजन नीचे तक भूमि चक्रनाचर हो जाती है। ऐसी दशामें नाप बिगड जाता है। अतः समतल भूभागसे यानी सदरीन मेरुकी जड़से ठीक एक इजार योजन ऊपर जम रही मध्यलोक न्यापिनी इस विचमान इत्य-मान चित्राभूमिक ऊपर तस्त्रे योजनोंको नापकर अयोतिष्क विमानोंका विन्यास हो रहा समझ छेना चाहिये तथा क्वणसमुद्रका जल इस चित्रा भूमिक समतलसे जलहानि दशामें ग्यारह हजार और जल्हाद्वी दशामें सोलह हजार योजनतक ऊंचा ठठ रहा है, अवगतमुद सम्बन्धी सूर्य, चन्द्रमा, आदि तो जलमें ही घूमते रहते हैं। कोई आतुर पण्डित जलके उपरिमतलमें स्योतिषियोंको ऊंचा नहीं नाप बैठे इसकिए प्रथिवीके "समभागते ऊपर" यह प्रन्यकारका बाक्य सामिप्राय है। गणित शासक्रोंको एक एक अंगुल यहांतक कि एक एक प्रदेश, एवं शून्य बिन्द्र आदि तकका लक्ष्य रखना पडता है। इस प्रत्यको सुनने समझनेषाले यदि गृहें की छतपर बैठे हुये हों या कई सीढियां चढकर ऊपरके स्थानोंमें बैठे इये हैं अधवा कालदोषसे इये चित्राभूमिक मीचे उंचे प्रदेशीयर विराज रहे होंय ती देसी दशामें नाप करनेवाडे ठीक ठीक नाप नहीं कर पार्येंगे। अतः गणितहोंका सूक्य छव कराने के जिपे घराके समस्त भागको प्रव अपादान नियत कर दिया है। बजास्मिके उपरिव्यानके जीक व्या क्ष्मार योजन जेवा विकासा अवस्था समसंख है। यह, यह ही जनसर केंट जाकी

योजनानां शतान्यष्टौ हीनानि दशयोजनैः।

उत्पत्य तारकास्तावचरंत्यध इति श्वतिः॥ ३॥

ततः सूर्या दशोत्पत्य योजनानि महाप्रभाः।

ततश्रंद्रमसोशीतिं भानि त्रीणि ततस्रयः॥ ४॥

त्रीणि त्रीणि बुधाः शुका गुरवश्रोपरि कमात्।

चत्वारोगारकास्तद्वचत्वारि च शनैश्रराः॥ ५॥

इस चित्रा पृथिवीसे दश योजनों करके हीन होरहे आठती यानी सातसी नन्ने ७९० योजन मोंके ऊपर उछछ कर आकाश मण्डलमें सबसे पहिन्ने तो तारे गमन कर रहे देखे जाते हैं। जो कि सम्पूर्ण ज्योतिषियोंके निचले भागमें विचरण करते हैं, ऐसा शासवाक्य है। उन तारोंसे दश योजन उपर उन्नर देखा जाय तो महती प्रभाको धार रहे सूर्यविमान चर रहे हैं। उन सूर्यविमानोंसे अस्सी योजन उत्पर उठ्ठ कर वर्तरहे किश्व पदार्थको देखा जाय तो उन आकाश प्रदेशोंमें चन्द्रमा गमन कर रहे प्रतीत होते हैं। उन चंद्रविमानोंसे तीन योजन ऊपर अश्चिनी आदि नक्षत्र विमान भगण कर रहे हैं। उन नक्षत्रोंसे तीन, तीन, योजन ऊपर उछछ कर क्रमसे बुध, शुक्र और बहस्पति प्रहोंके विमान रचित हैं। उसी प्रकार यानी उस गुरुसे चार योजन उत्पर उसक कर मंगल विमान है। उससे चार योजन ऊपर चल कर शानिश्वर प्रह चर रहे हैं। त्रिलोकसारमें " णउदुत्तर सत्तसये दस सीदी चदुदुगे तिथच उक्के, तारिणतिनिरिक्खबुद्दा सुक्कगुरुंगारमंदगदी " देसा पाठ है। और राजवार्तिकमें " णवदुत्तर मत्तवया दससीदीबदुतिगं च दुगचदुकः, ताराधिवसि-रिक्खा बहुभगगवगुरुअंगिरारमणी '' इस गःथाको उक्तं च कहकर उच्दृत किया गया है। सर्वार्धसिद्धिः त्रिकोकसार और अतसागरीका मत एकसा बैठ जाता है। किन्तु श्री शियानन्द स्वामीका मन्तन्य राज-बार्चिकके कथित अनुसार है। यानी राजवार्ति धर्मे चन्द्रमा के तीन योजन ऊपर नक्षत्रींका अमण माना है, जब कि त्रिलोकसारमें चन्द्रमाओं के चार योजन ऊपर नक्षत्रोंका अमण माना गया है। इसी प्रकार अन्य बुध आदिमें अन्तर समझ छेना चाहिये। यो आम्नायके भेदका जैसे अन्यन्न निवारण कर किया जाता है उसी प्रकार यहां भी प्रन्यकत्तीओंके गुरुपरिपाटी द्वारा स्मरण रहे यथायोग्य प्रमेय बानुसार आगमवाक्योंका श्रद्धान कर छेना चाहिये तिसही कारण प्रन्यकार यहां आगमप्रमाणकी प्रधानता अनुसार '' श्रांति '' ऐसा शद्ध छिल रहे हैं। एकसी दश योजनोंकी सुटाई अविरुद्ध है। जिल स्थानीपर ज्योतिष्क मण्डल स्थिर है वहां भी उक्त क्रमसे ही रचनायुक्त होरहा है और महुष्य क्रेक्ने भगण कर रहा भी इसी उक्त विन्यासको धार रहा है।

वरंति तादशादृष्टविशेषवशवर्तिनः । स्वमावाद्वा तथानादिनिधनादुद्रव्यरूपतः ॥ ६ ॥

स्तर्यं आदि विमानोंमें निवास कर रहे ज्योतिष्क देव तिस जातिक अराष्ट्रविशेषके पराधीन वर्त को सन्ते अमण कर रहे हैं। अथवा अनादि, अनन्त द्रव्य रूपसे तिस प्रकारका स्वभाव होनेसे मनुष्य छोकमें वे विचरते रहते हैं तथा बाहर स्थित बने रहते हैं। परिशेषमें सबसे अच्छा सिद्धान्त पही है कि जीवन, मरण, चलना, ठहरना, पृथित्रीकी स्थिरता, बायुकी चंचलता, गुरुपदार्थका अधःपतन-स्वभाव, छोककी स्थिरता, आकाशकी व्यापकता, कालहव्यका अग्रपरिमाग, जीवोंका चेतनल, पृहुङ द्रव्यका जडल, नरकोंमें दु:खोरपादक कारणींका सद्भाव, स्वर्गीमें संस्रोत्पादक सामग्री, मुक्ति अवस्थामें अनन्त सुख, ये व्यवस्थायें अनादिनिधन द्रव्यके निजगांठके स्वभावों अनुसार व्यवस्थित हैं । तुलोकमें ज्योतिषियोंका भ्रमण और नुहोक्ते बाहर असंख्याते ज्योतिषियोंका वहांके वहां बने रहना निजगाठकी परिणतियोंपर अक्छान्वत है। अमण और गमन दोनोंके छिये कारणोंका इंडन। एकसा आवश्यक है। जीवन और मरण दोनों ही सकारण हैं। कार्यकारणभाव के वेत्ता विद्वानों के यहां उत्पाद, व्यय और स्थिति तीनोंको कारणजन्य माना गया है। ज्योतिकोंको भ्रमण करानेके छिये जितने शक्तिशाखीकी भावस्थकता है उतना शक्तिशाछी कारण उनको स्थिर रख सकता है। कचित वह कारण बहिरंग भी होता है। किन्तु बहुमाग स्थलोंमें अन्तरंग है। कारण प्रधान माना गया है। धर्म, अधर्म, दोनों द्रव्योंकी शक्ति समान है उत्कट रीद्रप्यान और प्रकृष्ट शुक्लप्यानकी शक्ति तील्में बरावर है। एक सातवें नरकमें पहुंचा देता है, दूसरा मोक्षमें घर देता है। ज्योतिष चक्रको ठहराये रखनेमें अल्पबल कारणसे कार्य होजाय और ज्योतिष चक्रका अमण करानेमें महान् शक्तिशाली कारण उपयोगी होंय ऐसा चित्तमें नहीं भार छेना चाहिये। सत्रार, सामायिकी, वातवछय आदि करके घोडा, मन, लोक, शुक्र, अस्पि, संकीय पाठ आदि तो एकाम धारे रखनेमें बडी शक्ति लगानी पडती है। अतः प्रकरणमें ज्योतिष्क विमानोंका परिश्रमण अनादि निधन द्रव्यरूप स्त्रभावसे निर्णीत कर दिया है। यह समाधान बहुत बढिया रुचिकर है। सभी दार्शनिकोंको इसी समाधानपर मस्तक हुकाना पडेगा।

एष एवं नभो भागो ज्योतिः संघातगोचरः। बहुलः सदशकं सर्वी योजनानां शतं स्पृतः॥ ७॥

अ्योतिक विमानोंके या तासम्बन्धी देवीके समुदायका विषय हो रहा यह आकाश भाग ही सर्व दशस्त्रित सी योजनोंका मोटा सिदालता ऋषियोंकी परिपाटी अनुसार स्मरण किया जा रहा है। अर्थात् व्यव सम मामसे सात सी नव्ये वहे योजन उत्पर चळकर अ्योतिक चक्रका प्रारम्भ हो जाता है। १०+८०+६+३+१+१+४+१००११० यो मध्यकोक सम्बन्धी एक सी दश योजन

मोटे सबरे आकाशमें वे इस दी सी छन्पन प्रमाणांगुळाँके वर्गका जगछतर प्रदेशोंमें भाग देनेपर प्राप्त हुई संख्या प्रमाण क्योतिकी देव या उन देवों के संख्यातवें भाग प्रमाण क्योतिक विमान निवस रहे हैं। एक एक विमानमें हजारों, छाखों यों संख्याते देव रह जाते हैं। जैसा कि श्री नेमिचन्द्र सिदान्त चक्रवर्चीन सम्पूर्ण विमानों में अकृतिम बन रहे अनादि अनन्त अकृतिम चैत्याळ्योंको इस गाया करके नमस्कार किया है। " वेसदछन्पण्णंगुळ कदिहिदपदरस्स संखमागिमदे, जोइसजिणंदगेहे गणणातीदे णमंसामि"।

स घनोदिधपर्यंतो नृलोकेऽन्यत्र वा स्थितः । सिद्धस्तिर्यगसंस्यातद्वीपांभोधिप्रमाणकः ॥ ८॥

और वह ज्योतिक विमानोंका ज्यूह मनुष्य छोकमें अथवा मनुष्य छोकसे बाहर भी तिरहा असंख्यात द्वीप और असंख्याते सम्पूर्ण समुद्रप्रमाण छम्बा, चौडा, होकर घनोदि पिर्यन्त ज्यवस्थित हो रहा सिद्ध है। अर्थात् — मध्यछोकस्थ त्रसनाछी सम्बन्धी एक सौ दश योजन मोट आकाश मागमें पूर्व, पश्चिम, बारह योजन मोटे बातवळयको छोडकर छोकपर्यन्ततक फैछा हुआ है। और दक्षिण, उत्तरमें, त्रसनाछीतक अ्योतिषचक स्थित है। यानी सात राज् छम्बा, एक राज् चौडा, और मेरुसम एक छाख चाछीस योजन ऊंचा मध्यछोक है। दक्षिण और उत्तरसे तीन तीन राज् स्थावर छोकके मागको घटा कर इसके ठीक बीचमें एक राज् छम्बा, एक राज् चौडा, त्रसनाछीका भाग है। उस त्रसनाछीमें पूर्व और पश्चिम बारह योजन मोटे वातवळय प्रमाण कमती एक राज् चौडे और उत्तर दक्षिणमें पूरे एक राज् छम्बे तथा एक सौ दश योजन उत्तर निचे मोटे चौकोर आकाश प्राक्गणमें ज्योतिश्वक प्रतिनियत है। मध्यछोक सम्बन्धी पूर्व, पश्चिम, छोकप्रान्तमें पांचयोजन मोटे पहिछे घनोदिधिवातपर्यंत अ्योतिश्व विमान फैळ रहे हैं। हां, दक्षिण, उत्तरकी ओर त्रसनाछीसे घनोदिध बात निकट नहीं है। तीन तीन राज् दूर है।

सर्वाभ्यंतरचारीष्टः तत्राभिजिदथो बहिः । सर्वेभ्यो गदितं मूळं भरण्योधस्तथोदिताः ॥ ९ ॥ सर्वेषामुपरि स्वातिरिति संक्षेपतः कृता । व्यवस्था ज्योतिषां चिंत्या प्रमाणनयवेदिभिः ॥ १० ॥

नृष्ठोक सम्बन्धी उस ज्योतिष्क मण्डलमें सम्पूर्ण स्वकीय ज्योतिष्क विमानोंके अभ्यन्तर (भीतर) चरनेवाला अभिजित नामको नक्षत्र इष्ट किया गया है और अपने अपने हीप या समुद्रसम्बन्धी सम्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलके बहुर चर इस मुख्नालका नक्षत्र वहा नवा है। विसी प्रकार सम्बं नीचे भरणी नक्षत्र सम्बन्धी पांच तारे चर रहे कहे गये हैं तथा सबके ऊपर स्वातिनक्षत्रका एक तारा चर रहा है। विशेष यह है कि यहां सर्व शब्दसे यदि सन्पूर्ण ज्योतिक मण्डल अभिप्रेत है तब ती सबसे मीचे तारे और उत्तमे तिरानवे योजन ऊंचे नक्षत्र तथा सबके ऊपर शनिश्वरको कहनेवाले सिद्धान्तवचनका इस भरणी नक्षत्रको सबसे नीचे और स्वाती नक्षत्रको सबके ऊपर कहनेवाछे सिद्धा-न्तको अपवाद कथन समझा जाय । हां, यदि " उत्तरदक्षिण उद्गा-धोमञ्हो आमिजिमूळसादीय, भरणी कित्तिय रिक्खा चरित अवराणमेर्वे तु " इस त्रिलोकसारसम्बन्धी गाथाकी " अथाकारो चरतां कियमक्षत्राणां दिखिभागमाह " " अब श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती कितने ही एक नक्षत्रोंकी दिशाके विभागको कहते हैं " इस श्री माध्यचन्द्र त्रैतिषक्षत उत्यानिका अनुसार केवल नक्षत्रोंका ही दिग्विभाग मानना अभीष्ट होय, तब सर्व नक्षत्रोंके अधः (भीतर) भरणी और सर्व नक्षत्रोंके ऊपर स्वाती नक्षत्रके विचरनेकी व्यवस्था ठीक बैठ जाती है। यों सम्पूर्ण ज्योतिक मण्डलके नीचे तारायें. मध्यमें नक्षत्र, ऊपर शनिश्वर प्रह, इस सिद्धान्तकी रक्षा भी होजाती है। अभिजितको भीतरकी ओर और मूळको बाहरकी ओर मले ही सन्पूर्ण नक्षत्रोंकी अपेक्षा या सन्पूर्ण ज्योतिष्क मण्डलकी अपेक्षा भी कह देनेसे कोई विरोध नहीं आता है। इस प्रकार संक्षपते ज्योतिष्क विमानोंकी यह स्मरण अनुसार आगमोक व्यवस्था कर दी गयी है। प्रमाण और नयके वेत्ता विद्वानों करके ज्योतिषियोंकी अन्य विस्तृत व्यवस्थाका भी उपरिष्ठात चिन्तन कर छेना चाहिये। प्रन्थकर्त्ताके एक एक अक्षरपर तर्क-बादका बक्त्वर चढवानेके लिये उत्प्रक बैठे इये प्रतिवादियोंके एम्मुख विप्रकृष्ट विषयोंका इतना ही निरूपण करना पर्याप्त है । श्रद्धाल श्रोता अन्य विधानन्द महोदय, त्रिलोकसार, आदि प्रन्योंसे अपनी विस्तृत अभिळाषाको परितृप्त करें।

मेरुमदक्षिणा नित्यगतय इति वचनात् किमिष्यत इत्याइ।

कोई जिज्ञास प्रश्न करता है कि ज्योतिष्क देवोंके छिये सुदर्शन मेरुकी प्रदक्षिणा देते रहना और नित्य गतिमान् बने रहना इस सूत्र प्रतिपादित वचनसे श्री उमाखामी महाराजको कौनसा प्रमेय अमीष्ट हो रहा है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्द स्वामी समाधान बचनको कहते हैं ।

> मेरुपदक्षिणा नित्यगतयस्त्वित निवेदनात्। नैवापदक्षिणा तेषां कादाचित्कीष्यते न च ॥ ११ ॥ गत्यभावोपि चानिष्टं यथा मूश्रमवादिनः। मुबो श्रमणनिणीतिविरद्दस्योपपतितः॥ १२ ॥

्ड्स सूर्वमें कहे गये समूर्ण पद इताका व्यवच्छेद करते हुये सफल हैं, निरर्थक नहीं । देखों, नेककी प्रदक्षिणा करते हुये ज्योतिका निर्ध गतिकाले हैं, इस प्रकार सूत्रकर्ण करके निष्टन करनेये तो उन ज्योतिष्क देवोंकी गति प्रदक्षिणारहित नहीं हो पाती है और कभी कभी होनेवाली गति भी इह नहीं की गयी है तथा ज्योतिष्क विमानोंकी गतिका अमाव भी अनिष्ठ है, जैसा कि ज्योतिष्कींका गत्यमाव भू का अमण कहनेवाले विदान मान रहे हैं। क्योंकि पृथिवीका अमणरहितयना युक्तियोंके निर्णात हो चुका है। अर्थात — मेरु ब्रह्मिणा राज्यसे ज्योतिष्कों के प्रदक्षिणारहितयनकी ज्यावृत्ति कर दी गयी है। गति होनेमें नित्यपना लगा देनेसे बहुत दिनोंतक स्थिर ठहरते हुये ज्योतिष्कोंके कभी कभी गति कर लेनेका ज्यवच्छेद कर दिया है। पृथिवीका अमण माननेवाले आर्यभट या यूरफ, अमिका, इंटलीनिवासी कितियय आधुनिक विद्वानोंने ज्योतिष चकको स्थिर मानकर सूर्य आदिमें गतिका अभाव इह कर लिया है। ज्योतिष्कोंकी गतिका प्रतिपादन करते हुये सूत्रकारने व्योतिष्चकको गत्यमाव और पृथिवीके अमणकी ज्यावृत्ति कर दी है। क्योंकि उन विद्वानोंके बूते भू का अमण निर्णात नहीं हो सका है। और प्रत्यकारने तृतीय अध्यायमें पृथिवीके अमणरहितपनका सुक्तियोंसे निर्णय कर दिया है।

न हि मत्यक्षतो भूमेर्भ्रमणनिर्णीतिरस्ति, स्थिरतयैवानुभवात् । न चार्य भ्रांतः सकतः देशकालपुरुषाणां तद्भ्रमणामतीतेः । कस्यचिकावादिस्थिरत्वानुभवस्तु भ्रांतः परेषां तद्रमनानुभवन वाधनात् ।

प्रत्यक्ष प्रमाणों ते इस अचला भूमिक अमणका निर्णय नहीं हो सकता है। क्योंकि स्पाईन प्रत्यक्ष. चाक्षच प्रत्यक्ष तथा स्थिर भूमि के होते सन्ते हो रही असम्ज्ञान्त (अन्याकुछता) को धारनेवाछे मनसे हुवे प्रत्यक्षप्रमाणों करके भूमिका स्थिरस्यरूप करके ही अनुभव हो रहा है। यह अनुभव होना अमहान नहीं है। क्योंकि सम्पूर्ण देश और कालमें वर्त रहे पुरुषोंको उस भूमिका अमण प्रतीत नहीं होता है। देखो सीपमें इआ चांदीका ज्ञान या मृगत्य्यामें हुआ जलका ज्ञान तथा शुक्लशंखमें पीतत्वका ज्ञान अवासित नहीं है। अनेक देश कातिपयकाल और कई सम्वादी पुरुषोंकी अपेक्षा बाधा उत्पत्ति होजानेपर पूर्वज्ञान आन्त माने जाते हैं । किन्तु सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण काल और सम्पूर्ण पुरुषोंकी अपेक्षा अवाधित होरहा प्रधि-बीकी स्थिरताका ज्ञान कथमपि भ्रान्त नहीं है। यदि भूभमणवादी पण्डित यों कहें कि अनम्बस्त किसी नगरके नीचे वहनेवाली नदियां या समदमें नावके ऊपर किसीको अमण करनेका अवसर मिळ जाता है, उस मुख्यबुद्धि पुरुषको चलती हुयी नात्र तो स्थिर प्रतीत होती है और नसर या समुद्रतह अमण करते हुये दृष्टिगोचर होते रहते हैं। दिशाकी आन्ति भी होजाती है। असे प्रकार प्रियविक अमण होनेपर भी सूर्य आदिकी स्थिर दशामें हम स्थूल बुद्धि पुरुषोंको पृथिविक स्थित्वका अनुभव हो जाता है, जो कि भ्रान्त ज्ञान है। प्रन्यकार कहते हैं कि यों किसी किसी असंज्ञी सारिखे पेंगा पुरुषको चल रहे नात्र, वायुमान, रेलगाडी आदिके स्थिरपनका हो रहा अनुभव तो भ्रान्त है। क्योंकि दूसरे विचारशील पुरुषोंको उन नाव आदिके नमनके हो रहे अनुभव कारके उस अनुभवकी नाथा कर दी जाती है। किन्तु प्रथिवीकी स्थिरता तो. समूर्ण देश, समूर्ण

और अखिल पुरुषोंके यहां बाधारहित हैं। यों प्रत्यक्षप्रमाणसे भूभ्रमणका निर्णय नहीं हो सका। अतः आर्यमद्द पण्डितने जो यह कहा है। "अनुलोम गतिनेंक्यः पश्यत्यच्छं तिलोमगं यदत्, अचलानि भानि तद्वत् अमपश्चिमगानि लक्ष्कायाम् " नात्रमं बैठा हुआ अनुकूल सीधा जा रहा मनुष्य किनारेके स्थिर हो रहे बुक्ष, पर्वत, आदि पदार्थोंको जैसे उल्ली ओरको चलता हुआ देखता है, उसी प्रकार लंकामें अचल ज्योतिष्क मण्डलको पश्चिमकी ओर चलते हुये देखता है। यह आर्यमहका कहना प्रत्यक्षविरुद्ध है। दृष्टान्त विषम है।

नाप्यतुमानतो भूश्रमणिविनिश्चयः कंर्तु सुशकः तद्दिनाभावित्रिंगाभावात् । स्थिरे भचके सूर्योदयास्तमयमध्यान्हादिभूगोलक्ष्ममणे अविनाभावित्रिंगमिति चेन्न, तस्य ममाणवा-धितविषयत्वात् पावकानौष्ण्यादिषु द्रव्यत्वादिवत् । भचक्रश्रमणे सति भूश्रमणमंतरेणापि सूर्योदयादिमतीत्युपपत्तश्च । न तस्मात् साध्याविनाभाविनयमिनश्चयः । मतिविहितं च मपंचतः पुरस्तात् भूगोलक्ष्ममणमिति न तद्वलंबनेन ज्योतिषां नित्यगत्यभावो विभावियतुं शक्यः । नापि कादाचित्कीच्यते गतिर्नित्यग्रहणात् ।

तथा अनुमानप्रमाणोंसे भी भूभ्रमणका विशेषतया भे व्रकार निश्चय नहीं किया जा सकता है। क्योंकि उस भूत्रमणरूप साध्यके साथ अविनाभावको धारनेवाले ज्ञापकिलगका अभाव है। भू के भ्रमण और ज्योतिश्वन्नकी स्थिरता मान छेनेपर होनेबाले दिन, रात, प्रदण, राशिसंन्नमण, आदि कार्य तो पृथिवीकी स्थिरता और ज्योतिष्कोंका अमण माननेपर भी सुळमतया उपपन हो जाते हैं। यदि ज्योतिष्क मण्डलको स्थिर माननेवाला यों कहै कि नक्षत्र मण्डलके स्थिर होनेपर और भूगो-लका अमण होते सन्ते स्थिका उदय होना, सूर्यका अस्त होना, मध्याह (द्वपहर) होना, प्रहण पड जाना आदि ही अविनामात्री लिंग हैं। प्रन्थकार कहते हैं, यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस लिंगके साध्यरूप विषयकी प्रमाणोंसे बाबा प्राप्त हो जाती है। जैसे कि अग्निमें अनुष्णता, अदाहकता आदिकी सिद्धि करनेमें प्रयुक्त हुये द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, आदि हेतु वाधित हेत्वाभास हैं । इसी प्रकार तुम्हारे भूक्षमणके लिंगके विषय हो रहे साध्यकी प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा बाधा उपस्थित हो रही है। दूसरी बात यह है कि ज्योतिष्कचक्रका अमण होते सन्ते भूअमणके विना भी सूर्योदय, सूर्यास्तता आदिकी प्रतीति होना युक्तियोंसे सब जाता है। इससे भी भूका अमण सिद्ध नहीं हो पाता है। तिस कारण हेत्का साध्यके साथ अविनाभाव बन जानास्वरूप नियमका निश्चय नहीं हो सका है। विद्वान आर्यभट्टने लिखा है। " भपञ्जरः स्थिरो भूरेवावृत्यावृत्य प्रतिदैविभिक्तौ उदयास्तमयौ सम्पादयति प्रहनक्षत्राणाम् '' सूर्य आदिक सत्र नक्षत्र मण्डल स्पर है । पृथिवी ही बार बार वृम चूम कर प्रत्येक दिनमें होनेवाले प्रह और नक्षत्रोंके उदय और अस्तका सम्पादन करती है। ऐसी युक्ति अवित आर्यभद्दभी प्रतिकार्ये आदरणीय नहीं हैं । तथा अधिक विस्तारके भूगोछके भूगणका खण्डन

हम पूर्व प्रकरणमें कर चुके हैं। इस कारण उस सूक्ष्रमणका अवक्रम्ब केकरके ज्योतिषियोंको नित्य गतिका स्थाप नहीं विचारा (निर्णय) जा सकता है। यों प्रत्यक्ष, अनुमान, प्रमाणसे ज्योतिश्वककी चुळोकमें गति निर्णात की जा सकती है। वह ज्योतिष्कोंकी गति कभी कभी होनेवाळी भी नहीं इष्ट की गयी है। क्योंकि गतिका विशेषण देनेके ळिये सूत्रकारने "नित्य" शहूका प्रहण किया है। अतः चुछोकमें ज्योतिष्कोंकी गति नित्य हो रही मानी गयी है। कतिपय ज्योतिष्कोंकी हो रही नित्य गतिका बालक बालिकाओंतकको प्रत्यक्ष हो जाता है।

तद्रतेनित्यत्वविशेषणातुपगत्तिरधौव्यादिति न शंकनीयं, नित्यश्रद्रस्याभीक्ष्ण्यवाचि-त्वाभित्यमहसिवादिवत् ।

कोई यहां शंका करता है कि ज्योतिकों की उस गतिका निल्यपना यह विशेषण नहीं बन सकता है। क्योंकि कोई गति धुव नहीं है। बौद, वैशेषिक, मीमांसक, यहांतक कि जैन भी किया-ओंको अनित्य स्वीकार करते हैं। तृत्यकारिणीकी झडझड पूर्विक्रियायें नष्ट होरही संती उत्तरिक्रियायें उपजती हुई दिखती हैं। ''कर्मत्वऽनित्यमेव '' कोई भी किया नित्य कालतक स्थिर नहीं रह सकती है। क्षणक्षणमें अन्य ही किया होजाती है, ऐसी दशामें ज्योतिकोंकी नित्यकाति आपने कैसे कही किताओ। मन्धकार कहते हैं कि यह शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि नित्य शद्ध अमीक्षणताका बाचक व्यवस्थित होरहा है, जैसे कि नित्य ही हंसनेवाला देवदत्त है या नित्य बकवाद करनेवाला यहदत्त है, नित्यमोजी बालक है झ्यादि स्थलोंमें नित्यका अर्थ अभीक्षणता यानी पुनः पुनः या असङ्घत्त है, देवदत्त नित्य हंसता रहता है, इसका अर्थ शौच जाते, सोते आदि अवस्थाओंमें भी सदा हंसते रहना नहीं है। किन्तु अनेकवार पुनः था पुनः बहुतकी क्रियाओंमें दिनरात बहुमाग अवसरोंपर हंसते रहना है। प्रातःसे लेकर सायंकालतक हंसना ही जब अत्यन्त कष्टसाध्य है, ऐसी दशामें नित्य हंसते रहना तो असम्भव ही समक्षियेगा। कुल देरतक हंसते रहनेपर भी शरीर या आत्मामें प्रतिक्षण अनेक हंसियां विनशतीं, उपजतीं, रहती है। इसी प्रकार उथोतिकों की गतिमें नित्यका अर्थ पुनः पुनः एकके पीले सट हसरी गति, अनेकवार गति यों अमीक्ष्यता करना चाहिये। जैसा कि नित्य हंसना, नित्य बक बक करना, नित्य रोना, नित्य टोटा होना, नित्य पुजन करना आदिमें शोभता है।

ऊर्घाधोत्रमणं सर्वज्योतिषां ध्रवतारकाः । मुक्त्वा भूगोलकादेवं प्राहुर्भूत्रमवादिनः ॥ १३ ॥ तद्यपास्तमाचार्यैर्नुलोक इति सृचनात् । तत्रैव श्रमणं यस्मानोर्घ्याधोत्रमणे सति ॥ १४ ॥ भूव तारोंको छोडकर सम्पूर्ण क्योतिवियोंका भूगोलसे जपर, नीचे, श्रमण होरहा है, इस प्रकार भूवमणवादी विदान् बढिया कह रहे हैं। सूर्यसिद्धान्त प्रत्यमें लिखा है '' भ्रुवोक्तिर्मचक्रस्य नित्मेंहं प्रयास्पतः। निरक्षािभमुखं यातुर्विपरितं नतोकते'' उत्तरीय मेरकी और जानेवाले मनुष्यको भ्रुवतारा ऊचा उठता हुआ दीखता है और दक्षिणका नक्षत्र मण्डल नीचेको जानेवाला दीखता है तथा दक्षिणीय भुवकी और जानेवाले पियकको इसके विपरित नीचे, ऊंचे, दीखते हैं। यानी भुवतारा नीचा जारहा है और दक्षिणीय नक्षत्र मण्डल ऊपरको जारहा भासता है। सिद्धान्तरिरोमणि प्रत्यके गोला-ध्यायमें '' उद्दाश्चवं पाति यथा यथा नरस्तथा तथा खानतमृक्षमण्डलम् उद्दाश्चवं पश्यित चोनतं क्षितेः '' मनुष्य जितना जितना उत्तर दिशाकी ओर जाता है, वैसा वैसा दक्षिणभागके नक्षत्र मण्डलको आका-शि नीचा नम्न होरहे देखता है और उत्तरभुवको पृथिवासे उत्तत उन्नत होते जारहेको देखता है। योरपके अनेक विदान् इन बातोंका समर्थन करते हैं। प्रत्यकार कहते हैं कि भूभमणवादियोंका यह चन्द्रमा, मंगल आदि ज्योतिषियोंका ऊपर नीचे चूमना स्वीकार करना भी निराकृत कर दिया गया है। वयोंकि सूत्रकार श्री उमास्थामी आचार्य महाराजने इस सूत्रमें '' नृलोके '' ऐसा सूत्रण किया है। यदि तुन्हारे मन्तन्य अनुसार ज्योतिक्चकका ऊपर, नीचे, की ओर अमण माना जावेगा तैसा होते सन्ते तो उस मनुष्य लोकमें ही ज्योतिष्विकिक्तीका अमण होना नहीं बन सकेगा।

बनोदधेः पर्यते हि क्योतिर्गणगोचरे सिद्धे चूलोक एव, श्रमणं क्योतिषामूर्ध्वाधः कयप्रपण्यते १ भूविदारणमसंगात् । तत एव विंगत्युत्तरेकादश्योजनशतविष्कम्भत्वं भूगोल-धाम्युपगम्यत इति चेक्क, उत्तरतो भूमंदलस्ययत्तातिकमात् तद्धिकपरिमाणस्य प्रतितेः तच्छ-तमाणस्य च सातिरकेकादश्योजनमात्रस्येव समभूभागस्याप्रतितेः कुरुक्षेत्रादिषु भूद्वादश्योजनादिममाणस्यापि समभूतलस्य सुत्रसिद्धत्वात् । तच्छतगुणविष्कंभभूगोलपरिकल्पनाया-मनवस्थात्रसंगात् ।

पूर्व, पश्चिमकी ओर घनोदिंघ पर्यन्त तथा दक्षिण, उत्तरकी ओर त्रसनाठीकी मर्यादातक जब कि ज्योतिश्वक्रका विषयभूत यह छोक सिद्ध हो चुका है तो ऐसा होते सन्ते फिर मनुष्य छोकमें हैं। ज्योतिषियोंका ऊपर नीचे अमण होना मछा किस तरह युक्तसिद्ध हो सकता है है या तो ऊपर नीचे अमण मानने पर पृथिवीके फटजानेका प्रसंग आ जानेगा, जो कि इष्ट नहीं है। अर्थात—मूगोछका अमण माननेवाछे अन्य नक्षत्रमण्डछका भी अपनी कथा अनुसार अमण होना स्वीकार करते हैं। सिद्धान्ताशिरोमणिके गणिताष्यायमें कहा है कि " सृष्ट्या अचर्च कमछोद्धवेन पहें: सहैतद् मगणादि-संस्थे:। शक्यद्भमें विश्वस्था नियुक्तं तदन्ततारे च तथा श्चवते "। यदि नक्षत्रमण्डछ ऊपर नीचे प्रमंगा तो प्रथिवी अवस्य कट जायगी। यदि मूक्षमणवादी यों कहें कि तिस ही कारण अर्थात—प्रयोगीका विश्वरण नहीं हो जाय। अतः हमारे यहां ग्याबह सी नीस योजन चौका भूगोछ स्वीकार

किया नाता है। इतनी चीडी पृथिनी अपनी धुरी पर या सूर्यका चक्कर देती हुई धूमती रहती है। अन्य नक्षत्र या प्रद्य भी स्वकक्षामें घूमते रहते हैं। " ततीऽपराशामिमुख भपञ्जरे सखेचरे शीव्रतरे अमत्यपि । तदल्पगत्येन्द्रदिशं नमश्चराश्चरन्ति नीचोचतरात्मत्रर्मसु "। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि उत्तरकी ओरसे भूमण्डलके इतने ग्यारहसी वीस योजन चौडे परिमाण होनेका अतिक्रमण हो रहा है। उस ग्यारहसौ बीस योजन चौडाईसे अधिक परिमाणवालेकी प्रतीति हो रही है। उस ग्यारहसी बीसके सीमे भाग केवल कुछ अधिक ग्यारह योजन ११ योजनके ही समतल हो रहे भूभागकी प्रतीति नहीं होती है। कुरुक्षेत्र आदि स्थानोंमें बारह योजन भादि प्रमाणवाळी या इससे भी अधिक समतल (सपाट) हो रही पृथिगीकी भी अच्छी प्रसिद्धि हो रही है। यदि उस बारह आदि योजन प्रमाण स्मतलसे पुनः सौगुना चौडा भूगोल कल्पित किया जायगा तब तो अनयस्थाका प्रसंग हो जायगा। भावार्थ-भूगोळ्यादियोंने पृथिवीकी चौडाई ग्यारहसौ वीस योजन स्वीकार की। किन्तु यह ठीक नहीं बैठता है। उत्तरकी ओर पृथिवी अधिक विस्तारवाली माननी पडेगी। दूसरी वात यह है कि गोलपदार्थका सौमा भाग समतल दीखा करता है। सिद्धान्तिश भिणिमें कहा है कि " समी यतः स्याधियेः शतांशः प्रथ्वी च प्रथ्वी नितरा तनीयान् । नरश्च तत्पृष्ठगतस्य कृत्का समेत्र तस्य प्रतिभात्यतः सा '' इसका अर्थ यह है कि जिस कारण गोलपरिजिका सीमा भाग सम दीखा करता है, यह पृथ्वी बडी लम्बी, चीडी, मोटी है और मनुष्य अत्यन्त छोटा है। उस पृथिवीकी पीठपर प्राप्त हो रहे उस मनुष्यको थोडी दूर दृष्टि जानेसे इस कारण वह पृथ्वी समः छ ही दीखती है। इस नियम अनुसार केवछ एक योजनका पांचवा भाग अधिक ग्यारह योजन ही समतल भूमि दीखनी चाहिये। किन्तु कुरुक्षेत्र (पानीपत) बादिमें बारह, चीदह, वीस योजनवाले भी समतल (मैदान) पाने जाते हैं। सिद्रान्तशिरोमणि गणिताच्यायमें " प्रोक्तो योजनसंख्यया कुपरिधिः सतांगनन्दान्थयः । तद्यासः कुमुजंगसायकमुत्रीऽध प्रोन्यते योजनम् । याम्बोदक्पुरयोःपळान्तग्हतं भूबेष्टनं भाराहृत् । तङ्कतस्य पुरान्तराध्वन इह होयं समं योजनम् ॥ १ ॥ इस श्लोक द्वारा पृथिशिकी परिधि चार हजार नी सौ सडसठ ४९६७ योजन और व्यास पन्दह सी इक्यासी १५८१ योजन बताया है। कोई यूरोपनिवासी पण्डित सात हजार नी सी बारह मील ७९१२ मील पृथिवीका व्यास मानते हैं। अन्य इससे भी न्यून या अधिक स्वीकार करते हैं। इस प्रकार कोई ठीक पृथियोंके नापकी व्यवस्था नहीं हो सकी है। अनेक बिद्वानोंके फरस्पर विरुद्ध मन माने नापोंसे पृथिवीके परिमाणकी यथार्थ व्यवस्था नहीं समझी जायगी। वस्तुतः यह रत्नप्रभा पृथिवी सात राज् उम्बी, एक राज् चौडी, और एक काख अस्सी हजार योजन मोटी समतल है। काचित् इसके प्रदेश ऊंचे, नीचे, भी हो गये हैं। गैंद या नारंगीके समान गोक माननेपर अनेक दोष आते हैं। सूर्यसिद्धान्तमें जो यह लिखा है कि '' अल्पकायतया मर्त्याः स्वस्थानास्विते। मुखम्, पश्यन्ति वृत्तामध्येतां चक्रांकारां वसुन्धराम् '' पृथिवीकी अपेक्षा मनुष्योंका अत्यल्प शारीर

होनेसे छोटे छोटे मनुष्य गोल मी इस प्रधिनीको अपने स्थानसे सफ्राके समान चपटी आकारवाली देखते हैं । बात यह है कि मनुष्यकी चक्षुयें बहुत दूर तक उन्ने, चौडे, फैले हुये पदार्थको पूरा नहीं देख पाती है। अतः गोल दीखना या चक्रके समान दीखना दोनों ही आन्तिज्ञान है। गोल पृथिवी यदि भ्रमण करती हुयी मानी जावेगी तो ध्रवतारा एक ही स्थानपर नहीं दीखना चाहिये। सूर्यके समान ध्रुवतारा भी घूमनेवाळे मनुष्योंको न्यारे न्यारे स्थानपर दीखना चाहिये था । किन्तु ऐसा नहीं है । ध्रुवतारा रातभर एक ही स्थानपर दीखता है । पृथिबीका नाम गी है । गच्छित इति गीः जो चलती है, अतः वह पृथिवी गी है, ऐसी पोली, उचर, युक्तियोंसे पृथिवी चलायमान सिद्ध करना शद्भव्यवहारको नहीं समझना है। यों तो अचला, स्थिरा, अनन्ता ये नाम भी पृथिवींके हैं। जो कि असंख्य योजन छम्बी प्रथिनीको स्थिर सिद्ध करते हैं । भूगोल्यादियोंका कहना है कि किनारेसे देखनेपर दूरवर्ती जहाजका पहिले ऊर्घमाग (मस्त्ल) दीखता है, इसी प्रकार दूरसे ताड बुक्षको देखकर ऊपरला झप्पा पहिले दीखता है। क्योंकि अधोभाग पृथिवीकी गोलाईकी ओटमें आ जाता है । लक्क सिद्धान्तमें यह कहा है । " समता यदि विद्यते सुवस्तरवस्तालनिभा बहुन्छयाः कथ-मेव न दृष्टिगोचरं नु रहो यान्ति सुदूरसंस्थिताः " ऐसी ढीळी पोळी युक्तियोंको सून कर हमें हंसी भाती है। जब कि सौ हाथ ऊंचे पदार्थको दो कोससे देखनेपर दस हाथका अन्तर पड जाता है। जहाज या तालबक्षका निचले दस हाथ भाग नहीं दिखता है । इतनेसे ही यदि पृथियीको गील मान लिया जावेगा, तब तो भूमि पचास या सौ कोसकी ही सिद्धि हो सकेगी। ऐसी दशामें आग-रेको यदि गोळभूमिके ऊपर मान लिया जाय तो कानपुर पृथिवीके नीचे मानना पडेगा । किन्तु कुछ पोरपवासिओंने अमेरिका (न्यूयार्क) को आगरेके नीचे स्वीकार किया है । इसी प्रकार सिद्धान्त शिरोमणिके भूळोकाध्यायमें पृथिविके चपटी होनेमें यह आक्षेप किया गया है कि " यदि समा मुकुरो-दरसिनमा भगवती धरणी तरिणः क्षितेः । उपरि दूरगतोऽपि परिश्रमन् किम् नरैरमैरेरिय नेक्ष्यते ॥ यदि निशाजनकः कनकाचलः किम् तदन्तरगः स न दस्यते । उदगमलन् मेरुरथांश्यमान् कथमदेति च दाक्षणभागके ॥ २ ॥ " इसका अर्थ यह है कि यदि दर्पणके पेटसारिखी भूमि समतक मानी जायगी, तो प्राधिविक्ते ऊपर बहुत दूर प्राप्त हुआ भी घूमता हुआ सूर्य देवोंके समान मनुष्योंको क्यों नहीं दीखता है ! दूसरी बात यह कही गयी है कि सूर्यकी ओट करनेवाला सुमेरु पर्वत यदि रातको कर देता है तो दृष्टा और सूर्यके अन्तरालमें प्राप्त हो रहा वह सोनेका बना हुआ सुमेठ पर्वत क्यों नहीं दीखता है। तथा मेरुकी आडसे निकळकर सूर्यका उदय माना जायगा तो उत्तर दिशामें सर्यका उदय होना चाहिये। क्योंकि मेरु उत्तरकी ओर है। शीतकाळमें जो पूर्वेंसे भी हट कर दक्षिणकी और सूर्य उदय हो रहा है, वह कैसे भी नहीं हो सकेगा। इस आक्षेपपर इमको यह कहना है कि यहांसे दो हजार कोसक़े एक योजन अनुसार आठ सी योजन ऊपर सूर्य है आजकल इतना अना मनुष्यका जाना दुर्जभ है। हो, देवता अवश्य ही सूर्यको चुनता हुआ देख

ठेते हैं । जब यहांसे सूर्य चलता हुआ दीख रहा है तो ऊपर जानेकी क्या आवश्यकता है ! पृथिवी दर्पणके समान समतल है। है। आंखों के देखनेका स्वमाव ऐसा ही है, जिससे कि दूरवत्ती पदार्थका ऊपरला माग दृष्टिगीचर होता है। दूसरी बातपर यह कहना है कि कनकाचछकी ओटमें सूर्यक आ जानेसे कनकाचल कैसे दील सकता है। रातके समय दीपक यदि भीतकी आडमें **भाजा**य तो क्या भीत दीख जाती **है ? "** यथा प्रकाशस्थितमन्धकारस्थायीक्षतेऽसौ न तथा तमस्त्यम् " अन्धकारमें बैठा हुआ पुरुष प्रकाशमें धरे हुये पदार्थको देख सकता है, किन्तु प्रकाश या अन्धेरेमें बैठा हुआ पुरुष अन्धकारमें स्थित पदार्थको नहीं देख सकता है। कणाद, गौतम, आदि ऋषियोंने मी '' सर्वेषामेव वर्षाणां मेरुरुत्तरतः स्थितः '' माना है । सूर्य जब सुमेरुकी आडमें आ जाता है तो यहांसे एक लाख योजन दूर पहुंच जाता है। किन्तु आंखें सेंतालीस हजार दो सौ त्रेसिट योजन दूरवर्ती पदार्थसे अधिक दूरके पदार्थको नहीं देख सकती हैं। अतः जम्बूद्वीपकी वेदीके ऊपर अमण कर रहा सूर्य जब निषध पर्वतपर आता है तब यहां भरतक्षेत्रसे दीखता है। अतः पूर्व दिशासे उदय होना माना जाता है और पश्चिम निषधके ऊपर पहुंचनेपर हम छोगोंको सूर्य नहीं दीख पाता है। सूर्यकी किरणोंके नहीं पहुंचनेसे यहां रात है। जाती है। यही उदय, अस्त या दिन, रात, होनेका बीज है। किरणें पहुंचने या फैल्नेका सिद्धान्तदृष्टिसे यह विचार है कि सूर्य, अग्नि या प्रदींप अपने परिमित लम्बे, चौडे, स्वकीयशरीरमें ही नियत है। उनके निभित्तते यहां फैळ रहे भिन् पुद्रलोंकी चमकीली पर्योपें हो जाती है। सूर्य देशसे यहां कोई किरणें नहीं आती है। यूरोपके कतिपय विद्वानोंने मी सूर्यका घूमना और पृथिवीकी स्थिरता सिद्ध करनेके छिए अब अनेक युक्तियां उपस्थित की हैं। बिशेषज्ञ बिद्धान इस विषयका गम्भीर अन्वेषण कर सकते हैं।

क्यं चास्थिरेपि भूगोले गंगासिध्वादयो नद्यः पूर्वापरसमुद्रगामिन्यो घटेरन् १ भूगोल्यम्यतः प्रभवादिति चेत्, कि पुनर्भूगोल्लम्ध्यं १ । उज्जयिनीति चेत्, न ततो गंगा-सिध्वादीनां प्रभवः सम्रुपल्लम्यते । यस्माचत्रभवः प्रतीयते तदेव मध्यमिति चेत्, तदिद्यति-ध्याहतं । गंगाप्रमवदेशस्य मध्यत्वे सिन्धुप्रभवभूभागस्य ततोतिष्यवहितस्य मध्यत्वे विच्याद्वे सिन्धुप्रभवभूभागस्य ततोतिष्यवहितस्य मध्यत्वे विच्याद्वे स्थात् स्वसिद्धान्तपरित्यागश्चोज्जयिनी-मध्यवादिनां ।

दूसरी बात हम भूगोळअमण वादियोंसे यह पूंछते हैं कि भूगोळको अस्पिर माननेपर गंगा, ब्रह्मपुत्र, या सिन्धु, नर्मदा, बादि नदियां मळा पूर्वसमुद्रकी और पश्चिमसमुद्रकी और जारहीं कैसे घटित हो सकेंगी! गोळ प्राधिविके संचळन होनेपर यहां वहां अस्तव्यस्त होकर फैळ जावेंगी, जैसे कि घूमते हुये छट्ट्पर या धूम रही चाकीपर वहा दिया गया पानी यहां वहां कहीं भी विदेशाओं में वह निकल्ता है। यदि तुम भूगोळवां वों बहां कि भूगोळके नक्करे हम नदियोंकी उत्पत्ति

हुयी है। इस कारण ये पूर्वपश्चिम समुद्रकी ओर वह जाती हैं। यों कहनेपर हमारा प्रश्न उठता है कि भूगोलका मध्य फिर कौनसा स्थान माना गया है ? बताओ । यदि तुम उज्जैनको भूगोळका मध्य कहांगे जैसा कि '' सिद्धान्तशिरोमणि '' में भूमध्य रेखाको कहते हुये किला है " पश्चंकी ज्जिपनी परोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्प्रशत् , सत्रं मेरुगतं बुधैनिंगदिता सा मध्यरेला मुवः " प्रन्थकार कहते हैं कि यह कहना तो ठीक नहीं पढ़ेगा। क्योंकि उस उज्जैनसे तो गंगा, सिन्धु, आदि नदियोंकी उत्पत्ति कथमपि नहीं देखी जाती है। मालवदेशमें विराज . रही उज्जैनसे कोई छोटी नदी भी नहीं उत्पन हुयी है। हां, उत्परके प्रान्तसे आरही एक पत्तकी शिप्रा नदी उज्जैन होकर अवस्य बह रही है। गंगा, और सिन्धुकी उत्पत्ति स्थान तो वहांसे सैकडों कोस दर है। यदि तुम यों कहो कि जिस स्थानसे उन नदियोंकी उत्पत्ति होरही प्रतीत होती है वही स्थान भूगोलका मध्य है। प्रन्थकार कहते है कि सो यह कहना तो अत्यधिक रूपसे व्याघातदीय युक्त हैं। गंगाके प्रभवस्थानको यदि मध्य माना जैयिगा तो सिन्धुनदीके आधप्रवाही स्थानके सूभागको जोकि उस गंगोत्तरीसे बहुत व्यवधान युक्त होरहा है, मध्यपनका विरोध होजायगा। भावार्थ-तिन्त्रतमें पडे हुये कैलाश पर्वत इस नामसे पुकार जानेवाले स्थानसे श्रुद्रसिन्धु नदी निकलती है। और हिमालयमें गंगोत्तरी पर्वतसे श्रद्भंगा नदी निकलती है। दोनों स्थानोंमें बीसों कोसका अन्तर है। इतने बढ़े अन्तरको छे रहे दो स्थानोंको प्रथिवीका मध्यस्थान कहनेत्रालोंके ऊपर व्याघातदोष आपडता है। हां. अपने अपने छहां ओर फैले हुये बाह्यदेशकी अपेक्षा यदि इन दोनों प्रभव स्थानोंको मध्य माना जायगा तब तो कोई भी स्थान मध्यरहित नहीं हो सकता है। अपने अपने इधर उधर स्थानकी अपेक्षा सभी स्थल मध्य हो जायंगे । प्रथिवीको चपटी या प्रान्तभागवाली मानने-वार्जोंके यहां कुछ अन्तस्थान या आदि स्थान, उपरिम स्थान, नीचे स्थल मले ही अमध्य स्वरूप मिल जाय, किन्तु पृथिवीको गोळ माननेवालोंके यहां तो इस ढंगसे सभी मध्यस्थल बन बैठेंगे। दूसरी बात यह है कि यों माननेपर उज्जैनको प्रधिवीका मध्य कहनेवालोंके यहां अपने स्वीकृत सिद्धान्तका परित्याग हुआ जाता है।

तदपरित्यागे चोज्जयिन्या उत्तरतो नद्यः सर्वा उदस्युख्यस्तस्या दक्षिणतोऽवाङ्ग्रुख्य-स्ततः पश्चिमतः प्रत्यङ्ग्रुख्यस्ततः पूर्वतः प्राङ्ग्रुख्यः प्रतीयेरन्, भूम्यवगाहभेदास्रदीगतिभेद इति चेत्र, भुगोखमध्ये महावगाहमतीतिमसंगात् । न हि यावानेव नीचैर्देशेवगाहस्तावानेवो-ध्रम्भोके युज्यते । ततो नदीभिभूगोखानुरूपतामतिकम्य वहंतीति भूगोछविदारणिति सममेष परातद्यमवसंवितं युक्तं समुद्रादिस्थितिविरोधश्च तथा परिहतः स्यात् ।

पदि उस सिदान्तका परियाग नहीं करोगे थानी भूगोळवादी उस उज्जैनको मन्यदेश मानते । रहनेका आमह करेंगे, तब तो उज्जैनसे उत्तर ओखाओं नदियां तब उत्तरको ओर गुख करके आगे.

बहती रहेंगी और उस उज्जैनसे दक्षिण ओरसे बह रहीं नदियां सब दक्षिण मुखवाली ही रहेगी, उस उज्जैनके पश्चिम बाजुसे वह रहीं नदियां सब पश्चिमको मुख करती हुई और उस उउनैनसे पूर्वकी ओरसे चाल हो रहीं नदियां सब पूर्वमुखवाली ही बहती हुई प्रतीत होनी चाहिये। अर्थात् --गोल वस्तुके मध्यस्थलसे जिस ओरको पानी बह जायगा ठीक उसी और सीधी रेखामें चलता रहेगा। पूर्व मुख्याली नदियां दक्षिण या उत्तरकी ओर कथमपि नहीं जा सकेंगी। किन्तु इसके त्रिपरीत एक नदीकी भी गाति न्यारी न्यारी दिशाओं में हो रही टेढी, मेढी भिन्न भिन्न देखी जा रही है। छोटीसी सिप्रा नदी है। कहीं किसी दिशाकी ओर कचित् अन्य दिशाकी ओर मुखकर वह रही है। यदि तुम भूमिकी गहराईके भेदसे नदीकी गतिमें भेद हो जाना स्वीकार करोगे, यानी जहां जैसी गहरी भूमि मिल जाती है उधरकी ओर नदी इलक पडती है। गोल वस्तुमें मी नीचे, उंचे प्रदेश हैं ही। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों तो भूगोलके मध्यमें महान् अवगाहकी प्रतीति हो जानेका प्रसंग होगा । पृथिवीको गेंदके सहश गोळ या नारंगीके समान माननेवालोंके यहां भमध्यदेशमें वडी गहराई मानी ही जावेगी । ऐसी दशामें नदीका बहुतसा जल वहां ही एकतित हो जावेगा | देखी, नीचे प्रदेशमें जितनी ही गहराई है उतनी ही गहराई ऊपर हे भूगोलमें मानना समचित नहीं। तिस कारणसे तो यह ज्ञात होता है कि ये नदियां भूगोलका अतिक्रमण कर वह रही हैं। ऐसी दशामें नदियों करके मुगोलका विदारण हो जावेगा। अतः इस पृथिवीतलको दर्पणके समान समतल माननेका ही पक्ष अवलम्ब करना युक्त है । पृथिवीको समतल माननेसे एक यह भी लाभ है कि समृद्र, सरोवर आदिशी हो रही स्थितीके विरोधका भी परिहार तिस प्रकार चपटी माननेपर हो चुकता है। अर्थात् —गोलभूमिपर अरबों खरबों मन समुद्र जल ठहर नहीं पाता है, दुलक पडेगा गिर पड़ेगा, द्वीपीको यहा छे जायगा, कभी कही और कदाचित कही समुद्र या तालाब बन जायेंगे, नियत स्थळोंार समुद्र आदिकी स्थिति नहीं रह सकेगी।

तद्भूमिशक्तिविशेषात्स परिगीयत इति चेत्, तत एव समभूमौ छायादिभेदोस्तु । शक्यं कि वक्तुं छंकाभूमेरीदशी शक्तिर्यतो मध्यान्हे अल्पछाया मान्यखेटायुत्तरभूमेस्तु ताहशी यत-स्तद्धिष्ठिततारतम्यभा छाया ।

यदि आप भूगोळ्यादि यों कहो कि उस भूमिकी विशेषशक्तिसे वह समुद्रादि स्थितिके विरोधका परिहार किया गया बखाना जावेगा, तब तो हम जैन कहते हैं कि तिस ही कारणसे यानी भूमिकी शाक्तिसे ही समतल भूमिमें छाया, परछाई आदि पडनेका भेद भी बन जाओ। चूंकि यों कहा जासकता है कि लंका भूमिकी इस प्रकार शक्ति है, जिससे कि दुपहरके समय मध्यान्हमें वहां छोटी छाया पडती है और मनखेडा आदिसे प्रारम्भ कर उत्तरदिशावाली भूमिकी तो उस प्रकारकी शक्ति है जिससे कि भूमिपर अधिष्ठित होरहे पदार्थोकी तरसमभावसे शोभित होरही छाया पडती है। अर्थाच् - दुमको

पृथिवीमें आकर्षणशक्ति माननी ही पहती है। आर्यमहने गोलपादमें कहा है कि " यहत् कदम्बपुष्प-प्रनियः प्रचितः समैततः कुद्धमैः । तद्वद्धि सर्वज्ञव्जैः स्थलजैश्व भूगोलः " आकर्षणशक्ति अनुसार प्रियमिं सब ओरसे पदार्थ खिचकर चपट रहे हैं। भिद्धान्तशिरोमणिनें यों कहा है " आकृष्टि शक्तिश्व महीतया यत् स्वस्थं गुरु स्वाभिमुखं स्वशक्त्या, आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क पतिवयं खे " पृथिवीमें आकर्षणशक्ति नियमान है, उस निजकी शक्ति करके गुरु पदार्थको अपने अभिमुख खेंच लेती है और अपनेपर टिका लेती है। वे पदार्थ पहते हुये सारिखे दीखते हैं, वस्तृत: वे खिच रहे हैं । सब ओरसे सम हो रहे आकाशमें यह माटी प्रथियी भछ। कहां गिरे ! इस आकर्षण शक्तिसे संपूर्ण पदार्थ प्रथिवीपर गिरकर ठहर जाते हैं। " यो यत्र तिष्ठत्यवनि तळस्या मात्मानमास्या उपरि स्थितं च. स मन्यतेऽतः कुचतुर्थ संस्था मिथश्वते तिर्ध्यगित्रामनन्ति । अत्रः शिरस्काः कुद्रला-न्तरस्थारळाया मृतृष्या इव नीरतीर, अनाकुलास्तिर्य्यगधः स्थिताश्च तिष्ठन्ति ते तत्र वयं यथात्र " अर्थ यह है कि जो मनुष्य जहां ठहर रहा है वह अपनेको इस प्रथिवीके उत्पर ठहरा हुआ और प्रथिवीको अपने नीचे स्थिर हो रही मानता है इस कारण प्रथिवीके चारों ओर ठहर रहे मनुष्य परस्पर अपनेको वे तिरछा समान मान रहे हैं, यानी अपनेको ऊपर और दूसरोंको नीचे ठहर रहा समझ बैठते हैं। जैसे कि जलके तीरपर खडे होकर मनुष्य नीचेकी ओर सिरवाले और ऊपर प्रियेवीकी ओर चपटे ह्रये पांववाले होते सन्ते छायाको देखते हैं । किन्त तिरछे, नीचे, स्थित हो रहे वे मनुष्य आकुळतारहित होकर वही निवास करते हैं जैसे कि हम यहां सानन्द रहते हैं। आकाशकी और गिर नहीं पढते हैं और भी कहा है कि " सर्वतः पर्वतारामप्रामचैत्यचयैश्वितः । कदम्बक्रसमप्रन्थः केसाप्रकटीरेव " गोळाष्यायमें कदम्बके फूलकी गांठ समान प्रथिवीको सब ओरसे पर्वत, गांव, बाग, नदी समुदाय करके गिरा हुआ माना है। इस मास्कराचार्यजीके कथनपर हमको यह कहना है कि आकर्षणशक्तिको प्रथिवीमें भन्ने है। माना जाय । किन्तु इतनी बढी आकर्षणशक्ति प्रथिवीमें नहीं है जो कि समझ, पर्वत, आदि महान स्कन्धोंको खीचती रहे नीचेको नहीं गिरने देवे । पौद्रक्रिक पदाथौमें गुरुत्वशक्ति (भारीपन) भी विद्यमान है जिससे कि वे अधःपतन स्वभाववाले हैं । चुम्बककी आकर्षणशक्ति सर्वको गिरनेस रोक सकती है, पहाडको गिरनेसे नहीं रोक सकती है। छायाका दृष्टान्त तुम्हारे या नैयायिक के मत अनुसार विषम पडता है. वैशेषिकोंने छायाको तेजोऽमाव माना है। अतः वह तुच्छ पदार्थ गिर नहीं सकता है। जैनसिद्धान्त अनुसार " छेतुं भेतुं अन्यत्र नेतुं नैव शक्यते " ऐसे गौरवरहित और प्रकाशको रोकनेवाले निमित्तींसे हो रही छाया मानी गयी है। विषम दृष्टान्तसे सान्यकी सिद्धि नहीं हो पाती है। अन्यथा स्वमका दृष्टान्त पाकर ज्ञानाहैत या ब्रह्माहैत भी साधा जा सकता है, जो कि तमको अनिष्ट पडेगा । पदार्थीमें अनेक शक्तियोंको हम स्वीकार करते हैं । दूप-्रास्के समय कंकामें मनुष्यको दो, तीन, अंगुक छावा पडती है। और पुनाके निकट प्रान्तमें बस रहे मान्यरेक्टरे उत्परकी और निवासवाडे मनुष्योंकी और बढती जाती है। यो प्रथिवीकी गांठको शक्तियों

अनुसार या कुछ मीचा ऊंचा प्रदेश होनेसे छांह घट बढ जाती है। कई निमित्त कारणोंसे अनेक न जाने क्या क्या बैमित्तिक कार्य बन जाते हैं। कठिन छोहे (ईस्पात) का हुरा नरम शाणसे पैना हो जाता है। चमडा या कपडासे भी कुछ पैना कर छिया जाता है। ऊनी कपडेपरसे मैठ या तेछकी चीकट अथवा डामर तार कोछको महीका तेछ या पैट्रोठ थो डाछता है। जैसे कि आत्मापर चुपटे हुये कर्मकछंकको तपस्या करके हटा दिया जाता है।

तथा द्र्पणसमतकायामपि भूमौ न सर्वेषाग्चपरिस्थितं सूर्ये छायाविरइस्तस्यास्तदः भेदनिमित्तक्षक्तिविश्वेषासद्भावात् । तथा विषुमित समरात्रमपि तुरूयमध्यदिने वा भूमि-श्वक्तिविश्वेषादस्तु ।

तिसी प्रकार दर्पणके समान समतल भी भूमिमें सम्पूर्णके उत्पर सूर्यके स्थित हो जानेपर छायाका अभाव नहीं हो सकता है। क्योंकि उस छायाका निमित्त कारण उस पृथिवीकी अभिन्न हो रही विशेष निमित्त शाकियोंका असद्भाव है। सद्भाव पाठ योग्य है। मावार्थ—जल, लहरवाला जल, खड्ग, रिक्नत पात्र (कर्ल्ड्दार गिलास) आदिमें जो नाना प्रकार प्रतिबिन्न पडते हैं। उसका निमित्त कारण उन पदार्थोंकी आत्मभूत हो रहीं विभिन्न शिक्तयों हैं। उसी प्रकार मध्याहमें जब सिरके उत्पर सूर्य आ जाता है तब भी भूमिकी विभिन्न शिक्तयों अनुसार योडीसी छाया पढ जाती है। सूर्यकी ठीक सीधी अधोरेखापर आजानेका किसी मनुष्यको कदाचित्त ही अवसर पडता है। सीधी अधोरेखाके थोडा भी इधर उधर हो जानेपर छाया पढ जायगी। तथा विश्वमान् अवस्थामें दिनके समान रातका होना अथवा तुल्य मध्यदिनका होना भी भूमिकी शिक्तविशेषसे हो जाओ। अर्थात्—सिद्धान्तिशिमिणिके अनुसार लंका और उज्जैनके उत्पर जाती हुई कुरुक्षेत्र आदि देशोंके छू रही दोनों धुनोंके उत्परकी रेखाको भूमध्यरेखा या विश्वमत् रेखा माना गया है। विश्वमद् हत्त अवस्थामें दिन और रात समान हो जाते हैं। ये सब बातें भूमिकी शिक्त और सूर्यके अमण विशेषोंसे साध्य हैं।

प्राच्याग्रदयः प्रतीच्यामस्तमयः सूर्यस्य तत एव घटते । कार्यविश्वेषदर्श्वनादृद्रव्यस्य श्वक्तिविशेषातुमानस्याविरोधात् अन्यया दृष्टदानेरदृष्ट्यकल्पनायाश्चावत्र्यंभावित्वात् । सा च पापीयसी महामोहविजृंभितमावेदयति ।

तिस ही कारणसे यानी भूमिकी विशेषशक्तिओंसे पूर्व दिशामें सूर्यका उदय और पश्चिम दिशामें सूर्यका अस्त होना घटित होजाता है। क्योंकि विशेषकार्योंके देखनेसे द्रव्यकी विशेष शक्तिओंके अनुमान होजानेका कोई विशेष नहीं है। अन्य प्रकारोंसे यदि सूर्यके उदय, अस्त, होने माने जायंगे तो देखे जारहे की हानि और अदृष्टपदार्थशी कल्पना अवश्य होजावेगी। जो कि वह दृष्टहानि और अदृष्टकल्पना अत्यिक प्रापिनी होरही भूगोल अमणवादियोंके महान मेहकी चेष्ठाको जता रही है।

अर्थात् — ऋतुओंका परिवर्तन, इष्टि, आंधी, जाडा, गरमी आदि पडना, नियत बनस्पतियोंकी उत्पत्ति, विमिन्न समयोंमें अनेक इक्षोंका फड़ना, फड़ना, आदि कहीं सोना, क्रांचित् केसर, कहीं रत्न, आदि का उत्पन्न होना कहीं उष्णकाकमें मी शीत पडना, क्रिम (बरफ) गिरना, क्रांचित् शीत काळमें भी उष्णता होना इत्यादिक सम्पूर्ण कार्य जैसे भूमिकी शक्ति होजाते हैं, उसी प्रकार पर्वतमय भूमिके उरछी ओर आजानेपर सूर्यका उदय और परछी ओर जानेसे सूर्यका अस्त होना बन जाता है। भूमिकी शक्ति अनुसार सूर्यकी किरणें कहीं दूरतक फैलती हैं और कहीं निकट प्रदेशोंतक ही जा पाती हैं। चौमासेमें दिन फुलनेपर देख सकते हो। मगोंनामें पानी भर देनेपर बीचमें धरा हुआ रुपया उंचा उठा हुआ दीखता है। बादलोंमें कभी सूर्य भी इसी प्रकार देरतक प्रकाश कर फिर झट रात होजाती देखी जाती है। बाल गोपालोंतकमें प्रसिद्ध होरही बातको टाल देना और बिलकुल नई बातको गढ़ लेना उचित नहीं है। "शक्तयः कार्यानुमेयाः "। भूमिकी विलक्षण शक्तियां तुमको भी माननी पढेगी। बढ़े भारी पापको महामोही जीव भले ही करें, विचारशील विद्वान् ऐसे अयुक्त सिद्धान्तामासोंको नहीं गढ़ते फिरते हैं।

न च वयं दर्पणसमतलामेव भूमिं भाषामहे भतीतिविरोधात् तस्याः कालादिवशादुपच-यापचयसिद्धिनिंम्नोषताकारसद्भावात् । ततो नोज्जयिन्या उत्तरोत्तरभूमौ निम्नायां मध्यं दिने छायाष्ट्रद्धिर्विरुध्यते । नापि ततो दक्षिणक्षितौ सभुभतायां छायाद्द्यानिरुभतेतराकारभेदद्वारायाः शक्तिभेदमसिद्धेः । भदीपादिवादित्याक द्रे छायाया वृद्धिघटनात् निकटे प्रभातोपपत्तेः ।

हम जैन सर्वत्र दर्पण के समान सपाट, समतलवाली होरही ही भूमिको नहीं बखानते हैं। क्योंकि अनेक स्थलोंपर ऊंची, नीची, देखी जारही मूमिकी प्रतीतिओंसे विरोध होजायगा। काल आदि निमित्तोंके वशसे उस भूमिका घट जाना, बढ जाना, सिढ है। जतः भूमिके नीचे, ऊंचे, आकारोंका सम्राव होनेसे समरात्र आदि व्यवस्थायें बन जाती हैं। तिसही कारणसे यानी प्राधिकी ऊंचे नीचे प्रदेशवाली होनेसे उज्जैनसे उत्तर, उत्तर, की ओर निचली भूमिमें दिनके मध्य अवसरपर छायाका बढना विरुद नहीं पड़ता है और उस उज्जैनसे दक्षिणकी ओर अधिक उंची होरही पृथिवीमें छायाकी हानि होना भी विरुद नहीं पड़ता है। क्योंकि उंचे, नीचे, आकारवाले मिल मिल प्रदेशों हारा उस भूमिकी शक्तियोंके मेदोंकी प्रसिद्धी होरही है। दूर होजानेपर जैसे प्रदीपसे छायाका बढ़ना घटित होजाता है, उसी प्रकार सूर्यसे दूर होनेपर छाया बढ़ जाती है। जतः निकट प्रदेशोंमें प्रातःकाल होना बन जाता है। भावार्थ—इस चित्रा पृथिवीपर अनेक उंचे, नीचे, स्थळ बम जाते हैं। कुएमें बैठे हुये मंतुष्य और पहाडकी चोटीपर चढ़े हुये मंतुष्यकी अपेक्षा घाम और छाहमें जैसे जंतर पढ़ जाते हैं, उसी प्रकार कालवा होगये भूमिके छंचे, नीचे, स्थानोंपर छायाहाह वा छायाहालि होजाती है। एकसी चौरासी गतिओंमेंसे मौतरकी गलीमें सूर्यके घूमनेपर दिन वह जाता है। प्रमात शीव हो जाता है। एकसी चौरासी गतिओंमेंसे मौतरकी गलीमें सूर्यके घूमनेपर दिन वह जाता है। प्रमात शीव हो जाता है।

तत एव नोदयास्तमययोः सूर्यादेविंबार्घदर्शनं विरुध्यते । भूमिसंख्यतया वा सूर्यादि-श्तीतिर्न संभाष्या, द्रादिभूमेस्तथाविषदर्शनजननशक्तिसद्भावात् । न च भूमात्रनिवंधनाः सम-राजादयस्तेषां ज्योतिष्कगतिविशेषनिवंधनात्वादित्यावेदयति ।

तिस ही कारणसे यानी उचे, नीचे, प्रदेशों अनुसार उदय समय और अस्त समयपर सूर्य, चन्द्रमा आदिके विम्बोंका आधा दर्शन होना विरुद्ध नहीं पडता है। यहां पक्षान्तर अनुसार मूमिमें संख्य होकरके सूर्य, चंद्र, आदिकी प्रतीति होना सम्मावना योग्य नहीं है। क्योंकि दूर, अतिदूर, आदि मूमिके तिस प्रकार चाक्षुष प्रत्यक्षको उपजानेकी शक्तिका सद्भाव है। यानी पृथिविको गोल मानने वाले यह हेतु देते हैं कि चारों ओर दृष्टि पसार देखनेपर सब ओर गोल दीखता है और आकाशमण्डल गोल कटोरेके समान होकर भूमिको दक रहा प्रतीत होता है। दूर वर्त रहे सूर्य, चन्द्रमा गोल पृथिवित्ते स्पर्श कर रहे हैं। अतः पृथिवी गोल है। किन्तु यह युक्ति निर्वल है। द्रव्य इन्द्रिय मानी गयीं आंखोंकी आकृति मसूरकी दाल समान गोल होनेसे चारों ओर गोल घेरेमें वस्तुयें दीख जाती हैं। द्रका पदार्थ यहांसे नीचा होता हुआ दीख जायगा। यह दृष्टिका भम है। अलीक झानोंसे परमार्थ सिद्धान्तकी पृष्टि नहीं होसकती है। दूसरी बात यह है कि समरात्रि दिन, बढना, आदि होनेमें हम जैन केवल पृथिवीको ही कारण नहीं मानते हैं। उनके कारण अन्य भी हैं। ज्योतिष्क विमानोंकी गाति विशेषको कारण मानकर भी समरात्र आदिक होजाते हैं, इसी बातका श्री विद्यानन्द स्वामी वार्तिकों हारा प्रकटीकरण करते हैं।

समरात्रं दिवावृद्धिर्हानिदों षाच युज्यते । छायाप्रहोपरागादिर्यथा ज्योतिर्गातस्तथा ॥ १५ ॥ स्रखंडभेदतः सिद्धा बाह्याभ्यंतरमध्यतः । तथाभियोग्यदेवानां गतिभेदात्स्वभावतः ॥ १६ ॥

दिनके ठीक बराबर रात्रि होना या दिन बदना, रात घटना और दिन घटना, रात बदना अथवा छाया पडना या प्रहोंका उपराग (प्रहण) होना राशिसंक्रमण आदिक जैसे ज्योतिषियोंकी गतिस हो रहे युक्तिसिद हैं। अथवा उन ज्योतिषियोंकी गति अनुसार हो जाते हैं। उसी प्रकार बाहरकी गठी, अन्यन्तर वीथी, मध्यम वीथीके, अनुसार आकाशके खण्डोंके भेदसे वह ज्योतिषियोंकी गति न्यारी न्यारी सिद्ध है। क्योंकि उन सूर्य आदि विमानोंको खांचनेवाछे तिस प्रकार गतिप्रेमी आभियोग्यजातिके देवोंकी गतियां मिन्न मिन्न प्रकारकी हैं। यथार्थ बात यह है कि तिस प्रकार अनादि काछसे सूर्य आदिक विमान स्वमावते ही उन उन प्रति दिनके छिये नियल हो रही मिन्नमोंने

अमण करते हैं। अर्थात्—समरात्र आदि कार्य तो ज्योतिष्क विमानोंकी भिन्न भिन्न आकाश खण्डों में हो रही गतिके अनुसार हो जाते हैं। ढाई द्वीपके ज्यांतिष्क विमानोंकी गतिका भेद भी आभियोग्य जातिके देवोंकी विशेषगातिसे या स्वकीय स्वभायसे ही बन रहा है।

सूर्यस्य तावचतुरक्षीतिक्षतं मंढलानि । तत्र पंचषष्टिरभ्यंतरे जंबूद्वीपस्याक्षीतिक्षतयोजनं समवगास प्रकाक्षनाज्ञंबृद्वीपाद्वासमंढलान्येकाक्षविक्षतिक्षतं लवणोदस्याभ्यंतरे त्रीणित्रिक्षानि योजनक्षतान्यवगास तस्य प्रकाक्षनात् । द्वियोजनमेकैकमंढलांतरं दे योजने अष्टाचत्वारिक्षयो-जनकष्टिभागाश्चेकैकसुद्यांतरं ।

उक्त वार्तिकोंका विवरण यह है। सबसे प्रथम यों कहना है कि जम्बूदीपमें सूर्यके एकसी चौरासी मण्डल माने गये हैं। पांचसी दश और अडतालीस बटे इक्सिट योजन चौडे एवं कुछ अधिक तीन लाख परिधिवाले गोल चार क्षेत्रमें सूर्यके एकसी तिरासी तो दो दो योजन चौडे अन्तराल हैं। और एक सौ चौरासी सूर्य मण्डलके अमण स्थान हैं। उनमें ऐसट तो जम्बूदीपके भीतर है। क्योंकि जम्बूदीपकी वेदीसे एक सौ असी योजनतक मीतर घुसकर सूर्य प्रकाशता रहता है। हां, जम्बूदीपसे बाहर लवणसमुद्रमें एकसी उनीस मण्डल हैं। क्योंकि लवणसमुद्रके तीनसी तीस और अडतालीस बटे इक्सिट योजन मीतर जाकर उस सूर्यका प्रकाशना आगमीक है। एक एक मण्डलका अन्तराल दो दो योजन है और अडतालीस बटे इक्सिट योजनसे अधिक हो रहे दो योजन तो एक एक उदय अवस्थाका अन्तराल कहा जाता है। अडतालीस बटे इक्सिट योजनका सूर्य है और दो योजन बीचमें रीता स्थान है। अतः यह पूरा स्थान पांचसी दस और अडतालीस बटे इक्सिट योजन हो जाता है। जम्बूदीपकी वेदीके ऊपर यह चार क्षेत्र पांचसी दस योजन चौडा होकर तीन लाख अठारह हजार तीनसी चौदह योजन परिधिवाला गोल व्यवस्थित है। सूर्यका चार क्षेत्र यहासे आठसी योजन उपर और चन्द्रमाका इतना ही चार क्षेत्र आठसी असी योजन ऊंचा जाकर समझना चाहिये।

तत्र यदा त्रीणि शतसहस्राणि षोडशसहस्राणि सप्तश्चतानि अधिकानि परिधिपरिमाणं विश्वति तुरुपेषप्रवेशदिनगोचरे सर्वपध्यमंडले मेर्ह पंचलवारिशयोजनसहस्रेः पंचलप्तितयोजनिश्वद्विद्या योजनैकपिट्टिमागिश्वापाप्य सूर्यः प्रकाशयित तदाहिन पंचदशमुहूर्ता भवंति रात्री पेति समरात्रं सिध्यति । विषुपति दिने द्वाविशत्येकयोजनपिट्टिभागसाविरेकाष्ट्रसप्ततिद्विशतपंच-सहस्रयोजनपरिमाणकमुहूर्तगतिक्षेत्रोपपचेः ।

उन एकती चीरासी मण्डलोंमें जब सूर्य सम्पूर्ण मण्डलोंके मन्यमें स्थित हो रहा प्रकाश रहा है, तब दिन और रात्रिमें पन्दह पन्दह मुदूर्त होते हैं यों समान दिन रात सिद्ध हो जाता है। उस समय जम्मूरीपके सूर्यका अमण तीन लाख सोख्द हजार और दो अधिक सातसी ११६७०२ योजन परिधिके

परिमाणको भारता है। दक्षिणायनमें तुकाराशिक प्रवेश अवसरपर और उत्तरायणमें मेषराशिक प्रवेशक दिनका विषय होनेपर सूर्य मेरुको पेतालीस हजार योजन और पिचलर योजन तथा योजनके इकसठ भागों मेंसे चौबीस भागों करके दूर अप्राप्त हो कर चमक रहा है। अर्थात् --- जम्बृद्वीपकी वेदीके ऊपर जम्बूद्रीपका सूर्य घूमता रहता है। उत्तरायणका प्रकरण मिळनेपर वेदीके एकसी अस्सी योजन भीतरतक घुसकर प्रकाशता है और दक्षिणायनके दिनोंका विषय मिळनेपर वेदीसे तीनसी तीस और अडतालीस बटे इकसिंठ योजनतक बाहर लगण समुद्रमें जाकर प्रकाशता है। चार क्षेत्र पांचसी दशकी आधा कर यानी एक ओरके दोसी पचपनमेंस द्वीपके चार क्षेत्र एकसी अस्तीको घटा कर पिचत्तर योजन नेदीसे बाहर हटकर बीचली गली आती है। दश हजार योजन चौडे सुमेरु पर्वतके आधे पांच हजारको अर्थ जम्बूदीप पचास हजारमेंसे घटा देनेपर वेदीसे मेरुका व्यवधान पैताछीस हजार समझा जाता है। चूंकि बीचकी गली वेदीसे पिचत्तर योजन बाहर इटकर पड़ी है। अतः मध्यम गलीसे मेरुका भन्तर पैतालीस हजार पिचत्तर योजन ४५०७५ है। " इदि जीयण एगारह भागी जदि वहुदे यहा यदि वा '' इस नियम अनुसार आठसौ योजन ऊंचे सूर्यंके समतलपर सुदर्शन बहत्तर और आठ बटे ग्यारह योजन घट गया है। एक ओरकी घटाईके छिये आधा करनेपर छत्तीस और बढ जाते द । अतः मध्यम गलीसे मेरुका अन्तर पैतालीस हजार एकसी ग्यारह योजन हो जाता है । किन्तु यहां मेरुकी ग्यारहमें भाग घटाईके अनुसार छत्तीस और चार बटे ग्यारह योजनोंकी विवक्षा नहीं की गयी है। मध्यम वीथीतकका व्यास एक लाख एकसी पचास १००१५० योजन है । " विक्लंभकगदहगुण करणी वहस्स परिस्यो होदि '' इस नियमके अनुसार इसका वर्ग दस अरब तीन करोड बाईस हजार पांचसी होता है, इसको दस गुना करनेपर एक खरब तीस करोड दो छाख पद्मीस हजार १००२००२२५००० होता है। इसका वर्गमूछ निकाळनेसे तीन छाख सोळह हजार सातसी दो कुछ अधिक योजन मध्यम वीयीकी परिधि (घेरा) बन जाती है। चार क्षेत्र पांचसी दसके आधे दो सौ पचपनमेंसे एकसी असी योजन भीतरला भाग घटा देनेपर बेदीसे पिचत्तर योजन कवण समुदमें घुसकर मध्यम गठी मिळती है। भीतरले एकसी अस्सीमें पिचत्तर जोड देनेसे या बाहरले तीनसी तीसमेंसे पिचहत्तर घटा देनेपर भव्यम मार्ग दो सी पचपन योजन आ जाता है। जो कि चार क्षेत्र पांचसी दसका आधा है। छह छह महीनेके उत्तरायण, दक्षिणायन गमनके ठीक विचले एक एक दिनके छिये दिन और रात समान हो जाते हैं। " छम्मासद्भगपाणं जोइसयाणं समाणदिणस्ती, तं इसुवं '' (त्रिलोकसार) इसको निष्टमान् या निष्टन कहते हैं । निष्टमान् दिनमें पांच हजार दोसी अठहत्तर और एक योजनके साठ थागोंमेंसे बाईस मागसे अधिक परिमाणवाका स्थान एक मुहर्स यानी दो घडी अथवा अडताळीस मिनटमें हो रही सूर्यकी गतिका क्षेत्र बन जाता है। अर्थात् - हाई दीपके सभी सूर्य साठ मुहुर्तमें अपनी योग्य परिधीको घृमकर पूरा कर छेते हैं। जब कि जम्बूदीपका सूर्य मध्यम निधीपर अमण कर रहा साढ युक्तीमें तीन काचा, सोकह राजार सात सी दो योजन कुछ

अधिक परिधिको पूरा करता है तो एक मुक्तिमें कितनी परिधिपर चक्कर छगायगा ? इस त्रैराशिकके अनुसार एक मुहर्राकी गतिका क्षेत्र निकळ जाता है। जम्बूद्वीपमें आमने सामने सदा वर्त रहे दो सूर्य हैं बो कि जम्बूद्वीपके अन्तमें वेदीके ऊपर एकसी चौरासी गळियोंने यूमते रहते हैं। छवणसमुद्रमें जम्बूद्वीपकी नेदिसे पचास इजार भीतर पुसकर उठे हुये जलभागमें घूम रहा ल्वणसमुद्रका पहिला सूर्य है। इससे एक लाख योजन मीतर और घुसकर दूसरा सूर्य है जो कि ल्वंणसमुद्रकी बेदी (परली) से पचास हजार योजन उरली ओर जलमें है। यों ब्वणसमुद्रमें एक ओर दो सूर्य हैं और इसी प्रकार सुमेरुको बीचमें देकर इनके ठीक सामने परछी ओर लवणसमुदमें दो अन्य सूर्य है, जो कि साठि मुहर्तमें अपनी अपनी परिधिका पूरा अमण कर केते हैं। यो चारों सूर्य ग्यारह हजारसे छेकर सोछह हजार योजनतक ऊपर उठे हुये जलमें स्वकीय नियत स्थानोंपर चुमते रहते हैं। दो लाख योजन चौडे लवणसमृद्रमें एक ओर दो सूर्य इधर उधरकी वेदियोंसे पचास इजार योजन धुसकर हैं। अतः सूर्यकी चौडाई अडताळीस बटे इकसिंठ योजनको एक छाखमें घटा देनेसे निन्यानवै इजार नौ से निन्यानवें और तेरह बटे इकसिट योजन छवण समुद्र सम्बन्धी एक सूर्यसे दूसरे सूर्यका अन्तर निकछ आता है। धातकीखण्डमें बारह सर्थ हैं। " दो हो वग्गं बारस बादाळ बहत्तरिद इणंसखा पुक्खर दलोत्ति परदो अविहया सन्त्र जोइगणा "। जो कि एक ओर छह और ठीक उसके सामने सुमेरु पर्व-तका अन्तराल देकर परली ओर छह चूम रहे हैं। " सगरविदलविंबूणा लवणादी सगदिवायरद्ध-हिया, स्रंतरं सुजगदी आसण्ण पहंतरं तु तस्स दलं '' इस त्रिकोकसारकी गाथा अनुसार सूर्य सूर्यका अन्तर और वेदिकासे सूर्यका अन्तर निकाल छेना चाहिये । इसी प्रकार कालोदक समुद्र और पृथ्करार्ध द्वीपके न्यालीस और बद्दत्तरि सूर्योको भी जान ले। एक ओर आधे और इसी प्रकार दूसरी ओर सुद-र्शन मेरुका व्यवधान देकर इकईस और छत्तीस सूर्य तारतम्यको छ रही गतिसे अमण कर रहे हैं। दो दो सूर्य और दो दो चन्द्रमाका चार क्षेत्र एक एक नियत है। हां, ढाई द्वीपसे बाहर द्वीपों और समुद्रोंकी नेदीसे पचास हजार योजन और उससे परें एक छाख योजन चळ कर गोछ द्वीप, समुद्रोंमें बल्य रचलिये गये हैं। उनमें एक सी चवालीस, एक सी अबतालीस, आदि नियत हो रहे सूर्य-बिम्ब सूक्ष्म परिधिके विभाग अनुसार अवस्थित हैं। यों ढाई उद्घारमागरके समयों प्रमाण असंख्याते द्वीप समुद्रोंमें असंख्याते सूर्य और चन्द्रमा आदि हैं । इसका विशेष त्रिळोकसारमें दृष्टव्य है ।

दक्षिणोत्तरे समप्रणिधीनां च व्यवहितानामपि जनानां प्राच्यमादित्यप्रतीतिश्च छंकादि-कुरुक्षेत्रांतरदेशस्थानामभिमुखमादित्यस्योदयात् । अष्टचत्वारिश्चयोजनैकपष्टिभागत्वात् प्रमाण-योजनापेक्षया सातिरेकिनिवतियोजनश्चतत्रयप्रमाणत्वादुस्तेभयोजनापेक्षया दूरौदयत्वाश्च स्वाभिमुखछंबीद्वयविभासितदेः ।

दक्षिण और उत्तरदेशोंमें समान रेखान्तरपर प्राप्त हो रहे और दूरदेशका व्यवधान क्षेत्र रहे भी मनुष्योंके पूर्वदिशामें ही स्पेक उदयको प्रशांति के वही है। क्योंकि स्वहारे बादि केनार कुरुक्षेत्रतक अनेक मध्यवर्ती देशोंमें स्थित हो रहे मनुष्योंके अभिमुख होकर सूर्यका उदय हो रहा है। कारण कि बड़े माने जा रहे प्रमाण योजनकी अपेक्षा एक योजनके इकसिठ मागोंमें अडताकीस माग परिमाण सूर्य है। चूंकि चार कोसके छोटे योजनसे पांचसी गुना बड़ा योजन होता है। अतः अडताळीसको पांचसीसे गुणा कर देनेपर और इकसिठका माग देनेसे तीनसी तिरानवे सही सत्ताईस बटे इकसिठ छोटे योजनका सूर्य बैठता है। यह उत्सेघ अंगुल्से बनाये गये योजनकी अपेक्षा कुल अधिक तीनसी तिरानवे योजनप्रमाण है। आठ पड़े जीका एक अंगुल, चीबीस अंगुल्का एक हाथ, चार हाथका एक धनुष, दो हजार धनुषका एक कोस और चार कोसका एक योजन, ऐसे तीनसी तिरानवे योजन लम्बा चौड़ा सूर्य है। दूसरी बात यह है कि उगते समय यहांसे हजारों बड़े योजनों दूर सूर्यका उदय होनेसे व्यवहित हो रहे मनुष्योंके भी अपने अपने अभिमुख आकाशमें लटक रहे देदीच्यमान सूर्यका प्रतिभासना सिद्ध है। मावार्थ—सूर्य भी बड़ा है और चमकदार है तथा उदय होते समय सूर्य यहांसे बहुत दूर है। सबसे बड़ा दिन हो जानेपर सँतालीस हजार दो सी त्रेसठि बड़े योजन दूरपर रहता है और छोटे दिनके अवसरपर इकतीस हजार आठसी इकतीस योजन दूर है। अतः लड़ा, उज्जेन, कुरुक्षेत्र, आदि दूर दूर देशोंपर ठहरे मनुष्योंको भी अपनी पूर्व दिशाकी ओर सन्मुखरेखापर दीख जाता है। जितना बड़ा या दूरवर्ती पदार्थ होता है उतनी ही देखनेवाळोंको उसकी सरल रेखाकी टेड कमती होती जाती दीखती है।

द्वितीये अहिन तथा प्रतिभासः कृतो न स्यात्तद्विश्चेषादिति चेन्न, पंढळांतरे सूर्यस्यो-दयात् तदंतरस्योत्सेश्योजनापेक्षया द्वाविशत्येकषष्टिभागयोजनसहस्रप्रमाणत्वात्, उत्तरायणे तदुत्तरतः प्रतिभासस्योपपत्तेः दक्षिणायने तद्दक्षिणतः प्रतिभासनस्य घटनात् ।

कोई प्रतिवादी आक्षेप करता है कि दूसरे दिन तिस प्रकार अपने ठीक सन्मुख गगनतलमें अवलन्तित हो रहे सूर्वका प्रतिभास किस कारणसे नहीं हो पाता है ! जब कि उतने ही बढे सूर्यका उतनी ही दूरपर उदय होना अन्तररहित विद्यमान है । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि दूसरे दिन अगने दूसरे मण्डलमें सूर्यका उदय हो जाता है । पहिले दिनके सूर्योदयसे इस दूसरे दिनके सूर्योदयका अन्तर छोटे उत्सेध योजनोंकी अपेक्षा एक हजार योजनप्रमाण हो जाता है । अर्थात्—एक एक मण्डलका अन्तर बढे योजनोंसे दो योजन है । पांच सो से गुणा कर देनेपर छोटे एक हजार योजन हो जाते हैं । " दीडवहिचारिक वेदीए दिणगदीहिदे उदया " इस नियमके अनुसार बाईस बटे इकसिंठ बढे योजन प्रमाण संख्या निकाल लेनी चाहिये । स्यूल रूपसे सर्वत्र जम्बूदीप सम्बन्धी एक सो चौरासी मण्डलों प्रत्येकका एक एक हजार छोटे योजनका व्यवधान पड़ा हुआ है । अतः सूर्यके उत्तरायण होनेपर उन लंका, कुरुक्षेत्र आदिके उत्तरकी और हुकता हुआ पूर्वमें प्रातःकाल सूर्योदयका प्रतिमास होना कन जाता है । और दक्षिणायनमें उन देशोंसे दक्षिणकी और हो रहे सूर्योदयका प्रतिमास होना कन जाता है । और दक्षिणायनमें उन देशोंसे दक्षिणकी और हो रहे सूर्योदयका प्रतिमास होना कन जाता है । और दक्षिणायनमें उन देशोंसे दक्षिणकी और हो रहे सूर्योदयका प्रतिमास जाना बरिश

हो जाता है। छोटे हजार योजन इट इटकर प्रति दिन उदय होनेसे उत्तर दक्षिणकी ओर सूर्यी-

सूर्यपरिणामद्क्षिणोत्तरसमप्रणिषिशूभागादन्यप्रदेशे कृतः माची सिद्धिरिति चेत्, बद-नंतरमंडके तथा सर्वाभिम्रखमादित्यस्योदयादेवेति सर्वमनवर्यं, क्षेत्रांतरेपि तथा व्यवहारसिद्धेः।

कोई पूंछता है कि स्यांदय परिणाम के बारी पूर्वदेशों या उसके समतळ निकटवर्ती उत्तर दक्षिण भूमागों में सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशाकी मळे हैं। प्राप्तिहि हो जाय, किन्तु उनसे न्यारे अन्य प्रदेशों में मळा पूर्वदिशाकी किहि किस ढंगसे करोगे ! इस प्रकार पूछनेपर तो हम समाधान करते हैं कि उसके अञ्यवहित परली ओर के मण्डलपर तिस प्रकार दूरवर्ती होकर सबके समुख तीन सौ जानवे छोटे योजन लम्बे चोंडे सूर्य उदय होनेसे ही पूर्वदिशाकी सिद्धि हो जाती है। अर्थात् — जम्बूद्विप के आमने सामने हो रहे दो सूर्य जब जम्बूद्विपकी बेदी के ऊपर पांच सौ दस योजन क्षेत्रमें सब ओर घूम रहे हैं तो सबसे पहिले उदय अनुसार सब देशवालोंको पूर्वदिशाकी सिद्धि हो जाती है, सूर्योदय अनुसार पूर्वदिशाकी कल्पना करनेपर मिन्न मिन्न देशवालोंको दिशाओंका सांकर्य भी हो जाता है, तभी तो " सर्वेषामेव वर्षाणां मेकरुत्तरतः क्षितः" यह नियम अक्षुणण वन जाता है। इस प्रकार जैन-निद्धान्त अनुसार सम्भूण व्यवस्था निद्धेष बन जाती है। हैमवत, हरि, विदेश, आदि न्यारे न्यारे क्षेत्रोंमें भी तिस प्रकार पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, दिशाओंक व्यवहार प्रसिद्ध हो जाते हैं। कोई दोष नहीं आता है।

तदेतेन माचीदर्शनाद्धरायां गोलाकारतासाधनममयोजनायुक्तं तत्र तत्र दर्पणाकारतायामपि माचीदर्शनोपपचेः। यदा तु सूर्यः सर्वाभ्यंतरपंदले चतुश्रत्वारिश्रयोजनसङ्ग्नेरष्टाभिश्र योजनसतिविशैमें हमप्राप्य मकास्रयति तदाइन्यष्टादश्च युद्धती भवन्ति । चत्वारिश्रषद्खताधिकनवनवियोजनसङ्ग्लिच्कंभस्य त्रिगुणसातिरेकपरिधेस्तन्मण्डलस्यैकाकात्रिंशयोजनपष्टिभागाधिकैकपंचाशिद्धस्तीचरयोजनसङ्ग्लपंचकमात्रयुद्धतगितिहेत्रत्वसिद्धः सेषा मक्कंपर्यन्ततः मान्ना दिवाद्वदिद्दानिश्र रात्री सूर्यगतिभेदादभ्यंतरमंदलात् सिद्धा ।

तिस कारण इस कथन करके उस भूगोळको माननेवाळेका यह हेतु अनुक्ठतर्करित कह दिया जा खुका है कि प्राची दिशाके देखनेसे पृथिवीमें गोळ आकारका साधन कर ळिया जाता है। क्योंकि उन उन प्रान्तोमें भूमिका दर्पणके समान समतळ आकार होनेपर भी पूर्विदेशाका दीख जान। वन जाता है। अर्थात्—स्यारे न्यारे मण्डळोंपर सूर्यका उदय हो। जानेसे अनेकदेशीय पुरुषोंको मिक भिक्त दिनोमें अपने अपने सन्मुख सूर्योदय अनुसार पूर्विदेशा दीख जाती है। हां, जिस समय सूर्व सबसे बन्ने दिनके अवसरपर सन्पूर्ण मण्डळोंके मीलवळे मण्डळमें चनाळीस हजार योजन और आह

सी बीस योजन मेरसे दूर अप्राप्त होकर प्रकाशता है, तब तो दिनमें अठारह मुहूर्त हो जाते हैं। आधा मेर ५००० योजनका है। और सूर्य १८० योजन भीतर आ गया है। दोनों ओर छह सी चालीस योजनोंसे अधिक निन्यानवे हजार ९९६४० योजन अभ्यन्तर बीयीकी चौडाई हो जाती है। '' विक्खन्मवग्गदहगुण करणी बहस्स परिरयो होदि '' इस नियम अनुसार कुछ अधिक तिगुनी अर्थात्—तीन छाख पन्द्रह हजार नवासी ३१५०८९ योजन इमकी परिधि है। एक सूर्य साठ मुहूर्तमें जब इतनी परिधिका अमण करता है, तो एक मुहूर्तमें कितनी परिधिको पूरा करेगा ? इस नैराशिक विधिक अनुसार पांच हजार दो सो इन्यावन योजन और एक योजनके उन्तीस बटे साठि भाग अधिक एक मुहूर्तकी गतिका क्षेत्र होना सिद्ध हो जाता है। सो यह सूर्यके सबसे भीतरली गलीपर कूमनेके दिन अठारह मुहूर्त यानी चौदह सही दो बटा पांच बन्टे प्रकर्षपर्यन्तको प्राप्त हो रही दिनकी वृद्धि है। और इसी दिन बारह मुहूर्तकी रात है। अतः यह रातकी सबसे बढी हुयी हानि है। जो कि सूर्यकी गति विशेषसे हो रही उसके अभ्यन्तर मण्डलपर आनेसे सिद्ध हो जाती है।

यदा च सूर्यः सर्वशास्रमंडले पंचवत्यारिशत्सहस्नैश्लिभिश्र शतै (संशैर्योजनानां मेरुमप्राप्य भासयित तदाहिन द्वादशस्त्रहर्ताः । षष्ट्रचिकशतषट्कोत्तरयोजनशतसदस्रविष्कं भस्य तित्रग्रण-सातिरेकपरिधेः तन्मंडलस्य पंचदशैकयोजनषष्टिभागाधिकपंचोत्तरशतत्रयसहस्रपंचकपरिमाण-गतिस्रहर्तक्षेत्रत्वात् सेषा परमभकर्ष। यन्तप्राप्ता तावदिवाहानिश्चिश्च रात्रौ सूर्यगतिभेदाद्वाद्याद्व-मनसंदमंडलात् सिद्धा ।

तथा जिस समय सूर्य जम्बूद्दीपकी बेदीसे समुद्दकी और तीन सौ तीस अडतालीस बटे इक्सिट योजन अधिक इटकर सबसे बाइरके मण्डलपर पैतालीस इजार तीन सौ तीस अ५३३० योजनों करके मेरुको अप्रप्त होकर प्रकाशता है, तब दिनमें बारह मुद्धत हो जाते हैं। एक लाख छह सौ सोठ १००६६० योजन बाइरली बीबीको चौडाई है। दोनों ओरके पथ न्यास पिण्ड छयानवें बटे इक्सिट योजनकी विवक्षा नहीं की गयी है। उस बाइरले मण्डलकी इससे कुछ अधिक तिगुनी यानी तीन लाख अठारह इजार तीन सौ चौदह ३१८३१४ योजन परिषि है। साठि मुद्धतेंमें इतनी परिषिको पूरा चूमता है, तो एक मुद्धतेंमें सूर्य कितना चूमगा ! इसका उत्तर एक योजनके साठि मार्गोमें चौदह या पन्दह भागसे अधिक पांच हजार तीन सौ पांच योजन है। इतने योजन परिमाणवाला एक मुद्धतेंकी गतिका क्षेत्र होता है। सो यह तो परमप्रकर्षके पर्यन्तको प्राप्त हो रही दिनकी हानि है। अर्थात्—बाहरकी गलीमें चूमनेपर बारह मुद्धतें यानी ०३ घन्टाका दिन होता है। तथा यह रातमें सबसे बढी इपी इदि है। अर्थात्—इस दिन सबसे बढी अठारह मुद्धतेंकी रात होती है। जो कि सूर्यकी गति विशेष अनुसार पांचसी दस योजन सम्बन्धी आकाश क्रयूक बाहरले मण्डलसे हो रही सिद्ध हो जाती है।

मध्ये त्वनेकविधा दिनस्य दुद्धिहोनिश्रानेकमण्डलभेदात् सूर्यगतिभेदादेव यथागमं गंदर्कं यथागणनं च प्रत्येतच्या तथा दोषादुद्धिहीनिश्र युज्यते ।

दिनकी सबसे बढी इद्धि अठारह मुहूर्त और सबसे प्रकृष हानि बारह मुहूर्तकी सिद्ध कर दी गयी है। मध्यमें होनेवाली अनेक प्रकार दिनकी इद्धियां और हानियां तो अनेक सण्डलोंके भेदसे सूर्यकी गातिके भेद अनुसार ही हो जाती हैं। आगम अनुकृष्ठ और मण्डलपर गति अनुसार तथा परिधि गणनाका अतिकम नहीं कर समझ छेनी चाहिये। तिस ही प्रकार रात्रिकी इद्धि और हानियां भी समुचित हो रही युक्त बन जाती हैं। भावार्थ—" सूगदो दिणरक्ती अहारस बारसा मुहुक्ताणं अन्यन्तरिह एदं विवरीयं बाहिरिह हने" " कक्कडमयेर सञ्चन्मन्तर बाहिर पहिंडओ होदि, मुहभूमीण विसेसे बीधीणंतरिहदे पचयं" (त्रिलोक्सार)। यों प्रति दिन दिन और रातकी हानि या इदिका चय दो बटे इकसिट मुहूर्त समझ छेना चाहिये।

तदेतेन दिनरात्रिष्टदिहानिदर्शनाद्भवो गोलाकारतानुमानमपास्तं, तस्यान्यवानुपपिन-वैकल्यादन्ययेव तदुपपत्तेः।

तिस कारण इस कथन करके भूगोलवादियों के इस अनुमानका भी खण्डन कर दिया गया समझों कि पृथिवीका आकार गोल है (प्रतिहा) क्योंकि दिन या रातकी वृद्धि और हानियां देखीं जा रही हैं (हेतु)। बात यह है कि उस हेतु की अपने साध्यके साथ अविनामाव बने रहने की विकलता है। साध्यके विना ही उस हेतु की उपपत्ति हो जाती है। भावार्थ—पृथ्वीके इस आकारके साथ दिन या रातकी हानि, वृद्धियों का नियम नहीं है। सूर्यकी अनेक मण्डलोंपर हो रही गतिके अनुसार वह दिन और रातका घटना, बढ़ना दूसरे प्रकारोंसे ही बन जाता है।

तथा छाया महती द्रे सूर्यस्य गतिमनुमापयित अंतिके अतिस्वल्या न पुनर्भूमेगों छका-कारतामिति छायाबुद्धिहानिदर्शनमिप सूर्यगतिभेदिनिमित्तकभेव । मध्यान्हे किचिच्छायाविरहेपि परत्र तहर्शनं भूमेगों छाकारतां गमयित समभूमौ तदनुपपत्तिरित चेश्व, तदापि भूमिनिम्नत्वो-स्वतत्विक्षेषमात्रस्येव गतेः तस्य च भरतेरावतयोर्द्धत्वात् " भरतेरावतयाबुद्धिन्हासौ षद्-समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणी म्यां इति बचनात् ।

उक्त वार्तिकों में इसके आगे छाया पढ़ी हुई है । इसका विवरण यों है कि तिसी प्रकार सूर्यके दूर होनेपर बढ़ी कम्बी पढ़ रही छाया और सूर्यके निकट होनेपर अति अल्प हो रही छाया भी सूर्यकी गतिका ही अनुमान कराती है । किन्तु किर पृथिवीके गोळ आकारसहितपनको अनुमित्ति नहीं कराती है । इस प्रकार छायाको हुद्धि और छायाकी हानिका दीखना भी सूर्यकी मिन भिन्न गति-आँको निमित्त पाकर ही हुआ कहना चाहिये । जतः प्रातःकाळ सूर्यके हुए स्वनेपर हुई, गृह,

मनुष्य आदिकी छाया छम्बी पडती है और मध्यान्द्रतक सूर्य के निकट आ जानेपर छाया छोटी छोटी होती जाती है । पुनः मन्यान्हसे सार्यकाळतक सुर्विक अधिक अधिक दूर होते जानेपर छाया बढती चली जाती है। देदीच्यमान पदार्थीक दूर निकट जाने आ जानेपर छाया बढती, घटती, हो रही प्रसिद्ध है। कवि कहता है कि "आगम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण छन्नी परा कृदिमती च पश्चाद, दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिना छायेव मैत्री खळलग्रनानाम् " । यदि यहां कटाक्ष करे कि मध्यान्हके समय किसी देशमें छायाका अभाव होनेपर भी दूसरे देशोंके इपारके समय उस छायाका दर्शन हो रहा (हेतु) भूमिक गोल आकारको साध देवेगा । क्योंकि समलक भूमिमें वह कहीं छायाका न होना और कहीं होना नहीं बन सकता है। भावार्थ — सूर्यकी निच्छी और ठीक सीधी रेखा पर खडे हुये मनुष्यभी छाया नहीं पडती है । हां, गोल पृथिवीके कुछ इधर उधर कालमें खंडे हो जानेसे तिरके ोगये मनुष्यसी दोपहरकी छाया अवस्य पढ जायगी। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तब भी भूमिक केवल नीचेपन या ऊंचेपन विशेषोंकी ही उस हेत्रसे बति हो सकेगी और वह भूभिका नीचा ऊंचापन भरत ऐरावत क्षेत्रोंमें काल्यश हो रहा देखा जा चुरा ै। स्वयं पृत्र्यचरण सूत्रकारका इस प्रकार यचन है कि भरत देशकत क्षेत्रोंके बादि और हास छा समयवाली उत्सार्पणी और अवसर्पिणी कालों करके हो जाते हैं। बर्चात-भरत और ऐरावतमें आकाशकी चौडाई न्यारी न्यारी एक छाखे एक्सी नम्बेवें भाग पानी पांचसी छव्वीस सदी छड वटे उन ईस यो नन भी ही रहती है। किन्तु अवगाहन शक्तिके अनुसार इतने ही आकाशमें भूमि बहुत घट, बढ, जाती है। न्यूनरी न्यून पांचरी छन्त्रीस छह बटे उनीस बोजन भूमि अवस्य रहेगी। बढनेपर इसले कई गुरी अधिक हो सकती है। इसी प्रकार अनेक स्थळ कहीं वीसों कोस ऊंचे, निचे, टेढे, तिरछे, कौनियाये, हो रहे हो जाते हैं । अतः अमण करता हुआ सर्य जब दुपहरके समय ऊपर आ जाता है, तब सूरीने सीवी रेखापर समतल भूतिमें खडे हुये मनुष्योंकी छाया किंचित् भी इश्रर उधर नहीं पढ़ेगी । किन्तु नीचे, ऊँचे, तिरछे, प्रदेशोंपर खड़े हुये मनुष्योंकी छाया इधर उधर पड जायगी। क्योंकि सीधी रेखाका मध्यम ठीक नहीं पडा हुआ है: भने ही जकडीको टेडी या स्त्री खडी कर उसकी छायाको देखने ।

तन्मनुष्याणाद्वत्सेथानुभवायुरादिभिष्टं दिश्सी भितपादितौ न भूमेरपरपुद्रहैरिति न मंतन्यं, गीणशन्दामयोगान्मुख्यस्य घटनाद्न्यथा मुख्यश्रन्दार्थातिक्रमे भयोजनाभावात् । तेन भरतरावतयोः क्षेत्रयोष्ट्रीदिण्हासी मुख्यतः मितपतन्यौ, गुणभावतस्तु तत्स्यमनुष्याणामिति तथावचनं सफळतामस्तु ते भवीतिश्रानुष्टंघिता स्यात् ।

थोडे आकाशमें बडी अवगाहनाशकी वस्तुके समाजानेमें आवार्य प्रगट करते हुये कोई विद्वान यों मान बैठे हैं कि मरत, ऐसवत, क्षेत्रोंकी इदि हानि नहीं होती है, किन्तु उनमें रहनेवाले

मनुष्योंके शरीरउष्यता, अनुमय, आयु, सुख, आदि करके रुद्धि और न्हास सूत्रकार द्वारा समझाये गये हैं। अन्य पुद्रलॉकरके मूमिके इदि और व्हास सूत्रमें नहीं कहे गये हैं। प्रन्थकार फहते हैं कि यह तो नहीं मानना चाहिये। क्योंकि गीण होरहे शब्दोंका सूत्रकारने प्रयोग नहीं किया है। अतः मुख्य अर्थ घटित हो जाता है। अन्य प्रकारोंसे पानी तत्में स्पित होनेसे तत् शन्दपनेकी सिद्धि या " भरतऐरावतयोः " को सप्तभी विभक्तिका रूप मान छेना इन दंगोंसे मुख्य शब्दके अर्थका अतिकामण करनेमें कोई प्रयोजन नहीं दीख रहा है । " मंचाः क्रोबन्ति " " गंगायां घोषः " आदि स्थलोंपर तात्पर्यकी अनुपपत्ति होनेसे मुख्य अर्थका उक्रंघन कर गीण अर्थका आदर कर लिया जाय । किन्तु यहां दृद्धि और हास इन कृदन्त क्रियाओंका योग हो जानेसे " भरतऐरावतयोः " इस षष्ठयन्तपदका उनमें आध्य हो रहे मनुष्य, पञ्च, आदिक यह गौण अर्थ नहीं किया जा सकता है। विचारशाली दार्शनिक सूत्रकार आलंकारिक कवियोंकी छटामें निमन्न नहीं हैं । अतः भरत ऐरावत शब्दका मुख्य अर्थ पकडना चाहिये । तिस कारण भरत और ऐरावत दोनों क्षेत्रोंकी वृद्धि और हानि हो रही मुख्यरूपसे समझ छनी चाहिये। हां, गौणरूपसे तो उन दोनों क्षेत्रोंमें ठहर रहे मनुष्योंके अनुभव आदि करके बृद्धि और हास हो रहे समझ छो, यों तुम्हारे यह। सूत्रकारका तिस प्रकार वचन सफलताको प्राप्त हो जाओ और क्षेत्रकी वृद्धि या दानि मान छेने पर प्रत्यक्षसिद्ध या अनुमान सिद्ध प्रतीतियोंका भी उद्धंघन नहीं किया जा चुका है। माबार्य-समयके अनुसार अन्य क्षेत्रोंमें नहीं केवल भरत ऐरावतोंमें ही भूमि ऊंची, नीची, घटती, बढती हो जाती है। तदनुसार दुपइरके समय छायाका घटना बढना या कचित् सूर्यका देर या शीव्रतासे उदय, अस्त, होना, घटित हो जाता है। तभी तो अगळे '' ताम्यामपरा भूमयोऽत्रिश्यताः '' इस सूत्रमें पढा हुआ " मूनयः " शब्द व्यर्थ सम्भव होकर ज्ञापन करता है कि भरत और ऐरावत क्षेत्रकी मूमियां अवस्थित नहीं हैं। ऊंची, नीची, घटती, बढती हो जाती हैं।

सूर्यस्य प्रहोपरागोपि न भूगोल्खायया युज्यते तन्मते भूगोलस्यात्यत्वात् सूर्यगोलस्य तबतुर्युणत्वात् तथा सर्वप्रासप्रहणविरोधात् ।

सूर्यका प्रहों के द्वारा उपराग होना (सूर्यप्रहण) भी भूगोलकी छाया करके होरहा मानना उचित नहीं है। क्योंकि उन मूल्यमण वादियोंके मतमें भूगोलका परिमाण अल्प माना गया है। सूर्य गोल उससे चौगुना स्वीकार किया है, तिस प्रकार होनेपर सर्वप्रासरूपप्रहण होजानेका विरोध पड़ेगा। वर्षात्—मूगोलवादी प्राचीन पण्डितोंने पृथिवीसे सूर्यको चौगुना स्वीकार किया है। यदि पृथिवीकी छायासे सूर्यक्रण माना जावेगा तो भरपूर सूर्यका उक जाना ऐसा खप्रास प्रहण नहीं पड सकेगा। क्योंकि छोटा पदार्य बढ़े पदार्थको पूरा नहीं उक पाता है। आधुनिक कई युरोपीय विद्वान सूर्यको सूमिक एक सी बाठ गुना या तेरह कास गुना अथवा पन्तह कास गुना स्वीकार करते हैं। आर्थमह,

ब्ह्याचार्य, आदि भारतवर्षीय विद्वान् भी पृथिवीसे सूर्यको बडा मान बैठे हैं। ऐसी दशामें भूगोबकी छायासे सर्वीग सूर्यप्रहण नहीं हो सकेगा।

एतेन चंद्रछायया सूर्यस्य ग्रहणमपास्तं चंद्रमसोपि ततोल्पत्वात् । क्षितिगोल्चनतुर्ग्रणछा-याद्वद्विघटनाचंद्रगोलवृद्धिगुणछायाद्वद्विघटनाद्वा ततः सर्वग्रासे ग्रहणमविरुद्धमेवेति चेत् कृतस्तत्र तथा तच्छायाद्वद्विः । सूर्यस्यातिदृरत्वादिति चेत्र, समतलभूमाविप तत एव छायाद्वद्विषसंगात् ।

चन्द्रकी छाया करके सूर्यका प्रहण पडना भी इस कथन करके खण्डित कर दिया गया है। क्योंकि उस सूर्यसे चन्द्रमाका भी परिमाण अल्प माना गया है। अल्प परिमाणत्राले पदार्थसे बढी परिमाणवाली वस्तुका एक अंश भले ही ढक जाय, किन्तु परिपूर्ण प्राप्त कथमपि नहीं हो सकता है। भावार्य-आर्यभट्टकृत स्त्रोक है कि " छादयति शशी सूर्य शशिनं च न महती मूच्छाया " प्रहणके अवसरपर चन्द्रमा सूर्यको और बडी पृथिवीकी छाया चन्द्रमाको ढक छेती है। सूर्य सिद्धान्तमें भी कहा है कि " छादको मास्करस्येन्दुरधःस्थो घनवद्भवेत्, भूच्छायां प्राङ्मुखश्चन्द्रो विशत्यस्य मनेदसौ " बृहत्संहितामें " मूच्छायां स्वप्रहणे भास्करमर्कप्रहे, प्रविशतीन्दुः प्रप्रहणे मतः पश्च-नेन्दोर्मानोश्व पूर्वाधीत् '' मास्कराचार्यने सिद्धान्तशिरोमाणि गोलाप्यायमें कहा है कि '' पूर्वाभिमुखो गच्छन् कुच्छायानन्तर्यतः शशी विशति, तेन प्राक् प्रप्रद्वणं पश्चात् मोक्षोऽस्य निस्सरतः " " भूमि-र्विधुं विधुं दिनं प्रहणोऽपि धत्ते " इत्यादिक मन्तव्य उचित नहीं है । यहां कोई भूगोळवादी कहते हैं कि दूर होनेपर छोटे पदार्थसे भी बडा पदार्थ ढक जाता है। आंखोंसे एक गज दूरपर एक छोटी सी किताबके आडे आ जानेसे पांच सी गज दूर वर्त्ती सैकडों गज लम्बा चौडा पदार्थ भी उक कर ओक्रिल हो जाता है। दूरपर पदार्थों की छाया भी बढ जाती है। तदनुसार भूगोलसे चौगुनी छायाकी बृद्धि घटित हो जाती है। अथवा चन्द्रगोळसे भी कई गुनी बृद्धिरूप छायाकी बृद्धि घटित हो जाती है। अतः उस बढी हुयी छाया अनुसार सूर्यका सर्वप्रास प्रहण पड जाना विरुद्ध नहीं है। यों कहनेपर तो आचार्य कहते हैं कि वहां सूर्यमण्डलके निकट तिस प्रकार उस छाय की बादि किस कारणसे बनेगी ! बताओ । यदि तुम भूगोळवांदी यों कहो कि सूर्य अत्यन्त दूर है, इस कारण धत्रेके कुछ समान छाया उत्तरीत्तर बढती हयी जा रही बन जाती है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि समतलमें भी तिस ही कारण यानी सूर्यके अति दूर होनेसे ही छायाकी दृदि होजानेका प्रसंग आजाता है। फिर तुमने छायाकी बृद्धिसे भूमिक गोड आकारको क्यों साधा था! अर्थात्-अमण करते हुये सूर्यके दूर देश या निकट देशमें वर्तनेपर छायाका बढना या घटना सध जाता है।

क्यं च भूगोकादेरूपरि स्थितं सूर्यं तच्छायाप्राप्तिः प्रतीतिविरोधात् तदा छायाविरह-प्रसिद्धेर्पर्योद्देनवद् ततः तिर्यक् स्थितं सूर्यं तच्छायाप्राप्तिरिति चेना, गोछात्पूर्वदिष्ठं स्थितं सी पश्चिपदिगभिद्धस्रकायोपपचेस्तत्माप्ययोगात् । सर्वदा तिर्थनेव पूर्ववृक्षणसंग्रस्ययमसंगात् । मध्यं दिने स्वस्थापरि तत्यतीतेश्र क्षितिगोळस्याभःस्थिते भानी चंद्रे च तच्छायया प्रहणमिति चेन्न, रात्राविव तददर्शनमसंगात् ।

दूसरी बात यह कहनी है कि भूगोल, चन्द्रगोल, आदिके ऊपर जब सूर्य स्थित होजावेगा तो ऐसी दशामें उनकी छाया सूर्यपर किस प्रकार प्राप्त होजावेगी ! क्योंकि प्रतीतियोंसे विरोध होजा-वेगा । उस समय तो मध्यान्हके समान छायाका विरह प्रसिद्ध होरहा है । यदि भूश्रमणबादी पण्डित यहां यों उत्तर कहे कि उन भूगोल आदिसे सूर्यके तिरला स्थित होनेपर सूर्यमें उनकी लाया प्राप्त होजाती है। प्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि भूगोळसे पूर्व दिशाओं में सूर्यके स्थित होजानेपर पश्चिमदिशाके अभिमुख छाया होना बनेगा। अतः उस सूर्यपर प्रथिती या चन्द्रमाकी छाया प्राप्त होनेका योग नहीं बन पावेगा। सर्वदा तिरछे ही सूर्यप्रहण होनेके भले प्रकार ज्ञान होनेका प्रसंग आवेगा, किन्तु दिनके मध्यभागमें आकाशके ऊपर उस सूर्यप्रहणकी प्रतीति होरही है। फिर मी कोई यों कहे कि मुगोलके नीचे सूर्य और चन्द्रमाके स्थित होजानेपर उनकी छाया करके सूर्यप्रहण पढ जावेगा । प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि रातमें जैसे सूर्यप्रहणका दर्शन नहीं होता है. उसीके समान दिनमें भी उस सूर्यप्रहणके नहीं दीखनेका प्रसंग आवेगा। अर्थात्—राह् अरिद्द विमाणा किंचूणं जोयणं अधोगंता छम्मासे पव्यंते चंदरवी छादयंति कमे " इस त्रिङोकसारकी गाथा अनुसार नीचे, नीचे चल रहे राहु और अरिष्ट विमानों करके सूर्य और चन्द्रमाका प्रहण पडना मानना चाहिये । यों छाया पढ जानेसे प्रदृण नहीं होजाते हैं । चन्द्रविमानके चार प्रमाणांगुङ नीचे राहुका विमान और सूर्य विमानके नीचे चार अंगुल नीचे अरिष्टका विमान अमण करता रहता है। अन्य दिनोंमें ये विमान अगळ बगळ रहते हुये घूमते हैं। अमावस्या या पूर्णिमाके दिन कदाचित् नीचे आजानेपर प्रहण दिवस मान लिया जाता है। यों पूर्णिमाके अतिरिक्त चन्द्रमाकं नीचे सदा ही राह्नका विमान तारतम्य अनुसार अमण करता रहता है। जोकि प्रत्यक्षित्व है। इस विषयके तल्स्पर्शी बिद्वान् भूगोल या सूर्यप्रहण आदिका अन्य समीचीन युक्तियों द्वारा अच्छा विवेचन कर छेवें। " निह सर्व: सर्वविद् "। मेरे निकट इस विषयके साधन असल्प हैं। श्री विद्यानन्द स्वामीकी युक्तियां अकाट्य हैं। हो, मेरे छेखमें त्रुटियां होना सम्भव है। "तदि जानन्ति तदिदः" उस विषयको उसिके परिपूर्ण अन्तःप्रवेशी विद्वान् जान सकते हैं । मनीषिणः शोधयन्तु ।

नज्ञ च न तयावरणकपया भूम्यादिष्ठायया ग्रहणग्रुपगम्यते तदिन्तिर्यतोऽयं दोषः । किं तिर्दे श अपरागकपया चंद्रादौ भूम्यायुपरागस्य चंद्रादिग्रहणव्यवहारिवषयतयोपगमात् । स्फिटिकादौ जपाकुमुमायुपरागवत् तत्र तदुपपत्तिरिति काश्चित्, सोपि न सत्यवाक् तथा सित सर्वदा ग्रहणव्यवहारमसंगान् भूगोकारसर्वदिश्च स्थितस्य चंद्रादेस्तदुपरागोपपत्तेः । जपाकु

स्रुगादेः समंततः स्थितस्य स्फटिकादेस्तदुपरागवत् । न हि चंद्रादेः कस्यांचिदपि दिश्वि कदा-चिद्रव्यवस्थितिनीम भूगीलस्य येन सर्वदा तदुपरागो न भवेत् ।

मुजमणवादी स्वपक्षका अवधारण करते हैं कि भूमि आदिकी आवरणस्वरूप हो रही छाया करके सूर्य आदिका प्रहण पडना उस प्रहणके वेता विद्वानों करके नहीं स्वीकार किया जाता है। जिससे कि यह उपर्युक्त दोष छग बैठे, तो प्रहणवेत्ता विद्वान क्या स्वीकार करते हैं ! इसका उत्तर यह है कि उपरागस्त्ररूप छाया करके प्रइण पडना माना जाता है। चन्द्र, सूर्य, आदिमें सूमि आदिके उपराग पड जानेको ही चन्द्र आदिका प्रहण पड जाना, इस न्यवहारके विषयपन करके स्वीकार किया गया है। जैसे कि स्फटिक, मोटे काच, आदिमें जपाका पुष्प, गुलाबका फल, ढंक आदिका उपराग पड जाता है। अतः उन चन्द्र आदिमें भूमि आदिके उपरागसे उस प्रहण पडनेकां उपपत्ति हो जाती है। भावार्थ-दीप्यमान सूर्य, चन्द्रमाओं के कपर धंघली पृथियी आदिकी छाया करके प्रहण होना हम नहीं मानते हैं। किन्तु धुंधले पदार्थकी चमकीले पदार्थपर आमा पढ जाने मात्रसे प्रहण हो जाता है। स्फटिकमें जपाकुसुमकी छाया नहीं पडती है, केवल जपा कुसुमकी आमासे स्फटिक लाल दीखने लग जाता है। जैसे घाममें लाल या हरा बका टांग देनेसे कुछ यहां वहां लाल या हरी कान्ति पड जाती है । हां, दर्पण या खड्गमें छाया पडती है । छाया और उपरागमें यहां अन्तर है । यहांतक कोई मूर्अमणबादी कह रहा है । प्रन्थकार कहते हैं कि वह भी सत्य बोख्नेवाखा नहीं है। क्योंकि तिस प्रकार होनेपर सदा ही प्रहणके व्यवहार होनेका प्रसंग आवेगा। जब कि भूगोल्से सम्पूर्ण दिशाओं मे चन्द्रमा आदि स्थित हो रहे हैं ऐसी दशामें चन्द्र आदिने उस मूगोलका उपराग पडना सदा बन जायगा जैसे कि जपाकुसुम, गेंदाका इल, प्रदीप, आदिके सब ओर स्थित हो रहे स्फटिक आदिपर उन जपाकुसुम आदिकी कान्ति पडना स्वरूप उपराग बन बैठता है। चन्द्र आदिकी किसी भी एक दिशामें कभी भूगोलकी भला व्यवस्था नहीं होय यह तो कथमपि तुम नहीं कह सकते हो जिससे कि सदा उस भूगोलका उपराग चन्द्र आदिके ऊपर नहीं हो सके। अर्थात्—आधुनिक भूगोलवादी मी सूर्यकी प्रदक्षिणा दे रही पृथिको मानते हैं । और चन्द्रमाको प्रथिवीकी परिक्रमा दे रहा स्वीकार करते हैं। ऐसी दशामें चन्द्रमा या सूर्य के ऊपर भूमिका उपराग पढ़ना सुत्रम कार्य है। चमकी छे पदार्थपर यहां वहांके पदार्थकी आभा अतिशीघ पढ जाती है।

तस्य ततीतिविमकर्षात् कदाचिक्र भवत्येव मत्यासस्यातिदेशकाळ एव तदुषगमादिति चेत्, किमिदानीं सूर्योदेर्श्वमणमार्गभेदोभ्युपगम्यते १ बादमभ्युपगम्यत इति चेत्, कथं नाना-राशिषु सूर्योदिग्रहणं मतिराश्चि मार्गस्य नियमात् मत्यासम्बत्तममार्गश्चमण एव तद्यटनात् अन्यथा सर्वदा ग्रहणमसंगस्य दुनिवारत्वात् ।

सदि पूर्वपक्षी बिद्वान यों कहें कि व चन्द्र आदिक उस भूगोलसे अत्यधिक दूर देशमें हैं। अतः देशका व्यवधान होनेसे कद्मचित् चन्द्रादिक जपर भूगोलका उपराग नहीं हो पाता ही है। हां, अतिनिकटबर्ची देशमें सम्बन्ध हो जानेके अवसरपर ही उस उपरागका होना माना गया है। यों कहनेपर तो हम जैन कहते हैं कि क्या इस समय सूर्य आदिके चारों ओर अमणका मिन्न मिन्न मार्ग स्वीकार किया जाता है! अर्थात — चन्द्रमा या भूमिका मिन्न मिन्न मार्गीपर अमण होना स्वीकार करनेपर ही दूर देशमें पहुंच जाना या निकट देशमें आकर चमकीले पदार्थीपर उपराग हाल देना बन सकता है। यदि तुम परपक्षी विद्वान यों कहो कि क्या आक्ष्म है। हम अत्यर्थ रूपसे अमणके मार्गका भेद बडी प्रसन्ततासे स्वीकार करते हैं। यों कहनेपर तो हम जैन आक्षेप करेंग कि बताओ अनेक राशिओंमें सूर्य आदिका अमण कैसे होगा! जब कि प्रसेक राशिपर अमणका मार्ग नियत कर दिया गया है। तब तो तुम्हारे विचार अनुसार अतिशय निकटवर्ती मार्गपर अमण करनेपर ही वह प्रहण पडना चटित हो सकता है। अन्य प्रकारोंसे माननेपर सर्वदा ही प्रहण पडते रहनेके प्रसंगका कठिनतासे भी निवारण नहीं किया जा सकता है।

मितराशि प्रतिदिनं च तन्मार्गस्यामितिनियमात् समराश्रदिवसम्बद्धिमानादिनियमामावः कृतो विनिवार्येत १ भूगोळशक्तोरिति चेत् , उक्तमत्र समायामिप भूमौ तत एव समराशिद्धिः नियमोस्तिति । ततो न भूछायया चंद्रब्रहणं चंद्रछायया वा सूर्यब्रहणं विचारसहं ।

एक बात यह भी तुमसे पूंछना है कि प्रत्येक राशि या प्रत्येक दिन जब उन भूगोछ, कन्द्रमा, आदिक मार्गका कोई प्रतिनियम नहीं हैं, तो ऐसी दशा हो जानेसे समान दिन रातके होने या दिनकी हृदि, हानि आदिके होने नियमका अभाव हो जाना भछा किससे निवारित किया जा सकता है! अर्थात् — बाहे कभी दिन, रात, समान हो जायंगे। छह छह महीने पीछे समान दिन रात होनेका नियम नहीं हो सकेगा। इसी प्रकार बाहे जब दिन रात घट, बढ, जायंगे। कोई नियत व्यवस्था नहीं रह सकेगी। यदि तुम यों कहो कि भूगोछकी शक्तिसे समान दिन रात आदिकी नियत व्यवस्था हो जायगी, प्रन्यकार कहते हैं कि यों कहनेपर तो हम पहिछे ही कह चुके हैं कि समतछ भूमिमें भी तिस ही कारणसे यानी भूमिकी शक्ति और सूर्य आदिकी गतिविशेषसे ही समान रात, दिन, आदिका नियम हो जाओ। व्यर्थमें अछीक सिद्धान्तोंके गढनेसे कोई छाम नहीं है। तिस कारण प्रथिवीकी छायासे चन्द्रमाका प्रहण मानना और बन्द्रमाकी छायासे सूर्यका प्रहण स्वीकार करना परीक्षा आप्रमक विचारोंको सहन नहीं कर सकता है। सिद्धान्तशिरोमणिके कर्ता भास्कराचार्य या आर्थमें आदि विद्वानोंका सन्तव्य समुचित नहीं है।

राहु विमानीपरागीन चंदादिश्रहणन्यवदार इति युक्तमुत्तक्यामः सक्कवायक्रविक्रकत्यात् ।

भारते हैं। इस विदान्तको हम युश्चिपूर्ण देख को है। क्योंकि यह मन्तव्य सम्पूर्ण कावक प्रमा-

णोसे रहित है। अर्थाह — प्रहण में सनय नीचे राहु या बारिएका विमान आ जाने से स्वी बन्द-मानी कान्ति दव जाती है। त्रिलोकसारमें कहा है। 'राहु और हिन्दी माणध्याद्वति' पर्माण अंद्वक चलका । गन्दण सासे विभाणा सरविमाणा कमें होन्ति '' राहु और अरिष्ठ विमानकी अजाके कपूर बढ़े बार अंगुल प्रमाण जपर चलकर कमसे चन्द्र विमान और सूर्य विमान अमण करते हैं। हा अन्य सम्बोम हीपमें कभी कभी बारह महिनेमें राहु के विमान सूर्यके ठीक नीचे भी आ जाते हैं। हा अन्य सम्बोम अगल, बगल, कुछ हर ही रहते हैं। शेष हाई द्वीपके बाहर असंख्यात द्वीप समुद्र सम्बन्धी राहु विमान तो असंख्यात सूर्यचन्द्रमाओं के ठीक नीचे न रहकर कुछ इचर जचर विराज रहे हैं। यहां भी चन्द्रमाक नीचे राहु विमान केवल पूर्णिमाको छोडकर सदा कमती बहती बना रहता है। चन्द्र-प्रहणके अवसरपर पूर्णिमाको भी नीचे आ जाता है।

न दित्राहुतियानानि सूर्योदिविमानेभ्योत्यानि अप्रांत । अध्यक्षादिस्रद्रोक्षनिक्षक्षिकः । सूर्यम् । मिणकंभानस्यानिः तदिनयुणसाविरेकपरिधीनिः चतुर्विस्रदियोजनेकपष्टिभागपाद्धक्यप्रितः सूर्यम् । विभानानि, तथा पट्पंचात्रयोजनेकपष्टिभायविष्कंभामान्यनि ततिययुणसाविशेषपरिधीन्यद्वाविष्ण्यः चिणकोजनेकपदिशामान्यद्वस्यानिः चन्द्रविपानानिः, तथैवायोजनिक्ष्णंभायाम्यानिः साविष्क्रयोजन चयपरिधीन्यार्थत्वीच्यात्रुक्षात्रकृतियानानि । तथैवायोजनिक्ष्णंभायाम्यानिः साविष्क्रयोजन

राष्ट्र या अरिष्ठके अनेक विभान तो सूर्य चन्द्रमा आदि विमानींसे छोटे हैं, यो शासदारा प्रतीत.
नहीं होते हैं। यानी सूर्य आदिके विभानोंसे राष्ट्र विभान बढ़े हैं। अनेक अन्तरित प्रदार्थी आगाप प्रमाणका ही साम्राज्य है। सर्वत्र युक्तियोंके प्रदर्शनकी टेव रखना प्रशस्त नहीं है। प्रकरणमें यह कहना है कि एक योजनके इकसिट मागोंमें अदतालीस मागप्रमाण कन्ने, चौढ़े, और उस चौड़ासी कुछ अधिक तिगुनी परिधिवाल तथा चौड़ाईसे आजी चौबीस बटे इकसिट योजन मोटाईवाल अर्स गोल और उसके कुछ अधिक तिगुनी परिधिवाल तथा अहाईस बटे इकसिट बढ़े योजनप्रमाण मोटाईकी प्रमा रहे असल्यात, चन्द्र विमान है। तथा इनके नीचे कुछ आगे पीछे वर्त रहे पूरे बढ़े एक योजनकी, क्रमाई चौड़ाईकी घार रहे और कुछ अधिक तिगुनी परिधिवाल तथा अहाईस बटे इकसिट बढ़े योजनप्रमाण मोटाईकी प्रमा है। तथा इनके नीचे कुछ आगे पीछे वर्त रहे पूरे बढ़े एक योजनकी, क्रमाई चौड़ाईकी घार रहे और कुछ अधिक तीन केजन परिधिवाल तथा ढाई सी बढ़े घनुष प्रमाण मोटाईकी घार रहे योजनोंसे अदतालीस वटे इकसिट योजन परिधिवाल तथा ढाई सी बढ़े घनुष प्रमाण एक विभान बढ़े योजनोंसे अदतालीस वटे इकसिट योजन कम्या चौड़ा और स्मान गोल है। नीचेकी ओर गोलाई है। और उपस्त जोर समान गोल है । नीचेकी ओर गोलाई है। और उपस्त जोर समान वटे इकसिट योजनकी है। और चक्ताका विमान बटे इकसिट योजन को परिधिवाल का बढ़े इससिट योजनकी है। और चक्ताका विमान कि इस सूर्य विमानकी परिधिवाल का कि क्रमान है। इस सूर्य विमानकी परिधिवाल का क्रमान विमान वटे इकसिट योजनकी है। और चक्ताका विमान का बटे इकसिट योजन की स्मान के क्रमान है। इस सूर्य विमानकी परिधिवाल का क्रमान विमान का क्रमान है। इस सूर्य विमानकी परिधिवाल का क्रमान विमान का क्रमान है। इस सूर्य विमानकी परिधिवाल का क्रमान विमान का क्रमान है। इस सूर्य विमानकी परिधिवाल का क्रमानकी का क्रमान है। इस सूर्य विमानकी परिधिवाल का क्रमानकी का क्रमान का क्रमान का क्रमान है। इस सूर्य विमानकी परिधिवाल का क्रमानकी का क्रमान का क्रमान का क्रमानकी परिधिवाल का क्रमानकी का क्रमानकी का क्रमानकी का क्रमानकी स्वाप का क्रमानकी स्वाप का क्रमानकी का क्रमानकी स्वाप का क्रमानकी स्वाप का क्रमानकी का क्रमानकी है। विमानकी का क्रमानकी का क्रम

पड़ याँ और विमानकों क्याई, बींबाई, इनसे बढ़ी पूरा एक योजन है जिसकी पीरिव तीन सही पूर्व कट छह पीजन होजाती है हा, मोटाई राइ विमानकी केवल बढ़े दाईसी धनुष प्रमाण है। काले राइ विमान करके सिर्व स्थ, बन्द्र मांजाकी किरणीका फैल्मा पानी उनके निमित्तक जन्य पुरुष्ठ पिण्डोंका विमान बाना इन जाता है। यही प्रहण पड़नेका रहस्य है। मले ही प्रहण दिन ग्रुप्तकायोंने प्राध निहा है, किर भी स्तिक, पातकका इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। जो कि पीराणिक केव्यन पारिकतीन मान रेखा है।

ततो न चेद्रविवस्य सूर्यविवस्य वार्श्यश्रीपरागो कुंटविषाणत्वदर्शनं विकथ्यते । नाम्य-न्यदा तीक्ष्णविषाणत्वदर्शनं च्याद्यत्यतं सदुवियानस्यातिष्टतस्य अर्थगोककाकृतेः परभविनो-परको समद्रके अर्थगोळकाकृतो सूर्यविवे चंद्रविन्ये तीक्ष्णाविषाणत्या मतीतिघटनात् । सूर्या-चंद्रमसो सहूणां च मतियदाचदुपरागभवसंभवाहस्युद्धादिषत् । येवेव हि ज्योतिर्गतिः विद्या-क्ष्मपरागविः सिद्ध इति स्याद्वादिनां दर्शनं ।

व चन्त्रपादिविधानस्य राष्ट्रविद्याननापरागाऽसे गाच्यः, स्फटिकस्यव स्वच्छस्य तैता-विकापराग्यकेवात् । स्वच्छस्य प्रनः स्पादिविभानानां मिणनयत्वात् । तस्तरमनीयस्यमभाणि विकासभाग्यपाति स्पादिधानानि, विभव्यमुणाव्यणीनि चत्रविभानानि अक्रमणिसयानि विभवस्यभागि स्पुत्रपानानि अस्पादिधानानि प्रशानमस्यापात् ।

सूर्य शादि विमानका राहुके विमान करके उपराग यानी धुंधली कान्तिताका या कान्तिराहित होजाना असम्मन करने योग्य नहीं है। क्योंकि स्वच्छ स्प्रदिकका जैसे छाछ जपापुणसे उपराग होजाता है, उसी प्रकार अंजन समान काळे उस राह्न विमान करके सुर्यादिका उपराम होना सम्भव जाता है। सूर्य आदि विमानोंका स्वच्छपना तो फिर मणिमय होनेके कारण व्यवस्थित है। तपाये गये काछ ध्रवर्णके समान प्रभाको धारनेवाछे और छोहिताक्ष मणिकी प्रचुरताके धारी अनेक सूर्य विमान 🖥 । और निर्मेख मृणाल (कमलकी ढंडी) समान वर्णवाले और मध्यमें क्रतिपय काले मणियुक्त चिन्होंको गोदमें भार रहे अनेक चन्द्रविमान है। एवं अंजनके समान प्रमाके धारी काळी अरिष्टमणिके प्राचुर्यको लिये हुये असंख्याते राहुविमान हैं। इस प्रकार सर्वेडोक्क परम आगमका सद्भाव है। भावार्थ-सूर्यका विमान तपाये सुवर्णके समान कुछ रिक्तमा किये इये चमकदार हैं। इससे बारह हजार उच्चा किरणें नैमितिक बनती रहती हैं। सर्व. चन्द्रमा, ग्रुक, बादि ज्योतिष्क विमान मूर्क्में उच्ण नहीं हैं । केवल सूर्य, मंगल, अग्रिज्वाल, अगस्य बादि विमानोंकी प्रभापें उच्य है। चन्द्रमाकी तो प्रभा भी शीतल है। चन्द्र विमान कुल हरितपनको िये हुने जमकदार हैं । जन्द्रमाकी नारह हजार शीतक किरणें हैं । जन्द्र विमानोंके बीजमें कई काले नीले मणिमय चिन्ह हैं तथा राहुका बिमान अंजनसमान कुछ कालिमाको लिये हुये हैं। जैनसिद्धान्त यह है कि सूर्य चन्द्र विमानोंके अधोभागमें कुछ अन्तराळ देकर कदाचित् राहुविमान आ जाते हैं। अतः उनकी प्रमा नीचेकी ओर नहीं फैळ पाती हैं। हां, अपने पूर्ण खरूपमें वे सर्वदा अक्षुण्ण -साते हैं । यथायोग्य नीचेके पुद्रल स्कन्धोंपर चाकचक्य नहीं पढ पाता है, जैसे कि डिक्यामें धरे **इये रहकी कान्ति चारों ओर नहीं फैळ पाती है। अथवा राहु के पूर्णरीत्या या कुछ माग नीचे आ** , बानेपर परिस्थित अनुसार स्वभावसे ही वैसी अत्यस्य कान्ति हो जाती है । स्वण्छ पदार्थके उन्मुख इहा और इत्यके अन्तरालमें पढे हुये काले नीले या घुंघले पदार्थ आ रही नैमित्तिक कान्तिको रोक देते हैं। ये सब बातें प्रत्यक्षसिद्ध हैं। यहां कता ती नी गति नहीं है। प्रत्यक्षप्रमाण और परमागम प्रमाणसे बाधित हो रहे कुसिद्धान्तोंका परीक्षकोंके हृदयमें आदर नहीं है।

श्विरोमार्च राहुः सर्पाकारो बेति मवादस्य मिध्यात्वात् तेन ग्रहीपरागातुपपर्तः बराह्-मिहरादिश्वरप्यभियानात् ।

राहु नामक एक विमान है जो कि कृष्ण या शुक्कपक्षमें चन्द्रमाक नीचे अमर्ग कर रहा देखिता रहता है। इस विमानक उपर अनेक सुन्दर प्रासाद बने हुये हैं। उनमें अपने परिकारप्तहित एक राहु नामका सुन्दर, दिव्य शरीरजारी, अधिष्ठाता निवास करता है। जो कोई पौराणिक पण्डित ऐसा बाद रहे हैं कि उपरका केवल सिरका भाग राहु है और नीचेका धूंब केतु है। अर्थात पुराणचर्चा है कि विष्णु जब अमृतको बांट रहे थे उस समर्थ राहु नामका एक राह्मस देवताका वेप धारण कर देवांकी पंक्तिमें भा किल था, मीहिनी इसकारी विष्णु मगदान करको अपना प्रदेश

दिया | वह श्रट पी गया | इस अवसरपर सूर्य और चन्द्रमाने पैश्न्य (चुगळी) कर दिया | किणुने कीधवश हो करके राहुका शिर काट डाळा | किन्तु वह अमृत पी चुका था | अतः मरा नहीं | इसी कारण सूर्य और चन्द्रमाको राहु और केतु प्रस छेते हैं । कोई राहुका आकार सर्प सरीखा मानते हैं । किन्तु यें सम्पूर्ण प्रवाद मिथ्या हैं । ऐसे उन राहु या केतु करके प्रहों द्वारा उपराग होना नहीं बनता है । वराहमिहर, आदि विद्वानोंने भी ऐसा ही कहा है । बृहत्संहितामें छिखा है, " एवमुपरागकारण-मुक्तमिदं दिव्यद्यमिराचार्येः राहुरकारणमिरमित्रित्युक्तः शाखसद्भावः" ।

कथं पुनः सूर्यादिः कदाचिद्राहुविमानस्यावीग्भागेन महतोपरज्यमानः कुंठविषाणः स एवान्यदा तस्यापरभागेनाल्पेनोपरज्यमानस्तीक्ष्णविषाणः स्यादिति चेत्, तदाभियोग्यदेवगति-विश्वेषाचिद्रमानपरिवर्तनोपपत्तेः । षोढशभिर्देवसहस्रेरुशंते सूर्यविमानानि भत्येकं पूर्वदक्षिणो-चरापरभागात् कमेण सिंहकुंजरवृषभतुरंगरूपाणि विकृत्य चत्वारि देवसहस्राणि वहंतीति बचनात् । तथा चंद्रविमानानि मत्येकं षोढशभिर्देवहस्रेरुशंते, तथैव राहुविमानानि मत्येकं चतुर्भिर्देवसहस्रेरुशंते इति च श्रुतेः ।

जैनोंके ऊपर कोई आक्षेप करता है कि यदि प्रहोपरागकी व्यवस्था यों है तो फिर बताओ - कि सूर्य आदिक कभी कभी राष्ट्रियमानके उरछे बढ़े भाग करके उपरागको प्राप्त हो रहे सन्ते तिस प्रकार मौथरे सींग रुरिखे आकारवाळे कैसे हो जाते हैं ! और वही सूर्य आदिक अन्य समयोंमें उस राहुके परछे छोटे भागकरके उपरागको प्राप्त हो रहे सन्ते मला पैने शौगसारिखे आकारवाले कैसे दीखने छग जाते हैं ! बताओ, यों कहनेपर तो आचार्य समाधान करते हैं कि उन अवसरोंपर उन विमानोंके बाह्क आभियोग्य जातिके देवोंकी गांत विरोधते उन सूर्य आदि विमानोंका परिवर्तन बन जाता है। देखो, सोळह इजार देवों करके सूर्य निमान धारे जाते और चलाये जाते हैं। प्रत्येक सूर्यको एक एक पूर्व, दक्षिण, उत्तर और पश्चिम मागोंसे क्रम करके सिंह, हाथी, बैल, और घोडेके रूप अनुसार विकिया कर चार चार हजार देव धारे रहते हैं, ऐसा शाखोंका वचन है। यानी पूर्वकी और चार हजार देव सिंहका रूप धारण कर सूर्य की चला रहे हैं। नियत गतिसे इधर उधर नहीं होने देते हैं। दक्षिण दिशामें हाथियोंका रूप धारे हुये चार इजार आमियोग्य देव सूर्यकी ं नियतगति अनुसार हो रहे हैं। उत्तरमें बैठका रूप धार रहे चार इजार देव सूर्य किमानको नियत स्पनस्था अनुसार छादे हुये हैं। तथा पश्चिम भागसे असवेषधारी चार सहस्र देव सूर्यको डाटे हुये ं है। मृतुष्यों हात चढायी गयी पर्वतीय गाडीको जिस प्रकार चारों ओरसे छग कर मनुष्य हीते हैं, 🐲 उसी प्रकार सूर्यविमानोंकी स्ववस्था है। तिसी प्रकार चन्द्रविमान भी प्रत्येक सोळह हजार देवों मर्दर्भ द्वीये जाते हैं। जस है। प्रभार राहित्यान भी एक एक चार हजार देवों करके भारे जाते हैं।

ेइस प्रकार आतीपत्र शाबाँसे निणात किया जाता है। जतः ऊँचा निचा, टेडा, मैंडा, गैमन हो जोनेसे कुण्डविषाण या तीरणनिषाण सारिख हो गया प्रदीपराग प्रतीत हो जाता है।

तदाभियोग्यदेवानां सिद्दादिकपविकारिणां इता गतिमदस्तादक् इति चेत्र, स्वमावत ''एव ' पूर्वोपात्तकपविश्वेपनिमित्तकादिति ''श्रूपः । सर्वेपमिवयभ्युपगमस्यावस्यभावित्वदिन्यया 'स्वष्टविश्वषट्यवस्यानुपपत्तः तत्मित्तिकस्यागमस्योसम्बद्धाधकस्य सञ्चीवाच ।

यदि यहां कोई यो प्रश्न करे कि उन सूर्य भादिन वाहक सिंह आदि क्रियोंकी विकियाकी धारनेवाळे आमियोग्य देवोंकी तिस प्रकारकी विशेष गति काला किसंकारपसे होजाती है ! याँ पूछनेपर तो इम सगीरव यह उत्तर कहते हैं कि स्वमावते ही उन देवेंकी वैसी गीत कोजाती है। बायु या रक्तकी होरही गतियोंपर कुचे। ब चछाना व्यर्थ है। दो चार कोटीतक कारण क्ताते हुये भी अन्तमें जाकर स्वभावपर ही टिककर सन्तोष प्राप्त होता है । पूर्व जन्मोंमें उपात्त किये गये कर्मविदेखोंका निमित्त पाकर उन आर्मियोग जातीय देवीकी स्वमावसे ही वैसी वैसी नाना प्रकारकी गति होजाती है, जिससे भिं शुक्कपंक्षकी दितीयाको कमी के वे खंड्ग समान, केमी तिरेके खंड्ग समान, कदाचित् मौथरा, पैना, सीगसारिका चन्द्रमा दीख जाती है। महणमें भी ऐसी ही देशों प्राप्त हो जाती है। प्रहणके अवसरपर किरणों या कलाओं के हक जाने वी अपेक्षा यह सिद्धान्त सर्वीगर्सेंदर प्रतीत होता े हैं कि वैसी परिस्थिति अनुसार उतनी ही मन्द्रकान्ति स्वभावसे ही उपन जाती है। जैसे कि गाँउ केंध-कार होजानेपर दर्पणमें प्रतिनित्र नहीं पढता है, या प्रयोग के किना पानी कपरको नहीं जहता है। सम्पूर्ण वादी प्रतिवादियों के यहां इस प्रकार स्वभावका स्वीकार करना आवश्यक रूपसे हीनेबाल कार्य है। अग्निश्वाळाका स्वभाव ऊपरको जाना है, गुरुपदार्थ अवःपतन स्वभाव बाले हैं । हान वालनैका स्वमाव है। पुरुष्के स्वभाव रूप आदिक हैं। यो सभी हो चलुओं में स्वभाव मानने पढते हैं विक्रिया अपने अभीष्ठ विशेष तस्त्रोंकी व्यवस्था नहीं बन सकती है। दूसरी बात यह है कि 'उन बाह्बनः अभि-योग्य देवोंकी गतिविशेषका प्रतिपादन करनेवाला आगम विद्यमान है। जिसके कि बाधक प्रमाणीका असम्भव होरहा है। ब्योतिवशासको विषयमें आगमकी शरण प्रायः सकको केनी वेदेती है। इसके बिना कोई ऐन्द्रियिक मस्यक्ष दर्शनका अभिमान (शेखी) क्खाननेवाले दो दो बार बार केमतिकंभी ्रक नक्षत्रकी मुक्तिका भी निर्णय नहीं कर सकते हैं । सम्पूर्ण क्योतिषक्षाक्षका वानना तो वंती केंद्रिके हैं। हां, त्रिकोक त्रिकालक आतके द्वारा-कहे गये शाकों द्वारा स्तीककालमें पूर्ण निर्णय कर किया जाता है।

गोलाकारा स्मिः समरात्रादिदर्शनान्ययातुप्पतिरियेतद्वायक्षमार्यस्याति श्रीत्ता, जनदेतोरमयोजकत्यात् । समरात्रादिदर्शनं हि पदि तिहद्भूपैर्मीलकारसायां साज्यापि हित्तिहा न मयोजकः स्यात् आञ्चन्यस्पेर्गीलकारतायामपि तद्वपत्ते । अय श्रीत्र्यमार्थाकारताया साज्यापि सर्वेद्वपत्ति । साज्यापि सर्वेद्वपत्ति ।

कोई मुभूगणवादी कवाश करते हैं कि मुद्दि (पक्ष) गोल आकारवाली है (सान्य) क्योंकि समातु रातु दिन होना, दिनका अदना बदना, रातका अदना बदना अनेक देशोंने एक ही समय न्यारी तिरकी देवी, आदि भाषाओंका महता, महोत्राग होना आदिका दर्शन अन्यया मानी गोळ भूमिको माने बिनाना बन नहीं सब्दा है (हेतू) यह अनुमान आप जैनोंके हस उक्त आरामका बायक खदा हुआ है । फिर आपूर्त व्यक्तीय आगमको बाधकरहित केले कहा । प्रत्यकार कहते हैं कि ग्रह तो नहीं कहता । क्योंकि इस अनुमानुमें कहा राया हेत् अपयोजक है। अपने साध्यके साथ नियतव्यासिको नहीं भार रहा है। विचारिये कि समरात्र आदिका दीख जाना यदि ठहर रही, भूमिके गोल आकार होनेको साम्स करनेमें हेत है ! तब तो हेत साध्यका प्रयोजक नहीं हो सकेगा नयभिकार दोष आता है । अग्रण कर रही मुम्बि गोड आकार होनेमें भी वह समरात्र आदिका दीख जाता, बन सकता है। अतः विपक्षमें न्याक्त नहीं होनेके कारण तुम्हारा हेत अनैकात्तिक हेलाभास है । अब सदि तुम भूअसण-वादी बनकर सूर्यके चारों ओर चूम रही मूमिक गोळ आकार होनेको साध्य करवेमें उस हेतुका प्रयोगः करोग्ने तो भी दुम्हारा हेतु अनुकूछतर्कनाला नहीं है। क्योंकि उहर रही भूमिके गोल आकार होनेपर भी वह समरात्र आदिका दीख जाना बटित हो जाता है । फिर भी व्यभिनार दोष तदबस्य रहा, जैसे कि मौद्धर्यको साधनेमें धनिकपना देत व्यभिनारी है। समान दिन रात आदिका दीखना तो भूमिकी चल और अचल दोनों दशाओंमें सथ जाते हैं। ऐसे विपश्चवृत्ति हेतुसे भूमि गोल आकारवाछी नहीं सथ पाती है।

अथ भूसामान्यस्य गोखाकारताय्यं साध्यायां दितुस्तराप्यायकारितर्वक्यूर्यादिश्रमण-वादिनामभूगोखकाकारतायागि भूमेः साध्यायां तदुपपचेः। समतळावागि भूमो ज्योतिर्गति-विभागसम्बद्धान्यदिद्यं स्थोपपादिवत्ताच । नातः साध्यसिद्धिः काळात्ययापदिष्टत्ताच । ममायाधितपक्षनिर्देशानंतरं प्रयुक्षमानस्य देवत्वेविष्रसंगात् । ततो नेदमतुमानं देत्वाभासोत्यं वाषकं अकृतसम्बद्ध वेनासादेवेद्यसिद्धिनं स्यात् ।

अब यदि तुम यों कहो कि मृमिके ठहरने या चूमनेका विशेष विचार नहीं कर मृमि सामानके कोक आक्राह्मके स्वापक नहीं है। क्योंकि सूर्य आदिका तिरहा अमण कहनेवाले या प्रियंकित सूर्यादिके उत्पादिका अमम कह हुदे प्रियंकों के महां मुम्कित आधे गोल आकार होनेको भी साच्य करनेपर वह सम रात आदिका ही खना बन जाता है। अर्थाद न्यूरा गोल आकार या आधा गोल आकार दोनों प्रकार अभिकी रचना माननेपर वह हेत बन जाता है। अतः पित्र भी व्यभिचार दोष तरकार हा। इसरे बात मह है कि उपणके सम्बद समत्त्व हो ही। प्रियं में अ्योतिष्क विमानोंकी विशेष चौडी और एक ठाख अस्ती हजार योजन मोटी इस हमारे तुम्हार आश्रय हो रही रत्नप्रभा सूमिको या इस छोटेसे मरतक्षेत्रको सपाट समतल मान किया जाय तो भी प्रस्थक्ष उपर दीख रहे इस अयोतिष्क विमानोंकी गति अनुसार समान दिन रात आदि हो जाते हैं। इन सिद्धान्तोंको साधनेमें अभी पूर्व प्रन्थद्वारा हम उपपित्त दे चुके हैं। इस कारण इस समरात्र आदि दीखनात्त्रक्रप हेतुसे भूमिकों गोंड आकार साध्यकी सिद्धि नहीं होसकती है। स्थिभचारके अतिरिक्त दूसरा दोष यह भी है कि तुम्हारा हेतु कालात्ययापदिए यानी वाधित हेताभास है। स्थिभचारके अतिरक्ष दूसरा दोष यह भी है कि तुम्हारा जाचुके प्रतिज्ञाक्षयनके अनन्तर प्रयुक्त होरहा है। यदि प्रमाणवाधित पक्षके होनेपर भी पुनः बलाकारसे हेतुका प्रयोग कर दिया जायगा तो अतिप्रसंग दोष वन वैठेगा। "अग्निरनुष्णः इन्यत्वाद्, प्रेस दुःखप्रदो धर्मः पुरुषाश्चितत्वाद् " आदि असत् हेतु भी सभीचीन हेतु वन जायेंगे। तिस कारण हेत्वाभाससे उत्पन्न हुआ यह तुम्हारा अनुमान हम जैनोंके प्रकरणप्राप्त आगमका बाधक नहीं है। जिससे कि इस आगमसे ही हमारे इष्ट सिद्धान्तकी सिद्धि नहीं होजाती। अर्थाद् आतोपत्र आगम हारा ज्योतिष्क देवोंकी गति, भूमिका समतल आकार, आदिक सब सध जाते हैं। व्यर्थकी शंकाओंमें कोई लाभ नहीं है। कतिपय यूरोपीय विद्वान भी पृथिवीको अचला सिद्ध करनेके लिये अनेक युक्तियों हारा उन्पुल होरहे हैं। अन्तमें जाकर सबको वही सर्वक्रोक आम्नाय अनुसार सिद्धान्त मानना परेगा।

ज्योतिःशास्त्रमतो युक्तं नैतत्स्याद्वादविद्विषां । संवादकमनेकांते सति तस्य प्रतिष्ठिते ॥ १७ ॥

इस कारण स्याद्वादियों के यहां ज्योतिषशास युक्तिपूर्ण सब जाता है। स्याद्वाद सिद्धान्तके साथ विद्वेष रखनेवाले पण्डितों के यहां यह अयोतिषशास समुचित होकर सम्बादक नहीं ज्यवस्थित होरहा है। स्योकि अनेकान्तिसिद्धान्तके प्रतिष्ठाप्राप्त हो चुकनेपर उस अयोतिषशासका सम्बादकपना निर्णीत होता है। बाधकप्रमाणोंसे रहितपना या सफलप्रवृत्तिका जनकपनारूप संवाद तो पदार्थीमें अनेक धर्म माननेपर ही घटित होता है।

न हि किंचित्सर्वथैकांते ज्योतिःशास्त्रे संवादकं व्यवतिष्ठते मत्यक्षादिवत् नित्याचेकांत-रूपस्य तिद्वषयस्य द्यानिश्चितासंभवद्वाधकत्वाभावात् तस्य दृष्टेष्टाभ्यां बाधनात्। ततः स्याद्वादि-नामेव तद्यक्तं, सत्यनेकांते तत्यितिष्ठानात् तत्र सर्वथा बाधकविरहितनिश्चयात्।

ज्योतिषशासको सर्वथा एकान्सस्वरूप मान लिया जावे तो कुछ भी सूर्यप्रदृण आदि परिणाम बाधारहित सिद्ध नहीं होते हैं। जैसे कि प्रत्यक्ष आदि प्रमाणोंमें संवादकपना सर्वथा एकान्तपर्ध मानने-पर घठित नहीं होता है। अथवा सर्वथा एकान्त पर्द्योग ज्योतिषशास्त्र समस्य प्रवृत्तिका जनक नहीं बन पाता है। जैसे कि प्रत्यक्ष, अनुमान, आदिक प्रमाण सर्वथा एकान्त माननेपर संवादक नहीं है। उस तुम्हारे ज्योतिष शासके विषय होरहे नित्यपन, चलपन, आदि एकान्तरूपोंके बाधक प्रमाणोंके असंमयनेका अच्छा निर्णय नहीं हो चुका है। क्योंकि उन एकान्तर्करूपकी प्रत्यक्ष और अनुमान आदि प्रमाणोंसे बाधा होजाती है। तिस कारण स्याद्वादियों के यहां ही वह ज्योतिषशास समुचित माना गया है। कारण कि अनेकान्त होनेपर ही उस ज्योतिषशासकी प्रतिष्ठा है। जेनोंके अनेकान्त बायक उस ज्योतिषशासकों सभी प्रकारोंसे बाधक प्रमाणोंक विशेषतया राहितपनका निश्चय होरहा है। यहांतक विधानन्द स्वामीने गम्भीरयुक्तियों और आम्नायप्राप्त शास्त्रों द्वारा ज्योतिषविषयका निर्णय करा दिया है। मुझ स्तोकजुद्धि माधाकारने स्वकीय स्वल्प क्षयोपशम अनुसार आचार्य महाराजके शब्दोंका तात्पर्य किखा है। किन्तु मुझसे यथायोग्य विवरण नहीं होसका है। विशेषह विद्वान हमें विषयपर अच्छी छानबीन कर जैनसिद्वान्तकी प्रभावना करें, यह मेरी समीचीन मावना है। जिनोक, छोकानुयोग, अतीव गम्भीर महोदिध है। उसमें जितना भी गहरा प्रविष्ट होकर अन्वेषण किया खानेगई उतनी ही अट्ट प्रमेयरलोंकी प्राप्ति होती जावेगी।

इत्यलं प्रतिभाशालिभ्यो महोदयेभ्यो नीरक्षीशक्तिचनहंसायमानेभ्यः ॥

अब इस समय श्री उमास्वामी महाराज मनुष्य छोकस्य ज्योति की गतिके सम्मन्त्र, काके जगद्भरमें प्रवर्त रहे ज्यवहार काडकी प्रतिपत्ति कराने के छिये अप्रिमसूत्रको कहते हैं।

तत्कृतः कालविभागः॥ १४॥

उन गतिमान् ज्योतिषियों करके किया जानुका समय, आविन, उच्छ्वास, मुहुर्त आदि व्यद-द्वार कार्लेका विभाग होरहा है।

किं कृत इत्याइ।

कोई जिज्ञासु पूंछता है कि उन ज्योतिषी देवोंकरके क्या किया गया है ! ऐसी जिज्ञासा होने-पर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्तिकको कहते हैं।

ये ज्योतिष्काः स्मृता देवास्तत्कृतो व्यवहारतः । कृतः कालविभागोयं समयादिनं मुख्यतः ॥ १ ॥ तद्विभागान्त्रथा मुख्यो नाविभागः प्रसिद्ध्यति । विभागरहिते हे तो विभागो न प्रकृ कवित् ॥ २ ॥

त्रिजीक त्रिकालदर्शी तीर्वकर श्रीत्रिकेन्द्रनाथ भगवान् समयसणमें विराजकर भण्यवीर्वक सम्बोका उपदेश देते हैं। बादकाय केला गणकरदेव का क्ष्मित समरण एक कर शुक्रावन दास स्वाती गूंचते हैं। पश्चात्—अनेक आवार्य आम्नाय द्वारा स्मरण होते चले आ रहे उस प्रमेयको शाकों में लिपिक्द करते हैं। अतः सर्वह्रोक्त अर्थका अविश्वित्र सम्प्रदाय द्वारा स्मरण कर परिहात हो रहे शाकोक्त अर्थको स्मृत यानी स्मरण किया जा चुका ऐसे कहनेकी परिपाटी चली आ रही है। अजैन विदान भी ईत्सरोक्त या बेदोक्त अर्थको मनुस्मृति, याइक्क्र्स्य स्मृति, पाराशर स्मृति आदि प्रन्थोंमें प्रन्यकर्ता ऋषियों द्वारा स्मरण किया जाकर लिपिबह कर दिया गया मानते हैं। गुरुपरिपाटी अनुसार श्री उमास्त्रामी महाराज करको जो क्योतिष्क देव स्मरणपूर्वक कहे जा चुके हैं, उन देवों करक गति द्वारा किया गया समझना चाहिय। मुख्यस्रप्ते यह कालिकाग क्योतिष्कों करके नहीं किया जा सकता है। अर्थात्—मुख्य काल्द्रक्य तो नित्य है। किसी द्वारा किया नहीं जा सकता है। अर्थात्—मुख्य काल्द्रक्य तो नित्य है। किसी द्वारा किया नहीं जा सकता है। हां, व्यवहारकालोंकी नापको ज्योतिष्कों द्वारा सावा जाता है। किन्तु यह अवस्य है कि उस व्यवहार कालके समय आवलि आदि विभागोंसे मुल कारण वह मुख्य काल तो विभाग रहित नहीं प्रसिद्ध हो पाता है। तिस प्रकार व्यवहारकालोंके अनन्तानन्त भेद, प्रमेद, स्वरूप विभागोंके समान मुख्यकाल भी द्व्यक्त्यसे असंस्थात विभागोंको चार रहा है। क्योंकि यदि हेतुको विभाग रहित माना जायगा तो फल यानी कार्यमें कहीं भी विभाग नहीं हो सकता है। विभागवाले कार्योको जत्यन कर सकते हैं।

विभागवान् मुख्यः काको विभागवत्फळनिभित्तत्वात् क्षित्यादिवत् ।

प्रत्यकार अनुमान बनाते हैं कि मुख्यकाछ (पश्च) विभागोंको धारता है (साध्य)। विभागवाछे फर्छोका निमित्त कारण होनेसे (हेतु) प्रार्थित, जरु, आदिके समान (अन्वयद्यक्षान्त)। अर्थात् नाना जातिवाछी पत्थर, मही, लोहा आदि प्रथिवियोंसे जैसे चूना, घडा, सांकल, आदि विभक्त कार्य बनते हैं, अथवा मेघजल, क्षारक्ष्यक्ष, नदीजल, समुद्रजल, भिन्नदेशीय जल, आदिसे किसान या माली जैसे भिन्न भिन्न प्रकारके वनस्पति आदि कार्योकी उत्पात्त कराते हैं, उसी प्रकार विभागयुक्त कालद्रक्य ही विभागवाले व्यवहारकालोंको फलस्वरूप उपजा सकेगा। हां, यह बात दूसरी है कि अनन्तानन्त जीवोंसे अनन्तगुणो पुद्रलद्रक्य हैं और पुद्रलद्रक्योंसे भी अनन्तगुणा व्यवहारकाल है। किन्तु निश्चयकालद्रक्य तो लोकप्रेदशप्रमाण असंख्याते ही हैं। फिर भी मुल्में असंख्याते द्रव्यों करके बहिरंग उपाधियों द्वारा कार्योक अनन्तानन्त भेद किये जा सकते हैं। मुल्में विभागरिहत हो रहे कोरे एक द्रव्यसे असंख्याते या अनन्ते भेद नहीं हो सकते हैं। यहां इस समय प्रत्यकारको केवल विभागवान् कारणसे ही विभागवान् कार्योकी सिद्धे कराना अमान्न है। बोशिक्त या नैमायिक कालद्रव्यको एक ही मानते हैं। उनके प्रति इस अनुमानका प्रयोग है। बो विद्वान् प्रभूपात रहित होकर स्कृतत्त्वोंक जाननेमें अवगाह करेगा, उसके प्रति छन्न उपाय करके वसंख्य मुल्क कारणोंसे अनन्तस्वभावों हारा अनन्तानन्त फर्लेकी सिद्धे हादिति कर्णा जा सकती है। सहस्व प्रभूपात

अतीन्द्रिय छोटी छोटी गिळियोंमें या सिदान्तसम्बन्धी उत्तत सतखने प्रासादोंके ऊपर भी अनुमान स्वस्त्य गजरधोंपर चढकर चळनेका आप्रह किये जाना केवळ बाळकपन है। व्यातिप्रहण, व्यातिस्मरण, हेतुदर्शन, पक्षधमिता हान, आदि सामग्री स्वरूप मोटे शरीरको धारनेवाळा विचारा अनुमान उन सूक्ष्म सिद्धान्तोंमें नहीं प्रवेश कर सकता है। जो कि परम अतीन्द्रिय है, वहां श्रुतझान या सब झानोंके गुरुमहाराज केवळ्डानका ही प्रवेशाधिकार है।

समयाविकादिविमागवद्यवहारकाञ्चलकणफञ्जनिमित्तत्वस्य ग्रुख्यकाञ्चे धर्मिणि शसि-दत्वात् नाप्याश्रयासिद्धः, सकञ्काञ्चादिनां ग्रुख्यकाञ्चे विवादाभावात् तदभाववादिनां तु मतिक्षेपात् । गगनादिनानैकांतिकोऽयं हेतुरिति चेत्र, तस्यापि विभागवदवगाहनादिकार्योत्पत्ती विभागवत एव निमित्तत्वोपपत्तेः ।

मन्दगति द्वारा एक प्रदेशसे दूसरे प्रदेशपर परमागुके पहुंचनेमें जितना कान नगता है, वह समय कहा जाता है। असंख्यात समयोंका पिण्ड आविष्ठ काल है। संख्यात आविष्योंका एक स्वास होता है। तीन हजार सातसी तिइत्तर श्वासोंका मुहुर्त होता है। तीस मुहुर्तका दिन रात होता है। तीनसी पैसिट या तीनसी जियासिट दिनोंका एक सौरवर्ष होता है। पूर्व, पत्य, सागर, कल्प कालोंकी भी गणना कर छेना । यहां हेतुकी निर्दोषता दिखळानी है कि समय, आवलि, नाडी, स्वास, आदि विभागत्राले न्यवहारकालस्वरूप अनेक फलोंका निमित्तकारणपना यह हेतु मुख्यकाल इन्य स्वरूप पक्षमें प्रसिद्ध हो रहा है। अतः इम जैनोंका हेतु स्वरूपासिद्ध हेत्वामास नहीं है। हेतुके पक्षमें वर्तजाने मात्रसे स्वरूपासिद्धि दोषका निराकरण हो जाता है। तथा हमारा उक्त हेतं आश्रया-सिद्ध हेत्वाभास भी नहीं है। क्योंकि कालको स्वीकार करनेवाले सम्पूर्ण वादी विद्वानोंके यहां मुख्य काकको स्वीकार करनेमें कोई विवाद नहीं उठाया गया है। हां, उस मुख्यकालका अभाव मानने-बाके चार्वाक, सेतान्तर आदि वादी विद्वानीका तो यक्तियों द्वारा तिरस्कार (निराकरण) कर दिया नाता है। प्रत्यक्रतींके सन्मुख इस समय कालको माननेवांके विद्वान् उपस्थित है। जब कालको सर्वेचा नहीं माननेवाले वादी कोई आक्षेप करेंगे तब दूसरे अनुमानों द्वारा उसको समझा दिया जायगा । उताबके नहीं बनो, धीरतापूर्वक प्रन्थकारके अपूर्व प्रमेयोंका गम्भीरबुद्धिसे परिशीलन करो, जो कि सदोधका निदान है। यहां कोई आक्षेप करता है कि तम बैनोंका यह विमागवाले फलोंका निमित्त-पना देत तो आकास, दिशा, बर्गद्रव्य, बादि करके न्यमिचारदोषवान् है। देखो, अखण्ड गर्मन आदिक स्वयं विभागवाले नहीं होते हुये भी विभागवाले अवगाहा, पूर्व-पश्चिमवर्सी, गमनयोग्य इन विभागवाने फलों ने निमित्त कारण हो जाते हैं। एक अखण्ड आकाशमें छोटे छोटे परिमाणवाने अनेक विभक्त पदार्थ ठहर जाते हैं, इत्यादि । प्रत्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि विमानवाके ही उन बाकाश, दिशा, पर्मक्रम्य आदिकाँको भी विमानवाके गृह आदिके अवस्ताहन.

समन, बादि कार्योकी उत्पत्तिमें निमित्तपना बन रहा है। आकाश, धर्मद्रव्य, इन सबके प्रदेश माने क्ये हैं। अपने त्यारे त्यारे प्रदेशोंपर त्यारे त्यारे अवगाहोंको आकाश अवगाह दे रहा है। एक अविकास अवन्त द्रव्य भी ठहर सकते हैं। इसके छिये भी अनन्तानन्त स्वमावोंकी शरण छेना अष्टसह-बीमें पृष्ट कर दिया गया है। अतः ह्यारा हेतु व्यक्तिची नहीं है।

मञ्जू च ययवयवभेदो विभागस्तदा नासौ गगनादावस्ति तस्यैकद्रव्यत्वोपगमात् । ज्ञानिसद्वयवारभ्यत्वानुपपचेश्र । अय प्रदेशवस्त्रोपचारो विभागस्तदा कालेप्यस्ति, सर्वगतै-भागिक्यादिनामाकाशादिवदुपचरितपदेशकालस्य विभागवन्तोपगमात् तथा च तत्साधने सिद्ध-सायनमिति कशित् ।

काक्को वस्तुतः एक ही माननेवाळा कोई पिडित (वैशेषिक) यों पूर्वपक्ष उठाता है कि अवाप केनोंने कारको विमागवाला जो सिद्ध किया है, वहां विभागका अर्थ यदि स्वकीय अवयवोंका किंद भिन होना है ! तब तो वह विभाग इन आकाश, ईसर, दिशा, आदिमें नहीं है । क्योंकि उस ात्रवान सादि अवाण्डपदार्थोंको एक इन्यपना स्वीकार किया गया है। तथा पट, गृह, बटीयंत्र आदिक जैसे स्व तीय छोटे छोटे अवयवोंके द्वारा बनाये गये हैं, उस प्रकार स्वकीय अवयवोंसे आर-: अवपना बाकारा वादिने नहीं बन पाता है। ऐसी दशामें आप स्याद्वादियों के हेतुका गगन आदिसे कारिकार बना रहना तदबस्य रहा. यानी विभागवाछे फर्लोका निमित्तकारण गगन है। किन्त स्वयं , अबयबाँके भेदस्वरूप विभागको नहीं धार रहा है। अब यदि आप जैन विभागका अर्थ आकाशमें अवस्य प्रदेशोंको नहीं मानते द्वये प्रदेशसिहतपनकः उपचार होना मात्र करेंगे, तब व्यभिचारका कारण तो हो जायगा । गगनमें हेनुके रहते हुये उपचरित प्रदेश स्वरूप विभागोंसे सहितपना विष-आँत है। किन्तु तब तो काल्में भी प्रदेशसिद्धनपनका उपचास्त्रकर विभाग विद्यमान है। क्योंकि क्षांपक एक है। कालद्रव्यको स्वीकार करनेवाले वैशेषिकोंके यहां आकाश आदिके समान उप-अवित प्रदेशवाले कालद्रव्यका विमागसहितपना स्वीकृत कर लिया है। और ऐसा होनेपर काल कियों हांस उपचरित प्रदेशासक्य विभागको साधनमें तुम स्यादादियोंके जपर सिद्ध साधन दोष अवार् होता है। एक कालके उपचरित प्रदेश हमारे यहां सिद्ध है। उन्हों को आप जैन साथ रहे है। यहांतक कोई वैशेषिक या नैयायिक कह रहा है।

परमार्थ एव गगनादेः समदेशत्वनिययात् तस्य सर्वदावस्थितमदेशत्वात् एकद्रम्यत्वास् द्विनिया स्वयनाः सदावस्थितनपुषोऽनवस्थितनपुषश्च । ग्रुणवत्तत्र सदावस्थितद्रव्यमदेशाः सदानस्विता एवान्यया द्रव्यस्यानवस्थितत्वमसंगात् । यदादिवदनवस्थितद्रव्यमदेशास्तु संत्वा-दयोऽनवस्थितास्तेषामवस्थितत्वे पदादीनामवस्थितत्वापतेः । कादावितकत्वस्येयश्चयावधारिता- क्यवत्वस्य च विरोषात् । तत्र गगनं धर्माधर्भकजीनाश्चावस्यितप्रदेशाः सर्वे यतावधारितपदे । श्रत्वेन वस्यमाणत्वात् पदेशपदेशिभावस्य च तेषां तैरनादित्वात् ।

अब आचार्य महाराज इसका प्रत्याख्यान करते हैं कि गगन, धर्मद्रव्य आदिके प्रदेशसहित-पनका परमार्थक्रपते ही निश्चय हो रहा है। क्योंकि उन गगन आदिके सर्वदा अवस्थित हो रहे अनन्तानन्त प्रदेश या असंख्याते प्रदेश वस्तुतः ।निर्णात है। अर्थात्—त्रिछोकसारकी टीकार्ने अनन्तानन्त नामकी विशेष संख्याके मध्य भेदोंको निकालते हुये श्री माधवचन्द्र त्रैविधने दिरूपर्याधारामें जीवराशिके ऊपर अनन्त स्थान चळ कर पुद्रळ राशिको और पहल्लाशिक्षे अनन्तस्थान चल कर दिरूपवर्णधारामें भृत. भविष्यत योंकी राशिको उपजाया है। उस काछ समयोंकी राशिक्षे अनन्त स्थान चछ कर हिरूप-वर्गं धारामें अलोकाकाशकी श्रेणीको उपजाया है। एक प्रदेश लम्बी, एक प्रदेश चौडी और पूरे आकारा प्रमाण ऊंची आकाराकी श्रेणि ही श्रेणि आकारा है। इसका एक बार वर्ग कर देनेपर प्रतरा-काश होजाता है। आकाश श्रेणिक प्रदेशोंका धन कर देनेपर परे आकाशके प्रदेश गिन लिये जाते हैं। जोकि मुख्यन्य अनुसार वहां ही दिख्य वन धारामें सर्वाकाशको त्रैतिच महोदयने गिना दिया है। यों आकाशद्रव्यके मुख्य प्रदेशों भी संख्या सर्वदा नियत होरही अवस्थित है। धर्म द्रव्य और अधर्म ह्रव्यके भी छोकप्रदेश प्रमाण असंख्याते प्रदेश नियत हैं। दूसरी बात यह है कि गगन, धर्मद्रव्य, आदिको एक एक द्रव्यपना निर्णीत है । अतः इनका अवयवेंसे बनाया जाना हमको भी अभीष्ट नहीं है। हां इनके मुख्यप्रदेश स्वरूप अवयव माने जा सकते हैं। चूंकि अवयव दो प्रकारके होते हैं। एक तो सर्वदा स्वकीय शरीरोंको सदा अवस्थित रखनेवाले अत्रयव हैं। और दूसरे स्वकीय शरीरको अवस्थित नहीं रखनेवाले अवयव हैं। उन दो प्रकारके अवयवोंमें द्रव्यके सदा अवस्थित होरहे प्रदेश तो गुणोंके समान सर्वदा अवस्थित ही रहते हैं। अन्यथा यानी प्रदेशोंको अनवस्थित माना जायगा तो द्रव्यके भी अनवस्थितपूनेका प्रसंग होगा । किन्तु द्रव्य तो अनादि अनन्तकालतक अपनी नियत संख्याओं में न्यवस्थित रहती है। घटती बढती नहीं हैं। " नासती विद्यते भावो ना-भावो विद्यते सतः "। अर्थात् -- द्रव्यकी उच्चीश कल्पना अनुसार जैसे गुण उसमें अनादि अनन्त काछतक जडे हुये हैं, उसी प्रकार तिर्थग् अंश कल्पना अनुसार द्रव्येकि प्रदेश भी सदा अवस्थित हैं। हां. अञ्चद द्रव्यस्वरूप पुद्रक पर्यायोंके प्रदेश अवस्थित नहीं हैं । दूसरे पट, पुस्तक, आदिके समान अवस्थित अञ्चद दन्योंके प्रदेश तो तंतु, पत्र, आदिक अनवस्थित है। क्योंकि उन तंतु आदिकोंके यदि अवस्थित माना जायगा तो पट आदि अञ्चल्दरणोंको भी अवस्थितपनेका प्रसंग होगा। अर्थात्-तंतओंके यहां वहां सरक जानेपर या न्यून अधिक होजानेपर पट आदिका सरकना या न्यूनता, काधिकता जो दिखाई देरही है वह अनवस्थित नहीं दीख सकेगी । अतः घट पट, पुस्तक आदिके प्रदेश इसरी जातिके अनवस्थित शरीरवाळे माने गर्ये हैं। कभी कभी उपज रहे या कभी न्यून और कदाचित्

अधिक प्रदेशोंको धार रहे पदार्थीको इतने नियत परिमाण करके निर्णीत किये गये अवयबोसे सिंहतपनका विरोध है। भावार्य - जो कदाचित होनेवाला अश्रुद्ध द्रम्य है, वह इतने ही यों नियत किये गये अत्रयवोंको धारनेवाळा नहीं है। और जो सदासे नियतप्रदेशोंको धार रहा द्रव्य है, वह कदा-चित होनेवाला अग्राहद्रव्य नहीं है। उन द्रव्योंमें आकाशद्रव्य तथा धर्म अधर्म और एक जीव-इच्य ये सब नियत अवस्थित प्रदेशोंको थार रहे हैं, जिस कारणसे कि नियत संख्यामें अवधारे गये प्रदेशींसे सहितपन करके आकाश आदि द्रव्योंको पांचने अध्यायमें स्वयं सूत्रकार द्वारा कह दिया बाबेगा। " आकाशस्यानन्ताः " " असंस्पेया प्रदेशा धर्मार्थैमकजीवानाम् " इन दो सूत्रों करके आकाशके अनन्तानन्त प्रदेश और धर्म, अधर्म, एक जीव इनके असंख्याते प्रदेश नियत हो रहे कह दिये जावेंगे । संसारमें परिश्रमण कर रहा जीव चींटी, हाथी, मत्स्य, नारकी सूक्ष्म निगोदिया, इक्ष आदि अनेक छोटी बडी पर्यायोंको धारता है। इन पर्यायोंमें जीवके प्रदेश कमती बढ़ती नहीं हो जाते हैं। किन्त जीवकी रवडके समान संकोच या विस्तार अवस्थामें वे सभी छोकाकाशप्रमाण प्रदेश सदा विद्यमान रहते हैं। जो जीव मोक्षको प्राप्त नहीं करता है, उस जीवको कदाचित् भी छोक प्रदेश बराबर अपने प्रदेशोंको फैलाकर लम्बी चीडी पर्यायको धारनेका अवसर नहीं मिलता है । हां, जो मोक्षको जाते हैं, उनमेंसे कतिपय जीवोंको तेरहवें गुणस्थानमें केवली समुद्धात करते समय केवल एक समय अपने सम्पूर्ण प्रदेशोंक फैलाने का अवसर मिल जाता है। यह भी एक वडा विलक्षण विस्मयकारी प्रसंग है कि अनन्तानन्त जीवोंमेंसे कतिपय अनन्त जीव ही अनादि अनन्त कालोंकी अनन्तानन्त संकोच विस्तारवाळी परिणतियोंको सदा धारते हुये एक ही बार छोकप्रदेश बराबर व्यक्त स्बकीय पर्यायको धार सके हैं। अस्त । कुछ भी हो, एतावता संकोच, विस्तार, अवस्थामें भी जीवके असंस्थात प्रदेशोंका सदाव मर नहीं जाता है। यदि कोई धनपति कृपणतावश अपने विधमान टाखों रुपयेका व्यय नहीं कर पाता है. इतने ही से उसके टाखों इपयोंकी संख्या न्यून नहीं हो नाती है। तथा उक्त सूत्र अनुसार उन गगन आदि द्रव्योंका अपने उन अनन्त या असंख्याते प्रदे-शोंक साथ हो रहा प्रदेशप्रदेशीभाव बनादि है। बतः ऐसे नियवप्रदेशस्यरूप बवयव उन बाकादा आदि द्रव्योंके विद्यमान हैं । अतः हमार। हेतु व्यभिचारी नहीं है । यह बात दूसरी है कि अखण्ड आकाशका विभागसहितपना इस प्रदेशोंकी अपेक्षा मान रहे हैं। और कालका विभाग-महितपना इस जैन इच्योंकी अपेक्षा उक्त बनुमान द्वारा साथ रहे हैं।

क्यमनादीनां गगनादिवत्पदेषानां पदेषापदेश्विभावः परपार्थपथमस्यापी १ सादीनामेव वंतुपटादीनां वज्रावदर्श्वनात् इवि चेत्, क्यमिदानीं गगनादिवन्मइस्वादिग्रणानायनादि-निधनानां ग्रणग्रणिभावः पारमार्थिकः सिध्येत् १ तेषां ग्रुणग्रणिसक्षणयोगाच्यामाव इवि येत्, वर्षे गगनादि तस्यदेषानामपि मदेशिपदेषस्क्रणयोगात् मदेषमदेषिभाषोस्तु । यथैष हि गुणपर्ययबद्द्रव्यमिति गगनादीनां द्रव्यछन्नणमस्ति तन्महत्वादीनां च " द्रव्याश्रिता निर्गुणा गुणा " इति गुणछन्नणं तयाबयबानामैकत्वपरिणामः भदेशिद्रव्यमिति भदेशिछन्नणं गगनादीनामबयुतोऽवयवः पदेश्वछन्नणं तदेकदेशानामस्तीति युक्तस्तेषां प्रदेशमदेशिमावः।

यहां किसीका आक्षेप प्रवर्तता है कि आकाश आदि इन्य और उनके नियत अनन्ते या असंख्याते प्रदेश जब अनादिकाछके हैं तो ऐसी दशामें उनका " प्रदेशप्रदेशीमान " होना मका बारतविक मार्गमें प्रस्थान करनेवाका कैसे समझा जायगा ! बताओ । देखो, सादि हो रहे ही तंत्र पट, कपाळ घट, पत्र, पुस्तक आदिकोंका वह प्रदेशप्रदेशीमान या अवयवअवयवीमान देखा जाता है, जैसे यैकी और इपयोंका आधार आधेयभाव है या पुत्र और पिताका जन्य जनकमाव है। या कटाक्ष करनेपर तो प्रन्यकार उस कटाक्षकर्ता बैशेषिकको पूंछते है कि माई इस अवसरपर तुन्हारे यहां भी अनादिनिधन हो रहे आकाश, दिशा, जल, परमाणु, मन आदिक द्रव्य और उनके परम महापरिमाण, एकत्व संख्या, नित्यसंयोग, शुक्छरूप, अणुपरिमाण आदि गुणोंका मछा गुणगुणीमाव विचारा पारमार्थिक कैसे सिद्ध हो सकेगा ! बताओ, प्रथम गुणी उपजे, पश्चात पदि उसमें गुण आकार समवायसम्बन्धसे प्रविष्ट हो जाय, तब तो घट घटक्रप, आम्र. आम्ररस, आदि सादि पदार्थीका गुणगुणीभाव शोभता है। अनादि अनन्तद्रव्य या अनादि अनिधन गुणोंमें गुणगुणीभाव अच्छा नहीं लगता है, यों यह चोच तुम्हारे ऊपर भी उठाया जा सकता है। यदि तुम वैशेषिक यों कही कि अनादिनिधन हो रहे हम्पगुणोंका भी गुण और गुणीके उक्षणका योग हो जानेसे तिस प्रकार " गुणगुणीमाव " (सम्बन्ध) हो जायगा । यो कहनेपर तो हम जैन कहेंगे कि तब तो अनाहि भानिधन गगन आदि और उनके प्रदेशोंके भी प्रदेशी और प्रदेशके छक्षणका योग हो जानेसे " प्रदेशप्रदेशीमाव " हो जाओ । अखण्डित अनेक देशवाले गगन आदिमें प्रदेशीका स्थाण घटित हो जाता है, और तिर्थगुअंश-कल्पनस्वरूप प्रदेशोंमें उनके प्रदेश हो जानेका उक्षण चटित हो रहा है। देखी, जिस ही प्रकार " गुण और पर्यायोंको धारनेवाले द्रव्य होते हैं " यह श्री उमास्वामी आचार्य करके कहा गया द्रव्यका कक्षण गगन, धर्म द्रव्यं आदिके विद्यमान है। और " इच्यके आश्रित हो रहे सन्ते स्वयं जो निर्गुण पदार्थ हैं। वे गुण होते हैं, " इस प्रकार गुणका अक्षण उन गगन आदिमें सम्बन्धी हो रहे परम महत्त्व, रूप, आदि गुणोंके चटित हो रहा है, उसी प्रकार " अनेक अवयवींका पिण्डस्वरूप एकत्व परिणामसे आकान्त हो रहा प्रदेशी इन्य है " इस प्रकार प्रदेशीका लक्षण आकाश आदिमें विद्यमान है और '' अखण्ड दन्यमें अब यानी पश्चात् तिर्यगुर्भश कल्पना द्वारा अमेदक्रपेस युत पानी मिश्रण होचुके अवयव पदार्थ तो प्रदेश हैं " यह प्रदेशोंक। छक्षण उन आकाश आदिके एक देख होरहे प्रदेशोंको विषयान है। इस कारण बनादि अनन्त भी जाकास आदि और छनके प्रदेशोंका ¹¹ प्रदेशप्रदेशीयाय ¹¹ वल काला प्रक्रियर्ण है ।

कालस्तु नैकद्रव्यं तस्यासंख्ययग्रुणद्रव्यपरिणामत्वात् । एकैकस्मिल्लेकाकाक्षमदेशे कालाणोरेकैकस्य द्रव्यस्यानंतपर्यायस्यानभ्युपगमे तद्देशवर्तिद्रव्यस्यानंतस्य परमाण्यादेरनंतपरिणा-मानुपपर्चरिति द्रव्यतो भावतो वा विभागत्वे साध्ये कालस्य न सिद्धसाधनं । नापि गगनादि-नानकातिको हेतुः ।

किन्त कालपदार्थ तो एक पदार्थ नहीं है। क्योंकि वह काल अनन्त गुण और अनन्त पर्या-योंके साथ तदात्मक होरहा संता असंख्यात द्रव्यस्वरूप है। अर्थात्—एक एक जीव द्रव्यके समान एक एक कालाणुमें वर्तनाहेतुत्व, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि अनेक नित्यशक्ति स्वरूप गुण विद्यमान है। और उन गुणों भी प्रातिक्षण होनेवाळी पर्याये अथवा पर्यायों में पाये जारहे अनन्तानन्त या असंख्यात अविभागप्रतिन्हेदस्तरूप परिणाम निषमान है। वे काळाणुर्ये द्रन्यरूपसे असंख्यात माने गये हैं। जगच्छेणींके घन प्रमाण लोकाकाराके एक एक प्रदेशपर एक एक द्रव्य होकर कालायुर्वे अवस्थित हैं। यों कालागु द्रव्य असंख्याते हैं। एक एक कालागु द्रम्यकी अनुजीवी २ अतिजीवी 🧸 पर्याप शक्ति ४ सप्तमंगी शिषय इन चार प्रकारके गुणोंकी जातियों अनुसार अनन्तानन्त सहभावी पर्यायें हैं। तथा छोकाकाशके एक एक प्रदेशपर उस काछाणुको निनित्त पाकर अनन्तानन्त कार्य हो रहे हैं। उन कार्यों के अनुरूप अनन्तस्वभावरूप पर्यापें कालाणुमें एक समयमें विद्यमान हैं। एक समयमें एक गुणकी उत्पाद, व्यय, धौव्यशालिनी परिणति अवस्य होती है। यो अनन्तानन्त गुणोंकी अनन्ता नन्त परिणतियां काळाणुमें एक समय पायी जाती हैं। यदि छोकाकाशके एक प्रदेशपर अनन्तानन्त पर्यार्थों (स्वभावों) वाले एक एक कालाण द्रव्यको स्वीकार नहीं किया जायगा तो उस आकाश देशमें वर्त रहे अनन्त परमाणु या अनंत जीवद्रव्य अथवा अन्य भी धर्म आदि द्रव्योंके हो रहे अनन्त परिणामोंकी लिक्कि नहीं हो सकेगी। क्योंकि सभी द्रव्य परिणामी माने गये हैं। कोई द्रव्य कुटस्य नहीं है । मात्रार्थ-सम्प्रण द्रव्योंका और स्त्रयंका वर्तयिता काल द्रव्य है । त्यारे त्यारे काल द्रव्य तो छोकाकाशके एक एक प्रदेशपर विद्यमान हो रहे अनन्तद्रव्योंके भिन्न भिन्न परिणामोंके वर्त-यिता हो सकते हैं। आकाराके क्षमान यदि अकेला कालद्रव्य मान लिया जायगा तो सर्व द्रव्योंका एक ही जातिका कार्य तो हो जायगा, जैसे कि अकेडे आकाश द्रव्यसे भंगी, ब्राह्मण, नारकी, मुक्त, दिदि, राजा, रोगी, निरोग, पापी, पुण्यात्मा, जढ, चेतन, धर्म, अधर्म, सब ऊंच नीचकी कोरा अवकाश मिळ जाता है। किन्तु अनेक काळ दर्जांसे जो असंख्य कार्य एक समयमें हीरहे प्रतीत होते हैं वे काल इत्यसे नहीं हो सकते हैं। देखिये, एक ही स्थलपर कोई जीव बुड़ा होरहा है, वहीं कोई युवा होरहा है. बालक भी वहीं खेल रहा है, जहां ही किसीके चौरांके परिणाम होरहे हैं वहां ही किसीका धर्मध्यान या शास चर्चीमें मन जग रहा है। इन सब कियाओंको करानेमें कालदस्य निमित्त-कारण होरहा है। जिसी कालद्रव्यको निमित्त पाकर नित्य निगोदिया जीवकी व्यवहार राशिमें आने यौध्य परिणति हो जाती है वही वेंडे हुये पंचेन्त्रिय जीवके इतरगारी निमोहमें प्राप्त हो जानेके समर्थ

उपने बैठते हैं । क्रीटासा काल परमाणु एक कुटुम्बानियंतिक समान वर्स रहा उस निया मिन प्रक्रित-बाके अनेक प्राणियों या जहपदार्थीको बनकुठ वर्तानमें उपयोगी होता रहता है। साम दक्षित विचारा जाय तो आकाशके एक एक प्रदेशपर अनेक दंग्नीके सदशं, विख्यान, विरुद्ध, महाविषद अपरिवित परिणास कार्य द्वारहे हैं । बसं, अंतर्रेत स्वभावीयां एक कांड परमाण है। उने संपर्ध कार्याको समाठ छेता है। इसी प्रकार आकाराके दसरे प्रदेशकर अनेक प्रव्यक्ति होग्हे पुरुपक्तिया, पाय-क्रिया, सम्पन्दर्शन, विच्यादर्शन, व्यक्तिचार, अक्षाचर्य, अरकागमन, स्वर्तगमन, निगोदवासि, बीट्यासि, वर्षेद्वानि, वर्षकाम, श्रृंगारस्स, वैराम्यस्स, वीरता, कायरता, स्वरण विस्वरंग, जीवन पूर्व, तस्विपन कारिक हंपन, रोग स्वस्थता, न्याय अन्याय, दर्या हिंसा, पतन उत्थान, नाम अवगान सिन्हर्य कुरूपता, अपना मैचवर्षण वात्या. लगन्न दुर्गियं, जकन्त्रीण बातप, सरवाद कुःस्वादः, कर्नेका सदनी प्रकार, प्रमामि फल्यामि, औषधितरपादन विषतस्पादन, द्वीरा उपजना कोयला उपजना, एक ही बुक्षेम क्षेत्रजनक क्षेत्रनाशब्द शक्तिये बनना, सीपमें बड़ी या मोती बनना, स्थान प्रस्थान, बातुर्वास्थ धातपात, जीर्णता नवीनता, मृतिका उत्पत्ति सुकर्ण उत्पत्ति, विभुक्ता विभाविता, पागळपर्न चातुर्व, आदि परिणामोंको दूसरा काळाणु अपने अनेक स्वमावा द्वारा संभाक केला है । जैसे कि एक प्रधाना-च्यापक अपने अवीन होरहे अनेक अच्यापक अचवा छात्रमण एवं अन्य कर्मकारियोंको असरंग बहिरंग कारणों द्वारा कर रहे नियत कार्योंकी ओर वर्ता देता है । इस कारण इना रूपसे अध्वा भाव कराने कालका विभाग सिक्टिकाना सान्य करनेपर इस कैमेंके उत्पर कोई सिक्ट-साधन दोष नहीं है। स्पॉकि तम न तो काछको अन्यकापते अनेक बानते हो और गुण, परिणाल. स्वभाव इन भावोंकी अपेक्षा भी काकको अनेक नहीं मानते हो । अतः असंस्य काछ द्वन्य और उन एक एकके अनन्त स्वभावोंको उक्त अनुमान द्वारा जो हम साथ रहे है, वहां वादी वैनवीं अप्रेखा सिद्ध होते हुए भी प्रतिवादी नैयायिक, मीमांसक, वैशेषिक आदिकी अपेक्षा असिद्ध हो यह पदार्थकी ही साम्य बनाया जा रहा है तथा हमारा हेत् बाकाश आदि करके व्यक्षिपारी भी नहीं है । क्योंकि द्रव्य अपेक्षा तो नहीं, किन्त प्रदेश या पर्यायोकी अपेक्षा हम जैन आकाशको भी विभागवाका सीकार करते हैं । जतः इसारा हेत निर्दोष है।

क्तिलादिनिदर्शनं साज्यसायनविकछमित्वपि न मंत्रव्यं तत्कार्यस्याकुरादिविभागवतः मतीतः, क्षित्वद्यं द्रव्यता मानतयं विमागर्यस्यतिद्धिरिति स्कं " विभागरित हती विमाग न पर्क क्षित् " इति ।

पिर भी वैदेषिक यदि यों भान वैठें कि श्विति, जल बादि दशान्त तो सान्यदल या साधन रखेरे विवाह हैं प्रत्यकार केदते हैं कि यह भी पत्नी नहीं पान बैठना बाहिये। क्योंकि उन विकास सिक्ष कार्य दो रहे अनुद्री, पासन, जीवन, बेसद, जारिक कराय तो विभानकों प्रतास

हो रहे हैं। अर्थात-एक खेतमें उसी महीसे गेंह, जी, चना, मटर सरसों आदिके अनेक अंदुर उपज रहे हैं, चाहे कैसा भी ऊंचा, नीचा, टेडा, मुल करके बीजको डाछ दो, मष्टी इसका अंकुर ठीक अपर की ओर निकास देती है। वहीं मही तत्काल जल, वायु, आतप, की आदि पा अपक परिवारियोंका आकर्षण कर लेती हैं। खात पदार्थोंका अंकुर पुष्प, फल, बास आदि रूप परिणाम करा देती है, जैसे कि सुयोग्य कुटुम्बिनी पत्नी अपने कुटुम्बसम्बन्धी बेठ, पति, देवर, छडके, बच्चे बहु बेटियों, बृद्ध सास सम्र आदिके लिये यथोचित भोग्य उपभोग्य पदार्थीका विभाग कर देती है। पृथित्रीसे अनेक कार्य हो रहे प्रत्यक्ष सिद्ध हैं। जलसे भी अनेक कार्य हो रहे हैं, एक मैघजन ही अनेक वनस्पतिओं में मिल मिल परिणातियें कर रहा है। सांपके मुखरें, सीपमें, उच्य तेलमें, तस लोहेपर अनेक विभक्त कार्योंको कर रहा है। सरोवरका जल दंबीको उत्पर उलाल रहा है और कंसडको नीचे गिरा रहा है। उपरसे तंबीको नीचे नहीं गिरने देता है और कंकडको उपर नहीं उक्के देता है। अग्ने या वायुके भी विभिन्न जातीय कई विभक्त कार्य युगपत् हो रहे दीखते हैं। कृत्रिम बिजिनी द्वारा अंजन, पंखा, चिन्कयां च अयी जाती हैं। अने म दीपक ज्योतियां चमक रहीं हैं। बिजिली द्वारा रोगीकी चिकितायें भी होती हैं। तारों द्वारा या विना तारके शद्ध फेंके जाते हैं। दर प्रदेशोंसे गायन यहां सना जाता है। तस्थिरें ली जाती हैं। और अङ्गिम बिजुलीसे अनेक उत्पात हो जाते हैं। बायु द्वारा जगतकी बडी भारी प्रक्रिया सध रही है। असंख्य मनो भारी पदार्थ वायु-पर इट रहा है । जीवनके आधार भाक्षोच्छ्रास बायुस्वरूप है। समुद्रकम्पन, बातब्यावि, आंबी. आदि सब विभिन्न वायुओंके फळ हैं । प्राधिनी आदिक पुद्रछ द्रव्योंकी असित्य शक्तियां हैं । अचेतन पदार्थोमं भी अनन्त वर्ज है । " जीवाजीवगदमिति चरिमे " यों गोम्मटंसारमें भी कहा है। विभिन्न जातिके भेद प्रभेदों को धारने शक्ते प्रथिती, जल, आदि प्रसिद्ध ही है। अतः क्षिति आदिक दृष्टान्तोंमें विभागत्राले फलों हा निनित्तपना यह हेत् और विभागसहित-पना इतना साध्य सुरुभ्य होकार ठहर रहा है। कारण कि द्रव्यवस्थित और परिणामी स्वरूपने क्षिति आदिकोंको पूछमें ही निमागसहितपना सिद्ध है। इस कारण श्री विद्यानन्द आवार्यने उक्त वार्सिकमें यह बहुत अच्छा कहा था कि विभागरिहत हेत्र होनेपर कार्यने कहीं भी विभाग नहीं हो सकता है। स्फ्राटिकमणि जब मुल्में रूपवान् है तो जपाकुतुम आदिके योगसे खाल, पीला, आदि हो सकता। है। मुख्यें रूपरहित होरहे आकाराको कोई छाल, पीला नहीं कर सकता है। अतः यहांतक साकारा को केवल भावोंकी अपेका विभागसिहतपन और कालको बन्य और भाव दोनोंकी अपेक्षा विभाग-सहितपन साधनेका प्रकरण समाप्त हो चुका है।

मनुष्य कीक्से बाहर ज्योतिष्क विमान हैं भी ? या नहीं हैं ! यदि हैं तो किस प्रकार वर्त रहे हैं ! क्षिप्योंको इस विषयको मितिपति करानेके किये श्री उमास्वामी महाराज आगेके सूत्रको काहते हैं।

11.9

बहिरवस्थिताः ॥ १५॥

मनुष्य कोकसे बाहर वे क्योतिष्क विमान या उनमें निवास करनेवाले क्योतिषी देव जहांके तहां निश्चल हैं। अर्थात्—मनुष्य लोकसे बाहर भी क्योतिष्कदेव असंख्यातासंख्यात विद्यमान हैं। किन्तु वे विमान गतिशील नहीं हैं। जहांके तहां अवाधित हैं।

किमनेन सूत्रेण कृतिमत्याह ।

इस सूत्रकरके सूत्रकार महाराजने क्या स्त्रपक्षमंडन और परपक्षखण्डन किया है ! ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री विधानन्दस्त्रामी समाधान कहते हैं।

बहिर्मनुष्यलोकांतेऽवस्थिता इति सूत्रतः । तत्राऽसत्ताव्यवच्छेदः प्रादक्षिण्यगतिक्षतिः ॥ १ ॥

मनुष्य छोकके अन्तमें बाहर ज्योतिष्क विमान अवस्थित हैं, इस प्रकार सूत्र कर देनेसे वहां मनुष्य छोकसे बाहर ज्योतिषियों की असत्ताका व्यवच्छेद कर दिया जाता है और प्रदक्षिणार परे होनेवाछी गतिकी क्षांति कर दी जाती है। अर्थांत—यदि यह "बहिरवस्थिताः" सूत्र नहीं बनाया जाता तो पूर्वसूत्र अनुसार मनुष्य छोकमें ही क्योतिष्कोंका अस्तित्व सिद्ध होता। मनुष्य छोकसे बाहर उनका अस्तव होजाता। तथा "बहिस्सिन्ति" या "बहिरपि" ऐसा सूत्र बनाया जाता तो मनुष्य छोकसे बाहर ज्योतिष्कोंका अस्तित्व तो सिद्ध होजाता, किन्तु उनकी पूर्व सूत्रानुसार मेरुकी प्रदक्षिणा करते हुये नित्यगति भी सिद्ध होजाती, जोकि इष्ट नहीं है। हां, इस सूत्रमें अवस्थिता कह देनेसे उनकी प्रदक्षिणापूर्वक गति या और भी दूसरे प्रकारकी गतियोंका व्यवच्छेद कर दिया गया है।

कृतेति शेषः।

इस बार्तिकमें कोई तिकत या कुदन्तकी किया नहीं पढ़ी हुयी है। अतः "कृता " इस रोष रही कियाको जोड केना चाहिये। स्पक्केटके साथ पुष्टिंग "कृत " राद्धको जोड देना और कीकिंग क्षतिः शहके साथ वाक्यमें रोष रह गयी "कृता " इस कुदन्त सम्बन्धी कियाको जोड़ केना। क्योंकि कोई भी वाक्य वाल्यर्यल्क्ष्प कियासे रीता नहीं हुआ करता है।

एवं सूत्रचतुष्टयाज्ज्योतिषामरचितनं । निवासादिविशेषेण युक्तं बाधविवर्जनात् ॥ २ ॥

्राप्ति इस प्रकार बाधक प्रमाणोंसे विवर्जित हो रहे चारों सूत्रीके प्रमेयसे भी उमासामी महाराजने विकासमान, प्रकार, ताल, अपना स्थिति आदिः विकोषी करके क्योलिका देखोंका समुधिक जिल्हाक कर दिया है। अथवा इस वार्षिक को अनुमान यानक अना किया जाय कि उक्त चार सूत्रों द्वारा निवास आदिकी विशेषता करके उयोतिष्क देशोंका चितवन करना (पश्च) युक्ति पूर्ण है (साध्य)। कार्षक प्रमाणोंका विशेषतया वर्जन होनेसे (हेतु) यो बाधकोंका असम्भव होनेसे उक्त सूत्रोंक अती-निवय प्रमोधकी अधारिहत्तिहिंद ही जाती है।

श्री उमास्त्रामी महाराज देवोंकी आदिन तीन निकार्योका वर्णन कर चुके हैं। अब चौथी निकायवाळे देवोंकी सामान्यसंहर्षिता प्ररूपण करनेके छिये अधिकार सूत्रको कहते हैं।

वैमानिकाः ॥ १६॥

इसरे आगे जिन पुण्यवान् जीबोंका वर्णन किया जायगा, वे " वैमानिकनिकायको देव हैं।" यह अधिकार सूत्र है।

स्वान्यकृतिनो विश्वेषेण गानयतीति विमानानि तेषु भवा वैमानिकाः । परेपि वैमानिकाः स्वुरेविमिति चेषा, वैमानिकनामकर्मोद्दे सति वैमानिका इति वचनात् । तेन श्रेणीं इक्ष्युष्णमक्षीणकभेदात् त्रिविधेषु विमानेषु भवा देवा वैमानिकनामकर्मोद्द्याद्देगानिका इत्यपि-इता वेदितव्याः ।

विमान शह्नकी निरुक्ति इस प्रकार है कि स्वसम्बन्धी यानी अपनेमें बैठे हुये पुण्यशास्त्री जीवोंका " वि " बानी विशेषक्पकरके " मानयंति " यानी मान कराते हैं, इस कारण वे विमान कहे जाते हैं। इस विमानोंमें उपज रहे देव जीव वैमानिक हैं। विमान शह्नसे मान करोते हैं, इस कारण वे विमान कहे जाते हैं। उस विमानोंमें उपज रहे देव जीव वैमानिक हैं। विमान शह्नसे मान करोते हैं। ज्योतिण्क देव हो सदा विमानोंमें ही बस रहे हैं तथा विमानोंमें विषाधर मनुष्य या आजकालके जहाके मनुष्य मी विषामान हैं। यों इस निरुक्ति हारा तो ये दूसरे देव या मनुष्य भी वैमानिक हो जायेंगे। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि गतिनामकर्मको उत्तरोत्तर प्रकृति हो रहे वैमानिक सेक नामकर्मको उदय होते सन्ते वो जीव विमानोंमें वर्तमान हैं वे वैमानिक हैं। ऐसा विशेषणाकान्त वचन कर देनसे अतिव्यासिका वारण कर दिया जाता है। सिद्धान्त या न्यायविषयोंमें केवल शब्दणी निरुक्ति ही निर्दोच लक्षण महीं वन जाता है। तिस कारण श्रेणी, क्ष्मक, पुष्पप्रकीर्णक, इन मेदीस तीन प्रकारके विमानोंमें विषमान हो रहे बीमिनक देव अधिकार प्राप्त हो चुके समझ केने चाहिय। अधिकि है। इस प्रकार इस सूत्र हारा वे वैमानिक देव अधिकार प्राप्त हो चुके समझ केने चाहिय। अधिकि होरहे क्ष्मके समान की विकार वीक वीचिमित होरहे विमान हेवस विमान है तथा आकाशकों अधिकार होरहे विमान केवीविमान है। स्वार्थकों केवी समान क्षमीविमान है।

बीर स्वारे हुए कुछ नैसे अन्यसस्यत यहां नहां देते मेदे स्थानीया गिर जाते हैं, उसी प्रकार बीरिकारी बीजार अस्तान्यस्य पैक रहे विमान, प्रणप्रकीर्णक हैं। ये तीनों प्रकारके विमान अनादि कालते अस्तान्यस्य पैक रहे विमान हुए हैं। उड़ाके विमानोंके समान यहां नहीं उड़ते पिरते हैं। अछ ही कृत्रिय छोटे कीटे विमानोंकों बैठकर देव यहां नहीं कर्ता है। अछ ही कृत्रिय छोटे विमानोंकों बैठकर देव यहां नहीं, नंदीखर छीप, समुद्र, पर्वत, बादिमें अमण कों, प्रमियोंके प्रतिष्ठित नहीं होनेसे इन अकृत्रिम विमानोंको भवन, आवास या नगर नहीं कहा जासकता है। कुछ विमान तो जलके उपर या भाषके उपर प्रतिष्ठित हैं और कृतिस्थ विमान वायुपर प्रतिष्ठित हैं। किन्तु देव बहुभाग विमान आक्राशमें ही विना सहारेके अवलिवत होरहे हैं। परामयकी अपेक्षा स्वाग्रयपश्च ही अन्तमें निश्चयसे आदरणीय है। अब श्री उमास्वामी महाराज उन वैमानिक देवोंके मूळ दो मेदोंका निरूपण करनेके लिय अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च ॥ १७॥

कल्पोंमें उपपाद जन्म द्वारा उरफ्न हुये देन और कल्पोंका अतिक्रमण कर उत्पर उपज रहे देन यों कल्पोपपन और कल्पातीत ये दो वैमानिक देनोंके भेद हैं।

सौधर्मादयोऽच्युतांताः करनोषपमा इंद्रादिदश्वतयकल्पनासन्द्रावात् कल्पोपपम्ननामकर्मो-दयवश्वतित्वाच न भवनवास्पादयस्तेषां तद्वभावात् । नवप्रैवेयका नवानुदिशाः पंचानुत्तराश्च कल्पातीताः कल्पातीतनामकर्मोदये सति कल्पातीतत्वात् तेषाभिद्रादिदशतयकल्पनाविरहात् सर्वे-पामद्रमिद्रत्वात् ।

प्रथमस्वर्गवासी सौधर्मको आदि बेनस सोछहने अन्युत स्वर्गपर्यन्त ठहरनेवाछे देव कल्पोपपन्न हैं। न्यांिक जनमें इन्द्र, सामानिक, आदि दश अवयववाछी कल्पनाका सद्भाव हो रहा है। दूसरी बात यह है कि गतिनामकर्मके व्याप्य तद्माप्य हो रहे कल्पोपपन्न संइक नामकर्मके उदयक्षी अधीनतामें वर्तना होनेके कारण सोछह स्वर्गके देव कल्पोपपन्न हैं। हां, मचनवासी आदिक तीन निकायोंके देव तो कल्पोपपन्न नहीं हैं। क्योंिक उनके मछे ही इन्द्र, सामानिक, आदि दश या आठ विकल्प पाये जाते हैं। फिर भी उस कल्पोपपन्नसंइक नामकर्मके उदयका अमाव है। कल्पोपपन्तवक्षी सिद्धि कर्मके छिप इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाका सद्भाव होते हुये कल्पोपपन संइक नामकर्मके उदयकी वशवर्तिता इतना छन्वा झापकहेत् या कारक हेत् उपयोगी है। अर्थात् कमी कभी द्वय क्षेत्र, सामक नने रहना इसिछिये कहा गया है कि धुन उदयबछे गतिकर्मका कभी कभी द्वय, क्षेत्र, साक, आबके नहीं मिळनेपर रसोदय नहीं हो पादा है। देवपर्यायमें अपनी स्थितिक परिपूर्ण हो वालेक्ष उदय प्रकार कर्या प्रकार सहाविद्ध देवाति कर्मकी मनुष्य अवस्थाने स्थिति पूरी हो जानेपर एक दिये विना है। इसी प्रकार कदाचित् देवाति कर्मकी मनुष्य अवस्थाने स्थिति पूरी हो जानेपर एक दिये विना हो क्षेत्र प्रवेश उदय हो

बाता है। ऐसी दशामें जीव कर्मोदयके पराधीन नहीं हो सका। अतः मन्धनारने हेतुके विशेष्य दछ कर्मोदय द्वारा हुई पराधीनतापर अधिक बड़ डाला है। कर्पातीत देवों में हेतुका विशेषण दछ और विशेष्यदछ दोनों भी नहीं घटते हैं। अधोपैनेयक तीन, मध्यपैनेयक तीन और उपरिमेमैनेयक तीन यों ऊपर ऊपर वर्त रहे नौ मैनेयक सम्बन्धी देव तथा चार दिशाओं चार विदिशाओं और एक मध्यमें ठहर रहे, यों नौ अनुदिश विमान सम्बन्धी देव एवं विजय, वैजयंत, जयंत, अपराजित, सर्वाध-सिद्धि यों पांच अनुत्तर विमानवासी देव तो कल्पातीत हैं। क्योंकि गति कर्मके भेद, प्रभेद, हो रहे कल्पातीत नामक नाम कर्मका उदय होते सन्ते आत्म विपाकी कही गयी गति प्रकृतिकी अधीनता वश ये कल्पातीत देव हैं। मछे ही इनमें अधः आदिपनेकी या नौ, नौ, पांच संख्यासिहतपनेकी कल्पना है, तो भी प्रकरणमें इष्ट की गयी इन्द्र आदि दश प्रकारकी कल्पनाका विरह होनेस वे सब कल्पातीत है। क्योंकि भवनवासीयन, इन्द्रसामानिकपन आदि झगडोंसे रहित होते हुये वे कल्पातीत देव सबके सब अहमिन्द हैं। अहमेत्र इन्द्रः, अहमेत्र इन्द्रः, में ही इन्द्र हूं, में ही इन्द्र हूं, मेरे ऊपर कोई प्रभु नहीं है, यों उनकी आत्मामें सर्वदा प्रतिमास होता रहता है। अहमिन्द्रपनका विधातक वहां कोई प्रभुग मी नहीं है।

वैमानिका विमानेषु निवासादुपवर्णिताः । द्विधा कल्पोपपनाश्च कल्पातीताश्च ते मताः ॥ १ ॥

पूर्ववर्ती अधिकार सूत्रको मिलाकर इस सूत्रका अर्थ यो होजाता है कि उन विमानोंमें निवास करनेसे वे देव वैमानिक कहे जाते हैं। तथा वे देव कल्पोपन और कल्पातीत यो दो प्रकार माने गये हैं। यह अर्थ सूत्रकारको अभीष्ट है। यद्यपि दश प्रकारकी कल्पना मवनवासी देवोंमें है और कल्पनासी अतीत मनुष्य तिर्यच नारकी जीव भी है। फिर भी क्विटशहको होनेसे या इन विशेष कर्मोंकी व्यक्षितासे अर्थघटना करनेमर कोई अतिस्याति नहीं होती है।

न वैपानिकासिया चतुर्घा वान्यया वा संमाव्यंते द्विविधेष्वेवान्येपामंतर्मावात् ।

वैमानिक देव तीन प्रकार या चार प्रकार अथवा अन्य पांच, छह, विकल्प अन्य या पटलोंकी अपेक्षा त्रेस्ठ ६३ आदि अन्य प्रकारोंके नहीं सम्भावित हो रहे हैं। क्योंकि इन दो प्रकारोंके ही अन्य सम्पूर्ण समुचित प्रकारोंका अन्तर्भाव होजाता है।

ते च कथमवस्थिताः ?

वे कल्पोपन और कल्पातीत विमान या विमानवासी देव किस प्रकार अवस्थित होरहे हैं। बताओ, ऐसी विनीत शिष्यकी जिल्लासा होनेपर अनके विशेष अवस्थानोंको समसात हुये श्री उमास्वामी महाराज अभिमस्त्रको सहते हैं।

उपर्श्वपरि ॥ १८ ॥

सीधर्म, ऐशान, आदि कल्प और कल्पातीतों के विमान क्रपर ऊपर वर्त रहे हैं। आगमकी न्यवस्था अनुसार विमानोंकी या पटडोंकी अवस्थिति है।

सामीप्येऽघोऽध्युपरीति द्वित्वं तेषामसंख्येययोजनांतरत्वेपि तुल्यजातीयव्यवधा-नाभावात् सामीप्योपपचेः ।

व्याकरणके " सामीप्येऽद्योऽच्युपरि " इस सूत्र द्वारा उपर्युपरि यहां समीपपन अर्थको पोतन करनेपर उपरि अन्ययका दो बार प्रयोग किया गया होनेसे हिल होगया है । यद्यपि उन करपनासी या अहमिन्द्रोंके विमानोंका ऊपर नीचे अन्तर अथवा त्रेसिट पटलोंमें प्रत्येक दो पटलोंका अन्तर असे-स्याते योजनोंका है, तो भी तुल्यजातिबाके पदार्थीका व्यवधान नहीं होनेसे समीपपना बन जाता है। अर्थात्—सौधर्म, ईशान, स्वर्गीके अधस्तन विमानींसे कुछ कमती डेढ राजू प्रमाण असंख्यात योजनों ऊपर चळकर सनत्क्रमार, माहेन्द्र नामक दो स्वर्ग हैं। सनत्क्रमार माहेन्द्रके नीचले विमानोंसे कुछ कम देद राजू उपर चलकर बस बसोत्तर ध्वर्ग हैं। बस बसोत्तर सम्बन्धी आधा राजूका अन्त-राख देकर उत्पर जन्तव, कापिष्ठ, स्वर्ग हैं । यो ही आगम अनुसार ऊपर भी समझ छेना । सानखु-मार माहेन्द्रके अधोमागसे ऊपर देढ राजूतक सानत्कुमार, माहेन्द्र, देवोंका ही अधिराज्य है, और सानकामार माहेन्द्रके प्रारम्भसे बाळाप्र कमती आकाशसे आदि छेकर नीचे कुछ कम डेट राज तक सौधर्म ईशानोंका अधिकार है। सौधर्म, ईशान, स्वर्गमें ऋत विमक आदि इकतीस पटल है " एकेक इंदयस्य य विज्ञालयसंखजीयणपमाणं " एक एक पटल या इन्द्रक विमानोंका अन्तराल असंख्याते योजन है। किन्तु जगत्में तुल्यजातियां पदार्थोंको ही व्यवधायक माना जाता है। मान, अपमान, छजा, प्रतिष्ठा सब समान जातिवाओं में समझी जाती हैं । बुक्षें की पंक्तिमें या घोडे, मनुष्य आदिकी पंक्तियों में मके हैं। बीचमें आकाश, तृण, वायु, आतप, वज, खन्मे, आजायं किर भी तुल्यजातिवाने पदार्थीका मध्यमें समावेश नहीं होनेसे उनमें अन्तराज नहीं माना जाता है। प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा हये प्रतिमासमें मके हैं। अन्य उत्पादक कारणोंका व्यवधान होय, किन्तु झान जातीय अन्य प्रतीतिओंका व्यवधान नहीं पडनेसे विशद्यना आरूढ माना गया है। इसी प्रकार कल्पोपपन और कल्पातील वैमानिकोंमें अन्य वैमानिकोंका या पटलोंका न्यवधान नहीं पड़नेसे समीपपना बन जाता है ।

किमनोपर्युपरित्यनेनाभिसंबध्यते ! कत्या इत्येके । कत्योपपना इत्येन करपग्रहणस्यो-पसर्वनीभूतस्यापि विशेषणेनाभिसंबंधात् । राजपुरुषोऽयं, कस्य राज्ञ इति पथा मत्यासचित्रहर्न्न् व्योद्धितत्यादिकि । जन्म वृध्यायदे, वैयानिका इत्यिकिकारार्थे वन्तनित्येतस्य व्यापातात् । यथा दि वैमानिका देनाः कन्तोपपनाः कन्याकीताथेति संबध्यते वयोपर्युपरोस्यपि ॥ प्रवेदि युक्तं । न हि देवा एव निर्विशेषणा उपर्युषरीत्युच्येत येनानिष्ट्रमसंगः । किं ति १ मध्यस्येंद्र-कतिर्यगवस्थितश्रेणीयकीर्णकविमानलक्षणकल्योपपश्रत्वविशेषणाकांताः कल्यातीतत्वविशेषणा-क्रांताश्र यथोपवर्णितसिश्ववेशाः संबध्येते । तथा च निरवयो निर्देशः सर्वानिष्टनिष्ट्रसः। तथाहि—

कोई विद्यार्थी प्रश्न करता है कि यहां ऊपर ऊपर इस करन करके किसी पदार्थका चारों ओरसे सम्बन्ध किया जाता है! बताओ । क्या देव अधवा क्या विमानोंकी एवं कल्पोंको या कल्पाती-तोंको ही यहां ऊपर अवस्थित बताया है ? या मनमानी रचना समझ खी जाय ! इसके उत्तर में कोई एक विद्वान यों झट उत्तर दे बैठते हैं कि यहां कल्प ऊपर ऊपर रच रहे विवक्षित हैं। क्योंकि पूर्वके कल्पोपपना इस पदमेंसे गौणभूत होरहे भी कल्प शह्के प्रहणका विशेषणपने करके अभिसंबंध कर लिया जाता है। अर्थात-पूरे पद कल्पोपपनाः की अनुवृत्ति होनी चाहिये थी। कल्पोपपन पदमें उत्तरपद्मधान स्तमीतत्पुरुष वृत्ति द्वारा उपपन्न शद्ध प्रधान है। कल्प शद्ध गीण है, फिर भी प्रयोजनवश गीण होरहे कल्प शहकी भी अनुवात्ति की जासकती है, जैसे कि यह राजपुरुष (राजाका पुरुष) है । पुनः "किसका" प्रश्न होनेपर राजाका यह सम्बन्ध विवक्षित हो जाता है। राजपुरुष पदमें गीण हो रहे भी राजा शहकी अनुवृत्ति कर की जाती है। इसी प्रकार यहां भी निकटवर्तिता होनेसे बुद्धि द्वारा गौणभूत भी " कल्प " अपेक्षित हो रहा है। कल्पातीतों ने निमानका सम्बन्ध कर लिया जायगा, यों कह चुक्तनेपर आचार्य कहते हैं कि सर्वार्थसिद्धिकार श्री पुष्यपाद स्वामी या राजवार्तिककार श्री अक्छंक देवको उस समाधानको इम अच्छा नहीं समझ रहे हैं। क्योंकि कल्पशद्वकी अनुवृत्ति कर छेनेसे यहां " वैमानिका: " इस प्रकार अधिकारके छिये चळा आ रहा जो वचन है, इसका ज्याचात हो जायगा । वैमानिकाःका अधिकार कर फिर दूसरे ही सूत्रमें " कल्पाः " का सम्बन्ध कर बैठनेसे स्ववचन न्याचात होता है। अतः जिस प्रकार कि पूर्वसूत्रमें अधिकार प्राप्त हो रहे वैमानिक देवोंका ही उद्देश्य कर कल्पोपपन और कल्पातीत यों विधेय दलके साथ सम्बन्ध जोड दिया गया है। उसी प्रकार यहां भी ने नैमानिक ही सम्बन्धित हो रहे यों समुचित प्रतीत होते हैं। अकेले कल्प ही ती कपर कपर नहीं हैं। प्रत्यंत कल्पातीत भी कपर कपर विन्यस्त है। इस जैन विशेषप्रासे रहित ही रहे देवोंका है। जपर जपर निवास करना नहीं कह रहे हैं, जिससे कि अनिष्टका प्रसंग हो जाय ! यानी देव तो ऊपर ऊपर ठहर जांय, स्वर्ग या पटल तिरक्ने भी व्यवस्थित हो जांब, तो हम विकास आनन्दको माननेवारे जैनोंको क्या अभीष्ट है ! इसका उत्तर यह है कि मध्यमें स्थित हो रहे कहत विमान, तिरक्के अवस्थित हो रहे श्रेणीविमान और पुष्पप्रकीर्णक विमानस्वरूप कल्पोंसे सहितपन विशेषण करके आकान्त हो रहें तथा कल्पातीतपन विशेषणसे आकान्त हो रहे एवं उक्त वर्णनी जनसार सिनिवशको चार रहे विशेष्य देव ही यहां सम्बन्धित हो रहे हैं। और तैसा होनेपर यह संप्रका विदेश निर्दोष है। क्योंनि सम्पूर्ण अनिष्ठ प्रसमोंकी थीं निर्दाश हो जाती है न उसको स्वर अरा प्रसान वार्षिक दारा अन्यकार शिवाये देते हैं।

उपर्युपरि तद्धाम नाभस्तिर्यक् च तत्स्यितिः । यथा भवनवास्यादिदेवानामिति निर्णयः ॥ १॥

उन बैमानिक देवोंके निवास स्थान ऊपर ऊपर ब्यवस्थित हैं। अधोमागोंमें या तिरछे रूपसे उन निवास स्थलोंकी स्थित नहीं है। जिस प्रकार कि मवनवासी आदि देवोंके धाम नीचे, तिरछे, रचे हुये हैं, ऐसे बैमानिकोंके अङ्क्षिम विमानोंकी रचना नहीं है। यह उक्त सूत्र द्वारा निर्णय कर दिया गया है। मावार्थ—चार निकायके देवोंमें पहिले तीन निकायके देव अधः या तिर्यग्रू प्रसे रचे गये भवन, नगर या विमानोंमें निवास करते हैं। किन्तु इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और पुष्प प्रकीर्णक रूपसे व्यवस्थित हो रहे कल्पोपपन्न और कल्पातीत देवोंके विमान तो ऊपर ऊपर रचे हुये हैं। यद्यपि सातवीं पृथिवीसे लगा कर पहिली पृथिवीत क नारिक्योंके बिले भी इन्द्रक बिल श्रेणीबद्ध बिल, पुष्पप्रकीर्णक विल रूपसे विन्यस्त हैं। किन्तु वे पुष्पप्रकीर्णक रूपसे मले ही व्यवस्थित होंच इन्द्रक श्रेणीबद्ध और उनके मध्यवर्ती पुष्पप्रकीर्णक रूपसे आकाश प्राकृगणमें व्यवस्थित होंच इन्द्रक श्रेणीबद्ध और उनके मध्यवर्ती पुष्पप्रकीर्णक रूपसे आकाश प्राकृगणमें व्यवस्थित नहीं है। तथा वे बिले और उनके मध्यवर्ती पुष्पप्रकीर्णक रूपसे आकाश प्राकृगणमें व्यवस्थित नहीं है। तथा वे बिले और उयोतिषक विमान ये कल्पोपपन्तव और कल्पातीतव विशेषोंसे आकान्त मी नहीं है। अतः इन्द्रक, श्रेणीबद्ध, प्रकीर्णक, विमान स्वरूप होते हुये कल्पोपपन्तव और कल्पातीतव विशेषणोंसे आकान्त हो रहे पदार्थ ऊपर ऊपर रचे हुये हैं। यह उक्त सूत्रका पदकीर्तिपुरःसर निदींष समन्वय कर दिया गया है।

न हि यथा भवनवासिनो व्यंतराश्राधस्तिर्यक् समवस्थितयो ज्योतिष्काास्तिर्यक् स्थित-यस्तथा वैमानिका इष्वंते, तेषाग्रुपर्युपरि समवस्थितत्वात् उपर्युपरि वचनेनैव निर्णयात् ।

जिस प्रकार कि भवनवासी और व्यंतर देव अघोलोकमें और तिर्यक्लोकमें नीचे या तिरहे रूपसे बने हुये अपने निवासस्थानोंमें मले प्रकार अवस्थितिको कर रहे हैं, रत्नप्रभाके खरभाग और पंकभागमें भवनवासियोंके नीचे और तिरहे सुन्दर भवन बने हुये हैं, और व्यन्तरोंके असंख्याते हीपसमुद्रोंमें भी रत्नप्रभाके उपरिम भागमें तिरहे फैले हुये असंख्य नगर या आवास बने हुये हैं, तथा नीचे पंकभागमें असुर और राक्षसोंके असंख्याते हजार नगर है, एवं असंख्यातासंख्याते क्योतिक देव तो इस समतल भूमिने ऊपर सात सी नव्ये योजनसे प्रारम्भ कर केन्नल एक सी दश बोजनतक मोटे देशमें असंख्यात योजनोंतक एक राजू लम्बे, चौडे, प्रदेशमें तिरहे कैले हुये असंख्य विभानोंमें स्थितिको कर रहे हैं, तिस प्रकार उक्त तीन निकायोंके समान वैमानिक देव स्थिति करते पर नहीं माने गये हैं। क्योंकि उन वैमानिकोंकी तीन निकायोंके समान वैमानिक देव स्थिति करते पर नहीं माने गये हैं। क्योंकि उन वैमानिकोंकी तीन निकायोंसे विभिन्न रूप रेखाकी उपर उपर मले प्रकार स्थिति हो रही है। वे यहां वहां अस्त व्यस्त नहीं निवस रहे हैं। कारण कि "वैमानिकाः"

इस सूत्रके अप्रिम सूत्रमें उनके भेदोंको दिखाते हुये सूत्रकारने तीसरे स्थानपर अठारहर्षे " उपर्युपरि " इस सूत्ररूप बचन करके ही उक्त सिद्धान्तका निर्णय कर दिया है ।

कोई जिज्ञासु प्रश्न उठाता है कि यदि इस प्रकार वे वैमानिक देव ऊपर ऊपर व्यवस्थित हो रहे हैं तो बताओ कितने विमानोंमें वे वैमानिक देव हैं है ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महा- पाज अग्रिमस्त्रको कहते हैं।

सौधभैंशानसानत्कुमारमाहेंद्रब्रह्मलोकब्रह्मोत्तर-लांतवकापिष्ठशुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेष्वानतप्राणतयो-रारणाच्युतयोर्नवसु ग्रेवेयकेषु विजयवैजयंतजयंताप-राजितेषु सर्वार्थसिद्धौ च ॥ १९ ॥

सीधर्म ऐशान, सानत्कुमार माहेन्द्र, ब्रह्म ब्रह्मोत्तर, छान्तव कापिष्ट, छुक महाशुक, शतार सहसार, इन स्वगोंमें और आनत, प्राणत, एवं आरण, अन्युत, स्वगोंमें कन्पोपपन नैमानिक देव निवास करते हैं। तथा नवप्रैवेयक और नौ अनुदिश विमानोंमें असंख्याते कल्पातीत नैमानिक देव निवस रहे हैं। अर्थात्—केवछ सर्वार्थसिद्धि विमानमें दिरूप वर्गधाराको पांचवी कृतिक धनस्वरूप मनुष्य संख्याके त्रिचतुर्थ प्रमाण वियोंसे तिगुने या सतगुने सर्वार्धसिद्धिके देव मात्र संख्याते हैं। अधन्य संख्या कभी रह जाय तो मानव क्षियोंसे तिगुनी और उत्कृष्ट संख्या होजाय तो सतगुनी इन एक भवतारी देवोंकी गणना है। शेष सम्पूर्ण कल्प और कल्पानीनवर्त्ती संख्यातविमानोमें असंख्याते देव निवास कर रहे हैं।

सुधर्मा नाम सभा सास्मिन्नस्तीति सीधर्मः कल्पः " तदस्मिन्नस्तीत्यण् " तत्कल्पः साइचर्यादिद्रोपि सीधर्मः, ईश्वानं नामंद्रः स्वभावतः ईश्वानस्य निवासः कल्प ऐश्वानः " तस्य निवास " इत्यण् तत्साइचर्यादिद्रोप्येश्वानः, सानत्कुमारः माईद्रो नामंद्रः स्वभावतः तस्य निवासः कल्पः सानत्कुमारः तत्साइचर्यादिद्रोपि सानत्कुमारः माईद्रो नामंद्रः स्वभावतः तस्य निवासः कल्पो माईद्रः तत्साइचर्यादिद्रोपि माईद्रः, ब्रह्मनामंद्रः तस्य छोको ब्रह्मछोकः कल्पो ब्रह्मो-स्थ छोतवाद्योच्युताता इन्द्रास्तत्साइचर्यात् कल्पा अपि छोतवाद्यः, इन्द्रछोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वाद्श्रीवाः भीवास्य भवानि प्रवानस्याणि विमानानि तत्साइचर्यादिद्रा अपि वैवे-पकाः, विजयादीनि विमानानि परमाभ्युदयविजयादन्वर्थसंक्षानि तस्साइचर्यादिद्रा अपि विवे-पकाः, विजयादीनि विमानानि परमाभ्युदयविजयादन्वर्थसंक्षानि तस्साइचर्यादिद्रा अपि विजयादिनामानः सर्वार्थानां सिद्धः सर्वार्थसिद्धिविमानं तत्साइचर्यादिद्रा सर्वार्थसिद्धः।

पहिले स्वर्गमें सुधर्मा संज्ञक सभाका एक बहुत विशाल भवन बना हुआ है, जिस स्वर्गमें वह सुधर्मी सभा बनी हुई है वह कल्प सीधर्म स्वर्ग है " तदस्मिनस्ति " इस तद्धितके सूत्र करके यहां सुधर्मा शब्दसे अण् प्रत्यय कर सौधर्म शब्दको साधु वना विया जाता है, उस सौधर्म करपके सहचर पनेसे पहिले स्वर्गका इन्द्र भी सीधर्म कहा जाता है अथवा स्वमावकरके अनादिकालसे इन्द्र या स्वर्ग का नाम सीवर्म पड रहा है। इसी प्रकार स्वभावसे ही ईशान नामका इन्द्र है, ईशान इस्ट्रका निवास हो रहा दूसरा कल्प ऐशान है। यहां " तस्य निवासः " इस तद्भित सूत्रसे अण् प्रत्यय कर ऐशान शब्द उत्पन कर लिया गया है । उस स्वर्गके सहचरपनेसे इन्द्रको भी पेशान कह दिया जाता है । तृतीय स्वर्गमें अनादिकाछीन मंज़ाके वश स्वभावसे ही सनलुमार इन्द्र चला आ रहा है । उसका निवासभूत कल्प सानलुमार है । यह। मी " तस्य निवासः " इस सूत्रकरके अण् प्रत्यय कर छेना चाहिये | उस सानत्कुमार स्वर्गके सक्षचरपनेसे इन्द्र भी मानस्कुमार कहे जा सकते हैं। मन्त्रशीय अच् प्रस्ययकरके भी यहां निर्वाह किया जा सकता है । महेन्द्र नामका इन्द्र स्वभावमे ही है । उसका निवासस्थान करूप माहेन्द्र है । उस माहेन्द्र स्वर्गमें धाराप्रवाहरूपसे जो इन्द्र होने चले आ रहे हैं उस स्वर्गके सहचरपनेसे वे इन्द्र भी माहेन्द्र 🖁 । ब्रह्मा नामक इन्द्र हैं उम इन्द्रका छोक पांचवां ब्रह्मछोक्त नामका कल्प है और ब्रह्मोत्तर नामका कठा करप है। इसी प्रकार लान्तवको आदि छेकर अध्यतपर्यन्त इन्होंकी व्यवस्था स्वभावसे ही होती पछी आ रही है। उसके सहचरपनेसे ठांतत्र आदिक कल्प भी अनादि सिद्ध संज्ञाओंको धार रहे हैं। स्वर्ग या कल्प तो अनादिसे अनन्तकाछतक प्रवर्त रहे हैं । किन्तु उनमें देव था इन्द्र निवास कर रहे अपने आयुष्यको नियतकालतक सुखर्जिक विता रहे हैं । उन उन स्वर्गीमें जन्म लेनेवाले इन्द्र धारा प्रवाहसे उन्हीं नामोंको भारते हैं। इस चौदह राज् ऊंचे लोकको या केवल ऊपरले सात राज्के इन्द्र कोकको यदि पुरुपाकार नियम कर छिया जाय ते। उसकी श्रीवा (नार) के स्थानापन होनेसे छोकके तेरह राज के ऊपरके कतिषय स्थान प्रीवायें कहे जायंगे। प्रीवाओं में विन्यस्त हो। रहे विमान प्रेनेयक हैं। उन विमानोंके माहचर्यसे इन्द्र भी प्रेनेयक हैं। इनके ऊपर नी अमुदिश हैं। विजय आदिक विमान अन्य छौकिक उन्हार अभ्युदयका विजय करनेसे यथार्थ नामा कहे जाते हैं। यानी विजय, वैजयंत, जयंत और अपगतित ये नाम दूसरेको जीतने और किसीसे नहीं पराजित होनेकी अपेक्षासे अपने ठीक अर्थको छेकर घटित हो रहे हैं। उन विमानों के साहचर्यसे उनमें रहनेवाले असंख्याने अहमिन्द्र भी विजय, वैजयंत आदि नामों को धार रहे हैं । सम्पूर्ण छौकिक अर्थ की परिपूर्ण सिद्धि है। जानेके कारण सर्वाधिरिद्धि नामक इन्द्रक विमान भी अन्वर्थ संक्रक है। उसके साहचर्वसे इन्द्र भी सर्वार्थितिद्व हैं । ऐसे अइमिन्द्र सर्वार्थितिद्धि त्रिमानमें संख्याते हैं । अर्थात्—'' मेरुत गदु दिवहुं दिवहु ंद्रकड़क्क एक तरञ्जूकि, कपाणमङ्गुगला गेवेरजादी य होति कमे '' (त्रिलोकमार) मेरुके तलस एक छाल चाछीस योजन अथना इस समतछ सूमिसे निन्यानने हजार चाछीस योजन और बाछाप्र

ऊपर उछल कर सौधर्म, ऐशान, ये दो कल्प दक्षिण और उत्तर दिशाओं में न्यवस्थित हैं। इनमें ऋत आदिक इक्तीस पटल हैं। दक्षिण दिशाका अधिपति सीधर्म इन्द्र है और उत्तर दिशाके श्रेणी विमान और पुष्पप्रकीर्णकोंका अधिकारी ऐशान इन्द्र है। सबसे ऊपरछे प्रभा संज्ञक पटलमें इन्द्रक विमानसे दक्षिणदिशामें अठारहवें श्रेणी बद विमानमें सीधर्म इन्द्र रहता है। उसी प्रकार क्योप्त भेजीबद विमानवाडी उत्तर दिशाके अटारहवें विमानमें ऐशान इन्द्रका निवास है। एक एक पटकमें असंख्याते योजनोंका अन्तर है। समतल भूभागसे ऊपर डेढ राजू स्थानतक सौधर्म, एंशान, इन्होंका आधिपत्य है। सौधर्म ऐशान स्वर्गीसे अनेक योजन ऊपर अथवा मेरुतलसे ठीक डेढ राज ऊपर सानत्क्रमार, माहेन्द्र स्वर्गीका प्रारम्भ है । अंजन आदि सात पटलवाले ये दो स्वर्ग दक्षिण उत्तर समान तुलामें रचे हुये हैं। कुछ कम डेट राज्तक इनका अधिकार है। मेरुतलते तीन राज् ऊपर समतुला स्थानमें ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग बने हुये हैं। इन दोका अधिपति ब्रह्मा नामका एक इन्द्र है। आधे राज ऊपर तक इनका साम्राज्य है। मेरुत ३से साडे तीन राजू ऊपर चलकर लांतर और कापिष्ठ स्वर्ग बरोबरमें रचे हुये हैं । इन दोका अधिपति एक ही छांतत्र इन्द्र है । इसके ऊपर कुछ कम आधा राज् चलकर शक, महाशक दो स्वर्ग दक्षिण और उत्तरकी ओर विन्यस्त हैं । इनका अधिपति एक अक इन्द्र है। इसके ऊपर कुछ कम आधा राजू यानी मेरुतलसे साडे चार राजू ऊपर उछल कर सतार और सहस्रार ये स्वर्ग समानभागमें रचे हुये हैं। इन दोका अधिपति सतार नामका एक इन्द्र है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और ऊर्च इन पांचें। दिशाओं में आधे आधे राजूतक इसका अधिराज्य है। सतार, सहसारसे कुछ कम आधा राज् ऊपर आनत, प्राणत, दो स्वर्ग हैं। इनके दक्षिण दिशा-सम्बन्धी और उत्तरदिशासम्बन्धी अधिपति दो इन्द्र हैं। इनसे आधे राज् ऊपर उछछ कर यानी मेह तलसे साडे पांच राज् ऊपरसे आरण अन्युत स्वर्ग प्रारम्भ हो जाते हैं, जो कि दक्षिण उत्तर दिशामें समतला कोटियर व्यवस्थित हैं। मेहतल्से छह राज् ऊपर उपरिम एक राज्को निचले भागमें नी प्रैनेयक विमानोंके नी पटल हैं। इनके जपर नी अनुदिश विमानोंका एक पटल है जिसमें कि चार दिशाओं और चार विदिशाओं तथा एक मध्यमें यों नौ विमान रच रहे हैं। इसके ऊपर पांच अनुत्तरोंके पांच विमान हैं। सर्वार्थसिद्धिसे बारह योजन उत्पर सिद्ध क्षेत्र है। सर्वार्थसिद्धि और सिद्धलेक्के अन्तरालमें एक राज चौडी सात राजू टम्बी आठ योजन मोटी छोकान्तस्पर्शिनी आठवीं '' ईष्याग्सारा '' नामकी प्रथियी है। इस पृथियोंके ठीक बीचमें मनुष्यक्षेत्रवरावर उम्बी चौडी आठ योजन मोटी गोछ सिद्धशिला जड रही है, जो कि सिद्धलोक नामसे कही जा रही आधे लडहुके समान नीचे समतल और ऊपर कामसे घटती हुई ढलाऊं होकर उठी हुई है। उस सिद्ध प्रतिष्ठान क्षेत्रके ऊपरके या लोकमें सबसे ऊपर बडे धनुत्रोंसे नपे पन्द्रहसी। पिचत्तर १५७५ धनुष मोटे तनुवानके पन्द्रहसीवें या नी खाखरें भागमें उत्कृष्ट और जक्त्य अत्रगाहनावार्र अनन्तानन्त सिद्धपरमेशी विराजमान हैं। संबद्धी त्रियोगसे हम नमस्त्रार करते हैं। एक सही एक वढे बीस महाधनुषमें बडी अवगाहनाके सिद्ध हैं

और सात बटे चार इजार महाधनुषमें छोटी अवगाहनाके सिद्ध मगवान् विराजमान है। मध्यमें अवगाहनाओं के अनेक भेद हैं। वहां भी अनन्तानन्त सिद्ध हैं।

तस्य पृथग्प्रहणं द्वन्द्रे कर्तव्येषि स्थित्वादिविश्वषमेतिपच्यर्थे। सर्वार्थसिद्धस्य हि स्थिति क्ल्कुष्टा जघन्या च त्रयस्त्रिश्वस्तागरीपमा विजयादिभ्यो जघन्यतो द्वात्रिश्वस्तागरीषमस्थितिभ्यो विशिष्टा प्रभावतथ ततोल्पप्रभावभ्यः इति श्रूयते ।

उस सर्वार्धसिद्धिका यद्यपि विजय आदिकके साथ द्वन्द्व समास कर देना चाहिये था। फिर भी श्वित, प्रमाव, आदि विशेषोंकी प्रतिपत्ति करानेके लिये सर्वार्थसिद्धिका पृथक स्वतंत्र प्रहण किया है। सर्वार्थसिद्धि विमानमें रहनेवाले सर्वार्थसिद्ध देवकी उत्कृष्ट स्थिति और जवन्य स्थिति दोनों तेतीस सागरोपम हैं। बत्तील सागर जवन्य और तेतीस सागरोपम उत्कृष्ट स्थितिको धारमेवाले विजय आदि चार वैमानिकोंसे यह जवन्य, उत्कृष्ट, विकल्पोंसे रीती हो रही सर्वार्थसिद्ध देवोकी स्थिति विशिष्ट है। तथा प्रभावसे भी उन अल्प प्रभावयाले विजय आदि अहमिन्द्रोकी अपेक्षा सर्वार्थसिद्धि देवोका प्रभाव अत्यिक है। ऐसा शालों द्वारा आम्नायपूर्वक सुना जा रहा है। विजय आदि चार विमानोंमें रहनेवाले सम्पूर्ण असंस्थाते देवोंका जितना मिलकर प्रभाव है, उत्तसे अविक सर्वार्थसिद्धिके एक देवका है। इत्यादि विशेषोंको दिखलानेके लिये सर्वार्थसिद्धी ऐसा सूत्रमें पृथक असमसितपद पढ़ा हुआ है। किन् प्रस्थयान्त होनेसे खीलिंग माना गया सर्वार्थसिद्धि शद्ध भी इन्द्रकी संज्ञा पढ़ जानेसे पुलिङ्ग कर दिया जाता है। सर्वार्थसिद्धि और सर्वार्थसिद्ध दोनों शद्ध अभीष्ट हो रहे दीखते हैं।

प्रैवेयकाणां पृथग्प्रहणं कल्पातीतत्वज्ञापनार्थः, नवश्रद्धस्याशान्तकरणमनुदिशसूचनार्थः । दिश आनुपूर्व्यणानुदिशं विमानानीति पूर्वपदार्थप्रधामा शक्तः दिक्छद्वस्य शरदादित्वात् आकारांतस्य वा दिशाशद्वस्य भावात् तत्साहचर्यादिद्रा अप्यनुदिशास्ते च नव संति प्रैवेय-काणामुपरीति अवणात् ।

" प्रैवेयकेषु " इस पदका पूर्व या उत्तरपदोंके साथ इन्द्र समास नहीं कर जो पृथक प्रहण कर दिया गया है, वह तो प्रैवेयकों के कल्पातीतपनको समझाने के लिये हैं। अर्थात — सौधर्मको आदि छेकरके अन्युतपर्यन्त बारह इन्द्रोंकी अपेक्षा बारह कल्प हैं। उनसे न्यारे ऊपरे विमान सब कल्पातीत हैं। इस सिद्धान्तको समझाने के लिये प्रैवेयकेषु यह पर पृथक् कर दिया है। सूत्र-कारकी एक एक मात्रा अपिरिमेत अर्थ को खेल रही है। यद्यपि प्रैवेयक नी हैं। ऐसी दशाम नव च ते प्रैवेयका नव्यौवेयका "थों समास कर "नव्यौवेयकेषु " कह देना चाहिये था। फिर जो स्पृत्रकारने नव और प्रैवेयक परोंमें समास इति नहीं की है, वह नी अनुदिश विमानों का सूचन करने के लिये है। यानी प्रैवेयकसे ऊपर नी अनुदिश विमान भी हैं। दिशाआंके अनुपूर्वीपने करके बने हुए विमान

नव अनुदिश हैं। यहां दिश् शब्दकी अनुपदके साथ पूर्वपदके अर्थको प्रधान रखनेवाळी समासकृति कर दी गई है। दिश् शब्दका शरदादि शब्दोंमें पाठ होनेसे "अव्ययीमाने शरदाश्वित्यः" इस सूत्र करके यहां समासान्त टच् कर दिया जाता है। अथा। आकारान्त दिशा शब्दका सङ्गात्र होनेसे "अव्ययीमानश्च और नपोऽचो हम्यः" मूओंद्वारा अनुदिश शब्द बनाया जा सकता है। उस अनुदिश विमानोंके सहचरपनेसे इन्ड भी अनुदिश कहे जाते है और वे अनुदिश विमान ग्रैवेपकों के उपर एक पटलमें नो है। यों आर्यशाकोंद्वारा ज्ञात किया जा रहा है। नयमु शब्दका भैत्रेयकों एक बार अन्वय कर पुनः आवृत्त किये गये दूसरे नवसुका अर्थ नो अनुदिश विमान कर छिया जाता है। " व्याख्यानती विशेषप्रतिपत्तिन हि सन्देहादक्काणं"।

नतु च सीवर्मेशानयोः केषांचिद्प्युपरिभावाभावाद्य्यापकतोपरिभावस्य स्वादित्याः वंकाचामिद्यादः।

यहां किसीकी शंका है कि " उपिर उपिर " शद्भ पष्टवन्त पदकी अपेक्षा ग्यता है। अतः सम्मन्त्रमार, माहेन्द्र, आदिको सौधर्म, ऐशानके कपर कपरपना एवं नीचे नीचेके विमानोंसे कपर कपरपना सर्वार्थसिद्धितक सुलभतया घट जाता है। किन्तु सबसे नीचेके सौधर्म और ऐशानको किन्द्रीके भी कपर टहरनेका अभाव हो जानेसे कपर कपर सद्भावकी सर्वत्र वैमानिकोंमें व्यापकता नहीं हो सकी ? इस प्रकार आशंका होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अप्रिम वार्तिक द्वारा इस समाधानको कहते हैं।

सौभर्मैशानयोदेंवा ज्योतिषामुपरि स्थिताः। नोपर्युपरिभावस्य तेनाव्यापकता भवेत ॥ १ ॥

जब कि सीधर्म और ऐशानमें रहनेवाने देव ज्योति।पियां के जपर व्यवस्थित हो रहे हैं। तिस कारणसे जपरछे जपरछे मागोंमें टहरनेके परिणामकी अव्यापकता नहीं होवेगी। ज्योतिस्क विमानीं अध्यापकता नहीं होवेगी। ज्योतिस्क विमानीं अध्यापकता है। अर्थात्—ज्योतिस्क विमानींकी अपेक्षा जैमानिकोंके बेसट पटछोका ऊपर उपर वर्तना सर्वत्र व्याप जाता है। यदाप ज्योतिस्कोंने भी समतल विवा भूमागके ऊपर सात सौ नक्षे ७९० योजनसे प्रारम्भ कर ९०० योजनतक एक सौ दस ११० योजनोंने ज्योतिस्कोंका तारे, सूर्य, चन्द्र, तक्षत्रमण्डल, बुज, खक्त, खहरपति, मंगल, शनि, इन कम अनुनार उपर जपर वर्तना पाया जाता है। किर भी हमें यहां वैमानिकोंके उपर उपर कपर कथन प्रकरणमें ज्योतिस्कोंका धमीटना अभीष्ट नहीं हो रहा है। अध्यापकताका समूल उन्धेद करनेके लिये उदारोदर (बहा पेट) नौति अनुमार ज्योतिस्कोंका भी जपर उपर ठहरना वहा कर किस दिया है।

कुदः पुनर्द्वयोरुपर्युपरिभावः माग्ग्रैवेयकेभ्य एवेत्याइ ।

किसी प्रतिनादीका कटाक्ष है कि उक्त न्याख्यान करनेसे प्रतीत हुआ है कि सौधर्म आदि कर्न्पोमें दो दो स्वर्ग बराबर ठहरते हुये उपर उपर सीछह स्वर्ग वर्त रहे हैं। किन्तु सूत्र द्वारा यह अर्थ नहीं निकछता है। प्रैवेयकोंसे पाइले ही यह व्यवस्था होय। पुनः प्रैवेयकों, अनुदिशों, या विजया-दिकोंमें दो दो का गुगछ उपर उपर नहीं व्यापे यह भी मुख्यूत्रसे ध्वनित नहीं होता है। अनः बताओं कि प्रैवेयकोंसे ही पाइले दो दो स्वर्गोक्ता उपर उपर वर्तना है, यह कैसे निर्णात किया जा सकता है! ग्रीकाकारोंको मुख्यूत्रके अनुसार ही चलना चाहिये। सिद्धान्तको व्यून अधिक कथन करनेसे तत्त्रोंका कृपपतन या आकाशमें फेंक दिया जाना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार सामिमान जिज्ञासा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिमवार्त्तिकोंको समाधानार्थ कहते हैं।

सीधमंत्यादिस्त्रे च इंद्रवृत्तिर्विभाग्यते । सीधमंदिविमानानामुपर्युपरि नान्यथा ॥ २ ॥ आनतप्राणतद्वद्वमारणाच्युतयोरिति । सूचनादंतशः सा च कल्पेष्वेचैकशस्ततः ॥ ३ ॥ प्रवेयकेषु नवसु नवस्वनुदिशोष्वयं । ततोनुत्तरसंज्ञानां पंचानां सेष्यतेर्थतः ॥ ४ ॥

" सीधमें शानसान कुमारमाई न्द्रबह्म ब्रह्मोत्तर " इत्यादि सूत्रमें कहे गये सीधम आदि विमानोंका उपर उपर इन्ह यानी युगल रूपसे वर्तना विचार लिया जाता है। अन्य प्रकारोंसे यानी एक एकके उपर वर्तते हुये यों सोल्ह पटल होंय या चार चारका चतुष्क समभागमें बनाकर सोल्ह स्वगिक चार ही चनुष्क या पटल कर दिये जाय इत्यादिक दगोंसे उपर उपर वर्तना नहीं है। क्योंकि अन्तमें पड़े हुये आनत प्राणत हा इन्ह कर पुनः आरण और अन्युतोंका इन्ह किया गया है। अतः स्वित होता है कि जैसे आनत, प्राणत, और आरण अन्युतोंके युगल समानमागोंमें रचे होका उपर उपर हैं, उसी प्रकार सौधर्म, ऐशान, आदिके युगल भी दो दो स्वर्गोंकी समतुना होकर उपर उपर रहे हैं। अन्यथा जाचन के लिये आनत आदि चारोंका इन्ह कर एक ही योग किया जा सकता था। हां, पहिले बारह स्वर्गोंका लाधवार्थ इन्ह समास कर दिया है। और उनके उपरके दो युगलोंका समास नहीं करनेसे युगलकरपंते सब स्वर्गोंका वर्तना सूत्रकार हारा सूचित कर दिया तथा है। यह युगलकरपंते हो रही हारी चारह करूप यानी सोल्ह स्वर्गोंने ही है। उससे पदनी और नौ प्रेनेयकोंमें नौ अनुदिशोंमें और उससे उपर पांच अनुतर संज्ञक विभानोंमें यह वर्तना एक

एक रूपसे हैं। अर्थात्—नवप्रैनेयक अकेले अकेले हो कर ऊपर ऊपर नी पटलें में वर्त रहे हैं। नव अनुदिशोंका एक ही पटल उपरिम नीमे मैनेयक के ऊपर है। उसके ऊपर पांचों अनुत्तरोंका एक ही समतुलावाला पटल है। सूत्रोक्त शद्धोंकी शक्तिसे और अर्थसम्बन्धी न्यायसे भी वह सौधम आदि कल्पोंकी या कल्पातीलोंकी ग्रुगल रूपसे या एक एक रूपसे इस प्रकार वृत्ति होना अभीष्ट होरहा है। सहस्रारतक दो दो कल्पोंका पहिले इतरेतर इन्द्र समास कर पश्चात् लह ग्रुग्मोंका इन्द्र कर लेना। आगे स्पष्ट ही है।

सीधर्मेत्यादिसूत्रे निर्दिष्टानां सीधर्मैश्वानदीनां श्रेणीद्रकप्रकीर्णात्मकपटलभावापनानां विमानानासुपर्युपरि द्वंद्वर्तनं विभान्यते आनत्याणतद्वंद्वमनन्तरमारणाच्युतयोरिति सूचनादन्यथा वृत्त्यकरणे प्रयोजनाभावात् । तच्च द्वंद्वर्तनं कल्पेष्वेत्र विभान्यते । तदंते वृत्त्यकरणात् प्रागेव सीधर्मैश्वानयोः सानत्कुमारमाद्देन्द्रयोरित्यवृत्त्यकरणात् ।

सीधमैरान इत्यदि सूत्रमें कथन किये गये चारों दिशाओं में पंक्तिबद्ध फैले हुये श्रेणीबद्ध विमान और श्रेणीबद्धों के ठीक बीच ने ठहर रहा इन्द्रक विमान एवं दो दो श्रेणीयों के बीच बीच के चार तिकों ने बिखेरे हुये पुष्पों के समान फैल रहे पुष्पप्रकीर्णक विमान यों श्रेणीजातीय, इन्द्रक और प्रकीर्णक जातीय, विमानों सक्रप परलभाव को प्राप्त होरहे सीधर्म, ऐशान, आदि विमानों का ऊपर ऊपर युग्न रूपसे वर्तना निर्णात कर लिया जाता है (प्रतिक्षा) क्यों कि आनतप्राणतके दन्द्र पश्चात् आरण अच्युतों का प्रथक्ष्रपेस सूत्रमें कथन किया है। सूत्रकारने अन्तिन चारों स्वर्गों की समासवृत्ति जो नहीं की है, उसका यही प्रयोजन है कि सोल्ड स्वर्ग दो दो हो कर यमल रूपसे ऊपर ऊपर आठ द्वय वर्त रहे हैं। सूत्रकारका समासवृत्ति नहीं करने में अन्य प्रकारका कोई प्रयोजन नहीं है। और वह इन्द्र रूपसे दो दोका बराबर होकर वर्तना कर्नों में ही विचारा जाता है। क्योंकि उन कर्नों में ही अन्तक चार कर्नों दन्द्र समासवृत्ति नहीं की। गई है। उनके पहिले ही सीधर्म आदिक बारह कर्नों में वृत्ति यों की। गई है कि सीधर्मश्च ऐशानश्च सीधर्मेशानी और सानत्कुमारश्च माहेन्द्रश्च सानन्दुमारमाहेन्द्री तथा कि गई है कि सीधर्मश्च ऐशानश्च सीधर्मेशानी और सानत्कुमारश्च माहेन्द्रश्च सानन्दुमारमाहेन्द्री तथा कि गई है। यानी आठ करूप या बारह स्वर्गोंका दन्द्र समास कर दिया गया है। इसीसे कर्लों में गुगल्डितिका सिद्धान्त निर्णीत होजाता है।

तत एव नवसु प्रैवेयकेष्वेकक्षो वर्तनं विभाष्यते । नवस्तनुदिशेषु च तत्र दिग्विदिग्व-त्येंकैकविमानमध्यगस्येंद्रकविमानस्यैकत्वात् । तत एवानुत्तरसंक्षानां पंचानामेकक्षो वर्तनं विभाज्यते दिग्वत्येंकैकविमानमध्यगस्येंद्रकस्य सर्वार्यसिद्धस्यैकत्वाद् । अर्थत्रभैवं विभाज्यते अन्यथोक्तनिर्देशक्रमस्य प्रयोजनानुपुष्तेः ।

तिस ही कारणसे यानी नवपद और ग्रैवेयकपदमें वृत्ति नहीं करनेसे नौ ग्रेवेयकोमें एक एक होकर नौ पटलों में एक एक ग्रेवेयकका वर्तना निर्णीत कर लिया जाता है। नव शहको ग्रैवेयकपदके साथ समास वृत्ति नहीं करनेसे नौ अनुदिश भी प्राप्त हो जाते हैं। नव अनुदिशों में सम्पूर्णीका एक पटल है। उनमें दिशा और विदिशाओं में एक एक वर्त रहे यों आठ विमान और एक मध्यमें प्राप्त हो रहा इन्द्रक विमान यों न्यारे, न्यारे समतुलावाले विमानोंको वहां एकपना प्राप्त है। नवसु शद्धका योग विभाग या आवृत्ति कर एक नव शद्धको ग्रैवेयकके साय और दूसरे नवको अनुदिशमें जोड लेना । तिस ही कारणसे यानी पांचीं अनुत्तरोमे एकशः वृत्तिका अन्वय कर देनेसे अनुत्तर संज्ञक विजयादि पांचों विमानोंकी एकश्रार रामतूला (लेविल) में वृत्ति हो रही निश्चित कर ली जाती है। क्योंकि चार दिशाओं में वर्त रहे एक एक विमान और मध्यमें प्राप्त हो रहे सर्वार्थिसिद्धि नामक एक इन्द्रक विमानको एकपना प्राप्त है। शह शक्तिसे ये बात व्याकरण मुद्रया प्राप्त हो जाती है। तथा अर्थ संबंधी न्यायसे भी इस प्रकार उक्त सिद्धांत विचार लिया जाता है कि सुत्रकारके यथोक्त प्रकार सुत्रमें कथन कर दिये गये कमका अन्य प्रकार कोई प्रयोजन नहीं वन रहा है। जो कह दिया गया प्रयोजन है वही न्याय युक्तियोसे निर्णीत है। इस प्रकार सौधर्म ऐशान स्वर्गके इकत्तीस पटल, सानत्कुमार माहेन्द्र स्वर्गीके सात पटल, ब्रम्हयुग्मके चार पटल, लांतव यग्मके दो, शुक्र युगलका एक, श्वतार इन्द्रका एक पटल एवं आनतादि चार कल्पोंमें छह पटल. नीग्रैवेयकोंके नी पटल, नी अनु-दिशोंका एक पटल, पांच अनुत्तरोंका एक पटल यों ऊर्ध्व लोकमें असंख्याते योजनौंका व्यवधान लिये हुये त्रेसठ पटल है। सबसे नीचेके ऋतु पटलके मध्यवर्ती ऋतु इन्द्रक विमानसे चारों दिशाओं में बासठ बासठ विमानों की पंवित बद्ध श्रेणी त्रसनालीतक चली गर्धी है। ऊपर ऊपर पटलमें चारों दिशाओंसे एक एक विमान कमती होती गयीं चारों श्रेणियां व्यवस्थित हैं। बासठसें अनुदिश संबंधी पटलमें एक एक विमान दिशाओं में वर्त रहा है। यहां विदिशाओं में भी चार विमान हैं ऊपरके अनुत्तर विमान सम्बन्धी त्रेसिठवें पटलमें विदिशाओं में असंख्यात योजन व्यासवाले चार श्रेणी बद्ध विमान और मध्यमें एक लाख योजन व्यासवाला सर्वार्थसिद्धि इंन्द्रक विमान यों पांच विमान हैं। यह रचना थालीमें रखे हये ऊपर पंक्तियों में कमबद्ध कमती कमती हो रहे लड्डुओं के ढेर समान अनादि अनन्त अकृत्रिम बन रही है। श्रेणियों के बीच चार तिकोनोंमें पुष्प प्रकीर्णक विमान अवस्थित हैं। इन्द्रक श्रेणी, बद्ध पुष्य प्रकीर्णक विमानोंकी संख्या, उनका संख्यात या असंख्यात योजनका व्यास, और मोटाई, वर्ण, आदिका निरूपण जिलोकसार राजवात्तिक, ग्रन्थोंमें दृष्टब्य है। सम्पूर्ण विमानोंमें एक एक अकृतिम जिन मन्दिर विराजमान हैं। विमानोंकी संख्या परिमाण जिन मन्दिरोंको नमस्कार होओ।

ते च स्त्रितेषु सीपर्पादिषु दश्येषु दश्यातिषु च वैमानिका देवाः।

उनत सूत्रमें कहे जा चुके सौधर्म आदि कल्पोंमें और ग्रैवेयक आदि कल्पातीतोंमें निवास कर रहें वे देव परस्परमें किन किन विशेषताओंको धारते हें ? इसकी प्रतिपत्ति करा-नेके लिये सूत्रकार अगले सूत्रकों कहते हैं।

स्थितिप्रभवासुख्युतिलेक्याविश्वद्धींद्रियावि -विषयतोधिकाः ॥ २०॥

वायुष्य प्रमाण स्थिति, निग्रहानुग्रह करना स्वरूप प्रभाव, इन्द्रियजन्य लौकिक सुख, दीप्ति स्वरूप द्युति, लेश्या, इन्द्रियोंका विषय, अवधिज्ञानका विषय इन करके ऊपर ऊपरके वैमानिक देव अधिक हो रहे हैं। यानी त्रेसठ प्रस्तारोंमे ऊपर ऊपर स्थिति आदिक बढ रहे पाये जाते हैं।

स्वापात्तायुष उदयात्तास्मन् भवे तेन अरोरेणानस्थानं स्थिति, शापानुग्रहस्क्षणः मभावः, सद्देखोदये सतीष्टविषयानुभवनं सुखं, अरीरवसनाभरणादिदीप्तिश्चितः, कपायानुगिनिता योगमञ्जत्तिर्हेदगैतकः तस्या विश्वादिन्दिशिद्धः, इन्द्रियस्यावधेश्च विषयः गोचरः पर्वयः, विषयक्षस्दस्यदिश्चादिभयां पर्ववस्यानिक्षित्रः अन्यथोत्रर्भुपरि देवानाभिद्विपःभिद्यदिष्यसेगात् सिद्धांतिवर्षेषापत्तेः।

अपने करके पूर्व जन्ममें उपाजित किये गये आयुष्य कर्मका उदय हो रहे उस भवमें उस गृहीत शरीरके साथ अवस्थान वना रहना स्थिति है कृद्व होकर अपने अधिकृत प्राणियों में सिसीको अनिष्ट प्राप्त कर। देना शाप स्वरूप प्रमाव है। और किसीके ऊार प्रसन्न होते हुये इच्ट प्राप्त करा देना स्वरूप अनुग्रह नामक प्रभाव है। अन्तरंगमें साता वेदनीय कर्मका उदय होते सन्ते इच्ट विषयों का अनुभव करना सुख है। शरीर, वस्त्र, अलंकार, गंध, द्रव्य, मुकुट आदिकी दीप्तिको खुति कहते हैं। कषायों से अनुरंजित हो रही योगों की प्रवृत्ति लेश्या है। जो कि "गतिकषायिलगिम्यादर्शना, इत्यादि सूत्रकी ग्याग्हवीं वःत्तिकमें कही जा चुकी है। उस लेश्याकी विशुद्धि हो जाना लेश्या विशुद्धि है। इन्द्रियोंका और अवधि जनका विषय यानी ज्ञानव्य प्रमेय इन्द्रिय विषय और अवधि विषय समझ लेना चाहिये। विषय शद्धका इन्द्रिय और अवधि इन प्रत्येकके साथ पीछे संबंध कर दिया जाता है। अन्यथा यानी इन्द्रियोंके साथ विषय याना यादि संबंध नहीं किया जायमा तो ऊपर ऊपर देशोंके इन्द्रियोंकी अभिवृद्धिका प्रसंग हो जानेसे सिद्धांत्से विद्ध कथनकी आपित्त हो जायगी अर्थात् सभी देशोवधिके प्रध्य भेद वहां पाये जाते हैं। देशावधिके अतिरिक्त कोई परमावधि, सर्वावधि, या अन्य भेद वहां नहीं है। विषय जाते हैं। देशावधिके अतिरिक्त कोई परमावधि, सर्वावधि, या अन्य भेद वहां नहीं है।

सिद्धान्त शास्त्रोंमें ऐसा ही उल्लेख है। अतः इन्द्रिय और व्यविध शहका पहिले हन्द्र समास कर 'इन्द्रियावधी 'पद बनालो। पुनः षष्ठी तत्पुरुष द्वारा 'इन्द्रियावधिविषय 'पदको व्युत्पन्न कर लेना चाहिये।

स्यित्यादिनां दूंदे रियतिश्वहस्यादौ ग्रहणं तत्पूर्वकत्यात् प्रमानादीनां । तेभ्यस्ततः इत्यश 'पादाने दीयरदोरिति तसिः तैनौ ततस्तिस प्रकरणे " आद्यादिभ्य उपसंख्यान " मिति तसिः ।

स्थिति आदिक शद्बोंका स्थितिरच प्रभावरच सुखं च द्युतिरच लेक्याविश्वद्विरच इन्द्रिया-वधि विषयश्च, यों निरुक्ति द्वारा द्वन्द्वसमास करनेपर स्थिति शद्वका आदिमें ग्रहण हो जाता है। क्योंकि आयुष्य कर्म द्वारा जीवन स्थिति नियत होनेपर जीवके प्रभाव, सुख, आदि हो सकते हैं। अतः प्रभाव आदिक सब उस स्थितिको पूर्ववर्ती मानकर पीछे उपजनेवाले पदार्थ हैं। स्थिति शद्का स्वन्त भी है किन्तु स्वन्तपना ज्तिमें भी पाया जाता है। लेश्या विशुद्धिमें अच् अत्यिशक हैं। अतः ग्रंथकारने स्थिति पद आदिमें ग्रहण करनेके लिये सबके पूर्वमें वर्तना यही पुष्ट हेत् प्रयुक्त किया है। द्वन्द्व समास कर चुकनेपर स्थिति प्रभाव सुख द्यति लेक्साविशुद्धीन्द्रिया-वधिविषया इस पदसे तेभ्यः ततः इतिः यानी स्थिति प्रभाव मूख च्तिलेश्याविश्वदीन्द्रियावधिविषयेभ्य इति स्थिति प्रभारमुखद्यतिलेश्याविशुद्धीन्द्रियावधिविषयतः यहं सुत्रोक्तपद यना लेना चाहिये । यहां "अपादानेऽहीयरुहोः " इस सूत्र करके तसि प्रत्यय करना चाहिये । पंचमी विभक्तिवाले अपादान अर्थकी विवक्षा होनेपर तसि प्रत्यय हो जाता है। किंतू 'स्वपदातु हीयेत ' 'पर्वतातें अवरोहति, ऐसे पदों में हीय और रुहका योग होने गर तसि प्रत्यय नहीं हो पाता है। अथवा विषयैः यो तृतीयांत इन स्थिति अ।दि पदसे विषयतः बनालो तद्धित संबंधी तसि प्रत्ययके प्रक-रणमें ' आद्यादिश्य उपसंख्यानं ' आदि, मध्य, अन्त, पृष्ठ पार्श्व आदि आकृति गणपतित शहोंसे पंचमीके अतिरिक्त अन्य विमिक्तियों के अयं में भी तसि प्रत्यय हो जाता है। ऐसा वास्तिक द्वारा उत्सर्ग सुत्रसे अधिक उपसंख्यान किया गया है। इस कारण यहां तृतीयांत पदसे भी तसि प्रश्यय किया जा सकता है। पंचमी विभक्त्यन्त पदमें इतनी प्रेरकता नहीं है, जितनी कि तृतीयांतपद द्वारा प्रेरककारणता ध्वनित हो जाती है।

चपर्धुपरि वैमानिका इति चातुनर्तते तैनैवमभिसंबंधः क्रियते उपर्युपरि वैमानिकाः मति-कर्णं मतिभस्तःरं च स्थित्यादिभिरिषका इति ।

इस सूत्रमें ' उपर्युपरि ' और बैमानिकाः' इन दोनों सूत्रोंकी अनुवृत्ति हो रही हैं। तिस कारण दो सूत्रोंको मिलाकर इस सूत्रका अर्थ यों कर लिया जाता है कि ऊपर ऊपर वैमानिक देव प्रत्येक कल्प और प्रत्येक प्रस्तारमें स्थिति, प्रभाव, बादिकोसे अधिक अधिक अधिक हो रहे विराजते हैं।

इतस्ते तथा सिद्धा इत्याइ।

वे वैमानिक देव तिस प्रकार स्थिति आदिकसे अधिक हैं, यह सूत्रोक्त कथन भला किस प्रमाणसे सिद्ध किया गया है ? बताओ, ऐसी तर्कणा उपस्थित होनेपर ग्रन्थकार वक्ष्यमाण कारिकाको कहते हैं।

सप्तभिस्ते तथा ज्ञेषाः स्थित्यादिभिरसंशयं। तेषामिह मनुष्यादौ तारतम्यस्य दर्शनात्॥१॥

वे वैमानिक देव (पक्ष) तिस प्रकार स्थिति, प्रभाव, आदि सात विशेषताओं करके क्रमर अपर अधिक हो रहे निस्संशय जान छेने चाहिये (साध्य) । क्योंकि इस दृश्यमान लोकमें उन स्थिति आदिकोंका सेठ, राजा, महाराजा, मल्ल, अध्यापक, आदि मनुष्यों या अनेक पक्षियों अथवा बंदर, सिंह, आदि तियँचोंमें हो रहा तरतम भाव देखा जाता है। (हेतु) अर्थात्-पुण्य-शाली व्यापारी सेठ, राजा, मल्ल, यं।गाभ्यासी, अ।दिकी आयु अधिक अधिक देखी जाती है। सिपाही, थानेदार, कलक्टर, फमिश्नर, लार्ड, वायसराय, आदिमें उतरोत्तर प्रभाव अधिक है, भिक्षुक, किसान, दुकानदार, जमीदार, सेठ आदिमें उत्तरोत्तर सुख भी वढ रहा है । रोगी, अल्फ्रोगी, दास (मजूर) अध्यापक, ब्यापारी, मल्ल, महाभट आदि निश्चिन्त पुरुषोंकी शरीर कान्ति भी उतरोत्तर बढ रही दीखती है। स्वच्छतासे प्रेम रखनेवाले वैद्य, डाक्टर, कप्तान, कल-क्टर, प्रभु, इनमें शरीर, वस्त्र, गहने, आदिकों की कान्ति भी बढ रही देखी जा रही है। नारकी कर, तियँच, मनुष्य, देव, भोगभूमियां, सर्वार्थसिद्ध, श्रावक, मुनि, इनमें कषाय और योगकी मिश्रण परिणति स्वरूप लेश्याकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ रही प्रतीत होती है। इसी प्रकार रोगी, निर्धन, अधमणं, (कर्जदार) घृतभोजो, निश्चिन्त पशु, पक्षी, मण्डलेश्वर चक्रवर्ती, देव इनमें स्पर्शन, घाण, चक्षु, आदि इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण करना उत्तरोत्तर बढते चले जा रह देखे जाते हैं। तथा तिर्यंच, नारकी, भवनवासी, व्यन्तर ज्योतिष्क, असुरकुमार, सौधमं, इन्द्र, आनत प्राणतवासी अनुत्तर विमानवासी, मुनि, चरमशरीरी. इनमें अविधिन्नान उत्तरोत्तर बढता जा पाया रहा शास्त्रों द्वारा जात हो रहा है। इसी प्रकार तियँच योनिम विशेष रूपसें भी पक्षियोंकी चिरैया, नीलकंठ, चील, गृह आदिकी आयु बढती हुई है। पशुओं में कुत्ता, छिरिया, गधा, घोडा, ऊंट हाथी अथवा बिल्ली, चीता. रींछ, वघेरा, सिंह, अष्टापद, इनकी आयु ऊपर क्रपर अधिक है। जल चरोंमें मेंडक मछली, कछुआ, मगर, घडिवाल, इनकी आयु बढ रही थायी जाती है। बन्दर, कुत्ता, भेडिया सिंह, बडे मच्छ, चील, गृद्ध, आदिके प्रभाव, सुख, दीप्त केश्या, इन्द्रियोंके विषय इनमें घटती बढ़तीका हो रहा तारतम्य देखा जाता है। बस, इसी तार-तम्य हेतुकी सामर्थ्यसे देवोंके ऊपर ऊपर स्थिति बादिक अधिक हो रहे साध लिये जाते हैं।

मनुष्यादौ स्थितंस्तावत्तारतम्यस्य दर्शनादेवानाष्ठ्रश्रुपरि स्थित्याधिकयं दृष्टं संभाव्यते । येपामाप समाना स्थितिः तेषामि गुणताधिकत्वसिद्धेः । श्रभावस्य च तारतम्यदर्शनं तेना-धिकं । यः प्रभावः सौधर्षकल्पे निग्रहानुग्रहपराभियोगादिषु तद्दनंतगुणत्वादुपर्युपरि देवानां देवलं मंदाभिमानतयाल्पसंक्लश्चतया च न प्रवर्तनं ।

मनुष्य, तियंच, आदिमें सबसे पहिली स्थितिके तरतम भावका दीखना होनेसे देवोंके ऊपर ऊपर स्थिति करके अधिकपना देखा जा चुका सम्भावित हो रहा है। सर्वज्ञ देव या दिव्यज्ञानी आचार्य, जिन अतीन्द्रिय पदार्थीका प्रत्यक्ष कर छेते हैं, उनमेंसे कतिपय पदार्थीकी बादी, प्रतिवादी पुरुष युक्तियों द्वारा सम्भावना कर लेते हैं। उनकी उत्कृष्ट और जघन्य स्थितिको आगे कह देंगे। हां, जिन देवोंकी स्थिति समान भी है, उनके भी अन्य गुणौं करके अधिकपना सिद्ध हो रहा है। जैसे कि सौधर्म, ऐशान, स्वर्गों में कुछ अधिक दो सागर उत्कृष्ट आयु है। सनत्कुमार, माहेन्द्र, की भी इतनी ही जचन्य आयु है। एक समय अधिक कोई अधिक नहीं समझी जाती है। विजय, वैजयंत, जयंत, की उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर और सर्वार्थसिद्धिकी तेतीस सागर बराबर है एवं इन्द्रकी आधुके समान ही सामानिक देवोंको भी आयु है। फिर भी इनमें गुणोंकी अपेक्षा अधिकता है। दश सागर उत्कृष्ट आयुवाले ब्रम्होत्तर स्वर्गवासी देवोंकी अपेक्षा आठ सागर प्रमाण आयुष्यधारी लौकान्तिक देव गुणोंसे अधिक है। जैसे कि निर्धन मुखं या रोगीके साठ वर्षतक जीवनकी अपेक्षा नीरोग विद्वानका पचास वर्षतक जीवन सुचार (बेहतर) है। दस दिनके काल कोठरी निवास नामक दण्डसे दो माहका कारावास कहीं अच्छा है। फांसीकी अपेक्षा जन्म पर्यन्त द्वीपान्तवास (कालापानी) दण्ड हरूका है। तथा प्रभावका भी तरतम रूपसे दीखना होनेसे देवोंमें उस प्रभाव करके ऊपर अधिक-पना सम्भावित हो रहा है। सौधर्म कल्पमें देवोंका जो निग्रह करना, अनुग्रह करना, दूसरोंको लताडना, आश्रिनोंपर अपराध नियत कर देना, आज्ञा चलाना आदि नियोगोंमें प्रमाव है। ऊपर ऊपर उससे अनंत गुणा होनेसे देवोंका प्रभाव अधिक हो रहा है । केवल अभिमान या अन्य कथायोंकी मन्दता होनेसे और अल्प संक्लेशवान् होनेसे ऊपर ऊपरके देव विचारे आधित-देवोंपर निग्रह, अनुग्रह, आदि नियोग चलानेमें प्रवृत्ति नहीं करते हैं। जैसे कोई प्रधानाध्यापक आनी सज्जनता, मन्द कथाय, औपाधिक क्षणिक पदिवयोंमें अनादर आदि कारणोंसे अपने आश्रित अध्यापक, छात्र मंडल या कर्मचारियों पर स्वकीय पूर्ण प्रभाव नहीं डालता है। भले ही छोटी पदवीवाला प्रबंधक (सुप्रिन्टेन्डेन्ट) छ।त्रोंपर भारी प्रभाव गांठ लेवें । बात यह है कि गम्भीर प्राणी अपने पूरे प्रभावका व्यय नहीं करते हैं। जो अपने प्रभावोंका अधिकता या अनचित रूपसे उपयोग करते हैं, वे गम्भीर जीवोंमें निदाके पात्र होकर छोटे समझे जाते हैं। * दूसरोंके उपकार करनेमें अपने प्रभावका भले ही उत्योग किया जाय, किन्तु दूसरोंके निग्रह, अभि-का मोग संचालनमें जो पुरुष जितना भी अपने प्रभावका अल्प व्यय करेगा वह पुरुष उतना ही उदात्त सम्भीर, महामना, समझा जायगा। हां साधु अनुग्रह और दुर्जन दण्ड करनेवाले राज-वर्गके प्रभुओं (अफसरों) की वात निराली है। देवोंमें ऊपर ऊपर ऐसी निग्रह करानेवाली प्रभुताके उपयोगकी सामग्रीकी भरमार नहीं है।

एवमिइ सुखस्य तःरतम्यदर्शनाचेषां सुखेनाधिक्यं । धुत्या तारतम्यदर्शनादिति धुत्याधिक्यं । लेक्क्याविद्युद्धेस्तारतम्यदर्शनाच्याधिक्यं, समानलक्ष्यानामिव कर्मविद्युध्धिकत्वः सिद्धेः । इद्रियविषयस्य तारतम्यदर्शनादिद्वियविषयेणाधिक्यं । तद्भविधिविषयेण तथा संभावनायां बापकामावात् ।

इसी प्रकार यहां मनुष्योमें मुखके तारनम्यका दर्शन होनेसे उन कल्प और कल्पातीत देवोंके भी लौकिक सुखों करके अधिकपना सिद्ध कर दिया जाता है। द्यति यानी दीप्ति करके भी यह तारतम्य देखा जाता है। इन कारण आगमगम्य, परीक्ष, देवोंमें इस दृष्टान्तको सामर्थ्य अनुसार द्युति करके अधिकपना साध दिया जाता है। लेक्याओं की विशुद्धिका तारतम्य यहां मनुष्य या तिर्यंचोंगें देखा जाता है। इस कारण उस लेक्याविशुद्धि करके अधिकपना देवोंमें सम्भावने योग्य है। "पीनपद्मशुक्ललेक्या द्विश्वियेषु" इस सूत्र द्वारा वैमानिक देवोंमें लेक्याविधि कह दी जायगी, किन्तु जिन देवोंको लेक्या समान है, उनके भी उत्तरोत्तर प्रस्तारोमें कर्मोंको विशुद्धिका अधिकपना सिद्ध है। जैसे कि सौअममें पीत लेक्या हैं, सानत्कुमार स्वगंमें भी पीत लेक्या है। तथा आरण, अच्युत, ग्रैवेयक, अनुदिश, अनुत्तर विमानवासी देवोंमें सबके एकसी शुल्क लेक्या है। फिर भी कर्मोंके मन्द, मन्दतर, मन्दतम, उदय अनुसार लेक्याकी विशुद्धि उत्तरोत्तर बढ रही है। योंही यहां मनुष्य तिर्यचोंमें छह इन्द्रियोंके विषयका तरतम भाव देखा जाता है। अतः देवोंमे भी इन्द्रियोंके विषय करके अधिकपना अनुमित हो जाता है। उन्हींके समान देशावधिके अधिक अधिक अधिक हो रहे विषय करके तिस प्रकार उत्तरोत्तर अधिक हो रहे देशावधिके विषयभूत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी सम्भावना करनेमें बाधक प्रमाणोंका अभाव है। ' असंभवद्धाधकत्वाद्धस्तुसिद्धः'।

गत्यादिभिराधिकत्वपसंगे तिश्ववृत्त्यर्थभाहः

कोई प्रतिवादी कटाक्ष करता है कि जिस प्रकार स्थिति, प्रभाव, आदि करके उत्तर अधिकपना है, उसी प्रकार वैमानिक देवों में गति, शरीर, आदि करके भी अधिकपनका प्रसंग प्राप्त हो जायगा ? ऐसी दशामें उस अनिष्ट प्रसंगकी निवृत्तिके लिये श्री उमास्वामी महाराज अग्नि सूत्रको कहते हैं।

गतिश्ररिपरिग्रहाभिमानतो हीनाः॥ २१॥

गति, शरीर, अवगाहना, परिग्रह और अभिमानसे वे वैमानिक देव उत्तरीत्तर प्रस्तारों में हीन होकर विराज रहे हैं।

चभयनिवित्तवशाहेशांतरपाकिनिवित्तः कायपरिस्पंदां गतिः, शरीरिविह वैक्रियिकमुक्तः छक्षणं ग्राह्मं, छै।भक्तवायोदयान्मूर्छी परिव्रह्मं वस्यमाणः, मानकवायोदयात् प्रतियोगेष्वप्रणति-परिणामोऽभिमानः । गतिश्वरीरपरिव्रह्माभिमानैर्गातशरीरपरिव्रह्मभिमानतः उपर्युपारे वैमानिकाः प्रतिकृत्यं प्रतिप्रस्तारं च हीनाः पर्यत्वयाः ।

अन्तरंग और बहिरंग दोनों निमित्त कारणोंके वशसे एक देशसे अन्य देशोंकी प्राप्तिका निमित्त हो रही शरीरके परिस्पन्दरूप कियाको गति कहते हैं। कार्योके उपादान तथा अन्त-रंग, बहिरंग, प्रेरक, उदासीन, निमित्त ये कारण जब जड जाते हैं, तब कार्यकी उत्पत्ति हो जाती हैं। आकाशमें गति होनेके उपादान और बहिरंग अन्तरंग निमित्त कारण नहीं हैं। सिद्धक्षेत्रमें विराज रहे सिद्ध परमेष्ठियों में गतिका बांहरंग कारण गति नाम कर्मका उदय नहीं है। छातीमें वेग या अश्ववार इन प्रेरक कारणोंके नहीं मि 'नेपर बोडा गमन नहीं करता है। उदातीन कारण समान मानी गयी कीलके नहीं होनेसे चाक शीघ्र भ्रमण नहीं कर पाता है। अाः शरीरधारी देशोंकी गतिमें उपादान कारण जीव और शरीर तथा निमित्त कारणोंमें प्रेरकं निमित्त छातीके वेग, मनका उत्साह, गति कर्मका उदय ये अन्तरंग हैं। बाहन, विमान, पांव, भूमि आकाश, भ्रमणे च्छा, प्रमुकी आज्ञाका पालत, ये वहिरंग हैं। धर्मद्रव्य, आकाश, उदासीन कारण हैं। यो अन्तरंग बहिरंग, कारणोंसे देवोंकी गति पर्याय बनती है। यहाँ देवोंके प्रक-रणमें वैकियिक शरीर ग्रहण करना चाहिये, जिसका कि लक्षण हम द्वितीयाध्यायमें कर जुके हैं। लोभ कषायके उदयसे संकल्प, विकल्प, स्वरूप मुच्छी होकर विषयोंमें आसक्ति हो जाना परिग्रह है। यह मूर्छी स्वरूप परिग्रह स्वयं सूत्रकार द्वारा आगे सातवें अध्यायके ' मुच्छी परि-ग्रहः ' सूत्रमें परिभाषित, कर दिया जावेगा । चारित्र मोहनीय कर्मकी उत्तर प्रकृति मान कषा-यके उदयसे प्रतिस्पर्धा रखने वालों या साथवाले प्रतियोगी मनुःयों में प्रणाम नहीं करना, नहीं दबना, स्वरूप परिणाम अभिमान है। उक्त चार पदोंका द्वन्द्व समासकर पूनः तृतीय विभक्तिके गति शरीर परिग्रहाभिमानों करके इस अर्थमें तिस प्रत्यय कर " गतिशरीरपरिग्रहाभिमानतः " यह पद बना लेना चाहिये। प्रत्येक कल्प और प्रत्येक प्रस्तारमें ऊपर ऊपर वैमानिक देव इन गति, शरीर, परिग्रह, और अभिमान करके हीत हो रहे समझ छेते चाहिये। यह सूत्रका मुख वर्ष है।

कुतस्ते तथरपाइ।

वे वैमानिक देव भला किस कारणसे ऊगर ऊगर तिस प्रकार गति आदिक करके हीन हो रहे हैं ? बताओ, इस प्रकार बार्काक्षा होनेपर श्री विद्यानन्द स्वामी अग्रिम बार्त्तिक द्वारा समामान वचनको कहते हैं।

उपर्युपरि ते हीना गत्यादिभिरसंभवात । तत्कारणप्रकर्षस्य परिणामविशेषतः ॥ १ ॥

गित, शरीर, आदिकों करके वे देव ऊरर ऊरर हीन हो रहे हैं (प्रतिज्ञा)। क्योंकि ऊपर ऊपर तिस जातिके परिणाम विशेष होते रहनेंसे उन गित आदिकोंके कारणोंकी प्रकर्ष-ताका असम्भव है (हेतु)। अर्थात्-पूर्वजन्ममें उपात्त शुभ कर्मोंके अनुसार विशुद्धिका अध्यव-साय बढता बढता रहनेसे और अत्यवा संक्लेशमाव होतेसे वैमानिक देव सामर्थ्य, मुख, सन्तोष, आदिके अधिक होनेपर भी गित आदि करके हीन हैं।

गत्या ताबदुपर्युपि होना देवास्तत्कारणस्य विषयाभिष्यंग्रीकस्य हीनत्वात् तथा परिणामेनोत्पत्तः । भरीरेणापि हीनास्तत्कारणस्य प्रद्धश्ररीरनामकर्मोद्यस्य हीनत्वात् । सीथमैशानयोदेवानां शरीरं सप्तारत्तिवपाणं, सानत्कुवारमाहें द्योरगतिरहीनं कापिष्ठांतेषु, ततापि सहसारांतेष्वरत्निहीनं, तताप्यानतप्राणतयोरभारतिनहीनं, त निप्यारणः च्युत्याः, तनाप्यश्रेषे- यकेषु, ततो मध्यप्रैवेयकेषु, ततोप्युपरिमप्रविधकेष्व हुदिश्वविमानेषु च, ततोनुत्तरंषु तत्रारति । सामत्वादेवश्ररीरस्यति हि श्रुतिः ।

सबसे प्रथम कही गयी गति करके तो ऊपर ऊपरके देव हीन हो रहे हैं। क्योंकि उस विकि कारणभूत हो रही विषयों में तीव आसिनतकी अधिकता (चाव) के हीन हीन होनंसे तिस प्रकार अल्प गति परिणाम करके वैमानिकोंकी देव पर्याय उपजती रहती है। अर्थात्-कीडा, गमनविनोद (शैल सपाटा) करनेके लिये सौधर्म, ऐशान, स्वर्गके देव जितना यहां वहां असंख्याते द्वीप समुद्रोमें बार बार गमन करते हैं, उतना ऊपर ऊपरके देव यहां वहां नड़ी चुमते फिरते हैं। विनोक्ती बात दूर है। धार्मिक त्रियाओं के लिये भी ऊंपर ऊपरके देव अत्यल्प बाते जाते हैं। वैमानिक अहमिन्द्र देव तो नन्दीश्वर पर्व पूजा, सुमेश चेत्यालय पूजन, जिन जन्म महोत्सव आदिमें भी वहां नहीं आते जाते है। गतिके समान ही शरीर करके भी वैमा-निक देव उ.पर ऊपर हीन हैं। क्योंकि उस लम्बे, चौडे, मोटे, शरीरके कारणभूत शरीर नामक नामकर्मकी उत्तरोत्तर प्रकृति हो रही 'प्रवृद्ध शरोर 'संज्ञक नामकर्मके उदयकी हीनता है। अर्थात्-महामत्स्य, दृायी, छठवें मातवें नरकके नारकी, भोगमियां, नन्दीश्वर द्वीपकी वाबडियोंके कमल, बारह योजनका शंख, स्वयंत्रभपर्वतके वाह्य भागमें पाये जा रहे उस्कृष्ट अवगाहनाके त्रस जीव, इत स्थूल अवगाहनावाले जीवोंके देहविपाकी श्रीर प्रकृतिकी विशेष भेद हो रहीं प्रवृद्धशरीर नामक प्रकृतिका उदय विद्यमान है । किन्तू वैमानिक देवोंक प्रवृद्ध शरीर नाम कर्मका उदय नहीं है, किन्तू ' अल्लक शरीर ' संज्ञक नाम कर्मका उदय है। शरीर प्रकृतिके अवगाहनाओं के भेद अनुकूल असंख्याते भेद हैं। वैमानिकों में उत्तरीत्तर छोटे छोटे हो रहे वरीरोंके बन्तरंग कारण वैसी वैश्वी स्तोक घरीर प्रकृतिका उदय पाया आ रहा

हैं। तदनुसार सौधर्म और ऐशान स्वगोम देवों का शरीर सप्त खरिल प्रमाण है। 'प्रकोष्ठें बिस्तृतकरें हस्तो मुख्या तु वद्धया। सरिलः स्यादरितस्तु निष्किनिष्ठेन मुख्या' इस अमरकोष अनुसार कोनीसे लेकर पसारी हुई छोटी अंगुलीतक अरिल नामका नाप है। कपडे, भींत, आदिके नापमें बहुत स्थानोंपर इतने ही हाथका उपयोग प्रचलित है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वगोंमें एक हाथ हीन यानी छह हाथ प्रमाण लम्बा शरीर है। उन माहेन्द्र देवोंसे भी ऊपर बम्हलोक, ब्रह्मोत्तर, और कापिष्ठ पर्यन्त देवोंमें एक हाथ हीन यानी पांच हाथ परिमाण ऊंचा शरीर है। उनसे भी ऊपर सहस्नार पर्यन्त शुक्र, महागुक्र, शतार, सहस्नार इन चार स्वर्गोंमें देवोंका एक अरिल हीन यानी चार हाथ ऊंचा शरीर है। उससे भी ऊपर आनत प्राणत, स्वर्गोंमें आधा अरिल हीन यानी तीन हाथका शरीर है। उससे भी ऊपर तीन अधो प्रैवे-यकोंमें आधा अरिल हीन यानी तीन हाथका शरीर है। उससे भी ऊपर तीन अधो प्रैवे-यकोंमें आधा अरिल कम यानी ढाई हाथ लम्बा शरीर है। उससे भी ऊपर तीन मध्य प्रैवेयकोंमें आधा हाथ कम अर्थात्–दो हाथ उंचा शरीर है। उन मध्यप्रैवेयकोंसे भी ऊपर तीन उपरले तीन उपरिम प्रैवेयकोंमें और तहुपरि नौ अनुदिश विमानोमें यो बारह स्थानोंपर देवोंका बढे हाथ प्रमाण उंचा शरीर है। उन अनुदिशोंसे ऊपरले वहां अनुत्तर विमानोमें देवोंका शरीर केवल एक अरिल (हाथ) प्रमाण उंचा है। यो आप्तोक्त सिद्धांत शास्त्रों द्वारा सुना जा रहा है।

परिग्रहेणापि विमानपरिवारादिलक्षणेन होनाः तत्कारणस्य प्रकृष्टस्यामावात् । सौध-र्मादिषु हि देवानामुपर्युपरि नामकर्मविञ्चेषोल्पाल्पतराल्पतमविमानपरिवारहेतुरंतरंगो बहिरंगस्तु क्षेत्रविञ्चेषादिरिति कारणापकर्षतारतम्यात् कार्यापकर्षतारतम्यसिद्धिः ।

विमान संख्या, सामानिक आदि परिवार, सेना, भूषण, वाहन आदि स्वरूप परिग्रह करके भी वैमानिक देव ऊपर ऊपर हीन हो रहे हैं। क्योंकि उस परिग्रहके कारणभूत होरहे मध्यमजातीय पुण्यके प्रकर्षका अभाव है। अर्थात्—दिरद्र पुरुषोंके तीन्न पापका उदय होनेसे सुखोपयोगी परिग्रह नहीं मिल पाता है। परिस्थितिका अल्पसंतोषी पुरुषोंके या जघन्य भोग-भूमियोंके जघन्यपुण्यका उदय होनेसे सुखोत्पादक थोडा परिग्रह एकत्रित हो जाता है। मध्यम जातिके पुण्य अनुसार राजा, महाराजाओं, भवनत्रिक देव, सौधर्म स्वर्गी आदिके अत्यधिक परिग्रह जुड रहा है। किंतु उत्तम जातीय पुण्यका उदय होनेसे ऊपरले देव या अहमिद्र अथवा उत्तम भोगभूमि के जीवों के अत्यत्प परिग्रह है। कारण कि सौधर्म आदि मे देवोंके ऊपर ऊपर अल्प विमान परिवार आदि का हेतु हो रहे तथा उससे भी थोडे अल्पतम विमान परिवार आदि परिग्रह के हेतु हो रहे विशेष नामकर्म का उदय यह अन्तरंग कारण विद्यमान है और सौधर्म स्वर्ग, आनत, प्राणत, गैवेयक, अनुत्तर ये क्षेत्रविशेष ऊपर अपर अल्पक्षाय, लौकिकभावोंकी त्रुटि आदिक तो परिग्रह की हीनता में विहिरंग कारण हैं।इस प्रकार अन्तरंग कारण और विहरंग कारणों के अपकर्षका ऊपर ऊपर उपर अल्पक्त भाव होने से परिग्रह कु बाना स्वरूप कार्य के तरतम द्वारा होरहे अपकर्ष की सिदी

हों जाती है अर्थीत् अरर अरर देवों के लोभ कषाय का मन्द, मन्दतर मन्दतम, उदय है तथा अल्प अल्पतर, अल्पतम परिच्छदों के कारण उन उन स्तोक, स्तोकतर, स्तोकतम, विशिष्ट पुण्य प्रक्र-तियों के उदय अनुसार वंसे वैसे कार्य होजाते हैं।

कुतोभिमानेन हीनास्ते ? तत्कारणप्रकर्षस्याभाषादेव । कि पुनरिभमानकारणं ? शरी-रिणामप्रतनुकषायत्वं मनसः संक्लेशोषधिशुद्धिविरहादतत्वावलोकनमसंवेगपरिणामश्च तस्य हानि-तारतम्यादुपर्युपरि देवानामिमानहानितारतम्यं तत्पुनरिभमानकारणस्य हानितारतम्यं तत्प्रति-पक्ष मूतानां प्रतनुकषायत्वाल्पसंक्लेशाषधिविशुद्धितत्वावलोकनसंवेगपरिणामाधिक्यानां तारतम्या-दुपपद्यते पूर्वजन्मोपासिवशुद्धाध्यवसायप्रकर्षतारतम्यादुपर्युपरि तेषामुपपादस्य घटनाच्च ।

वे वैमानिक देव अभिमान से हीन होरहे भला किस कारण से हैं ? इस प्रश्नपर ग्रन्थ-कार उत्तर देते हैं कि उस अभिमान के कारणभूत कथायों के प्रकर्ष का अभाव होजाने से ही वे अभिमानहीन हैं। फिर कोई पूछता है कि अभिमानका कारण क्या है? इसके उत्तर में माचार्यं कहते हैं कि शरीरधारी जीवों का अत्यल्प कषायों से रहितपना मन का संक्लेश, अव-धिज्ञान की विशुद्धि की विकलता होजाने से तात्त्विकदृष्टि द्वारा यथार्थतत्त्वों का अवलोकन नहीं होना, स्वकीय परिणामों में संवेग या वैराग्य भाव नहीं जगना, ये सब अभिमान के कारण है। गर्व के उन कारणों की हानिका तरतम भाव होने से ऊपर ऊपर देवों के अभिमान की न्यूनता का तरतम भाव सध जाता है। वह अभिनान के कारणों की हानिका तरतमभाव तो फिर उसके प्रतिपक्षभूत होरहे विशेष सूक्ष्मकषाय यानी मन्दकषाय परिणाम, अल्प संक्लेश, अवधि ज्ञान की विश्वद्धि, वास्तविक जीव आदि तत्त्वों का अवलोकन, गर्व, क्रोध, सादि विभाव परि-णामों के औपाधिकपने पर पहुंचकर ज्ञप्ति कर छेना, संसारभीक्ता या छौकिक कार्यों में निरु-त्ताह, अध्विरूप परिणाम इनकी अधिकता के तारतम्य से बन जाता है। स्योंकि पूर्व जन्मों में पुरुषार्थं द्वारा गृहीत हुये विशद्ध अध्यवसायों की प्रकर्षता के तारतम्य से उत्तर उत्पर स्थानों में उन देवों का उत्पाद घटित होरहा है। भावार्य-सौधर्म से ऊपर ग्रैवेयकतक भले ही वे देव सम्य ग्दृष्टि होय चाहे मिथ्याद्ष्टि होय, उनके कषायों की मन्दता या अल्प संक्लेश आदि हेत् पाये जा सकते हैं। वर्तमान में भी अनेक अर्जन विचारे कतिपय जैनों की अपेक्षा मन्दकषाय देखे जाते हैं। प्रधानाध्यापकपन, सेठियापन, जमीदारी, राज्याधिकार, राजपदिवर्यां, चौधरायत, पंचपना, सुन्दरता, जातिगर्व, ज्ञानमद, तपस्या आदि का गर्व जब कि दूसरे दूसरे मनुष्यों में अत्यल्प पाया जाता है किन्तु स्वयं को धर्मात्मापनका गर्व कर रहे किसी किसी व्यक्ति में उन पदों का अभि-मान चकाचक भर रहा है। अल्प संक्लेश भी मिध्यादृष्टियों के पाया जाता है। समी बीन अब-विज्ञान द्वारा जैसे विश्दि होती है विभंग द्वारा भी विलक्षण जाति की विश्विद्ध होना सम्भव है अनेक अर्जन साधुओं में कुश्रुतज्ञान द्वारा होरही विश्वद्धि इसका दृष्टान्त है। इसी प्रकार सत्वाद-लोकन भी समझिलया जाय। ग्यारह अंग नौ पूर्वपाठी मिच्यादृष्टि के ज्ञानसे एक अक्षरको भी शृद नहीं बोलने समझनेवाले सम्यग्द्धि के तत्वावलोकन की ज्ञानवृष्ट्या द्वीन कहते में छक्जा

क्या है ? सम्यग्दर्शन के बिना भी यथोचित तत्वोंका आलोचन होसकता है, भलें ही उसको शीपाधिक सम्यग्जान नहीं कहो । इसी प्रकार संसार से भीति कराने वाले संवेग परिणाम मिथ्या दृष्टि के भी होसकते हैं । रूप, धन, विद्या, कुल, वलके अभिमान, को सहस्रों अजैन कुचल ढालते हैं । कोध, गर्व, ये सब औपाधिक भाव हैं, दु:खकारण है, इन सब बातों को संकडों फकीर, भिक्षक आदिक समझते हुये गारहे हैं । लाखों अजैन साधु संवेगवज्ञ अभिमानके कारणों को लात मारते हुये मन्दकपाय, अल्प संवलेश, आत्मविशुद्धि, तत्वपर्यालोचना, संवेग, वैराग्य परिणामों को धाररहे बनों या पर्वत, गुफाओं, में निवस रहे हैं । अतः ऊपर ऊपर के देव वाहे सम्यग्दृष्टि होंय अथवा मिथ्यादृष्टि होंय, परिग्रह और अभिमानसे हीन हीन होरहे हैं। नौ अनुदिश और पांच अनुत्तरों में तो सम्यग्दृष्टि हों हैं । उनकी परिग्रहहीनता और अभिमानहीनता के अन्तरंग कारण मन्दकषायपन आदि को सुलभतासे समझाया जा सकता है । श्रद्धालु जैन या भक्त पुरुषों के प्रति इसमें अधिक युक्तियों के दिखलाने की आवश्यकता नहीं है । मन्द कथाय होने से अल्पसंक्लेश होता है । अल्प संक्लेश से विशुद्ध अवधि उपजती है। उससे ऊपर ऊपर देव शारीरिक,मानसिक, दु:खों से घेरे जारहे असंस्य नारकी तियँच या मनुष्यों को तात्विक रूप से देखते हैं । उसको निमित्त पाकर संवेग परिणाम होता है । उस संवेगसे अनन्त दु:ख के हेतु परिग्रहोंमें अभिमान नष्ट होजाता है । यो उक्त पदों की एक वाक्यता करली जाती है ।

कर्य पुनवपर्युपरिमावो वैमानिकानां संगच्छत इत्याशंकावामिदमाह ।

कोई प्रतिवादी पण्डित आशंका उठाता है कि वैमानिक देवों का फिर ऊपर ऊपर उपपाद जन्म होना भला किस प्रकार संगत होजाता है! ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री. विद्या-नन्द स्वामी समाधानार्थ उत्तर वात्तिक को कहते हैं।

स्थित्यादिभिस्तथाधिक्यस्यान्यथानुपपत्तितः । नोपर्युपरिभावस्य तेषां शंकेति संगतिः ॥ २ ॥

स्थिति, प्रभाव, आदि कों करके तिस प्रकार अधिकपन की अन्यया यानी ऊपर ऊपर उपपाद के बिना अन्य प्रकारों से सिद्धि नहीं होसकती है। जतः उन वैमानिक देवों के उक्त ऊपर अपर स्वर्गी, पटलों या कल्पातीत विमानों में उपपाद जन्म लेनेकी शंका नहीं करनी बाहिये अर्थात् इस प्रकार यहां विशुद्ध परिणामों को निमित्त पाकर हुये पुष्पकर्म भेदोंके अनुसार देव ऊपर उपज जाते हैं। स्थिति, प्रभाव, आदि की अधिकता होनेसे ही देवों में ऊपर ऊपर गति शरीर, आदि की हीनता स्वयमेव सिद्ध होजाती है। जैसे कि किसी धर्मीत्मा पुरुष में जिनेन्द्रभक्ति, दयाभाव, जतपालन, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, आवरण, की वृद्धि होते संते स्वयं वहां यहां व्ययं गमन, शरीरवृद्धि, परिग्रह अहंकार इन की तृदि निर्णीत होजाती है। अस्यग्दर्शन, सदाचार आदि गुणों की अधिकता से सज्जन पुरुषों में उस पुरुष की उत्तरोत्तर ख्यांति बढती है। अथवा देश में पुराज्य होने पर सुभिक्षा, शिक्षा, नीरोगता, समृद्धि, वाणिज्य

स्वात्मगौरव आदि की वृद्धि होते हुये बिना ही प्रयत्न के दरिद्वता, पराधीनता, पद पद पर अपमान सहना, दुर्भिक्ष आदि की हानि होजाती है। यो पूर्वापर सूत्र वाक्यों की संगति कर लेनी चाहिये।

पूर्वजन्ममाविस्वपरिणामविशेषविश्विद्धितारतम्योपात्तशुभकमंविशेषप्रकर्षतारतम्यात् स्थित्यादिभिराधिक्यं तावद्वैमानिकानां सूत्रितं सर्वथा बाधकविद्युरत्वःत्तरन्यथानुपपत्त्या च तेषामु-पर्युपरिभावस्य संगतिः । पूर्वजन्ममाविस्वपरिणामविशेषविश्विद्धतारतम्योपात्तशुभकर्मतारतम्यात् स्थित्यादिभिराधिक्यस्य दर्शनात्, क्षीणान्यथानुपपत्तिरिति चेन्न, तदाधिक्यविशेषस्य तेषामुपर्यु-परिभावेनान्यथानुपपत्तिसिद्धेः।

पूर्वं जन्म मे होनेवाले स्वकीय परिणाम विशेषों की विशुद्धि के तरतमभाव करके उपाजित किये गये शुभ पुण्य कर्म विशेषों को प्रकर्षता के तारतम्य से स्थिति, प्रभाव, आदि कों करके वैमानिक देवों का अधिकपना तो सूत्रकार इतरा पूर्व सूत्र में सूचित कर दिया गया ठीक हैं। क्योंकि बाधक प्रमाणों की सभी प्रकारों से विकलता होजाने के कारण उन स्थिति आदिकों करके अधिकपना वस्तुतः सिद्ध होजाता है। और उस स्थित आदि के अधिकपन की अन्यथा-नुपपत्ति करके उन देवों के ऊपर ऊपर उपपाद लेने की निश्शंक संगति हो जाती है। यहाँ कोई आक्षेप करता है कि पूर्व जन्ममें हो चुके स्वकं य परिणामविशेषों की विशुद्धि के तारतस्य अनुसार उपाजित किये गये खुभ पौर्गलिक कर्मों के उदय की तरतमता से स्थिति आदि करके मधिकपना देखा जाता है। अतः अन्ययान्पपत्ति क्षय को प्राप्त हो चुकी समझनी चाहिये अर्थात् स्थिति आदि के आधिक्य का शुभविरणामों द्वारा उपात्त किये गये शभकर्मी के तारतम्य के साय अविनाभाव है। स्थिति अधि की अधिकता का देवों के ऊपर ऊपर जन्म होने के साथ अविनाभाव नहीं है। ऐसी अविनाभावविकलदशा में तस पूर्वसूत्रोक्त स्थित प्रादि के आधिक्य से वैमानिक देवों का ऊपर ऊपर उपपाद सिद्ध नहीं हो सकता है। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। नयोंकि उन स्थित आदिकों के अधिकपन स्वरूप विशेष की उन देवों के ऊपर अपर उपपाद होने के साथ अन्यथानुपपत्ति सिद्धि होरही है। यहाँ भी निजपुण्य अनुसार कुलीनता, अधिक स्थिति, ऊंवा प्रमाव, विशिष्ट सुख, सुन्दर कान्ति, उत्तम लेश्या, वाले पुरुष उच्च स्थानों में जन्म लेते हैं। पूण्यशाली, धर्मात्ना श्रावक, या मुनियों में तो गति, शरीर परि प्रह और अभिमानकी हीनता भी देखी जाती है। अतः कारिका मे कही गयी अन्यथानुपपत्ति निर्बल नहीं है।

अयाद्येषु त्रिषु निकायेषु लेश्याविद्यानमुक्तं वैमानिकनिकाये संप्रत्युच्यते ।

आदि की भवनवासी, व्यन्तर,ज्योतिष्क इन तीन निकायों में लेक्या का विद्यान सूत्रकार करके "आदितस्त्रिषु पीतान्तलेक्याः, इस सूत्र द्वारा पहिले कहा जा चुका है। अब प्रकरण अनुसार चौथी वैमानिक निकाय में लेक्या का विद्यान सुत्रकार द्वारा इस समय कहा जाता है।

पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु ॥२२॥

दो, तीन, और शेषयुगलों में पीत, पद्म, और शुक्ल लेश्या को धारनेवाले देव निवास कर रहे विराजते हैं। अर्थात् सौधर्म ऐशान और सनत्कुमार माहेन्द्र इन दो युगलों में पीत लेश्या है। ब्रह्मब्रह्मोत्तर, लांतव कापिष्ठ, शुक्र महाशुक्र, इन तीन युगलों में पद्मलेश्या है। श्रीर शेष ऊपर के विमानों में देवोंके शुक्ललेश्या है 🖫

ननु च पूर्वमेतद्वक्तव्यं तत्र पुनर्लेद्यामाबात् सूत्रस्य लाघबोपपत्तेः "आदितस्त्रिषु पीतांत-लेद्याः,, ततः " पीतपद्मशुक्ला द्वित्रशेषेष्विति,, । तदसत्, तत्र सौधर्मादिप्रहणे सूत्रगौरवप्रसं-गादप्रहणेऽभिसंबंधानुपपत्तेः संक्षेपार्थमिहैव वचनोपपत्तेः ।

यहां कोई पण्डित आक्षेप करता है कि इस सूत्र को पहिले ही कहना चाहिये था। वहाँ लेश्या शब्द विद्यमान है। फिर लेश्या शब्दके नहीं उपादान करने से सूत्रका लाघव गुण बन जाता है। देखो, आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः, आदि से तीन निकायों में पीत पर्वंत लेश्या बाले देव हैं। इस सूत्र के लगे हाय ही उससे पीछे "पीतपद्मशुक्लाद्वित्रिशेषेषु, यों सूत्र बनाकर पुनः लेश्या शब्द नहीं देना पडा। अतः गुणकृत और परिमाणकृत लोघव सेंत मेंत प्राप्त होजाता है। ग्रन्थकार कहते हैं वह आक्षेप करना प्रशंसनीय नहीं है। क्योंकि वहाँ ती**सरे** सूत्र से आगे ही सीधर्मेशान आदि वैमानिकों के प्रतिपादक लम्बे सुत्रका निरूपण कर देने पर सूत्र के दोष का प्रसंग होता है। यदि सौधर्मेशान आदि सुत्रका वहाँ तीसरे, चौथे सुत्र के अवसर पर कण्डोक्त उपादान नहीं किया जायगा तो लाघवार्थ वहां किये जाने योग्य "पीतपदाश्वक लेक्या द्वित्रिशेषेषु " इसका ठीक ठीक सम्बन्ध कर देना नहीं बनसकेगा। इस कारण बढिया संक्षेप के लिये सौधमं ऐशान आदि का निरूपण करचुकने पर यहाँ ही संक्षेप सूत्र का निरूपण करना सधता है। वस्तुत: विचारा जाय तो आक्षेपकार की अपेक्षा सूत्रकार को संक्षेपविधान के अधिक लक्ष्य है। अतिथिको सम्पूर्ण निष्ट भोजनों का आद्य समझाते हुये पोंडे की एक पमोजी परोस देने से उसकी अनेक स्वादपूर्वक क्षुधानिवृत्ति नहीं होजाती है। तथा सभी प्रकार के वस्त्रों का मूल कारण विनी हेको दे देने से शरीराच्छादन पूर्वक शोभा बढाते हुये शीतबाधा निवारण नहीं होसकता है। ऐसा लाघव भी ओछेपन का सम्पादक है।

पीतपद्मश्रुक्लानां हंद्रे पीतपद्मयोरीसरपिवकं हुस्यत्वं द्रुतायान्तपरकरणान्मध्यमिवहं-वितयोरपसंरव्यानिमत्याचार्यवचनवर्शनात् मध्यमाशद्वस्य विह्रवितोत्तरपदे हंद्रेपि हुस्वत्वसिद्धेः। ततः पीतपद्मशुक्लकेश्याः येवां देवानां ते पीतपद्मशुक्ककेश्या हति हंहपूर्वान्यपदार्था वृत्तिः।

पीता च पद्माच शुक्ला च यों भीता और पद्मा तथा शुक्ला पदों का इतरेतर इन्द्र-समास करने पर पीता और पद्मा पदों का उत्तरपद की अपेक्षा न्हस्व होना बन जाता है। सदः इन्द्र श्रमास में पुंचभ्दाव नहीं होडकने का कटाक्ष नहीं करना चाहिये। जैसे कि संबीत

शास्त्र में आचार्य का यह वचन देखा जाता है कि द्वा यानी शीघता की मात्रा होनेपर तपर करने से मध्यम और विडम्बिता का सूत्रमार्ग से बाहर उपरिष्ठात् वैसा ही कथन देना चाहिये। अतः मध्यमा शब्द का विडम्बिता इस उत्तर पद के परे रहते सन्ते इन्द्र में भी -हस्व होना सिद्ध है। भावार्थ-द्रुतमात्रा मध्ययात्रा और विलम्बितमात्रा यानी शीघ्र बोली गयी या मध्यम रूप से बोली गयी और विलम्ब से दोली गयीं मात्रायें " द्रुतमध्यमविलाम्बता मात्रा कही जाती है। यहाँ उत्तर पद की अपेक्षा स्त्रीलिंग द्वता और मध्याशब्द को समास कर चुकने पर न्हस्व होजाता है। बाज कल के इन पश्चात् भावी पुरूषों को शब्दशास्त्र अनुमार साधु शब्दों का प्रयोग करना चाहिये। किन्तु व्याकरण के नियम पूर्वआचार्यों के वचन बनाने चाहिये। भले ही व्याकरण में कोई सूत्र नहीं मिले, ऐसी दशामें ऋषियों के केवल वाक्य पद्धति अनुसार उपसंख्यान कर लिया जाता है अर्थात् "तपरस्तत्कालस्य, अत इत् उत् इनसे केवल अकार इकार उकारका ही बोध हो सकता है। इस नियम अनुसार द्रुता मात्रा में तपर करने पर द्रुता को ही शीघ्र बोल सकते हैं। मध्या और विलम्बिता का शीघ्र उच्चारण नहीं कर सकोगे। किन्तु गाने को अवस्थामे शीघ्र शीघ्र उच्चारण करते हुये तपर करने पर मध्यमा और विडम्बिता मात्राओं का भी शीघ्र उच्चारण कर लेना चाहिये। तभी राग या रागिनी ठीक गाये जा सकेंगे। तिस कारण पूर्व पदों को न्हस्व होजाने से "पीतपद्मशुक्त्रलेश्याः ,, यह द्वन्द्व समासान्त पद बन जाता है। जिन देवों के पीतपद्मगुक्ललेश्यायें पायीं जाती हैं, वे देव पीत-प्रधान इन्द्र नामक समास वृत्ति पद्मशुक्ल लेक्यावाले हैं। इस प्रकार पूर्व में सर्वं पदार्थ कर चुकने पर पुनः अन्य पदार्यं को प्रधान करने वाली बहुन्नीहि वृत्ति कर ली गयी है। यहां यह भी कहना है कि " पूज्यापादा वृत्तिकारास्तु अथवा पीतश्च पद्मश्च शुक्लश्च पीत-पद्मशुक्लाः वर्णवन्तोऽर्थाः तेषामिव लेश्या येपां ते पोतपद्मशुक्ललेश्या इत्याहुः " इन पुल्लिग शब्दों द्वारा वाच्य होरहे पीतपद्म और शुक्ल वर्णवाले किन्ही किन्ही पदार्घोंकीसी लेश्या जिन वैमानिक देवों की है, वे पीतपद्मशुक्ललेश्यावाले देव हैं। सर्वार्थसिद्धिकार यों इन्द्र र्गाभत बहुन्नीहि समास करके न्हस्व करनेके झगडे को ही मिटा देते हैं। उपमान, उपमेय का वाचक कोई विशिष्ट शब्द नहीं होने से ग्रन्थकार को उक्त बिग्रह करने में अस्वरस प्रतीत होरहा है।

द्वित्रिञ्जेषेष्वित्यधिकरणनिर्वेशाद्व्यादिकल्यादीनामाघारत्वसिद्धेः।

'दिनिशेषेषु'' यानी दो तीन और शेष वैमानिकों में इन प्रकार सप्तमी विभक्ति वाले अधिकरणका सूत्रकार द्वारा निर्देश कर देने से दो आदि कल्प और आदि पदसे प्रहण कियें गये ग्रेवेयक आदि कल्यातीतों के बाधारपन की सिद्धि हो बाती है। अर्थात् ऊपर करर कल्प बादि में रहने वाले देव दो, तीन, खेब, बिधकरणों में पीत बादि लेश्या वाले हैं।

कथं पुनः पीतादयो लेक्यास्तदाधेयानां देवानां विज्ञेया इत्यावेखते ।

फिर उन करप और करपातीत अधिकरणों के आध्यभूत होरहे देवों के भला पीत आदि लेश्यायें हैं, यह किस प्रकार प्रमाण द्वारा समझ लेना चाहिये ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्रीविद्यानन्द आचार्य करके अधिमवात्तिक में समाधान का निवेदन किया जा रहा है।

लेश्याः पीतादयस्तेषां सूत्रवाक्यप्रभेदतः । प्रत्येतव्याः प्रपंत्रेन यथागममसंशयं ॥ १ ॥

उन चौथी निकाय के वैमानिक देवों के पीतादि लेक्यायें हैं। इस सिद्धान्त की आगम मार्गका अतिक्रमण नहीं कर उक्त सूत्र के वाक्यों का प्रभेद कर देने से विस्तृतरूप करके संशयरहित प्रतीति कर लेनी चाहिये अर्थात् दो दो, तीन तीन, शोध शोध, यों उक्त सूत्र से कतिपय वाक्यों का उपप्लव कर आम्नाय अनुसार देवों के लेक्या का विधान कर लेना चाहिये।

हयोः सौधर्मेशानयोः सानत्कुमारमाहेंद्रयोश्च पीतलेश्याः हयोर्बह्यलातवकल्ययोः शुक्रशतारकल्ययोश्च पद्मलेश्याः ह्रयोरानतप्राणतयोरारणाच्युतयोश्च शुक्ललेश्याः, त्रिष्वधो-ग्रैवेयकेषु त्रिषु मध्यमग्रैवेयकेषु त्रिष्परिग्रैवेयकेषु च शुक्ललेश्याः । शेषेष्वनुहिशेषु पंबस्वनृत्तरेषु च शुक्ललेश्या इति सूत्रवाक्यप्रभेदतः प्रत्येतच्याः ।

प्रथम ही "द्विशव्द का पीन पद्म और शुक्ल इन तीन स्थानों के साथ तीन वार कथन कर यों भिन्न भिन्न वाक्यों को बनालों कि "द्वयोः पीतलेक्याः" दो युगलों में यानी सौधमं और ऐशान तथा सानत्कु पार और माहेन्द्रकल्पों में वस रहे देन पीतलेक्यावाले हैं। फिर "द्वयोः पद्मलेक्याः" दो में अर्थात् दो इन्द्र युगलों द्वारा अधिकृत कल्पों की अपेक्षा दो में यानी वम्हइमहोत्तर स्वर्ग वाले बम्हकल्प में और लांतव कापिष्ठ स्वर्ग वाले लांतव कल्प में इसी प्रकार इन्द्र अपेक्षया शुक्र महाशुक्र स्वर्गवाले शुक्र कल्प या शुक्र इन्द्र अधिकृत जीवों और शतार, सहस्नार, स्वर्ग वाले शतार कल्प में इन दो में पद्म लेक्याधारी देव निवास करते हैं। पुनः 'द्वयोः शुक्ललेक्याः" अर्थात् आनत प्राणत तथा आरण और अच्युत इन दो युगलों में देव शुक्ललेक्यावाले हैं। अब ति शब्द की केवल शुक्ललेक्याः " यानी तर अपर तीन निचले प्रवेयकों में देवों के शुक्ललेक्या है। और "त्रिष् शुक्ललेक्याः " यानी तर अपर तीन निचले प्रवेयकों में देवों के शुक्ललेक्या है। और "त्रिष् शुक्ललेक्याः " यानी तर अपर तीन निचले प्रवेयकों में देवों के शुक्ललेक्या है। और "त्रिष् शुक्ललेक्याः " यानी तर अपर वने हुये तीन मध्यम प्रवेयकों में इनसे कुछ अच्छी शुक्ललेक्या को स्वार्यवाले देव हैं। अधानन्तर शेष शब्द का शुक्ललेक्या के साथ दो बार आवृत्ति कर शोष नी वन्नुदिश्विमानों में और शेष पोच अनुत्तर विमानों में निवास कर रहे देव शुक्ललेक्या वाले

हैं। यों अर्थ कर लेना चाहिये। इस प्रकार सूत्र वाक्यों के बाठ प्रभेव कर देने से वार्तिकोक्त प्रतिका अनुसाद प्रतीति कर लेने योग्य अर्थ निकल आता है।

चतुरचतुःशेषे विवित्तवस्तव्यं स्पष्टार्थमिति चेत् न, अविशेषेण चतुर्षु माहें प्रांतेषु पीतायाः प्रसंगात् चतुर्षु च सहस्रातेषु कल्पेषु पद्मायाः प्रसक्ते,ः शेषेषु चानतादिषु शुक्ललेश्यायाः समनुषंगात् तथा चार्षविरोधः स्यात् । तत्र हि सौधर्मेशानयीः देवानां पीता लेश्येष्यते, सान-त्कुमारमाहेंद्रयोः पीतपद्मा, ततः कापिष्ठांतेषु पद्मा, ततः सहस्रारांतेषु पद्मशुक्ला, ततोऽच्युततांतेषु शुक्लाः ततः शेषेषु परमशुक्लेति ।

कोई पण्डित यहाँ अपनी भोली बुद्धि अनुसार कह रहे हैं कि सूत्रकार को "पीत-पद्म गुक्ल लेश्याइचतु इचतुः शेषेषु "इस प्रकार स्पष्ट अर्थ का प्रतिपादक सूत्र कह देना वाहिये। चार स्वर्गों में पीत लेश्या और चार में पद्म लेश्या तथा शेष स्थानीं पर शुक्ललेश्या को धारनें वाले देव हैं। यों अयं की स्पष्ट प्रतीति करा दी जा मकती है। ग्रन्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि यों सूत्र गढ़नेपर तो सामान्यकासे माहेंद्र पर्यन्त चार स्वर्गों में पीत लेश्या पाये जाने का प्रसंग आवेगा और सहस्रार पर्यन्त आठ स्वर्गी में किन्तु इन्द्र अवेक्षा **बन्ह बन्होत्तर** लान्तव कापिष्ट, शुक्र महाशुक्र, शतार सहस्रार इन चार कल्पोंने पद्म लेश्या होने का प्रसग आवेगा तथा इन से ऊपर के शेष आनत आदि सत्रह पटलों में शुक्ल लेश्या का मले प्रकार प्रसंग बन बैठेगा और तिस प्रकार इन तीन अनिष्ट प्रस्गों के लग जाने में आम्नाय अनुसार चले आरहे ऋषि प्रोक्त सिद्धान्त से विरोध ठन जायगा। क्योंकि उस आर्प सिद्धान्त में सौधर्म और ऐशान में रहनेवाले देवों के पीतलेश्या इप्ट की गयी है। तथा सानत्कुमार और माहेंद्र स्वर्गों में पीत लेक्या और पद्मलेक्या मानी गयी हैं। उन से ऊार कापिष्ठ पर्यन्त चार स्वर्गों में पद्मा लेश्या है। इनके ऊपर सहस्रार पर्यन्त चार स्वर्गों में पद्म शुक्ल लेक्या अभीष्ट की गयी हैं। उनसे ऊपर अच्युत पर्यन्त स्वगों में शुक्ल लेक्या बखानी हैं। तया उन सो वह स्वर्गीत भी कार शेष प्रवेषक, अनुदिश, और अनुत्तर यों ग्यारह पटलों में परम-शुक्ललेश्या सिद्धान्त ग्रन्थोंमें विणत की गयी है। अत: " चतुरचतु: शेषेषु " कह देनेसे अर्थ तौ स्पष्ट हो गया, किन्तु अवसिद्धान्त दोव क्र्र चेष्टा पूर्वक भ्रक्टीको चढाये हुये सन्मुख हो जाता है। सिद्धान्त मार्गसे स्खलित होकर कोरे स्पष्ट कथन करनेको शेखी मारना समुचित नहीं है। "बच्चा भलेही मरजाय किन्तु दोरा (गंडा) नहीं टूट जाते " तांत्रिकोंको ऐसा निद्य भाषण नहीं करना चाहिये।

कयं सुत्रेणानिमहितोयं विश्लेषः प्रतीयते ? । पीताप्रहणेन पीतपद्मयोः संग्रहात् पद्माप्रहणेन पद्मशुक्लयोः इत्याहः ।

यहां कोई कटाक्ष करता है कि श्री उमास्वामी महाराजने सूत्र करके यह विशेष जब कण्डोक्स नहीं कहा है, तो किस शकार आप संवकारने मीं प्रत्यसंकर किया है कि सनस्कृमार माहेन्द्रमें परालेश्या पायी जाती है। और शतार सहस्रारों में शुक्ललेश्या भी देवों के रही है। इसके उत्तरमें श्री. विद्यानन्द स्वामी कहते हैं कि पीताके ग्रहण करनेसे निकटवर्ती पद्माको मिला कर पीता और पद्माका संग्रह होजाता है। इसी प्रकार पद्मालेक्याके करके परली ओर शुक्लाको खेंचकर पद्माशुक्ला दोनों छेश्याओं का संप्रह कर लिया जाता है। यों हम और अन्य विद्वान भी ऐसे अवसरोंपर सन्धि स्थानोंमें निवास करनेवाले जीवोंके लिये इसी ढंगसे कहते हैं। अर्थात् जैसे कि भिन्न भिन्न भाषाओं को बोलने वाले प्रान्तों के बीचमें वस रहे मनुष्य कुछ इस प्रान्त और कुछ उस प्रान्तकी मिश्रित भाषाको बोलते हैं। दिन और रात्रिके मध्यमें कुछ अंधेरा और कुछ प्रकाशकीं मिश्रण अवस्था पायी जाती है, उसी प्रकार पीतलेक्या-शब्द सीधर्म, ऐशान, देवोंके लिये स्वतंत्र है। और ब्रम्ह, ब्रम्होत्तर, लांतवकापिष्ठींके शुद्ध पदालेश्या रक्षित है। फिर भी मध्यवर्ती सानत्कुमार, माहेन्द्रोंमें बहुभाग पीतके साथ अल्प भागमे पद्मलेश्याका भी विद्यान किया गया सै । एवं काषिष्ट पर्यन्त चार स्वर्गीमें शुद्ध पद्मलेश्या और आनत आदि अच्युत पर्यन्तों में शुद्ध शुक्ल हेश्याकी विधि होते हुये भी मध्यवर्ती सुक, महाशुक्र, शतार, सहस्रारों में बहुभाग पदालेश्या और अल्प भागमें शुक्ललेश्याकी विधि कर दी जाती है। संक्षेप कथन करने वाले सूत्रकार भला छोटेसे सूत्रमें अनेक सन्धिस्थानोंका निरूपण कैसे कर सकते हैं ? पूर्व निषधसे उदय हो कर भ्रामण करते हुये सूर्यका पश्चिम निषध पर अस्त होजानेकी दिवसीय अवस्थाओं अनुसार होने बाले अनेक प्रकाशोंके तारतम्यका स्यूल दृष्टिसे वर्णन किया भी जासके, किन्तु दिन और रात की मिश्रण अवस्थाओंका प्रकाश और अन्धकारसे मिश्रित निरूपण तो आपाततः ही किया जासकता है। "तन्मध्यपतितस्तज् ग्रहणेन गृहचते,, संख्यात, असंख्यात, अनन्त, भेद प्रभेद वाले परिणामोंकी मध्यम अवस्थाओंको कहाँ तक कहा जाय । बिना कहे ही अर्थांपत्या उनको समझ लिया जाता है।

कथं ! तथा लोके शब्दव्यवहारदर्शनात्। छत्रिणो गच्छंतीति यथा छत्रिसहबरितानामछत्रिणामिप छत्रिव्यपदेशात्। पाठांतरेपि यथा ध्याख्यानावदोष इति चेत् न, अनिष्टशंकानिवृत्यर्यः वात् द्वित्रि-शेषेष्वित पाठस्य, बतुःशेषेष्वित तु पाठे बतुणौ बतुणांमुपर्युपरिमावेऽनिष्टः शंक्येत तिन्नवृत्ति-र्यथान्यासवसने कृता भवति । यथासंख्यप्रसंगादत्राप्यनिष्टमिति चेन्न, ग्वादिशब्दानामंतर्नोतदी-प्तार्थत्वाद्विमोजनादिवत्। विने विने दिभोजने यस्य सिद्धमोजन इत्यादयो यथान्तर्नोतवीप्तार्थांस्त-थोपर्युपरि द्वयोद्वयोत्त्रिष् त्रिष् शेषेशु शेषेषिकत्यंतर्नीतवीप्तार्था ग्वादिशब्दा इह व्याख्यायंते, ततो न यथासंख्यप्रसंगो वाक्यमेदाव्याक्यानाच्य ।

कोई तकीं प्रश्न करता है कि पीता ग्रहण करके पीतासे न्यारी पद्माका या पद्मा कह देनेसे पद्मा भिन्न शुक्लाका भी ग्रहण भला किस प्रकार होसकता है ? घटका निरूपण कर देने मात्रसे घटकिन पदार्थका प्रतिपादन कथमपि नहीं होसकता है । इस प्रश्नके उत्तरमें प्रस्थ-कार कहते हैं कि हम क्या करें । लोकमें तिस प्रकारके शब्दजन्य कावहार हो रहे देखे जाते हैं । जिस प्रकार कि क्यों (कतरी) को ग्रास्ते बाके बारहे हैं, यों कह देनेसे क्या श्रास्तिक स्वाप

गमन कर रहे छत्र रहित कतियय जनोंका भी छत्रधारीयन करके प्ररूपण कर दिया जाता है। उसी प्रकार यहां भी बहभाग पीत लेक्यावाले जीवोंके साथ अल्पभाग पद्मालेक्या वाले देवोंका प्रतिपादन होजाता है। पद्मालेश्या बालोंके साथ शुक्ललेश्या वालें अल्प देवोंका ग्रहण होजाना बन जाता है। मिश्रित अवस्था पूर्वकी और झक जाती है। लोक या शास्त्रमें अन्य प्रकार प्रसिद्ध होरहे शब्दों को यौगिक अर्थानुसार स्वबुद्धिसे सुधारकर बोलनेवाला नविशिक्षत अज्ञ ही समझा जायगा । घोडे को पानी दिखा दें। छतरी बाले जारहे हैं। बम्बई बंचीगे। गली मचान गारहे हैं। इन शब्दोंके स्थानपर घोडे को पानी पिलादे। और कुछ छतरी रहित मनुष्य जा रहे हैं। बम्बईमें सिकरने वाली हुंडी गली मचान पर बैठे मनुष्य गारहे हैं। यों कहने वाला स्वाना छोकरा मूर्ख ही समझा जायगा। यदि यहां कोई यों शंका करे कि यों तो सूत्रकार द्वारा "चतुरचतुरशेषेषु" इस प्रकार न्यारा पाठ करने पर भी उक्त व्याख्यान कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। फर जो हमने पहिले कहा था कि चार चार और शंषोंमें पीत लेक्या बाले पदालेक्यावाले और श्वकलेक्या-वाले देव निवसते हैं, इसका आपने खण्डन क्यों किया ? व्याख्यान कर देनेसे आर्थ मार्थका कोई विरोध नही आता है। यहां भी तो आपको व्याख्यान करना ही पडा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि दो युगल तीन युगल और शेष शतार आदिकों में यथा कमसे पीत लेश्याबाले और शुक्ललेश्याबाले देव हैं। यों पाठकरना तो अनिष्ट शंकाकी निवृत्तिके लिये सुत्रकारने किया है। "चतुरशेषेष" इस प्रकार पाठ करने पर तो चार चार का ऊपर सद्भाव मानने पर अनिष्ट अर्थ होजाने की शंका होसकेगी। हां, उक्त सूत्र अक्षार 'द्वित्र-शेषेषु" यों ठोक रचनापूर्वक कथन करनेपर तो उस शंकाकी निवृत्ति की जाचुकती है। फिर भी कोई यों कटाक्ष करे कि इस प्रकार न्यास करने पर भी यथासंख्यका प्रसंग हो नानेसे यहां भी अनिष्ट अर्थकी शंका होना तदवस्य है। आपत्तिका निवारण करते हुवे भी आपतिवोंसे खुटकारा नहीं मिला। दो युगलोंमें पीत लेश्या कहने पर सनत्कु नार माहेन्द्रों में पूर्ण हासे पीत लेश्याका विधान होगा। वहां कतिपय देवोंके पायी जारही पद्मलेश्याकी विधि नहीं होसकेगी। इसी प्रकार शतार, सहस्रार, स्वर्गोमें शुक्छलेश्यावाले कतिपय देवोंको भी पद्मलेश्याधारी बनना पड़ेगा । यह अनिष्ट शंकापिशाची खडी हुई है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्यों कि सूत्रमें पड़े हुये दो आदिक शब्दों के भीतर वीष्सा अर्थ गिनत होरहा है। जैसे कि द्विभी-जन, द्विपठन त्रिजपन श्रादि शब्दोंके भीतर वीप्सा अर्थका समावेश है। दिन दिनमें जिस मनुष्यके दो भोजन हैं, या जो छात्र प्रतिदिन दो दो पाठ पढता है, अथवा जो धर्मात्मा प्रतिदिन तीन तीन बार जाप देता है, वे द्विभोजन, द्विपठन, त्रिजपन, पुरुष हैं। अतः द्विभोजन इत्यादिक शब्द बीप्सा अर्थको अन्तरंगमें गर्भित कर बखाने जाते हैं। उसी प्रकार दो, तीन, आदिक शब्द भी यहां ऊपर दो दो कल्पोंमें तीन तीन कल्पोमें और शेष शेष स्थानोंमें इस प्रकार बीप्सा अर्थ को गिमत किये हुये वसाने जाते हैं। तिस कारण केवल पीताका द्विके साथ और पदाका केवल त्रिके साथ तथा शुक्लाका अकेले खेलोंमें ही अन्वय होजाना यों यशासंस्वका प्रसंग नहीं होपाता है। दूसरी बात यह है कि सूत्रके वाक्य प्रमेदसे व्याख्यान कर दिया गया होनेसे यथा-संख्य का प्रसंग तुम्हारा चाहा नहीं हो पाता है।

पीतिमध्ययमिश्रश्नकलेश्या द्विद्विचतुश्वतुःशेषेष्विति पाठन्तरमन्ये मन्यते, तत्र सूत्र-गीरवं तदयस्यं । अथवास्तु ययासंख्यमित्रसंबंधस्तयापि नानिष्टप्रसंगः। कयं ? द्वयोः युगलयोः पीतलेश्याः सानरकुमारमाहेंद्वयोः पद्मलेश्यायाः अविवक्षातः, ब्रह्मलोशादिषु त्रिषु कल्पमुगलेषु पद्मलेश्या शुक्रमहाशुक्रयोः शुक्ललेश्याया अविवक्षातः, शेषेषु सतारादिषु शुक्ललेश्या पद्मलेश्याया अविवक्षातः इत्युक्तौ अभिसंबंधात् । ततो न कश्चिवार्षविरोधः ।

कोई अन्य विद्वान् निराले प्रकारके पाठको यों मान रहे हैं कि दो स्वर्गों अंगर दो स्वर्गों में तथा चार स्वर्गों एवं चार स्वर्गों तथा शेष स्थानों में पीतलेश्या और पीतां मश्रलेश्या तथा पद्मलेश्या एवं पद्मिश्नलेश्या तथा श्रुक्ललेश्याको धारनेवाले देव विराजते हैं, आचार्य कहते हैं कि उस मान्यतामे सूत्रका गौरव दोष हो जाना वैसाका वैंसा ही अवस्थित रहा। कोई छाम नहीं निकला। अथवा एक बात यह है कि उक्त सूत्रका भले ही यथासंख्य तीनों ओरसे सम्बन्ध होजाओं तो भी हमारे सिद्धान्त अनुसार किसी अनिष्ट के होजानेका प्रसंग नहीं होता है। किस प्रकार सम्बन्ध करते हुये अनिष्टका प्रसंग नहीं होता है? इसका समाधान यों है कि दो युगलों में पीतलेश्या है। किन्तु सानत्कुमार, माहेन्द्र, इन दो स्वर्गों के कित्यय देशों में पायी जारही पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं की गयी है। तथा अम्हलोक आदिक तीन कल्प युगलों में पचलेश्याकी विवक्षा नहीं की गयी है। तथा अम्हलोक आदिक तीन कल्प युगलों में पचलेश्या ही कह दी गयी है। शोष ऊपरले शतार आदि वैमानिकों में शुक्ललेश्या पायी जाती है। शतार और सहस्रारमें कितन एक देवों के पायी जारही पद्मलेश्याकी विवक्षा नहीं करने नेसे शुक्ल ही लेश्या कह दी गयी है। इस प्रकार सूत्र का कथन कर चुकनेपर कम अनुसार सम्बन्ध हो जानेसे कोई अनिष्टापत्ति नहीं है। तिस कारण ऋषिप्रोक्त सिद्धान्त आम्नायसे कोई विरोध नहीं आता है।

लेश्यानिर्देशतः साध्याः कृष्णेत्यादिस्वरूपतः । वर्णतो भ्रमरादीनां छायां भिभ्रति बाह्यतः ॥ २ ॥ अनंतभेदमासां स्याद्वणांतरमपि स्कृदं ! एकद्वित्रिकसंख्यादिकृष्णादिगुणयोगतः ॥ ३ ॥

अब प्रत्यकार सोलह अनुयोगोंके द्वारा लेश्याओं को साधने योग्य बताते हैं। १ निर्देश २ वर्ण ३ परिणाम ४ संक्रम ५ कमें ६ लक्षण ७ गति ८ स्वामित्व ९ साधन १० संख्या ११ क्षेत्र १२ स्पर्शन १३ काल १४ अन्तर १५ भाव १६ और अल्पबहुत्व इन सोलह अधिकारों द्वारा छहीं लेश्याओं को साधिल्या जाता है। प्रथमनिर्देशसे कृष्णा, नीला, कपोत, केश्या, तेजोलेश्या, पद्मलेश्या, शुक्ललेश्या, इस प्रकार स्वरूपसे लेश्यायें साधने योग्य हैं। दूसरे वर्ण यानी रंगसे द्रव्य लेश्यायें वा स्वरूपसे भोरा आदिकोंकी छाया को धारतीं हैं। क्यांत्—शरीरिवपाकी वर्ण नाम कर्म प्रकृतिके उदयसे उत्पन्न हुना कायका रंग द्रव्यलेश्या है। मौंराके रंगके समान काली कृष्णलेश्या है। नीलमणि या मयूर कष्ठके रंगको धार रही नील लेश्या है। कवूतरके समान रंगको प्राप्त होरही कापोती लेश्या है। सुवर्णकीसी छाया पीत लेश्याकी है। कमलके समान पद्मलेश्याका रंग है। शंखके समान भूरी कांतीवाली शुक्ललेश्या है। इन लेश्या ओं के तारतम्यको लिये हुये अन्य अनन्त भेदवाले वर्ण भी स्पष्ट रूपसे होजाते हैं। जो कि एक, दो, तोन, आदि संख्यात या असंख्यात आदि अविभाग प्रतिच्छंदस्वरूप गुणोंके योगसे इन द्रव्यलेश्या ओं के अनन्त भेद हैं। भावार्थ-लेश्या नामक पर्यायोंमें सख्याते, असे अनन्त अविभाग प्रतिच्छंदों की हानि वृद्धि अनुसार अवान्तर भेद अनन्त होजाते हैं। एक समयमें होनेवाली एक पर्याय एक भेद गिना जायगा। चक्रु इन्द्रियोंके प्रत्यक्ष योग्य होनेकी अपेक्षा लेश्याओंके संख्याते भेद हैं। और स्कन्ध जातिकी अपेक्षा लेश्याओंके अनन्तानन्त क्यें हैं। किन्तु रंगीली परमाणुयें या अविभाग प्रतिच्छंदोंको अपेक्षा लेश्याओं के अनन्तानन्त वर्णभेद हैं।

तथातः परिणामेन साध्या जीवस्य तत्त्वतः ।
स वासंख्यातलोकात्मप्रदेशपरिमाणकः ॥ ४ ॥
तत्क्रषायोदयस्थानेष्वियत्स्कृष्टमध्यम – ।
जघन्यात्मकरूपेषु कलेशाद्दान्या निवर्तनात् ॥ ५ ॥
कृष्णादयोऽशुभा स्तस्रो विवर्तते शरीरिणः।
जघन्यमध्यमोत्कृष्टेष्वंशांशेषु विदृद्धितः ॥ ६ ॥
विशुद्धिरत्तरास्तिसः शुभा एवं विपर्ययात् ।
विशुद्धिहान्या संक्लेशबृद्धधा चैव शुभेतराः ॥ ७ ॥
एकका चाप्यसंख्येयलोकात्माध्यवसायमृत् ।
लेश्याविशेषतो होयाः कषायोदयभेदतः ॥ ८ ॥

तिसी प्रकार तीसरे अनुयोग परिणाम करके छेश्यायें साधने योग्य हैं। वस्तुतः विचारा जाय तो जीवके अध्यन्तर वर्त रहे परिणाम करके छेश्यायें साधी जाती हैं। और वह जीवके परिणाम असंख्याते छोकाकाकोंके प्रदेश स्वरूप असंख्यातासंख्यात सामक परिसाणको

लिये हुये हैं। स्पूल शरीर और सूक्ष्म शरीरको बार रहे जीवोंकी कृष्ण आदिक तीन अशुभ-लेश्यायें इतने असंख्यात लोक प्रमाण उत्कृष्ट, मध्यम् और जघन्य आत्मक स्वरूपवाले कषायोंके असंख्यातासंख्यात उदय स्थानोंमें संक्लेशकी हानि करके परिणमन होजानेसे परिण-तियां करतीं रहतीं हैं। अर्थान् कर्मों के उदयकी जाति अपे शा असंख्यातासंख्यात औदियक कषाय स्थानोंमें संक्लेश की हानि होजानेसे उत्कृष्ट अंशसे मध्यम अंशमें और मध्यम अंशसे जघन्य अंशमें अशुमलेश्याओं का परिणमन होता रहता है। तथा जीवों की उत्तरवर्त्ती पीत आदि तीन शुभ लेश्यायें विश्वद्धिकी विशेषतया वृद्धि होजानेसे असंख्यात लोक प्रमाण सम्बन्धी औदयिक जवन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, अंश उपांशों में परिणमती रहती हैं। भावायं-शुद्धि की वृद्धि होजानेसे तेजो लेश्याके जघन्य अंशोंका अतिक्रमण कर मध्यम अंशों में आत्मा परिणत होजाता है। और मध्यमसे शुद्धिकी वृद्धि अनुसार पीत लेक्या सम्बन्धी उत्कृष्ट अंशों में परिण-मन कर लेता है। पद्मा और शुक्लालेक्यामें भी यही व्यवस्था है। इसी प्रकार विपर्धय करनेसे यों निर्णय कर लेना कि विशुद्धिकी हानिसे शुभलेक्यायें उत्कृष्ट, मध्यम् जवन्य अंशोंमें कम से परिणमेंगीं और इतर यानी अशुभलेश्यायें संक्लेशकी वृद्धि होजानेसे स्वकीय जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट अंशों में परिणतियां करेंगी। एक एक कोई भी लेश्या असंख्यात लोक प्रमाण औदियक कपायाध्यवसाय स्थानोंको घार रही है। बात यह है कि कवायोंके उदयागत भेदोंकी विशेषता से लेश्याओं में विशेषतायें समझ लेनी चाहिये। "कषायोदयानुरंजिता योगप्रवृत्तिलेंश्या" लेश्यापरिणति में कषायोंके उदयकी प्रधानता है। कार्मणस्कन्ध या कर्मपरमाणुओं की अपेक्षा अनन्तानन्त जीवोंके यद्यपि अनन्त लेक्यायें हैं। किर भी जातिकी अपेक्षा उनके असंख्यात लोक प्रमाण भेद कर दिये जाते हैं। असंख्यात लोकोंके प्रदेश बराबर प्रमाणको धार रहे अध्यवसाय स्थानों में जिनदृष्ट असंख्यात लोकप्रमाण राशिका भाग देने पर जो लब्ब आता है, उसके बहुभःग प्रमाण संक्लेशरूप स्थान हैं। और एक भाग प्रमाण शुभ लेश्याओंके विशुद्धिस्थान है। फिर भी सामान्यसे ये सभी असंख्यात लोकप्रमाण संख्यावाले हैं । इन अध्यवसाय स्थानों में लेश्यारूप परिणतियां होती रहती हैं।

> तथा संक्रमतः सान्या छेश्याः क्छेशविशुद्धिजात् । क्टिश्यमानस्य कृष्णायां न छेश्यांतरसंक्रमः ॥ ९ ॥ तस्यामेव तु षट्स्थानपतितेन विवर्धते । हीयते च पुमानेष संक्रमेण निजक्रमात् ॥ १० ॥ कृष्णा प्राथमिकक्छेशस्थानाद्धि परिवर्धते । संख्येयाद्प्यसंख्येयभागतः स्वनिमित्ततः ॥ ११ ॥

संख्येयादिगुणाद्वापि नान्ययेति विनिश्चयः । हेश्यांतरस्य कृष्णातोऽशुभस्यान्यस्य बाधनात् ॥ १२ ॥ तत्कृष्णहेश्यतः स्थानाद्वीयमानो विद्दीयते । कृष्णायामेव नान्यस्यां हेश्यायां हेत्रभावतः ॥ १३ ॥ चानन्तादिभागाद्वा संख्यातादिगुणात्तथा । द्दीयते नान्यथा स्यानषद्कसंक्रमतोसुमृत् ॥ १४ ॥ यदानंतगुणा हानिः कृष्णायाः संक्रमस्तदा । नीलाया उत्तमस्थाने तलेश्यांतरसंक्रमः ॥ १५ ॥

तथा संक्रमणसे छहों लेश्यायें साधने योग्य हैं। संक्लेश और विशुद्धिसे उत्पन्न हुये स्थानोंसे लेश्याओं का संक्रमण होता है। स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण यों संक्रमणके दो भेद हैं। कृष्ण लेक्यामें बढते हुये क्लेशको प्राप्त होरहे जीवके स्वस्थान संक्रमण ही होगा । अन्य लेक्याओं में संक्रमण नहीं होसकता है। उस कृष्णलेश्यामें ही अनन्तभागवृद्धि, असंख्येय भागवृद्धि, संख्येय-भागवृद्धि, संस्थातगुणवृद्धि असंस्थातभागवृद्धि और अंनत गुणवृद्धी इस प्रकार छह स्थानों में पडी हुई वृद्धि करके कृष्णके भीतर ही अंश उपांश बढते रहते हैं। कृष्ण लेश्यासे कोई निकृष्ट स्थान नहीं हैं। जिसमें संक्लेशकी वृद्धि होजाने पर परस्थान संक्रमण होजाता। तथा यह जीव अपनी गृहीत कृष्ण लेश्याके अभ्यन्तर कमसे उत्कृष्2से मध्यम या जघन्य अंशोंमें संक्रमण करके हानिको प्राप्त होता है। अर्थात् कृष्णलेश्या सम्बन्धी उत्कृष्ट संबलेशस्यानसे अनन्तभागहानि, असंख्येयभागहानि, संस्येयभागहानि, संस्येय गुणहानि, असंस्येयगुणहानि, अनन्तगुणहानि करके कृष्णलेदयाके जघन्य स्थानोतक स्वस्थान संक्रमण होता है। हां, संक्लेशकी विशेष हानि होजानेपर अनन्त गुणहाणि अनुसार कृष्णलेश्यावाला जीव नीललेश्याके उत्कृष्ट स्थान पर सक्रमण कर लेता है। वात्तिकों का अर्थ यह हुआ कि सबसे पहिले नियत होरहे कृष्णलेश्याके जवन्य संक्लेश स्थानसे अनन्तभाग, असंख्यातभाग और संख्यात भाग वृद्धियों अनुसार कृष्णलेश्या अपने निमित्त कारणों करके बरती जाती हैं। अथवा संख्यातगुण, असंख्यातगुण, आदि कमसे भी स्वकीय निमित्त कारणों अनुसार उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त बढ़ती है। अन्य प्रकारोंसे नहीं बढ़ती है। यों विशेष रूपसे निश्चय कर लेना । कृष्णलेश्यासे भिन्न कोई निकृष्ट जाति की दूसरी अधुमलेश्याके होनेकी बाधा है। अतः संक्लेशकी वृद्धि होनेपर कृष्णलेश्यामें स्वस्थान संक्रमण ही हुआ तथा कृष्णलेश्याके उत्कृष्ट स्थानसे संक्छेश की हानिको अनुभव रहा जीन हीन होता जाता है। तब भी उत्कृष्ट, मध्यम, जधन्य अंशोंमें प्राप्त होरहा कृष्णलेख्यामें ही संक्रमण करता है। कारणींका अभाव होजानेसे बन्य छेश्यामें संक्रमण नहीं करपाता है। अनन्त्रधाग आदि अथवा संस्थातगुज आदि स्थानों करके यह प्राणी तिसी प्रकार छह स्थानों में पतित हानिओं द्वारा संक्रमणसे हीन होता जायगा, अन्य प्रकारों करके हीन नहीं होता है। हां, जिस समय कृष्णलेश्या की अनन्तगुणी हानि होते हुये संक्रमण होगा, तब नीलकैश्याके उत्कृष्ट स्थानमें प्राप्त होरहा उससे न्यारी अन्य लेश्यामें परस्थान संक्रमण होजाता है। अन्य प्रकारोंसे नहीं।

एवं विशुद्धिवृद्धे स्याच्छुक्ळळेश्यस्य संक्रमः । शुक्लायामेव नान्यत्र लेश्या एवावसानतः ॥ १६ ॥ तथा विशुद्धिहान्यां स्यात्त छेश्यांतरसंक्रमः । अनन्त गुणहान्येव नान्यहान्या कदाचन ॥ १७ ॥ मध्ये लेश्याचतुष्कस्य शुद्धिसंक्लेशयोर्न्थणां । हानौ वृद्धे च विद्येयस्तेषां स्वपरसंक्रमः ॥ १८ ॥

इसी प्रकार विशुद्धिकी वृद्धि होने पर शुक्ललेश्यावाले जीवका संक्रमण शुक्ललेश्याम ही होगा, अन्यत्र नहीं होगा। क्योंकि शुक्लसे बढिया कोई दूसरी शुभलेश्या ही नहीं है। शुक्लसे उत्तम लेश्याओं का विराम होजानेसे बढ रहे शभ परिणामोंका पलटना उसी शुक्ललेश्यामें ही हुआ करता है। हां, तिस प्रकार छह स्थानों में पडे हुये क्रमसे विशुद्धिकी हानि होने पर अन्य लेश्याओं में भी संक्रमण होजाते हैं। किन्तु विश्वद्धिकी अनन्तगुणी हानि करके ही शुक्ललेश्या से पद्मलेश्यामें परिवर्तन होगा । अन्य संख्यातमाग हानि आदि पांच हानियों करके कभी नहीं परस्यान संक्रमण होसकता है। यों कृष्णलेश्या और श्वललेश्या के विषयमें स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमणका विचार कर दिया है। मध्यमें विराज रहीं नील, कापोत, पीत, और प न इन बार लेक्याओं का स्वस्थान संक्रमण और परस्थान संक्रमण तो उन जीवोंके विशुद्धि और संक्लेशको हानि या वृद्धिके होने पर अनुलोम और प्रतिलोम दोनों ढंगोंसे समझ लेना चाहिये। भावार्य-नील लेखामें संक्लेशकी वृद्धि होजाने पर जघन्य अंशसे मध्यम अंश होजानेकी दशामें स्वस्थान संक्रमण है। और उत्कृष्ट अंशसे कृष्णलेश्यामें पहंचने पर परस्थान संक्रमण है। यों ही संक्लेशको हानि होनेपर नील लेश्याके उत्कृष्ट अंशसे मध्यम अंश होजानेकी दशामें स्वस्थान संक्रम है। और नीललेश्याके जवन्य अंशसे संक्लेश हानि दशामें कापीतीकी दशा प्राप्त होने पर परस्थान संक्रमण है। यही दशा अन्य लेश्याओं में छगा लेना। छह वृद्धियों में संस्थात पदसे उत्कृष्ट संस्थात पकडना और असंस्थात पदसे असंस्थाते लोकोंके प्रदेशों प्रमाण संस्था प्रहण करना तथा अनन्त पदसे जीवराधिका अनन्तगुणा और पुद्गल राशिका अनन्तवा भाग स्वरूप अनन्तसंख्या केनी चाहिये। ये छहीं वृद्धियां केह्या परिणतियोंके अविभाग प्रतिच्छेदों में होती रहती हैं। अविभागप्रति अधेदोंकी कितनी ही संस्थायें ऐसी है, जिनको कि कोई लेक्या परिणाल नहीं घार सकी है। "अविभागपिक छोओ जहण्य उत्ही पएसाणं" (गोम्मटसार) यह यह विविधान प्रतिच्छेद का सिद्धान्त सक्षण है

तथैव कर्मतो लेरगः साध्याः षडिप भेदतः ।
फलभक्षणदृष्टांतसानध्यांत्तस्ववेदिभिः ॥ १९ ॥
आद्या तु स्कन्धभेदेच्छा विटयच्छेदरोमुषी ।
परा च शासाछेदीच्छादनुशासिछदेषणा ॥ २० ॥
पिंडिकाछेदनेच्छा च स्वयं पतितमात्रक - ।
फलादिता च कृष्णादिलेश्यानां भक्षणेच्छया ॥ २१ ॥

तिस ही प्रकार कर्म यानी किया की अपेक्षासे छहों भी लेश्याओं का भिन्न भिन्नपते करके साध लेना चाहिये। तत्ववेता विद्वानों करके उन लेश्या शले जीवों के कर्तंब्य होरहे फल भक्षण स्वरूप दृष्टान्तों की सामध्यंसे यों निर्णय करना चाहिये। वनके मध्य देशमें मार्ग भ्रष्ट होगये छह पिषक एक फलपूर्ण वृक्ष को देख करके यों विचार करते हैं। पहिली कृष्णलेश्या के अनुसार एक मनुष्यके स्कन्ध (पढ) को छंद डालनेकी इच्छा हो बाती है। अर्थात् कृष्णलेश्या का स्कन्धको उखाड डालकर फल खाना चाहता है। और दूमरी नीललेश्या के अनुसार गुट्टेको काट डालनेकी बृद्धि दूसरे मनुष्यको हो जाती है। तीसरे मनुष्यको कापाती लेश्या के अनुसार डाली को काटनेकी इच्छा उपज जाती है। चौथे के पीतलेश्यां अनुसार लघुशाखाको काटकर फल खानेकी बांछा उपजती है। पांचवें पुरुषको पद्मलेश्या अनुसार डांठला या फल ही को तोड़ने की इच्छा होती है। छठे मनुष्य को जुक्ललेश्या अनुसार केवल अपने आप नीचे गिर गये फलोंको प्रहुण करनेकी अभिलापा उपजती है। यों कृष्ण आदिक लेश्याओंके अनुमार फलभक्षणकी इच्छा करके कर्तंब्य कियाओंकी अपेक्षा छहों अतीन्द्रिय भावलेश्यायें अनुमित हो जाती हैं।

तथा लक्षणतो लेखाः साध्याः सिद्धाः प्रमाणतः। पराननुनयःदिः स्थात्कृष्णायास्तत्र लक्षणम् ॥ २२ ॥ आलस्यादिस्तु नीलाया मात्सर्यादिः पुनः स्फुटं। काषोत्या दढनेत्र्यादिः पीतादाः सत्यवादिता ॥ २३ ॥ प्रमृति पद्मलेख्यायाः शुक्लायाः प्रशमादिकं। गत्या लेखास्तथा द्वेयाः प्राणिनां बहुभेदया ॥ २४ ॥

तिस ही प्रकार लक्षण यानी चिन्होंसे छहों लेश्यायें प्रमाणोंसे सिद्ध होरही साधलेनी चाहिये । उन छहों में पहिली कृष्णलेश्याका चिन्ह तो दूसरोंका अनुनय (विनय) नहीं करना,

वैर नहीं छोडना, प्रचण्ड कोपी होना, दया धर्म रहितपना, अपरितोष, तीव दुष्टता, आदिक हैं। तथा नी अलंडिया के लक्षण तो आलस्य, विषयलोलुपता, भी हता, तृष्णा, ठगना, अतिलुख्यता, रूप अभिमान, आदिक हैं। फिर तीसरी अगुभलेड्या कापोती के स्फुट रूपसे मत्सरता, ईष्पी, परिनिन्दा, आत्मप्रशंसा, युद्धमरण, अविचारिता, शोक, भयब हुलता आदि हैं। एवं चौथी पीत लेडिया के दृढ़िभत्रता, विचारशीलता, दानदयारित, कार्यसम्पादनपर्तुता आदि बहिरंग चिन्ह हैं। तथा पद्मलेडियाले सत्यवादी पनको आदि लेकर क्षमा, सात्विकदान, ऋजुता, गुरुदेवता प्रजाकरणतत्परता, भद्भता आदि शुभ लक्षण हैं। छठी शुक्ललेड्याके प्रशम, रागद्वेषरहितपन, निदानवर्जन, श्रेयोमार्गानुष्ठान, आदि लक्षण हैं। यों ब्यावर्तक चिन्होंसे अन्तरंग लेडियाये पहिचान ली जाती हैं। तथा सातवें गित अधिकार करके लेडियायें समझ लेनी योग्य हैं। स्वकीय कारणों अनुसार बहुत भेदवाली प्राणियोंकी गित हो आनेसे लेडियायें साध ली जाती हैं।

प्रत्यंशकं समारूयाताः षड्विशतिरिहांशकाः । तत्राष्ट्री मध्यमास्तावदायुषो बंधहतवः ॥ २५ ॥ आष्रेपदेशतः सिद्धाः शेषास्तु गतिहेतवः । पुण्यपापविशेषाणामुपचाययका हि ते ॥ २६॥

प्रत्येक लेश्याके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट और मध्यवर्ती आठ अंशोंको मिलाकर यहाँ प्रकरणमें लेश्याओं के छन्त्रीस अंश बढिया वलाने गये हैं। उनमें कृष्ण और कापोतके मध्य-वर्ती तथा पीत और शुक्लके मध्यमवर्ती अ।ठ मध्यम अंश तो परभवकी आयुके बन्धके कारण हैं। यह सिद्धान्त ऋषित्रोक्त उपदेशोंसे प्रसिद्ध है। अर्थात् कर्मभूमिके मनुष्य या तिर्यंचकी भुज्यमान आयुके तीन भागों में से दो भाग बीत चुकने पर अन्तर्मुहर्त तक पहिला अपकर्षकाल माना जाता है। यदि पहिले इस अपकर्ष कालमे उत्तर भवकी आयु न बंधे तो शेष आयुके त्रिभाग करते हुये दो भाग बीत जानेपर अन्तर्महर्त कालतक आयुष्य कर्मका बन्ध होता है। यदि यहां-पर भी आयुष्य का बन्ध नहीं होय तो तीसरे, चौथे, पांचवें, छउवें, सातवें, और आठवें त्रिभाग स्वरूप अपकर्ष कालमें आयुका बन्ध होजाता है। पूर्वके अपकर्षमें आय्का बन्ध होजाने पर उत्तर अपकर्षीमें तदविरुद्ध उसी आयुका बन्ध होगा, न्यारी आयुका नहीं। यदि आठोंमें किसी भी अपकर्षमें आयुन बंबे तो मृत्युके अध्यवहित पूर्व अन्तर्मुहर्तमें परभव की आयुका बन्ध अवश्यक होजाता है। देव और नारकी जीवोंकी भुज्यमान आयुके छहमास शेष रहनेपर आठ अपकर्षकाल आयुक्ते बन्धके योग्य रचे जाते हैं। भोगभूमियां मनुष्य या तिर्यंचके स्वकीय आयुक्ते नी महीना शेष रहनेपर आयुक्ते बन्ध योग्य आठ अपकर्षकाल प्राप्त होते हैं । अपकर्षकालमें जैया लेक्याका अंश होता है वैसा आयुष्यका बन्ध होजाता है। आयुका बन्ध फल दिये बिना ूरता नहीं है। स्थिति कमती बदती घछे ही होजाय। छेश्याओं के कारण इन बाठ अंसी को 80

मध्यवर्ती इसलिये कहा है कि कृष्णलेक्या के कित्यय तीव बंशों में और कायीत के कित्यय ज्ञान क्षान्य अंशों में आयु नहीं बंबती है। इसी प्रकार शुभ लेक्याओं में पीत के कित्यय ज्ञान अंशों में और शुक्ललेक्या के कुछ उत्कृष्ट बंशों में आयुष्य कर्मको बन्धवाने की योग्यता नहीं है। खदः अशुभ लेक्याओं के मध्यमें पड़े हुये चार अंश और तीनों शुभलेक्याओं के बीच में पड़े हुये चार अंश और तीनों शुभलेक्याओं के बीच में पड़े हुये चार अंश यों आठ अंश मध्यम कहे जाते हैं। हां, शेष अठारह अंश तो परभक्के लिये गित कराने के कारण हैं। अवक्य वे अठारह अंश पुण्य विशेष और पापिबशेषोंकी वृद्धिके कारण होरहे हैं। यद्यपि ज्ञान्य, मध्यम, उन्कृष्टि अपेक्षा लेक्याके अठाग्ह भेदोंमें सभी भेद गिमत हैं। इनसे न्यारे कोई आठ भेद नहीं होसकते हैं। फिर भी संसारमें संसरण कराने वाले कर्मोंने भवान होरहे आयुष्य कर्म को बंधवाने की अपेशा अठारहों के मध्य में से ही कुछ पृयाभूत कर लिये गये आठ अंश मध्यवर्ती माने जाते हैं। शेष अंश तो गितिक उपयोगी पुण्य, पापों की वृद्धि कराते रहते हैं। योग और कषाय की मिश्रितपरिणित ही लेक्या है। जो कि पुण्य पाप-स्वरूप प्रकृति, प्रदेश, स्थित, अनुभाग इन चारों बन्धों की कारण हैं।

भवायुर्गतिभेदानां कारणं नामभेदवत् । शुक्क त्कृष्टांशकादात्मा भवेत्सर्वार्थसिद्धिगः ॥ २७॥ कृष्णोत्कृष्टांशकातु स्यादपतिष्ठानगाम्यसौ । शेषांशकवशान्नानागतिभागवगम्यताम् ॥ २८॥

लेश्याओं के अंश ये नामकर्मके प्रभेदोंके उदयसे युक्त हो रहे विश्रेष भवकी आयु और गित भेदोंके कारण बन रहे हैं। आत्मा शुक्तलेश्याक उत्कृष्ट अंशसे मर कर सर्वार्थसिद्धि विमान को प्राप्त करने वाला होगा कृष्णके उत्कृष्ट अंशसे तो वह आत्मा सातवे नरक के इन्द्रक बिल अप्रतिष्ठान नरक में जानेवाला हो जाता है। शुक्लके मध्यम अंशको आदि लेकर कृष्णके मध्यम अंशोतक की परवशतासे यह जीव नाना गितयों को जाने वाला समझ लेना चाहिये।

ययागमं प्रपंचेन विद्यानंदमहोदया -।
त्रवाभित्वेन तथा साध्या लेक्या साधनतोपि च ॥ २९॥
संख्यातः क्षेत्रतश्चापि स्पर्शनात्कालतोत्तरात्।
भावाचाल्पबहुत्वाच पूर्वसूत्रोक्तनीतितः॥ ३०॥

किस लेश्यासे मरकर किस गति को प्राप्त होता है। इस सिद्धान्त को विस्तार करके समझना होय तो सदागम अनुसार समझलेना चाहिये अथवा सिद्धान्तमर्यादा का उल्लंघन नहीं कर रचे गये हमारे "विद्यानन्द महोदय" नामक ग्रन्थ से निश्चय कर छेना चर्शहये। जिस प्रकार निर्देश, वर्ण, आदि सात अधिकारों करके लेह्यायें साध थी गयी हैं, उसी प्रकार स्वामिपने करके और साधनसे भी छहों लेह्याओं का विचार कर लेना चाहिये। एवं संख्या से, क्षेत्र से, स्पर्शन से, कालसे, अन्तरसे भावसे और अल्पबहु वसे भी लेह्याओं की सिद्धि करलेनी चाहिये। अर्थात् उमास्वामी महाराजके अति संक्षिप्त सूत्रोंमें अनन्त प्रमेय भरा हुता है। जो कि उप-रिष्ठात् टीका या ब्याख्यानों से समझ लिया जाता है। उसी पूर्व सूत्रोंमें कही जाचुकी नीतिके अनुसार इस सूत्र में भी अधिक प्रमेय तत्ववेताओं करके समझ लेने योग्य है। अववा सर्वंश्वधारा-प्राप्त पूर्वऋषियोंके सूत्रोंमें कही जा चुकी स्याद्वाद सिद्धान्त नीतिसे स्वामित्व आदिकों करके यथा-मनाय लेह्याओं के अधिकार समझ लिये जाय। ग्रन्थकारने यहां परम सूक्ष्म अतीन्द्रिय विषयों में आगमपरिपाटीका अनुसरण करने के लिये तत्ववेताओं को उद्युक्त किया है। राजवात्तिक गोम्मटसार ग्रन्थोंमें भी उक्त सोलह अधिकारोंका विशेष निरूपण किया है।

वैमानिक देवों में लेश्या का वर्णन कर अब भगवान् सूत्रकार कल्पोंका परिज्ञान कराने के लिये अग्रिम सूत्र को कहते हैं।

प्राग्येवेयकेभ्यः कल्पाः ॥ २३ ॥

सीधमं से आदि लेकर नवग्रैवयकोंने पहिले जो वैमानिक हैं, वे सब कल्प हैं, अर्थात् सीधमं से लेकर अच्युतस्वर्ग पर्यन्त स्थान या उनमें रहने बाले देव कल्प कहे जाते हैं।

सौधर्माविष्रहणमनुवर्तते, तेनायमर्थः-सौधर्मावयः प्राग्प्रैवेयकेभ्यः कल्पा इति । सौधर्मा-विसूत्रानंतरिमदं सूत्रं वक्तव्यमिति चेन्न, स्थितिप्रभावाविसूत्रत्रयस्य व्यवधानप्रसंगात्। सित व्यव-धानेऽनेन विधीयमानोर्थः कल्पेव्वेव स्यावनंतरत्वात् ।

परली ओर की अभिविधि (अवधि) तो कह दी गयी। किन्तु उरली ओर की मर्यादा नहीं कहो, इसके लिये सौधमं आदि का जो तीन सूत्र पहिले ग्रहण किया है, उसकी अनुवृत्ति करली जाती है। तिससे इस सूत्रका यह अयं लब्ब होजाता है कि सौधमंको जादि लेकर और भैवेयकोंसे पहिले विमान स्थान या वैमानिक देव कल्प हैं। यदि यहां कोई यों आक्षेप करे कि "सौधमेंशान" इत्यदि सूत्र के अध्यवहित उत्तर काल में ही यह सूत्र भी उमास्वामी महाराजको कहना चाहिवे था। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि सौधमंके अनन्तर ही कल्पोंका विधान किया जाता त स्थितिप्रभावसुख तुलिक प्रवाविशुद्धीन्द्रियावधिविषयती अधिकाः गति चरी-रपि एहाभिमानतो हीनाः पीतपच शुक्ल लेक्या दि त्रिशेषेषु" इस प्रकार के तीनों सूत्रों का "प्राग्येवे-यकेम्यः कल्पाः" इस सूत्रसे व्यवधान होनेका प्रसंग होजाता। अर्थात् "प्राग्येवेयकेम्यः कल्पाः" इस सूत्रसे व्यवधान होनेका प्रसंग होजाता। अर्थात् "प्राग्येवेयकेम्यः कल्पाः" इस सूत्रसे व्यवधान होनेका प्रसंग होजाता। वर्षां व्यवधान होजाने पर इन तीन सूत्रसे की विधान किया जारहा अर्थ कल्पवासी देवों दी प्राप्त होता। क्योंक ये बारह कल्प ही

अव्यवहित पूर्व मं उपात्त होरहे हैं। "व्यवहिताव्यवहितयो रव्यविहतस्यैव ग्रहणं" इस परिभाषा अनुसार कल्पोंमें ही स्थित आदिकसे अधिकता और गति आदिकसे हीनता तथा दो तीन शंषोंमें पीतपद्मशुक्छ छेश्याका विधान होसकेगा। सौधमंको आदि छेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त सम्पूर्ण वैमानिकों में उक्त ती स्त्रोंका अर्थ छागू नहीं हो सकेगा। इस कारण यहां इस सूत्र के कह देने से सब बखेडा मिट जाता है।

के पुनः कल्पातीता इत्याह ।

सूत्रकारने कल्पों का तो कण्ठोक्त निरूपण कर दिया है। किन्तु कल्पातीत देवों की प्रतिपत्ति कराने के लिये सूत्र नहीं रचा है। अतः यह बताओं कि फिर वे कल्पातीत देव कौनसे हैं? इस प्रकार जिज्ञासा होने पर ग्रन्थकार वार्तिकको कहते हैं।

क्ल्पाः प्रागेव ते बोध्या प्रवेयकविमानतः । तदादयस्तु सामर्थ्यात् कल्पातीताः प्रतीतितः ॥ १ ॥

इस सूत्र का अर्थ यह है कि ग्रैनेयक विमानसे पहिले ही वे कल्प रच रहे समझ लेने चाहिये। हां, बिना कहे ही शब्दसामर्थ्य से यह प्रतीत होजाता है कि उन ग्रैनेयकों को आदि लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त स्थान तो कल्पातीत हैं।

ननु च परिशेषाद्पैवेयकादीनां कल्पातीतत्वसिद्धौ मवनवास्यादीनां कल्पातीतत्वप्रसंग इति चेन्न, उपर्युवरीत्यनुवर्तनात् ।

यहां कोई प्रतिवादी आशंका उठाता है कि परिशेषन्यायसे यदि प्रैतेयक आदिकों के कल्पातीतपन की सिद्धि की जायगी, तब तो भवनवासी आदिकों को भी कल्भातीतपने का प्रसंग आता है। सो रह स्वगं या बारह कल्पोंसे शेष बच रहे देव तो अहमिन्द्रों के समान भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क,देव भी हैं। आचार्य कहते हैं कि यह तो नही कहना। क्योंकि 'उपर्युपरि' इस पदकी अनुवृत्ति होरही है। अर्थान् ऊपर ऊपर वैमानिक देवोंके लिये उक्त पांच सूत्रोंका सम्बन्ध किया जाता है। नीचे के भवनवाती आदिकों का ग्रहण नहीं है। इस कारण अहमिन्द्र देव ही कल्पातीत हैं।

सूत्रकार के प्रति किसी का प्रश्न उठ सकता है कि तब तो लौकान्तिक देव वैमानिक देव होरहे सन्ते भला किन कल्पोपन्न या कल्पातीत देवों में ग्रहण किये जायेंगे ? इस प्रकार प्रश्नके उत्तर में सूत्रकार अग्निम सूत्र को कहते हैं

ब्रह्मलोकालया लोकांतिकाः॥ २४॥

पांचवे स्वर्गं ब्रम्हलोक में निवास स्थान कर रहे छौकान्तिक देव हैं अर्थात् पांचवे स्वर्गं में निवस रहे छौकान्तिक देव कल्पोपहुन्न हैं। प्रयास्मित्लीयत इत्यालयो निवासः । बहालोक आसयो येवां ते बहालोकालयाः। सर्व-बहालोकवेवानां लौकांतिकत्वप्रसंग इति बेस्न, लोकांतोपक्ष्लेवात्। बहालोकस्यांतो हि लोकांतः लोकांते मवा लौकांतिका इति न सर्वत्र बहाले कवेवास्तया। अववा लोकः संसारः बन्मजरामृत्युसं-कीणः तस्यांतो लोकांतः तत्प्रयोजना लौकांतिकाः । ते हि परीतसंसाराः ततक्ष्युत्वा एकं गर्भवास-मवाप्य परिनिवाति ।

चारों ओर या छहों ओरसे प्राप्त होकर इस स्थानमें जीव या पूद्गल लीत होजाया करते हैं। इस यथार्थ निरुक्ति द्वारा आलयका अर्थ निवास स्थान है। बाहरसे बाता जाता हुआ मनुष्य स्पष्ट दीखता रहता है। किन्तू घरमें घसकर न जाने कहां झट लीन होजाता है। बाहरसे देखनेवाले केवल ताकते ही रह जाते हैं। जिन देवोंका निवास स्थान ब्रह्मलोक है, वे ब्रह्मलोकास्रय देव कहे जाते हैं। यहां कोई प्रश्न करता है कि तब तो पांचवें स्वर्ग अम्हलोकमें रहने वाले सभी देवोंको लौकान्तिकपनेका प्रसंग अन्ता है। जगत् श्रेणीके नीमे वर्गमूलका उसी श्रेणिमें भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसकी आधी संख्या प्रमाण असंख्यातासंख्यात ब्रम्हलोकवासी सभी देव तो लौकान्तिक नहीं माने गये हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। वयोंकि लौकान्तिक शदमें लोकान्त इस प्रकृतिका संसर्ग होरहा है। चुंकि ब्रम्हलोकका जो अन्तिम स्थान है,वह लोकांत है लोकान्तमें होनेवाले देव लौकान्तिक हैं। इस कारण ब्रम्हलोकमें सर्वत्र निवास कर रहे बन्य वसंख्याते देव तिस प्रकार लौकान्तिक नहीं हैं। किन्तू चार लःखसे कुछ अधिक ही देव लौका-न्तिक हैं। अथवा दूसरी निरुक्ति यों की जा सकती है कि लोकका अर्थ यह जन्म, जरा. मृत्यु ओंसे संकीर्ण होरहा संसार है। उस संसारका जो अन्त है, वह लोकान्त है। जिन देवोंका लक्ष्यभूत प्रयोजन वह लोक का अन्त करना है, ऐसे देव लीकान्तिक हैं। वे लीकान्तिक देव नियमसे संसारसे निकान्त हये समझने चाहिये। कारण कि उस अपने स्थान बम्हलोकसे चय कर कर्मभूमिमे एक मनुष्य जन्मरूप गर्भवासको प्राप्त कर समन्तात शभ होरही मोक्षको प्राप्त कर लेते हैं।

कि पुनरनेन सूत्रेण कियत इत्याह।

कोई प्रश्न करता है कि इस सूत्र करके फिर सूत्रकारने क्या लक्ष्य सिद्ध किया ? ऐसी जिज्ञासा होने पर श्री. विद्यानन्द आचार्य उत्तर वार्त्तिकको कहते हैं।

तत्र लोकांतिका देवा महालोकालया इति । सूचनात् कल्पवासित्वं तेषां नियतमुच्यते ॥ १ ॥

उन वैमानिक देवोंके प्रतिपादक सूत्रमें थी. उमास्वामी महाराजने बहालोक में निवास रूरने वाले देव लीकान्तिक हैं। यों इस सूत्र द्वारा की गयी सूचनासे उन लीकान्तिक देवों का कल्यवासीयन नियत होरहा कह दिया है। स्त्रीकांतिकानां कल्पोपपन्नकल्पातीतेम्योन्यत्वं माभूबिति तेषां कल्पवासिनियनोऽनेन क्रियते न ततो देवानां चतुःणिकायत्वनियमो विकथ्यते ।

लोकान्तिक देवों को कल्पीपपन्न और कल्पातीत देवोंसे भिन्नपना नहीं होबे इस कारण उन लोकान्तिकोंके कल्पवासीपने का नियम इस सूत्र करके किया गया है। तिस कारण देवों की चार निकाय होनेका नियम विरुद्ध नहीं पड़ना है। अर्थान् लोकान्तिक देव चार निकायसे बाहिर नहीं हैं। किन्तु वैमानिक देवोंके कल्पोपपन्न भेदमें गिभत होजाते हैं।

तिद्वशेष प्रतिपादनार्यमाह।

अब प्रन्यकार अग्रिमसूत्रका अवतरण हेतु यों कहते हैं कि सामान्य करके उपदिष्ट किये गये उन लौकान्तिकोंके विशेष भेदोंकी शिष्योंको प्रतिपत्ति करानेके लिये सूकार अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

सारस्वतादित्यवन्ह्यरुणगर्दतोयतुषिताव्याबाधारिष्टाश्च॥

१ सारस्वत २ आदित्य ३ वन्हि ४ अरुण ५ गरंतीय ६ तुषित ७ अञ्याबाध ८ अरिष्ट ये आठ लौकान्तिक देवों के गण हैं। समुख्य अर्थ वाचक च शब्द करके अग्न्याभ, सूर्याभ, आदिक सोलहगण अन्य भी समझ लेने चाहिये।

क्व इमे सारस्वतावयः पूर्वोत्तरादि विश्व ययाक्रमं। तद्यया अरुणसमुद्रप्रमवी मूले संख्ये-ययोजनिवस्तारस्तमसः स्कंधः समुद्रवद्वलयाकृतिरिततीव्राधकारपरिणामः स अर्ध्व कमवृथ्द्या गच्छन् मध्येंऽते वा संख्येययोजनबाहुल्यः अरिष्टविमानस्याधोमागे समेतः कुक्कुटकुटीवववस्थितः। तस्यो-परि तमें राजयोष्टावृत्पत्यारिष्टेंद्वकविमानसमप्रणिधयः। तत्र चतमृष्विपि विक्षु द्वन्द्वं गतास्तियंगालो-कातात् तवंतरेषु पूर्वोत्तरकोणाविषु सारस्वतावयो यथाकमं वेदितच्याः।

ये सारस्वत आदिक लौकान्तिकोंके देवगण भला कहां स्थित होरहे हैं? इसके उत्तर में आचायं कहते हैं कि पूर्व और उत्तर दिशाके मध्य कोण होरहे ईशान आदि दिशाओं में अर्थात् ईशान विदिशामें सारस्वत देवोंके विमान हैं। पूर्व दिशामें आदित्य का विमान है। पूर्व दिशामें आदित्य का विमान है। पूर्व दिशामें आपनेय विदिशा में विन्हजातीय लौकान्तिकों के विमान हैं। दक्षिण दिशा में अरुण का विमान हैं। दक्षिण पश्चिम कोण यानी नैऋत्य विदिशामें गदंतीयोंके विमान हैं। पश्चिम उत्तर कोण यानी वायव्य विदिशामें अन्यावाधों के विमान हैं। उत्तर दिशामें अरिष्ट जातीय लौकान्तिकों के विमान हैं। उसी को स्पष्ट रूपसे इस प्रकार समझना चाहिये कि नौमे अरुण समुद्रसे उत्त्य हुआ और मूल मे संख्यात योजन विस्तार वाला अन्धकारका स्कृध अपर की और उठ रहा है। औं कि समुद्रके समान होरहा कंकणको आकृति को धार रहा है। अत्यन्त तीव अन्धकार परिणाम स्वरूप है। अर्थात् चौमासे में वर्षायुक्त होरही असावस्या की राविक निविक्त बन्धकार से भी अद्यक्तिक गाव

अन्बकार का पिण्ड उभर रहा है। वह अपर की और ऋमऋमसे वृद्धि करके बढता जा रहा मध्य में और अन्त में संख्यात योजन मोटा होजाता है। पुनः शिखर के समान घट कर ब्रह्म स्वर्ग सम्बन्धी पहिले पटलके मध्यवर्ती अरिष्ट विमान के नीचे भागमें एकत्रित होता हुआ मुर्गेकी कुटी (कुडला)के समान अन्धकार स्थित होगया है। भावार्थ-मसजिदों की शिखर या भूसभरने की बुरजी जैसे नीचे गोल होकर ऋमसे ऊपर को फैलकर बढती हुई पुनः शिखाऊ ऊपर जाकर घट जाती है। उसी प्रकार इस अन्धकारस्कन्ध की रचना समझना। धूम या काजल के समान अन्धकार भी पुद्गल की काले रंगवाली पर्याय विशेष है। कतिपय अन्धकार तो प्रकाशक पदार्थीसे नष्ट होजाते हैं। किन्तु पुद्गल की सुमेरु, सूर्य, कुलाचलों आदिके समान यह अन्धकारका पिण्ड स्वरूप अनदि अनिधन पर्याय है। उष्ण पदार्थ शीतस्पर्शका नाशक है। परन्तु शीतद्रव्य भी उष्णता को समूल नष्ट कर सकता है। इस अन्धकार परिणति पर सूर्य या अन्य विमान आदि के प्रकाशोंका प्रभाव नहीं पडता है। वैशेषिकों के यहां अन्धकार जैसे कोई भाव पदार्थ नहीं होकर तेजका अभाव पदार्थ तुच्छ माना गया है। वैसा जैन सिद्धांत नहीं है। घुली पटल, काजल, धुमरेखा, बाप्प आदिके समान अन्धकार भी पूद्गल की विशेष परिणति है। मसालके ऊपर निकल रहे काले धूंयें की जैसे मसाल की ज्योति नष्ट नहीं कर देती है, अथवा आंधीं के आने पर लाल पीले रेत को सूर्यंत्रभा कोई नष्ट नहीं कर देती है, प्रत्युत प्रकाशक पदार्थ उन काले पीले, धीले पदार्थोंको उन्हीं के ठीक रंग अनुसार प्रकाशित कर देते हैं। उसी प्रकार काली ह्याही को घूलके समान फैल रहे इस गाढ अन्धकार को प्रकाशक पदार्थ नष्ट नहीं कर पाते हैं। भले ही उसके ठीक रूप अनुकूल उसको जतादें। काले रंग की भीत या कपडे पर जो प्रका-शक पदार्थ का प्रभाव है, वही दशा यहां समझना । अरुण समुद्रके सूर्य या चन्द्रमा इस अन्ध-कारका बालाग्र भी खण्डन नहीं कर सकते है। पुनः उन एकत्रित हुये अन्धकार के ऊपर अरिष्ट नामक इन्द्रक विमान के निकटवित्तनी होती संती अन्धकार की आठ पंक्तियां उठ कर झुकतीं हुई फैल रहीं हैं। वहां चारों भी दिशाओं में दो दो होकर इन्द्र को प्राप्त हुई तिरछी लोक पर्यन्ततक चलीं गयी हैं। उन अन्धकार पंकिश्योंके अन्तरालमें पूर्वोत्तर दिशाके कोने ईशान आदि विदिशा या दिशाओं में सारस्वत आदिक विमान या देवगण यथाक्र तसे व्यवस्थित होरहे समझलेने चाहिये।

च शह तमृज्ञिताः सारस्वतावतरालवितनः परेऽज्न्यामसूर्यामादयो हृद्ववृत्त्या स्थिताः प्रत्येतव्याः, तद्ययाः सारस्वतावित्ययोरतरालेऽज्न्यामसूर्यामाः, आदित्यवन्हचोश्चद्रामसत्यामाः, वन्द्वादणयोः श्रेयस्करक्षेमकराः, अदणगर्वतीययोर्वृषमेष्टकामचाराः, गर्वतोयनुषितयोनिर्माणरको विगंतरक्षिताः, तुषिताव्याबाधयोरात्मरक्षितसर्वरक्षिताः, अव्याबाधारिष्टयोर्मेष्टस्यः, अरिष्टसारह्वतयोरद्ववित्वाः, । तान्येतानि विमानानां नामानि तिभवासिनां च देवानां तृत्वाह्यर्यात्।

सूत्र में पड़े हुये समुच्चय अवंदाचक च शह्यकरके दूसर दूसरे अन्याभ सूर्याभ, आदिक देव गणों का समुच्चय कर लिया जाता है। सारस्वत आदिकों के आठ अन्तरालों में वर्त रहे अग्न्याभ, सूर्याभ आदिक देवगण दो दोकी इन्द्ववृत्तिसे स्थित होरहे विश्वास कर लेने योग्य हैं। उसी बात को स्पष्ट रूपसे इस प्रकार जानलों कि सारस्वत और आदित्य के अन्तरालमें दो अग्न्याभ और सूर्याभजाति के कई विमान विरिचित हैं। तथा आदित्य और विन्ह के मध्यमें चन्द्राभ और सत्याभ देवगण हैं। बन्हि और अरुणोंके अन्तराल में श्रेयस्कर और क्षेमंकर इन दो जातिके लौकान्तिक भेद वस रहे हैं। अरुण और गर्दतीय के अन्तराल में वृष्येष्ट और कामचार इन दो मण्डलियोंका निवास है। गर्दतीय और तुषित के बोचमें निर्माणरणः और दिगग्नित्रित देवगणों के स्थान हैं। तुषित और अव्यावाधके बीच में आत्मरक्षित और सर्व-रक्षित देवगणों के स्थान हैं। तुषित और सव्यावाध और अर्थष्टिक अन्तर स्थान में मरुत् और वसु निवास कर रहे हैं। अरिष्ट और सारस्वत के अन्तराल में अश्व और विश्व जातिके देवगण बस रहे हैं। वे सारस्वत, अन्याभ आदिक ये सब विमानोंके नाम हैं, उन विमानोंका सहचरणा होनेसे उनमें निवास करने वाले देवों के भी प्रवाहमुद्रया सारस्वत आदिक नाम कहे जाते हैं।

तत्र सारस्वताः सप्तशतसंख्याः, वावित्याश्च सप्तशतगणनाः, बन्हयः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि, अवणाश्च तावंत एव, गर्वतोया नवसहस्राणि नवोत्तराणि, वुविताश्च तावंत एव. मन्यावाद्या एकावशसहस्राण्येकावशानि,अरिष्टा अपि तावंत एव। च शद्धसमुण्यिकानां संख्योच्यते अन्यायाद्ये एकावश्चेकावशानि,अरिष्टा अपि तावंत एव। च शद्धसमुण्यिकानां संख्योच्यते अन्यापे वेवाः सप्तसहस्राणि सप्ताधिकानि, सूर्याभे नवनवोत्तराणि, अनेकरे सप्तवश सप्तवशोत्तराणि, अयस्करे पंचवशपंचवशोत्तराणि, क्षेमंकरे सप्तवश सप्तवशोत्तराणि वृवभेष्टे एकोनिवशत्येकोनिवशत्यधिकािः, कामचारे एकविशत्येकविशत्यधिकािन, निर्वाण्यक्षिते प्रवाचशिकातित्रयोविशत्यधिकािन, वात्मरिक्षते पंचविशतिपंचविशत्यधिकािन, आत्मरिक्षते सप्तविशतिसप्तविशत्यधिकािन, सर्वरक्षिते एकार्आवश्चिकान्नि, अवति एकित्रशविकािक सप्तविशतिसप्तविशतिसप्तविशतिस्वर्थिकािन, सर्वरक्षिते एकार्आवश्चिकान्नि, अववे पंचविशत्यविश्वशिकािन विश्वे सप्तविशतस्यिकािन । त एते चतुविशतिर्कोकािनकाणाः समुविताः चरवारिशतसहस्राणि अष्टसप्तितिश्च शतािन चक्तरािच।

अव लौकान्तिक देवों की संख्याको गिनाते हैं। उन चौनीस गणों में सारस्वत देवों की संख्य सात सी है। और आदित्यों की गणना भी सात सौ ही समझनी चाहिये। वन्हिगण के देवों के संख्या सात अधिक सात हजार है। बरुण जाति के देव भी उतने ही यानी सात हजार सात हैं गर्दतीय विमानों में रहनेवाले देव नौ ऊपर नौ हजार हैं। तथा तुषित भी उतने ही यानी न हजार मी हैं। अव्यावाध देवगण में ग्यारह हजार ग्यारह देवगण हैं। बरिष्ट भी उतने ही यान म्यारह हवार हैं। च यह से समुख्य कर किये वसे बस्त्याभ सादि देवों की संख्या अब कह जाती है। अग्न्याभमें देव सात अधिक सात हजार हैं। सूर्याभिवमानमें नौ अधिक नौ हजार हैं। चन्द्राभ में ग्यारह अधिक ग्यारह हजार हैं। सत्याभ में तेरह हजार तेरह देव बसते हैं। श्रेयस्कर में पंद्रह ऊपर पन्द्रह हजार देव निवसते हैं। क्षेमंकर में सत्रह अधिक सत्रह हजार देव निवास करते हैं । वृषभेप्टमें उनईस हजार उनईस अधिक देव वस रहे हैं । कामचारमें इकईस हजार इक ईस अधिक देव ठहरे हुये हैं। निर्माणरजाः में तेईस हजार तेईस अधिक अमर विराजते हैं। दिगन्तरक्षित में पच्चीस हजार पच्चीस सूर निवसते है। आत्मरक्षित में सत्ताईस अधिक सत्ता-ईस हजार देव 'स्थत हैं। सर्वरक्षितमें उन्तीस सहस्र उन्तीस देवों का निवास है। मरूत्में इकतीस हजार इक्तीस अधिक देव शोभते हैं। बसुमें तेतीस हजार अधिक तेतीस देव वस रहे हैं। अरव में पेंतीस अधिक पेंतीस हजार देव राजते हैं। विश्व में सैतीस अधिक सैतींस हजार देव निवास करते हैं। वे सब इन संख्याओं को घार रहे ये चौबीस लौकान्तिकोंके गण एकत्रित कर दिये जांय तो सम्पूर्ण लौकान्तिक देवो की संख्या चारलाख सात हजार आठसी ऊपर छह होजाती है। तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकारों के मन्तव्य अनुसार उक्त संख्या ही ठीक है। हां, त्रिलोक-सार की "सारस्मद आइच्चा सत्तसया सगजुदाय वण्हरुणा । सगसगसहस्समुर्वीर दुसु दुसु दो दुग सहस्स विडिट कमा" इस गायाके अनुसार सारस्वत और आदित्यों की सातसी सात संख्या मानकर पुनः वृद्धि होजानेसे चार लाख सात हजार आठसी वीस यह लौकान्तिक देवों की संख्या चोखी जवती है।

सर्वे स्वतंत्राः हीनाधिकत्वामावात् । विषयरतिविरहाद्देवर्षयः ततः एवेतरेषां देवानाम-र्चनीयाः चतुर्वशपूर्वेषराः सततं क्षानमःवनावहितमनसः नित्य संसारादुद्धिग्नाः अनित्याशरणाद्य-नुप्रेक्षावहितवेतसः तीर्थंकरनिःक्रमणप्रबोधनपराः नामकर्मविशेषोदयादुपजायंते ।

ये सभो लौकान्तिक देव अहमिन्द्रोंके समान स्वतंत्र हैं। किसी इन्द्र, प्रतीन्द्र आदिका इन पर कोई कुत्सित अधिकार नहीं चलता है। परस्परमें भी होनपना या अधिकपना नहीं होनेसे कोई किसीके परधीान नहीं है। इन्द्रियसम्बन्धी विषयों में रागभावका विरह होजानेसे देवों में ऋषितुल्य होरहे ये देविष कहे जाते हैं। तिस ही कारणसे अन्य देवोंके पूजनीय हैं। चौदह पूर्वको धार रहे ये द्वादशागवेत्ता हैं। इनका चित्त सबंदा ज्ञानाभ्यास की भावना करते हुथे उसीमें एकाम लगा रहता है। नित्य ही संसारसे उद्देगको प्राप्त होरहे वैराग्यतत्पर रहते हैं। अनित्य, अश्वरण, संसार आदि बारह अनुप्रेक्षाओं के भावने में इनको चित्तवृत्ति हकी रहती है। तीर्थकर भगवान्के तपःकल्याणके अवसरपर नियोग साधते हुथे भगवान् को तत्वप्रवीध कराने के लिये तत्पर रहते हैं। निष्कमणके सिवाय अन्य किन्ही भी कल्याणोंमें या नन्दीश्वर-

द्वीप अथवा अन्य अकृतिम चैत्यालयों की वन्दना आदिमें इनको जाने आने की उत्सुकता नहीं है देवगित नाम कर्मके भेद प्रभेद होरहे लौकान्तिक देव नामक प्रकृति विशेषके उदयसे उक्त ढंग के ये देव उपज जाते हैं। नामकर्म की उत्तरोत्तर प्रकृतियां असंख्याती हैं। यह जीव पहिने शुभ, अशुभ, कर्मोंके अनुसार विभिन्न पर्यायों में उपज जाता है। पश्चात् स्वकीय पुरुषार्थ द्वार विलक्षण कार्योंको साधलेता है। सिद्धान्त ग्रन्थों में संसारी जीवों की अवस्थाओं का कर्मजिति और पुरुषार्थंजनित न्यारा न्यारा स्वरूप दरसादिया गया है।

तेन्वर्थसंज्ञतां प्राप्ता भेदाः सारस्वतादयः । तेनैकचरमास्तद्वच्छकःचाश्चोपलक्षिताः ॥ १ ॥

लौकान्तिक देवगणोंके वे सारस्वत आदिक भेद अन्वर्थसंज्ञापनेको प्राप्त हो रहे हैं तिस कारण ये लौकान्तिक देव एकचरम है। यानी एक मनुष्य भव लेकर चरमशरीर अवस्थ से निर्वाण प्राप्त कर लेंगे। अतः शद्वमेंसे निकले हुये अर्थके अनुसार इसका नाम यथार्थ है उमास्वामी महाराजने इन दो न्यारे सूत्रों करके एक भवतारी लौकान्तिक देवोंका स्वतंत्र निष्ट पण किया है। यह उपलक्षण है। जैसे "काकेभ्यो दिख रक्ष्यताम्" यहां काक पद दहीके उप भातकों का उपलक्षण है। छह दक्षिण दिशाके इन्द्र, सौधर्म इन्द्रको इन्द्राणी, सौधर्म स्वर्गव लोकपाल, सर्वार्थसिद्धिके देव ये भी एक भवतारी हैं। अतः उन लौकान्तिकों के समान इस सूर द्वारा सौधर्म इन्द्र आदि सभी एक भवतारी जीवों का उपलक्षण कर दिया गया। समझ लेना

येथैकचरमा लौकांतिकाः सर्वेन्वर्थसंज्ञां प्राप्ताः सुत्रिताः तथा शकावयश्च तेषामुपल क्षणत्वात् ।

जिस प्रकार कि एक चरम होरहे सभी लौकिन्तिक देव परले जन्म में संमार का अन्करने वाले होते हुये सत्य अर्थके अनुकूल होरहीं संज्ञाको प्राप्त होरहे सूत्र द्वारा उमास्वामं महाराजने कह दिये हैं, उसी प्रकार सौधमं इन्द्र आदिक भी एक चरम शरीर को प्राप्त का दूसरे जन्म में संसार का अन्त कर देने वाले सूचित कर दिये गये हैं। क्योंकि उन सारस्वर आदिकों का एक भगनारी जीवों में उपलक्षणपना है। अतः 'शाम्हणवशिष्ट' न्याय से इन एव भवतारी जीवोंका न्यारे सूत्रों द्वारा निरूपण करना समुचित है।

क्व पुनद्विषरमा इत्याह।

जब कि ये लौकान्तिक या शक बादिक एक चरम हैं, तो किर महाराज यह बताओं कि दिचरम यानी दो भवतारी जीव कौनसे हैं? ऐसी जिज्ञासा होनेपर श्री उमास्वामी महा राज अग्निमसूत्रको कहते हैं।

विजयादिषु द्विचरमाः ॥ २६ ॥

विजय आदि विमानों में दो चरम वाले देव निवास करते हैं। अर्थात् विजय, वैज-यन्न, अपराजित और नौ अनुदिश विमानोंके देव अधिकपनेसे अन्तिम दो मनुष्य भवोंको प्राप्त कर मोक्षको चले जाते हैं। यहां विजय और आदि शहके साथ बहुबीहि समास तथा तत्पुष्प समास कर देनेसे वैजयन्त, अपराजित, और अनुदिशोंका इष्टग्रहण सिद्ध होजाता है। ये तेरह विमानोंके निवासी पत्यके असंख्यातवें भाग स्वरूप असंख्याते देव आयुष्य पूर्ण होते सन्ते सम्य-क्त्वसे नहीं छूटते हुये मनुष्यों पं उपज कर पुनः संयमको आराधना करते हुये फिर विजयादिकों में उपज कर वहां से च्युत होते हुये यहां कर्म भूमिमें मनुष्य भवको प्राप्त कर सिद्ध होजाते हैं। यो दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा दिचरमपना होजाता है।।

आदिशद्वः प्रकारार्थः । कः प्रकारः ? सम्यग्दृष्टित्वे निर्प्रथत्वे च सत्युपपादः । स च विजय स्येव वं जयंतजयन्तापराजितानामनुदिशानामप्यस्तीति तत्रादिशद्वेन गृह्यंते । सर्वार्थद्वस्य प्रहण प्रसंग इति चेन्न,तस्यान्वर्थसंज्ञाकरणात् पृथगुपादानाच्च लौकान्तिकवदेकचरमस्वसिद्धेः ।

यहां सूत्रमें पडे हुये आदि शद्धका अर्थ प्रकार है। वह प्रकार क्या है ? इसका उत्तर यह है कि सम्य ग्दृष्टि होते हुये और निर्यन्थपना होते हुये जो देवोंमें उपपाद जन्म लेना है। हां, वह सम्यग्दृष्टि और निर्ग्रन्थ मनुष्यों का उपपाद विजय के समान वैजयन्त, जयन्त अपराजित, और अनुदिश विमानवासियों के भी विद्यमान है। इस कारण वहां आदि शद्ध करके वारह विमानोंका ग्रहण कर लिया जाता है। अर्थात् सम्यग्दृष्टि हो रहे महाव्रती का ही मरकर जहां जन्म लेने का नियम है, वे स्थान विजय आदिक कहे जाते हैं। जन्मके आदिमें सम्याद्धि होते हये अहमिन्द्र-पनका अकलंक नियम भी इससे प्रतिकूल न हीं पडता है। यदि यहां कोई यों कहे कि सम्यग्दृष्टि महात्रती पुरुषोंका ही उपपाद जन्म होना तो सर्वार्थसिद्धि विमानोंमें भी है। अत: आदि पदसे यहां मानुषियोसे तिगुने या उत्कृष्टतया सात गुने सर्वार्थिसिद्ध वाले सख्यात देवोंके ग्रहण होजानेका प्रसंग होगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि उस सर्वार्थसिद्धि की ठीक ठीक वाचक शद्धके अन्सार अर्थ घटित होजानेवाली सजा की गयी हैं। भावार्थ-सम्पूर्ण अर्थों की सिद्धि प्राप्त करनेवाले ये देव हैं। अगले भव में ही मोक्ष की सिद्धि करलेवेंगे। दूसरी बात यह है कि सौधर्मेशान आदि सूत्रमें 'सर्वार्थसिद्धि'' का पृथग् रूपसे उपादान किया गया है। अतः लीकान्तिक देवोंके समान एक चरमशरीरपना सिद्ध है। अतः सम्यग्दृष्टि महावती ही मनुष्योंके उपपाद स्थान होरहे विजय आदि तेरह विमानों में रहने वाले अहमिन्द्रोंके लिये चरितार्थ है।

कयं पुनिवजयादीनां द्विचरमत्वं ? मनुष्यप्रवापेक्षाया तथैव व्याख्याप्रतप्तिवंडकेऽ भिष्यानात् । देवभवापेक्षायामिप त्रिचरमत्वप्रसंगात् ।

विजयादिक अहमिन्द्रोंके द्विचरमपना किस प्रकार व्यवस्थित है ? इमका समाधान यह है कि दो मनुष्य भवोंकी अपेक्षा करते सन्ते द्विचरमपना । यानी विजयादिकसे च्युत हो कर मनुष्योमें उपज कर संयम लेते हुये, पुनः विजयादिकमें उपपाद कर पुनः मनुष्य जन्म लेकर सिद्ध हो जाते हैं। तिस ही प्रकार व्याख्याप्रज्ञान्तिदण्डक नामक महा अधिकारमें कहा गया है। यदि मध्यवर्ती देवभवकी अपेक्षा भी की जायगी तब तो त्रिचरमपनका प्रसंग होगा। दो मनुष्यभव और एक देवभव यों तीन भवतारी ये हो जायंगे। व्याख्याप्रज्ञन्तिदण्डकमें अन्तर प्रकरणके अनुसार आये हुये, विरोधका भी निवारण कर दिया है। अन्य कल्पमें उत्पत्ति हो जानेकी अपेक्षा नहीं रखकर किये गये, गौतम महाराजके प्रश्नपर भगवान्का उत्तर यह है, जो कि सूत्रमें कहा गया है।

मनुष्यभवस्य पुनरेकस्य मुख्यवरमत्वं येनैव निर्वाणप्राप्तेः । अपरस्य तु चरमप्रस्यासत्ते-वपचरितं चरमत्वं सजातीयस्य व्यवधायकस्याभावात् तस्य तत्प्रत्यासितिसिद्धेः । हौ चरमौ मनु-व्यमवौ येवां ते द्विचरमाः देवाः विजयाविषु प्रतिपत्तव्याः ।

यदि कोई यों कटाक्ष करे कि कितने ही थोड़े या बहुत पदार्थ क्यों न हों उनमें चरम एक ही हो सकता है। अनन्तानन्त पदार्थमें भी चरम एक ही होगा। किर यहां दो को चरमपना कैसे कहा? ग्रन्थकार इसका समाधान यों कर देते हैं कि भाई तुम्हारा कहना ठीक है। एक ही अन्तिम मनुष्य मनको मुख्य रूपसे चरमपना है, जिस ही करके निर्वाणकी प्राप्ति होती है। किंतु उसके निकटवर्ती दूपरे या तीसरे न्यारे भवको चरमपना तो चरमके निकटवर्ती होने के कारण उपचरित है। कोई दूसरा समान जातिवाला पदार्थ व्यवधान करनेवाला नहीं हैं। अतः उस दूसरे या तीसरे भवको उस मुख्यचरमकी निकटवर्तिता सिद्ध है। जिनके दो मनुष्य भव अन्तिम सेने शेष हैं, वे देव दिवस्म हो रहे विजय अदिक में निवास कर रहे समझ लेने चाहिये।

अयान्यत्र सौधर्माविषु कियम्बरमा देवा इत्यावेवियतुमाह ।

अब महाराज यह बताओ कि अन्य सौधर्म, आदिक विमानोंमें निवास कर रहे देव भला कितने चरम भवोंको ग्रहण कर निर्वाण प्राप्त करेंगे? इस प्रश्नके समाधानका प्रज्ञापन कर-नेके लिये ग्रन्थकार उत्तरवात्तिकको कहते हैं।

> तथा द्विचरमाः प्रोक्ता विजयादिषु यतोऽपराः । ततोन्यत्र नियामोस्ति न मनुष्यभवेष्विह ॥ १ ॥

जिस कारणसे कि विजय बादिकों में तिस प्रकार दो मनुष्य मवों की अपेक्षा दिचरम देव अच्छे कहे गये हैं, तिस कारण अन्य वैमानिकों में यहां मनुष्य भवें में निमम करानेवाला कोई नहीं है। अर्थात्-सौधर्म अदिके देव सौ भव या अनन्त भव लेकर मोक्ष जाग्रेंगे ऐसा कोई नियम नहीं है। ग्रैवेयकों तकमें उपजनेबाले अनन्तवार ग्रैवेयक या मन्ध्य भवोंमें संसरण करते रहते हैं। अनेक जीव तो मुक्तिको कथमपि प्राप्त नहीं कर सकेंगे। अतः लौकान्तिक आदिकोंका एक चरमपना और विजयादिकोंका दो चरमपना प्रसिद्ध है। क्षायिक सम्यग्दृष्टियोंका त्रिचरमपना यानी उत्कृष्टतया चौथे भवमें मोक्ष जाना निर्णीत है। तीर्थं कर प्रकृतिवाला जीव भी उत्कृष्ट तया द्विचरम है। तीसरे जन्ममें अवस्य मोक्ष पावेगा। अन्य जीवोंके लिये कोई मुक्ति प्राप्त करनेके जिये भवोंक। नियम नहीं बखाना गया है। भले प्रकार सल्लेखना करनेवाला जीव जन्मोंम मुक्तिको प्राप्त कर लेता है, ऐसा चरणानुयोगका सिद्धांत है। " जेमि होइ जहण्णा चउव्विहाराहणा दु भिवयाणं । सत्त्रप्रवे गंतुं ते विष पावन्ति णिव्वाणं " इनके अतिरिक्त मुक्ति प्राप्त करनेके लिये भवोंका नियम नहीं किया गया है। भले ही न्यारे न्यारे जन्मोंकी अपेक्षा यह जीव महाव्रतोंको अधिकसे अधिक बत्तीस वार धारण कर सकता है। एक भवमें अधिकसे अधिक दो बार लेता हुआ। उपशम श्रेणीको चार वार ले सकता है। किन्तु इसमें तो कुछ कम अर्द्ध पुर्गल परिवर्त्तन काल भी पूरा होकर अनन्ते जन्म हो सकते हैं। अनन्त कल्पकाल भी समाजाय। अतः यह कोई चरमभवोंको गणनाका नियम नहीं समझा जाता है।

यतो लौकांतिकानां सर्वार्षसिद्धस्य शक्तस्य च तदप्रमहिष्या लोकपालादीनामेकचरमत्व-मुक्तं तथा विजयादिदेवानां द्विचरमत्वं, ततोन्यत्र सौधर्मादिषु नियमो नास्तीति गम्यते।

जिस कारणसे कि लौकान्तिक देवों का और सर्वार्धसिद्धिवाले देवों का तथा सौधर्म इंद्रका एव उसकी अग्रमहिषी हो रहीं इन्द्राणीका तथैव लोकपाल आदिकों का एकचरमपना सिद्धांत ग्रन्थों में कहा गया है, तिस प्रकार विजय, आदिक देवों का द्विचरमपना निर्णीत है। उनके सिवाय सौधर्म आदिकों के अन्य देवों में कोई द्विचरमपन आदिका कोई नियम नहीं है। यो अर्थापत्या जान लिया जाता है। लोकपाल आदि यहां आदि । दक्षण दिशाके इन्द्रों का ग्रहण कर लेना, विलोकसारमें सोहम्मो वरदेवी सलोगपाला य दक्खिण मिद्रा । लोगितिय सञ्बद्धा त रो चुदा णिव्युद्धि जन्ति "यों कहा है।

इत्येकादशभिः सूत्रैवैमानिकनिरूपणं । युक्तयागमवशादात्तं तन्निकायवतुष्टयम् ॥ २ ॥

इस प्रकार 'वैमानिकाः ' इस सूत्रसे प्रारम्भ कर 'विजयादिषु द्विचरमाः ' यहांतक ग्यारह सूत्रों करके श्री उमास्वामी महाराजने वैमानिक देवोंका निक्ष्यण किया है। युक्ति और आगमके वशसे उन देवोंकी चारीं निकायोंको उक्त चौगे अध्याय द्वारा ग्रहण कर लिया जा चुका है। अर्थात्--यहांतक इस अध्यायके छव्वीस सूत्रोंमें चारों देविनकायोंका समीचीन युक्तियों और सर्वेज धारा प्राप्त आगमके अनुसार कथन किया जा चुका है।

> इति तत्त्वार्थश्लोकवास्तिकालंकारे चतुर्थाध्यायस्य प्रथममान्हिकम् । यहांतक तत्त्वार्थश्लोकवातिकालंकार नामक महाग्रंथमें चौथे अध्यायका पहिला आन्हिक (प्रकरण समूह) परिसमाप्त हुआ।

प्राग्जन्माजितकर्मनित्यगतिकज्योतिष्कनिष्नं क्षपा-घस्नाविष्यवहारकालमचलास्थैय्यंञ्च मुक्त्ये विवन् । सूर्येन्द्वोरुपरागिताग्रहकृतानेन्दुक्षितिच्छायया धर्म्यध्यानरतो भुवं समतलां पत्येवगोलां सुधीः ॥ १॥

अथ द्वितीयमान्धिकम्

जीवके औदयिक भावोमे तिर्यक् योनिकी गतिको औदयिक भावोंमें गिनाया है। फिर स्थितिके प्रकरणमें " तिर्यग्योनिजानां च " इस सूत्र द्वारा तिर्यचयोनिवाले जीवोंकी स्थितीको समझाया है। वहां हम यह नहीं समझे कि तिर्यग्योनि जीव कौनसे हैं? इस प्रकार सन्देह होनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्रिम सूत्रको समाधानार्थं प्रतिपादन करते है।

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषास्तिर्यग्योनयः॥ २७॥

औपपादिक अर्थात्-उपपाद जन्मवाले देव और नारकी जीव तथा मनुष्य इनसे शेष बच रहे सम्पूर्ण संसारी जीव तियंग्योनि यानी तियंच है। तीन गतिओं के जीव असं-स्यातासंख्यात है। किन्तु तियंच जीव अनन्तानन्त है।

औषपाविकाञ्च मनुष्याञ्चौपपादिकमनुष्या इत्यत्र द्वंद्वेभ्यहितत्वाबौपपादिकञ्चहस्य पूव-निपातः । मनुष्यञद्वस्याल्पाक्षरत्वेषि तस्मादुत्तरत्र प्रयोगः, अर्ध्यहितत्वस्याल्पाक्षरापवादत्वात् । तैभ्योन्ये शेषाः संसारिणः तिर्यग्योनयः प्रत्येयाः, तिर्यग्नामकर्भोदयसब्भावात् । त पुनः सिद्धाः संसारिप्रकरणे तदप्रसंगात् ।

औपपादिक और मनुष्य यों इतरेतर द्वन्द्व कर 'औपपादिकमनुष्याः ' यह पद बनाना चाहिये। इस पदमें द्वन्द्व समास करनेपर अभ्यहित (पूज्य) होनेसे 'अब्यबहितं पूर्वं ' इस सूत्र अनुसार बहुत अच्वाले भी औपपादिक शद्धका पूर्वमें निगत हो जाता है। मनुष्य शद्धका सस्य अक्षरवाला या अत्यल्प अच्वाला होनेपर भी उस औपपादिक से पीछे प्रयोग किया है। क्योंकि 'अल्पाच् तरं पूर्व ' इस सूत्रका अपवाद करनेवाला ' अध्यहितं च ' है। अतः अध्य-हितपना अल्पाक्षरपनेको बाध लेता है। औपपादिकों में देव आ जाते हैं। और देव स्थिति, प्रभाव, आदि करके पूज्य कहे जा चुके हैं। उन औपपादिक और मनुष्योंसे अति (क्त शेष संसारी जीव तिर्यंच समझ लेने चाहिये। क्योंकि उनके तिर्यंगिति नामक नाम कर्मका उदय विद्यमान रहता है। औपपादिक और मनुष्योंसे शेष रहे सिद्ध फिर नहीं ग्रहण किये जाते हैं। क्योंकि संसारी जीवोंके प्रकरणमें उन शुद्ध परमात्माओंका प्रसंग नहीं है। सिद्धोंमें गित कर्मका उदय नहीं पाया जाता है।

कस्मात्युनिह तेभिधीयंते ? तियंग्प्रकरणे तेषामिधानाहैत्वात् इत्यासंकमानं प्रत्याह । कोई शिष्य आशंका कर रहा है कि किस कारणसे फिर वे तियंच जीव यहां विना प्रकरण कहे जा रहे हैं। जब कि दूसरे अध्यायमें तियंचों के प्रकरणमें उन तियंग्योनि जीवोंका कथन करना योग्य प्रतीत होता है ? इस प्रकार आशंका कर रहे शिष्यके प्रति ग्रन्थकार समाधान वचनको कहते हैं।

> सर्वलोकाश्रयाः सिद्धास्तियंचोप्पर्थतोगिनः । सन्त्यौपपादिकेभ्यस्ते मनुष्येभ्योपि चापरे ॥ १ ॥ इति संक्षेपतस्तिर्यग्योनिजानां विनिश्चयः । कृतोत्र सूत्रकारेण लक्षणावासभेदतः ॥ २ ॥

आधारभूत संपूर्ण लोकके आश्रित हो रहे तिर्यंच प्राणी भी बास्तविक रूपसे प्रसिद्ध हो रहे हैं। तया वे औपरादिक जीवोंसे और मनुष्य जीवोंसे भी न्यारे भिन्न प्रकारके विद्यमान हैं। इस प्रकार सूत्रकार श्री उमास्वामी महाराजने इस सूत्रमें लक्षण और निवास स्थान की विद्येच पता अनुसार संक्षेपसे तिर्यंच जीवोंका विशेष निश्चय करा दिया है। भावार्थ—तिर्यंच जीव तीनों लोकोंमें भरे हुये हैं। तीनों लोकोंका निरूपण कर चुकनेपर तिर्यंचोंका प्रतिपादन करना सुगम है। अतः इस सूत्र द्वाग तिर्यंचोंके लक्षण और अर्थापत्या निवासस्थान रूत तीनों लोककी प्रतिपत्ति करा देना सूत्रकारको आवश्यक पड गया है।

अधोलोकं मध्यलोकमूर्ध्वलोकं चाभिष्ठाय यदत्र प्रकरणामावेषि तिर्थग्योनिजानां निक-पण सूत्रकारेण कृतं तलेषां सर्वलोकाश्रयत्वप्रतिपस्यर्थं च । तिर्थक्प्रकरणेस्य सूत्रस्याधिष्ठाने तर्यतिर्थग्मेदवचने सति सूत्रस्य गौरवप्रसंगात् । सर्वलोकाश्रयत्वं पुनरेषां परि तेषात् योष्यते । तीसरे अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका बर्णन कर तथा चतुर्य अध्यायमें छ्व्बीस सूत्रतक उद्ध्वं लोकका निरूपण कर, प्रकरण नहीं होनेपर भी सूत्रकारने जो यहां तिर्यंच जीवोंका प्रतिपादन किया है, वह तो उन तिर्यंचोंके सर्व लोकके आश्रितपनको प्रतिपत्ति करानेके लिये और संक्षेप करने के लिये हैं। यदि दूसरे अध्यायमें तिर्यंचोंके प्रकरणमें इस सूत्रका कथन किया जाता तो सम्पूर्ण तिर्यंचोंके भेदोंका वचन करते सन्ते सूत्रके गौरव दोष हो जानेका प्रसंग आता। दूसरे अध्यायमें तबतक नारकी, मनुष्य और देवोंका निरूपण भी नहीं किया गया था। वहां नारकी जीवों या मनुष्यों अथवा देवोंके प्रतिपादक सूत्र भर दिये जाते तो अर्थकृत और प्रमाणकृत भारी गौरव हो जाता। तीनों लोक और तीनों गितयों के जीवोंका वर्णन कर चुकनेपर यहां लघुतासे तिर्यंचोंका लक्षण और उनका निवास स्थान समझा दिया है। इन तिर्यंचोंके अधिकरणभूत संपूर्ण लोक में आश्रित रहनेकी तो किर परिशेष न्यायसे योजना कर ली जाती है। यानी तीन लोकका निरूपण कर चुकनेपर तिर्यंचोंका यहां कथन करना उनके सर्व लोक में व्याप कर ठहरनेको ध्वनित करता है।

तियंग्योनयो द्विविधाः सूक्ष्मा बादाराञ्च, सूक्ष्मबादरनामकर्मद्वैविष्यात् । तत्र सूक्ष्माः सर्वलोकवासिनः, बादरास्तु नियतःदाता इति नियतावासाभेदनिरूपणं तिर्यंग्योनिञ्जद्विन्तरया लक्षणितरूपणं तिरञ्चान्यग्नूनोपवाह्या योनियंशां ते तिर्यंग्योनय इति । मनुष्यादीनां केषांचित् परोपबाह्यत्वात् तिर्यंग्योनित्वप्रसंगादिति चेन्न, तिर्यंग्नामकर्मोदये सतीति वचनात् ।

तियंच जीव दो प्रकारके हैं। नाम कर्मकी सूक्ष्म प्रकृति और बादर प्रकृति इन दो प्रकारके कर्मों उदय अनुसार हुये सूक्ष्म और वादर ये दो प्रकारके तियंच हैं। उन दो भेदों में पृथिवी अप्, तेज, वायु, वनस्पतिकायिक सूक्ष्म तियंच संपूर्ण लोकमें निवास कर रहे है। और बादर हो रहे पृथिवी, तेज, अप्, वायु, बनस्पति, और विकलेन्द्रिय तथा पंचेन्द्रिय तियंच तो नियत हो रहे क्वचित् स्थानोंपर निवास करते है। इस प्रकार तियंचोंके नियत हो रहे निवासस्थान और भेदोंका निरूपण कर दिया गया है। तिर्यग्योनि इम शह की निरुक्त करके तिर्यंचोंके लक्षणका निरूपण कर दिया गाता है। यौिषक शहोंकी निरुक्ति कर देनेसे बाच्यार्थका लक्षण सम्पन्न हो जाता है। जिस प्रकार कि पाचक, पालक, पालक, शहोंके निर्वचनसे ही रसोइया आदिके इतर व्यावर्तक लक्षण हो जाते हैं, इसी प्रकार यहां भी तिरुची न्यग्भूता पानी छिपी हुई जिनकी योनि उपजी हैं, वे बीव तिर्यग्योनि हैं। अथवा उपयाह्या यानी तिरस्कृत हो रही योनिको घारनेवाले जीव तिर्यग्योनि जीव हैं। भावार्थ—तिर्यचों एकेन्द्रियोंकी संख्या अत्यधिक है। इन एकेन्द्रियोंकी योनि संवृत (ढकी हुई) है। अथवा स्वयं तिर्यचों करके अथवा मनुष्यों करके जो पद पदए तिरस्कारको प्राप्त हो रहे हैं, वे तियंग्योनी जीव हैं। यहां कोई अतिप्रसंग दोष हो जानेकी शंका करता है कि किन्हीं किन्हीं मनुष्य, देव, आदिकोंका भी दूसरोंके द्वारा तिरस्कार हो रही है। यहां है। अतः उनको भी तिर्यग्योनित्मका प्रसंग हो जायगा। प्रन्थकार कहते हैं कि यर्ड

तो नहीं कहना। क्योंकि अन्तरंगमें तिर्यंग् नाम कर्मका उदय होते सन्ते जो उपबाह्य हैं, वे तिर्यंच हैं। इस प्रकार दचन कर देनेसे कोई दोष नहीं आता है। निरुक्तिके साथ थोड़ा विशेषण और रुगा दिया जाता है।

संप्रति पद्मवासिनां तावदुक्तुष्टस्यितप्रतिपादनार्यमाह ।

उमास्वामी महाराजके प्रति किन्हींका पृष्टव्य है कि भगवन् ! अब इन जीवोंकी स्थिति कहनी चाहिये। नारकी, मनुष्य, तिर्यचोंको स्थिति तो आपने कह दी। देशोंकी नहीं कही है। अतः देशोंकी आयु किस प्रकार है ? यों पृष्टव्य होनेपर सबसे पहिले भवनवासियोंकी उत्कृष्ट स्थितिको प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार इस अवसरपर अग्निम सूत्रको स्पष्ट कहते हैं।

स्थितिरसुरनागसुपर्णद्वीपशेषणां सागरोपम-त्रिपल्योपमार्धहीनभिता ॥ २८ ॥

भवतवासियोंमें असुरकुमारोंकी एक सागर प्रमाण उन्कृष्ट स्थिति है। नागकुमारोंकी तीन पत्योपम परिमित है। सुपर्णकुमारोंकी आधा पत्यहीन यानी ढाई पत्योपम परा स्थिति है। द्वीपकुमारोंकी उससे आधे पत्य हीन यानी दो पत्योपम है। शेष छह प्रकारके भवनवासियोंका उससे भी आधापत्य कम अर्थात्—डेढ अद्धापत्योपम काल परिभित उन्कृष्ट स्थिति है।

असुरावीनां सागरोपमादिमि रिम संबंधी यथाकमं।

असुरकुमार, नागकुमार, आदिको सागरोपम, त्रिपत्योपम, आदिके साथ कमका अतिकम नहीं कर उद्देश्य विधेय अनुसार संबंध कर लेना चाहिये। यों इस सूत्रके छोटे पांच वाक्य बना लिये जाय।

सूत्रकार अब कमप्राप्त हो रही व्यन्तर और ज्योतिष देवोंका उल्लंघन कर वैमानिक देवोंकी स्थितिको कहते हैं। क्योंकि भविष्यमें सरल उपायसे उनकी स्थिति कह दी जायगी। उन वैमानिकोंके आदिमें कहे गये पहिले युगलकी स्थितिको समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

सौधमैँशानयोः सागरोपमेजधिके ॥ २९ ॥

सीधर्म और ऐकान स्वर्गमें देवींकी उत्कृष्ट आयु दो सागरसे कुछ अधिक है। द्वित्यननिर्देशाद्दित्वगतिः, अधिके इत्यधिकार आसहस्रारात्।

सागरोपमें यह शब्द दिवचन " औ " विभिन्तका रूप है। अतः दिवचनका कथन कर देनेसे दिन्य संख्याकी ज्ञप्ति हो जाती है, यानी दो सागर यह अर्थ निकल आता है। जैसे घटों का अर्थ दो घट है। इस सूत्रमें " अधिके " यह अधिकार पद है, जो कि सहस्रार स्वर्गतक जान स्नेना चाहिये। क्योंकि "त्रिसन्त" आदि सूत्रमें अधिकारका निवर्तक तृ शब्द पडे। हुआ है। सूत्रकारके व्यर्थ सारिखे पडे हुये शब्द न जाने किन किन अनेक अर्थोका ज्ञान करते हैं।
भावार्य-यह उत्कृष्ट स्थिति इन्द्र प्रतोन्द्र आदि देवोंको है। सीधर्म ऐशान स्वर्गके देवोंको देवियोंकी
स्थिति तो "साहियपल्लं अवरं कप्पदुगित्थीण पणग पडमवरं। एकारसे चडकके कप्पे दो सत्त-परिवड्ढी" इस त्रिलोकसारको गाथा अनुसार प्रथम युगल सम्बन्धी देवियोंकी जवन्य आयु
साधिक पत्य है और सौधर्म देवियोंकी उत्कृष्ट आयु पांच पत्य एवं ऐशानमें सात पत्य है।
सोलहवें स्वर्गमे देवियोंकी आयु पचपन पत्य है। "दिक्खण उत्तर देवी सोहम्मीसाग एव जायंते।
तहेवीओ पच्छा उपरिम देवा णयन्ति सगठाणं"। दक्षिण उत्तर बारह कल्पोंमें रहनेवाले कल्प-वासी देवोंकी देवियां सौधर्म और ऐशान स्वर्गमें ही उपजती है। पोछे उन देवियोंको नियोग अनुसार ऊपरले देव अपने अपने स्थानका ले ज ते हैं।

अब श्री उमास्वामी महाराज दूसरे कल्प युगलकी स्थितिको विशेषतया समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते है।

सानत्कुमारमाहेंद्रयोः सप्त ॥ ३० ॥

सानत्कुमार और माहेंद्र नामक तीसरे, चीर्ये, स्वर्गोमें निवास कर रहे देवों की उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक सात सागर की हैं। घातायुष्क सम्यय्दृष्टिकी अपेक्षा आधा सागर आयु अधिक हो जाती हैं। यह ध्यवस्था सौधमंसे लेकर सहस्रार पर्यन्त तक समझनी चाहिये। उसके ऊपर घातायुष्क जीव उपज नहीं पाता है।

अधिकारात् सागरोऽमाधिकानि चेति संप्रत्ययः।

विकार चला बारहा होनेसे सागरोपम और बिश्वक शब्दोंकी अनुवृत्ति हो जाती है। इस कारण सान कुमार और माहेन्द्रों में बुछ अधिक सात सागरोपम उत्कृष्ट आयु है। यह समीचीन प्रत्यय हो जाता है। " अर्थवशात् विभक्ते विपरिणामः " इस नीतिके अनुसार यहाँ "सागरोपम" और "अधिक" पदोंकी बहुवचनान्छ कर लिया जाता है।

श्री उमास्वामी महाराज ब्रह्मलोक स्वगंसे बादि लेकर अच्युत पर्यन्त स्वगों में निवास कर रहे देवोंकी उत्कृष्ट स्थितिको समझानेके लिये अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

त्रिसप्तनवैकादशत्रयोदशपंचदशभिराधिकानि तु ॥ ३१ ॥

बहा, ब्रह्मोत्तर, स्वर्गोमें तीनसे अधिक हो रहे सात सागर यानी दस नागरोपम उत्कृष्ट स्थिति हैं। लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गोमें सात करके अधिक हो रहे सात सागर यानी चौदह सागरकी स्थिति है। शुक्र महागुक्रमें नौ सागरसे अधिक हो रहे सात सागर यानी सोलह सागरकी आयु है। शतार सहस्रार स्वर्गोमें ग्याग्ह सागरसे अधिक होरहे सात सागर अर्थात् अठारह सागरकी स्थिति है। यहांतक अधिक शब्दका अधिकार चला आ रहा है। अतः उन्त स्थितियोंको घातायुष्क सम्यग्दृष्टियोंकी अपेक्षा आधा सायर अधिक समझना । आनत, प्राणत स्वर्गोंमें तेरह अधिक सात सागर यानी वीस सागरोपम काल उत्कृष्ट स्थिति है । तथा आरण और अच्युत स्वर्गमें पन्द्रह करके अधिक सागर अर्थात्—वावीस सागरकी स्थिति है। तु शब्दका प्रयोजन सहस्रारतक ही अधिक शब्द की अनुवृत्ति करना हे।

सप्तेत्यनुवर्तते, तेन सानत्कुमारमाहें बयोवपरि द्वयोः कल्पयोः सप्तसागरोपमाणि त्रिमि-रिधकानि इति दश साधिकानि स्थितिः, तयोवपरि द्वयोः कल्पयोः सप्त सप्ताधिकानीति चतुर्द-शाधिकानीति, तयोवपरि द्वयोः सप्तनविभरधिकानीति चोडशाधिकानि, तयोवपरि द्वयोः सप्त-कावशिभरधिकानी त्यव्टवशाधिकानि, तयोवपरि द्वयोरानतप्राणतयोः सप्त त्रयोदशिमरिधकानीति विश्वतिरेव, तयोवपरि द्वयोरारणाच्युतयोः सप्तयंवदशिमरिधकानीति द्वाविश्वतिरेव । तु शब्दस्य विश्ववणार्थत्वात् । आसम्मारावधिकारात् परत्राधिकानीत्यभिसंबंधाभावः ।

पूर्व सूत्रसे सप्त इस शब्दकी अनुवृत्ति कर ली जाती है। तिस कारणसे यह अर्थ हो जाता है। सानत्कुमार, माहेंद्र, स्वर्गोंके ऊपर दो कल्गोंमें तीनसे अधिक सात सागर स्थिति है। इस कारण उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक दस सागर की है। उन दो ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर स्वर्गीके ऊपर दो कल्पोंमे सात अधिक सात सागर इन प्रकार साधिक चौदह सागर इतनी उत्कृष्ट स्थिति है। उन लालव कापिछोके ऊपर वर्त रहे दो शुक्र महाशुक्र स्वर्गों में नीसे अधिक सात सागर यो कुछ अधिक सोलह सागरोपम उत्कृष्ट स्थिति है। उन शुक्र महाशुक्रोंके ऊपर ठहर रहे शतार सहस्रार, स्वर्गोमें ग्यारहसे अधिक हो रहे सात सागर यो आधा सागर अधिक अठारह सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है। पुनः उन शतार सहस्रार दो स्वर्गोंके आधा राज् ऊपर बर्त्त रहे दो आनत, प्राणत स्वर्गोमें तेरहसे अधिक हो रहे सात सागर यों केवल वीस ही सागरकी उत्कृष्ट आयु है। उन आनत प्राणतोंके आधा राजू ऊपर वर्त रहे दो आरण, अच्यूत, स्वर्गी में देवोंका आयुष्य पन्द्रह करके अधिक सात सागर इस प्रकार शुद्ध बाईस ही सागर उत्कृष्ट आयुष्य हैं। सूत्रमें १डे हुए तु शब्दका अर्थ कुछ विशेषण लगाकर विशेषता कर देना है। अतः सहस्रारपर्यंत अधिक शब्द का अधिकार होनेसे परली और आनत आदिमें बीस, बाईस, इन दो स्थलोंपर सागरके साब अधिकानि शब्दके सम्बन्ध करनेका अभाव हो जाता है। बात यह है कि घातापुष्क सम्यग्दृष्टि की आयु यह साढे सात सागर होगयी है तो वह सानत्कुमार माहेंद्र स्वर्गोमें उपजेगा। हां, अन्य साडेसात सागर आयुवाला जीव ब्रह्मा, ब्रह्मोत्तर. स्वर्गोमें जायगा । इसी प्रकार जिस घातायुष्क सम्यग्दृिर मनुष्यके साढे अठारह सागर स्थितिवाली देवायुष्यका सद्भाव हैं, वह शतार, सहस्रार स्वर्गीमे जन्मेगा और शेष साडे अठारह सागर देवाय्ष्यवाला जीव आनत प्राणत स्वर्गीमें जायगा।

यहांसे छह राजू ऊपरतक निवस रहे उन आरण, बच्युत, स्वगौंके ऊपर अहमिन्द्र-वैमानिक देवोंकी स्थिति कितनी हैं? इसकी प्रतिपत्ति करानेके लिए उमास्वामी महाराज अधिम सूत्रको कहते हैं।

आरणाच्युताद्वध्वंमेकैकेन नवसु धैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च॥ ३२॥

बारण और बच्युत स्वगाँसे ऊपर नवयैत्रेयकों में प्रत्येकमें एक एक सागरसे अधिक हो रही स्थिति समझ लेनी चाहिये। अर्थान्—तीन अधीयैत्रेयकों में पहिले सुदर्शन यैत्रेयकमें तैईस सागरकी स्थिति है। दूपरे अमीच यैत्रेयकमें चौत्रीससागरकी तीसरे सूप्रबुद्ध नामक ग्रैत्रेयकमें बहामन्द्र देवोंकी पच्चीस सागर उन्कृष्ट स्थिति है। तीन मध्यम ग्रैत्रेयकों पहिले यशोधर नामक ग्रैत्रेयकमें छच्चीस सागर स्थिति है। दूसरे सुभद्र नामक ग्रैत्रेयकमें सत्ताईस सागर और तीसरे सुविशाल ग्रैत्रेयकमें अट्टाईस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। कारले तीन ग्रेत्र्यकोंसे सुवनस नाम ग्रेत्रेयकमें उन्तीस सागर और दूसरे सौमनस ग्रेत्रेयकमें तीस सागरकी तथा तीसरे प्रीतिकर ग्रेत्रेयकमें इकतीस सागरकी उत्कृष्ट स्थिति है। नौ अनुदिश विमानों एक से अधिक इकतीस यानी बत्तीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है। विजयादिकमें एक करके अधिक बत्तीस सगर उत्कृष्ट स्थिति है। विजयादिकमें एक करके अधिक बत्तीस सगर उत्कृष्ट स्थिति है। सर्वार्थसिद्धमें जघन्य, उत्कृष्ट, दोनों भी स्थितयां परिपूर्ण तेतीस सागरोपम हैं।

अधिकारावधिकसंबंधः । प्रैवेयके भ्यो विजयादीनां पृथाग्रहणमनुविशसंग्रहार्यं । प्रत्येक मेकैकवृद्धधनिसंबंधार्यं नवग्रहणं । सर्वायंतिद्धस्य पृथाग्रहणं विकल्पनिवृत्त्यर्थं ।

"सौधर्मेशानयोः सागरीपमेऽधिके "इस सूत्रके अधिक शब्दका अधिकार तो पूर्व सूत्रके समासगित चार पदोंतक ही लागू होता है। किन्तु "तिसप्त " आदि सूत्रमें पडे हुए अधिक शब्दका अधिकार हो जानेसे यहां उसका सम्बन्ध कर लिया है। तिस करके उक्त अर्थ निकल आता है। ग्रैवेयक और विजय आदि दो पदोंका समास नहीं कर ग्रैवेयकसे विक्रय आदिका पृथग् ग्रहण करना तो नी अनुदिश विमानोंका संग्रह करनेके लिये हैं। अनुदिशके नौऊ विमानोंमें केवल एक सागरकी ही वृद्धि होती है। हां, ग्रैवेयकों में प्रत्येक ग्रैवेयकके साथ एक एक सागरकी वृद्धि हो जानेका नौऊ ओर सम्बन्ध करनेके लिये नव शब्दका ग्रहण है। अर्थान्न नव शब्द नहीं कह कर केवल ग्रैवेयकेषु इतना ही कह देते तो विजय आदिके समान नौऊ ग्रैवेयकों में एक ही सागर अधिक बढता। नवसु कह देनेपर तो नौ स्थानों गर प्रत्येक में एक एक सागरका अधिकपना प्रतीन हो जाता है। सर्वायंतिद्धिका पृथक ग्रहण करना तो जधन्य और उत्कृष्ट स्थितिके विकल्पोंकी निवृत्तिके लिये हैं।

का पुनरियं भवनवास्यादीनां स्थितिकक्तेत्य।ह।

भवनवासी आदि देवोंकी फिर यह उत्कृष्ट या जवन्य स्थिति क्या कही जा चुकी हैं? बताओं तो सही। इस प्रकार आशंका होने रर ग्रंथकार उत्तरवात्तिकको कहते हैं।

स्थितिरित्यादिस्त्रेण योक्ता भवनवासिनां । विशेषेण स्थितिर्या च तदनंतरकीर्तिता ॥ १ ॥ स्रेश्चतुर्भिरम्यासाद्यथागममशेषतः। परावैमानिकानां च सोत्तरत्रावरोक्तितः॥ २ ॥

"स्थितिरमुरनाग" इत्यादि सूत्र करके उमास्वामी महासाजने भवनवासी देखोंकी विशेष रूपसे जो स्थिति कह दी है और उसके अव्यवहित पश्चात् आगमपरिपाटीका अतिक्रम नहीं कर स्वकीय धारणानुरूप अध्याससे इन चार सूत्रोंकरके जो सम्पूर्ण वैमानिक देवोंकी स्थितिका कीतंन किया है, वह स्थिति उत्कृष्ट समझं छेनी बाहिये। क्रमोंकि उत्तरवर्ती पिछले प्रत्यमें भवनवासी या वैभानिक देवोंकी अधन्यस्थितिका निरूपण किया जानेवाला है। भावार्थ-आयुध्यका निरूपण करते हुए सूत्रकारने इन पांच सूत्रोंमें परा या जवन्य कोई शब्द नहीं ढाला है। ऐसी दशामें उक्त स्थिति उन्कृष्ट समझी जाय? या अवन्य ? इसका कीई निर्णायक नहीं है। विना स्वामीके मालको जिसके हाथ पडे तही हडफ ले जाता है। इस विषयका निर्णय प्रयक्तार यों कर देते हैं। जब कि जयन्यस्थितिका वर्णन भविष्यमें किया आयगा तो अर्थायत्या सिद्ध है कि यह देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति है। पुण्य अनु नार प्राप्त हुए हृदयसे काम लेना चाहिये। हृदयके सहकारी हो रहे मस्तिष्कक अवयव नला फिर किस रोगको औषिध है ?

अवरायाः स्थितेरतरत्र वथनादिह मवनवासिनामेकेन सूत्रेण वैमानिकानां च चतुर्पिः सूत्रे विशेषेण या स्थितिः प्रोक्ता सा परोत्कृष्टेति गन्यते ।

जयन्य स्थितिका उत्तरवर्ती ग्रंथमें जब निरूपण किया जायगा, इससे सिद्ध है कि यहां एक सूत्र करके भवनव्यस्थिको और चार सूत्रों करके वैयानिक देशोंकी को विशेष करके स्थिति ठीक कही गयी है, वह परा यानी उत्कृष्टा समझनी चाहिये। यह अनुमानसे जान लिया जाता है।

का पुनरवरेत्याह ।

फिर जयन्य स्थिति क्या है ? इस प्रकार विनीत शिष्योंकी जिज्ञासा होने हर सूत्रकार अग्रिम सूत्रको विशवरीत्या कहते हैं।

अपरा पल्योपममाधिकम् ॥ ३३ ॥

देवोंकी जघन्य स्थिति तो कुछ अधिक एक पत्थोपम है। यह जघन्य स्थिति सौधर्म ऐशान स्वर्गवासी देवोंकी समझी जाती हैं।

परिकेशास्त्रीधर्मेशानयोर्वेवानामवराः स्थितिरिः दे विज्ञावते, ततोग्येवानुसारणः ज्ञवन्य स्थिते-वैक्यवान्त्रस्थात् । परिशेष न्यायसे सौधर्म और ऐशान कल्पों में ठहरनेवाले देवों की यह जयन्य स्थिति विशेषतया समझी जाती हैं। तिस कारणसे कि उत्तरवर्ती ग्रंथमें अन्य सानत्कुमार माहें। आदिक अपराजित पर्यन्त देवों की जबन्यस्थिति कही जानेवाली है। अतः यह शेष रहे प्रथा कल्पयुगलके देवों की ही जबन्यस्थिति परिशेष न्यायसे ज्ञात कर ली जाती है। अर्थार "प्रसक्त शतिषेधे शिष्यमाणसंप्रत्ययहेतुः परिशेषः " अन्यत्र प्रसंग प्राप्तों में विश्रेयान्तरका सद्भार या प्रकृत अर्थकी बाधा होनेपर शेष बच रहे उद्देश्यमें ही अनुमानस्वरूप परिशेष प्रमाणसे प्रकृत अर्थका विधान अनुमित कर लिया जाता है।

पल्योपममतिरिक्तमबरास्थितिमबबीत्। सोधर्मैशानयोः सेह सूत्रेर्थात्संप्रतीयते॥ १॥

सूत्रकार उमास्वामी महाराज कुछ अधिक पत्योगम परिमाण जवन्य स्थितिको जे इस सूत्रद्वारा कह चुके हैं वह जवन्य स्थिति इस सूत्रमें सौधर्म और ऐशानिवासी देवों की है यह बात कहे विना हो अर्थापत्ति करके भले प्रकार प्रतीत हो जाती है। क्योंकि अगले सूत्रमें सान स्कृमारमाहेन्द्र देवोंसे लेकर विजयादि पर्यन्त देवोंकी जवन्य स्थिति कण्ठोक्त करदी जाने वाली है

तत एवानंतरसूत्रेण सानत्माकुमारादिवु जघन्या स्थितिरुच्यते ।

तिस हीं कारण यानी इस सूत्रद्वारा पहिले कह्ययुगलकी जवन्यस्थितिका निरूपण हो जानेसे ही अध्यवहित अगले सूत्र करके सानत्कुमार माहेन्द्र आदि स्वर्गोके देवोमें पायी जारहं जवन्य स्थिति अब कही जा रही है। उसको सुनो।

परतः परतः पूर्वा पूर्वानंतरा ॥ ३४ ॥

" आद्यादिभ्य उपसंख्यानं " इस नियम करके परतः यहां सप्तमी अर्थमें तिस हुवा ह। पः परदेशमें अव्यवहित पूर्वं पूर्वकी उन्कृष्ट स्थिति जवन्य हो जाती है अर्थान् — अव्यवहित पहिने करन्य युगलों में प्रस्तारों में जो उन्कृष्ट स्थिति है वह परले परले कत्य युगलों या प्रस्तारोमें जवन्य हो जाती है। नीचेवालोंकी जवन्यस्थिति एक समय अधिक होती हुई उत्तरले प्रस्तार या कल्पोमें जवन्य जान लेनी चाहिये।

अपरेत्यनुवर्तते, तेन परतः परतो या च प्रयमा स्थितिः सा पूर्वापूर्वानंतरा परस्मिश्रवरा स्थितिरिति संप्रत्यपः। अधिकप्रहणानुवृत्तेः सातिरेकतंत्रत्यपः। आविजयाविष्योधिकारः। अनंतरेति वचनं व्यवहितनिवृत्यर्थं। पूर्वेत्येतावस्युष्यमाने व्यवहितप्रहण्यसंगस्तत्रापि पूर्वशद्वप्रवृत्तेः।

पूर्वसूत्रसे यहां अपरा इस पदकी अनुबृति हो जाती है। तिस कारण इस प्रकार समिचीन प्रतिहि हो जाती है कि परली ओर परली ओरसे या परले परले प्रस्तारों या कल्पयुगलों में जो प्रथमा स्थिति वह अव्यवहित पूर्व पूर्वकी स्थित उपर उपर परले परले प्रस्तारों या कल्पयुगलों में जवन्या स्थिति हो जाती है, इस सूत्र में पूर्व सूत्र से बिधक का द्वा अहणकी अनुवृत्ती चली आ रही है। इस कारण साधिक का सभीचीनज्ञान हो जाता है। यह अधिक का अधिकार विजय आदि अनुत्तरोंतक जान लेना चाहिये। अर्थात्-सौधमें और एंशानमें जो साधिक दो सागर स्थित कही जा चुकी है वह स्थिति कुछ अधिक यानी एक समय अधिक होकर सानत्कुपार माहेन्द्र कल्पोमें जधन्यस्थिति हो जाती है। आग्हमें स्वर्गतक एक तो साधिक पना गाँठका ही है, दूसरा एक समय अधिक पना यह संपूर्ण वैमानिकों की जधन्य स्थितियों में लागू करिलया जाता है। इस सूत्र में अव्यवहित इस अर्थका वाचक "अनन्तरा" इस पदमा कथन करना तो व्यवहित पूर्वोकी निवृत्तीके लिये है। यदि "पूर्वापूर्वी" यों इतना ही कथन कर दिया जायगा तब तो व्यवहात पूर्वोकी निवृत्तीके लिये है। यदि "पूर्वापूर्वी" यों इतना ही कथन कर दिया जायगा तब तो व्यवहान यृक्त हो रहीं पूर्व स्थितियों में प्रहण होजानेका भी प्रसंग होगा। क्यों कि व्यवधान यृक्त उन पहिले पदार्थों भी पूर्व काव्यकी प्रवृत्ति होरहीं देखी जाती है। जैसे कि राषुरासे पटना पूर्व देशवर्ती है। यहां संक डो कोसका व्यवधान पडरहे पदार्थकों भी पूर्व कह दिया गया है। अतः व्यवहित पूर्व सौधमं, ऐशानों में जो उन्हाटट स्थिति है वह लान्तकापिष्टों की जघन्य स्थिति हो जायगी। इस प्रकार के अनिष्ट अर्थों की प्रतीतियों नहीं होने पातीं है। तब तो अनन्तरा शब्दका सूत्र से उपादान करना सफल है।

नारिक योंकी उत्कृष्ट स्थिति कही जा चुकी है। अवन्य स्थितिको अभीतक सूत्रमें नहीं कहा गया है। अतः लघु उपाय करके प्रकरणप्राप्त नहीं भी होरहीं नारिकयोंकी स्थितिको सम-झानकी इच्छा रख रहे सूत्रकार अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

नारकाणां च द्वितीयादिषु ॥३५॥

दूसरी बंशा तीसरी मेघा आदि सातवीतक छह पृथिवियोमें नारकी जीवोंकी अव्यव-हित पूर्वपूर्वकीं स्थिति परले परले प्रस्तारों और नरकों ने जघन्य हो जाती है। अर्थात्-पहिली पृथिवीकी उत्कृष्ट होग्ही एक सागरोपम आयु दूसरे नरकमें जबन्य समझी जाती है। इसी प्रकार नीचे नीचेकी और लगा लेना। एक समय अधिक जोड लिया तो अच्छा है। अन्यथा भव परिवर्तनमें कठिन समस्या उपस्थित होजायगी।

किमयं नारकाणां जघन्या स्थितिरिह निवेदितेत्याह ।

वहाँ किसीका कटाक्ष है कि प्रकरणके विना ही नारिकयोंकी जवन्यस्थितिका यहाँ किसलिये निवेदन किया गया है अर्थात् कितपय प्रकरणकी बातें छूटों जा रही हैं और अप्रकृतोंको स्थान दिया जा रहा है। यह कौनसा न्याय है ? वती या आश्रित जनोंको शाहार दान नहीं देकर ठनुआ भरिष्ट्रो मनुष्योंको सादर भीजन कराना उचित नहीं है। इस प्रकार सूत्र-कारके ऊपर प्राक्षेप प्रवर्तने पर श्रीविद्यानंद स्वामी संयाधानकारक वातिकको कहते हैं।

सानत्कुमारमाहेंद्रशभृतीनामनंतरा। यथा तथा द्वितीयादिपृथित्रीषु निवेदिता ॥ १॥ नारकाणां च संक्षेपादत्रैव तदनंतरा॥

जिस प्रकार उपरले सूत्रमें निवले देवोंकी अध्यवहित पहिली पहिली उक्तुष्ट स्थिति सानत्कुमारमाहेन्द्र आदि उपरिम देवोंकी जघन्य स्थिति कह दी गयी है, उसी प्रकार दिनीया बादि पृथितियों में उपरिम नारिकयोंकी अध्यवहित पूर्ववित्तनी उक्तुष्ट स्थितिका परली ओर निवले नारकीयोंकी जघन्यस्थिति हो जाना, यहां ही संक्षेत्र निवेदन कर दिया गया है। सर्वत्र अधन्य स्थितिको पूर्व पटलकी अपेक्षा एक समय अधिक समझना चाहिये।

बेबस्थितियकरणेनि नारकस्थितिबबनं संक्षेतार्थं ॥

देवोंकी स्थितिके निरूपणका प्रकरण होने पर भी यहाँ नारिकयोंकी जघन्यस्थितिका सूत्र कथन करना संक्षेपके लिये हैं। भावार्थ — जिससे कि दो बार अपरा इन तीन अक्षरोंको नहीं कहना पडा। "सूत्रं हि तन्नाम यतो न लघीय: " सूत्र तो बही है जिससे कि छेटा या पतला दूसरा वाक्य नहीं बन सके। तीसरे अध्यायमें नारिकयोंको उ कृष्ट स्थितिको कहते समय यदि जघन्यस्थितिको कहा जाता तो वहा "अपरा" शहका प्रयोग करना पडता "परतः परतः पूर्वा पूर्वानन्तरा" का भी बोझ बढ जःता तथा पहिली पृथिवीमे जघन्य स्थितिका निरूपण करते समय भी अपरा शहकहा पडता। अतः रंगिवरंगे धारीदार कथडेमें जैसे एकरंगके कई सूत्र उसी स्थानपर पिरे दिये जाते हैं अथवा व्याकरणमें गत्व विश्वायक या दीर्घविद्यायक कई सूत्र जैसे एक स्थलपर पढिलये जाते हैं, उसी प्रकार यहां भी आयुष्यविद्यायक कई सूत्र रचे गये हैं, जिससे प्रन्थ अत्यत्व और अर्थ उतना ही प्राप्त हो जाता है।

शर्कराप्रमा आदिमें जपन्यस्थिति यदि कही जा चुकी है तब तो लगे हाथ पहिली नरकभूमिमें वर्तरहे जघन्यस्थितिका भी निरूपण कर दिया जाय, ऐसी जिज्ञासा प्रवर्तने पर सूत्रकार अग्रिमसूत्रको कहते हैं।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ॥ ३६ ॥

पहिली नरकभू भिमें नारकीयोंकी दश हजार वर्ष जन्न स्थिति है, जो कि तेरहाइल बाली घम्मा पृथिवीके पटलक्षीमंतकमें प्रवर्त रही है।

पृथिक्यां नारकामामवरात्यितिरिति घटनीयं ।

"सोपस्काराणि वाक्यानि भवन्ति" इस नीतिके अनुसार कुछ इघर उधरके चार पदोंको मिलाकर इस प्रकार सूत्रका अर्थ विद्या कर छेना वाहिये कि पहिली पृथिवीमे नाय-कियोंकी जबन्य स्थिति दश हजार वर्ष है ।

अब भवनवासियों की जवन्य स्थिति क्या है ? ऐसी बुंभुरंसा हीनेपर उमास्वामि मह-राज अधिमसूत्रको कहते हैं।

भवनेषु च॥ ३७॥

भवनवासी देवों की जयन्य स्थिति भी दश हजार वर्ष है। पूर्वोक्त विश्वेष दलका व शब्द करके समुख्यय कर लिया जाता है।

दशवर्षसहस्राणि देवानामवरा स्थितिरिशि संप्रत्ययः।

भवतों में निवास कर रहे देवों की जयन्य स्थिति दश हजार वर्ष है, यों कितपव पदोंका उपस्कारकर भली प्रतीति कर ली जाती है।

तव तो व्यन्तर देवोंकी अवस्य स्थिति क्या है ? इस प्रकार जिज्ञासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज अग्निम सूत्रको कहते हैं।

व्यंतराणां च ॥ ३८ ॥

क्यंतर देवोंकी भी जघन्य स्थिति दश हजार वर्षकी समझ लेनी चाहिये।

अपरा स्थितिर्दशक्षंत्रहस्राणीति च शब्देन।

इस सूत्रमें पडे हुये च शब्द करके अपरा स्थिति, दशवर्षसहस्राणि, इस प्रकार तींनं पदोंका समुच्चय यानी अनुकर्षण कर लिया जाता है। खतः व्यंतरोंकी जघन्य स्थिति दशसहस्र वर्ष है, यह वाक्यार्थ बन जाता है।

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायामुदीरिता । भवनेषु च सा शोक्ता व्यंतराणां च ताबती ॥ १ ॥

उपत तीन सूत्रों करके उमास्त्रामी महाराजने पहिली पृथिवीमें जघ्न्य आयु दस हजार वर्ष कह दी है और मननवासियोमें भी वह जमन्य स्थिति उतनी ही कहुत अच्छी निरूप दी है तथा व्यन्तरोंकी जघन्य स्थिति भी उतनी ही याती दशहजार वर्ष कही जा चूकी है। यह उसत तीनों सूत्रोंकी एकवित एक वार्तिक है।

ाक्षेत्र अय व्यन्सराणां वरा का विमातिरिहेबाह ।

अब महाराज यह बताओं कि व्यन्तरों को उत्कृष्ट स्थिति क्या है ? इस प्रकार तस्व किजासा प्रवर्तनेपर श्री उमास्वामी महाराज उत्तरवर्ती सूत्रको उतारते हैं।

परा पल्योपममधिकम् ॥३९॥

किन्नर आदि व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पत्योपम काल है। स्थितिरित संबंध:।

इस सूत्रमें कहे बये परा शब्दके साथ "िवति " इन शब्दका सम्बन्ध जोड लेना बाहिये। जिससे कि ब्यन्तरों की उक्तब्द स्थिति एक परुपसे कुछ अधिक है। यो वर्ष घटित हो जाता है।

इस अवसरपर आयुष्पके प्रकरण अनुसार ज्योतिष्क देवों की स्थिति कह दी अःय तो सुनम होगी। यो आकांक्षा प्रवर्तनेपर मूल सूत्र कार अग्निम सूत्रका निरूपण करते है।

ज्योतिष्काणां च ॥ ४० ॥

चन्द्रमा, सूर्य, अधि ज्योतिष्कोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पर्य है। चन्योपमपश्चिकं परा स्थितियहना ।

यहां भी च झन्द करके प्रकरण प्राप्त पत्थोपम, अधिक, परा, स्थिति, इन शब्दोंका समुच्चय कर यों अर्थ घटित कर लेना चाहिये कि ज्योतिष देवोंकी उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक एक पत्थोपम है।

वद ज्योतिषियों की अधन्य स्थितिका परिज्ञान कराने के लिये सूत्रकार अग्रिम सूत्रको कहते हैं।

तद्बटभागोऽप्रा॥४१॥

ज्योतिष देवोंकी जवन्य स्थिति उस पत्योपमके आठमें भाग है जो कि असंस्थात वर्षोंकी समझनी चाहिये।

स्यितिञ्योतिष्काणानिति संत्रत्ययस्तैयामनंतरस्यात् ।

स्थिति और ज्योतिष्काणाम्, इन पर्वो हा अनुकर्षण कर समीचीन प्रत्यय कर छिया जाता है। नर्योकि वाक्यार्यके सम्पादक वे पद अध्यवहित पूर्व सूत्रों में छपाल ही रहें हैं।

परेषामिक व्रेयं पल्योपममवस्थितिः । ज्योतिष्काणां च तद्वतदष्टमागोऽ।रोदिता ॥ १ ॥ श्री उपास्वामी महाराजने उक्त तीन सूत्रोंने दूसरे व्यन्तर देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति कुछ अधिक एक पत्य समझने योग्य बडा दी हैं और उन्हींके समान ज्योतिष्क देवोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक पत्य कह दी हैं। तथा तीसरे "तवष्टमागोपरा" सूत्र करके उन ज्योतिषियोंकी जवन्य स्थिति उस पत्र्यके आठवें माग कह दी है। जैसे कि " दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् भवनेषु च व्यन्तरानां च" इन तीन सूत्रोंको निलाकर एक वात्तिक इलोक बना दिया गया है उसी प्रकार "परास्थोगमनिक्कं, ज्योतिष्काणां च, तदष्टमागोऽपरा" इन तीन सूत्रोंको निलाकर यह एक वात्तिक इलोक बना दिया है।

यथा व्यन्तराणां पत्थोपममधिकं परा स्थितिः तहत् व्योतिष्काणामि तद्वीयं तदण्ट-भागः पुनरवरा स्थितिर्थातिष्काणां प्रतीता ।

जिस प्रकार व्यन्तरोंकी उत्कृष्ट स्थिति साधिक एक पत्य उन्तालीसवें सूत्रमें कह दी है, उसी प्रकार ज्योतिष्कोंकी भी वह साधिक पत्य उत्कृष्ट स्थिति चालीसवें सूत्रमें कह दी गयी समझ लेनी चाहिये। पुनः इकतालीसवें सूत्रमें उस पत्यके बाठमे भाग ज्योतिष देवोंकी जयन्य स्थितिकी प्रतीति कराई है।

अय मध्यमा स्थितिः कुतोषगम्यत इत्याह ।

अब किसीका आक्षेत्र है कि मनुष्य, तिर्यंच, देव, नारिकयोंकी उक्कुब्ट स्थिति और जयन्य स्थितिका हमने परिज्ञान कर लिया है। किन्तु सूत्रकारने मध्यम स्थितियोंका निरूपण नहीं किया है। त्रतः बताओं कि मध्यम स्थितिको किस ढंगसे समझ लिया जाय ? ऐसा आक्षंप प्रवर्तनेपर आचार्य विद्यानंद स्वामी वार्तिक द्वारा मीं समाधान कहते हैं।

सामर्थ्यानमध्यमा कोध्या सर्वेषां स्थितिरायुषः । प्राणिनां सा च संभाव्या कर्मवैचित्र्यसिद्धितः ॥ २ ॥

"तन्मध्यपिततस्तक्ष्महणेन गृहाते " इस नियम अनुसार वाशों गित सम्बन्धी संपूर्ण प्राणियों के आपृथ्यकी मध्यमित्यित तो विना कहे ही अयौपत्या सामध्येसे समझ की जाती है। अर्थात् जिस पदार्थका आदि और अन्त होता है, उसका मध्य अवध्य होता है। अनन्त भूतकाल और उससे भी अनन्त गुणा अनन्त भविष्यकालका मध्यवर्ती वर्त्तमानकाल एक समय है। फिर भी आपेक्षिक वर्तमानपना बहुत समयोंको प्राप्त है। यथार्थमें एक आदिके पदार्थ और एक अन्तके पदार्थको छोडकर सभी स्थानोंको मध्यमपना मुख्य है। अतः अधिक सम्मतियों (बोटों) अनुसार प्रश्न किये गये मध्यम स्थानोंको सध्यमपना मुख्य है। अतः अधिक सम्मतियों (बोटों) आनुसार प्रश्न किये गये मध्यम स्थानोंको सावक सब्दोंके विना ही आवश्यक रूपसे उपादान हो जाता है। और वह अनेक प्रकारकी स्थितियोंका सद्माव तो पौद्गसिक कर्मोंक विवित्रपत्रकी सिद्धि हो जानेसे सम्मावना करने योग्य है। अर्थात्—अपने भपने परिणामों करके उपाजिल किये। विवित्र कर्मों अनुसार जीवोंकी लाना प्रकाष आपृःस्थितियां वन बैठती हैं।

ननु यद्वद्घटादीनां विचित्रा स्थितिरिष्यते । कर्मानपेक्षिणां तद्वदेद्विनामिति ये बिदुः ॥ ३ ॥ तेनऽनभिज्ञा घटादीनामपि तद्भोक्तृकर्मभिः । स्थितेर्निष्पादनादृदृष्टे कारणव्यभिचारतः ॥ ४ ॥

पौद्गलिक सुक्ष्म कर्मोंको नहीं माननेनाले चार्वाक यहां स्वकीय पक्षका अवधारण करते हुये अप्रमंत्रण करते हैं कि जिस प्रकार कमींके सम्बन्धकी नहीं अपेक्षा रख रहे घट, पट, शकट आदि जड पदार्थोंकी विचित्र स्थितियां हो रहीं इष्ट कर लीं जाती हैं। उसी प्रकार इररीरधारी प्राणियोंकी भी कर्मोंकी नहीं अपेक्षा रखती हुई जधन्य, मध्यम, उत्कृष्ट, आयु: स्वरूप स्थितियां बन जाओ । इस प्रकार जो नास्तिक समझ बैठे है, आचार्य कहते हैं कि वे चार्वाक विचारे कार्यकारणभावकी पद्धतिको स्वल्प भी नहीं समझते हैं। क्योंकि घडा, कपडा, छकडा आदिकी भी विचित्र स्थितियोंका उनके भोगनेवाले जीवोंके कर्मोंकरके उत्पादन किया जाता है। छोकमें आबालवृद्ध प्रसिद्ध देखे जा रहे परिदृष्ट कारणोंका व्यक्षिचार देखा जाता है। अर्थात्-एक घडा दो दिन भी चलता है। जब कि उसी कुम्हार उसी मट्टी आदि कारणोंसे निष्पन्न हुआ दूसरा घडा पांच वर्षमें भी नहीं फूटता है। चाक, अवा, खान, कुलाल, जल, अग्नि, में दृष्ट कारण जब वे ही हैं. तब फिर दो घडोंकी " टिकाऊ स्थितिमें इतना बडा अन्तर स्यों दीखता है ? इससे सिद्ध है कि घडोंका कय, विकय, करनेवाले या उसके शीतल जलको पीनेवाले अथवा फूटनेपर दबिमक्कर दुःख भूगतनेवाले जीवोंके पुण्य, पार, अनुसार ही जड पदार्थीका भी न्यून, अधिक काल तक ठहरे रहनेका अन्वय व्यक्तिरेक है। इसी प्रकार कपडे चौकी, घडियां, मशीनों, गृहों आदिका स्वल्पकालतक वा अधिक कालतक टिके रहनेमें अन्तरंग प्रधानकारण उन पदार्थीके साक्षात् या परम्परथा उपभोग करवेबाके जीवोंका बद्द्द ही समझा जाता है।

स्क्ष्मो भूतिविशेषश्चेद्व्यभिचारेण वर्जितः । तद्धेतुर्विविधं कर्मतंत्रः सिद्धं तथारूयया ॥ ५ ॥

यदि चार्वाक यों कहे कि पृथिकी, जल, तेज, वायु इन स्यूल भूतोंका व्यभिचार मले घटादिकी न्यून अधिक, स्किति होनेमें आवे किन्तु व्यभिचार दोषसे विजित होरहा सूक्ष्म भूत विशेष उन घटादिकोंकी विजित्र स्थितिओंका हेतु मान लिया जाय। यों कहनेपर तो ग्रन्थकार कहते हैं कि तब तो बहुत अच्छा है। वही सूक्ष्म कार्मण वर्गणाओंका बना हुआ ज्ञानावरण, असाता, साता, शुभगोत्र आदि नाना प्रकार कमं ही तो हम जैनोंके यहां उन चेतनात्मक या अचेतनात्मक पदार्थोंका प्रेरक हेतु हो रहा सिद्ध है। तिस प्रकार सूक्ष्मभूतिकांच इस नामक

करके तुपने उस हमारे अभीष्ट पौद्गितिक कर्मनिण्डको ही कह दिया है । केवल नाममें ही विचाद रहा अर्थने कोई टण्टा नहीं है।

परापरस्थितिववनसामर्थ्यात् मध्यमानेकविद्या विवित्वेवनारकाणां तियङ्मनुष्याणाभित्र संभाग्या । सा च कर्मदेविश्यविद्धि प्राप्य व्यवतिष्ठते ततः कर्मदेविश्यमनुषीयते । स्थितवेविश्यविद्धेरस्ययानुपपतेः । कर्मदेविश्यामावेपि घटादीनां स्वितिविश्यवक्षंनादितद्धास्ययानुपपतिरिति येःस्यमन्त्रतं तेऽनिजना एतः महादीनामिति विविश्रायाः स्थितेस्तवुपभोकतुप्रणिक्षं
विविचित्रनिर्वतंनात्, कुं मकाराविश्रव्यतस्वारणानां व्यभिचारात् । अदृष्यकारणानपेक्षित्वे तदघटनात् । समानकुं मकाराविकारणानां समानकालश्रम्यनां सवृश्यकेत्राणां समानकारणानां च घटावीनां
समानकालस्यितिप्रसंगात् ।

उपत चार वार्तिकोंका माध्य यों है कि सूत्रकारद्वारा उत्कृष्ट, जधन्य स्थितियों के प्रतिपादक सुत्रों के कवन कर देने की सामध्येंसे तियें ब, और मन्द्यों के समान देव नार्रिक्यों की भी अनेक प्रकार मध्यम न्वितियों ती सम्मावना कर लेनी चाहिये। तथा वे उत्कृष्ट, मध्यम, जवन्य, स्थितियां तो कभौती विवित्रता अनुसार सिद्धिको प्राप्त होकर व्यवस्थित हो रहीं हैं। तिन विचित्र स्थितियोंने कर्नों ही बिचित्रनाका अनुमान कर लिया जाता है। अर्थान्-योग और कवायकी मिश्रपरिणति हो रही लेश्याओं तथा अन्य कर्यों के अनुमार जीबों की अनेक प्रक.र अायुष्य स्थितियां बन जाती हैं। कार्यहेलु धूमसे जैसे कारणमूत अग्नि साध्यका अनुमान कर लिया जाता है, उसी प्रकार विचित्र स्थितियोंके कारणभूग पौद्गक्षिक कर्मौकी विचित्रनाका कार्यमृत आबुष्य विशेषों करके अनुमान कर लिया गया है। अविनामावी एक दृश्यसे दूसरे बद्ध्य पदार्थका अनुमान हो जाना प्रविद्ध है। स्विनियोंकी विचित्रताकी सिद्धि हो जाना अत्यथा यानी कर्मों ही विचित्रताकी सिद्धिके विना नहीं बन पाता है। जो भी कोई बादी याँ दोष देते हुये अभिमान कर बैठे हैं कि कर्मों को विचित्रताके नहीं होनेपर भी घट आदि जड पदार्थों ही स्थिति भी हा बिचित्रपना देखा जाता है तो जीवों हे भी अंद्ष्ट कमी ही कल्पना नयीं की जाती है ? अतः आपकी अन्यधानुपत्रत्ति असिद्ध हो गई। व्यभिचार दोष उपस्थित हुआ । स्थितिकी विचित्रता होने रर भी घटादि पदार्थी ने कर्पो ही विचित्रता नहीं पायी जाती है। आचार्य कहते हैं कि वे क्वोग्र करनेवाले बादी अशिक्षित हीं हैं। क्योंकि घट पट आदिकींकी भी विविध स्थितियाँ उनके उपभोक्ता प्राणियों के विचिध केमीकरके बनायी जातीं हैं। कूं नकार मना, मट्टी आदि देखे जा रहे उनके कारणींका व्यक्तिचार हो रहा है । यदि कोरे दृष्ट कारणोंके ही अधीत माने जा रहे बटा दिकोंकी अदृष्ट कारणोंकी अपेक्षा नहीं रक्षनेवालापन भाना वावगा तो विविध ढंगींसे ठहरना रूप उन नानास्थितिओंकी घटता नहीं हो सकती है। जिन घटोंके कुन्यकार बादि कारण समान हैं और जिन घटोंका समान कासमें जन्म भी ही रहा है, तथा जिन कतिपथ भटीका क्षेत्र भी सदेश है, एवं अर्थ वानि बादि बन्य कारण भी जिनके समान हैं, जन घट जादिकोंकी समान कालतक ही स्विति रहमेका प्रसंग आवेगा। किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। एक साथ बने हुये सी घडोंकी किसीकी तो अवामें ही स्थिति पूरी हो जाती है। कोई चार दिनमें कूट जाता है, कोई दस वर्ष तक टिकाऊ है, यों अनेक प्रकार स्थितियां हो रही है।

मृद्गरादिविनाशकारणसंपातवैश्विश्याद्दृष्टादेव घटास्थितिवैश्विश्यमिति चेत्, तदेव कुतः ? समानकारणादित्वेपि तेषामिति चिथ्य । स्वकारणविशेषाद्दृष्टादेवेति चेन्न, मृद्गरादि-विनग्शकारणसंपातहेतोः पुरुषप्रयत्नादेः परिदृष्टस्य व्यश्विषारात् । समानेपि तस्मिन् वयित्त-रसंपातादर्शनात् । समानेपि च तत्संपाते तद्विनाशाश्रतीतेः कारणांतरस्य सिद्धेः ।

यहां कोई आक्षेप करता है कि विमाशके कारण हो रहे मीगरा, मूसल, मुद्गर, आदि-कोंके ठीक ठीक पतन की देखी जा रही विवित्रतासे ही घटकी स्थितिओं में विचित्रता आ जाती है। अधिक बलसे मोगरा गिर जानेपर एक पल ही ठहरकर घट फुर जाता है, निबंक आधा-तोंसे चार छह दिनमें फूटता है। शनै: शनै: भूमिमें सरकाने अथवा छोटी छोटी फटकारोंको वर्षोतक घट झेल जाता है। अश्निद्वारा पाककी न्यून अधिकतासे भी स्थितिका तारतस्य है। अतः परिदृष्ट कारणोंसे ही विचित्र स्थितिओंको मानलो अदृष्ट कारणोंका बोझ व्यर्ष क्यों लादा जा रहा है। यों कहतेपर तो ग्रंथकार पूंछते हैं कि भाइयो, उन घटादिकोंके कारण बादिकोंके समान होनेपर भी वह मौगरा बादि विनाशक पदार्थीका सम्पात ही विचित्र प्रकारका किस कारण से हुता? बताओ । अथवा कारण सादि समान होते हुये भी वे मोंगरा या उनके सम्पात बादि विचित्र कैसे हुये ? इसका उत्तर बहुत कालतक चिन्तवन करो। समीचीन ज्ञान प्राप्त होनेपर तुम्हारा लक्ष्य उस अदुष्ट कारणपर संलग्न हो जायगा । यदि झटपट तुम यों बोल २ठो कि मोगरा आदिका अनेक प्रकार गिरना भी उनके दृष्ट हो रहे बारण विशेषोंसे ही बन दैठता है। अर्थात् कुलालका घट बनाते समय भी तरले लट्ट और ऊपरली मोंगरीमें कभी अधिक बलसे हाथ लग् जाता है और कभी हलका हाथ पडता है अथवा खेलनेवाले बालकोंका किसी घडेपर टूलका या भारी प्रहार हो जाता है। इसी प्रकार अग्निताप या वायुके शकोरे भी न्यून, अधिक, मात्रामें स्था जाते है। आचार्य कहते हैं कि यह तो नहीं कहना । क्योंकि विनाशके कारण मृद्गर आदिकोंके संघातके हेतु हो रहे परिदृष्ट किये गये पुरुषप्रयत्न बादिका व्यभिचार हो रहा है। देखिये, पुरुषोंका समान प्रयत्न होनेपर भी कहीं उन मुद्गरादिकोंका पतन क्षीना नहीं देखा जाता है। तथा उन मृद्गरादिका समान रूपसे सम्पात होनेपर भी उन घटादिकोंका विनाश नहीं प्रतीत हो ग्हा है। वव चित् एक डेलके मारे मनुष्य मर जाता है। कभी बन्द्रककी गोलीसे भी नहीं मनता है। यो दृष्ट कार-णोंका अन्वय व्यभिचार और व्यक्तिरेक व्यक्तिकार दोष हो रहा है। ऐसी दशामें अन्य अद्बट कारणोंकी सिद्धि हो जानेसे ही प्रवीण पृष्णोंको सेवं प्राप्त हो सकता है अन्यया नहीं।

सूक्यो मूतिकोवः सर्वया व्यक्तिकार्यक्तितो विविधः कारणांतरिमिति चैत्, तवैष कर्मास्माकं सिद्धं तस्य सूक्ष्मभूतिकोषसंग्राभं तु निद्यते परिवृष्टस्य सूक्ष्मभूतिकोषस्य व्यक्तिः चारविजतस्वासंग्रवात्। चार्ताक (साइण्टिफिक) कहते हैं कि पृष्टियों आदि भूतों का एक विशेष परिणाम सूक्ष्म है, जो कि बहिरंग इंडियों के दृष्टिगो वर नहीं है। स्थूल परिणामकी भले ही बाधा या अन्वय व्यतिरेक न्यमिचार होय, किन्तु व्यभिचारसे बिजत हो रहा माना प्रकारका सूक्ष्मभूत ही उनका न्यारा कारण है। यो कहनेपर तो आचार्य इक्टापित करते हैं कि वही सूक्ष्मभूत तो हम आहंतों के यहां कमें पदार्थ सिद्ध है, उसका सूक्ष्मभूत विशेष यह केवल नामान्तर करना तो निराला है। अर्थमें कोई भेद नहीं है। हां कमोंके अतिरिक्त चारों ओर देखे जा रहे सूक्ष्म भूत विशेषको व्यभिचारसे रहितपना असम्भव है। यो ग्रन्थकर्ताने कमोंकी विचित्रता अनुसास वन रही जीवोंकी न्यारी न्यारी पर्यायोंकी अनेक प्रकार उत्कृष्ट, मध्यम, जयन्य, स्थितियोंको सिद्ध कर दिया है।

वय किमेते संसारिको जीवाः कर्मवैषित्रधात् स्थितिवैचित्रधमनुभवंतो नानात्मानः प्रस्थे-कायत्तेकात्मानः इति ? यदि नानात्मानस्तदाऽगुसंधानाद्यभावः स्यादेकसंतानेपि नानासंतानवत् । अर्थकात्मानस्तदानुभवस्मरणादि सकमानुप्रपत्तिः पौर्वापर्यायोगादिति वदंतं प्रत्याह ।

अब यहां अनेकान्तसिद्धांतको पृष्ट करनेके लिये प्रकरणका प्रारम्भ किया जाता है। प्रथम ही किसीका आक्षेत्र है कि ये संसारी जीव कर्मों ही विचित्रतासे हो रहे स्थितियों के विचित्र पनको अनुभव रहे क्या न्यारे, न्यारे अनेक धर्मस्वरूप है ? अयवा प्रत्येक धर्मके अधीन हो रहे एक एक धर्मस्यरूप है, बताओ ? प्रयमपक्ष अनुसार यदि जीव पदार्थ नाना धर्मस्वरूप है, यानी धान्यराशिके समान स्वतंत्र हो रहे अनेक विज्ञानपरमाणु या परस्पर किसीकी अपेक्षा नहीं रखते हुये अनेक धर्म ही अंव पदार्थ हैं, तब तो अनुसंधान, प्रत्यभिज्ञान, देन, लेन, दान दान-फल, हिंसा हिंसाफल, आदि व्यवहारोंका अभाव हो जावेगा। एक संतान होनेपर भी नाना सन्तानोंके समान विमर्पण आदिक नहीं हो सकेंगे। भावार्थ-अनेक विज्ञान परमाणु स्वतंत्र पडे हुए हैं। द्रश्यरूपसे अन्वित होकर ओतपीत बने रहना ऐसी सन्तानको हम बौद वस्तुभूत नहीं मानते हैं। अतः असे देव इसकी घारणा अनुपार जिनदस स्मरण नहीं कर सकता है, चन्द्रदत्त उसका अनुसंधान नहीं कर पाता है, इसी प्रकार एक घडी पूर्व देखे जा चुके पदार्थका स्वयं देवदश्य स्मरण या प्रत्यिभिज्ञान नहीं कर सकेगा। बाल्य अवस्था या युवा अवस्थाके अनुभवोंका वृद्ध अवस्थामें स्मरण नहीं हो सकेगा। ऋण देना लेना, ब्रह्मवर्ष, पिता, पुत्रपन मादि व्यवहार बलीक हो जावेंगे। अब यदि द्वितीय पक्षके अनुसार आप जैन जीव आदि पदा-थोंको एक धर्मस्वरूप ही स्वीकार करेंगे, तब तो अनुभव स्मरण आदिका संक्रमण होना नहीं बन सकेना । क्योंकि पूर्व अपरवनेका अयोग है । अर्थात्-एक धर्मस्वरूप पदार्थ दूसरे क्षणमें नष्ट होगया तो पहिला पिछलापन, नहीं घटित होनेसे क्षणिक एक धर्मस्वरूप जीवके अनुभव अनुसार स्मृति होना या प्रत्यभिज्ञान होना अधवा अनेक विचारोंका परिवर्तन होते हुए संक्रमण होना इत्यादिक परिणतियां नहीं बन सकती हैं। इस प्रकार एकान्त पक्षका परिग्रह कर बोल रहे वादीके प्रति गंबकार वब समाधानको स्पष्ट कहते हैं।

ततः संसारिणो जीवाः स्वतत्त्वादिभिरीतिताः ! नानैकात्मतया संतो नान्यथार्थकिया वतेः ॥ ६ ॥

विस कारणसे कि जीवके सम्यग्दर्शन, सम्यग्जान, स्वतस्व, योनि, जन्म, कारीरधारण, नरकावास, मध्यलोक आवास, देव अवस्था, आदि स्वामाविक और औराधिक धर्मीका चौथ अध्यायतक निरूपण किया है, तिस कारण वे औरशिक ब्राह्म पांच स्वतस्व, विग्रहगति आदि परिणामों करके निरूप जा चुके जीव नाना धर्मीके एक तदाहमकपने करके सदूप हो रहे हैं। अन्य प्रकारोंसे जीव पदार्थ सद्भून नहीं है। व्योंकि केवल एकरूप या स्वतंत्र अनेकरूप अधवा साणिक स्वरूप, नित्य स्वरूप ब्राह्म वादि दगोंसे जीवका सत्व माननेपर अर्थकिया होनेकी छित हो जाती है। नाना धर्म आत्मक पदार्थको स्वीकार किये दिना छोटीसे छोटी अर्थ किया भी नहीं हो पाती है। पूर्व स्वभावों का त्याग, उत्तर स्वभावों का ग्रहण और स्यूजपरिणतिकी स्थिरत स्वरूप परिणाम हुये विना जगन्का अत्यत्य कार्य की नहीं हो सकता है।

यस्माद्द्वितीयाध्याये स्वतः वलक्षणाविभिः स्वभावैः संसारिणो जीवाः प्रत्येकं निध्विता-स्तृतीयबद्भगं भ्याययोश्वाधारादिविशेषैनां नाविश्वर प्रयवस्तितास्ततो नार्वेशात्मस्या भ्यवस्थिताः । न पुनर्नानास्मान एवं शात्मान एव वा सर्वार्थे कियाविरहास्तेषामसस्व प्रसंगात् । संश्व सर्वसंसारी बीव इति निश्वितप्रायं, अभावित्रक्षणः स्वं हि सस्वं सक्व नास्ती स्येकस्व मावाव नावाई लक्षण्यं ।

जिस कारण कि उमास्तामी महाराजने दूसरे अध्यायमे जीतके निज तत्त्व, जीवके लक्षण, आदिक स्वभावोंकरके सम्पूर्ण संसारी जीव एक एक होकर निहिन्त कर दिये हैं और तीसरे, चौथे, अध्यागों में आखार स्थान, आयुः, लेक्ष्मा, प्रवीचार, आदि नाना प्रकार विशेवना- वोंकरके नीवोंका निर्णय करा दिया है, तिस कारण ये जीत नाना एकात्मक स्वभावकरके व्यवस्थित हो रहे हैं। किन्तु फिर न्यारे न्यारे स्वतंत्र नाना धर्मस्वरूप ही अथवा एक धर्म स्वरूप ही जीव नहीं हैं। क्योंकि नानापनका एकान्त या एकपनका एकान्त माननेपर सक्यूप अर्थिकयाओंका अभाव हो जानेसे करिवचाणवत् उन जीवोंके असन् हो जानेका प्रसंग होगा। अर्थिकयाओंका अभाव ही सद्मून वस्तुका निर्वोच लक्षण है। अन्य सक्षणों में अनेक दोप जाते हैं। संसारी जीव सद्मून पदार्थ हो रहे है। इस सिद्धांतका हम पूर्व प्रकर्णों अनेक वार निर्णय करा चुके हैं। तुच्छ अभाव पदार्थ मले ही अनन् कहो किन्तु अभावोंमे विलक्षणपना ही सत्पना है और वह सत्त्व ही "नहीं हैं " इस प्रकार सर्वचा एक स्वभावकाल अभावसे विलक्षणपना है। वतः ऐसे अभाव विलक्षणस्व हेतुसे एक एक जीवका अनेक धर्मात्मकपना सिद्ध हो जाता है। वर्षा अमाव यदि तुच्छ असन् है तो ऐसे अभावका विलक्षणपना वस्तुमें सथ नहीं सकता है गो आदि भावोंसे अस्व आदि भाव विलक्षण। नि यस्य स विलक्षणः " परस्परमें प्रतियोगिता रखते हुए दो आदि माव पदार्थ विकक्षण।

हो सकते हैं, सरविषाणसे कोई विस्तवाण नहीं है। अतः परकतुष्ट्यकी अपेक्षा नास्तिस्वरूप एक स्वमावसे तदितिरिक्त अवन्तानन्त स्वभावोंका पिण्डभूत जाव वहां उस अभावसे विरुद्धण समला जाय ।

नानास्यभावत्वं जीवस्य कृत इत्याह ।

यहां कोई जिज्ञासु पूछता है कि एक जीवके नाना स्वभावींसे सहितवना भट्य कंसे सिद्ध हो जाता है ? ऐसी अभिकाषा प्रवर्तनेपर भी विद्यानंद आषार्व समाधानकारक वचनको कहते हैं।

जन्मास्तित्वं परिणातिं (निवृत्तिंच) क्रमाद्वृद्धिमपक्षयं । विनाशं च प्रपद्यंते विकारं पड्विधं हिते ॥ ७ ॥

जगत्में निवास कर रहें संपूर्ण जीव नियमसे छह प्रकारके विकारोंको प्राप्त हो रहें हैं। जतः वे अने क स्वमाववाले हैं। एक एक जीव नाना स्वमाव आत्मक है। कारण कि वे जीव जन्मको प्राप्त करते हैं १। अस्तिस्वकी प्राप्त कर रहे हैं २। परिणामको धाय रहे हैं ३। वृद्धिको प्राप्त हो रहे हैं ४। कमसे एकदेश निवृत्तिस्वरूप अपक्षवको प्राप्त होगहे हें ५। तथा विनाशको प्राप्त हो जाते हैं ६। इस प्रकार प्रतिक्षण हो रहे अनन्ते छह प्रकार विकारोंद्वारा एक एक पाव नाना स्वमाववान् प्रसिद्ध हैं। अर्थात्—जैसे कोई बासक प्रथम उपजता है फिर कुछ दिनतक आत्मकाम करता हुना अपना अस्तिस्व स्थिर रखता है, अनेक अवस्थाओंको प्राप्त करता है, हड्डी, रक्त, बारीर, बुद्धिबल आविको बढाता जाता है, पुनः कपकमसे हीन होता जाता है, अन्तमें वृद्ध अवस्था बीत जानेपर विनाशको प्राप्त हो जाता है। यह कममे होनेवाले छह विकारोंका दृष्टांत है। किन्तु सूक्ष्म परिणतियां या अनेक गुणोंके नाना अविभाग प्रतिक्छेदोंकी अपेक्षा य्गपन् भी अनेक छह विकार हो रहे है। उत्पाव क्यय, धौक्य, स्वरूप पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहे द्वयमय वस्तुमें ये छऊ विकार अपेक्षाओं द्वारा सुघटित हो जाते हैं।

सर्वे हि धावो जन्म प्रपत्तते निमित्तद्वयवशादात्मलामगापद्यमानस्य जायत इत्यस्य विषयत्वात् । यथा सुवर्णकटकावित्वेन । अस्तित्वं न प्रतिपद्यते स्विनिमित्तवशादवस्थापविश्वतो वंस्यास्तीति प्रत्ययाभिष्वानगोष्यरत्वात् निर्वृत्ति च प्रपद्यते सत एवावस्थांतरावाप्तिदर्शनात् परिजमते इत्यस्य विषयत्वात् । वृद्धि च प्रतिपद्यते अनिवृत्तपूर्वस्वभावस्य भावांतरेणाधिक्यं लभमानस्य दक्षते इत्यस्य विषयत्वात् । अपक्षय च प्रयद्यते चभेण पूर्वभावकदेशविनिवृत्ति प्राप्तृवतो वस्तुनोपक्षीयतः इत्यस्य विषयत्वात् । विवाशं च प्रतिरद्यते, तत्वपर्यवसामान्यनिवृत्ति समासावयह्योर्थस्य नश्यतित्वस्य गोचरत्वात् ।

चराचर जगत्के सम्पूर्ण सङ्भूत पदार्थ जन्मकी आप्ता करते है, क्योंकि अन्तरंग, बहिएंग, दोनों निमित्त कारणोंके बग्नसे जात्मलामको प्राप्त हो रहा पदार्थ " उग्ज रहा है " इस ज्ञानका विषय हो जाता है, जैसे कि सोना, कड़े, हंगली, मादि स्वरूप करके उपजता है। भीर सभी पदार्थ अपने अस्तित्वको प्राप्त कर रहे समझे जाते हैं। क्योंकि अपने अपन आत्म-कामके कारण हो रहे निमिलोंके वशसे अवस्थाको घार रहा अर्थ "है", इस जान और सम्बक्त विषय हो रहा है। तथा वाहे के ई पदार्थ विपरिणतिको धारण कर रहा है। नरींकि सत् पदार्थको ही न्यारी न्यारी अवस्थाओं की प्रान्ति देखी जा रहीं होतेसे "परिजनन करता है" इस ज्ञानका विषयपना प्राप्त है। एवं सभी पदार्थ वृद्धिको ही प्राप्त ही रहे है । क्योंकि पूर्वमें प्राप्त ही चुके स्वमाशों हो नहीं छोड़कर अन्य भाशों करके अधिकानका लाम कर रहे परायं हो "बढ रहा है " भी इस ज्ञानका विषयपना नियत है। संचा समी पदार्थ पांचरें अपनय विकारको भी प्राप्त होते हैं। क्योंकि पूर्वमें उदार्वित किरे जा चुके मार्शोही काकाने एक देश विनिवृतिको प्राप्त हो रही वन्तुको "कुछ कुछ क्षीण हो रही है" इन जाने शब्दका विषयपना निर्णीत है। जेय बदार्यका ज्ञानके साथ विषयविषयिमात सम्बन्ध है और वाच्यार्थका शब्दके साथ बाध्यबाचक सम्बन्ध (नःता) है। तथा सभी भाव विनाशको प्राप्त हो रहे जाने वाते हैं। वर्गोकि उस पर्यायकी सामान्यकासे पूर्णतथा निवृत्तिको प्राप्त कर रहे अर्थको "नष्ट हो रहा है " इस ज्ञानका विषयपना निश्चित है। यहां ग्रंथकारने वस्तुके स्थूल सूक्ष्म पूर्णय स्वरूप छह विकारोंको साधनेवाली अपेशाओंको दिखाला दिया है। साथ में जायते, अस्ति, विपरिषमते, बढंते, अपश्रीयते, विनश्यति, इन वाचक पर्वोक्ती वी बनाके लिहे अथवा जायते मादिका ज्ञान करनेके सिये शिष्योपयोगिनी जिस्सा दे बी है। उक्त ढांग्से न्यून या अधिक व्यवहार करनेवाका पृश्व पबश्रवट हो जायना । यो विवक्षित विधिके अनुमार सम्पूर्ण भावों हे यानी ब्रय्यपव बिरियक बस्तुके कम बकम रूपसे हो रहे छह विकारोंको समझ लेबा चाहियं।

तथा जीवा अवि भाषाः संतः वद्विष्ठं विकारं प्रपश्चते अभावविलक्षणस्यादिःयेके, तेवां यसवस्तुविलक्षणस्यं सस्यं धर्मस्तदा न सम्यगिवं साधनं प्रतिक्षणपरिणामेनंकेन व्यभिषारात् अभावविलक्षणस्यं वस्तुत्वं तदा य्वतं ततो जीवस्य षड्विकारप्राप्तिसाधनं वस्तुत्वस्य सदविनाः भावतिद्धेः । अयासत्यधर्मविलक्षणस्यं सस्यंधर्मस्तदा न सम्यगिदं साधनं प्रतिक्षणपरिणामेकेन सद्युत्तप्रविषयेण व्यवहारनयगोषारेण प्रव्येण च व्यभिषारात् संस्य षड्विकाराणाविषं सस्यक्षमी- व्यवतानावविलक्षणस्यसिद्धेरस्यया सिद्धांतविरोधात्।

तिसी प्रकार बीव भी भाव हो रहे सन् स्वरूप पदार्थ है। अतः छह में में विकार् रोंको प्राप्त हो रहे हैं। वर्वात-सत् स्वरूपभाव दीनेसे व बोंके छह विकारोंकी प्राप्त बन रही है। कोई एक उच्च कोटी है विद्वान् यहाँ यों कह रहे हैं कि तुष्छत्वरूप अनावींसे विक-सण होनेके कारण जीव भाव छह विकारों को खारते हैं। ग्रंथकार कहते हैं कि उन एक अनु-पम विद्वान् बक्लंक महाराबके यहाँ यदि ब बाव यानी अवस्तुसे विलक्षणक्या ही सक्य नामक

अर्थ है , तब औं यह हेत् सबीबीन नहीं है। प्रत्येक क्षणमें होनेवाला एक परिणाम करके व्यक्ति-कार हो जाता है, अर्थात्-एक अमकी एक ही पर्याय करविवाण आदि अवस्तुओंसे विस्त्राण है। किन्तु वह बकेली एकक्षणवर्ती पर्याय तो छह प्रकार विकारोंको प्राप्त वहीं होती है। बम्तुकं छह विकार हो सकते हैं। एक विकारस्वरूप पर्याप हे पुन: छह विकार नहीं हो सकते हैं। जनवस्था हो जायगी । हां यदि वे जकलंक महाराज जनावसे विलक्षणपनको वस्तुस्य स्वीकाव क ग्लें तब तो यस अकलकहेत्वं जीव बाबको छह विवारोंकी प्राप्तिका साध देना समृचित है। क्योंकि वस्तु कका उस छह प्रकार विकारीकी प्रान्तिके साथ अविवासाय सिद्ध हो रहा है। अब यदि अकलंक महाराज असत्त्व धर्मसे विलक्षणपन (अभावविलक्षणत्व) की सत्त्वधर्म बलाने तथ भी वह अगावविलक्षणत्व हेत् समीधीन नहीं है। क्योंकि सुक्ष्म ऋबुसूत्रनयका विषय हो रहे प्रतिक्षणवर्ती एक पर्याय करके और व्यवहारनयके विषय हो रहे अन्विज करके व्यभिचार दोष होता है। देखिये उस एक पूर्वाय या केवल अन्वित द्रव्यके छह प्रकार विकार नहीं हुए हैं। फिर भी सत्त्वधर्मका बाधम होनेसे उनमें बभाव विकसम्पर्गा सिंख है। अन्य प्रजारोंकी शरण लेकेंपर सिद्धांतसे विरोध हो जायवा। श्रावार्थ-अकलंक महा-राज और विद्यानन्द स्वामी जीव सादि सद्भृत भावों में छहीं विकारींको स्वीकार करते हैं। बक्लंक महाराजने भावोंको छह विकारस्वरूप बनेक आत्पकपना साम्रते हए " अभाव विक-क्षणत्वात् " इस वात्तिकको कहा है और वात्तिकका यह विवरण किया है। " अभूत" नास्ती-ध्येकरूपो भावः न हि अभावः अनावात्मना भिग्नते तद्विसद्शस्तु नानारूपो भावः इतरया हि त्रेयोरिवसेष एव स्यात्"। फिर भी अभावविलक्षण वका स्पष्ट अर्थ नहीं होनेके कारण ग्रंथकारकी यह अहापोह करना पड़ा है। अभाव पदसे अवस्तु या अपत्वका ब्रहण करना अनिष्ट है। अब कि तुन्छ अभावोंकी कोई परिभाषा ही नहीं है तो फिर किस मर्यादाभूत पंचम्यन्तसे वस्तुका विकक्षणपना किया जाय ? अवस्तु, अद्रव्य, अभाव, असत्व, इन पदीका विद्वानमधीता । कोई अर्थ नही निकलता है। बतः इनका विलक्षणपना या इनका रहितपना किसीका ज्ञापक हेतु नहीं बन सकता है। " वस्त्वेवावस्तुनां याति प्रक्रियाया विपर्ययात्। संक्रिनः प्रतिषेघो न प्रतिषेध्याद्ते वयविन् । असद्भेदो न भावस्तु स्थानं विधितिषेधयोः, असर्वान्तमवस्तु स्याद-विशेष्यविशेषणं " आदिक देवागममें गुरुवर्य श्री समन्तमहाचार्यके निर्णीत सिद्धांत अनुसार असंड पूरे " अभावविलक्षणत्वात् " का अर्थ वस्तुन्त्र किया जायगा, तभी अभावविलक्षण:व हेत् संबेतु वन सकेगा। बन्यवा बनावविष्ठक्षणत्वका सण्ड कर देनेपर बस्तुके एकदेश हो रही मकेली पर्याय और शुद्धद्रव्यकरके व्यक्तिचार दोव सदवस्य रहेगा। जब्दसहस्रीमें इस विषयके निर्णीत हो न्हे जैनसिद्धांतको स्पष्ट कर किया गया है। अद्वेत, अनेकान्त, अमाया, अखरिव-वाण, अमाय, दन सबका विवेशक ही जाता है। बीडोंके यहां मानी नई मोशब्दका अर्थ अमी व्यावृत्ति वैसे गीसे विका कोई वस्तु गृत पदार्थ नहीं है, उसी प्रकार बनावविकक्षणत्य औ कोई वस्तुले स्यारा परमार्थभूत नहीं है। ऐसी बशाजें यह निर्वत हेतु मला क्या छह जिकारीं की साथ सकेगा ? इसकी अपेका अकर्जक महाराज सरलतमा गरि बस्तुत्वहेतु कह देते तो

नानास्य भावकी सिद्धि सुगम हो बाली। अमाविकल्ल माल्यका अवं करने में शिष्यों को सम्हाकने के लिये ग्रंबक्तारको प्रयस्त नहीं करना पढ़ता। बात यह है कि अकलंक महाराज अकलंक ही हैं और विद्यानन्द आबार्व भी हवनाप्रधन्य विद्यानन्द ही हैं। महान् गजराजों के विषयमें छोटे निर्मक जीवोंको समालोचना करनेका कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। उसी प्रकार हम सारिक्ष सल्पमित पुरुषों को उद्भट आखार्यों के विषयमें पर्यालोचना करनेका कोई अधिकार नहीं है। न जाने किन किन अतक्यं अपेक्षाओं अनुसार दोनों आखार्यवर्यों ने अने कान्तकी सिद्धि की है। प्रतिक्षणके लेकर "न सम्यगिद साधनं " यहाँ तक पाठ लिखित पुस्तकमें नहीं है, तब तो अके अवस्तु विलक्षणत्वस्वस्य आमाविकल्ल मत्वका केवल पर्याय और केवल द्रव्यकरके व्यक्षिणार दोव दे दिया जाय। ग्रंथकार विद्यानंदस्वामी सद् वृत जीव अथवा वस्तु भूत की वक्ष छह विकारों को प्राप्त साधते हैं। अमाविकल्ल महो रहे जावके छह विकारों को प्राप्त होनेको जन्तरंगसे नहीं खाहते हैं।यों अकलंक महाराजके कहते से सिद्धांताविषद उसका व्याक्ष्यान करते हुये ग्रंथकारने जानवयोवृद्ध पुरुखाओं की बातको टाला भी नहीं है। वस्तु-वस्वक्ष अभाविकलक्षणपना जीवोंके वहविध विकार प्राप्तिको साध ही देता स्वीकार कर लिया है।

ननु च बत्तुत्वमध्यमावविलक्षणत्वं न बीवानां चड्विधविकारप्राप्ति साधयित तस्या-स्तित्वमात्रेण व्याप्तत्वाविति मन्यमानं प्रत्याह ।

यहां कोई नित्यैकान्तवादी शंका करता है कि बस्तुस्वस्वरूप भी "अभावित्त कक्षणपना" हेतु जीवोंके जन्मादि छह प्रकार विकारोंकी प्राप्तिको नहीं साथ पाता है। क्योंकि उस वस्तुस्वको केवल अस्तिस्वके साथ व्याप्ति बन रही है। जन्म, परिणति, वृद्धि, अपक्षय और विनाशके साथ वस्तु व हेतु व्याप्त नहीं है। इस प्रकार मान रहे बादीके अति प्रंमकार कहते हैं।

विश्रतेस्तित्वमेवैते शश्वदेकात्म इत्वतः । नान्यं विकारमित्ये हे तन्न जन्मादिदृष्टितः ॥ ८॥

ये जीव आदि भाव (पक्ष) अस्तिपनको ही धारण करते हैं (साध्य)। क्योंकि सर्वेदा स्थिर रहना ऐसे एक नित्यधर्म स्वरूप हो रहे हैं (हेतु) अन्य किसी विकारको नहीं धारते हैं। इस प्रकार कोई एक विद्वान् सान बैठ हैं। बाचार्य कहते हैं कि उनका यह कहना स्थार्थ नहीं है। क्योंकि सभी पदार्थों में हो रहे जन्म आदि छहों विकार देखे जाते हैं।

एतेग्विस्तित्वादिषु मध्ये त्रस्तित्वमेत्रात्मानी विश्वति मान्यं पंचविद्यं जन्मःविविकारं तेषां नित्यैकक्षत्रत्वात् स्वक्षयेण शदववस्तित्वोपयत्तेरित्येके । सम्र सम्यक्, सेषां जन्मःविवर्धमात् । मनुष्यावीनां हि देहिनां जाल्याविज्ञावेन जन्मावयः प्रतीयंते मुक्ताश्मनामपि मुक्तत्वादिका से संमान्यंत इति प्रतीतिविवद्यं जीवानां जन्माविविकारविकारवक्षत्वव्यमम् ।

इन मस्तित्व मादि विकारों के मध्यमें केवल मस्तित्व की ही जीव पदार्थ धारते हैं अस्य पांच प्रकार जन्म, परिगति, बृद्धि, बादि विकारों को नहीं प्राप्त होते हैं। क्वोंकि वे बारम पदार्थं एकान्तरूपसे कृटस्थवत् नित्य हैं अतः जीवारमाओंका स्वकीयरूपकरके सर्वदा अस्तिपन ही एक धर्म बन सकता है। आचार्य कहते हैं कि क्टस्यवादियों का वह कहना समीचीन नहीं है। क्योंकि बालक, बालिकाओंतकको उन जीवों के जन्म वृद्धि, होने आदिका दर्शन होरहा है ! जब कि मनुष्य, पशु, पक्षी, आदि प्राणियों के बालकपन, युवापन, बृद्धपन, बादि जबस्याओं द्वारा जन्म विपरिणाम, बृद्धि, आदि विकार होरहे प्रतीत होते हैं तो इसी प्रकार शुद्ध परमात्मा मुक्त आत्माओं के भी मुक्तपने, सिद्धपने, स्वारमनिष्ठा, अगुरुष्ठभूख आदि धर्मी करके वे जन्म आदिक सम्मव रहे हैं। अर्थात्-चौदहमे गणस्थानके अन्त में मुक्त जीव उराजते. हैं। वे सदा शुद्ध निदानन्द, अनस्याद्वारा आध्मलाम (अस्तित्व) करते रहते हैं। सिद्धों के सम्पूर्ण गुणों मु परिणाम होते रहते हैं। अगुरु जबु गुण के द्वारा हानि, वृद्धियां, भी कतिपय गुणों की पर्यायों म होरही हैं । संसारी रन, कर्मभम्बन्य ऐन्द्रियकज्ञान, कवायें बादिका नाश होचुका है । अयदा उत्तर समयमें पूर्व परिणतियोंका विनाश हो रहा है। बात यह कि जो परार्थ उत्साद, ब्यय, ध्रीव्य, इनसे युक्त होरहा सत् है। उसमें जन्म आदि छक्त विकार सुलमतया सम्मद जाते हैं। इस कारण क्टस्थवादी पण्डितों का जीवों के जन्म, अस्तिपन, आदि विकारींसे रहितपनका निरूपण करना लोकप्रसिद्ध और शास्त्रप्रसिद्ध प्रतीतियों से विषद्ध है।

जन्मादयः प्रधानस्य विकाराः परिणाभिनः । तत्संसर्गात्प्रतीयंते भ्रांतेः पुंसीति चैन्न वै ॥ ९॥

यहां कियल मतानुयायियोंका पूर्वपक्ष है कि परिणामों के झारी प्रवानके विकार जन्म बादिक हैं। उस प्रकृतिका संसर्ग हो जानेसे भ्यान्त ज्ञानद्वारा पुरुष में जन्म आदि प्रतीत हो जाते हैं। भावार्य-सांख्यों के यहां प्रकृति के विकारों का होना अभीष्ट किया है। कूटस्य, नित्य, अपरिणामी, आत्माके कोई जन्म आदि विकार नहीं होते हैं। जपाकुसुमकी लक्षाई प्रेसे स्फटिक में प्रतिमास जाती हैं उसी प्रकार भ्यान्ति के वज्ञ संसारी जीवोंको वे जन्मादिक विकार आत्मामें होरहें रीखा जाते हैं। "तस्मात् तत्संयोगादचेतनं चेतनादिव लिङ्गम्। गुण कर्नृत्वेऽपि तथा कर्त्ते भवत्युदासीनः (सांख्यकारिका)। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो कथमि नहीं कहना क्योंकि जब वे पुरुष में निश्चित्र करने हो प्रतीत किये जाते हैं, आत्मामें होरहे जन्म आदि विकारों के दर्शकों को भ्रान्त कहने का तुमको कोई अधिकार नहीं है। सम्यण्जानियों को मिथ्या- क्यानी कहनेवाला स्वयं अनन्त भ्रममें पडा हुआ है।

तेषां भावविकारत्वादात्मन्यप्यविशोधतः । जन्मादिरद्वितस्यास्यावतीतेभ्रोत्यसिद्धितः ॥ १०॥ वे जन्म बादिक छऊ विवर्तमानों के विकार हैं। बतः भावपदार्थ माने गये आत्मा में उनके होने का कोई विरोध नहीं है। जन्म बादिक से रहित होरहे इस आत्मा की आजतक भी मतीति नहीं होती है। बतः जन्म बादिको धारनेवाले बात्मा के जानने में भ्रान्ति होनेकी बासिद्धि है। देवबत्त जम्म सेता है, वह जिनवत्त आमन्द पूर्वक रहता है, भोजन करता है, मोटा होता है, देवदत्त सट बाता है, देवदत्त मर जाता है, इन सच्चे ब्रानों में भला भ्रान्ति होने की कौनसी बात है? विपरीत रीतिओंको गढकर तुमने तो अन्धेर नगरी समझरखी हैं।

विकारी पुरुषः सत्त्वाद्वहुधानकवत्तव । सर्वथार्थिकियाद्दानेरन्यथा सत्त्वहानितः ॥ ११ ॥

पुरुष (पक्ष) विकरों का धारीं हैं (साध्यदल) सत् होनेसे (हेतु) प्रधानके समान (अन्वयदृष्टान्त)। अर्थात्-तुम सांख्यों को प्रकृति के सामन पुरुष भी सत् होने से विकार वाला मानना पडेगा। अन्यथा यानी आत्मा में विकार नहीं मानने पर तुम्हारे यहाँ सभी प्रकार अर्थिकिया होने की हानि हो जावेगी और अर्थिकिया की हानि हो जानेसे उसके व्याप्य होरहे सत्त्वकी भी हानि हो जावेगी। ऐसी दशामें अद्यविषाणके समान आत्मा असत् पदार्थ हो जाता है।

यया हि प्रधानं भावस्तयात्मापि सम्रम्युगगंतव्यः । सत्तवं चार्यंक्रियया व्याप्तं तदमावे स्रपुष्पवत्सत्त्वानुपपत्तेः । सा चार्यंक्रिया क्रमयौगपद्याध्यां व्याप्ता, तद्विरहेर्यंक्रियाविरहातद्वत् । ते च क्रमयौगपद्ये विकारित्त्वेन व्याप्ते, जन्माविविकाराभावे क्रमाऽक्रमविरोधास्तः सत्त्वमध्युगगच्छता पुरुषे जन्माविविकारोष्युगगन्तव्योग्यया व्याप्यव्यापकानुपलब्धेरात्मनोऽसत्त्वप्रसन्तेरित्युक्तगयं ।

जिस ही प्रकार प्रधान "सत्त्र जस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः "भावपदार्थ है, उसी प्रकार आरमा भी सत् पदार्थ स्वीकार करलेना चाहिये और सत्त्व तो अर्थिक्रिया करके व्याप्त होरहा है। क्योंकि उस अर्थिक्रिया के नहीं होने पर आकाशकुमुमके समान किसी का भी सत्पना नहीं सिद्ध होपाता है तथा वह अर्थिक्रिया भी कम और मौगपद्य के साथ व्याप्त को रख रही है यानी कोई भी अर्थिक्रिया होगी वह कम से या युगपद ही होसकेगी। उन कम और मौगपद्य के विना अर्थिक्रिया होने का अभाव है, जैसे कि उस आकाशपुष्प में कम यौगपद्योंके न होने से कुछ भी अर्थिक्रिया नहीं होपाती है और वे कमयौगपद्य भी विकारसहितपन के साथ व्याप्त होरहे प्रतीत हैं। क्योंकि जन्म, अस्तित्व, आदि विकारों के नहीं होनेपर कम या अकन से कुछ भी होने का विरोध हैं। तिस कारण आत्मा में सत्त्वधर्म को बाहने वाले कापिलों करके जन्म आदि विकार होना अवस्य स्वीकार कर लेना चाहियें। अन्यक्षा व्याप्य (के) व्यापकोंकी अनुपलव्धि होजाने से आत्मा के अमत्त्व का प्रसंग होजाने, इस अनुकृत तकका हम कई बार पहिले प्रकरणों में निरूपण करचुके हैं। सत्त्वका व्यापक अर्थिक्रिया होना है तथा अर्थिक्रियां को व्यापक कम और यीगपछ है तथा उन कमयौगपद्योंका व्यापक विकारसहितपत्त है। जन्म आदि

विकारों को नहीं मानने पर उसके व्याप्यव्यापक होरहे सत्त्वका अभाव होजाता है जहां यह में जीवल्य ही नहीं है वहां मनुष्यत्व, बाह्मणत्व, नहीं होते हुये गीडत्व भी नहीं ठहर पाता है। अतः प्रकृति के समान आत्मा के भी छह विकार होरहे मानने पढेंगे।

जायंते ते विनश्यंति संति च क्षणमात्रकं।
पुगांसो न विवर्तते वृद्धचपक्षयगाश्च न ॥ १२ ॥
इति केचित्रध्यस्तास्तेष्येतेनेवाविगानतः।
विवर्ताद्यात्मतापाय सत्त्यस्यानुपपत्तितः॥ १३ ॥

आत्मा को सर्वथा नित्य माननेवाले काषिलों का विवाद कर बब आत्माको सर्वथा अनित्य माननेवाले बौदों के साथ परामर्श किया जाता है। बौद कहते हैं कि वे पुरुष (जीव) उत्पन्न होते हैं और नष्ट भी होजाते हैं तथा एक अजमात्र निवास करते हुये अस्तिस्वरूप भी हैं। किन्तु बीव विपरिणाम नहीं करते हैं तथा वृद्धि और अपन्य को प्राप्त करनेवाले भी नहीं हैं। अर्थात्-छह विकारों में पहिला जन्म, दूसरा अस्तित्व, और छठा विकारों का नाश इन तीन विकारोंको हम जीव में स्वीकार करते हैं। तीसरे विपरिणाम, बौधी वृद्धि, पांचवां अपक्षय, इन तीन को मानने को आवश्यकता नहीं है आप जैनोंने भी तो सत् पदार्थ में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, इन तीन ही धर्मों को स्वीकार किया है। ऐसा यहांपर कोई क्षणिकवादी कह रहे हैं। प्रन्थकार कहते हैं कि वे भी इस निर्दोष उक्त कथन करके ही भले प्रकार प्रध्वंस को प्राप्त कर दिये गये हैं। क्योंकि विपरिणति स्वरूप विवत्तं आदि तीन स्वरूप विकारोंका अभाव माननेपर जीवों के अक्षुण्ण सत्त्व की ही अनुपपत्ति है। प्रयात्-छहों विकारोंके होने से जीवों का सदभाव बन सकता है। अन्यथा बन्ध्यास्तनन्ध्य के समान जीव असत् होजायेंगे।

ययैव हि जन्मिवनाशास्तित्वापाये क्षणमिति न परमार्थसस्वं तथा विवर्तनपरिवर्धन-परिक्रयणात्मकत्वापायेषि तथा प्रतीयते, अग्यथा कूटस्वात्मनीव से पुष्पवद्वा चेतनस्य सस्वानुपपसेः।

सीगत कहते हैं, चूकि जिस ही प्रकार जन्म, विकाश, और अस्तिस्य का निराकरण माननेपर क्षणिकपन इसप्रकार परमार्थ रूपसे सत्पना नहीं बनपाता है, उस प्रकार विपरिणाम परिष्द्कि, अपक्षय, आत्मकपना नहीं मानने पर भी तिस प्रकार क्षणिकपना वस्तुभूत प्रतीत होजाता है। अन्यया कूटस्य अत्मा में जैसे सत्त्य नहीं है अयवा जैसे आकाश में पुष्पका सत्त्य नहीं है, उसी प्रकार चेतन के सद्भाव की असिद्धि बन बैठेगी अयवा इस पंक्ति का अर्थ यों कर लिया जाय। आयार्थ कहते हैं कि जिस ही प्रकार जन्म विनाश और अस्तित्व को नहीं पाननेपर बौद्धों के यहां क्षणिक पदार्थ में वस्तुभूत सत्पना नहीं आसकता है, उसी प्रकार परिणति वृद्धि, और अपक्षय स्वरूप पदार्थ को नहीं माननेपर भी तिस प्रकार वास्तविक सत्पना नहीं प्रतीत

नहीं माना जाय तो कूटस्थ बातमा में जैसे परमार्थ सत्त्व नहीं है या आकाश में पुष्प की जैसे बस्तुभूत सत्ता नहीं है, वैसे ही चेतन जीव के वास्तविक संत्पना नहीं बन सकता है।

स्वमावांतरेणोपपितरेव परिणामो वृद्धिःचाधिक्येनोत्पित्तरस्वयस्तु विनाश एवेति न षड्विकारो जीव इति चेन्न, अन्वितस्वभावापिरत्यागेन सञ्जातीयेतरस्वमावांतरमात्रश्रान्तेः परिणामत्वादाधिवयेनोत्पत्तेत्व वृद्धिःचाहेशतो विनाशस्यापत्रथःचात्परिणामावांनां विनाशोत्पादा-स्तित्वेभ्यः कयंजिवृभेववचनात् ।

बौद कहते हैं कि किसी भी पदार्थ का बन्य न्यारे स्वभावों करके बन जाना ही तो परिणाम है और विद्यमान स्वभावों से अधिकपने करके उत्पत्ति होजाना वृद्धि है। अपक्षय तो विनाश ही है। यो परिणाम तो अस्तित्व में और वृद्धि जन्म में तथा आक्षय विनाश में गिनत हो जाते हैं। इस कारण तीन विकारों वाला ही जीव हुआ। छह विकारों वाला जीव सिद्ध नहीं होसका। ग्रन्थकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि तुम्हाश किया गया यह परिणाम, वृद्धि, अपक्ष-योंका लक्षण बहुत बिद्धा नहीं है। सिद्धान्तमुद्धा से इनका लक्षण यह है कि माला में सूत के समान भीत पोत होरहे अन्वित स्वभावों का परिस्थाण नहीं करके सजातीय और उनसे भिन्न विजातीय ऐसे न्यारे न्यारे स्वभावों की केवल प्राप्ति होजाना परिणाम है और द्रव्यके स्वरूप होरहे स्वभावों का त्याग नहीं कर स्वभावों की अधिकपने करके उत्पत्ति होजाना वृद्धि नामका विकार है तथा प्रवृद्ध स्वभावों की अधिकपने करके उत्पत्ति होजाना वृद्धि नामका विकार है तथा प्रवृद्ध स्वभावोंका परिस्थाय नहीं कर एकदेशसे कितपा अंशों का विनाश होजाना अपक्षय है। अतः परिणाम आदि तीन विकारों का विनाश, उत्पाद, अस्तित्व, इन तीन विकारों से कवंचित् भिन्नपने से निरूपण किया गया है। अतः जीवके छहों विकार भानना समृचित है। उत्पाद, व्यय, प्रौव्यों की साध्य अवस्था और साधन अवस्थाओं पर लक्ष्य देनसे जीववस्तु या अन्यवस्तुओं के छह विकार सुलभतया सध जाते हैं।

बीवस्यान्वितस्बद्भावासिक्वेयंथोक्तपरिनामाचनुपपत्तिरिति चेत्र, तस्य पुरस्तावन्वितः व-भावस्य प्रमाणतः साधनात् । ततो न जीवस्यैकानेकात्मकत्वे साध्ये सत्त्वावित्यय हेतुरसिद्धोऽर्न-कातिको विदक्षो वा,जन्माचनेकविकारात्मकत्वापायेऽन्वितंकत्वभावानः वे व स्वया सत्त्वानुपपत्तेः ।

बौद कहते हैं कि सर्वया क्षणिक होने के कारण जीव के सदा अन्वित होरहे स्वभावों की सिद्धि नहीं हो पाती हैं। इस कारण पूर्व में कहे अनुसार परिणाम आदिका युक्तिपूर्वक वनना नहीं होता है। वर्थात्-बाप जैनोंने अन्वित स्वभावों का परित्याग नहीं करना तो परिणाम आदिकों का घटकावयव बना दिया है। केवल एकक्षण ठहर कर द्वितीयक्षण में समूल चूल नब्द होजाने बाले क्षणिक पदार्थ में अन्वित स्वभाव नहीं पाये जाते हैं। प्रति दिन दो आनं कमाकर दोनोंही आनों का व्यय कर देनेवाले घसकोदा के यहाँ संवित द्वय्य नहीं मिलता है। प्रम्यकार कहते हैं कि यह तो नहीं कहना। क्योंकि पूर्वप्रकरणों में उस बीव प्रवार्थ के अन्वित होरहे स्वभावों की प्रमाणसे सिद्धि कर दी गयी है। बनादि, अनिधन, अन्वेता, भाव, जीवद्रव्य है। इसको अकाट्य युक्तियों से साथ दिया गया है। तिस कारण बीवके एक अनेक आस्मकपना

साध्य करनेपर दिया गया। सत्त्वात् यह हेतु बसिद्ध नहीं है। अथवा अनैकान्तिक या विरुद्ध है। बाग भी नहीं है। जन्म, बस्तित्व बादि अनेक विकार स्वरूपपना नहीं माननेपर और अन्वित होरहे एकत्व भावका अमाव माननेपर सभी प्रकारोंसे सत्पना नहीं बन सकता है। सर्वथा नित्य पदार्थमें जन्मादिक नहीं होनेसे सत्त्व नहीं है। सर्वथा क्षणिकमें अन्वित एकत्वके नहीं होनेपर सत्त्व नहीं बन पाता है। अतः "नानेकात्मतया सन्तो नाम्ययार्थिक्याक्षतेः" और "विकारी पृष्यः सत्त्वाद्वनुवानकवत्तव" इन वास्तिकों कहा गया सत्त्व हेतु निर्दोष है।

एतेनानेकवाग्विमानविषयत्वमात्मनी निवेदितं ।

जीवके होरहे छह विकारोंको साधनेवाले इस कथन करके बारमाके अनेक वचन और विज्ञानोंका विषयपना भी निवेदन किया जा चुका सभझ लेना चाहिये। अर्थात्-वाच्य वर्षकी अनेक परिणितयों बनुसार एक अर्थके अनेक वाचक शब्द प्रयुक्त कर दिये जाते हैं जैसे कि एक वर्डमें "मिट्टोका है" नवीन है, बडा है, सुन्दर है, पुष्ट है, लाल है। इस्पादिक शब्दप्रयोग अनेक परिणितयोंके अनुसार हो जाते हैं। इनसे भी अधिक परिणितयोंके अनुसार उस घट विषयमें अनेक शान उपज जाते हैं। बत: अनेक शब्द और नाना विज्ञानोंका गोचर हो जानेसे घटके सनान जीवाहमा एकानेक आरमक है। यह हेतु भी व्यक्तिचारादि दोषोंसे रहित है।

तयाने कशिक्तप्रचितःवं, वस्त्वंतरसंवंशिविष्ताने कसंवंशिक्षपःवं, अन्यापेक्षाने करूपोत्क-वाषकविषतिरणगुणसंवंधिःवं, अतीतानागतवर्तमान कालसंवंशित्वं, उत्पादव्ययश्लीव्ययुक्तत्वं। अन्वयव्यतिरेकात्मकःवं च सम्भितं । तस्य जन्माविविकारषद्कप्रगंबाः मकत्वास्यस्वव्यापकत्वोः पपत्तेः । सस्वान्ययानुपपत्या प्रसिद्धं च तत्सवंभे काः मकत्वपने कात्मकःवं च जीवस्य साध्यति तदन्यतरायाये अने क वाश्विक्षानिविषयः वाश्वत्वाः । तदनुष्यसौ सस्वानुपपत्तेवच वश्वतस्वा-व्यवस्थितिप्रसंगात् ।

तथा सत्त्वहेतुकी पुष्टि करनेवाले उक्त कथनसे अनेक शक्ति प्रचित्त्व, वस्त्वंतरसम्बन्धाविर्मूतानेकसम्बन्धिक्तरत्व, अन्यापेक्षानेकरूपोःकर्षापकर्षपरिणतगुणसम्बन्धित्व, अतीतानागतवर्तमानकालसम्बन्धित्व, उत्पादञ्ययधीव्ययुक्तत्व, अन्वयव्यतिरेकात्मकत्व इन हेतुर्कोका
भी समर्थन कर दिया गया है। भावार्थ:—घृतमें अनेक शक्तियां हैं। घीका खा लेना शरीरकी
चिक्रमा करता है, तृष्ति करता है, शरीरकी बढ़ाता है, चरक संहितामें लिखा है।
"स्मृतिबृद्धघिनशुक्षीतः कफमेरी विवर्द्धनं। वातिपत्तिविधीन्माद शोषालक्ष्मीज्वरापहम्।। १।।
सर्वस्नेहोत्तमं शीतं मधुरं रस्पाकयोः। सहस्रवीर्मं विधिभिर्वृतं कर्मसहस्रकृत्। २।।
अथवा अग्नि जैसे दाह, पाक, शीष, स्फोट, आदि अनेक कार्योको करनेकी स्वात्मभूत शक्तियोंसे खिलत हो रही है। उसी प्रकार आत्मा चैतन्य, वीर्य, आनन्द, सम्यग्दर्शन आदि गुण
स्वरूप स्वित्यों करके अथवा सामायिक, ध्यान, अध्यापन, दान, उपभोग, सत्य, ब्रह्मचर्य, ग्रोग,
पर्वाप्त आदि वर्षय स्वरूग सवित्योंकरके पिण्डमूत हो रहा है। अतः एक अनेकात्मक है।

तया जिस प्रकार एक घट दूरवर्ती, निकटवर्त्ती, नवीन, पुराना, देवदत्तसे बनाया गया, यज्ञदत्त का स्वामिपना, आदि न्यारे म्यारे वस्तुओं के सम्बन्धसे अनेक सम्बन्धी स्वरूप प्रकट है, उसी प्रकार आर्यक्षेत्र, म्लेच्छस्थान, पंचमकाल, ब्रव्यसहितपना, स्त्रीपुत्रसहितपना, पंचेन्द्रियता, भेष्ठकुल, यशः, सुगुद, कुगुह, कुमोजन आदि अनेक बस्तुओंके सम्बन्धसे यह आत्मा अनेक सम्बन्धी स्वरूप हो रहा है। इस हेत्से बात्मका सत्त्वपना सधता हुआ एकानेकाश्मकपनको साध देता है। एवं जैसे एक घडा अन्य व्यंजक पदार्थोंकी अपेक्षासे व्यंग्य हो रहा अनेक स्वरूप उत्व मं, अपकर्ष परिणतिको धार रहे रूपादि गुणोंका सम्बन्धी हो जानेसे एकानेकात्मक है, उसी प्रकार आत्मा संस्थात, असंस्थात, अनन्ते, उत्कर्ष अपकर्ष आत्मक परिणतिवाले गुणोंका सम्बन्धी होनेसे एकानेकात्मक है तथा यह अनादि अनिधन आत्मा अतीत अनागत, वर्तमान कालोंका सम्बन्धी होनेसे एकानेकात्मक है। अर्थात् - भूतकालकी स्वकीय पर्यायोंसे सम्बन्धी हो चुका है। वर्तमान वालीन पर्यायोंके साथ तदात्मक हो रहा है और भविष्यकालीन निज पर्यायोंके साथ संसर्ग करेगा। बनारसमें गंगा जलको देखनेवाला यों कह देता है, यह जल कानपुरमें बह चुका है, यहां बह रहा है, पटनामें बहेगा। इस प्रकार एक आश्मामें अनेक कालवर्ती परिवातियोंका संसर्ग होते रहनेसे एकानेकात्मकाना है। गम्भीर दुष्टिसे विचार किया जाय तो तीनों कालकी परिणतियोंका किसी भी कालके परिणामपर स्थूल या सूक्ष्म संस्कार बना रहता है। " होनहार विश्वानके होत चीकने पात " "पूतके लक्षण पालनेमें ही दीख जाते हैं " ये किवदन्तियां व्यर्थ नहीं है। "तादृशी जायते बुद्धियाँदृशी भवितव्यता" यह शिक्षा रहस्यसे रीती नहीं है। बाल्य अवस्थाका पुष्ट, गरिष्ठ भोजन वृद्ध अवस्थातक प्रभाव डालता है। व्यायाम करनेवालेका शरीर अन्ततक दृढ बना रहता है, छोटे हृदयका पुरुष धनवान् होजानेपर भी तुच्छताको नहीं छोश्ता है। जब कि महामना, उदास पुरुष कैसे भी अवस्थामें अपने बड्प्पनको विना प्रयत्नको बनाये रक्षता है। प्रविष्यमें आंधी या मेचवृष्टि आनेवाली है इमका पश्ज्ञान वर्तमानमें हो रही पृथिवी, वायु, जल, आदिकी सूक्ष्म परिणतियों अनुसार कीट, पतंग, पशु पिक्षयोंतकको हो जाता है। जहां मनुष्य या तियंचोंका उपद्रव नही हुआ, नही होरहा है, नहीं होगा, ऐसे स्थलकी परीक्षा कर शींगुर, बरें, मकडीं, मोहार, खटमल, भोंशी, बादि कीट निवासस्यानोंको बनाते हैं। उनमें यहां बहांसे कीट या अन्य पुर्वाल लाकर रखते हैं। बच्चोंका शरीर बनाते हैं, इत्यादि अर्थिकयाओंसे सिद्ध हैं कि असंख्यात अनन्त वर्षीतक की पहिली पीछी, पर्यायोंका चाहे किसी भी एक पर्यायपर बोडा प्रभाव उद्झिकत रहता है। तभी तो अनन्तानुबन्धी कषायकी वासना अनन्तभवींतक चली जाती है। मोक्ष होनेके पहिले अर्ध पुर्गलपरिवर्तनकाल कादिमें हुये सम्यग्दर्शन परिणामकी गध्यके अनन्त भवोंमें कुछ अनिवंचनीय वासना छाई रहती है। शब्दकी उत्पादक स्थानसे संकडों हजारों कोसतक एहरें उठ बैठती हैं। हंगना, मुसना, भोजन करना, शयन करना इन कियाओं में कितनी ही आगे पीछे तक वैसी वैसी परिणति होती रहती हैं। बेतन और अवेतन पदार्थोंकी वर्तमानकालीन परिण-तिको देखकर वैद्य या ज्योतिषीय विद्वान् भूत, भविष्यकी परिकतियोंका परिश्वान करलेते 🖁 ।

बात यह है कि जैनसिद्धांत जनुसार द्रव्यको निःय माना गया है। इसमें बढा अच्छा रहस्य है। किसी भी पर्यायसे आकांत हो रहा द्रव्य अपने परिवारकी शक्तियोंपर अभिमान कर रहा सदा सर्वत्र बन्दित हो रहा है। जैसे कि पवास लाख चपयोंके अधिपति सेठकी बीस दुकानोंमें किसी भी दुकानपर विशेष समस्याकी ववस्थामें पवास लाखका उत्तरदायित्व क्षेल लिया जाता है, उसी प्रकार द्रव्यको मूत, वर्तमान, भविष्यकालीन चाहे किसी भी पर्यायमें अनाद्यमन्त प्रथ्य बन्तित रहता है। एक एक पर्यायमें अनन्तानन्त स्वमाव विद्यमान हैं। जितना गहरा प्रविष्ट होकरके देखेंगे उतना ही बहूट धन दीख जावेगा । यों एक वस्तुमें तीनों काल सम्बन्धी परिणामों की अपेक्षा अने कात्मक रना है। तया उत्राद, व्यय, ध्रीव्यों से युक्त होने के कारण एक ब्रव्य अने कात्मक है। एक वस्तुमें अने क उत्पाद हो रहे हैं, उतने ही विनाश हो रहे हैं, स्थितिया भी उतनी हो अनन्तानन्त हैं। उत्पन्न, उत्पचमान, उत्पन्यमान, आदि भेदोंसे अनेक चमत्काच वस्तुमे हो रहें हैं। वस्तुके संपूर्ण अन्तरंग बहिरंग अभिनयों को सर्वत्नदेव जानते हैं। घडा उपजता है, कुश्रूल विनशता है, मट्टी ध्रुव है, बाल्य अवस्था नष्ट होती है, युवा अवस्था उपजती है । मनुष्यपना स्थिर है, ऐसे स्यूल उत्पाद आदिको गमारतक जानते हैं। इसी प्रकार अन्वय, व्यतिरेक, स्वरूप होनेसे प्रात्मा एकानेकात्मक है। जीवत्व, ज्ञातापन, दृष्टापन, भोक्तापन, क्षादि स्वमावों हरके अन्वय दन रहा है, और वचन विज्ञानोंद्वारा न्यावृत्तिके विषयभूत स्वभाव या जायेत, अस्ति, आदि धर्म, गति, इंद्रिय, काय, इन विलक्षण परिणतियोंसे आत्मा व्यतिरेक स्वरूप है। इस प्रकार विपक्ष में बाधक प्रपाणों को दिख ठाते हुए अने क शक्ति प्रचितस्व आदि हेतुत्रोंकी एकानंकात्मयन साध्यके साथ ब्यान्तिका समयेन किया जा चुका है। क्योंकि वे " अनेक वारिवज्ञान विषय:व " आदिक तो जन्म बादि छह विकारोंके प्रयंच स्वरूप हैं । अतः इनको सत्त्रका व्यापकाना बन जाता । सत्त्रके साथ हो रही अन्ययानुपपत्ति करके प्रसिध्द हो रहे वह सब हेतु जीव के एकानेत्मकपनको साथ देते हैं। उन सत्व या एकानेकात्मकपन दोनों मेंसे किसी एकका भी अभाव मानने पर "अनेकवाग्विज्ञानविषयत्व " आदि हेतुओंकी उपपत्ति नहीं हो सकेगी और उस अनेक वचनों या अनेक विज्ञानों की गोवरता आदिकी सिद्धि नहीं होने पर सत्त्वकी असिद्धि होजानेसे जीव तत्त्वकी व्यवस्था नहीं हो सकनेका प्रसंग आवेगा।

तत्र जनमावि विकारप्रयंवश्याविद्योपकिष्यतःवे कमाश्रमयोरव्यविद्योपकिष्यत्वप्रसिवतः।
तत्तरवार्यक्रियाप्यविद्याविज्ञंभितैवेति न सस्यं परमार्थतः प्रसिद्धेत् । ततः एव संविन्मात्रं तस्वनित्ययुवतं, तस्य बह्याद्यदेतववप्रतीतेरिति प्रयंचेन सर्माधतत्वात्। नानैकात्मतया प्रतीतेरंतवंहिरव
सुनिविश्वतासंभवद्वाधकत्वसिद्धेश्व सिद्धौ नानैकात्मको जीवः।

उन जीव वस्तुओं में जन्म, बस्तित्व, अादि विकारों के प्रपंचको यदि बौद्ध मिथ्याज्ञान होरही विवास करूपना किया जा रहा मानेंगे, तब तो कप और अकमको भी अविद्यासे उपकल्पित होनेका प्रसंग बावेगा और उससे फिर अर्थिक्या भी अविद्याकी ही चेष्टा समझी जावेगी। इस प्रकार परमार्थक्रपसे खीवमें सत्पना प्रसिद्ध नहीं हो सकेगा। व्यापक ही यदि मनगढन्त है तो व्याप्य अवश्य झूंठी कल्पनाका विषय माना जावेगा। इस सद्भाग्यसे मिले हुए अवसरपर योगाचार बौद्ध यदि यों कहे कि तिस ही कारणसे यानी जन्म, कम, अकम, अधिकिया, आदि बहिर्मूल पदार्थोंकी ठीक ठीक सत्ता नहीं बन सकतेसे हम अंतर्य शुद्ध सन्वेदनको ही बस्तुमूल तत्त्व मानते हैं, कार्य कारण, आधार आध्य, इत्यादि सब व्यर्थका झगडा है। आचार्य कहते हैं यह केवल सन्वेदनाईतका स्वीकार कर लेना भी युक्तियोंसे रहित है। क्योंकि बह्याईत, शब्दाईत आदिके समान उस सन्वेदनाईतकी भी कदाचित् प्रतीति नहीं होती है। इस बातका हम पूर्व प्रकर्णोंमें विम्तार करके समर्थन कर चुके हैं। वहां देख लो। यहां यह कहना है कि सभी आत्मा आदि और सभी घट आदि जन्द्ररंग, बहिरंग, पदार्थों की एक अनेंकात्मकस्वरूपसे अतीति हो रही है तथा बाधकप्रमाणोंके असम्भवका अच्छा निश्चय हो चुकना सिद्ध है। अतः यों अनेक समोंके साथ तादात्म्य सिद्ध हो जानेपर जीव एक अनेक आत्मक हो रहा सिद्ध हो जाता है।

ततः स्वतत्त्वादिविशेषवितनं घटेत जीवस्य नयप्रमाणतः । क्रमाद्यनेकांतत्त्या व्यवस्थितेरिहोदितन्यायबलेन तत्त्वतः ॥१४॥

तिस कारण जीवके निज तत्त्व आदि विशेषोंका चिन्तन करना नयों और प्रमाणोंसे घटित हो जावेगा। क्योंकि कम अकम अयंकिया आदि करके अनेकान्त रूपसे जीवकी व्यवस्था हो रही है। इस अनेकान्तका यथायं रूपसे कहे जा चुके न्यायकी सामर्थ्यसे यहां चौथे अध्यापमे प्रकरण अनुसार विवेचन कर दिया गया है।

इति चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमान्हिकम् । इस प्रकार चौथे अध्यायका दूसरा आन्हिक यहांतक समाप्त हो चुका हुं ।

यहां विश्वेष यों कहना है कि शाजवातिक और सर्वार्थसिद्धि "लीकान्तिकानामण्टी सागरीपमाणि सर्वेषाम्" इस सूत्रकी व्याख्या की है। मुद्रित इलोकवातिक में 'तरण्टिमागोऽपरा' इस सूत्रपर चौदः हवातिकों को बनाकर विवरण करते हुए श्री विद्यानन्द आचार्यने परचात् चौद्य अध्यायको समाप्त कर हिया है। लिखित पुस्तक में बारहवीं वातिक के प्रथम त्रुटिका चिन्ह देकर "लोकान्तिकानां" इस सूत्रको लिखा है। किन्तु वह पीछे क्षेपण किया हुत्रा प्रतीत होता है। "तदण्टिमागोऽपरा' इस सूत्रको चौदह वात्तिक और उनके विवरण में कही भी ऐसा स्थान नहीं मिलता है जहीं कि "लोकांतिकानाम् "इस सूत्रको डाल दिया जाय, पहिले पीछेके प्रकरण पूर्वापर सगतिके लिय हुये जकड रहे हैं। ग्यारहवी और बारहवीं वात्तिक के बीच में इस सूत्रको चुसेडमा कथमपि शोका नहीं देता है। वयोंक पहिले ग्यारहवी वार्तिक में नित्यकान्त बादी सांस्थको आत्माके छह विकारोंका होना समझाकर लगे हाथ बारहवीं कारिकामें आणिकवादी बौद्धोंको भी आत्माके छह विकार होना समझाकर लगे हाथ बारहवीं कारिकामें आणिकवादी बौद्धोंको भी आत्माके छह विकार होना समझाके प्रकरण चलाया है। अतः यहां जीकान्तिक, सूत्रका डालता अशोक्रव चचता है। वार्तिकोंकी संस्थाके संक भी ठीक बारह है। यदि मध्यमें सूत्र यह आता तो वार्तिकोंकी

गणनाके जंक बदम काते। अनेकास्त सिद्धिके प्रकरणका बारम्ब होतेके प्रथम " व्यक्तिचार विजित्तस्वासम्मवात् " इन पंकितके परली और यह सूत्र डालना उचित जनता है। किन्तुं वहां भी पूर्व प्रकरणके कमंदिविज्यकी संगति जुड रही होनेसे स्वल्प भी स्वान दृष्टिगों वर नहीं हीता है। त्रतः अनुमित होता है कि यह सूत्र गुलसूत्रकासे विद्यानंद स्वामीकी अभीष्ट नहीं है। लोकान्तिकानां इत्यादि सूत्रको अपेता "तदव्टमागोऽपरा " इस सूत्रमें अनेकान्तकी सिद्धि करना अच्छा जनना है, ग्रन्थकारने ऐसा ही ढंग भी डाला है। श्रृतसागरस्वामीने भी इसको मूलसूत्रमें परिमाणत नहीं कर टीकामें " तथा च विशेष: लौकान्तिकामामण्टी सागरोप-माणि सर्वेषां, ये लोकान्तिकास्ते विश्वेषि गुक्तलेश्याः पंतहस्तोसताः अब्दसागरीयमस्थितयः इति" यों लिख दिया है। जिस प्रकार सर्वार्वसिद्धिने या राजवर्तिकने इस सूच का जनतरन दिया गया है, अवना श्रुनसागर स्वामीने जिन प्रकार बन्य सूत्रों हा जनतरण दिया है, उस प्रकार इस सूत्रका प्रवतरण नहीं दिया है। ये श्रुपसागर सूरि तत्वार्वसूत्रकी टीका करते हुए प्रत्येक अध्यायके जन्तमें और यहां भी "सकलविद्वण्यनविहिनवरणसेवस्य श्रीविद्यानन्दिदेवस्य संख्रीहतनिष्यामत हुर्गारेण श्रुतमागरेग सूरिणा विरचितायां रुठोकवाति करा बचारिक सर्वार्यसिद्धि प्रमेय तमल गातंग्ड प्रवण्डान्टसहस्रीप्रमृत्वप्रग्यसम्दर्भनिभंशावली तमबुद्धिः विरिवतायां तत्त्वार्यदीकायां वनुर्योद्यायः समाप्तः"। यो लिखकर वानेकी राजवातिक, क्लोक-बातिक आदि बन्धोना अन्तःप्रवेशी शाना प्रकट कश्ते हैं। अस्तु कोई विरोध नहीं होनेसे उस त्रुटिको यहां भाषा अर्थ करते हुए अविकल उद्धत कर दिया जाता है। सम्भव है कि वह भी विद्यानन्य स्वामीकी कृति होय " बह्मजोकालया " आदि इन दो सूत्रों में जैसे लौकान्ति-कोंका स्वतंत्र निरूपण किया है, उती प्रकार स्वितिके प्रकरण में सूत्रकारने यह सूत्र भी पढ दिया होय । इस विवयपर विशेषत्र विदान् और अधिक प्रकाश डाल सकते हैं।

लोकान्तिकानामष्टो सागरोपमाणि सर्वेषाम्।

सम्पूर्ण लीकान्तिक देवोंकी बाढ सागरोग स्थिति है।

खेकान्तिकसुराणां च सर्वेषां सागराणि वे । अष्टाविष विजानीयात्स्यितिरेषा प्रकीर्त्तिता ॥ १ ॥

सम्पूर्ण जीकान्तिक देवोंकी स्थिति भी आठ सागरकी निर्णीत हो रही विशेषतया जान केनी चाहिये। यो यहांतक स्थितिका विदया की तंन कर दिया गया है।

कौकान्सिकवैवानां समस्तानां सबैव अच्छी सागराणि स्थितिक्यंनियारयाँजता कातक्याः ।

सम्पूर्ण लोकान्तिक देवोंकी सदैव बाठ सागरकी स्थिति है को कि व्यभिचार दोषोंसे रिह्त हो रही जान लेनी चाहिये। जवन्य और उत्कृष्ट स्थिति बाठ ही सागरकी है। लोका न्तिक देव विशेषताओंसे रिहत हो रहे सब एकसे हैं। पांच हाथ ऊंचा इनका शरीर है। शुक्ल लेश्यावाले हैं। जिलोकसारमें "चोद्यपुब्बधरा पिडवोहपरा तित्थयरिवणिककमणे। एरेसि-मट्ठजलिहिट्ठदी अरिट्ठस्स णव चेव।। ५४०।। "इस गायाद्वारा अरिष्ट जातिक लोकान्ति-कोंको नौ सागरोपम स्थिति कही है।

इति श्रीविद्यानन्दि आचार्यविरचिते तस्वार्यश्लोकवार्तिकालंकारे चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥ ४ ॥

इस प्रकार भी विद्यानन्द आयार्यविरचित तत्त्वार्यक्लोकवार्तिकालंकार नामक महान् ग्रन्थमें चौथा अध्याय परिसमाप्त हुआ।

इस चतुर्य अध्यायके प्रकरणोंकी सारणी संक्षेपसे इस प्रकार है। प्रथम ही देवोंकी चार ही निकायोंको पुष्ट कर बाधार नहीं कह कर देवोंका ही कथन करनेमें सुवकारका अभि-प्राय दिखलाया है । तीन निकायकी लेखाओंको साधकर कल्पोपपन्नोंने इंद्रादि भेदोंका अंतरंग कारण कर्मोकरके होना कहा है। व्यन्तर और ज्योतिषियोंकी विशेषताओंको बताते हुये प्रवीचारोंकी हीनता होने में प्रथके उत्कर्षको प्रवानकारण सिद्ध किया है। तभी तो उपरिमदेव प्रवीचाररहित हैं। भवनवासी व्यन्तरोंके विशेष भेद भी कर्मोदयजनित कहे गये हैं। मास आदिका मक्षण देवोंमें नहीं है । शब्दनिक्षितद्वारा इनके आधार विशेषों भी प्रतिपत्ति करादी है ज्योतिष्कदेव कर्मोंके आधीन होकर सुर्यविमान चंद्रविमान आदि बनेक विमानोंमें स्थिति कर रहे बताये हैं। कुछ ताराओंको छोडकर मनुष्यलोक सम्बन्धी सभी क्योतिष्क विमान मेरुकी प्रदक्षिणा कर रहे हैं। यहांसे सात सी नव्ये योजन ऊंचे स्थानसे प्रारम्भकर एकसी दस योजन मोटे और एक राजु लम्बे भौडे बाकाशमें ज्योतिष्क विमानोंका सम्दाव है। नीचे, ऊपर, भीतर बाहर बिराज रहे विमानोंका कम दरशा दिया है। " अक्कदिणवतीससर्व दसयसहस्सं सवार इगिदालं । गमणति दुगतेवण्णं चिरतारापुम्खरदलोसि " । जम्बुद्वीपमें छत्तीस, लवण समुद्रमें एक सी उनतालीस, धातकी खण्डमें एक हजार दस, कालोदक समुश्रमें इकतालीस हजार एकसी बीस, और पुरुवराधें में त्रेपन हजार दो सी तीस स्थिर तारे हैं। इनके मतिरिक्त ढाई द्वीपमें सम्पूर्ण ज्योतिष चक्र सुवर्शन मेरकी सदा अपनी नियत गति अनुसार प्रदक्षिणा किया करते हैं। एक चन्द्रमा सम्बन्धी एक सूर्य अट्ठाईस नक्षत्र अट्ठाईस प्रह और अधासिक संख, सतानवे पय, पचास नील, ६६९७५०००००००००००० तारे हैं। एकसी बलीस बन्द्रमा सम्बन्धी इतना इतना ही परिवार ढाई द्वीपमें समझ लेना चाहिये। स्वामी बीने भूमीके भ्रमणका अच्छा संडन कर नक्षत्र मण्डलकी स्थिरताका प्रत्याख्यान किया है। पृथिवीके विदारण हीनेका वडा चन-

स्कारक प्रसंग दिया गया है। य्यारह सी बीस योजन पृथिबीकी चौडाई या इससे कुछ कमती बढती नहीं सबती है। यहां नदियोंके प्रभव स्थान और प्रवाह मार्ग अनुसार भूगोलका अच्छा निराकरण किया गया है। और भी अनेक युक्तियां दी हैं। काल आदिके वर्श भूमीके नीचे, ऊंचे आकार भी जैनोंके यहां माने गये बताये हैं। जो मनुष्य कुयेमें नीचे ठहरा हुआ है। उस की दुगहरके समय वण्टे दो वण्टे का ही दिन भासता है। गुफा या तिरछी भूमिमें निवास कर रहा मनुष्य वर्षों या महीनोंतक सूर्य दर्शन नहीं कर सकता है। सूर्यके उत्तरायण या दक्षिणायन होनेपर बनेक स्वलोंपर विभिन्न जातिके दिन रात हो जानेका प्रकरण मिल जाता है। जहाजका ऊपरला भाग दिखनेसे या उदम, बस्त, होनेकी वेलापर भूमीसे लगे हुए सूर्यका दर्शन होनेसे पृथिवीको गोल मानना कोरी बालबुद्धि है। क्या आकाशको या स्वच्छत्रलको नीला देख लेनेसे उनमें नीलरंग घुला हुआ मान लिया जावेगा? कभी नहीं। देखो हम लोगोंकी आंखोंमें भी कतिपय दोष है जिससे कि नाना प्रकार भ्रान्तियां हो जाती है। दूर देशतक ऊंचा उडता जा रहा पक्षी भी हमें नीचे उतरता हुना सारिखा दोखता है। किन्तु ऐसा नहीं है। दस पांच कौस लम्बे चौडे एक तिकोने या चौकोने चोंतरापण बीचमें सडी होकर देखनेसे चारों ओर गोल दोखता है। किन्तू एतावता वह चौंकोर चौंतरा कथमपि गोल नहीं हो जावेगा। यदि पृथिवी गोल घूमती हुई मानी जावेगी तो पक्षी उडकर अपने घोसलेपर नहीं आ सकेगा। क्योंकि उसकी छोडी हुई पृथिकी तबतक सैंकड़ी मील दूर चूम जानेगी। इसके लिए पचास मील या इससे भी कमती बढती वायुका भी अमण पृथिवीके साय स्वीकार करोगे तो वेगसे चल रही वायुके साथ घुआं या बाककी रूईकी क्या दशा होगी। मसाल या दीपककी सीधी ली नहीं उठ सकेंगी। टिमटिमाता हुआ दीपक झट बुझ जायगा। तोपसें निकले हुए बलवान् गे लेको पृथिवी अपने सांच वायुकी सहायतासे ले जाय। किन्तु फर्नूदा या छोडे हुए बारूदेके बाणके फुलिगोंपर अपना प्रभाव नहीं जमा देवें यह आश्चर्य है। को वायु कई या फुफूंदेको पृथिव के साथ पूर्वको ले जानेमें समर्थ नहीं है। वह नेगसे दौड रहे डेल या गोलीको कथमपि पृथिविके संच नहीं ले जा सकता है। कदाचित् हुए स्वल्प भूकम्पसे शरीर, हृदय, मस्तिष्कर्मे चक्कर वाने लगते हैं। जो इतने प्रवस्न भूमि अमणसे मानव, पशु, पक्षिओंकी क्या दशा होगी ? इसका अनुमान लगाना ही भयंकर है। आकर्षण शक्तिका भी सण्डन हो जाता है। समुद्रका इतना लम्बा चौडा जल केवल आकर्षण शक्तिसे नही हटा या चुपटा रह सकता है। हिन्द्रान्से कलकत्तेको जारही गंगा नदी आकर्षण शक्तिवश गोल पृथिबी पर उलडी भी वह जाय तो कोन रोक सकता है। गोल पृथिवीपर जैसे हरिद्वारसे कलकत्ता नीचा है। उमी प्रकार कलकत्तंसे हरिद्वार भी नीचा सम्भवता है। अमेरिकासे नीचे भारत वर्षका या भारतवर्षसे नीचे अमेरिकाका आकर्षणवश पृथिवीसे चुपटा रहना कहना असम्भव है। गुरुत्य धर्मके बद्ध भाषी पदार्थ सब नीचे गिर पडेंगे। चुम्बक या लोहेका दृष्टान्त सबंत्र पुद्ग-लों में लागू नहीं होता है। एक वृक्षसे सेवफलका पृथिवीपर गिरना देखकर भूमिमें आकर्षण पानितकी न्यूटन पंडितद्वारा करुपना करना बच्चोंका क्षेत्र है। हम आकर्षणका खण्डन नही

करते हैं। किन्तु समुद्रका धारण पृथियी आदि अनेक मण्डलोंका आपण केवल आकर्षण शक्ति के नहीं हो सकते हैं। इस बातपर बल देते हैं। बस्तुत: ज्योतिश्वक के अमगसे ही छाया हानि, झायावृद्धि, सूर्यका भूमिसंलग्न होकर दीख जाना, वे सब बन जाते हैं। भूमिमें भी अनेक प्रकारके नैमिलिक परिणामोंको उपजानेकी शक्ति विख्यान है। इसके आगे ग्रन्थकारने समराव होना बादिको पुष्ट करते हुये सूर्यके एकसी चौरासी मण्डल बताये हैं। महुर्तकी गतिका क्षेत्र तथा उत्तर, दक्षिण, को ओर होरहे उदयके प्रतिमासोंको घटित किया है। अध्यन्तर मण्डल कीर बाह्ममण्डलोंपर दिन रातके कमती, बढती हो जानेको साधा है। यहां प्रतिवादियोंके हेत्त्रोंका अच्छा खण्डन किया है। छायाका चटना, बढना कोई भूनीके मोल आकारको नहीं ताब देता है। क्षेत्रकी बृद्धिकी बुक्तियोंसे साधा गया है। सूर्यग्रहणका अच्छा विवार है। कोटोसी पृथिवीकी छाया सूर्व या चन्द्रमापर कुछ प्रमाद नहीं डाल सकती है। छोटेसे खंडकी भूमिसे सूरजकी ओर जितना भी बढ़ा दिया जावेगा, त्यों त्यों उसकी छाया नष्ट होती जाती है। ऐसी दक्कानें सूर्यके निमित्तसे भूमिकी छाया पडना असमंजस है। ग्रहणके अवसरपर उपराग पडना ठीक है। किन्तु वह अधःस्थित राहुके विमानसे कार्य सम्पन्न हो जाता है। प्यितीकी छायासे चन्द्रयहण और चन्द्रकी छायासे सूर्यग्रहण पडता मानना परीक्षाकी कसोटी पर नहीं कसा जा सकता है। सूर्य कादिके विमान मिलमय अकृतिप नने हुये हैं। राह या केतु का पौराणिक कवानक झंठा है। ढाई द्वीपके ज्योतिष्क विमान आभियोग्य देवोंद्वारा होये वाते हैं। पूर्वाक्षी विद्वानोंके मुमीको गोल साधनेमें दिये गये हेत् दूषिन हैं। सर्वत्र समतल और क्विचित् नीची, ऊंची, मृशिमें ज्योतियवककी गतियोंके वश हो रहे समरात्र आदिक सब बन जाते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण और आप्तोपक्ष आगमसे विषद्ध मनगढरत सिद्धान्तका प्रतिपादन करना केवल कुछ दिनोंतक कतिपय श्रद्धालशोंद्वारा मान्य भले ही हो जाय किन्तु सदा सर्वत्र सबके लिये अवाधित नहीं है। किसीने कुछ कह दिया और कदाबित किसी पण्डितने अन्यया प्रतिपादन कर दिया, ऐसे अणिक मत जुगुनुके समान भक्षा स्वाद्वाद मिद्धांत सूर्यके सन्मुल कितने दिन ठहर सकेंगे ? स्वयं उन्हीं छोगों में परस्पर अमेक पूर्वापर विरोध उठा दिये आते हैं। अनेकान्तकी सर्वत्र विजय है। तदनन्तर गतिमान ज्योतिक्कोंद्वारा किये गये व्यवहार काल को साधा है। व्यवहारकालद्वारा मुख्यकालका निर्णय करा दिया है। ढाई द्वीपके बाहर असंरुपाते सूर्य, चन्द्रमा, या अन्य विमान अहांके तहां अवस्थित बता दिये हैं । चौथी निकाय वैमानिकोंका वर्षन करते हुए कमोदयके वस कल्पोपपन्न और कश्पातीत देवोंका विन्यास बताया है। नव शब्दकी वृत्ति नहीं करनेसे अनुदिशोंको सूचित किया है। उत्तरोत्तर स्थिति आदिकोंसे अधिकता और गति मादिकसे हीनताको युक्तियों द्वारा साध दिया है। वैमानिकोंमें लेक्याका निकाण करते हुवे निर्देश आदि सोलह अधिकारोंकरके कृष्णावि लेक्याओंका आम्नाय अनसार निक्पण किया है। एक भवतारी श्रीकान्तिक देव और द्विचरिम वैमानिकोंका स्वतंत्रतया विक-पण कर चीथे बध्यायके पहिले बान्हिकको समान्त किया है। इसके लागे तिर्यचौंकी व्यवस्था कर देव और नारकियोंकी बचन्य, उत्कृष्ट, स्वितियोंका निकृपण करते हुवे कमौकी विविधता

बनुसार स्थितियों की विचित्रता बताई गयी है। श्री बकलंक देव महाराजने चीचे अध्यायके अन्तमें राजवार्तिक में बैसे बने कामका किस्तृत सिक्यण किया है, उसी प्रकार श्री विद्यानन्द बाचार्यने एक एक द्रग्यको नाना स्वमात्र आत्मक साधा है। जन्म अस्तित्व आदि छह विकार्रों को सम्पूर्ण पदार्थ थारते हैं। "अमाय शिक्ष ज्ञात्त हेतुका जच्छा विचार किया है। नित्येकान्त और क्षणिक एकान्तका खण्डनकर द्रव्य, पर्याय, आत्मक वस्तुका निश्यानित्यात्मकपन प्रसिद्ध किया है। जन्य भी कित्यय अकलंक हेतु में से बीवतत्त्वका एक अने कात्मकपना साधते हुए चीचे अध्यायक नय प्रमाणोंद्वारा जीवतत्त्वको व्यवस्था कर दी गयी समझाई है। चीचे अध्यायके छोटेसे दितीय आन्हिकको पूर्ण किया है। "छोकान्तिकानामण्टी सागरोपमाणि सर्वेषां" यह सूत्र जमास्यामिक है। इस विषय में भी विद्यानन्द आचार्यका विशेष आदर नहीं अपृभित होता है। यो तत्त्वाचेंश्लोकवार्तिकालंकार महान् प्रन्थमें दो आन्हिको द्वारा चीचे अध्यायकी समाप्ति की गई है।

लेश्येन्द्राविककल्पनास्पितिवपुःसम्याध्यकृष्टस्य ली— संसारस्य चतुर्विकायसरणो नानास्वशवस्यं चितः ॥ जन्मास्त्यादिविकारमृद्धतृ वची विकानकृगोचरोऽ । ध्याये तुर्ये इलाहितेनिगवितो जीवा वन्युमास्वामितिः ॥ १ ॥ कृग्जानन्य नावाञ्कभेदवल्लोकसंस्थितं । सूत्रितं चतुरध्यायो जीवतस्वं प्रभेदभृत् ॥ २ ॥

इति श्री विद्यानंदिआचार्यविरिचते तत्वार्थंश्लोकवार्तिकालंगारे चतुर्थोऽस्यायः समाप्तः ।



तत्वार्थश्चोकवार्तिकालंकारांतर्गतश्चोकसूरीः — ॰ पंचम खंड ॰ —

रलोक	पूष्ठ नं.	क्लोक पुर	ਠ ਜਂ-
बर			१६८
अंत्यं निरूप मीगत्वात्	२४२	•	१६९
अय गंगादयः प्रोक्ताः	\$ ¥ ?		१९८
अ नादिपरिणामोस्ति	¥₹		२११
अनाविम् तिभिस्तस्य	***	इति सति वहिरंगे कारणे केपि	
अनित्यो भावबोधश्चेत्	१७६		२७१
अनुद् मृतस्य सामर्थ	¥		३०३
बन्ययाभावहेतुनां	₹ 2		368
वविग्रहा गतिस्तत्र	१९३	2	* \$ \$
मञ्याचाति स्वरूपत्वात्	२४९		४१७
षष्टभेदा विनिदिष्टा	५४०		886
व तंत्राप्तर्धयः क्षेत्रा	३७४		¥ Ę9
अत्रीपपादिकादीनां	२५९	इति कथितविशेषी	४९०
अ स्माश्समाद्धराभागात्	489	इंद्रादयो दशैतेषां	488
म नंतभेदमासां स्यात्	६२७	इत्येवं नवभिः सूत्रैः	५३४
•		इत्यैकादशभिः सूत्रैः	६४५
सा		इति संक्षेपतस्तिर्यग्	६४७
मात्यंतिकक्षयो ज्ञान	\$6	इति केचित्प्रध्यस्ताः	६७१
बात्मपुद्गलपर्याय	154	बाहारकं शरीरं तु	286
षाद्यं तु सोपभोगाभ्यां	२४२	E	
भादातु स्कंधमेदेच्छा	६३२		
वानतप्राणतदंदं	६०७	उक्तिरौदयिकस्यातः	9
आहस्यादिस्तु नीलाया	६३२	उदयः फलकारिःवं	ų
मार्षीपदेशतः सिद्धाः	६३३	•	६०१
4		उपर्युपरि ते हीना	६१६
इतींद्रियाणि भेदेन	\$86	35	
इति सूत्रद्वयेनाक्ष-	the	कथ्वांची भ्रमणं सबै	५५४

ं परिशिष्ट

रलोक	पृष्ठ न	इलोक	पृष्ठ नं.
ए		कृतधीजनकं तदि	840
एकं समयमात्मा द्वी	१९६	कृष्णादयोऽशुभास्तिस्रो	६२८
एकका चाप्यसंख्येय		कृष्णा प्राथमिकक्लेश-	६२९
एतस्त्रयोजना भावाः	६२८ ६	कृष्णोस्कृष्टांशकात् स्यात्	६३४
	¥	केवलं मुखमस्तीति	46 £
एतत्समृद्भवा भावाः		कालादिवयंयस्यापि	४२२
एवं निश्शेष तत्वानां	40	*	
एवं सूत्रद्वयेनोक्तं	??	स्रसंडभेदतः सिद्धा	५६४
एवं सूत्रत्रयोन्नीत-	9 9 0	ग	
एव मी शस्य हेतुत्व-	¥38	गतिनामोदयादेव	38
एवं सूत्रचतुष्टयात्	५९५	गतौ तु विग्रहायीयां	१७३
एवं विशुद्धिवृद्धी स्यात्	६३१	गतिमत्वं पुनस्तस्य	१७४
एष एव नमो भागो	6,84	गतिर्मुक्तस्य जीवस्य	१८७
भी		गत्वा सुदूरमप्येवं	४१५
औपपा वि कतासिद्धेः	२४३	गत्यभावापि चानिष्टं	448
अपियाविकतातिकः	T • T	गुवंधंस्याभिम्ह्येन	288
寄		ग्रंवेयकेषु नवसु	Eor
कयंवित् विरुद्धः स्यात्	RRŚ	ঘ	•
कमोदये च तस्यैव	४७	बनांबुपवनाका श	२८३
कर्में व कार्मेणं तन्न	२२८	धनानिस्रं प्रतिष्ठान	250
कमंपुद्गलपर्यायो	२२९	•	
कर्मभूमिभवा म्लेच्छा	३७६	चतुर्थं समये वश्यं	866
कल्याः प्रागेव ते बोध्याः	६३६	चतुर्दशिभिरित्येवं	२५
कवायोदयतो योग	३६	चानंतादि भागाद्वा	६३
कार्मणातगंतं युक्तं	२३३	चरंति तादृशादृष्ट	५४
कार्यत्वं न तथा स्वेष्ट	288	वक्षुषा तानि वृद्धानि	241
कालादेरवारीरस्य	४०६	चित्स्वभावतया तावत्	80
किविदौदारिकश्वेषि	२४४	चेतनस्व स्वभावत्व	8
कुर्वन्थित्यादि मृतीरच	४१५	चतुर्विप निकायेषु	५१
कृटस्थात्मकतापत्तेः	40	জ	
कूटस्योपि पुमान्नैव	१९७	अगतां नेश्वरो हेतुः	801
कृत्स्यापं पुनावप कृत्स्यकर्मक्षयात्तावत्	84	जनमास्तित्वं परिणति	44

श्लोक	पृष्ठ नं.	इलोक	पृष्ठ नं.
बन्मादयः प्रधानस्य	६६ ९	तत्र सयोद्भवो भावः	५२
वायंते ते विनश्यंति	408	तस्तद्रव्यमनो पुनतं	१ ६३
षंबूद्वीपगवषि व	३६७	तःक्षेत्रवासिनां नृणां	३५८
बीवस्यौदयिकाः सर्वे	80	तत्र शास्तवंयस्तप्त	३७१
जीताः पृथ्वीमुसास्तत्र	१ २५	तत्साम।न्यविशेषस्य	840
ज्योतिष्काः पंचषा दृष्टाः	488	तत्रापि व्यंतरा वज्या	416
ज्योतिःशास्त्रमतो युवतं	468	तत्कवायोदय स्थाने	६२८
क्षामावर णसामान्य	34	तन्कृष्ण लेश्यतः स्थानात्	६३०
7		तत्र लीकांतिका देवा	६३७
ततम्तु ज्ञायिकस्योक्तिः	_	तदत्यागे तु मोक्षस्य	88
ततो मत्यादिविज्ञान	<u>ن</u> م	तदसंगतमादेश	४९
ततः स्याद्वादिनां सिद्धः	२८	तद्वैचित्र्यं पुनः कर्मे	२०५
ततः सप्तेति संस्थानं	५० ३ ०१	तदादीनि शरीराणि	२३९
ततो नैकांतिको हेंतुः		तदम्यतर दृष्टश्यात्	२६८
ततः सूर्या दशोत्पत्य	888	तद्धृतक्षीवृवातः स्थात्	२८६
ततः संसारिणो जीवाः	५४८ ६६४	तदप्ररूपणे जीव	395
ततः स्वतत्वादिविशेषवितनं	çoş	तदयुवतं महेशस्य	४२४
तया कोधादिभेदस्य	₹ ४	तव्मोशत्प्राण्यवृष्टस्य	४२५
तथा व नाशिनो भावाः	4• 4•	तद्यपास्तमावार्ये	५५४
तथैव पर्ययंकांते	१५१	तद्विभागान्तया मुख्यो	464
तथा कृमिप्रकाराणां	१ ५ ७	तन्वातः पुनव्योम	२८५
तथा संस्वेदमादीनां	२१ १	तन्त्रिवास म ना द् ष्ट	२८७
तथा तैजसमध्यत्र	२४६ २४६	तन्मध्ये मेरुनाभिः स्यात्	३२१
तया तैन्दिकैर्दुःखं	२०५ ३०७	तन्मध्यें बोजनं प्रोक्तं	३३४
तथांतर्द्वीपजाः म्हेच्छाः	३७४	र त्रिबंधन पक्षुण्णं	399
तयातः परिणामेन	६२८	तयोयलक्षिता वाति	38
तथा संक्रमतः साध्या	६२९	त्रसास्ते स्थावराध्वापि	799
तर्थं व कर्मतो छेश्याः	६३२	त्रसाः पुतः समाख्याताः	189
तवा समणतो सेश्याः	६३२	तस्यापि योनयः संति	704
तथा विशुद्धिहान्यां स्यात्	६३१	तस्य कार्पासपिडेन	228
तथा द्विषरमाः प्रोक्ताः	EAR	तस्यामेव तु षट्स्थान	479
उत्त दे तुकविज्ञान	१५७	तिमें बोऽशु मलेश्याया	fox

पृष्ठ नं.	इ लोक	पृष्ठ नं.
३ ०२	ч	
२५५	व जेलां संर्वित्रेंत	9
५०९		έ.χ. ,
486		6 Α
ц	•	४९
३ ९६		298
५२७	•	× 5 6
५३२	7	86
६४२		800
६६०		Yaş
६६९		806
४९		***
		' ¥२२
**		3 (7
	•	६६०
५३७	नानार्धं ६६व शब्दोसी	\$
ΥĘ	नानैकांतिकमप्येतत्	23
१ ३९	नानादिभवसंभूत	१५९
१९६	नगरका देहिनस्तत्र	३५३
५२०	नापर्यता धराखोपि	२९८
	नाघोधो गतिवैचित्र्यं	३००
	नाकोक्षतः पलायंते	***
	मान्यथानु १ पन्नः वं	४७३
	नासिद्धिमंणिमुक्तादी	KOK
	नारकाणां च सक्षेपात्	६५६
• •	निरवयमतः सूत्रं	9
	•	Ę
		१९०
		₹₹•
	_	vaş
40 %	नित्य सर्वगतामूर्वे	३८ ३
	**************************************	स्थ्य स्था संदेश से

रलोक	पूष्ठ नं.	दलोक	पृष्ठ नं.
निमित्तकारणं तेषां	You	पुंसि सम्यवस्त्रचारित्र	१२
नित्यज्ञानत्वतो हेतुः	¥07	पूर्वापरायतास्तत्र	३२९
निरुष्टावासभेदस्य ः	486		
नै कांत भेद मृत्सिद्धी	848	बोघो न वेधसो नित्यो	Yoş
नैवं प्रयोतुरेकस्य	४६२	बुद्धिमद्धेतुकं यादृक्	880
नोर्घ्वाधो भ्रमणं भूमेः	269	बहिर्मन्ष्यलोकाते	494
मानाक्षत्रविपाकीनि	390	बिबते स्तित्व मे वैते	६६८
		भ	
q		भरताद्या विदेहांताः	३९०
पद्मारयो ह्यास्तेषां	३ ३१	भन्याभव्यस्वयोजीव	86
परासु गमनाभावात्	३०९	भवायुगंति भेदानां	६३४
परिवारनदीसंख्या	३४२	भावेंद्रियाणि लब्ड्यात्म	188
परावरे विनिर्दिष्टे	393	भू भ्रमागमसत्यत्वे	२९५
परापरशरीराणां	*66	भोग्यवासनया भोग्य	२३०
पक्षस्यैवानुमानेन	* \$ \$	भोगम् न्यायुरु:सेव	३७६
पत्योपममतिरिक्तं	६५४	, ,	
परेषामधिकं ज्ञेयं	६५८	4	
प्रत्येकं भेदशब्दस्य	* *	मध्यमा स्थितिरेतेषां	३ ९३
प्रवानाद्यात्मका ह्येषा	४६	मनोमात्रनिमित्तत्वात्	43
पंचे द्वेयाणि जीवस्य	१३४	मध्ये हेश्याचतुष्कस्य	६३१
परिणामी यथाकालं	186	मुक्तस्येव न युज्येत	812
भदेशतोल्पता तार	२२३	मेहप्रदक्षिणा नित्य	448
प्रबाष्यते प्रमाणेन	२६८	महतो घारकस्यापि	49 ६
प्रभृतिः पद्मलेश्यायाः	६३२	महेरवर सिसृक्षाया	858
प्रत्यंशकं समारूपाताः	६३३	मनुष्यलोक संख्याया	\$90
पाणिवादि शरीराणि	२३४		470
प्रागीपशिम कस्योक्तिः	•	य	
प्राक्षाधितात्र सर्वंत	25	यचान्योन्याश्रयस्तद्वत्	886
प्राङ्गानुषोत्तराद्यस्मात्	३६९	यदागमं प्रपचन	434
प्राप्तद्वीं तर भेदेन	३७१	यदानंतगुणा हानिः	¥\$0
विडिक्छेदनेच्छा च	437	युक्तो जरायुगादीनां	2.6

इलो ह	वृष्ठ नं.	क्लो क	पृष्ट नं.
वेषां च चतुरस्नः स्यात्	199	4	
ये ज्योतिष्काः स्मृता देवाः	464	षोढा प्रक्रमयुक्तीयं	१८६
यो यत्कालुष्यहेतुः स्यात्	8.8	dia Andania	• • •
योजनानां शतान्यष्टी	486	•	
*		स द्विविधोष्टचतुर्भेद	९ ३
लब्धयः पंच तादृश्यः	२८	सदेहबुद्धिमखेतुः	806
लक्ष्याः संसारिणो जीवाः	१०१	स देहेतरसामान्य	860
लिगं वेदोदयात् त्रेधा	38	स घनोदधिवर्यन्तो	440
लेश्याः पीतादयस्तेषां	६२३	सम्यग्दृग्गोचरो जीवः	*
लेश्या निर्देशतः साध्याः	६२७	सम्यग्मिथ्यात्वमेकेषां	३५
लोको कृत्रिम इत्येतत्	४७१	समनस्कामनस्कास्ते	113
लौकांतिक सुराणां च	६७७	संज्ञितां समनस्करवं	१५९
		सर्वेकारणशून्ये हि	880
घनस्प ःयंतजीवानां	१५६	संमूच्छंनादयो जन्म	200
वन्ह्यादिबुद्धिकारित्वं	880	समरात्रं दिवा वृद्धिः	423
वर्षवर्षधराबाध्य	SYE	सन्तिभस्ते तथा जेयाः	£ 8 :
वागादी भामती भेदा	१३४	संयमासंयमोपीति	56
वास्यादीनि च तस्कर्तुं	४५६	सर्वेगत्वाब्गतिः पुंसः	808
विकारी पुरुषः सत्वात्	६७०	संसारिणः पुनर्वकी	१८९
विभुः पुमानमूर्तःवे	શે હપ	संभाव्यानि ततोन्यानि	280
विश्वतश्चक्षरित्यादेः	४७०	सर्वतोप्यप्रतीष ते	२२३
विशिष्टसन्निवेशं च	४७२	सर्व स्याना दिसंबंधे	२३७
विशुद्धेश्तरास्तिस्रः	६२८	संक्लेशतारतम्येन	300
वृत्त मोहोदयात्पुंसो	34	सर्वदाधः पतन्त्येताः	799
व्यास्याताचेश्वरेणेव	824	संक्लिष्टैरसुरैर्दुः खं	30
वैयानिका विमानेषु	486	संक्षेपादपरात्वग्रे	363
विद्यादाध्यासितात्मानि	४५६	सन्ताधी भूमयी यस्मात्	381
	- ((संस्यायायायविष्कंभ	33
8		संभाव्यंते च ते हेतुः	३७१
शरीरमात्मनो दृष्टं	883	संप्रतायान्यवच्छेदात्	30
शुद्धिप्रकर्षमायः ति	88	सज्ञरीर: कुलालादिः	88
शुद्धिर्जानादिकस्यात्र	१९	सशरारः मुकालायः	• (

इल ेक	ष्. नं.	् इलोक पृष्ठ नं
समुद्राकरसंभूत	४७२	सिद्धं सादृश्यसामान्य ३८६
संमाव्यंते च ते मर्वे	५३२	सिस्झांतरनस्तस्याः ४२५
सर्वापयंतरवारीच्टः	440	सिक्कें कर्तरि निःशेषः ४६२
सर्वेषा पुपरि स्वाति	440	स्थित्याविभिन्तवाधिक्यं ६१९
संस्थेया द्विगुणादापि	\$30	स्थितिरित्यादि सूत्रेण ६५३
संस्थातः क्षेत्रनद्वापि	६३४	स्त्रीपुंगमुखसप्राप्ति २५३
सर्वलोकाश्रयाः सिद्धाः	ERO	सूक्ष्मबादरके जीवै: १९१
सानत्कुमार म≀हेंद्र	६५६	स्यूलमाहारकं विद्धि २ १
सा यद्यार्टसद्भावान्	885	सूत्रकारस्त्रदेतेषां ५०२
सामर्थ्यान्यहयमा बोड्या	६५९	सूत्रेश्चतुर्विरभ्यासात् ६५३
सामान्यतोनुमेवाश्च	५४५	सूक्ष्मी भूनविशंपश्चेत् ६६०
स्वय संविद्यमाना वा	१५	हतो कत्वात्सवं माने भ्यः ७
सा मध्योद्गम्यमानस्य	१ ५२	सीश्रमें शानयो हैं वा ६०६
स्पर्धनाद नि तान्याहु	१४५	सीवमें स्वादि रूत्रे च ६०७
स्मर्शादयम्तदर्या स्युः	१५१	सर्वेषा यदि कार्यः वं ४४३
स्वयं संवेद्यमाना च	३७७	8
स.सादनं च सम्यक्त्यं	३५	हेतुरीक्षरबंधेत १७६
€ ग्राहेवनारकाणा ुं—	208	हेतोरीइश्रदेहेन ४००
स्वयोनी जनम जीवस्य	२ १२	क्ष
स्वप्नोपमोयसिद्धधर्यं	२३०	क्षयोपशम सङ्भावे २८
स्वाभाविकं पुर्गात्रं	२३२	क्षयोपशमभेदन १६३
स्वं तस्य रक्षणं भदः	२७२	क्षणिक निष्क्रियं वित्तं १९७
स्वारमप्रतिष्ठभाकाशं	२८४	क्रायोपशभिकस्या गो ७
सामध्यंत स्ततोन्येषां	२५९	क्षापोपशिमकं चांते ९
साधं द्विद्वीपविषकं म	368	क्षायिका नव भावाः स्युः ४५
सामध्यदिवसीयंते	३९०	क्षायोपश्चिमका दृष्टि ४६
सार्धर्द्व पद्भये क्षेत्र	399	क्षायोपश्चमिकाः श्रेषाः ४७
स्था वदादिभिग्द्यस्य	888	क्षिःयादि मूर्नेयः संति ४१४
स्वातंत्रयेण तदुर्मूती	४२५	क्षीणाक्षीणात्मनां पाति २७
सिद्धा गतिरनु श्रीण	164	क्षेत्रावगाहनापेक्षां २२१
विद्यमीशिरक तिर्वङ्	२१४	क्षेत्राणि भरतावीनि ३२४